कल्पसूत्र

(वैदिक वाङ्मय का विवेचनात्मक बृहद् इतिहास : सप्तम खण्ड)
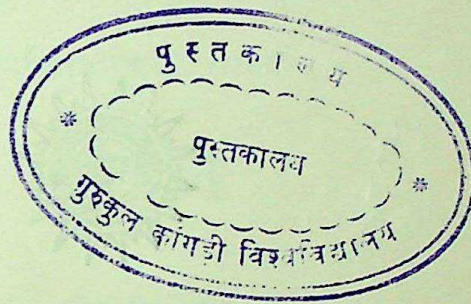
कुन्दनलाल शर्मा

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
होशियारपुर (पञ्जाब)
1981

पूज्यपितृचरणयोः सादरम्

समर्पणम्

यैस्तातपादैः परिपोषितोऽहम्
अनेकविद्यासु सुपाठितश्च ।
तदीयपादेषु समर्प्यतेऽद्य
कल्पाख्यसूत्रस्य सुपुष्पमाद्यम् ॥

विषय-सूची

प्रवरसूत्र

गृह्यसूत्र

पृष्ठ

धर्मसूत्र

प्राक्कथन

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि वैदिक वाङ्मय का प्रामाणिक इतिहास, जो हमारे विश्वविद्यालयों में अध्ययनार्थ निर्धारित एवं प्रचलित है, अत्यन्त संक्षिप्त तथा एकांगी होने के अतिरिक्त इतना पुराना पड़ गया है कि इसके अध्ययन से विद्यार्थी को वैदिक-वाङ्मय एवं सांस्कृतिक परम्परा से परिचय मात्र ही होता है, इसकी गहराइयों तक पैठने तथा उसके तकनीकी, दार्शनिक एवं धार्मिक पक्षों की विविध उलझनों तथा समस्याओं से साक्षात्कार नहीं हो पाता। न ही इन समस्याओं के समाधान का कोई समन्वित आकार-प्रकार ही उभर कर सामने आ पाता है, जिसके सहारे विद्यार्थी उनसे दो-चार होने का साहस बटोर सके। परिणाम-स्वरूप एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् भी संस्कृत का सामान्य विद्यार्थी वेद के स्वरूप को समझने एवं आत्मसात् करने में असमर्थ रहता है।

विविध वैदिक विषयों के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने विचार अत्यन्त योग्यतापूर्वक व्यक्त किये हैं, किन्तु वे न केवल एकांगी हैं, अपितु प्रचुर मात्रा में परस्पर विरोधी भी हैं। फलतः वैदिक-वाङ्मय का जिज्ञासु किसी निश्चयात्मक परिणाम पर पहुंचे बिना ही वेद को एक उलझन समझ कर हताश होकर रह जाता है।

इतना ही नहीं। अनेकों नवीन ग्रन्थों के प्रकाश में आ जाने के कारण विण्टरनित्स और कीथ एवं मैकडॉनल के समय में लिखित वैदिक-वाङ्मय के इतिहास अब पुराने भी पड़ गये हैं। पिछली अर्द्धशती में इसके अनेकानेक पक्षों पर प्रकाश डालने वाली नवीन सामग्री ने निश्चय ही वैदिक विचार-सरणि के सम्बन्ध में हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित ही नहीं किया, अपितु अनेक विषयों में पूर्वनिर्धारित विचार-प्रवाह को नवीन दिशा भी प्रदान की है।

इसी कारण एक विस्तृत, समन्वित, समालोचनात्मक आधुनिकतम सामग्री से सुसज्जित ऐतिहासिक विवेचना सर्वथा सार्थक तथा आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है।

इसी कारण मैंने समस्त वैदिक साहित्य को सात खण्डों में विभक्त करके इसकी विस्तृत विवेचना की बृहद् योजना के अन्तर्गत समाहित करने के भागीरथ प्रयत्न की प्रतिज्ञा आज से तीस वर्ष पूर्व की थी। जिसका श्रीगणेश इस विशाल साहित्य के इतिहास के सप्तम खण्ड के साथ हो रहा है। वैदिक संहिताओं

ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों तथा आरण्यकों के इतिहास के सम्बन्ध में अपने विचार तत्तद्विषयक सामग्री के प्रस्तुतीकरण की भूमिकाओं में व्यक्त करूंगा। प्रस्तुत ग्रन्थ में तो षड्वेदांगों के अन्तर्गत कल्पसूत्रों पर विचार किया गया है।

कल्पसूत्रों पर भी पर्याप्त अनुसन्धान हो चुका है और विभिन्न विद्वानों ने इन का मूल्यांकन करते हुए विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं। इन बिखरे हुए विविध विचारों तथा नवीन अनुसन्धानों के फलितार्थों को समीक्षात्मक समन्वित रूप प्रदान करके इन के अन्तर्द्वन्द्वों तथा पारस्परिक विभेदों के अपोहनार्थ नवीनतम प्रयत्न की आवश्यकता है, और मैंने इस कृति में यही करने का प्रयास किया है। जहां कहीं भी दो या अधिक विद्वानों का किसी विषय में वैमत्य पाया जाता है, वहां उन सभी पक्षों की विचारसरणि को संक्षेपेण प्रस्तुत करके तद्विषयक अपने विचार को व्यक्त किया गया है।

इस प्रसंग में इन प्राचीन ग्रन्थों के काल-निर्धारण की जटिल समस्या के विषय में वैमत्य अधिक उभर कर सामने आये हैं। जहां पाश्चात्य विद्वानों का प्रयत्न इस कालक्रम को नीचे गिराने का रहा है, वहां परम्परा तथा कुछेक भारतीय मनीषियों का प्रयास इसे बहुत ऊँचा उठाने का रहा है। मुझे ऐसा आभास होता है कि यद्यपि इस परम्परा के मूल बहुत गहरे तथा प्राचीन हैं, तो भी वर्तमान ग्रन्थों को उतनी दूर तक नहीं ले जा सकते। इनमें व्यक्त पूर्वगत आचार्यों की विभिन्न सम्मतियां ही इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि अपने धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में आर्य-विचारधारा किसी समय में भी स्थिर रह कर कुण्ठित नहीं हो पाई है। सदा नवनूतन परिस्थितियों के अनुरूप नवीन विचार प्रवाहों के अविच्छिन्न स्रोत सदा प्रवाहित रहे और प्रत्येक विचारक ने अपने विचारों को बेधड़क होकर दृढ़तापूर्वक समाज के कर्णधारों के समक्ष प्रस्तुत किया और इस विचार-विनिमय के फलस्वरूप सामाजिक संस्थाओं के कार्यकलाप के स्वरूप में सतत परिवर्तन एवं संशोधन होते रहे। समय के पंखों पर उड़ते हुए आर्य सदा नवीन खेतों और खलिहानों की हरियालियों में अपनी परम्परा तथा स्वभाव के अनुरूप चिरनवीन जीवनधारा को प्रवाहित करते रहे, आज भी कर रहे हैं।

यह स्पष्ट है कि इस विषय में इस विचार-परम्परा तथा पारस्परिक गुरु-शिष्य-सम्बन्धों की सर्वथा अवहेलना नहीं की जा सकती। न ही परम्परा-प्राप्त विचार-सरणि की सत्यता को सदा सन्देह की दृष्टि से देखना ही उचित है। यह सर्वथा सम्भव है कि अनेक स्थलों पर इन कर्मकाण्ड-प्रधान, श्रद्धास्पद रचनाओं में अर्वाचीन विचारकों ने प्राचीन आचार्यों का नामोल्लेख करते हुए अपने नवीन विचारों को प्राचीनता के लबादे से ढकने का प्रयास किया हो, तो भी प्रत्येक अवस्था में ऐसे सन्देहसन्दोह के द्वारा परम्परा की सर्वथा अवहेलना भी अवाञ्छनीय और अस्वीकार्य है।

वर्तमान रचना के अनेक भाग हैं, यथा, श्रौतसूत्र, शुल्बसूत्र, पितृमेधसूत्र, प्रवरसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र। इनमें से श्रौतसूत्र का कर्मकाण्डीय ढाँचा अत्यन्त जटिल तथा विशाल होने के कारण दुरूह है। अतः उस कर्मकाण्डीय अथवा व्यावहारिक पक्ष के उद्घाटन का प्रयास नहीं किया गया। इसके लिए एक स्वतन्त्र रचना की आवश्यकता है। यदि अवसर मिला तो इस इतिहास की समाप्ति के अनन्तर वैदिक यज्ञ-याग की प्रक्रिया के उद्घाटन का प्रयास भी किया जायेगा।

गृह्य-कर्म जनसामान्य के व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध होने के कारण आकर्षण का विषय है, अतः उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। धर्मसूत्र भाग का विषय आर्यों के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन से सम्बद्ध होने के कारण विवरण की अपेक्षा रखता है, जिसे संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है कि कुछ विषयों का वर्णन गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों दोनों में किया गया है, किन्तु क्योंकि इनका सम्बन्ध दोनों से होने के साथ-साथ दोनों स्थानों पर इनके प्रतिपादन भिन्न-भिन्न प्रकार से किये गये हैं, अतः उपनयन तथा विवाह का निरूपण दोनों स्थानों पर किया गया है। उपनयन और विवाह व्यक्तिगत महत्त्व रखने के अतिरिक्त सामाजिक उत्कर्ष एवं प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन भी हैं। अतः उपनयन, विवाह और नियोग का वर्णन गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र दोनों प्रकरणों में किया है। अतः इसे असावधानी-जन्य पुनरुक्ति-दोष नहीं समझना चाहिये। दोनों प्रकरणों में वर्णन-भेद से ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

सामग्री की प्रचुरता तथा सुलभता के कारण इस बृहद् इतिहास का सप्तम खण्ड सर्वप्रथम विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। तदनन्तर षष्ठ खण्ड, वेदांग, सेवा में प्रस्तुत किया जायेगा। सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य श्रमसाध्य और समयापेक्ष है। ईश्वर की कृपा रही तो सम्पूर्ण वैदिक-साहित्य का समालोचनात्मक इतिहास शीघ्र ही विज्ञजनों की सेवा में प्रस्तुत किया जायेगा।

इस परिश्रम एवं दीर्घकालीन साधना के पीछे यदि किसी एक व्यक्ति का अनन्य सहयोग, अद्वितीय त्याग एवं तपस्या सन्निहित है, तो वह धर्म-परायणा धर्मपत्नी श्रीमती पुष्पा शर्मा है जिसकी निरन्तर सहायता तथा अनवरत प्रोत्साहन के बिना यह भागीरथ प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता था। मैं अपने अनुज डा० जितेन्द्र कुमार शर्मा तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मीनाक्षी शर्मा का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरे दिल्ली प्रवास के समय सदा मेरे स्वास्थ्य एवं सुख-सुविधा का दत्तचित्त होकर ध्यान रखा है।

इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ भारत सरकार के शिक्षा-विभाग ने ६० प्रतिशत अनुदान प्रदान करने की महती कृपा की है, जिसके लिए मैं शिक्षा-विभाग के अधिकारी वर्ग का अत्यन्त आभारी हूँ।

सम्पूर्ण पुस्तक के प्रकाशन का पूर्ण दायित्व विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होश्यारपुर, ने अपने ऊपर लेकर अपार कृपा की है, जिसके लिए मैं वहां के अधिकारी वर्ग का कृतज्ञ हूँ, जिसने वर्षों से वैदिक-धर्म के प्रचार और प्रसार का भार अपने कन्धों पर उठा रखा है। इस सम्बन्ध में संस्थान के आदरी सञ्चालक, श्री एस० भास्करन नायर तथा सह-सञ्चालक श्री वेदप्रकाश जी, एम० ए०, विद्यावाचस्पति, का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर विविध प्रकार की सहायता तथा सम्मति प्रदान करके मुझे सतत प्रोत्साहित किया है। इसके अतिरिक्त मैं वी० वी० आर० आई० प्रैस के प्रबन्धकों तथा कर्त्तव्यपरायण-कर्मचारियों का भी कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम तथा दायित्वपूर्वक इसके प्रकाशन में सहायता प्रदान की है। भगवान् से प्रार्थना है कि आचार्य डा० विश्वबन्धु शास्त्री जी के स्वप्न को साकार करने में इस संस्था को सामर्थ्य प्रदान करें।

निवेदक

कुन्दनलाल शर्मा

१६ मई, १९८१

७२ बी, नई मण्डी;
मुज़फ़्फ़रनगर (उ० प्र०)

संक्षेप-सूची

(क) ग्रन्थ

अग्निपु० (अग्नि०) (Agni.)	अग्निपुराण
अथर्व० (A. V.)	अथर्ववेद
अथर्व० गो० ब्रा० (AVG Br.)	Atharvaveda and Gopatha Brāhmaṇa M. Bloomfield
अर्थ० शा० (Artha.)	अर्थशास्त्र (कौटल्यया कौटिल्य)
आग्नि० गृ० सू० (Āg. G. S.)	आग्निवेश्य गृह्यसूत्र
आप० गृ० सू० (Āp. G. S.)	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आप० ध० सू० (Āp. D. S.)	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० मं० पा० (Āp. M. P.)	आपस्तम्ब मन्त्रपाठ
आप० शु० सू० (Āp. Śul. S.)	आपस्तम्ब शुल्बसूत्र
आप० श्रौ० सू० (Āp. Ś. S,)	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आर० (आ०) क० सू० (Ār. K. S.)	आर्षेयकल्प सूत्र
आश्व० गृ० परि० (Āś. G, P.)	आश्वलायन गृह्य परिशिष्ट
आश्व० गृ० सू० (Ās. G. S.)	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आश्व० मं० सं० (Āś. M. S.)	आश्वालयन मंत्र संहिता
आश्व० श्रौ० सू० (Āś. Ś. S.)	आश्वलायन श्रौतसूत्र
इ० आर० इ० (ERE)	Encyclopaedia of Religion and Ethics by Hastings
इण्डि० कल्पसू० (I. V. K. S.)	India of the Vedic Kalpasūtrās by Ram Gopal
इण्डि० ध० सू० (I. D. S.)	India of the Dharma-sūtras by Veda Mitra
इटि० या० (Ety. Yā.)	Etymologies of Yāska by S. Varma
इण्डिसिज़० (Indices)	Indices and Appendices to Nirukta by L. Sarup
इण्डि० पा० (Inda. Pā)	India as known to Pāṇini by V. S. Agrawāla
आई० ओ० सी (I. O. C.)	International Orientel Congress
उपनि० सू० (U. N. S.)	उपनिदान सूत्र
ऋ०, ऋग्० (Ṛg.)	ऋग्वेद संहिता
ऋक् प्रा० (Ṛk. Prā.)	ऋग्वेदप्रातिशाख्य
ऋग्० नो० (Ṛg. No.)	ऋग्वेद नोटेन Ṛgveda Noten (Oldenburg)
ऋग्० अनु० (ऋक्० सर्वा०) Ṛk. Sarvā)	ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी

ए० आई० ओ० सी० (A. I. O. C.)	All India Oriental Conference
एकाग्नि० (Ekāgni)	एकाग्निकाण्ड
एस० बी० ई० (S. B. E.)	Sacred Books of the East (ed. Max. Müller)
ऐन्सेस्टर वर्शिप (A. W.)	Origin and Development of the Ritual of Ancestor Worship in Ancient India (D. R. Shastri)
ऐ० ब्रा० (A. Br.)	ऐतरेय ब्राह्मण
Aṁdras. S. G.	Aṁdra School of Sanskrit Grammarians
ऐ० आर० (A. Ār.)	ऐतरेय आरण्यक
कठ० उप० (Kath. Up.)	कठोपनिषद्
कपि० सं० (K. K. S.)	कपिष्ठल कठ संहिता
कवि० क० (Kavi. K.)	कविकल्पद्रुम (बोपदेव)
का० पा० (Kā. Pā.)	काशिका (पाणिनीय व्याख्या)
का० वृ०	कातन्त्र वृत्ति
का० शु० सू० (Kāt. Śul. S.)	कात्यायन शुल्बसूत्र
का० श्रा० सू० (Kāt. Śrā. S.)	कात्यायन श्राद्धसूत्र
का० श्रौ० सू० (Kat. Ś. S.)	कात्यायन श्रौतसूत्र
का० सं० (Kāṇ. S.)	काण्व संहिता
काठ० गृ० सू० (K. Gr. S.)	काठक गृह्यसूत्र
काठ० श्रौ० सू० (K. Ś. S.)	काठक श्रौतसूत्र
काठ० सं० (K. S.)	काठक संहिता
कुल्लूक० (Kullūka)	कुल्लूकभट्ट (मनु० व्याख्या)
कृ० कल्प० (Kṛ. Kalp.)	कृत्य कल्पतरु
कौ० आर० (Kaus. Ār.)	कौषीतकि आरण्यक
कौ० गृ० सू० (Kauṣ. G. S.)	कौषतकि गृह्यसूत्र
कौ० ब्रा० (Kauṣ. Br.)	कौषीतकि ब्राह्मण
कौ० ब्रा० उप० (Kauṣ Br. UP.)	कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
क्षीर० (Kṣīr.)	क्षीरतरंगिणी
क्षु० (क्षुद्र) सू० (Kṣud. S.)	क्षुद्रकल्पसूत्र
खा० गृ० सू० (Khā. G. S.)	खादिर गृह्यसूत्र
ग० ओ० मै० ला० (लाइ०) (G. O. Mss. Lib.)	Got. Or. Mss. Library
ग० पा० स्ट० (G. Pā. Ṣ)	गण पाठ A Critial Study by S. M. Ayachit, (Bombay)
गृ० विनि० (Gṛ. Vi.)	गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग (कृष्णलाल)
गो० गृ० सं० परि (G. G. S. P.)	गोभिल गृह्य संग्रह परिशिष्ट

गो॰ गृ॰ सू॰ (G. G. S.)	गोभिल गृह्यसूत्र
गो॰ ब्रा॰ (G. Br.)	गोपथ ब्राह्मण
गो॰ मं॰ ब्रा॰ (G. M. Br.)	गोभिल मन्त्र ब्राह्मण
गो॰ स्मृ॰ (G. Sm.)	गोभिल स्मृति
गौ॰ गृ॰ सू॰ (Gau. G. S.)	गौतम गृह्यसूत्र
गौ॰ ध॰ सू॰ (Gau. D. S.)	गौतम धर्मसूत्र
ग्रण्ड्रिस (Grundriss)	Grundriss Indo-Arischen Philologie
चतुर॰ (Catur.)	चतुरध्यायिका
छा॰ उप॰ (Ch. Up.)	छान्दोग्य उपनिषद्
जा॰ उप॰ (Jā. Up.)	जाबाल उपनिषद्
जै॰ उप॰ ब्रा॰ (J. Up. Br.)	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै॰ गृ॰ सू॰ (J. G. S.)	जैमिनीय गृह्यसूत्र
जै॰ ब्रा॰ (J. Br.)	जैमिनीय ब्राह्मण
जै॰ मी॰ सू॰ (J. M. S.)	जैमिनीय मीमांसा सूत्र
जै॰ श्रौ॰ सू॰ (J. Ś. S.)	जैमिनीय श्रौतसूत्र
जै॰ सं॰ (J. S.)	जैमिनीय संहिता
तन्त्र वा॰ (Tantra)	तन्त्रवार्तिक
ताण्डय ब्रा॰ (Tāṇḍ. Br.)	ताण्डय महाब्राह्मण
तै॰ आर॰ (Tr. Ār.)	तैत्तिरीय आरण्यक
तै॰ उप॰ (T. Up.)	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै॰ प्रा॰ (T. Prā.)	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै॰ ब्रा॰ (T. Br.)	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै॰ सं॰ (T. S.)	तैत्तिरीय संहिता
तै॰ सं॰ (आंग्लानु॰) V. B. Y. S.	The Veda of the Black Yajurveda School (A. B. Keith)
त्रि॰ सं॰ सी॰ (Triv.S.Ser.)	त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज
द्रा॰ गृ॰ सू॰ (Drah. G. S.)	द्राह्यायण गृह्यसूत्र
द्रा॰ श्रौ॰ सू॰ (Drah. Ś. S.)	द्राह्यायण श्रौतसूत्र
ध॰ शा॰ इ॰ (D. S. I.)	धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी समिति, इलाहाबाद)
ध॰ सू॰ देस् वि॰ (D. S. des Vi)	Dharma Sūtra des Viṣṇu (Jolly)
ध॰ सि॰ (धर्म सि॰) (Dh. Si.)	धर्म सिन्धु
धा॰ पा॰ (Dhā. Pā.)	धातु पाठ
निघ॰ (Nigh.)	निघण्टु
नि॰ सू॰ (Ni. Su.)	निदान सूत्र
निरु॰ (Nir.)	निरुक्त
नि॰ सा॰ प्रेस (Ni. S. Press)	Nirṇaya Sāgar Press
नि॰ सि॰ (Ni. Si.)	निर्णय सिन्धु

परा० मा० (P. Mā.)	पराशरमाधवीय
पञ्च० ब्रा० (Pañc. Br.)	पञ्चविंश ब्राह्मण पद्मपुराण
परि० वृ० (Pari. Vṛ.)	परिभाषा वृत्ति
पा० P. (Pā.)	पाणिनीय अष्टाध्यायी (पाणिनि)
पा० धा० पा० (Pā. Dh. Pā.)	पाणिनीय धातुपाठ
पा० वा० (Pā. Vā.)	पाणिनीयसूत्रवार्तिक
पा० (पार०) गृ० परि० (Pā. (Pār.) G. Pari.)	पारस्कर गृह्य परिशिष्ट
पा० (पार०) गृ० सू० Pā. (Pār.) G. S.	पारस्कर गृह्यसूत्र
पा० (पार०) स्मृ० (Pā. Pār. Sm.)	पारस्कर स्मृति
पु० (Pu.)	पुराण
प्रो० ए० ओ० आई० सी० (Pro. A. O. I. C)	Proceedings of All India Oriental Conference
प्रो० ए० ओ० एस० (Pro. A. O. S.)	Proceedings of American Oriental Society
प्रो० आई० ओ० सी० (Pro. I. O. C.)	Proceedings of International Oriental Congress
फिट् (Phit.)	फिट्सूत्र (शान्तनवाचार्य)
फेस्त० बोहत० (Fest. Boht.)	Festgruss an Bōhtlingk
बालक्रीडा (बा० क्री०) (Bāl. Krī.)	बाल क्रीडा (विश्वरूप) (या० स्मृ० व्या०)
बि० आई० (बि० इण्डि०) (B. I.)	(Bibliotheca Indica)
बृ० आर० उप० (Br. Ār. Up.)	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० दे० (Bṛ. D.)	बृहद्देवता
बैज० गृ० सू० (Baij. G. S.)	बैजवाप गृह्यसूत्र
बौ० गृ० परि० सू० (Bandh. G. P. S.)	बौधायन गृह्य परिशेषसूत्र
बौ० गृ० परिभा० सू० (Bandh. G. Pari. S.)	बौधायन गृह्यपरिभाषा सूत्र
बौ० गृ० शेष (Baudh. G. Ś.)	बौधायन गृह्य शेष
बौ० गृ० सू० (Baudh. G.S.)	बौधायन गृह्यसूत्र
बौ० ध० सू० (Baudh. D. S.)	बौधायन धर्मसूत्र
बौ० पितृ० सू० (Bauda. Pitṛ. S.)	बौधायन पितृमेधसूत्र

बौ० शु० सू० (Baudh. Śul. S.)	बौधायन शुल्बसूत्र
ब्रा० ऋग् (ऋग्० ब्रा० Br. Ṛ.)	The Brāhmaṇas of the Ṛgveda (Keith)
भार० गृ० सू० (Bhār. G. S)	भारद्वाज गृह्यसूत्र
भार० पितृ० सू० (Bhār. Pitī. S.)	भारद्वाज पितृमेधसूत्र
भार० श्रौ० सूत्र (Bhār. Ś. S.)	भारद्वाज श्रौतसूत्र
मत्स्य (-पु०) Matsya	मत्स्य पुराण
मनु० (म०स्मृ०) M.Sm (Manu)	मनुस्मृति
मं० ब्रा० (M. Br.)	मन्त्र ब्राह्मण
म० भा० (M. Bhā.)	महाभाष्य (वैयाकरण)
म० भार० (M. Bhār.)	महाभारत
म० सू० (M. Su.)	मशक सूत्र (आर्षेय०)
माण्डू० उप० (Māṇd. up)	माण्डूक्य उपनिषद्
मा० गृ० सू० (Mā. G. S)	मानवगृह्यसूत्र
मा० शु० सू० (Mā. Śul. S)	मानव शुल्बसूत्र
मा० श्रौ० सू० (Mā. Ś. S)	मानव श्रौतसूत्र
मार्क० पु० (Mārk. P.)	मार्कण्डेय पुराण
मिता० (या०) Mitā (yā)	मिताक्षरा० (याज्ञ० स्मृ० व्या०)
मुण्ड० उप०	मुण्डक उपनिषद्
मै० प्रा० (M. Prā)	मैत्रायणीय प्रातिशाख्य
मै० सं० (M. S.)	मैत्रायणीय संहिता
य० वे० (Y.V.)	यजुर्वेद
या०स्मृ० (याज्ञ०स्मृ०)/(Yāj Sm.)	याज्ञवल्क्य स्मृति
रिचवलिलट्० (Ṛit. Lit)	Ritualiiteratur (Hillebrandt)
रिलि० इण्डि० (Rel. Ind.)	Religions of India (E.W. Hopkins)
रिलि० ऋग्० (Rel. Ṛg.)	Religion of the Ṛgveda (Griswold)
रिलि० देस वे० (Rel. d. V.)	Religion des Veda (H. Oldenberg)
रिलि० फिला० वे० (RPVU)	Religion and Philosophy of the Veda and the Upaniṣads (A.B. Keith)
रिलि० वे० (Rel. V.)	Religion of the Veda (M. Bloomfield)
रिलि० वे० लिट्० (R.V.L.)	Religion in the Vedic Literature by P. S. Deshmukh
ला० श्रौ० सू० (Lāṭ. Ś. S)	लाट्यायन श्रौतसूत्र
लौगाक्षि गृ० सू० (लौ०) (Laug. G. S.)	लौग० गृ० सू०
वा० ध० सू० (Vās. D. S.)	वासिष्ठ धर्मसूत्र
वाधू० श्रौ० सू० (Vādh. Ś. S)	वाधूल श्रौतसूत्र

वा० प्रा० (Vā. Prā.)	वाजसनेयि प्रातिशाख्य
(वार०) वा० गृ० सू० (Vār.G. S.)	वाराह गृह्यसूत्र
वा० (वार०) श्रौ० सू० (Vār. Ś S)	वाराह श्रौतसूत्र
वा० सं० (Va. S.)	वाजसनेयि संहिता
वि० ए० इण्डि० (W. A. I.)	Women in Ancient India (A. S. Altkar)
वि० ध० सू० (विष्णु०) (Vi. D. S.)	विष्णु धर्मसूत्र
वीर० सं० प्रा० (Vir. Sam. Pro.)	वीरमित्रोदय (संस्कार प्रकाश)
वि० श्राइ० (V. I.)	Vedic Index (Macdonell & Keith)
वे० कं० (ब्ल्० कं०) (V. Conc.)	Vedic Concordance (M. Bloomfield)
वे० मि० (हि०) V. M (H)	Vedische Mythologic (Hillebrandt)
वे० मि० (मै०)	Vedic Mythology (A.A. Macdonell)
वै० गृ० सू० (Vaikh. G.S.)	वैखानस गृह्यसूत्र
वै० ध० सू० (Vaikh. D.S.)	वैखानस धर्मसूत्र
वै० श्रौ० सू० (Vaikh Ś. S.)	वैखानस श्रौतसूत्र
वैता० श्रौ० सू० (Vait. Ś. S)	वैतान श्रौतसूत्र
वै० ध० द० (V. D. D.) (Tr. R. P. V. U.)	वैदिक धर्म एवं दर्शन
वै० वाङ्० (V. V. I.)	वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्दत्त)
श० ब्रा० (का०) (Ś. Br K.)	शतपथ ब्राह्मण (काण्व)
श० ब्रा० (मा०) (Ś. Br. M.)	शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन)
शां० गृ० सू० (Śāṅkh. G. S.)	शांखायन गृह्यसूत्र
शां० पितृ० सू० (Śāṅkh. Pitr. S)	शांखायन पितृमेधसूत्र
शां० श्रौ० सू० (Śāṅkh. Ś. S.)	शांखायन श्रौतसूत्र
शा० भा० (Śo. Bhā)	शाबर भाष्य (मीमांसा) (शवरस्वामीकृत)
श्रौ० सू० ला०द्रा० (Ś. S. Lāt. Drah)	The Śrauta Sūtras of Lāṭyāyana and Drāhyāyaṇa (A study)-Asko Parpola
श्वेता० ब्रा० (Śvet. Br.)	श्वेताश्वतर ब्राह्मण
श्वेता० उप० (Śvet. Up)	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सत्या० गृ० सू० (Sat. G. S.)	सत्याषाढ गृह्यसूत्र
सत्या० ध० सू० (Sat. D. S.)	सत्याषाढ धर्मसूत्र
सत्या० श्रौ० सू० (Sat. Ś. S.)	सत्याषाढ श्रौतसूत्र
सर्वा० (Sarvā)	सर्वानुक्रमणी
सर्वे० (Survey)	A Survey of the Śrauta Sūtras (काशिकर)
सं० शा० इ० (S. Ś. I.)	संस्कृत शास्त्रों का इतिहास (बलदेव उपाध्याय)
सं० सी० (S. Ser.)	संस्कृत सीरीज़
साम० (सा० वे०) (S. V.)	सामवेद संहिता
सा० (Sā.)	सायण
स्मृ० च० (Sm. C.)	स्मृति चन्द्रिका

स्मृत्यर्थ० (Sm. Sā)	स्मृत्यर्थसार
स्मृ० मु० (Sm. Mu.)	स्मृतिमुक्ताफल
हा० ध० सू० (Hā. D.S.)	हारीत धर्मसूत्र
हि० इण्डि० लिट्० (H. I. L.)	History of Indian Literature (A. Weber)
हि० इण्डि० लिट्० (वि०) H. I. L. W)	History of Indian Literature (M. Winternitz)
हि० एं० सं० लिट्० (H. A. S. L.)	History of Ancient Sanskrit Literature (F. Max Müller)
हि० क्ला० सं० लिट्० H. C. S. L.	History of Classical Sanskrit Literature (M. Krishnamāchārya)
हिर० (हि०) गृ० सू० (Hir. G. S.)	हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र
हि० (हिर०) ध० सू० (Hir. D. S.)	हिरण्यकेशि धर्मसूत्र
हि० (हिर०) श्रौ० सू० (Hir. Ś.S.)	हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र
हि० ध० शा०	History of Dharmaśāstra (P.V. Kane)
हि० सं० (H. Sans.)	हिन्दू संस्कार, हिन्दू परिवार मीमांसा (हरिदत्त विद्यालंकार)
हि० सं० पो० (H. S. P.)	History of Sanskrit Poetics (P.V. Kane)
हि० सं० लिट्० (H. S. L.)	History of Sanskrit Literature

(ख) पत्रिकाएं

ए० बी० ओ० आर० आई० ABORI	Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute
ए० के० एम० A. K. M.	Abhendlungen für die Kunde des Morgenlandes.
ए० ओ० A. O.	Acta Orientalia
ए० जे० पी० A. J. P.	American Journal of Philology
ए० जे० पी-एच० A. J. Ph.	American Journal of Philosophy
A. A.	Altindischen Ahencult (Lieden)
B. D. C. R. I.	Bulletin of the Deccan College Research Institute (Poona)
BSOAS	Bulletin of the School of Oriental and African Studies (London)
G. G. A.	Gottingen Gelehrte Anzeigen
I. H. Q.	Indian Historical Quarterly
I. A.	Indian Antiquary
I. S.	Indische Studien
J. A. O. S.	Journal of American Oriental Society
J. A. Ph. S.	Journal of American Philosophical Society

JBBRAS	Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society
JBORI	Journal of Bihar and Orissa Research Institute
JDL	Journal of Department of Letters (Cal. University)
JGJRI	Journal of Ganga Nath Jha Research Institute
J. I. S. O. A.	Journal of Indian School of Oriental Art
J. O. R.	Journal of Oriental Research (Madras)
J. U. B.	Journal of University of Bombay
J. V. S.	Journal of Vedic Studies (Lahore)
J. R. A. S.	Journal of Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland, (London)
J. R. A. S. B.	Journal of Royal Asiatic Society of Bengal
Q. J. M. S.	Quarterly Journal of Mythic Society
O. H.	Our Heritage
S. B. A. W.	Sitzungsberichte des Berliner Akademie des Wissenschaft
Ve. Stu.	Vedische Studien.
VO	Viena Oriental Journal
VIJ	Vishveshvaranand Indological Journal
WZKM	Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes
ZDMG	Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft
Zii.	Zeitschrift für Indologie und Iranistick

कल्पसूत्र

श्रौतसूत्र

प्रथम अध्याय

विषयप्रवेश :

मनुष्य स्वभावतः संवेदनशील प्राणी है। इसे अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं, भावनाओं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी न किसी व्यक्ति, समूह अथवा शक्ति की अपेक्षा रहती है। शारीरिक कष्टों, मानसिक क्लेशों तथा भौतिक विपत्तियों से जूझने में स्वयं को असमर्थ पाकर यह परमुखापेक्षी हो जाता है। अपने संगी-साथियों एवं इष्ट-मित्रों की सहायता तथा प्रयत्नों के निष्फल हो जाने पर इन विपत्तियों का किसी वाह्यशक्ति अथवा शक्तियों को कारण मान कर उन शक्तियों के प्रकोप को शान्त करने का प्रयास करता है। इनको प्रसन्न करने तथा अपने अनुकूल बनाने के हेतु वही उपाय करता तथा वही साधन प्रयोग में लाता है जिन उपायों एवं साधनों के द्वारा अपने इष्ट-मित्रों तथा समाज के शक्तिशाली वर्ग को प्रसन्न करके अपनी सहायता के लिए प्रेरित करता है, तथा प्रवल शत्रुओं के प्रकोप को शान्त करके अपने पक्ष में करने का प्रयास करता है। इन्हें दैवी शक्तियां कहा गया है।

कुछ ऐसी दैवी शक्तियां हैं जिन पर मनुष्य का कोई नियन्त्रण नहीं है किन्तु वे स्वतः अपनी अन्तःप्रेरणा से संसार के कल्याण में सतत रत रहती हैं। उन में से कुछ शक्तियां सर्वाधिक प्रभावशाली तथा प्रतिदिन, प्रतिक्षण हमारे जीवन के धारण, रक्षण एवं नियमन के साधन ही नहीं, अपितु इस के अनिवार्य कारण के रूप में कार्यरत प्रतीत होती हैं। इनमें सूर्य, चन्द्र, वायु, आकाश, अग्नि और जल तो प्रत्यक्ष ही हमारे उपकारक हैं। अतः इन शक्तियों को प्रसन्न रखने का प्रयास सार्वत्रिक देखा जाता है। इसका वैदिक आर्य भी कोई अपवाद नहीं हैं। किन्तु कभी-कभी ये शक्तियां मानवविरोधी कार्य करती भी प्रतीत होती हैं। वायु का झंझावात, अग्नि का दावानल, जल का भयंकर विनाशकारी वाढ़ का रूप धारण कर लेना आदि उनके प्रकोप के स्पष्ट लक्षण माने गये। अतः सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि और जल के देवताओं की प्रसन्नता के लिए इनकी उपासना एवं स्तुति-प्रशंसापूर्वक अपनी कामनाओं की पूर्ति की प्रार्थना की जाने लगी। इस प्रकार जहां इन दैवी शक्तियों की अनुकूलता के लिए उनके प्रति कृतज्ञता अभिव्यक्त की जाती थी वहां इनकी प्रतिकूलता पर इन्हें मनाने तथा इनके प्रकोप को शान्त करने का प्रयास भी किया जाता था। अत्यन्त शीत के कारण ठिठुरता हुआ झंझावात से भयभीत, वाढ़ से सन्त्रस्त, अनावृष्टि से पिपासातुर एवं अकाल से क्षुधापीड़ित, बसे बसाए घर-वार त्याग कर इधर-उधर भटकता हुआ, स्वयं को दुर्बल, असहाय एवं किंकर्तव्यताविमूढ पाकर मानव दैवी शक्तियों की शरण

खोजने लगा, आज भी खोजता है। इन्हें प्रसन्न करने के लिए अन्न, फल, घृत, दुग्ध, पशु आदि श्रेष्ठ जीवनदायिनी वस्तुओं को इनके निमित्त अर्पण करने लगा, आज भी करता चला आ रहा है, केवल इस दान के स्वरूप में भेद है। देवता को प्रसन्न करने के हेतु मानव ने आत्मोत्सर्ग का मार्ग भी अपनाया तथा वह मानव-बलि भी देनें से नहीं चूका।

वैदिक आर्यों ने भी देवताओं को अपनी ओर आकृष्ट करने के हेतु अपने प्रिय खाद्य व पेय पदार्थ उनके निमित्त समर्पित किए। इस समर्पण को सफलता-पूर्वक इष्ट-देवों तक पहुंचाने का दायित्व अग्निदेव को सौंपा। वही इनके वाहक बने और वही बने मनुष्य तथा देवताओं के बीच सम्पर्क का माध्यम। वही दूत बने। देवताओं को देवलोक से मर्त्यलोक में लाने का दायित्व भी उन्हीं पर डाला गया।

यहीं से विविध प्रकार की कामनाओं के पूर्त्यर्थ विविध प्रकार के यज्ञ-यागों का श्रीगणेश होता है, जिसने अपनी चरम सीमा पर पहुंचते-पहुंचते अत्यन्त विशाल, विस्तृत एवं जटिल रूप धारण कर लिया और उनकी जीवन प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग बन गया, यहां तक कि सहस्र संवत्सर पर्यन्त चलने वाले यज्ञों का भी आविष्कार किया गया। यह अन्य बात है कि बाद में इन यागों की अव्यावहारिकता को देखते हुए व्याख्याकारों ने 'संवत्सर' शब्द का अर्थ दिनपरक लगा कर इन्हें व्यावहारिकता प्रदान करने का प्रयास किया।

वैदिक यज्ञों की परम्परा वेद के समान ही अपौरुषेय तथा अनादि मानी जाती है। क्योंकि वेद क्रियार्थ माना जाता है। अतः जहां वेद का अध्ययन द्विजों के लिए अनिवार्य है, वहां वेदप्रतिपादित यज्ञ-याग भी तीनों वर्णों के लिए अनिवार्य हैं।

वैदिक कर्मकाण्ड जहां व्यक्ति के लिए मोक्षप्रद है वहां समाज की उन्नति तथा कल्याण का कारण भी है। यज्ञ न केवल मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना को जागृत करता है, अपितु सामाजिक संघटन एवं प्रगति का प्रेरक भी है। वैदिक आर्यों के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्रविन्दु यज्ञ ही रहा है। यद्यपि शास्त्रवचनानुसार यज्ञानुष्ठान का अधिकार समाज के वर्गविशेष तक ही सीमित था तो भी किसी न किसी रूप में समस्त समाज यज्ञ के साथ सम्बद्ध था। यही नहीं अपितु औपनिषदिक विचारधारा के उदय और विकास की पृष्ठभूमि भी वैदिक यज्ञसंस्था ने ही तैय्यार की थी। अतः वैदिक साहित्य, धर्म, दर्शन तथा संस्कृति को आत्मसात् करने के लिए वैदिक यज्ञसंस्था को आत्मसात् करना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त मानव-विज्ञान के विशालतर दृष्टिकोण से भी वैदिक कर्मकाण्ड का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वैदिक यज्ञ मानव-विचारधारा के विकास में एक महत्त्वपूर्ण विश्रामस्थल है। इस कर्मकाण्ड के सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व के कारण ही इसका उत्तरोत्तर विकास इतनी द्रुत गति से हुआ कि पञ्जाब के मैदानों एवं नदियों के किनारों से उठा मन्त्रघोष अपेक्षाकृत

स्वल्प समय में ही विन्ध्याचल की चोटियों को लाँघता हुआ दक्षिण भारत के पठारों पर प्रतिध्वनित होने लगा। और इसके सरल ऋग्वैदिक स्वरूप में उत्तरोत्तर जटिलता, दुरूहता एवं विशालता बढ़ती चली गयीं।

यज्ञ की इस जटिलता तथा विस्तार का मुख्य कारण उत्तरकालीन याज्ञिकों की प्रत्येक वैदिक मन्त्र को किसी न किसी यज्ञ के साथ सम्बद्ध करने की उत्तरोत्तर वर्धमान प्रवृत्ति ही रही है। यहां तक कि नवीन कर्मों के लिए जब मन्त्रों का अभाव पाया गया तो किसी अन्य प्रसंग में पूर्वविनियुक्त मन्त्रों को नवीन कर्मों के साथ उनके प्रतिपाद्य अर्थों की सर्वथा उपेक्षा करके भी पुनः सम्बद्ध करने का भोंडा प्रयास किया गया। इस प्रकार के विनियोगों की पृष्ठ-भूमि में यह भावना घर कर गयी थी कि वैदिक मन्त्रों का मूल उद्देश्य ही कर्म का प्रतिपादन है। यदि मन्त्र किसी कर्म विशेष का प्रतिपादन नहीं करता तो उसकी सत्ता ही व्यर्थ हो जाती है। मन्त्र का लक्षण ही यह किया जाने लगा—

"मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतास्मारकः।"

अर्थात्—'कर्म के अंगभूत द्रव्य तथा देवता के स्मारक को मन्त्र कहते हैं।' अतः स्पष्ट है कि जो वचन कर्मांग न हो उसे मन्त्रसंज्ञा प्रदत्त नहीं की जा सकती। जब कर्मों की संख्या बढ़ने लगी तो उन में विनियोज्य मन्त्रों की संख्या कम पड़ते देख तत्कालीन कर्मकाण्डियों ने अनेक ऐसे मन्त्रों को भी ऐसे कर्मों के साथ जोड़ दिया जो कर्म द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया से तनिक भी मेल नहीं खाते थे।

यद्यपि यज्ञों की जटिलता का एक कारण ब्राह्मणों की धनलिप्सा तथा महत्त्वाकांक्षा भी हो सकती है किन्तु पाश्चात्य वेदज्ञों तथा उनके अनुचर भारतीय विद्वानों ने इस पक्ष की अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा कर चर्चा की है[1]। वस्तुतः हर प्रकार की रचना में सूक्ष्मता तथा विस्तार की भावना भारतीय विद्वानों (अतः ब्राह्मणों) की विशेषता रही है। अतः जहाँ कहीं इस प्रकार की भावना की न तो आवश्यकता थी न ही व्यावहारिकता, वहाँ भी बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। दूसरे उस समय यज्ञ-याग में लोगों की इतनी आस्था थी कि इस क्षेत्र में स्वभावतः विस्तार तथा जटिलता उत्पन्न होते चले गये। अन्यथा ऋग्-वैदिक काल में तो कर्मकाण्ड अत्यन्त संक्षिप्त तथा सरल प्रतीत होता है।

इन यज्ञ-यागों के विषय में कुछ संकेत ऋग्वेद में पाये जाते हैं जिनकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे। इनका कुछ क्रमहीन वर्णन, व्याख्या, प्रशंसा तथा परिणाम आदि की चर्चा ब्राह्मणों में की गई है। जिनके अनुसार विविध प्रकार

---

१. Ghosh, B. K. 'Hindu Ideal of Life (acc. to the Śrauta Sutras)' in *Indian Culture*, Vol. VIII., pp. 373-74.

के यज्ञ-यागों के विविध प्रकार के फल कर्ता को प्राप्त होते हैं जिनमें स्वर्ग सर्वाधिक अभीष्ट माना गया है। श्रौतसूत्रों ने इन्हें व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है।

वैदिक यज्ञ दो प्रकार के हैं — श्रौत तथा गृह्य।

श्रौत यज्ञों में तीन से पाँच तक अग्नियों का प्रयोग किया जाता है जिनमें देवता विशेष को आहुतियां प्रदान की जाती हैं तथा जो सोलह या सत्रह की संख्या तक के ऋत्विजों की सहायता से अनुष्ठित किये जाते हैं। जब कि गृह्य यज्ञों के अनुष्ठानार्थ एक गृह्याग्नि का ही दैनिक कर्म एवं संस्कारों के लिए प्रयोग किया जाता है, तथा गृह्यकर्मों का सम्पादन अकेले यजमान या उसकी पत्नी, पुत्र अथवा पुरोहित द्वारा किया जा सकता है। वैदिक श्रौत यज्ञों की एक विशेषता इनकी पृष्ठभूमि में विद्यमान यह धारणा है कि यज्ञ के द्वारा न केवल देवता को प्रसन्न ही किया जा सकता है अपितु दैवी शक्तियों को कर्त्ता की सहायता अथवा उसकी मनःकामना की पूर्ति के लिये बाध्य भी किया जा सकता है। इस धारणा के परिणामों पर आगे विचार करेंगे।

श्रौत यज्ञ पुनः दो प्रकार के माने जाते हैं — नित्य तथा नैमित्तिक। नित्य याग वे होते हैं जिनका अनुष्ठान सभी द्विजों के लिए अनिवार्य है—यथा अग्निहोत्र। नैमित्तिक याग वे होते हैं जो किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए सम्पन्न किये जाते हैं यथा पुत्र के लिए पुत्रेष्टि या वर्षा के लिये कारीरी-इष्टि। किन्तु यह भेद सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक अधिक है[१]।

कई लोगों ने इस प्रसंग में प्रायश्चित्तीय यज्ञ-यागों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर इन्हें भी श्रौत यज्ञों का भेद विशेष मानने का प्रयास किया है[२]। प्रायश्चित्तीय कर्म तो मुख्य रूप से कर्मकाण्ड में की गयी त्रुटियों की क्षति-पूर्ति के लिए प्रतिपादित किये गये हैं। उन की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

यज्ञों का मुख्य उद्देश्य देवता को प्रसन्न करके अपनी अभीष्ट की सिद्धि ही है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए देवता का यज्ञस्थली में मन्त्रों की सहायता से आह्वान किया जाता है कि वह अपने स्वर्गधाम की ऊँचाइयों से उतर कर यज्ञ में साक्षात् पधार कर उसके लिए समर्पित एवं परोसे गये अन्न आदि को ग्रहण करे। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस प्रकार आहूत देवता को मन्त्र की शक्ति से यज्ञस्थल पर आने एवं यजमान की सहायता करने को बाध्य होना पड़ता है। देवता और यजमान पारस्परिक सहायता से सम्बद्ध हैं। जहां यजमान को देवता की सहायता की आवश्यकता है वहां देवता को भी यजमान द्वारा प्रदत्त आहुति की अपेक्षा रहती है।

---

१. **Hillebrandt** : in *ERE* Vol. XII, p. 796.
२. **Wundt** : *Volkerpsychologie*, II. 2, p. 330.

इस प्रकार के परस्पर साहाय्य तथा अन्योऽन्याश्रय के सम्बन्ध में हार्दिक श्रद्धा एवं भक्ति की अपेक्षा नहीं की जा सकती। अपितु स्वार्थसिद्धि की भावना ही प्रबल रहती है[1]। केवल पुरुषमेध तथा सर्वमेध नामक यज्ञों में आत्मोत्सर्ग की भावना व्यक्त होती है। हिल्लेब्राण्ट के विचार में इस भावना के पीछे उत्तरकालिक परिव्राजक-भावना का पूर्वाभास प्रतीत होता है[2]। अन्यथा समस्त कर्मकाण्डीय-क्रियाकलाप किसी न किसी अभीष्टसिद्धि अथवा अभिलाषा के केन्द्र-विन्दु पर घूमता प्रतीत होता है।

इन सिद्धियों के लिए कर्मकाण्ड में अनेक प्रकार के वाह्य उपायों का विधान किया गया है। किसी शत्रु के प्राणघात की अभिलाषा से प्रेरित यज्ञ के कर्ता के ऋत्विजों को रक्तवर्ण का उष्णीष धारण करना होता है, आहुति के लिए आज्य रुग्ण गौ के मक्खन से तैय्यार किया जाता है, एवं सोमाभिषवणार्थ चर्म 'अनुस्तरणी' संज्ञक गौ का होना चाहिए। इस प्रकार व्रात्यस्तोम[3], महाव्रत प्रभृति कर्मों में असुरों को दूर करने, एवं सूर्य की सहायता करने के लिए ढोल पीटना तथा पँश्चली के साथ सम्भोग करना अभीष्ट उर्वरता की सिद्धि के प्रतीक हैं।

श्रौत यज्ञों के ऋत्विजों में यजमान तक का नाश करने का सामर्थ्य होता है। ऋत्विजों के चयन (ऋत्विग्वरण) में तनिक सी त्रुटि अथवा किसी मन्त्र के उच्चारण में स्वर का दोष आदि यज्ञ के फल को नष्ट करने अथवा उसे सर्वथा प्रतिकूल कर देने अथवा ऋत्विजों एवं यजमान के जीवन को संशयाक्रान्त कर देने में समर्थ सिद्ध हो सकते हैं।

इन यज्ञों में यजमान की कर्तव्यता स्वल्प ही होती है। सम्पूर्ण क्रियाकलाप ऋत्विजों के अधीनस्थ रहता है, जिसके लिए यजमान को उचित दक्षिणा देनी होती है। दक्षिणा से वह यज्ञ के फल को ऋत्विजों से खरीद लेता है। केवल सत्त्रों में ब्राह्मण ऋत्विज ही यजमान के दायित्व का निर्वाह भी करते हैं। श्रौत यज्ञों के व्यक्तिप्रधान हो जाने के कारण उनकी सामाजिकता को ठेस पहुंची है। यद्यपि राजसूय, अश्वमेध तथा सत्त्र याग इस प्रसंग में अपवाद माने जा सकते हैं।

यज्ञानुष्ठान के लिए शुभ तथा श्रेष्ठ समय का चयन आवश्यक है जिस के लिए वेदांग ज्योतिष सदृश रचनाएं प्रमाण हैं। ज्योतिष शास्त्र के विकास के पीछे यज्ञानुष्ठानार्थ शुभ समय की गणना की आवश्यकता ही निहित है।

समय के अतिरिक्त श्रेयस्कर तथा श्रेष्ठ स्थान का चयन भी आवश्यक है। वैदिक कर्मकाण्ड में पूर्वनिर्मित शाला या वेदि का प्रयोग नहीं किया जाता।

---

१. R. Karston : *Origin of Worship*, p. 97.
२. *ERE* XII, p. 796.
३. *GIAP* III. 2, p. 139.

यजमान के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर ब्राह्मणों द्वारा वेदि के योग्य समतल लक्षणवती भूमि का चयन किया जाता है जिस पर यज्ञशाला का निर्माण किया जाता है। इस यज्ञशाला में मुख्य तीन अग्नियां स्थापित की जाती हैं। यथा आहवनीय, दक्षिण तथा गार्हपत्य। ये तीनों अग्नियां क्रमशः द्यौः, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी के समानान्तर मानी जाती हैं तथा देवताओं, पितरों एवं मनुष्यों के लोकों से सम्बद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सभ्य तथा आवसथ्य दो अन्य अग्नियों को भी उपयोग में लाया जाता है। इन अग्नियों की वेदि में स्थापना के लिए अग्न्याधान नामक कर्मविशेष का विधान किया गया है। विशेष प्रकार से वेदि का निर्माण किया जाता है जहां देवता लोग आकर बैठते हैं। अतः इस बात का पूरा प्रयत्न किया जाता है कि असुरों का प्रवेश देवताओं के क्षेत्र में न हो सके।

अग्निचयन कर्म द्वारा अग्निवेदि की स्थापना की जाती है जिस में पुरुष, अश्व, बैल, भेड़े तथा बकरा की बलि दी जाती है[1] तथा इन के सिरों को नींव में स्थापित किया जाता है। या बकरे के शरीर की आहुति दी जाती है और अन्य पशुओं के शरीरों को जल में फेंक दिया जाता है तथा बाद में इस की मिट्टी से अग्निवेदि इष्टकाओं का निर्माण किया जाता है[2]।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है वैदिक यज्ञों में मन्त्रोच्चारण के प्रकार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न प्रकार के मन्त्रों, मन्त्रांशों, अथवा वौषट्, फट् प्रभृति ध्वनियों के उच्चारण का विधान किया गया है जिनके द्वारा शत्रुनाश अथवा आत्मोन्नति एवं अभीष्टसिद्धि जैसे उद्देश्यों की पूर्ति की जाती है। मारण-उच्चाटन सदृश क्रूर कर्मों की सिद्धि के लिए महाप्राण, सघोष वर्णों वाले मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। मंगलकारी, शुभ कार्यों की सिद्धि के लिए अल्पप्राण, अघोष, कोमल वर्णों वाले मन्त्रों का विधान किया जाता है। ऋग्वेद में भी ऐसा सूक्त है[3] जो स्पष्ट ही किसी अशुभ कार्य के लिए किए जाने वाले जादू टोनों की प्रक्रिया में प्रयुक्त होता होगा। इसी प्रकार मंगलकारी प्रयोग में 'सम्' उपसर्ग का प्रयोग बहुलता से किया जाता है। टूटे शरीरांगों को जोड़ने के लिए अरुन्धती नामक पौधे के प्रयोग में विनियुक्त मन्त्रों में √रुह् से निष्पन्न शब्दों का बाहुल्य रहता है। इस प्रकार के तान्त्रिक प्रयोग अथर्ववेदीय कर्मकाण्ड में बहुधा किये जाते हैं। इन श्रौत यज्ञों में भक्ति की

---

१. आप० श्रौ० सू० १६-१७।

२. आप० श्रौ० सू० १६-१७; का० श्रौ० सू० १६-१८; शा० श्रौ० सू० ९, २२-२८; का० श्रौ० सू० १६, १, ३२ के अनुसार पशु बलि के स्थान पर इन पशुओं के स्वर्ण के अथवा मिट्टी के सिर स्थापित किए जा सकते हैं। बौ०श्रौ०सू० १०,९ के अनुसार युद्ध में मारे गये वैश्य तथा अश्व के सिरों को स्थापित करना चाहिए।

३. ऋग्० ६, ५३; Hillebrandt, *Ved. Myth.* Vol. III, p. 366.

भावना, ईश्वरपरायणता, अथवा समर्पण की गहन भावना के दर्शन नहीं होते। सम्पूर्ण क्रिया-कलाप एक यान्त्रिक प्रक्रिया से आबद्ध प्रतीत होता है। देवताओं की प्रसन्नतार्थ वैदिक आर्य सुरा, मधु तथा यव एवं घृत की आहुतियां देते थे किन्तु उनके देवताओं को सोमरस सर्वाधिक रुचिकर प्रतीत होता था। सोमरस का प्रयोग मुख्यरूप से अग्निष्टोमयाग में किया जाता था जिसकी समस्त प्रक्रिया स्वर्गीय क्रिया-कलाप की प्रतिकृति मानी जाती थी। यह समस्त सोमयागों की प्रकृति है। सोमयाग की सात संस्थाएं हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा अप्तोर्याम।

दुग्ध, घृत, चरु, पुरोडाश प्रभृति अन्न तथा पशु की आहुतियां हविर्यागों में प्रदान की जाती हैं। हविर्याग भी सात प्रकार के हैं :—अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, निरूढपशुवन्ध और सौत्रामणी। इन में दर्शपूर्णमास सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और समस्त हविर्यागों की प्रकृति है।

कुछ एक यज्ञ विशेष अवसरों पर विशिष्ट अभीष्ट कामनाओं की सिद्धियों के लिए किये जाते थे। ये श्रौत यज्ञ एक दिन से लेकर बारह दिनों तक चलते थे। किन्तु कुछ ऐसे दीर्घ याग भी थे जो सत्त्र कहलाते थे और यदि सूत्रों के वचनों पर विश्वास किया जाय तो सहस्र संवत्सर पर्यन्त चलते रहते थे। पश्चात्कालिक व्याख्याकारों के अनुसार यहां 'संवत्सर' पद को दिनवाचक मानना चाहिए।

इन सभी यज्ञ-यागों का क्रमबद्ध, विस्तृत वर्णन श्रौतसूत्रों में किया गया है। जिनमें परस्पर भेद भी पाये जाते हैं जो समय तथा देश के अनुसार स्वाभाविक हैं। तो भी यज्ञ की सामान्य प्रक्रिया तथा उसके प्रेरक सिद्धान्त सर्वत्र एक से हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में से अधिकांश ने वैदिक कर्मकाण्ड को जादुई प्रक्रिया से अधिक कुछ नहीं माना[१]। फ़्रेज़र[२] ने विचार प्रकट किया है कि आदि काल से अद्यपर्यन्त भारत में सामान्य व्यक्ति का वास्तविक धर्म बहुधा हानिकर प्रेतात्माओं

---

१. Hillebrandt in *ERE* Vol. XII, p. 798; Haug, *Ueber die Ursprungliche Bedeuting des wrotes brahman*, in *SBAW*, 1868, p. 16; Winternitz, *Witchcraft in Ancient India*, in *New world*, Vol. VII, p. 23; Sylvain Lévi, *La Doctrine du sacrifice*, pp. 9 ff., 129; Wundt, *Volkerpsychologie*, II. 2, pp. 339, 342, 447; Keith, *RPVU* Pt. II (*HOS* Vol. 32), pp. 379-401; vide also *ibid*. Pt. I, pp. 255 ff.

२. *Golden Bough*, Pt. I, 'The Magic Art', pp. 228 ff.

में विश्वास से अधिक कुछ नहीं रहा, जो समस्त सृष्टि में व्याप्त हैं। जादू का अर्थ सामान्य घटनाचक्र को दैवी शक्तियों की सहायता के बिना केवल टोनों तथा कर्मकाण्ड के सहारे प्रभावित करके अपनी अभीष्ट-सिद्धियों को प्राप्त करने का प्रयास है। धर्म के अन्तर्गत मन्त्रों, सूक्तों, प्रार्थनाओं से दैवी शक्तियों की अनुकम्पा से अपनी इच्छाओं की पूर्ति का प्रयास किया जाता है जिसके लिए यज्ञ-याग का आश्रय भी लिया जाता है। इस दृष्टि से वैदिक यज्ञयाग को शुद्ध जादू मानना समीचीन नहीं कहा जा सकता। वैदिक कर्मकाण्ड में दो विचारधाराएं प्रवाहित होती दृष्टिगोचर होती हैं। एक तो ऋग्वेदीय विचारधारा, द्वितीय आथर्वण परम्परा। इस प्रकार इसके ब्राह्मणों में प्रतिपादित एवं सूत्रों द्वारा उपबृंहित एवं सविस्तारवर्णित कर्मकाण्ड इन दोनों परम्पराओं का सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है। अतः जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है, जादू-टोनों से समाविष्ट एवं अतिमानुष शक्तियों को स्वेच्छापूर्ति के लिए बाधित करने की भावना से आक्रान्त होते हुए भी इस यज्ञ-याग में बहुत कुछ आध्यात्मिक एवं आधिदैविक भाव सन्निहित है।

टी० जी० मैनकर ने भी इस विचार का प्रतिवाद किया है तथा यज्ञ में एक रहस्यमयी अतिमानव शक्ति का प्रतिपादन किया है जो देवताओं के रूप में कल्पित दैवी शक्तियों का स्थान ग्रहण करने का सामर्थ्य रखती है। ब्राह्मणों में प्रतिपादित यज्ञ में भी ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की परम्पराओं का सम्मिश्रण पाया जाता है, किन्तु यज्ञ के इतिहास के विषय में हमारे वर्तमान ज्ञान के आधार पर यह निश्चय करना कठिन है कि ऋग्वैदिक सूक्तों का तत्कालीन कर्मकाण्ड से सम्बन्ध किस प्रकार का एवं कितना था। केवल इतना कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की कर्मकाण्डीय परम्परा यजुर्वेद की कर्मकाण्डीय परम्परा से भिन्न थी तथा ऋग्वेदीय संहिता के विभिन्न भागों से सम्बद्ध, विभिन्न ऋषिवंशों की याज्ञिक परम्पराओं में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। किन्तु ऋग्वेदीय कर्मकाण्ड के विकासक्रम को आंकने का प्रयास तब तक असफल रहेगा, जब तक तत्सम्बन्धी सूक्तविकास-क्रम के साथ-साथ तद्विषयक कर्मविकासक्रम के विभिन्न स्तरों की समानान्तरता स्थापित नहीं की जाती। यही दुष्कर कार्य अद्ययावत् सम्पन्न नहीं किया जा सका। इसी कारण ऋग्वेद का बहुत बड़ा भाग अभी तक हमारे लिए अस्पष्ट एवं दुरूह बना हुआ है[1]। यदि ऋग्वेदीय सूक्तों से सम्बद्ध तत्कालीन कर्मकाण्ड की सम्पूर्ण प्रक्रिया हमारे समक्ष होती तो निश्चय ही ऋग्वेद की बहुत सी दुरूहता दूर हो जाती[2]।

अतः हम यह निश्चयपूर्वक कहने की स्थिति में नहीं हैं कि ऋग्वेदीय कर्मकाण्ड विशुद्ध धार्मिक प्रक्रिया थी या उस में जादू-टोनों का समावेश था[3]।

---

१. Eggeling, *ŚBr*. Pt. I, *SBE* Vol, XII, Intro. p. XXI.

२. M. Bloomfield, *Ṛgveda Repetitions* I, *HOS* Vol. 20, Intr. p. 18, 1918.

३. C. G. Kashikar, *Survey°*, p. 11.

इसीलिए यह कह सकना भी कठिन है कि ऋग्वैदिक काल में जादू-टोनों का सर्वथा अभाव था और कि ये अवरकालिक कर्मकाण्ड में ही सन्निविष्ट किये गये। यह विचार भी अप्रामाणिक है कि ब्राह्मणकालीन कर्मकाण्ड केवल जादू-टोनों से ही आक्रान्त है और कि उसमें संराधक तथा प्रत्यायक तत्त्वों का सर्वथा अभाव है।

डा० जे० गोण्डा के विचार में आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक श्रौत के महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथा मोक्ष-प्रवण पक्ष को आत्मसात् न करके उसकी वास्तविक, अन्तर्हित भावना को न समझने की भूल की है। केवल अग्निवेदि की ही अन्तर्हित विशेषता पर ध्यानपूर्वक विचार करें तो प्रतीत होगा कि इसकी रचना-प्रक्रिया ब्रह्माण्डीय सृष्टि-रचना के समानान्तर है और दीक्षा के अनन्तर यजमान का व्यक्तित्व प्रजाप्रति के साथ एकरस हो जाता है। यदि वह वेदि की रचना को यज्ञीय दृष्टि से सम्यक्तया समझ कर आत्मसात् कर लेता है तो उसके व्यक्तित्व में दिव्य परिवर्तन हो जाता है, उसका नवीकरण होकर दिव्य देह के साथ एक प्रकार का नवीन जन्म होता है। यज्ञ आत्म-ज्ञान की एक अनुपम प्रक्रिया है। यह ब्रह्माण्डीय सृष्टि रचना की प्रतिरूप परिकल्पना है[1]।

डा० जुंग के अनुसार तो कर्मकाण्ड मानव व्यक्तित्व के नवीकरण का प्रतीक है, तथा सचेतन एवं अचेतन की मध्यवर्ती भिन्नता के दूरीकरण का प्रयास है जो व्यक्ति को उसके वास्तविक 'स्व' में निमग्न कर देता है[2]।

के० आर० पोतदार ने सप्रमाण दर्शाया है कि कम से कम ऋग्वैदिक काल में यज्ञीय संस्था का सदाचरण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योग रहा है तथा दुराचारियों का समूल नाश करने के लिए सोम को सदा तत्पर दर्शाया गया है[3]।

यह सब होते हुए भी ऋग्वेद के समय के कर्मकाण्ड की पूर्ण प्रक्रिया के अभाव में सूक्तों या मन्त्रों के तत्कालीन प्रयोग तथा विनियोग का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता।

तो भी इतना स्पष्ट है कि आथर्वण कर्मकाण्ड के विकसित होने के साथ ही जादू-टोनों और तान्त्रिक प्रयोगों का प्रचार तथा प्रसार दिनों-दिन बढ़ता गया।

श्रौतसूत्रों का विकास :

यद्यपि यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि वैदिक कर्मकाण्ड का आरम्भ कब और कैसे हुआ तो भी ऋग्वेद में ही इस बात के संकेत मिलते हैं कि संहिता के

---

१. J. Gonda, *Change and Continuity in Indian Religion*, pp. 17-19.

२. C. G. Jung, *Psychology and Alchemy*, pp. 129-130.

३. *Sacrifice in the Ṛgveda*, pp. 274-276.

संकलन से पूर्व ही कर्मकाण्ड किसी न किसी रूप में विकासोन्मुख अवश्य था। इस विकास की दिशा और मात्रा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। अधिकांश पाश्चात्य वेदज्ञों ने इस विकास को पर्याप्त समझा है[१]। हॉग ने तो ऋग्वैदिक काल में ही सम्पूर्ण 'कल्प' को ही व्यवस्थित रूप में विद्यमान कल्पित किया है[२]। जबकि हिल्लेब्राण्ट की कल्पनानुसार तो ऋग्वेद की वर्तमान 'साहित्यिक संहिता' के समानान्तर ही एक 'कर्मकाण्डीय संहिता' भी थी[३] जो कि उत्तरवर्ती ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों का मूल स्रोत सिद्ध हुई। किन्तु इस कल्पना में कोई सार नहीं है। रेनु के मतानुसार यह तो सम्भव है कि याज्ञिक सूक्तों की कोई कण्ठगत परम्परा रही हो किन्तु इसकी कोई लिखित सत्ता नहीं मानी जा सकती[४]। गेल्डनर ने संहिता को कर्मकाण्ड का उपोद्घात मात्र स्वीकार किया है क्योंकि ऋग्वेदीय संहिता में देवाराधन की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है और कर्मकाण्ड की कम[५]। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में अनेक प्रकार के कर्मकाण्डीय संकेत पाये जाते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उस समय के भी यज्ञ-याग का प्रचार किसी न किसी रूप में आर्यों में प्रचलित था। किन्तु ये संकेत ऐसे नहीं कहे जा सकते जो कर्मकाण्ड का वह विकसित रूप प्रस्तुत करते हों जिसका दिग्दर्शन उत्तरवर्ती ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में होता है।

ऋग्वेद में सोमयाग, अग्न्याधान, हविर्यज्ञ, चातुर्मास्य, सायंप्रातर्होम तथा पशुयाग के सरलतर स्वरूपों के संकेत प्राप्त होते हैं[६]। हिल्लेब्राण्ट के मत में तो प्राचीन भारत में मानवबलि भी होती थी जिसे बाद में बन्द कर दिया गया[७]। किन्तु इस कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है[८]। अवभृथ और दीक्षा ऋग्वेद काल के हो सकते हैं[९]। वेदि (ऋग्० १०, ६१, २), यूपाञ्जन (ऋग्० ३, ८, १), शस्त्रशंसन

---

१. ओल्डनबर्ग, रिलि० दे० वे०, पृ० ३; ब्लूमफील्ड, रिलि० वे०, पृ० ३१; मैकडॉनल, *ERE* Vol. VIII, p. 312; कीथ, रिलि० फिला० वे० पृ० २५६; ग्रिज़वोल्ड, रिलि० ऋग्०, पृ० ३३६; पी० एस० देशमुख, रिलि० वे० लिट्०, पृ० ३३९-३४१।

२. ऐ० ब्रा० भूमिका, पृ० ७; २३; ३९।

३. *Bezzenberger Beitrage* Vol. VIII, p. 195; *Ved. Myth.* (*H*) I, p. 259.

४. L. Renou, *Les Ecoles Vedique* p. 5.

५. वे० स्तु०, भाग २, पृ० १५२।

६. देशमुख, रिलि० वे० लिट्०, पृ० ३३९।

७. *ERE* Vol. XII, 'Worship' (Hindu), p. 797; cf. 'Human Sacrifice' (Indian), *ERE* Vol. VI, p. 849.

८. *ERE* Vol. XII, p. 612[b].

९. Macdonell, *ERE* Vol. XII, p. 614[b].

तथा सामगान (ऋग्० ५, १८, ४; ६, २९, ४; ७, ३३, १४ ; प्रभृति), निविद् (ऋग्० १,१४२,१२-१३; २,३६,१; ३,४,११), स्वाहाकार तथा वषट्कार का भेद (ऋग्० १, १४, ८; ३१, ५; १२०, ४) कर्मकाण्ड के क्रियाकलाप से सम्बद्ध हैं। द्रोण (ऋग्० ९, ३, १), जुहू से याग (ऋग्० १, ७६, ५; १४५, ३; २, २७, १), स्रुव (ऋग्० १, ११६, २४), स्रुच् (ऋग् १, ११०, ६), चमस (ऋग्० १, ५४, ९; ८, ७१, ७) प्रभृति उपकरणों का उल्लेख किया गया है। होतृ, पोतृ, नेष्टृ, अग्नीध्र, प्रशस्तृ, अध्वर्यु, ब्रह्मा, प्रभृति ऋत्विजों की चर्चा भी की गई है (ऋग्० २, १, २; १०, ९१, १०; ४, ९, ३-४; १, १६२, ५)। उद्ग्राभ्, ग्रावग्राभ् (ऋग्० १, १६२, ५), शमितृ (ऋग्० १,१६२, १०) का भी उल्लेख पाया जाता है। और इस प्रकार के उल्लेखों पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि यह कर्मकाण्ड ईरानी आर्यों के काल तक भी व्याप्त प्रमाणित होता है[1]। देवताओं को प्रसन्न करने हेतु अग्नि में हविष्य प्रदान करने की प्रथा यूनान और इटली में भी प्रचलित थी[2]। ऋग्वेद के इन संकेतों से आगे बढ़ कर जब हम यजुर्वेद पर दृष्टिपात करते हैं तो कर्मकाण्डीय विकास के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं और कई अवस्थाओं में तो ऋग्वेदीय परम्परा का स्पष्ट विरोध भी परिलक्षित होता है[3]। ऋग्वेद और यजुर्वेद का मौलिक अन्तर भी यही है कि जहाँ ऋग्वेदीय मन्त्रों का कर्मकाण्डीय विनियोग गौण तथा कई अवस्थाओं में अस्वाभाविक है वहाँ यजुर्वेदीय मन्त्र मुख्यतः किसी न किसी यज्ञ-याग में विनियोगार्थ ही निर्मित हुए हैं। इसी कारण कुछ अवस्थाओं में याजुष मन्त्रों की पुनरुक्ति भी हुई है और कुछ अत्यन्त विरल अवस्थाओं में पुनरुक्त मन्त्रों का श्रौतसूत्रों में विनियोग-भेद भी नहीं किया गया।

तै० ब्रा० १,१,७ के तीन मन्त्र[4] तै० ब्रा० १,२,१ में पुनरुक्त है किन्तु श्रौत-सूत्रों में इनके लिए भिन्न विनियोग का उल्लेख नहीं किया गया। व्याख्याकारों ने इनके लिए भिन्न-भिन्न विनियोग दर्शाने का प्रयास किया है, यथा—आप० श्रौ० सू० की व्याख्या में तै० ब्रा० १,१,७ का प्रयोग अध्वर्यु के लिए निर्दिष्ट है तो तै० ब्रा० १,२,१ का यजमान के लिए। तो भी ये अपवाद ही कहे जा सकते हैं। कई अवस्थाओं में मन्त्रों के स्वाभाविक विनियोग के अतिरिक्त कृत्रिम विनियोग भी दृष्टिगोचर होते हैं, यथा—तै० आर० ३,३,१० के "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे…… राजा त्वा वरुणो नयतु" का तै० ब्रा० २,२,५ में दक्षिणा लेते समय विनियोग दर्शाया गया है, किन्तु चतुर्होम ब्राह्मण में इसी मन्त्र का विनियोग अग्निचयन में

१. कीथ, ***ERE*** Vol. XII, p. 612[a].

२. मेकडॉनल, हि० सं० लिट्० पृ० २६३-२६४।

३. तु० तै० सं० २, ५, ९—"यद् ब्रूयाद् योऽग्निं होतारमवृथा इत्यग्निनोभयतो यजमानं परिगृह्णीयात् प्रमायुकः स्यात्।"

४. "प्राचीमनु प्रदिशम् …"; "यत्ते शुक्र शुक्रं वर्चः …"; तथा "आनशे व्यानशे …"।

प्रतिग्रह नामक इष्टकाओं की स्थापना में किया गया है जो सर्वथा कृत्रिम है। 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' (ऋग्० ४, ३९, ६) का श्रौतसूत्रों में इष्टि में दधि-भक्षणार्थ प्रयोग केवल इसलिए किया गया है[१] कि मन्त्र में 'दधि' शब्द प्रयुक्त है, जिसका दधिभक्षण से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार के विनियोगों से यही सिद्ध होता है कि कर्मकाण्ड इतना विकसित हो चला था कि नवीन प्रयोगों के लिए संहिताओं में मन्त्रों की कमी प्रतीत होने लगी थी।

ब्राह्मणों के साथ सम्बन्ध :

संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मणग्रन्थों का निर्माण हुआ जो कि यज्ञ-याग के विकास के इतिहास पर अभूतपूर्व प्रकाश डालते हैं। इस समय तक कर्मकाण्ड का इतना विकास हो चुका था कि ब्राह्मणों में विशाल एवं जटिल यज्ञों के क्रमिक वर्णनों, उनसे सम्वद्ध कार्यों, प्रयोगों, पारस्परिक सम्बन्धों, उनमें प्रयुक्त मन्त्रों की व्याख्या तथा तत्र-तत्र उनके प्रयोगों के औचित्य प्रभृति पर प्रकाश डालना आवश्यक हो गया था। इसके अतिरिक्त कृत्यों के प्रतीकात्मक अर्थों तथा उनके रहस्यात्मक औचित्यों एवं कारणों तथा मन्त्रों के साथ कृत्यों के गूढ सम्वन्धों का भी विस्तृत वर्णन ब्राह्मणों में किया गया है। तत्कालीन कर्मकाण्ड की जटिलता तथा विविधता इसी से प्रकट होती हैं कि एक ही कर्म के सूक्ष्म प्रयोगों के सम्वन्ध में तत्कालीन विद्वानों और याज्ञिकों में अनेक प्रकार के वैमत्य पाए जाते हैं। ये वैमत्य शाखा-भेद के अतिरिक्त देशकाल तथा परिस्थितियों पर भी निर्भर करते हैं।

श० ब्रा० मा० (१,४,१,३५) में काण्व का खण्डन किया गया है[२]। इसी प्रकार श० ब्रा० मा० (८, ५, ३, ८) में भी "एके" शब्द द्वारा मतान्तर का खण्डन किया गया है[३]। कर्मकाण्ड के विषय में श्रौतसूत्रों ने प्रायः अपने ब्राह्मणों का ही अनुकरण किया है। केवल डा० आर० लोब्बेके तथा अन्य विद्वानों के मतानुसार ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों का सम्वन्ध शिथिल सा ही है[४] किन्तु एन्० त्सूजी ने इस निष्कर्ष का वलपूर्वक विरोध करते हुए दर्शाया है कि ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में

---

१. का० श्रौ० सू० १०,८,९ (१०—विद्याधर गौड तथा देवयाज्ञिकभाष्य। ११—कर्क-भाष्य, काशी) तथा अन्यत्र।

२. "तदु हैकेऽन्वाहुः 'होता यो विश्ववेदस इति नेदरमात्मानं ब्रुवाणीति तदु तथा न ब्रूयात्'।"

३. "तद्धैके। 'वेषश्रीः क्षत्राय क्षत्रं जिन्वेति त्रिंशत्तमीमुपदधति त्रिंशदक्षरा विराड् विराडेषा चितिरिति न तथा ··· कुर्याद् ··· '।" तथा श० ब्रा० मा० ४,२,२,१६ में श० ब्रा० का० ५,२,२,१२ का खण्डन किया गया है।

४. R. Lõbbecke—*Über der Verhältnis von Brahmaṇas und Śrautasūtras*, Leipzig, 1909 ; Winternitz, *HIL* Vol. I, p. 281.

अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान हैं[1]। इनके अनुसार श्रौतसूत्र अपनी शाखा के ब्राह्मण में विहित विधियों का उपयोग करते हैं और इस तथ्य की सिद्धि के लिए हमें ब्राह्मणों से श्रौतसूत्रों की ओर आना चाहिये। यदि हम श्रौतसूत्रों की प्रत्येक विधि को ब्राह्मणों में खोजने का प्रयास करेंगे तो इन दोनों के सम्बन्ध शिथिल प्रतीत होंगे ही, क्योंकि दोनों प्रकार की रचनाओं के उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं।

ब्राह्मणों का लक्ष्य यज्ञ के विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना कदापि नहीं रहा है। न ही ब्राह्मणों की विधियां व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत ही की जाती हैं, जबकि श्रौतसूत्रों का कलेवर अधिक व्यवस्थित, तथा लक्ष्य कर्म का विस्तृत तथा क्रमिक निरूपण करना रहा है। देश, काल तथा व्यक्ति के भेद के कारण ब्राह्मणों की एक ही शाखा के भीतर ही कर्मभेद का हो जाना स्वाभाविक ही था। और ये कर्मभेद ब्राह्मणों से श्रौतसूत्रों में भी आ गये। बौधायन श्रौतसूत्र के द्वैध प्रकरण (२०,१) में बोधायन, शालीकि, तथा मौद्गल्य के विविध विचारों का यही रहस्य है कि ये मतभेद तै०सं० से ही चले आ रहे थे और इस विषय में कोई स्पष्ट निर्देश उपलभ्य नहीं थे[2]।

इस तथ्य के लिए भी साक्ष्य उपलब्ध है कि श्रौतसूत्र कई बार अपनी ही शाखा की परम्परा के अनुशासन को भंग करते हैं। वे या तो अपनी शाखा की परम्परा की स्पष्ट उपेक्षा करते हुए अन्य शाखाओं की विधियों को स्वीकार कर लेते हैं या परिवर्तित परिस्थितियों के कारण कर्मानुष्ठान में नवीन प्रयोगों का समावेश करते दृष्टिगोचर होते हैं। तैत्तिरीय शाखा के सूत्रों ने मैत्रायणी, काठक तथा माध्यन्दिन शाखा के मन्त्रों तथा विधानों तक को अपना लिया है और कई नवीन विकल्प प्रस्तुत किये हैं[3], और ब्राह्मणों में अप्रतिपादित प्रायश्चित्तों का सर्वथा नवीन समावेश श्रौतसूत्रों में दृष्टिगोचर होता है। इस भेद का कारण यह भी सम्भव है कि ब्राह्मणग्रन्थों में प्रत्येक मन्त्र या ऋचा के साथ उस कर्म का उल्लेख नहीं पाया जाता जिसमें उस मन्त्र या ऋचा का विनियोग करना चाहिये। अतः ऐसा समझा जाता है कि ब्राह्मण-परम्परा के समानान्तर ही एक ओर विनियोग-परम्परा भी चल रही होगी जिसके आधार पर श्रौतसूत्रों ने ब्राह्मणों में अनिर्दिष्ट विनियोगों को भी स्वीकार कर लिया प्रतीत होता है। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि श्रौतसूत्र अपनी शाखा के ब्राह्मण-वचनों की अवहेलना करके भी अन्य असम्बद्ध ग्रन्थों के मन्त्रों तथा विनियोगों को स्वीकार कर लेते हैं। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में

---

१. *On the Relation between the Brāhmaṇas and the Śrautasūtras*, in *Toyo Banko, Series A*, Vol. XXXIII, 1952, p. 50.

२. द्र० 'द सर्वे ग्राफ़ द श्रौत सूत्रज'—सि० जि० काशीकार, ज० यू० बम्बे, सितम्बर १९६६, भाग ३५/२ पृ० १६—२०।

३. दर्शपौर्णमास इष्टि में वत्सापाकरणार्थ ब्राह्मण में पालाशी शाखा का विधान है किन्तु श्रौतसूत्रों में शमी की शाखा का वैकल्पिक विधान कर दिया गया है।

'वाजसनेयक' के अनेक उद्धरण तथा विनियोग अपना लिये गये हैं और अनेक बार कृष्ण यजुर्वेद की अन्य शाखाओं से भी मन्त्रों, ऋचाओं तथा विधियों को अंगीकार किया गया है[1]।

जिस प्रकार यजुर्वेद और ब्राह्मणों में विशेष-विशेष कर्मकाण्डीय परम्पराओं को व्यवस्थित रूप देने का प्रथम प्रयास किया गया था और जिसके फलस्वरूप अनेक याज्ञिक शाखाओं की नींव पड़ गयी थी, उसी प्रकार यजुर्वेद-ब्राह्मण-काल के उत्तरवर्ती काल में अन्तरालवर्ती समय में विकसित कर्मकाण्डीय प्रयोगों को व्यवस्थित रूप देने के लिए श्रौतसूत्रों का निर्माण किया गया। इन सूत्रों के अतिरिक्त याज्ञिकों के मार्गदर्शनार्थ विविध प्रकार के प्रयोगों तथा पद्धतियों का भी निर्माण किया गया होगा। ये प्रयोग और पद्धतियां कई बार एक ही वैदिक शाखा के अन्तर्गत अनेक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती देखी जाती हैं। ऐसे प्रयोग और पद्धतियां भी हैं जो पृथक्-पृथक् ऋत्विजों के कर्त्तव्यों से सम्बन्ध रखती हैं, यथा—आध्वर्यव पद्धति, हौत्र पद्धति तथा औद्गात्र पद्धति। ये पद्धतियां भिन्न-भिन्न यज्ञों से सम्बद्ध ऋत्विजों के लिए पृथक्-पृथक् निर्देश भी करती हैं और ऐसी भी हैं जो एक ही यज्ञ में कर्म कराने वाले सभी ऋत्विजों के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालती हैं। इन सबका निर्माण व्यावहारिक दृष्टिकोण से किया गया है।

एग्लिङ्ग के अनुसार प्राचीनकाल में कर्मकाण्ड सम्बन्धी शिक्षा कण्ठगत परम्परा पर आधृत थी जो मूलतः 'प्रायोगिक कला' थी और इसकी पुष्टि के लिए 'वैचारिक शिक्षा' भी ब्राह्मणों के माध्यम से मौखिक परम्परा के द्वारा ही प्रदान की जाती थी[2] किन्तु थीबो के विचार में मुख्य ब्राह्मणों के निर्माण के अनन्तर ही कल्पसूत्रों या प्रयोगों के सदृश पुस्तकें विद्यमान थीं तो भी मौखिक परम्परा की एक याज्ञिक धारा आरम्भ से ही प्रवाहित हो रही थी जिसके आधार पर यज्ञों का सम्यक् सम्पादन किया जाता था[3]। हिल्लेब्राण्ट ने एग्लिङ्ग का विरोध करते हुए कहा है कि वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता से इस बात की अधिक सम्भावना प्रतीत होती है कि आधुनिक प्रयोगों और पद्धतियों की परम्परा प्राचीन काल से ही आरम्भ हो चुकी थी जिनके आधार पर आधुनिक सूत्रों, प्रयोगों और पद्धतियों का निर्माण किया गया[4]। इस मत की पुष्टि सूत्रों में विहित कुछ एक मन्त्रों के ऊहों

---

१. See Caland, *Das Śrauta Sūtra des Āpastamba*, Pt. I, Preface, pp. 2-3; Göttingen, 1921.

२. Eggeling, *ŚBr*, *SBE* Vol. XVII, Intro., p. XLVII.

३. सर्वे० पृ० २९।

४. *Neu-und-Vollmondsopfer*, Intro., p. VI f.; *Rituallitteratur*, p. 38-40; Asko Parpola, *Śr. Sūtras of Lāṭ. and Drāh.*, Eng. Tr. & Study, p. 95.

से भी होती है जो लिखित पुस्तकों के सम्बन्ध में ही सम्भव है। प्रयोग श्रौतसूत्रों के समझने में सहायक तो हैं किन्तु कई अवस्थाओं में ये यज्ञ में ऐसे परिवर्तन करते पाये जाते हैं जो अन्य शाखाओं से लिये गये होते हैं या परिवर्तित परिस्थितियों के कारण आवश्यक समझे जाते हैं[1]। इस प्रकार के सर्वोत्तम उदाहरण शां० श्रौ० सू० में भी दृष्टिगोचर होते हैं। जहां व्याख्याकार आनर्तीय ने ऐसे परिवर्तनों को 'शाखान्तरात्' निर्दिष्ट करके समझाया है। किन्तु इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि कभी-कभी धुरन्धर व्याख्याकार भी सूत्र को ठीक समझने में असमर्थ हो सकते हैं। अतः इनकी व्याख्या के आधार पर सदा कोई सुदृढ़ सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। हिल्लेब्राण्ट ने इसी आधार पर शां० श्रौ० सू० को एक मिश्रित रचना घोषित करने की भूल की है[2] और यही भूल गार्बे ने आप० श्रौ० सू० के विषय में की है[3]।

श्रौतसूत्र अपनी शाखा के ब्राह्मणों पर आधृत होने के कारण उन्हीं के पदचिह्नों पर चलते हैं। यहां तक कि वे बहुधा ब्राह्मण की शब्दावली तक का प्रयोग करने का प्रयास करते हैं। इसी कारण श्रौतसूत्रों में वैदिक भाषा की विशेषतायें भी कभी-कभी दृष्टिगोचर होती हैं और कई अवस्थाओं में श्रौतसूत्रकार कठिन या दुरूह शब्दावली की व्याख्या भी कर देता है। इसलिए इन भाषागत विषमताओं के कारण सूत्रों को प्रक्षिप्त मान लेना अनुचित है जैसा कि गार्बे, कैलैण्ड प्रभृति ने किया है[4]। इस विषय में बूह्लर का मत भी नहीं माना जा सकता कि सूत्रों में पाये जाने वाले प्राकृत प्रयोगों का कारण याज्ञिकों की शिक्षा-दीक्षा की कमी ही हो सकती है, जैसा कि पार० गृ० सूत्र० २,६,८ से प्रमाणित होता है[5]। सूत्रकारों को सामान्य कर्मकाण्डियों की पंक्ति में खड़ा करना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। सूत्रनिर्माण का कार्य अत्यन्त कठिन है जिसके लिए याज्ञिक प्रक्रिया की सूक्ष्मताओं की गहनता के अतिरिक्त भाषा पर भी पूर्ण नियन्त्रण की अपेक्षा रहती है जिसका प्रमाण सूत्रकारों ने पदे-पदे प्रस्तुत किया है। कुछ प्रयोगों

---

१. तु. गोभिल-गृह्यसंग्रह-परिशिष्ट—

आत्मतन्त्रेषु यन्नोक्तं तत् कुर्यात् पारतन्त्रिकम्।
विशेषाः खलु सामान्या ये चोक्ता वेदवादिभिः॥

२. काशिकर, सर्वे० श्रौ० सू०, पृ० ३३।

३. आप० श्रौ० सू०, भूमिका, पृ० १३-१४।

४. द्र० काशिकर, वही, पृ० ३६-३७।

५. *ZDMG* Vol. XL, p. 705.

को लेकर उनकी विद्वत्ता और बहुज्ञता पर लाञ्छन लगाना उचित नहीं है। हर एक सूत्रकार की शैली, भाषा और क्षमता समान न होते हुए भी मानना पड़ेगा कि वे बहुश्रुत ऋषि थे[1]।

सूत्रकारों के समक्ष ब्राह्मण वचन सदा विद्यमान रहता है। वे उसी के उपबृंहण तथा स्पष्टीकरण का प्रयास करते हैं। शां० श्रौ० सू० अपने उपजीव्य शां० ब्रा० का बहुत अधिक सीमा तक अनुसरण करता है। किन्तु जहां कहीं प्रतिपाद्य कर्म में न्यूनता दृष्टिगोचर होती है वहां सूत्र अपनी परम्परा के अनुसार उसकी पूर्ति करने को तत्पर रहता है और आपाततः ब्राह्मण के प्रतिपाद्य विषयों का अतिक्रमण करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु वास्तव में यह अपने उपजीव्य ब्राह्मण का अतिक्रमण नहीं है। ब्राह्मणों तथा सूत्रों के लक्ष्य-भेद के कारण यह भेद सर्वथा स्वाभाविक है। ब्राह्मणों का लक्ष्य कृत्यों का अविकल प्रतिपादन न हो कर कर्मों के उद्देश्य, व्याख्यान, अर्थवाद, श्रुतिवचनों की व्याख्या प्रभृति अनेक विषयों का प्रतिपादन करना होता है। इनमें अन्य प्राचीन आचार्यों के मतमतान्तरों की आलोचना तथा समर्थन एवं निराकरणपूर्वक तत्तद्विषय में निर्णायक मत का प्रतिपादन भी किया जाता है। सूत्रों का मुख्य उद्देश्य कृत्य का अविकल प्रतिपादन ही होता है। ये विषयान्तरों में न उलझ कर तथा मतान्तरों की आलोचना न करके अपने ब्राह्मण के अनुसार किसी कर्म के विषय में निर्णायक मत अथवा विकल्पों का अनुमोदन मात्र करके रह जाते हैं।

यथा शां० श्रौ० सू० में शां० ब्रा० का बहुत सीमा तक अनुसरण किया गया है। अध्याय १४, १५ तथा १६ के विवेच्य विषय तथा रचनाशैली मुख्य सूत्र से भिन्न हैं—ब्राह्मणशैली तथा सूत्रशैली की मध्यवर्ती प्रवचनशैली को अपनाये हुए हैं। बौधायन श्रौतसूत्र भी इसी प्रवचनशैली में रचा गया है। सम्भव है कि ये अध्याय इसी सम्प्रदाय के किसी अन्य ब्राह्मण, सम्भवतः महाकौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार विरचित हों, क्योंकि इनमें वर्णित अनेक सव, स्तोम तथा यज्ञ-याग कौषीतकि ब्राह्मण में विद्यमान नहीं थे, अतः अपने ही सम्प्रदाय के निकटतमवर्ती अन्य सम्प्रदाय से ग्रहण करके सूत्र में समाविष्ट कर लिए गए हों। इन्हें इनकी प्रवचन-शैली के कारण मुख्य सूत्र से पश्चात्कालिक नहीं कहा जा सकता। यह अवश्य ही किसी प्राचीन ब्राह्मण से सम्बद्ध किन्तु सूत्रकाल से पूर्वकालिक रचना है।

इस प्रसंग में एक और विचारणीय विषय सूत्र तथा ब्राह्मण के मध्य विषय प्रतिपादनक्रम का भेद है। इससे भी सन्देह होता है कि इस सूत्र का सीधा सम्बन्ध वर्तमान कौषीतकि या शांखायन ब्राह्मण से न होकर किसी अन्य मिलते-जुलते ब्राह्मण से हो जो अब लुप्त हो चुका है।

---

१. काशिकर, वही, पृ० ३९।

इसी प्रकार आश्व० श्रौ० सू० का प्रतिपाद्य विषय ऐतरेय ब्राह्मण के प्रतिपाद्य से कहीं अधिक है। यथा प्रथम तीन अध्यायों के दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र, अग्न्याधान, चातुर्मास्य, प्रायश्चित्तियों तथा निरूढपशुबन्ध में से पशुबन्धप्रकरण (२,१-१४), अग्निहोमप्रकरण (५, २६-३१) तथा प्रायश्चित्तियों (७, २-१२) के अतिरिक्त ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्र का कोई वास्तविक समानान्तरत्व नहीं है। इनके अतिरिक्त अन्तिम चार (९-१२) अध्यायों के समानान्तर ऐ०ब्रा० में प्रायः कुछ भी नहीं है[1]। शेष पांच अध्यायों के विषय ऐ०ब्रा० के अनुसार ही नहीं, अपितु प्रायः उसी क्रम में प्रतिपादित हैं। अतः इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि आश्व० श्रौ० के निर्माता ने अपने विषयों के प्रतिपादन तथा क्रमसन्निवेश के लिए किसी ब्राह्मण का आश्रय अवश्य लिया है। किन्तु ऐ० ब्रा० तथा सूत्र के विवेच्य विषयों के बीच विशाल स्वरूप-भेद तथा सूत्र में ऐतरेयों के विचारों के विशेष उल्लेख[2] के कारण यह सन्देहास्पद हो जाता है कि आश्व० श्रौ० सू० का उपजीव्य ब्राह्मण वर्तमान ऐ० ब्रा० ही है या तत्समान कोई अन्य, जो साम्प्रतं अनुपलभ्य है। इस विषय में मेरा दृढ़ विश्वास है कि वर्तमान आश्व० श्रौ० सू० वर्तमान ऐ० ब्रा० पर आधृत न होकर आश्वलायन शाखीय ब्राह्मण पर आधृत है। रघुनन्दन ने स्वरचित स्मृतितत्त्व के मलमास प्रकरण में एक आश्व० ब्राह्मण को उद्धृत किया भी है—**प्राच्यां दिशि वै देवाः सोमं राजानमक्रीणन्**। यह वचन ऐ० ब्रा० (३,१,१) में उपलभ्य है। तो भी आश्वलायन ब्राह्मण की सत्ता की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

हिल्लेब्राण्ट ने शाङ्खायन श्रौतसूत्र का उदाहरण देते हुए सूत्रों की परम्परा की सत्यता तथा अक्षुण्णता पर घोर सन्देह व्यक्त किया है। उदाहरण इस प्रकार है[3] :—

प्रथमास्तमिते जुहोति ॥१॥ दृश्यमाने वा नक्षत्रे ॥२॥ उपोदयं व्युषिते ॥३॥ उदिते वा ॥४॥ पुरस्तात्तु काले मनः कुर्वीत ॥५॥ तस्यापराधे प्रायश्चित्तम् ॥६॥

उनकी सम्मति के अनुसार इन सूत्रों में एकसूत्रता का सर्वथा अभाव है। क्योंकि सूत्र २ तथा ४ में यजमान को दो कालविषयक विकल्पों में से एक का चयन करने की छूट दी गयी है। सूत्र ५ सूत्रकार को बाद में सूझा प्रतीत होता है जबकि सूत्र ६ में सूत्र २ तथा ४ के अनुमोदित विकल्प को अपनाने पर प्रायश्चित्त का विधान कर दिया गया है और इस प्रकार इन सूत्रों में अन्तर्विरोध स्पष्ट ही विद्यमान है। उनके मतानुसार ऐसे सैंकड़ों अन्तर्विरोध श्रौतसूत्रों में

---

१. द्र० कीथ, ऋग्० ब्रा० भूमिका, पृ० ५१-५२।

२. आश्व० श्रौ० ७, १०।

३. शां० श्रौ० २, ७, १—६।

विद्यमान हैं। इसलिए सिद्ध होता है कि कम से कम शां० श्रौ० सू० का परम्परागत सूत्रपाठ किसी एक व्यक्ति या सुदृढ़ परम्परा का न होकर नाना प्रकार की परस्पर विरोधी विचारधाराओं का जमघट है जिन्हें किसी अंतिम प्रतिसंस्कारक ने एकत्र करके रख दिया है। इसमें किसी प्रकार के ऐतिहासक पौर्वापर्य तथा उनके पारस्परिक औचित्य का ध्यान नहीं रखा गया। उनके मत में सूत्र १ तथा ३ मुख्य हैं तथा सूत्र २ तथा ४ आनुषंगिक या गौण हैं। छठे सूत्र के प्रायश्चित्त का हेतु पञ्चम सूत्र में खोज निकाला गया है और इस विषय में व्याख्याकार आनर्तीय के व्याख्यान की सहायता से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि सूत्रसंख्या एक तथा तीन में अभिहित काल को ही अपनाना चाहिये, सूत्र २ तथा ४ में कहे गये वैकल्पिक काल को तो विचारने की भी आवश्यकता नहीं है— **तौ मनस्यपि नारोपयेत्**। क्योंकि उनका उपदेश केवल शाखान्तरत्व के ज्ञापनार्थ किया गया है। **ननु प्रतिषिद्धयोः किमर्थमुपदेशः ? ज्ञापनार्थः।** इसलिए अन्तर्विरोध, ऐतिहासिक सूझ-बूझ के अभाव, तथा शाखान्तरीय कर्मकाण्ड को बिना सोचे विचारे स्वीकार कर लेने के कारण सूत्रकारों का बौद्धिक स्तर अत्यन्त निकृष्ट एवं हेय सिद्ध होता है[1]। किन्तु हिल्लेब्राण्ट ने इन सूत्रों को आत्मसात् न कर सकने के कारण ही सूत्रों तथा सूत्रकारों के विषय में ऐसी धारणा बनाई है। वास्तव में पञ्चम सूत्र का अर्थ यह है कि सूत्र १ तथा ४ में कहे विकल्पों में से किसी एक विकल्प को पहले ही मन में धारण कर लेना चाहिये। तदनन्तर उस निर्धारित काल के व्युत्क्रम करने पर प्रायश्चित्त करना चाहिये। अतः सूत्रों में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है[2]।

जहां तक व्याख्याकार आनर्तीय का सम्बन्ध है, उन्होंने भी सूत्रार्थ को समझने में भूल की है। उन्होंने सूत्र २ तथा ४ को शाखान्तरीय वैकल्पिक विधियां घोषित किया है। यह सर्वथा सम्भव है कि यद्यपि ये वैकल्पिक विधान शां०ब्रा० में नहीं पाए जाते, तो भी शांखायन परम्परा के आचार्यों ने इन्हें आत्मसात् कर लिया हो। और फिर यह भी सर्वथा सम्भव है कि कोई सुविज्ञ व्याख्याकार भी सूत्रार्थ का वास्तविक भाव न समझ सके। हमें उसकी आलोचना की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। किन्तु हमें सूत्रकार की आलोचना करने से पूर्व उसके वचनों का पूर्ण मूल्याङ्कन अवश्य कर लेना चाहिए। यही हमारी परम्परा रही है। पतञ्जलि ने अनेकशः कहा है—**व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।**

इसी प्रकार गार्बे ने हिल्लेब्राण्ट के अनुकरण पर आप० श्रौ०सू० की आलोचना की है और इसे एक ही सांचे में ढली रचना नहीं माना है और इसमें

---

१. शां० श्रौ०, भूमिका, पृ० १०-१५।

२. कैलैण्ड ने इस सूत्र का यही अर्थ किया भी है। उन्होंने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—But he should make up his mind before-hand as to the time (of libation).

अनेकानेक पश्चात्कालिक प्रक्षेपों का उल्लेख किया है। उनके मत में जिन सूत्रों के अनन्तर **इति विज्ञायते** या **ब्रुवते** या **इत्यर्थः** जैसे व्याख्यात्मक शब्द जुड़े हुए हैं, वे निश्चय ही उत्तरकालिक प्रक्षेपों के द्योतक हैं। कई स्थलों पर **वा** शब्द का प्रयोग इसी उत्तरकालिक प्रक्षेपों के द्योतनार्थ किया गया है। इस प्रसंग में एक अत्यन्त विशिष्ट उदाहरण यह है। आप० श्रौ० सू० ११,२०,१४ का पाठ है—**न यजमानोऽग्नीषोमीयस्याश्नात्यश्नीयाद् वा।** इस प्रकार परस्पर विरोधी वाक्य आप०श्रौ० सू० में शतशः पाये जाते हैं। इसी प्रकार मतान्तर को व्यक्त करने के लिए **इत्यपरम्, इत्येके, अथैकेषाम्, एके समामनन्ति, एके उपदिशन्ति** सदृश शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो पश्चात्कालिक प्रक्षेपों की ओर संकेत करते हैं[1]।

श्री काशिकर ने इस आरोप का सप्रमाण खण्डन किया है। उनका कथन है कि सूत्रकार प्रायेण अपनी शाखा के ब्राह्मण का अनुसरण करता हुआ यथा-सम्भव ब्राह्मण के वचनों का प्रयोग करने का भरसक प्रयास करता है और जहां कहीं ब्राह्मण में दुरूह या उस समय में उच्छिन्न शब्द आ जाता है तो सूत्रकार उसकी व्याख्या करने के हेतु शब्दान्तर का प्रयोग करता है। आप० श्रौ० सू० (१०,९,७) का पाठ है—**जालं कुम्बकुरीरमित्याचक्षते।** यह इस लिए कि प्राचीन परम्परा (बौ० श्रौ० सू० ६,५) के अनुसार आप०श्रौ०सू० (१०,९,१) में **कुम्बकुरीर** शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसकी व्याख्या अपेक्षित थी[2]।

आप० श्रौ० सू० (१९,४,८) का पाठ है—**बल्कसं मासर इत्याचक्षते।** क्योंकि, तै०ब्रा० २, ६, ४ के अनुकरण पर इसी सूत्र के पूर्वभाग में **मासर** शब्द का प्रयोग किया गया है जो सम्भवतः व्याख्या की अपेक्षा करता था। आपस्तम्ब ने सूत्र की रचना की—**मणिला इत्यर्थः** (१९,१६,७) क्योंकि पूर्वगामी सूत्र में तै० सं० (२,१,२,४) के अनुकरण पर **मल्हा** शब्द का प्रयोग करने के बाद उसकी व्याख्या अपेक्षित थी। यहां सूत्रकार वैकल्पिक पशुयागों का विवरण प्रस्तुत कर रहा है, जो तै०सं० (२,१) पर आधृत हैं। सूत्रकार इन यागों का विवरण प्रस्तुत करने के स्थान पर तै० सं० की ओर संकेत कर देता है—**वायव्यं श्वेतमिति ते ब्राह्मण-व्याख्याताः।** इसी कारण उन्हें **मल्हा** शब्द की व्याख्या की आवश्यकता पड़ी। इसी प्रकार एक विशिष्ट उदाहरण है—**पर्यारिणीति परिहारसूर्भवति** (आप० श्रौ० १९,१६,११)। इस से पूर्व यद्यपि सूत्रकार ने **पर्यारिणी** शब्द का प्रयोग नहीं किया तो भी क्योंकि तै० सं० (२,१,४) में इसका प्रयोग हुआ है और सूत्रकार के मन में इसकी व्याख्या की अपेक्षा थी, अतः उनसे पर्यायवाचक शब्द से इसकी व्याख्या कर दी। इससे स्पष्ट है कि सूत्रकार के समक्ष **ब्राह्मणवचन सर्वदा**

---

१. आप० श्रौ० सू०, भूमिका, पृ० १३-१४।

२. तु. बौ० श्रौ० सू० २५,४ (कर्मान्त)—**विदलमु ह कुम्बं भवति बालमु कुरीरम्।**

विद्यमान रहता है और वह उसकी केवल व्याख्या करने में तत्पर रहता है **और** इस कार्य में कहीं कहीं उसे कठिन तथा अप्रयुक्त शब्दों के अर्थों के स्पष्टीकरणार्थ **इति, इत्याचक्षते** प्रभृति शब्दों का आश्रय लेना पड़ता है।

जहां तक तथाकथित अन्तर्विरोधी वाक्य—**न यजमानोऽग्नीषोमीयस्याश्नात्यश्नीयाद् वा** (आप० श्रौ० सू० ११,२०,१४)—का सम्बन्ध है, हमें जानना चाहिये कि यह विधि तथा निषेध तै० सं० ६,१,११,६ पर आधृत हैं जहां दो भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के कारण दो भिन्न-भिन्न निर्देश दिये गये हैं। अतः ब्राह्मण के अनुकरण पर ही सूत्रकार ने वैकल्पिक विधान किया है। अतः ऐसे विधानों को उत्तरकालिक प्रक्षेप नहीं कहा जा सकता।

जहां तक **इत्यपरे, इत्येके** प्रभृति वचनों का सम्बन्ध है, हमें स्मरण रखना चाहिए कि एक ही शाखा के अन्तर्गत एक ही कर्म के विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न परम्पराओं पर आधृत भिन्न-भिन्न मत उभर कर सामने आ जाने के कारण सूत्रकार को उनका उल्लेख करना पड़ता था, उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी[1]। बोधायन-सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही द्वैधसूत्र में विभिन्न परम्पराओं के अनुसार विभिन्न कृत्यों का प्रतिपादन इसीलिए किया गया है। ये प्रतिपादन स्वयं बोधायन के समसामयिक क्रियमाण कृत्यों के अनुरूप ही थे, क्योंकि स्वयं बोधायन की सम्मतियों को अनेकों बार उद्धृत किया गया है। इस विषय में भी पाश्चात्य वेदज्ञों का यह विचार सर्वथा समीचीन नहीं कहा जा सकता कि क्योंकि सूत्रकार का मत नामनिर्देशपूर्वक उल्लिखित है अतः इसका प्रतिपादक सूत्रकार स्वयं नहीं हो सकता। हमारी परम्परा में इस प्रकार अपना मत व्यक्त करने की परिपाटी प्राचीन-काल से चलती आ रही है।

---

१. तथा द्र० कैलैण्ड, शां० श्रौ० सू० ४, २, १-४ पर।

द्वितीय अध्याय

ऋग्वेदीय श्रौतसूत्र

आश्वलायन श्रौतसूत्र :

आश्वलायन श्रौतसूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद की दोनों उपलभ्य शाखाओं, शाकल और बाष्कल, तथा निविदों, प्रैषों, पुरोरुचों, कुन्ताप सूक्तों, वालखिल्य सूक्तों, महानाम्नी ऋचाओं एवं ऐतरेय ब्राह्मण से है[1]। शौनकीय चरणव्यूह के अनुसार ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा भी थी। बहुत सम्भावना इसी बात की है कि ये सूत्र मूल रूप में उसी शाखा से सम्बद्ध हों[2]।

षड्गुरुशिष्य ने कात्यायनीय सर्वानुक्रमणी के भाष्य में लिखा है कि शौनक ने सूत्रों की भी रचना की थी, किन्तु अपने शिष्य आश्वलायन के सूत्रों के पक्ष में उन्हें नष्ट कर दिया था[3]।

षड्गुरुशिष्य के ही अनुसार आश्वलायन ने ऐतरेय आरण्यक के चतुर्थ अध्याय की भी रचना की थी जिसमें महानाम्नी तथा पुरीषपद ऋचाओं का सन्निवेश है। ओल्डनबर्ग ने इसे असम्भव कहा है क्योंकि महानाम्नी ऋचाओं को पौरुषेय नहीं माना जाता। ऐतरेय आरण्यक के पंचम अध्याय में महाव्रत सम्बन्धी निष्केवल्य शस्त्र का विवरण है, यह भी सूत्रशैली की रचना है और आश्वलायन से सम्बद्ध की जाती है[4]। सायण ने इसे शौनकीय कृति कहा है (ऋग्० १,८,१ की अवतरणिका में ऐ० आर० ५, २, ५ का उल्लेख)। कीथ ने सायण के इस मत का समर्थन किया है[5]। आश्वलायन सूत्र के सर्वप्राचीन भाष्यकार देवस्वामी के अनुसार आश्व० श्रौ० सू० शौनक की कृति है, जबकि आश्वलायन गृह्यसूत्र आश्वलायन

---

१. गार्ग्य नारायण, आश्व० श्रौ० सू० १.१,१।

२. काशिकर, सर्वे, पृ० १२६ टि० ९०।

३. द्र० मैक्समूलर, हि० सं० लिट्०, पृ० १२४; राजेन्द्रलाल मित्र, ऐ० आर०, भूमिका, पृ० ८ तथा आगे।

४. तु. ओलडनबर्ग, एस० बी० ई० २९, आश्व० गृ० सू०, भूमिका, पृ० १५३।

५. ऐ० आर० भूमिका, पृ० १८-२०, ऑक्सफोर्ड, १९०९; काशिकर, सर्वे, पृ० ८१; स्वयं सा० ने इसे आश्वलायनकृत भी कहा है (सामवेद भाष्य वि० इण्डि०, भाग १, पृ० १९); किन्तु ऋग्० १,८,१ की अवतरणिका में सा० ने इसे शौनककृत माना है।

की रचना है[1], किन्तु इस विचार के लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है[2]। वैसे याज्ञिक साहित्य में शौनक के नाम से उद्धृत अनेकों उद्धरण आश्वलायन श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होते हैं। यह सम्भव हो सकता है कि शौनक के व्याख्यानों के आधार पर आश्वलायन ने यह रचना की हो जिस के कारण परम्परा ने दोनों को इससे सम्बद्ध कर दिया हो[3]।

बारह अध्यायों का यह ग्रन्थ दो समान भागों में विभक्त है—पूर्वषट्क और उत्तरषट्क। प्रत्येक अध्याय खण्डों में विभाजित है जिनकी कुल संख्या ९६+६८= १६४ है। प्रत्येक खण्ड वाक्यात्मक है जिसे तोड़ कर सूत्रों का रूप दे दिया गया है। यह सूत्र पद्धति-शैली में लिखा गया है जिसमें कर्मों का प्रतिपादन बिना किसी तर्क-वितर्क या हेतु के किया गया है। कहीं-कहीं अन्य आचार्यों के मतों को भी प्रस्तुत किया गया है। शौनक का उल्लेख भी उत्तरषट्क ६, ८; ६, १०; ६, १५ तथा अन्त में नमस्कारार्थ (नमः शौनकाय) किया गया है। गाणगारि तथा कौत्स का बहुधा निर्देश है। तौल्वलि का उल्लेख एक-दो बार हुआ है। ऐतरेयों के विचारों का विशेष उल्लेख, (७, १०) इस बात का द्योतक है कि यह श्रौतसूत्र ऐतरेय शाखा से भिन्न किसी अन्य शाखा से सम्बद्ध है।

इसमें प्रतिपादित विषयों का विवरण इस प्रकार है—

अध्याय १— दर्शपूर्णमास।
,, २— अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, अन्वारम्भणीयेष्टि, आग्रयणेष्टि, काम्य इष्टियां, चातुर्मास्य।
,, ३— निरूढपशु०, सौत्रामणी, प्रायश्चित्त।
,, ४-६— ज्योतिष्टोम।
,, ७-८— सत्त्र।
,, ९— एकाह।
,, १०— अहीन।
,, ११— गवामयन।
,, १२— अन्य सत्त्र।

यद्यपि इस सूत्र के प्रतिपाद्य विषय तो प्रायः वही हैं जो अन्य श्रौत सूत्रों में प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु यहां उनका संक्षिप्त वर्णन किया गया है। संक्षिप्त

---

१. पूर्वे द्वादशाध्यायाः शौनकस्य कृतिः, अमी चत्वार आश्वलायनस्य कृतिः—आश्व० गृ० सू० भाष्य, अडचार, पृ० २।
२. काशिकर, सर्वे०, पृ० ८१।
३. तु. के० पी० ऐथाल, आश्व० गृ० परि०, भूमिका, मद्रास, १९६४।

वर्णन शैली का प्रमाण आरम्भ में ही प्राप्त होता है जहां **अथ सूत्राणि व्याख्यास्यामः** के स्थान पर केवल **सूत्राणाम्** कहा गया है।

इस सूत्र में विविध यज्ञों में होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत् नामक ऋत्विजों के कृत्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त ब्रह्मा और यजमान के कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसीलिए यहां अग्न्याधेय, अग्निहोत्र तथा पिण्डपितृयज्ञ में भी यजमान के कर्तव्य का प्रतिपादन पाया जाता है जो प्रायः आध्वर्यव-सूत्रों का विषय है। इस सूत्र में परिभाषाओं के विवरणार्थ कोई विशेष व्यवस्था नहीं की गयी, अपितु स्थान-स्थान पर इनका सन्निवेश कर दिया गया है। होता और उसके सहायकों का मुख्य कर्तव्य कृत्यों में ऋग्वेद की ऋचाओं, निविदों तथा प्रैषों का पाठ करना होता है। होता को सामिधेनी ऋचाओं, पुरोऽनुवाक्याओं, आगुरसहित याज्याओं, अभिहिङ्कार, वषट्कार, प्रवर, सूक्तवाक्, शंपुवाक् प्रभृति का विविध शैलियों में पाठ करना होता है। मैत्रावरुण विविध प्रैषों का उच्चारण करता है। सोमयागों में होता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी तथा अच्छावाक शस्त्रों का शंसन करते हैं। ज्योतिष्टोम सम्बन्धी शस्त्रों का विवरण पञ्चम-षष्ठ अध्यायों में तथा अन्य का सप्तम-अष्टम अध्यायों में दिया गया है। यह सब अत्यन्त जटिल कार्य है जिसके कारण श्रौतसूत्र क्लिष्ट तथा दुर्बोध्य हो गया है[1]। इन शस्त्रों का सामगों द्वारा गेय स्तोत्रों के साथ अन्योऽन्य सम्बन्ध स्थापित करना होता है जिनका यज्ञों में अत्यन्त अधिक महत्त्व होता है। अनेक एकाह और अहीन यागों की पृथक् सत्ता का मुख्य कारण इनमें विशेष-विशेष स्तोत्रों का निर्धारण ही है।

इस सूत्र में ऋग्वैदिक ऋचाओं को प्रतीक-रूपेण उद्धृत किया गया है किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण के साथ इसके सम्बन्धों पर विशेष विचार की आवश्यकता है। जैसा कि ऊपर निर्देश कर चुके हैं कि इस सूत्र का ब्राह्मण किसी अन्य शाखा से सम्बद्ध प्रतीत होता है।

इस सूत्र में ऐ० ब्रा० में प्रतिपादित कर्मों से कहीं अधिक सामग्री संगृहीत है। सूत्र के प्रथम तीन अध्यायों के प्रतिपाद्य कर्मों के समकक्ष ऐ० ब्रा० में बहुत कम कर्मों का विधान पाया जाता है, केवल ऐ० ब्रा० २,१-१४ में निरूढपशु, ५,२६-३१ में अग्निहोत्र तथा श्रौतसूत्र ३,१०-११ से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले प्रायश्चित्तों (ऐ० ब्रा० ७,२-१२) के विवरण के सिवा दोनों में बहुत कम साम्य पाया जाता है। शेष ऐ० ब्रा० का श्रौतसूत्र के अध्याय ४, १-८, १३ से साम्य देखा जा सकता

---

१. तु. कैलैण्ड—दस वैतान सूत्र देस अथर्ववेद, भूमिका, पृ० १०—One knows how difficult it is to master the technique of the Hautra Sūtra.

है[1]। सूत्र में प्रतिपादित अत्यग्निष्टोम की चर्चा ऐ० ब्रा० में नहीं की गयी, न ही कौषीतकि ब्राह्मण में। कीथ के मत में इसका वास्तविक प्रयोजन सात संस्थाओं की संख्या-पूर्ति है[2]। अन्तिम चार अध्यायों के समकक्ष तो ऐं० ब्रा० में कुछ ही सामग्री उपलभ्य है। यह सूत्र शांखायन श्रौतसूत्र जैसा व्यवस्थित नहीं है, न उस जैसा विस्तृत ही है। उसके चौदहवें अध्याय के समकक्ष इसमें वस्तुतः कुछ भी नहीं है। इसमें अश्वमेध का विवरण तो दिया गया है (१०, ६-७) किन्तु पुरुषमेध तथा सर्वमेध की चर्चा नहीं की गयी। इसका राजसूय का विवरण अतिसंक्षिप्त है। इसके १२ अध्यायों में से वास्तव में छह में ही ऐ० ब्रा० का प्रतिनिधित्व उपलब्ध होता है जबकि शांखायन के सोलह में से बारह में ऐ० ब्रा० के विषयों का प्रतिपादन किया गया है। अग्निष्टोम में प्रयोज्य निविदों और अन्य ऐसे मन्त्रों का शांखायन निर्देश कर देता है जिनके विषय में आश्वलायन मौन रहता है। इसी प्रकार पृष्ठ्यषडह के षष्ठ दिन के तृतीय सवन में ब्राह्मणाच्छंसी के जटिल शिल्प-शस्त्र के विषय में शांखायन ने विस्तृत विवरण दिया है जबकि आश्वलायन ने उसका उल्लेख मात्र किया है।

प्रथम अध्याय में दर्शपूर्णमास के प्रकरण में ही प्रवरोच्चारण का भी विधान है जिसमें एक उल्लेखनीय बात यह कही गयी है कि संशय होने पर राजाओं तथा वैश्यों को उनके पुरोहितों के ही प्रवर को अपना प्रवर मानने चाहियें, अथवा राजाओं के प्रवर उनके राजर्षि तथा अन्य सभी का प्रवर 'मानव' मानना चाहिये। गार्बे के अनुसार आप०श्रौ०सू० का प्रवराध्याय आश्वलायन के प्रवराध्याय का ऋणी है। इसमें शाट्यायनिक सूत्र का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। इस सूत्र में पुनराधान का विधान नहीं है। आग्रयणेष्टि प्रभृति का संक्षिप्त सा विवरण दिया गया है। निरूढपशु में पशु के विशसन की विधा नहीं बतायी गयी। सौत्रामणी में सुरा के पान का विधान नहीं है क्योंकि कहा है—**प्राणयज्ञोऽत्र**। अग्नि के शान्त हो जाने पर एक संक्षिप्त विधान किया गया है—**पूर्वालाभे उत्तरोत्तरं ब्राह्मणपाण्यजकर्णदर्भस्तम्बासु। काष्ठेषु पृथिव्यां हुत्वापि मन्थनम्**। प्रायश्चित्तों में अत्यन्त कृच्छ्र व्रतों का विधान किया गया है और सोमयाग का भी अत्यन्त संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इसमें याज्या-मन्त्रों का विधान तो प्रत्येक स्थल पर किया गया है किन्तु अनुवाक्या-मन्त्रों का कहीं भी नहीं किया गया। उक्थ्य प्रभृति सात सोम-संस्थाओं के विवरण में ऋत्विज् को अश्विनों की प्रशंसा उड़ने को तैयार पक्षी की स्थिति में करनी चाहिए[3]। अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्तों का भी सत्त्रों के प्रसंग में विधान उल्लेखनीय

---

१. विस्तारार्थ द्र. कीथ, ऋग्वेद ब्राह्मणज, भूमिका, पृ० ५१-५२।

२. ऋग्० ब्रा०, भूमिका, पृ० ५४।

३. यथा शकुनिरुत्पतिष्यन्नुपस्यक्ततस्त्वेवाश्विनं शंसेत् (४, १५)।

है। तै० ब्रा० के समान ही यहाँ भी यज्ञ का प्रतीकात्मक वर्णन किया गया है—चित्तमग्निरासीत्, वाग्वेदिरासीत्…… (८, १३)। इसी प्रसंग में ब्रह्मचारी के लिए भी यज्ञ का विधान है जो बौधायन० में प्रतिपादित समावर्तन संस्कार का स्मरण करा देता है (८,१४)। राजसूय के प्रसंग में शुनःशेप के आख्यान के सुनाने का विधान किया गया है जिसे स्वर्णासन पर आसीन अभिषिक्त राजा को उसके पुत्र और अमात्यों की उपस्थिति में स्वर्णासन पर आसीन होता सुनाता है। यहाँ अनेक प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति के लिए नाना प्रकार के कृत्यों का विधान किया गया है। अनेक प्रकार के अभिचारों का भी विवरण दिया गया है, जिनमें पुरोहितों को वैसे ही 'लोहित उष्णीष' पहनने होते हैं जैसे अन्य श्रौतसूत्रों में विहित हैं। 'ऋतपेय' तथा 'अतिपूर्ति' जैसे कर्मों के विधान से यज्ञ के विकास पर प्रकाश पड़ता है। 'आधिपत्यकाम' के लिए वाजपेय का विधान नवीन है जिसमें १७ की संख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी दक्षिणा शत से परार्ध्य पर्यन्त विहित है जिसमें स्वर्ण-आस्तरणों से समावृत १७ हाथी भी सम्मिलित हैं।

अश्वमेध का विवरण विस्तारपूर्वक दिया गया है। इसमें राजा को एक वर्ष तक पारिप्लव नामक आख्यान के सुनाने का भी विधान है[1]। होता तथा अध्वर्यु के बीच ब्रह्मोद्य सम्बन्धी नोंक-झोंक भी बड़ी रोचक है[2]।

गवामयन प्रभृति दीर्घ सत्रों का भी विधान किया गया है। इनमें 'विश्वसृजां सहस्रसंवत्सरं सत्रम्' का भी उल्लेख किया गया है किन्तु उसका विवरण नहीं दिया गया। सारस्वत सत्र की 'प्लक्ष-प्रस्रवण' में समाप्ति तथा यमुना के वामतट पर अवभृथ का विधान भी किया गया है।

जैसा कि ऊपर बता चुके हैं आश्वलायन शौनक के शिष्य थे जिन्होंने बृहद्देवता की रचना की थी। कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में बृ० दे० से बहुत सहायता ली है। सर्वानुक्रमणी में अनेकों प्राचीन और अपाणिनीय शब्दों के प्रयोग के कारण शौनक को पाणिनि-पूर्वकालिक माना जाता है[3]। बृहद्देवता[4] में आश्वलायन[5] का उल्लेख किया गया है, अतः आश्वलायन गृ० सू० पाणिनि से पूर्वकालिक है।

---

१. आश्व० श्रौत १०, ७; तु. श० ब्रा० १३, ४, ३, २-१५।

२. आश्व० श्रौ० सू० १०,९;— कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः। किं स्विद्धिमस्य भेषजं किं स्विदावपनं महत् (वा० सं० २३,९; ४५; तै० सं० ७, ४,१८,१) इति होताध्वर्युं पृच्छति……।

३. मैकडॉनल, बृ० दे०, भूमिका, पृ० २२-२३; कीथ, ऐ० आर०, भूमिका, पृ० २१।

४. ४, १३९।

५. आश्व० गृ० सू० २, ६, १२।

आश्वलायन गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्र का रचयिता एक ही व्यक्ति है, क्योंकि आश्वलायन गृह्यसूत्र (२,५,३) में आश्वलायन श्रौतसूत्र (२, ६) का उल्लेख किया गया है। दोनों की रचना-शैली, भाषा तथा शब्दावलि समान है। तीसरे गृह्यसूत्र के आरम्भिक सूत्र से ही प्रकट होता है कि श्रौतसूत्र के निर्माण के पश्चात् ग्रन्थकार गृह्यसूत्र का निर्माण करने जा रहा है। वहां कहा गया है— **उक्तानि वैतानिकानि, गृह्याणि वक्ष्यामः**[1]। अतः आश्वलायन श्रौतसूत्र भी पाणिनि से पूर्वकालिक है।

कीथ प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् रचना-शैली, भाषा के प्रयोगों, जातिपांति सम्बन्धी विचारसरणि, ऐ०आर० (५,३,२) में आश्व०श्रौ०सू० (१,५,७) के उद्धरण प्रभृति प्रमाणों के आधार पर आश्व०श्रौ०सू० को ऋग्वेद के ही अन्य सूत्र शांखायन श्रौतसूत्र से प्राचीन घोषित करते हैं, जबकि हिल्लेब्राण्ट ने शांखायन श्रौतसूत्र को आश्व०श्रौ०सू० से प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस दिशा में उनका प्रथम तर्क यह है कि शां०श्रौ०सू० की आंशिक तौर पर ब्राह्मणशैली में रचना की गयी है, जबकि आश्व०श्रौ०सू० की रचना विकसित सूत्रशैली में की गयी है। द्वितीय तर्क यह है कि शां०श्रौ०सू० में प्रतिपादित अश्वमेध तथा पुरुषमेध यज्ञ उसकी प्राचीनता के द्योतक हैं। तृतीय यह कि शां०श्रौ०सू० की रचना पूर्णविकसित सूत्रशैली में नहीं की गयी[2]। किन्तु कीथ ने इन सभी तर्कों का प्रतिवाद करके आश्व०श्रौ०सू० को पूर्वकालिक सिद्ध करने का प्रयास किया है। प्रथम तर्क का निराकरण इस हेतु से किया गया है कि शां०श्रौ०सू० में वर्णित शुनःशेप का आख्यान ऐ०ब्रा० के आख्यान के अत्यन्त समान है और उनके मतानुसार यह आख्यान मूलब्राह्मण में उत्तरकालिक प्रक्षेप है। द्वितीय तर्क पर कीथ को यह आपत्ति है कि इसका मुख्य आधार यह धारणा है कि ऋग्० १०,१८,८ की व्याख्या शां०श्रौ० सू० १६, १३ से की जा सकती है जो अब मान्य नहीं रह गयी है। तृतीय तर्क का कीथ ने ऐ० आर० की प्राचीनता सिद्धकरने के लिए अपने पक्ष में प्रयोग किया है। क्योंकि ऐ० आर० सुयज्ञ की कृति शां०श्रौ०सू० से कम संक्षिप्त शैली में रचा गया है[3]। किन्तु कीथ के इन तर्कों का प्रतिवाद करके काशिकर ने हिल्लेब्राण्ट के पक्ष की पुष्टि की है। उनके अनुसार हिल्लेब्राण्ट की रचनाशैली पर आधृत तर्क को इतनी सरलता से झुठलाया नहीं जा सकता। और फिर ऐ० आर० का पञ्चम अध्याय, जो सूत्रशैली में विरचित है, निश्चय ही आख्यान का उत्तरवर्ती भाग है। दूसरे पुरुषमेध तथा अश्वमेध के प्रतिपादन पर आधृत तर्क का आधार ऋग्० १०,१८,८ तथा शां०श्रौ०सू० १६,१३ का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है, अपितु इन कृत्यों के प्रतिपाद्य विषयों की प्राचीनता है। पुरुषमेध तो श० ब्रा० में ही

---

१. द्र० काशिकर, सर्वे०, पृ० १५२-१५३।
२. रिच्वल्लिट्० पृ० २५; शां० श्रौ०, भाग १, पृ० ९-१०।
३. ऐ० आर०, भूमिका, पृ० ७०; शां० श्रौ० सू० १७-१८; जे० आर० ए० एस०; १९०७, पृ० ४१०-४१३।

रूपान्तरित हो गया था तथा पुरुष के संज्ञपन का निषेध कर दिया गया था। **कीथ** के तृतीय तर्क का प्रतिवाद करते हुए काशिकर ने ऐ० आर०, पञ्चम अध्याय, **की** रचनाशैली को शां०श्रौ०सू० की रचना-शैली से कम संक्षिप्त मानने से इनकार **कर** दिया है। इसके अतिरिक्त आरण्यक के इस भाग की तुलना शां०श्रौ०सू० (१७-१८) से नहीं की जा सकती, क्योंकि स्वयं कीथ की मान्यतानुसार यह भाग शां०आर० का ही एक भाग है[1]। इसके अतिरिक्त आश्व०श्रौ०सू० के रचयिता आश्वलायन शौनक के शिष्य थे। शौनक निश्चय ही पाणिनि से प्राचीन हैं, किन्तु उनमें कालगत अन्तराल अधिक नहीं माना जा सकता, अन्यथा पाणिनि उनकी अवहेलना नहीं कर सकते थे[2]। इसके विरुद्ध पाणिनि का सूत्र **उच्चैस्तरां वा वषट्कारः** (पा० १,२,३५) शां०श्रौ०सू० के सूत्रों **उच्चैस्तरां वषट्कारः** (१,१,३४) तथा **समो वा** (१,१,३५) पर स्पष्ट आधृत है। इस प्रकार पा० ने शांखायन का तिर्यक् संकेत करके शांखायन को पूर्ववर्ती सिद्ध कर दिया है। तथा इन्हें शौनक और आश्वलायन दोनों से अधिक प्रसिद्ध तथा प्राचीन माना है। इसके अतिरिक्त दर्शपूर्णमास के अन्वाधान के अवसर पर स्वयं यजमान को अग्नियों में समिधाएं प्रदान करने की परिपाटी के कारण भी शां०श्रौ०सू० प्राचीनतर ठहरता है। आश्व०श्रौ०सू० इस विधि की चर्चा नहीं करता। अतः यह कर्म अध्वर्यु को करना होता है। यह परिपाटी पश्चात्कालिक विकास है[3]। इतना ही नहीं, काशिकर ने तो ऐ०आर० के पञ्चम अध्याय के कर्ता शौनक को सूत्रकार आश्वलायन से पश्चाद्वर्ती मानकर दो शौनकों की कल्पना की है[4] जिसे मान्यता प्रदान करने के लिए अभी और प्रमाणों की आवश्यकता है। यह ज्ञातव्य है कि पा० (४,३,१०६) ने शौनक को स्मरण किया है, तो उनका शिष्य आश्वलायन भी अवश्य ही उनसे पूर्व होगा। अधिकतर विद्वान् अभी तक आश्वलायन० को ही पूर्ववर्ती मानते हैं, तो भी शां०श्रौ०सू० पर्याप्त प्राचीन रचना है और इसे ८००-७०० ई० पू० में विरचित माना जा सकता है तथा आश्व०श्रौ०सू० को भी इसी के आसपास माना जा सकता है। इनके पौर्वापर्य की दृष्टि से भी दोनों में कालगत दूरी बहुत अधिक नहीं कहीं जा सकती।

व्याख्याएं : १. देवस्वामी कृत भाष्य, जो अभी तक अप्रकाशित है, सर्वप्राचीन भाष्य है। हिल्लेब्राण्ट के मतानुसार इसका स्थितिकाल ४००-५०० ई० से अर्वाचीन नहीं हो सकता[5]। काणे[6] ने इसका काल १०००-१०५० ई० स्वीकार किया है।

---

१. सर्वे०, पृ० १६०।

२. कीथ, ऐ० आर०, भूमिका, पृ० २१।

३. सर्वे०, पृ० ५८-५९।

४. वही; पृ० ८; आश्व० श्रौ० के काल के विषय में द्र० आश्व० गृ० प्रकरण।

५. रिच्वल्लिट्०, पृ० २५-२८।

६. हि० ध० शा०, भाग २, पृ० २७९-८१।

इस विषय में अभी तक निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

२. नरसिंहसूनु गार्ग्यनारायण ने अपनी 'वृत्ति' देवस्वामी के भाष्य के अनुकरण पर लिखी है जिन्हें यह 'भगवान्' कहकर स्मरण करता है[1]। यह स्मरण रहे कि आश्व०गृ०सू० पर वृत्तिकर्ता गार्ग्यनारायण के पिता का नाम दिवाकर था और वह नैध्रुवगोत्र में उत्पन्न हुआ था। भास्कर मिश्र ने स्वरचित 'त्रिकाण्डमण्डन' या 'आपस्तम्बध्वनितार्थ-कारिका' में गार्ग्यनारायण को उद्धृत किया है। भास्कर मिश्र का स्थितिकाल त्रयोदशी शती का उत्तरार्ध माना गया है[2]।

३. भवनागकृत व्याख्या को भी भास्कर मिश्र ने उद्धृत किया है।

४. सिद्धान्तिभाष्य, जिसके प्रथम दो अध्याय प्रकाशित हो चुके हैं।
(गवर्न्मेंण्ट संस्कृत कॉलेज, बनारस)

५. देवत्रात (अपरनाम वराहकाय या वराहदेव) कृत भाष्य की पाण्डु-लिपियां उपलभ्य हैं[3]।
(एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, संख्या १०६३०; ११९२)

६. टिप्पूभट्ट विरचित 'संग्रहणदीपिका' नाम की व्याख्या उपलभ्य है।
(ए० सो० कलकत्ता, सं० १९६१)

७. कृष्णभट्टसूनु त्र्यम्बक विरचित व्याख्या भी उपलब्ध है। (वही)

८. षड्गुरुशिष्य विरचित 'अभ्युदयप्रदा' भी प्रसिद्ध है, (अध्याय, १-९)।

संस्करण : (१) रामनारायण विद्यारत्न, बि० इण्डि०, कलकत्ता, १८६४-७४।
(२) गणेश सी० गोखले, आनन्दाश्रम, पूना, १९१७। गार्ग्यनारायण-कृत वृत्तिसहित।

शांखायन श्रौतसूत्र :

यद्यपि शांखायन श्रौतसूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद की बाष्कल शाखा से माना जाता है क्योंकि शांखायन गृह्य सूत्र (४,५,९) में बाष्कल शाखा की अन्तिम ऋचा **'तच्छंयोरावृणीमहे'** को उद्धृत किया गया है। तो भी इसका वास्तविक सवन्ध शांखायन शाखा से मानना उचित प्रतीत होता है, विशेषतः उस अवस्था में जबकि चरणव्यूह में शांखायन शाखा को मान्यता दी गयी है[4]। इस समय शांखायन संहिता उपलभ्य नहीं है तो भी प्रतीत होता है कि वह बाष्कल से अधिक भिन्न नहीं

---

१. **'आश्वलायनसूत्रस्य भाष्यं भगवता कृतम्। देवस्वामिसमाख्येन विस्तीर्णं सदनाकुलम् तत्प्रसादान्मयेदानीं क्रियते वृत्तिरीदृशी। नारायणेन गार्ग्येण नरसिंहस्य सूनुना।'**

२. काशिकर, सर्वे०, पृ० ८२।

३. यह व्याख्या विश्वेश्वरानन्द संस्थान के पञ्जाब विश्वविद्यालय पटल में सम्पादित होकर मुद्रित हो रही है।

४. तु. ऋग्वेदसंहिता, वै० सं० मण्डल, पूना; काशिकर, भाग ५, खिलसूक्तों की भूमिका।

रही होगी। शां० श्रौ० सू० में १२ ऐसे मन्त्र भी उद्धृत हैं जो सूत्र में तो सकल पाठ में पठित हैं और ऐ० ब्रा० में प्रतीक रूप में दिए गए हैं, किन्तु शाकल संहिता में उपलब्ध नहीं होते[1]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये मन्त्र किसी अन्य संहिता से लिये गये हैं जिसका सीधा सम्बन्ध ऐतरेयों से रहा होगा। यह सब होते हुए भी यह सूत्र अधिकतर शांखायन (कौषीतकि) ब्राह्मण पर आधृत है। पं० भगवद्दत्त[2] तथा टी० आर० चिन्तामणि[3] ने सिद्ध किया है कि कौषीतकि तथा शांखायन दो भिन्न-भिन्न ब्राह्मण हैं।

इस सूत्र के कर्ता का नाम सुयज्ञ शांखायन था। शां० गृ० सूत्र (४,१०) में ऋग्वेदीय आचार्यों के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं—कहोल, कौषीतकि, महाकौषीतकि, सुयज्ञशांखायन, आश्वलायन, ऐतरेय इत्यादि। शाम्बव्य गृह्यसूत्र में भी सुयज्ञ शांखायन का नाम उल्लिखित है[4] और आश्व० गृ० सू० में भी। शां० श्रौ० सू० के भाष्यकार वरदत्तसुत ब्रह्मदत्त आनर्तीय ने स्पष्ट लिखा है :—

स्वमतस्थापनार्थं सुयज्ञाचार्यः श्रुतिमुदाजहार (१,२,१८)।

साहचर्यं सुयज्ञेन सर्वत्र प्रतिपादितम् (४,३,७)।

शेषं परिभाषां चोक्त्वा प्रक्रमते ततो भगवान् सुयज्ञः सूत्रकारः (११,१,१)। सूत्र में कौषीतकि के नाम का तो उल्लेख हुआ है, किन्तु शांखायन का कहीं भी नहीं हुआ।

इसके विषयों का व्योरा इस प्रकार है :—

अध्याय	१,१-२	परिभाषा प्रकरण।
	१,३-१७	दर्शपूर्णमास।
	२,१-५	अग्न्याधेय तथा पुनराधेय।
	२,७-१७	अग्निहोत्र।
	३,१-११	शेष इष्टियां।
	३,१२	आग्रयणेष्टि।
	३,१३-१८	चातुर्मास्य।
	३,१९-२०	प्रायश्चित्त।

---

१. द्र० शां० श्रौ० सू० कैलेण्ड कृत आंग्लानुवाद, लोकेश चन्द्र कृत भूमिका, पृ० १२, टि० १।

२. वै० वाङ्०, भाग १, पृ० २११-२१२।

३. ए० आई० ओ० सी, ९, प्रा०, पृ० १८०-१९४।

४. इण्डिस्टु०, १५, पृ० ५४०।

३,२१-४,२१	ब्रह्मत्व, याजमान, पिण्डपितृयज्ञ, शूलगव प्रभृति ।
५-८	अग्निष्टोम ।
९	उक्थ्य, षोडशी, तथा अतिरात्र ।
१०	द्वादशाह ।
११	चतुर्विंश, अभिप्लवषडह, अभिजित्, स्वर-साम, विषुवत् तथा विश्वजित् ।
१२	होत्रकों के शस्त्र ।
१३,१-१३	प्रायचित्त, तथा कुछ एक इष्टियां ।
१३,१४-१९	सत्र, गवामयन तथा अन्य अयन ।
१४	हविर्यज्ञ, अग्न्याधेय, पुनराधेय, दर्शपूर्णमास, अनेकविध सव, तथा स्तोम ।
१५,१-३	वाजपेय ।
१५,४	बृहस्पति सव
१५,५-८	सोमसंस्थाएं, विशेषतः अप्तोर्याम ।
१५,९-११	यमस्तोम, वाचःस्तोम ।
१५,१२-२७	राजसूय, तथा शुनःशेप का आख्यान ।
१६	अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, वाजपेय, राजसूय तथा अश्वमेध विषयक शेष; तथा अन्य अहीन ।
१७-१८	महाव्रत ।

इस सूत्र के तीन अध्यायों (१४-१६) की रचनाशैली तथा वचोविन्यास ब्राह्मणशैली के समान है। कुछ एक सवयज्ञों तथा शुनःशेप के आख्यान में तो अर्धब्राह्मणशैली के स्पष्ट दर्शन होते हैं। ये सन्दर्भ शेष सूत्र की रचनाशैली से सर्वथा भिन्न हैं। तथा उससे मेल नहीं खाते। इन अध्यायों में यज्ञों की संरचना का वर्णन सूत्रोचित विस्तार के साथ-साथ, ब्राह्मणों में वर्णित उनके उद्देश्यों, तथा व्याख्यात्मक सन्दर्भों का सम्मिश्रण बौधायन तथा मानव श्रौतसूत्रों की प्रवचनात्मक शैली में किया गया है जिसके कारण इनकी रचना का काल सम्भवतः आपस्तम्ब तथा कात्यायन के रचनाकाल से प्राचीन है, जिनमें विषयप्रतिपादन तथा आलोचनात्मक टिप्पणियां ब्राह्मणों के एतद्विषयक प्रतिपादन से अधिक संक्षिप्त एवं संसृष्ट हैं, जबकि पूर्णविकसित सूत्रों में इस प्रकार की टिप्पणियों का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

इनमें ऐसे अनेक नवीन सवों का वर्णन किया गया है जो ब्राह्मणकाल तथा सूत्रकाल के मध्यवर्ती अन्तराल में विकसित हुए हैं, अन्यथा इनका उल्लेख ब्राह्मण में कहीं तो किया जाता ?

बौ० श्रौ० सू० १७,५५-१८-५३) में भी इसी प्रकार की सामग्री प्रस्तुत की गयी है, जैसी यहां चौदहवें अध्याय में प्रतिपादित है। सूत्र (१५,१७-२७) में वर्णित शुनःशेप का आख्यान इस स्थान पर सर्वथा अनुपपन्न है।

शां० श्रौ० सू० के अन्तिम दोनों अध्याय (१७-१८) बाद में जोड़े गये हैं। व्याख्याकार आनर्तीय ने इन दोनों को शां० आर० के प्रथम दो अध्यायों के समानान्तर माना है और इन पर भाष्य नहीं लिखा। तथा अष्टादश अध्याय (१८, १४, ३०) को **आरण्यके वचनात्** कहकर उद्धृत किया है। अर्थात् इन अध्यायों का शां० आर० अध्याय १-२ के साथ वही सम्बन्ध है जो ऐ० आर० आध्याय ५ का ऐ० आर० अध्याय १-२ से है। अर्थात् ये दोनों महाव्रत के लिए क्रमशः सूत्र और ब्राह्मण का काम करते हैं[1], किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इन अध्यायों की रचना भी अपेक्षाकृत अर्वाचीन है[2]। विचित्र बात यह है कि इन अध्यायों में कहीं तो उन ऋग्वैदिक ऋचाओं को प्रतीकरूपेण पढ़ा गया है (१८,१,२ तथा १८,१५,४) जिन्हें पूर्वभाग में (५, ९, ५-६ तथा ९, ६, ६) में सकल पाठ में पढ़ा गया है और कहीं (१८,१५,५) उन्हें सकल पाठ में उद्धृत किया गया है जिन्हें पूर्वभाग (१२, २६, ९) में प्रतीकरूपेण उद्धृत किया गया है। इससे यही परिणाम निकाला जा सकता है कि ये दोनों भाग समकालिक हैं, चाहे इनके कर्ता भिन्न-भिन्न क्यों न हों[3]।

अध्याय १-१६ प्रायेण कौषीतकि (शांखायन) ब्राह्मण पर आधृत है। यहां तक कि दोनों में शाब्दिक साम्य भी पाया जाता है और ब्राह्मण की वैकल्पिक विधियों को सूत्र में भी वैकल्पिक घोषित किया गया है[4]। तो भी कहीं-कहीं भेद पाया जाता है[5]। कैलैण्ड के मतानुसार ऐसी भी स्थितियां हैं जहां कौ० ब्रा० सूत्र से पूर्व परिचित प्रतीत होता है, जो सूत्र के ब्राह्मण से प्राचीन होने का संकेत करती हैं[6]। किन्तु जैसा कि कीथ ने कहा है केवल प्रतीकों के तर्क पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता। यह उसी प्रकार कौ०ब्रा० से उत्तरवर्ती है जैसे आश्व०श्रौ० सूत्र ऐ०ब्रा० से[7]।

---

१. कीथ, शां० श्रौ० सू० अध्याय १७-१८, जे० आर० ए० एस० १९०७, पृ० ४१०; ऋग्० ब्रा०, भूमिका, पृ० ५१।
२. हिल्लेब्राण्ट, रिच्वल्लिट्, पृ० २५।
३. कीथ, वही, पृ० ४११; इसी आधार पर लोकेशचन्द्र ने महाव्रत को प्राचीन घोषित किया है, भूमिका पृ० १२।
४. द्र० लोकेश० भूमिका, पृ० १३।
५. वही।
६. वही।
७. जे० आर० ए० एस०, १९१०, पृ० ९३४; ऋग्० ब्रा०, भूमिका, पृ० ५०।

लोकेशचन्द्र के अनुसार इस सूत्र में ऐसी नवीन विधियां भी हैं जो अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होतीं, और जो प्राचीन कर्मकाण्डीय विधानों के विषय में हमारे लिए ज्ञानवर्धक सिद्ध होती हैं, यथा—अन्वारम्भणीय सम्बन्धी **पञ्चहविः कर्म** (२,४)। ऐसे अपूर्व मन्त्रों का भी विनियोग यहां किया गया है जो अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते, यथा २,८,६ में (जो ब्लूमफील्ड के मन्त्रकोष में भी सन्निविष्ट नहीं है) तथा २,९,८ में विहित मन्त्र।

ऋग्वेदीय खिल सूक्तों के प्रैषाध्याय से सूत्रकार परिचित थे[1]। जैमिनीयों से भी इस सूत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शांखायन २,१७,१ में उद्धृत मन्त्र केवल जै० गृ० सू० में उपलभ्य है। और शांखायन ९, ५, १ में उद्धृत मन्त्र केवल जै०ब्रा० में पाया जाता है। दोनों में समानान्तर वचनों की भी कमी नहीं है[2]। समानान्तर कृत्यों में भी बहुत साम्य पाया जाता है। एक आख्यान[3] भी जै० ब्रा० से लिया गया प्रतीत होता है। श्रौतसूत्र १८,५,१४ जै०ब्रा० १,३४४ के सर्वथा समान है। पञ्च०ब्रा० से भी कई अंशों में साम्य व्यक्त होता है। अश्वमेध प्रकरण शां० ब्रा० के समान है। मै० सं०, ला०श्रौ०सू०, आप०श्रौ०सू०, शां०आर०, वाराह श्रौ०सू०, आर्षेय कल्प, बौ०श्रौ०सू० प्रभृति अनेक वैदिक ग्रन्थों से इस के सम्बन्धित होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इसमें वर्णित पुरुषमेध के सहारे ऋग्० १०, १८,८ और १०, ८५, २१-२२ पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है[4]। इसी प्रकार ऋग्० ५,२,१-६ के अर्थ भी इस सूत्र की सहायता से स्पष्ट हो जाते हैं[5]।

प्राचीन आचार्यों में से प्रागहि, पैंग्य, और आरुणि के मतों को इसमें उद्धृत किया गया है।

इस सूत्र की कुछ अपनी विशेषताएं भी हैं। इसमें प्रतिपादित पुरुषमेध के विस्तृत विधानों से उसके प्राचीनतम स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। इसमें अश्वमेध के अनुकरण पर किसी ब्राह्मण या क्षत्रिय को खरीद कर उसे एक वर्ष के लिए इच्छानुसार घूमने दिया जाता है (१०,९) और अन्त में अश्व के समान ही उसका संज्ञपन किया जाता है तथा अश्वमेध के समान ही महिषी शव के पास लेटती है[6]।

---

१. शां० श्रौ० सू०, ५,१६,४—**एकादश प्रयाजास्तेषाम्प्रैषाः प्रथमम्प्रैषसूक्तम्।**

२. लोकेश०, भूमिका, पृ० १५।

३. १६, २९, ६-११; विस्तार के लिए, द्र० वही, पृ० १५।

४. द्र० कीथ, जे० आर० ए० एस० १९०७, पृ० ४१०-१३।

५. ब्लूमफील्ड, हिम्स आफ़ अथर्ववेद, जे० ए० फ़िलॉस०, खण्ड ७, पृ० ४६६।

६. **संज्ञप्ताय महिषीमुपनिपातयन्ति** (१६, १३, ७) तु. **अश्वमेध,** १६, ३, ३३ ; श० ब्रा० १३, ५, २, २ ; वैतान०, ३७, १०—**पुरुषमेधोऽश्वमेधवत्।**

यह समस्त प्रकरण किसी अत्यन्त प्राचीन कर्मकाण्डीय पद्धति से सम्बद्ध प्रतीत होता है। श०ब्रा० में स्पष्ट ही पुरुष के संज्ञपन का निषेध किया गया है[1]। इस पुरुषमेध से सर्वथा भिन्न प्रवृत्ति 'सर्वमेध' में परिलक्षित होती है जिसे प्रतीकात्मक रूप में ग्रहण किया गया है। यहां अश्वमेध का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। एक विचित्रता यह भी है कि प्रत्येक हौत्र कर्म की समाप्ति पर होता को जलस्पर्श करना पड़ता है। इसी प्रकार पितरों की पूजा-अर्चना को विशेष महत्त्व दिया गया है। दर्शपूर्णमासेष्टि में अध्वर्यु द्वारा 'चतुर्धाकरण' के अनन्तर यजमान यज्ञोपवीत को अपसव्य करके यजमान-भाग को स्पर्श करके पितरों का आवाहन करता है— **अत्र पितरो मादयध्वम् यथाभागम्, पितर आवृषायध्वम्।** ऐसे ही अध्वर्यु द्वारा इडा को इडापात्र में रखने के उपरान्त यजमान के लिए जप का विधान है— **अमीमदन्त पितरो यथाभागं मन्दध्वम्।**

सूत्र के बहुत से भाग ब्राह्मण शैली में रचे गए हैं, जो इसकी प्राचीनता की ओर संकेत करते हैं तथा ब्राह्मण एवं सूत्र के अन्तराल की शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। अध्याय १४,१५,१६ में ऐसे अनेक वाक्य दृष्टिगोचर होते हैं जिनमें सवों का प्रतिपादन किया गया है और शुनःशेप की कथा भी वर्णित है। शुनःशेप की अत्रत्य कथा न तो राजसूय में संगत प्रतीत होती है न ही पुरुषमेध में। यहां कुरुओं की विपत्ति की ओर संकेत किया गया है—**कुरुक्षेत्राच् च्योष्यन्ते** (१५, १६, १०)।

अग्निहोत्र से सम्बद्ध अनेक ऐसे कर्मों का विधान किया गया है जो अन्यत्र नहीं किया गया। परस्पर भेद-ग्रस्त सम्बन्धियों की एकता के लिये **बहुदेवतेष्टि** का विधान ऐसा ही है (३,६,१)। अन्य कई सूत्रों के विरुद्ध यहां (१०,१३,२५) तथा इसके ब्राह्मण में 'अतिरिक्तोक्थ्य' का विधान है। वत्सापाकरण से पूर्व यजमान तथा पत्नी के लिए भोजन का विधान भी इसी प्रकार का है[2]। कुन्ताप सूक्तों का विनियोग भी यहां किया गया है[3]। **सारस्वत सत्र** के अतिरिक्त जो सरस्वती के तट पर सम्पन्न किया जाता था, यहां एक **दार्षद्वत सत्र** का भी विधान है जिसका अनुष्ठान दृषद्वती के तट पर किया जाता था और त्रिप्लक्षा के स्थान पर यमुना में ही अवभृथ[4]। चतुर्दश अध्याय में पुनः चातुर्मास्य, वरुण प्रघास प्रभृति अल्पकालिक

---

१. श० ब्रा०—**पुरुषं मा सन्तिष्ठिपो, यदि संस्थापयिष्यसि पुरुष एव पुरुषमत्स्यतीति। तान् पर्यग्निकृतानेवोदसृजत्** ··· ··· (१३, ६, २, १३)।

२. **यदन्यन्मांसलवणमिथुनमाषेभ्यो येन च द्रव्येण यक्ष्यमाणः स्यात्।**

३. १२, १३, ७; १४, १-३; १४, ४-१५,१; १५, २-४; १५, ५-१६, २; १६, १-५ जो क्रमशः "नाराशंस्यः, रैभ्यः, कारव्यः, इन्द्रगाथाः, भूतेच्छदः" हैं। लोकेश, शां० श्रौ० सू० १२, १६, ५, टि०।

४. १३,२९,२७-३१; पञ्च० ब्रा० २५,१३।

यागों की चर्चा की गयी है। ब्राह्मणों तथा राजन्यों में एकता रखने के लिये **इन्द्राग्न्योः कुलायः** नामक विशेष याग का विधान किया गया है[१]। राजसूय के द्रष्टा वरुण कहे गए गये हैं[२] और इसके लिए भार्गव गोत्र के होता का विधान किया गया है[३]। इसमें **चरकसौत्रामणी** का विधान है जिसमें सुरापान के लिए सर्वथा नवीन, प्रैषाध्याय से बहिर्भूत, प्रैष का विनियोग किया गया है[४]। इसमें वर्णित शुनःशेप की कथा इस यज्ञ के परिवेश के अनुरूप नहीं है[५]। इस सूत्र का रचना-क्रम आश्व० श्रौ० सू० से अधिक तर्क-संगत और व्यवस्थित है[६]।

अन्तिम दो अध्याय, जो सम्भवतः कालान्तर में जोड़े गये हैं, महाव्रत का प्रतिपादन करते हैं, जो कई अंशों में विचित्र कहा जा सकता है। होता के लिये उदुम्बर की झूले की पटड़ी और मूंज के रस्से, एवं शततन्त्री, और अन्य प्रकार की वीणाएं तथा मुख से बजाने का वाद्य **पिच्छोरा** तथा वेत के कोण यजमान-पत्नियों के वादनार्थ विहित हैं—**घाटकर्करीरवघटकरिकाः काण्डवीणाः पिच्छोरा इति पत्न्यः उपकल्पयन्ति** (३, १२)। चार दुन्दुभियों के बजाने का भी विधान है, एक **भूमिदुन्दुभि** भी बजायी जाती थी जो भूमि में गर्त को चर्म से ढक कर बनायी जाती थी। और जिस पर बैल का चर्म मढ़ा होता था तथा जो उसी की पूंछ से बजायी जाती थी। उद्गाता के लिए मूंज से बुना उदुम्बर का पीढ़ा विहित है। अन्यत्र[७] प्रतिपादित महाव्रत के समान यहां भी आर्य और शूद्र के कलह, पुरुष और स्त्री का वेदि से बाहर सम्भोग, पंगु और गंजे के गाली-गलोच की ओर संकेत तो किया गया है किन्तु उसे 'पुराण' तथा 'लुप्तप्राय प्रयोग' कह कर इसका निषेध कर दिया गया है[८]।

आश्वलायन श्रौतसूत्र के प्रकरण में हम दिखा चुके हैं कि शांखायन अपेक्षाकृत नवीन रचना है किन्तु दोनों के मध्य बहुत अधिक अन्तर नहीं है। अतः यह भी ८००-६५० ई० पू० की रचना मानी जा सकती है। लोकेशचन्द्र ने कैलैण्ड

---

१. १४,२९।
२. १५,१२,१; जै० ब्रा० १,१९७।
३. १५,१२,२।
४. १५,१५,९; यह अवधेय है कि इस सूत्र में राजा द्वारा करणीय वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध का वर्णन आश्व० श्रौ० सू० से कहीं अधिक है।
५. कीथ, ऋग् ब्रा० भूमिका पृ० ४०-४१।
६. कीथ, वही, भूमिका, पृ० ५१।
७. बौ० श्रौ० सू० १६,१८-२३; ३५; आप० श्रौ० सू० २१,१९,६; पञ्च० ब्रा० ५,५,१४; शां० आर०, इस पर कीथ, भूमिका, पृ० ७२ से आगे।
८. १७,६,२।

के अनुवाद की भूमिका में इसकी भाषागत विशेषताओं पर प्रकाश डाला है[1]। उनसे भी यही सिद्ध होता है यह पाणिनि से पूर्वकालिक रचना है। इसकी ब्राह्मणों की सी शैली भी इसी परिणाम को पुष्ट करती है।

भाषा :

शांखायन श्रौत सूत्र में अपाणिनीय प्रयोग तथा विचित्र सन्धियां हमारा ध्यान बलात् आकृष्ट करती हैं।

यथा—

प्रशास्त आह (७, १४, ९)।

प्रशास्त आत्मना (१, ४, ५)।

अप्सु सोमान् (८, ७, २१)।

आसदेत (१, १७, १९)।

विवदेयाताम् (१४, १८, १)।

व्यवेतोऽग्नीन् (२, १५, ६-७)। यहां 'अग्नी' होना चाहिये।

अभिनत् (१२, १६, १)। प्रथम पुरुष का प्रयोग मध्यमपुरुषार्थ।

कई शब्दों के अर्थ सर्वथा अस्पष्ट हैं, यथा—

अक्षरवैराज (१४, २५, ५)।

अनुदेश्य (५, १, १०)।

अन्वंश (४, १५, १३)।

आतान (११, १३, ३२)।

आपवर्य (१०, ८, २१)।

उपाङ्क्च (१०, ८, २१)।

सच्छाय (४, २०, १)।

समारोहणीय (६, ६, १७) =अन्तिम मन्त्र? अन्यत्र इस अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ।

इस प्रकार के विचित्र तथा अप्रयुक्त शब्दों का संग्रह लोकेशचन्द्र ने कैलैण्ड-कृत आंग्लानुवाद में किया है। (द्र. भूमिका पृ० ५-८)।

---

१. पृ० ५-७।

व्याख्याएं[1]—१. इस पर वरदत्तसुत ब्रह्मदत्त आनर्तीय का भाष्य उपलब्ध होता है। यह गुजरात निवासी थे किन्तु इनके समय का पता नहीं है। तो भी यह बहुत प्राचीन नहीं हो सकते।

२. किसी नारायण द्वारा लिखित 'निरञ्जनपद्धति' भी उपलब्ध होती है। जो प्रथम चार अध्यायों पर ही है।

३. एक गोविन्द की कारिका भी कुछ अंशों पर छपी है।

४. अग्निस्वामिकृत भाष्य भी उपलब्ध है। द्र. ला० श्रौ० सू० के प्रकरण के अन्त में।

५. कैलैण्ड तथा लोकेशचन्द्र द्वारा आंग्लानुवाद, नागपुर, १९५३। कैलैण्ड ने सूत्र के १५, १७-२७ (शुनःशेप कथा) एवं १७, १०-१८ के अन्त तक का अनुवाद नहीं किया। इस अनुवाद में कीथ के कौ० ब्रा० के अनुवाद की त्रुटियां दूर की गयी हैं।

संस्करण—हिल्लेब्राण्ट ने बि० इण्डि० के अन्तर्गत ४ भागों में इसे सम्पादित किया था। १८८५-८९ में मूल।

१८८९-९१ वरदत्तसुत आनर्तीय का भाष्य।

१८९३-९७ टिप्पणियां।

१८९९, गोविन्द की व्याख्या।

---

१. शां० श्रौ० सू० का प्रचार इतना कम रहा है और इसकी इतनी कम व्याख्याएं उपलभ्य हैं, और जो हैं भी वे इतनी त्रुटित हैं कि अन्य सूत्रों के सहारे से इस सूत्र का आशय समझने का प्रयास किया गया है। यह बात स्वयं भाष्य के ९-१० अध्यायों के अन्त में दिए गए एक श्लोक से ही व्यक्त होती है। त्रिकाण्डमण्डन और हि० के० श्रौ० सू० के व्याख्याकार विश्वेश्वर सुधी ने जहां अनेकों श्रौ० सूत्रों का उल्लेख किया है, वहां शां० श्रौ० सू० का नहीं किया।

तृतीय अध्याय

कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्र (१)

बौधायन श्रौतसूत्र :

सत्याषाढ श्रौतसूत्र के व्याख्याकार महादेव ने प्राचीन श्रौतसूत्रों की तालिका प्रस्तुत की है जिसमें वौधायन श्रौतसूत्र का नाम सर्वोपरि लिखा है। वौधायन और भारद्वाज गृह्यसूत्रों में एक काण्व वौधायन प्रवचनकार का उल्लेख किया गया है जो हमारे सूत्र की ओर ही इङ्गित करता प्रतीत होता है, क्योंकि वौधायन श्रौतसूत्र सूत्र-शैली में नहीं लिखा गया अपितु प्रवचन-शैली में रचा गया है और विषय में यह ब्राह्मण-शैली का अनुसरण करता है, सूत्र-शैली का नहीं। इस सूत्र में ३० प्रश्न हैं जिनके प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार हैं—

प्रश्न	विषय
१	दर्शपूर्णमास।
२	अन्न्याधेय।
३	दशाध्यायिक—पुनराधेय, अग्निहोत्र, आग्रयण, याजमान प्रभृति।
४	पशुवन्ध।
५	चातुर्मास्य।
६-८	अग्निष्टोम।
९	प्रवर्ग्य।
१०	अग्निचयन।
११	वाजपेय।
१२	राजसूय।
१३	इष्टिकल्प।
१४	औपानुवाक्य।
१५	अश्वमेध।
१६	द्वादशाह।
१७	उत्तराततिं (अतिरात्र) आदि।
१८	उत्तराततिं (एकाह)।
१९	काठक चयन।
२०-२३	द्वैध।
२४-२६	कर्मान्त।
२७-२९	प्रायश्चित्त।
३०	शुल्व, प्रवर।

इनमें से प्रत्येक प्रश्न अनेक कण्डिकाओं में विभक्त है। इन ३० प्रश्नों को हम पांच विभागों में बांट सकते हैं।

(१) मुख्य सूत्र (प्रश्न १-१९)
(२) द्वैध (प्रश्न २०-२३)
(३) कर्मान्त (प्रश्न २४-२६)
(४) प्रायश्चित्त (प्रश्न २७-२९)
(५) शुल्व (प्रश्न ३०) : प्रवर का प्रकरण श्रौतसूत्र का अंग नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न १ से ९ में तो यज्ञों का वर्णन सामान्य रीति से किया गया है। किन्तु कुछ एक पाण्डुलिपियों में प्रवर्ग्य का विवरण अग्निष्टोम से पूर्व पाया जाता है, अन्य में पश्चात्। अग्निष्टोम (१०) से काठक चयन (१९) के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यह भाग आप० श्रौ० सू० से प्राचीनतर है क्योंकि इसमें प्रतिपादित यज्ञों का विवरण आपस्तम्बीय विवरण से कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों में भेद पाया जाता है जो बौधायन के यज्ञयागों के रूप को प्राचीन सिद्ध करता है। यहां अग्निष्टोम की उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र इन तीन संस्थाओं का ही वर्णन किया गया है (१७, १-२)। वाजपेय याग के अधिकारी के विषय में हमारा सूत्र मौन है। किन्तु याग में काम आने वाली वस्तुओं की एक लम्बी तालिका आरम्भ में ही दे दी गई है जिनमें बहुत सी वस्तुओं की संख्या १७ है : यथा १७ हाथी, १७ रथ, १७ दासियां, प्रभृति। इसकी दीक्षाविधि आपस्तम्बीय विधि के समान ही है, किन्तु सोम के अतिरिक्त यहां सुरा का भी विधान किया गया है जो आपस्तम्ब में नहीं किया गया।

राजसूय याग (१२) का आपस्तम्बीय याग से पर्याप्त भेद लक्षित होता है। एक वर्ष पर्यन्त चलने वाले कर्मों को सम्पन्न करने के अनन्तर राजा इनके गृहों में जाता है—

(१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य, (४) महिषी, (५) वावाता, (६) परिवृक्ती, (७) सेनापति, (८) सूत, (९) ग्रामणी, (१०) क्षत्तृ, (११) भागदुघ, (१२) अक्षावाप।

महिषी, वावाता और परिवृक्ती के अतिरिक्त राजा की एक और रानी पालागली का उल्लेख यहां नहीं किया गया। राजा के अभिषेक के समय भी सोमयाग के तीन सवनों का विधान है। अभिषेक के बाद घोषणा की जाती है— **'एष वो भरतो राजा··· ··· ···।'** यहां कुरुपाञ्चाल का उल्लेख नहीं किया जाता। धनुष-बाण लेकर, शूकर-चर्म के जूते पहन कर राजा रथ पर आरूढ होता है। इसके बाद द्यूत प्रभृति अनेक कर्मों का विधान है जो अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होते। राजसूय १७½ मास तक चलता है।

इष्टिकल्प (१३) में काम्येष्टियों तथा अभिचार कर्मों का विधान है जिनमें से एक अभिचार शत्रु को कुष्ठ रोग से आक्रान्त करने के लिए और स्वयं को इसके आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए भी है। किन्तु ऐसे कर्म आपस्तम्ब से यहां कम हैं।

औपानुवाक्य (१४) में ब्राह्मण-शैली में कर्मों तथा अनुष्ठानों के रहस्यात्मक एवं दार्शनिक पक्ष पर विचार किया गया है। नाभानेदिष्ठ तथा मनु की कथाएं भी यहां वर्णित हैं। राष्ट्रभृतों द्वारा राष्ट्र के हितार्थ तथा युद्ध में शत्रुओं पर विजयार्थ अनुष्ठानों का भी प्रतिपादन किया गया है। वसिष्ठ की इन्द्र से भेंट और स्तोमभागों की प्राप्ति की कथा भी यहां कही गयी है, जिसके आधार पर यज्ञ में ब्रह्मत्व का अधिकार वसिष्ठ गोत्र के ब्राह्मणों को ही प्रदान किया गया है। सोम के अभाव में 'फाल्गुन' घास अथवा 'पर्णत्सरु' के पत्तों के अभिषव के प्रयोग का विधान केवल यहीं किया गया है।

अश्वमेध (१५) का अनुष्ठान केवल राजा विजिती सार्वभौम ही कर सकता है। आप० श्रौ० सू० के समान प्रत्येक राजा को ऐसा करने का अधिकार यहां नहीं दिया गया है। अश्वरक्षक तो वे ही हैं किन्तु १०० राजपुत्रों को 'तल्प्य' की संज्ञा दी गयी है और उग्रों को 'अराजा' की। राजा की तीन रानियों, महिषी, वावाता और परिवृक्ती का ही यहां उल्लेख किया गया है जो अलंकृत होकर सखियों सहित यज्ञस्थल पर उपस्थित होती हैं। आपस्तम्ब के समान चौथी रानी पालागली की यहां चर्चा नहीं की गयी। न ही आपस्तम्ब के समान अश्वरक्षकों को अपने पर्यटनों के समय रथकार के घर निवास की कोई व्यवस्था है। न ही उन्हें अश्वमेधीय यज्ञप्रक्रिया से अनभिज्ञ ब्राह्मणों को लूटने की छूट दी गयी है[1]। अश्व के विदेशाटन के समय राजा **वरुणप्रघास** प्रभृति अनुष्ठानों में व्यस्त रहता है जिनकी चर्चा अन्यत्र नहीं की गयी है।

द्वादशाह (१६) में इस बात पर विवाद किया गया है कि पशु कौन से देवता को प्रदान किया जाये—यह ऐन्द्राग्न हो, वायवीय हो, ऐन्द्र अथवा आग्नेय हों। यह विवाद ब्राह्मण-शैली में किया गया है जो सूत्र-शैली के सर्वथा अनुपयुक्त है। यहां **गवामयन** प्रभृति दीर्घसत्रों का विवरण दिया गया है। इसका **गवामयन** का विवरण ऐतरेयों के विवरणों से मिलता है किन्तु यह सप्तम मास के अन्त में एक **पृष्ठ्य** और चार **अभिप्लवों** का विधान करता है और अन्तिम मास में २ **अभिप्लव-षडह, गो, आयु, ३ स्वर-सामों, विश्वजित्, दशरात्र, महाव्रत** और **उदयनीय** का विधान करता है[2]।

---

१. आप० श्रौ० सू० २०, ५, १५-१८ का० श्रौ० सू० २०, २, १५-१६।
२. बौ० श्रौ० सू० १६, १४-१५; कीथ, ऋग्० ब्रा० भूमिका, पृ० ५७।

इस प्रसंग में अन्य श्रौतसूत्रों से कुछ भिन्न रूप में **सारस्वत-सत्र** का भी विधान किया गया है। **पञ्चरात्र** से लेकर **सप्तदशरात्र** पर्यन्त और फिर नाना प्रकार के आवर्तन—परिवर्तनों के साथ **षट्त्रिंशद्रात्र** पर्यन्त अनेक अनुष्ठानों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहां एक **पुण्डरीक** नामक याग का विवरण दिया गया है जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि इसे दुर्योधन ने किया था क्योंकि वह राजसूय नहीं कर सकता था[1]। इसके विवरण में कहा गया है कि यह **एकादश रात्रोऽयुतदक्षिणोऽश्वसहस्रदक्षिणो वा** है।

अतिरात्र (१७) में सोमयाग की संस्था **अतिरात्र** का विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसमें एक **अरुणपिशङ्ग** अश्व, **औदुम्बर षोडशिपात्र, चतुःस्रवित** प्रभृति पदार्थों का विधान किया गया है। सोम को **रोहिणी पिङ्गला एक-हायनी** गौ प्रभृति के साथ लाया जाता है। इसी प्रकरण में नाग-राजाओं तथा खाण्डव-प्रस्थ में एक राजा के जर्वर प्रभृति पुत्रों द्वारा सर्पों के विष की प्राप्ति-हेतु सम्पाद्य **सर्पसत्र** का भी विवरण दिया गया है। **सर्पसत्र** के कर्ता सर्पों का वध नहीं करते थे। **कुण्डपायिनामयन उत्सर्गिणामयन, तापश्चितामयन, छन्दश्चित, श्येन-चित** प्रभृति का विधान भी किया गया है। **सौत्रामणी** याग में सोम और इन्द्र (सुत्रामन्) को प्रदान की जाती है। सुरा को सिंह, व्याघ्र तथा भेड़िये के बालों में क्रमशः समन्त्रक छाना जाता है। यहां एक गृह्यकर्म **समावर्तन** का भी विवरण दिया गया है, जो इसकी अपनी विशेषता है। इसमें विहित अनुष्टुभ् छन्द के नवीन मन्त्रों के विधान से प्रतीत होता है कि यह उत्तरकालिक प्रक्षेप है। किन्तु यह भी सम्भव है कि सूत्रकार के मन में इस समय तक गृह्यसूत्र के निर्माण के सुनिश्चय का उदय ही न हुआ हो। अतः प्रसंगवश इसका यहीं समावेश कर दिया हो[2]। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रश्न का शेषांश भी प्रक्षिप्त है क्योंकि यहां कहा गया है, **असिशूलैः प्रतुदन्ति यमस्य प्रतिषादने**[3]। यह विचार वैदिक साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। यहां पर एक विचित्र **चतुश्चक्र यज्ञ** का विधान भी इसी ओर संकेत करता है। **चातुर्मास्य** सोम तथा उसके पर्व **वरुण-प्रघास, साकमेध** तथा **शुनासीरीय** सोम का भी विवरण इसी प्रश्न के अन्त में दिया गया है।

प्रश्न (१८) में **एकाहों** का वर्णन है। वहीं पर एक **बृहस्पति सव** का विवरण दिया गया है जिसका होता **परिस्रजी (खलति), मिर्मर (=शुक्लो विल्किधस्तिलकवान् पिशङ्गाक्षः)** एवं **त्रिशुक्र** या **त्रिवेद** होना चाहिये। ऐसा

---

१. द्र. महाभारत, सभा० ५, १००; वन०, ३०, १७।

२. वैद्य, हि० सं० लिट्०, खण्ड ३, पृ० ४३।

३. कण्डिका ४४।

विधान अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। **बृहस्पतिसव** ब्राह्मणों और क्षत्रियों दोनों के लिए विहित है और **राजसूय** से उच्चतर माना जाता है।

स्थपति के लिये **स्थपति-सव** तथा सूत ग्रामणी के लिये **सूतसव** का विधान किया गया है। इसी प्रकार **सोमसव**, **पृश्निसव** तथा **गोसव** का भी विधान किया गया है। **ओदनसव** में चारों वर्णों को निमन्त्रित किया जाता है। ब्राह्मण को सौवर्ण पात्र में मधु, क्षत्रिय को राजत पात्र में सुरा, वैश्य को कांस्य पात्र में दुग्ध और शूद्र को मृत्तिका पात्र में जल पीने को दिया जाता है। किन्तु इस यज्ञ के सम्पादन का अधिकार शूद्र को नहीं है।

एक **पञ्चशारदीय** अनुष्ठान का भी विधान है जिसमें पांच वर्षों तक प्रतिवर्ष ग्यारह बछड़ियों की बलि की जाती है। आरट्ट, गान्धार, सौवीर, करस्कर तथा कलिङ्ग देशों को जाने के कारण अपवित्र हुए व्यक्ति के लिए भी एक अनुष्ठान का विधान है, जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन विचार है।

एक और नवीन अनुष्ठान **मृत्युसव** है जिससे राजा अपने राज्य में दुर्धर्ष हो जाता है। यह राजसूय से मिलता-जुलता है। **सद्यस्क्री** और **प्रायणीय** के अनन्तर **व्रात्यस्तोम** का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है (कण्डिका, २४-२७)।

पाञ्चालों में गान्धर्वायण, बालेय, आग्निवेश्य तथा व्रात्य लोग पाये जाते थे। इनमें से **व्रात्य** एक दीर्घ विवाद का विषय बन गये हैं। अनेक प्रकार के अभिचारों का भी विवरण यहां दिया गया है। इन अनुष्ठानों के अतिरिक्त यहां उर्वशी प्रभृति की अनेक कथाएं भी वर्णित हैं (कण्डिका ३८-५१) जिनके कथानक पौराणिक कथाओं से भिन्न हैं।

यहां (कण्डिका ४२) शत, सहस्र, अयुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्द्ध ये संख्यावाचक शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि इस समय तक भारत में गणितशास्त्र पर्याप्त उन्नति कर चुका था।

काठकचयन (१९) के अन्तर्गत **सावित्रचयन** का भी वर्णन है जिसमें ८५०० सौवर्ण इष्टकाओं के प्रयोग का विधान है।

सम्भव है कि **काठकचयन** मुख्य रचना का अन्तिम प्रश्न हो क्योंकि द्वैध सूत्र (२०-२३) और कर्मान्त (२४-२६) में **प्रवर्ग्य**, **प्रायश्चित्त** और **काठक** प्रकरणों के सूत्रों से कोई परिचय व्यक्त नहीं किया गया है। वैसे बौधायन काठकशाखा से प्रभावित प्रतीत होता है। क्योंकि इसमें **अग्निहोत्र** सम्बन्धी दो मन्त्र उस संहिता से लिये गये हैं।

द्वैध (२०-२३) प्रकरण में बौधायन और अन्य आचार्यों, विशेषतः शालीकि, के यज्ञसम्बन्धी मतभेदों का वर्णन किया गया है। मतभेद के विषयों को पूर्ववर्णित

प्रश्नों के क्रमानुसार उठाया गया है। किन्तु द्वैधसूत्र में संकेतित कई एक मुख्य सूत्र उपलब्ध नहीं है। यथा—**प्राशित्रिवति द्वैधः** (२३, ८); **द्वयोर्होम** इति (२०,१९) **चरुमुखेषु** इति (२०, ८)। श्री वैद्य ने इसी वैमत्य को आधार मानकर इस प्रकरण को ही प्रक्षिप्त माना है। किन्तु श्री काशिकर के मतानुसार द्वैध और कर्मान्त दोनों ही मुख्य रचना के प्रायः समकालिक हैं, क्योंकि बौधायन गृह्य सूत्र कर्मान्त से परिचित है और कर्मान्त सूत्र द्वैध सूत्र से। और इन प्रकरणों की भाषा और शैली भी मुख्य रचना के समान ही हैं। यह सम्भव है कि इन प्रकरणों का निर्माण बौधायन के किसी शिष्य या प्रशिष्य ने किया हो[1]। इस प्रकरण में इन आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं :—

औपमन्यव, कात्य, ज्यायान् कात्यायन, गौतम, मैत्रेय, मौद्गल्य, दक्षिणाकार रथीतर, राथीतर और शालीकि।

कर्मान्त (२४-२६) प्रकरण में पूर्व प्रतिपादित १९ प्रश्नों के कर्मों तथा अनुष्ठानों की संगति लगाकर पूर्ति अथवा स्पष्टीकरण क्रम से किया गया है। कई स्थलों पर विकल्पों का भी प्रतिपादन किया गया है।

प्रायश्चित्त (२७-२९) में नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन किया गया है।

प्रवरसूत्रों (३०) में **दशपूर्णमास** इष्टि में होता और अध्वर्यु के प्रयोगार्थ विविध गोत्रों के प्रवरों का विवरण दिया गया है।

उपरिगत विवरण से प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण सूत्र एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही काल में निर्मित नहीं हुआ। इस बात के भी प्रमाण हैं कि मुख्य-सूत्र-रचना में भी कई स्थल स्थानच्युत हो गये हैं। इस विषय में द्वितीय प्रश्न विशेष विचारणीय है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि इसकी विभिन्न कण्डिकाओं का मौलिक-क्रम वर्तमान-क्रम से भिन्न रहा होगा। और बौ० श्रौ० सूत्र २, १-११ मौलिक रचना का अंश नहीं था, अपितु उत्तरवर्ती काल में इसके साथ टाँक दिया गया था। वास्तविक अग्न्याधेय का आरम्भ २, १२ से होता है। तथा २, १-४ का २, १२ में विहित कर्म से मेल बैठाना कठिन है। २,५ में विहित **पाप्मनो विनिधयः** की इस स्थान पर संगति सिद्ध नहीं की जा सकती ; २,६-७ तो स्पष्ट ही प्रक्षिप्त हैं। २,६-७ में कहा गया है—**उक्तान्यृतुनक्षत्राण्युक्तमात्मनः पुरश्चरणम्**, जो वस्तुस्थिति के सर्वथा विपरीत है। ऋतुनक्षत्रों के विषय में बौ० श्रौ० सूत्र

---

१. सर्वे०, पृ० ४४-४५।

२४,१६ में कहा गया है, **अथातः ऋतुनक्षत्राणामेव मीमांसा**[1]। २, ८-११ में विहित **गोपितृयज्ञ** न तो तै० सं० में उपलभ्य है न ही किसी अन्य शाखा में। सम्भव है कि यह यज्ञ उस समय किसी अन्य शाखा में प्रचलित हो और इस सूत्र के साथ टाँक दिया गया हो[2]।

सूत्रांश, **तदाहुर्नाऽग्न्याधेये······काव्यः**, सूत्र संख्या २,१५ के स्थान पर २,७ में होना चाहिये था। इसी प्रकार कर्मान्त सूत्र २४,१५ में **ताः संवत्सरे पुरस्तादादध्या-दिति** के द्वारा मुख्य रचना के किसी सूत्र की ओर संकेत किया गया है, किन्तु वह वहां नहीं पाया जाता, इसे २,१४ पर होना चाहिये था। द्वैध सूत्र से इस प्रकार के उदाहरण दे ही चुके हैं। २,७ में पितृयज्ञ में प्रयोज्य कुछ पदार्थों का उल्लेख किया गया है जो वस्तुतः ३,१० में होने चाहियें थे[3]। **प्रवर्ग्य** तथा **अग्निष्टोम के** वर्तमान स्थानों के विषय में भी पाण्डुलिपियों में वैमत्य पाया जाता है। व्याख्याकार भवस्वामी के अनुसार **कौकिली सौत्रामणी** वाला सूत्रांश लुप्त हो गया है। कर्मान्त-सूत्र (२४,११) **द्वौ सौत्रामण्याम् से** सिद्ध होता है कि कौकिली सौत्रामणी का भी यहां विधान किया गया है क्योंकि चरु से अदिति के लिये दो इष्टियों का विधान इसी सौत्रामणी में विहित है और द्वैध (२३,१६) तथा कर्मान्त (२६,२२) में सौत्रमणी की ओर संकेत किया गया है। मुद्रित पुस्तक में तेईसवें प्रश्न में १९ कण्डिकाएं हैं। किन्तु वहुत सी पाण्डुलिपियों में से १९वीं कण्डिका लुप्त है। यही नहीं, इस कण्डिका में प्रतिपादित बौधायन और शालीकि के विचार इनके अन्यत्र उद्धृत विचारों से मेल नहीं खाते। न ही भवस्वामी ने इस पर व्याख्या ही लिखी है। अतः सिद्ध होता है कि यह कण्डिका प्रक्षिप्त है।

यद्यपि बौधायन श्रौतसूत्र का सम्वन्ध तैत्तिरीय संहिता से है तो भी यह सौत्र शाखा ही प्रतीत होती है क्योंकि इसकी संहिता अथवा ब्राह्मण आदि की चर्चा कहीं नहीं पायी जाती। तै० सं० की अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की पूर्ति इसमें की गयी है। यथा—**उपवसथगवि** की अंगभूत द्यूत-क्रीड़ा का पूर्ण विवरण, **पाप्मनो विनिधयः** मन्त्रसमूह, **निरूढ पशुबन्ध** का अन्तिम भाग, **चातुर्मास्य** यागों की तिथियों से सम्वद्ध नियम, **राजसूय** में अभिषेकपात्र तथा धनुष के राजसभासद् को अर्पित करने का नियम, **दशपेययाग** में वंशानुक्रम के विषय में प्रश्न, **अश्वमेध** के लिये उपादेय वस्तुओं का विवरण, सव यज्ञों के विस्तृत विवरण, प्रवरावलियां,

---

१. *The Text Problem of Baudhāyana Ādhana Sutrā* by Kashikar; *ABORI* Vol. XXIX, P. 112; see also. *Baudhāyana Śrauta Sutra, II—A Fresh Study*, *JGJRI*, Vol. XV, p. 155-159. Cf. also W. Caland, *Über das rituelle Sutra des Baudhāyana*, *Leipzig*, 1903, p. 7.

२. काशिकर, सर्वे०, पृ० ४५; तथा पृ० ११७, टि० ५।

३. वही, पृ० ४६।

ज्योतिष विषयक अनेक सूचनाएं एवं द्वैध प्रकरण में उपन्यस्त विविध मतमतान्तरों का विस्तृत प्रतिपादन ऐसे ही विषय हैं। अन्य विषयों में यह संहिता का अनुमोदन भी करता है।

तैत्तिरीय संहिता पर यह कितना अधिक निर्भर है यह इस बात से प्रकट होता है कि इसमें संहिता के विचित्र और सन्देहास्पद पाठों को भी यथावत् स्वीकार कर लिया है[1]। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं क्योंकि प्रत्येक श्रौतसूत्र अपनी शाखा की ही नहीं, अन्य शाखाओं की संहिताओं को यथावत् मानकर ही प्रवृत्त हुआ है। संहिता के औपानुवाक्य (तृतीय काण्ड) के समान ही यहां पर भी (प्रश्न १४) विवरण पाया जाता है। सोलहवें प्रश्न में संहिता में वर्णित **अहीनों** और सत्रों का अविकल अनुकरण किया गया है[2]। यह सूत्र तै० सं० के मन्त्रों को सकल पाठ में उद्धृत करता है, यद्यपि इन मन्त्रों को स्पष्ट ही इसी संहिता से ग्रहण किया गया है, जबकि आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में केवल शाखान्तरीय मन्त्रों को सकल पाठ में उद्धृत किया जाता है। इससे प्रकट होता है कि बौधायन का सीधा सम्बन्ध तै० सं० से नहीं है जबकि आपस्तम्ब का है। चरणव्यूह के अनुसार आपस्तम्ब तैत्तिरीयों की खाण्डिकेय (खाण्डिकीय) शाखा से सम्बद्ध है जबकि बौधायन औखेय (औखीय) से[3]। बौधायन गृह्यसूत्र (३, ९, ६) में ऋषितर्पण के प्रकरण में 'उख' को स्मरण भी किया गया है और तैत्तिरीय प्रतिशाख्य (१०,२०; १६,५३) में 'उख संहिता' के नियम भी दिये गये हैं। इससे इन दोनों श्रौतसूत्रों के भेद की व्याख्या की जा सकती है।

यद्यपि बौ० श्रौ० सू० का सीधा सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से, और मुख्यतः तै० सं० से है तो भी वाजसनेय ब्राह्मण के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रमाणित होता है।

श० ब्रा० की दोनों शाखाओं से भाषागत साम्य इस विषय में प्रथम प्रमाण है।

> **तस्य सर्पिरासेचनं कृत्वा**, यह वाक्यांश दोनों में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है—बौधायन २, १४, ५६, ७ ; श० ब्रा० २,१,४,५।
>
> **'समवशमयति'** का प्रयोग दोनों में हुआ है—बौ० श्रौ० ९,१५,१९; श० ब्रा० ७, ३, २, १; **निरमण** (बौ० शौ० सू० १५,१; २०५१; १५,७; २१२,९) श० ब्रा० (१३,४,५,२) में प्रयुक्त हुआ है।

---

१. कीथ, तै० सं० आंग्लानु० उपोद्०, पृ० ४२।

२. द्र. कैलैण्ड *Über das rituelle Sutra des Baudhayana*, p. 16 seq.

३. किन्तु कातीय चरणव्यूह में बौधायनी शाखा भी खाण्डिकेयों के अन्तर्गत परिगणित है।

ज्योतिष विषयक अनेक सूचनाएं एवं द्वैध प्रकरण में उपन्यस्त विविध मतमतान्तरों का विस्तृत प्रतिपादन ऐसे ही विषय हैं। अन्य विषयों में यह संहिता का अनुमोदन भी करता है।

तैत्तिरीय संहिता पर यह कितना अधिक निर्भर है यह इस बात से प्रकट होता है कि इसमें संहिता के विचित्र और सन्देहास्पद पाठों को भी यथावत् स्वीकार कर लिया है[1]। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं क्योंकि प्रत्येक श्रौतसूत्र अपनी शाखा की ही नहीं, अन्य शाखाओं की संहिताओं को यथावत् मानकर ही प्रवृत्त हुआ है। संहिता के औपानुवाक्य (तृतीय काण्ड) के समान ही यहां पर भी (प्रश्न १४) विवरण पाया जाता है। सोलहवें प्रश्न में संहिता में वर्णित अहीनों और सत्रों का अविकल अनुकरण किया गया है[2]। यह सूत्र तै० सं० के मन्त्रों को सकल पाठ में उद्धृत करता है, यद्यपि इन मन्त्रों को स्पष्ट ही इसी संहिता से ग्रहण किया गया है, जबकि आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में केवल शाखान्तरीय मन्त्रों को सकल पाठ में उद्धृत किया जाता है। इससे प्रकट होता है कि बौधायन का सीधा सम्बन्ध तै० सं० से नहीं है जबकि आपस्तम्ब का है। चरणव्यूह के अनुसार आपस्तम्ब तैत्तिरीयों की खाण्डिकेय (खाण्डिकीय) शाखा से सम्बद्ध है जबकि बौधायन औखेय (औखीय) से[3]। बौधायन गृह्यसूत्र (३, ९, ६) में ऋषितर्पण के प्रकरण में 'उख' को स्मरण भी किया गया है और तैत्तिरीय प्रतिशाख्य (१०,२०; १६,५३) में 'उख संहिता' के नियम भी दिये गये हैं। इससे इन दोनों श्रौतसूत्रों के भेद की व्याख्या की जा सकती है।

यद्यपि बौ० श्रौ० सू० का सीधा सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद से, और मुख्यतः तै० सं० से है तो भी वाजसनेय ब्राह्मण के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रमाणित होता है।

श० ब्रा० की दोनों शाखाओं से भाषागत साम्य इस विषय में प्रथम प्रमाण है।

> **तस्य सर्पिरासेचनं कृत्वा**, यह वाक्यांश दोनों में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है—बौधायन २, १४, ५६, ७ ; श० ब्रा० २,१,४,५।
>
> **'समवशमयति'** का प्रयोग दोनों में हुआ है—बौ० श्रौ० ९,१५,१९; श० ब्रा० ७, ३, २, १; **निरमण** (बौ० शौ० सू० १५,१; २०५१; १५,७; २१२,९) श० ब्रा० (१३,४,५,२) में प्रयुक्त हुआ है।

---

१. कीथ, तै० सं० आंग्लानु० उपोद्०, पृ० ४२।

२. द्र. कैलैण्ड *Über das rituelle Sutra des Baudhayana*, p. 16 seq.

३. किन्तु कातीय चरणव्यूह में बौधायनी शाखा भी खाण्डिकेयों के अन्तर्गत परिगणित है।

केवल श० ब्रा० तथा बौ० श्रौ० सू० में ही यह सम्प्रैष मिलता है—

वयांसि व्याचक्ष्व (बौ० श्रौ० सू० ६, १४; ७२, ४; श० ब्रा० सूत्र० ३,३,३,३)।

वयांसि प्रब्रूहि। वयांसि सम्पश्य (श० ब्रा० का० ४,३,३,३)।

कर्मकाण्ड के क्षेत्र, विशेषतः **अग्निष्टोम**, में भी दोनों में पर्याप्त समानता है—

प्रसिद्ध वचन **कृत्तिकाः खल्विमाः प्राचीं दिशं न परिजहति** (२७,५) का समानान्तर वचन केवल श० ब्रा० में उपलभ्य है—**एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते** (२,१,२,३); काण्व—**अथैता एव प्राच्यो दिशो न यन्ति** (१,१,२,१)।

काण्व श०ब्रा० से भी भाषागत साम्य द्रष्टव्य है।

तेजनी—**दोहनी, प्रतिहित, √आश, वहस् (नं), √विच्छ, वृकल व्रतोपेत** का प्रयोग दोनों में हुआ है।

'अपोऽच्छैति' (बौधा० ११,३; श० ब्रा० का० ४,९,३,१०)।

'कर्णमाजपति' (बौधा० १५,७; काण्व—**'कर्णे आजपति'** ५,६,५,६); **'सुगुप्तं गोपायेयुः'** का प्रयोग दोनों ने किया है।

'अथैताद् उदन्वता कंसेन वा चमसेन वापिदधाति' (बौधा० १,३;५,१);

'अथोदन्वता कंसेन वा चमसेन वा मृन्मयेनापिदधाति' (श० ब्रा० का० २,३,६,११)। दोनों में याज्ञिक समानता भी उल्लेखनीय है।

श० ब्रा० का० (४, ३, ४, ७) तथा बौधा० (६,१६; १७४,७) में **'नमो मित्रस्य'** का उचारण अध्वर्यु करता है। अन्यत्र श० ब्रा० मा० (३,३,४,२४) में यह यजमान का कृत्य है।

'पितरोऽग्निष्वात्ताः' के लिये **'हविः'** दोनों में **'करम्भ'** है (बौधा० ५, १२; १४६,३ तथा श० ब्रा० का० ४,२,१,१२) जबकि श० ब्रा० मा० तथा अन्यत्र यह **'मन्थ'** कही गई है।

कैलेण्ड के मतानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि वा० ब्राह्मणों को बौधायन सूत्र से परिचय था। क्योंकि श० ब्रा० मा० ४, २, ४, ८; काण्व ५,४,४,५ में **एके** शब्द से कृष्ण यजुर्वेदीय अध्वर्युओं तथा बौ०श्रौ०सू० (७,८; २१३-२०-२१४,३ की ओर संकेत किया गया है (काण्व श० ब्रा०, भूमिका, पृ० ९८-९९)। किन्तु यह भी सम्भव है कि याज्ञिक परम्परा दोनों की एक हो। इसलिए बौधायन तथा ब्राह्मणों के पौर्वापर्य में सन्देह करने की कोई आवश्यकता न हो।

जैसे कि पहले कह चुके हैं बौधायन श्रौतसूत्र की भाषा और रचना-शैली ब्राह्मणों के समान है। अत एव इसमें ब्राह्मणों जैसी सभी विशेषताएं उपलभ्य

हैं। इसमें कारक के ऐसे प्रयोग पाये जाते है—**दक्षिणाये श्रोणेः** (४, ९) ; **समान्यो दिशः प्रतियजेत्** (२०, ३०)। शतृ प्रत्यय का प्रयोग **'आस्ते'** के साथ क्रियासातत्य के द्योतनार्थ किया जाता है, यथा—**'रमयन्तो जागरयन्त आसते'** (१५,३ ; २२,१८) **'धुन्वन्त आसते'** (९-८); **'गोपायन्नास्ते'** (१०,१)। इसी प्रकार शतृ का √इ के साथ भी प्रयोग उल्लेखनीय है—**स्तृणन्नेति** (३, ३०) ; **उत्खिदन्नेति** (११, ५)। साकांक्ष पदों का प्रयोग भी बहुत पाया जाता है—**उभौ स ईक्षत आहवनीयञ्च (गार्हपत्यञ्च)।** (३,२८); **उभौ याज्यां (वदतः) पत्नी च (यजमानश्च पत्नी च)** (५, ८)।

भारतीय परम्परा के अनुसार सम्पूर्ण बौधायन कल्प एक ही कर्ता की रचना है। इस विषय में डा० बूह्लर का भी यही निर्णय है[1] क्योंकि बौधायन धर्मसूत्र[2] में बौधायन गृह्यसूत्र[3] की ओर स्पष्ट संकेत किये गये हैं। इसी प्रकार श्रौत-सूत्र और गृह्यसूत्रों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं पाये जाते अपितु गृ०सू० स्पष्ट ही श्रौ० सू० पर आधृत हैं। भाषागत विशेषताएं भी समान ही हैं। अतः श्रौत और गृह्य भी एक ही व्यक्ति की रचनाएं हैं[4]। यद्यपि ओल्डनबर्ग इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि गृह्यसूत्र स्पष्ट ही श्रौतसूत्रों पर आधृत हैं तो भी वह यह मानने को तय्यार नहीं कि हर अवस्था में एक कल्प के अन्तर्गत सभी रचनाएं एक ही कर्ता की हैं[5]। यद्यपि उनकी इस युक्ति में बल है कि इस प्रकार की तकनीकी तथा पारिभाषिक रचनाओं के सम्बन्ध में भाषा, शैली, शब्दकोष, व्याकरण-विषयक समान त्रुटियां इस बात का अकाट्य प्रमाण नहीं हो सकतीं कि इन सभी का कर्ता भी एक ही होना चाहिये। तो भी इस विषय में परम्परा इतनी स्पष्ट तथा पुष्ट है कि उसकी उपेक्षा करने का भी कोई अकाटच हेतु नहीं दिया गया। और फिर जहां एक ही कल्प के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न कर्ताओं की कृतियां पायी जाती हैं, परम्परा उन्हें पृथक्-पृथक् मानती है, यथा—कात्यायन श्रौतसूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र। अतः परम्परा इस विषय में मान्य है कि सम्पूर्ण बौधायन कल्प का कर्ता एक ही व्यक्ति बौधायन है। यह दूसरी बात है कि कालान्तर में कल्प के विच्छिन्न हो जाने के कारण इस कल्प को दूसरे लोगों ने अपने ढंग पर संवारने सुधारने का प्रयास किया[6]।

---

१. एस० बी० ई०, उपोद्० पृ० २९, ३१।
२. १, २, ३, १५ तथा २, ८, १९, ९।
३. २, ७ तथा २, १७-१८।
४. वही; पृ० ३० तथा आगे।
५. एस० बी० ई० ३०, उपोद्० पृ० ३२-३३।
६. बूह्लर, वही, पृ० ३२।

किन्तु यह बौधायन कब और कहां निवास करते थे इस विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बौधायन श्रौत सूत्र का एक वचन है—

"तदेतां प्राचीनवंशां शालां मापयति। कृत्तिकाः खल्विमाः प्राचीं दिशं न परिजहति। तासां सन्दर्शनेन मापयेदित्येकम्। श्रोणासन्दर्शनेन मापयेदित्येकम। चित्रास्वात्योरन्तरेणेत्येतदपरम्" (२७, ५)

अर्थात् प्राची दिशा को न त्यागने वाली कृत्तिकाओं को देखकर प्राचीनवंश की शाला का माप लेना चाहिये। अथवा श्रोणा को देख कर अथवा चित्रा और स्वाति नक्षत्रों के मध्य की स्थिति में ऐसा करने के विकल्प हैं।

इस वचन के आधार पर वार्थ ने कृत्तिकाओं की इस स्थिति की कल्पना षष्ठी शताब्दी ई० में की[1] किन्तु विण्टरनित्स के अनुसार ऐसी स्थिति ११०० ई०पू० में थी[2]। डा० गोरखप्रसाद[3] के अनुसार शतपथब्राह्मण (२,१,२,३) में भी इसी स्थिति की ओर संकेत किया गया है तथा वार्थ, दीक्षित,[4] याकोबी[5] प्रभृति के अनुसार उस समय कृत्तिकाएं ठीक पूर्व में उदित होती देखी गयी होंगी और उत्तरवर्ती याज्ञिक परम्परा के अनुसार ही तब भी कृत्तिकाओं वाला पक्ष ही स्वीकार करते रहे होंगे, जबकि ये नक्षत्र तनिक उत्तर दिशा में उदय होने लगे थे। बाद में जब कृत्तिकाएं तथा श्रवणा एक ही स्थान पर उदित होते देखे गये और चित्रा तनिक दक्षिण में एवं स्वाति तनिक उत्तर में उदित होते दृष्टिगोचर होने लगे तो इन तीन विकल्पों का विधान किया गया। कृत्तिकाओं तथा श्रवणा की एक ही बिन्दु पर उदित होने की स्थिति १३३० ई० पू० में उत्पन्न हुई थी अतः इस आधार पर बौधायन का काल १३३० ई० पू० या इसके कुछ समय पश्चात् तक हो सकता है किन्तु इस गणना में भी कुछ कठिनाईयां हैं।

इतना होते हुए भी उपरि निर्दिष्ट साक्ष्य से सिद्ध होता है कि बौधायन-कल्प आपस्तम्ब-कल्प से प्राचीन है और यह अन्तर शताब्दियों का है, दशकों का नहीं है[6]। आपस्तम्ब-कल्प का रचना-काल पाणिनि से पूर्व या उसके समकालिक मानना उचित है[7] और पाणिनि का काल सातवीं शती ई० पू० के आस पास मानना

---

१. *Vide* Caland, *Über das rituelle Sūtra des Baudhāyana*, p. 37.
२. हि० इ० लिट्० भाग १, पृ० २९८।
३. एज ऑफ द बौधा० श्रौ०, सू०, जे० आर० ए० एस० १९३६, पृ० ४१८।
४. आई० ए० २४, पृ० २४५।
५. जे० आर० ए० एस० १९१०, पृ० ४६३।
६. बूह्लर, एस० बी० ई० २, उपोद्०, पृ० २४।
७. बूह्लर, वही, पृ० ४०-४३ द्र. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के प्रकरण में।

ही अधिक संगत है। अतः आप० श्रौ० सू० का काल ७००-६५० ई० पू० मानना उचित है । अतः बौधायन का काल ९००-८५० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता ।

बौधायन० की निजी विशेषताओं में अग्न्याधेय के अंगभूत **'गो पितृयज्ञ'** एक है जो अन्य किसी भी श्रौतसूत्र में प्रतिपादित नहीं है। इसी प्रकार बौधा० श्रौ० सू० के अनुसार सम्पूर्ण पिण्डपितृयज्ञ यजमान के द्वारा ही सम्पन्न किया जाना चाहिये जबकि अन्य सूत्रों में इसका प्रारम्भिक कर्म अध्वर्यु द्वारा करणीय है जो उत्तरकालिक प्रवृत्ति है। **दर्शेष्टि** में बौधायन० में घड़ा भर दूध के लिए आवश्यक गौओं के दोहने का विधान किया गया है (१, ११, ८, १३) जबकि आपस्तम्ब० (१,११,२; १२,५) के अनुसार तीन गौओं के ही दोहने का विधान है। बौधायन० की भाषा भी भारद्वाज० तथा आपस्तम्ब० से भिन्न है। अतः यह प्राचीनतम उपलब्ध श्रौत सूत्र है।

व्याख्याएं:—१. इस सूत्र पर कैलेण्ड ने अनेक व्याख्याओं की चर्चा की है। इनमें सर्वप्राचीन भाष्यकार तो भवस्वामी है (अष्टमशती) जिनका उल्लेख भट्ट भास्कर (१०वीं शती) ने किया है।

इस (भाष्य) का नाम 'विवरण' है जो अत्यन्त संक्षिप्त है और केवल अस्पष्ट कृत्यों का व्याख्यान करता है तथा प्रथम छब्बीस प्रश्नों पर ही उपलभ्य है और अत्यन्त अस्पष्ट है ।

२. दर्शपूर्णमास की व्याख्या सायण ने भी की है जिसके हस्तलेख उपलभ्य हैं।

३. चयन (प्रश्न १०) पर वासुदेव दीक्षित की व्याख्या **'महाग्नि-सर्वस्व'** भी हस्तलेखों में उपलभ्य है।

४. एकादशिनी (प्रश्न १७) पर भी वासुदेव दीक्षित की व्याख्या है।

५. कर्मान्त सूत्र (प्रश्न २४-२६) पर वेङ्कटेश्वर की व्याख्या सुरक्षित है।

६. प्रायश्चित (प्रश्न २७-२९) तथा

७. शुल्व (प्रश्न ३०) पर द्वारकानाथ यज्वा की व्याख्याएं भी विद्यमान हैं।

प्रयोग:—इस सूत्र से सम्बद्ध बहुत से प्रयोग भी लिखे गये हैं—

१. सर्वप्राचीन प्रयोगकार केशवस्वामी का 'प्रयोगसार' सभी प्रधान यागों का व्याख्यान करता है। यथा—**अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, आप्तोर्याम, सर्वतोमुख, बृहस्पति सव, द्वादशाह, पौण्डरीक, महाव्रत** तथा **अग्निचयन**। केशवस्वामी का उल्लेख

आप० श्रौ० सू० के धूर्तस्वामी के भाष्य के वृत्तिकार अग्निचित् ने किया है। आप० श्रौ० सू० के व्याख्याकार रुद्रदत्त ने भी केशवस्वामी को बहुधा उद्धृत किया है।

२. सायणाचार्य ने भी 'यज्ञसुधानिधि' में अनेक यागों पर प्रयोग लिखे हैं।

३. अनन्तदेव ने भी सत्रहवीं शती के तृतीय चरण में (१६४५-७५) में अनेक प्रयोग लिखे हैं। यह धर्मशास्त्रकार भी थे।

४. शेष वंश के अनेक पण्डितों के लिखे प्रयोग उपलभ्य हैं।

५. महादेव वाजपेयी (१७वीं शती) ने प्रश्न २,५ पर 'सुबोधिनी' नामक अतिविस्तृत व्याख्या लिखी है जो भवस्वामी के 'विवरण' पर आधृत है। यह महादेव तञ्जोर के मन्त्री त्र्यम्बकरायाध्वरी का अध्वर्यु था। सुबोधिनी में अनेक श्रौतसूत्रों को उद्धृत किया गया है। इसमें द्राह्यायण श्रौ० सू० को तो उद्धृत किया गया है किन्तु लाटचायन को नहीं। कर्मान्त से उद्धृत अनेक वचन वर्तमान बौ० श्रौ० सू० में नहीं पाये जाते। अनेक पाठभेद भी सुबोधिनी में दिये गये हैं। इसकी सहायता से बौ० श्रौ० सू० के पाठ का संशोधन किया जा सकता है। इस व्याख्या तथा एक अन्य भाष्य सहित **'पाप्मनो विनिधयः'** प्रकरण पूना विश्वविद्यालय के जर्नल (ह्युमैनेटीज़) (सं० ३३, १९७०, पृ० ४५-६०) में काशिकर द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। व्याख्याकार प्रसिद्ध बालमनोरमाकार वासुदेव दीक्षित के पिता थे।

संस्करण :—डा० कैलेण्ड द्वारा सम्पादित, बि० इण्डि० १९०४-१९२३।

वाधूल श्रौतसूत्र

सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र के व्याख्याकार महादेव ने यद्यपि वाधूल-कल्प का सत्याषाढ़कल्प के पश्चात् उल्लेख किया है तो भी वाधूल सत्याषाढ़ से उत्तरकालवर्ती कदापि नहीं हो सकता। यह बौधायनकल्प का समकालिक अवश्य है, सम्भव है प्राचीन भी हो[1]। यद्यपि इस कल्प का सम्बन्ध तैत्तिरीय शाखा से जोड़ा जाता है तो भी यह शाखान्तरीय कल्प प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें उद्धृत मन्त्र तैत्तिरीय संहिता और ब्राह्मण के मन्त्रों से सर्वथा समानता नहीं रखते। कुछ एक मन्त्र तो इनमें उपलभ्य भी नहीं हैं। कुछ एक अनुवाक यहां प्रतीक रूप में दिये गये हैं जो तैत्तिरीय संहिता या ब्रा० में नहीं पाये जाते। यथा—

---

१. काशिकर, सर्वे०, पृ० ६४, १५७।

'देवो वः सविता प्रार्पयतु' (तै० सं० १, १, १, १)।

'देवो वः सविता प्रेरयतु' (वाधूल श्रौत सूत्र)।

'जीवो जीवन्ती रुप वः सदेयम्' (तै० ब्रा० ३, ७, ४, १५)।

'जीवो जीवन्तीरुप वः सदेम' (वाधूल श्रौत सूत्र)।

अतः प्रतीत होता है कि वाधूल० की शाखा तैत्तिरीयों से तनिक भिन्न थी। 'वाधूल-कल्प-व्याख्या' में कहा भी गया है **'शाखा विनष्टा तत्क्लृप्त्यर्थः कल्पो न विनष्टः'**[1]।

बौधायन० के समान वाधूलश्रौतसूत्र में भी सभी मन्त्रों को सकल पाठ में उद्धृत किया गया है चाहे वे तै० सं० से हैं या कहीं और से। वाधूल० के नौ उद्धरण 'वैजयन्ती' में उद्धृत हैं, किन्तु वाधूल० के उपलब्ध भाग में नहीं पाये जाते।

वाधूल को गोत्र-प्रवर-सूत्रों में यास्क-भृगु-वंश से सम्बद्ध कहा गया है[2] 'प्रयोग-सन्दर्भ' की कारिका के अनुसार आपस्तम्ब वाधूल का प्रशिष्य और अग्निवेश्य का गुरु था[3]।

वा० कल्पव्याख्या के अनुसार 'विध्यवशेष' नामक एक ग्रन्थ में वाधूलों के चार विभागों का उल्लेख किया गया है जिनमें से कौण्डिन्यों तथा अग्निवेश्यों की सत्ता स्वीकार की गयी है। इसी व्याख्या में 'औखयक' का भी दो बार उल्लेख किया गया है जो कृष्णयजुर्वेद का एक ब्राह्मण प्रतीत होता है[4]।

वाधूल० की रचनाशैली बौधायन के अनुरूप है। उसी के समान यह भी प्रत्येक मन्त्र को सकल-पाठ में उद्धृत करता है और प्रत्येक इष्टि का सविस्तार वर्णन करता है और उसी के समान इसमें भी सूत्रों और ब्राह्मण-वचनों को सम्मिलित रूप में प्रस्तुत किया गया है। विचित्र बात यह है कि बौ० श्रौ० सू० (२९, १) में वाधूल के एक मत को उद्धृत किया गया है[5]। वाधूलमन्त्रसंग्रह

---

१. सर्वे०, पृ० ६६ पर उद्धृत।

२. बौधा० प्रवर, प्रश्न ५; आप० प्रवर (२४, ९, १)।

३. सर्वे०, पृ० ६७ पर उद्धृत—

आपस्तम्बः प्रशिष्योऽभूद् यस्य वाधूलकस्य तु,
अग्निवेश्यगुरुः सोऽयमृषिरस्मानिहावतु ।

कैलेण्ड ने अग्निवेश्यगुरुः को बहुव्रीहि माना है (Acta. Or. I, p. 7, v. 4).

४. क्या इस ब्राह्मण का वैखानस या औखेयसूत्र से कोई सम्बन्ध था जिसके पृथक् ब्राह्मण की चर्चा वैखानस श्रौतसूत्र प्रकरण में करेंगे ?

५. अनावृता वा वसतीवरीः प्रथमं गृह्णीयादिति वाधूलकस्य मतम् ।

भी कृत्यों के अन्त में पाया जाता है। मन्त्रसंग्रह के अनन्तर ब्राह्मणसदृश वचन भी संगृहीत हैं जिनमें कृत्यों के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनाएं हैं। व्याख्या में इन ब्राह्मणसदृश वचनों को 'अन्वाख्यान' कहा गया है जिनमें वाधूल को आधिकारिक आचार्य माना गया है। इससे प्रतीत होता है कि वाधूल स्वयं अन्वाख्यानों सहित सूत्र का रचयिता नहीं था[1]। दूसरी ओर हम यह भी जानते हैं कि भारतीय परम्परा में आचार्यों का अपने मत को स्वनामोल्लेख-पूर्वक प्रस्तुत करना सामान्य बात थी। अतः केवल इसी आधार पर कोई निर्णय लेना भ्रामक भी हो सकता है। यदि वाधूल वास्तव में आपस्तम्ब के प्राचार्य थे तो उनसे दो पीढ़ी पूर्व होने के कारण इनका रचनाकाल ७०० ई० पू० से कुछ पूर्व होना चाहिए। प्रा० काशिकर के अनुसार तो वाधूल बोधायन से भी प्राचीन हो सकता है, दोनों की रचना-शैली प्रवचनात्मक है[2]।

इसमें कुल पन्द्रह प्रपाठक उपलभ्य हैं जिनमें प्रपाठकों, अनुवाकों, और पटलों की संख्या नहीं गिनायी गयी। किन्तु सूत्रकार प्रत्येक पटल के अन्त में अन्तिम शब्दों को दोहरा कर पटल की परिसमाप्ति की सूचना दे देते हैं। इसी प्रकार अनुवाकों और प्रपाठकों के अन्त को भी सूचित कर दिया जाता है। किन्तु प्रयोग-सन्दर्भ-संग्रह तथा कल्पागम-संग्रह-व्याख्या में प्रपाठकों और अनुवाकों की संख्या गिना दी गयीं है। सूत्र में विषय व्याख्या इस प्रकार की गई है—

प्रपाठक :—१ अग्न्याधेय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान तथा प्रवासोपस्थान (६ अनुवाक या अध्याय)।

२ पुरोडाशी (३ अनुवाक)।

३ याजमान, आग्रयण तथा ब्रह्मत्त्व (५ अनुवाक)।

४ चातुर्मास्य (५ अनुवाक)।

५ पशुबन्ध (३ अनुवाक)।

६ ज्योतिष्टोम (८ अनुवाक)
७ ज्योतिष्टोम (७ अनुवाक) } दोनों प्रपाठक एक भी हो सकते हैं।

८ अग्निचयन (१५ अनुवाक)।

९ वाजपेय (३ अनुवाक)।

१० राजसूय, (सौत्रामणी सहित) (५ अनुवाक) (अपूर्ण)।

११ अश्वमेध (९ अनुवाक)।

---

१. काशिकर, सर्वे०, पृ० ६८।

२. सर्वे० पृ० १५७।

प्रपाठकः—१२ अप्तोर्याम (४ पटल), पवित्रेष्टि और प्रवर्ग्य (१३ पटल)।

१३ अग्निष्टोम का याजमान, मन्त्रसंग्रह, अग्न्याधेय-ब्राह्मण (१० अनुवाक) अग्निहोत्र-ब्राह्मण; पशुबन्ध-ब्राह्मण (५ पटल); अग्निष्टोम-ब्राह्मण, अग्निचयन-ब्राह्मण (अपूर्ण), इष्टि, पशु सम्बन्धी प्रायश्चित्त, तथा प्रवर्ग्य।

१४ अहीन (१० अनुवाक)।

१५ एकाह (१५ अनुवाक)।

वाधूल श्रौतसूत्र अभी तक अप्रकाशित है और जो पाण्डुलिपि प्राप्त हुई है वह कई अंशों में अपूर्ण प्रतीत होती है। डा० कैलैण्ड ने इसका अध्ययन किया है और उसके परिणाम कई एक लेखों में प्रकाशित किये हैं[१]। उन्हीं लेखों का संक्षेप काशिकर ने सर्वे० ऑफ द श्रौतसूत्रज में दिया है जिसके आधार पर उपरिलिखित विवरण दिया गया है। काशिकर ने कुछ और तथ्य भी प्रकाशित किये हैं। यथा वाधूल श्रौतसूत्र में कृत्यों के समय अन्य सूत्रों से अधिक अवसरों पर जल के स्पर्श का विधान है। यथा **दर्शपूर्णमास** में व्रीहि-अवहननार्थ कृष्णाजिन बिछाने के अनन्तर। इस सूत्र की एक विशेषता यह भी है कि कई अवसरों पर यह आचार्य शालीकि की सम्मति को स्वीकार करता हुआ लक्षित होता है जो बौध० श्रौ० सू० के द्वैधसूत्र में व्यक्त की गयी है, यथा—वेदि पर बिछाने से पूर्व कुशों का प्रोक्षण करके अध्वर्यु को प्रोक्षणीपात्र को उत्कर के पूर्व में रखने का आदेश है।

ऐसे ही प्रकरण के समय, बौधायन० के अनुसार, होता का नाम धीमे स्वर में लेना चाहिए। किन्तु शालीकि के अनुसार अध्वर्यु को होता का नाम उच्च स्वर में लेना चाहिए। इस विषय में भी वाधूल शालीकि के मत को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

प्रायेण श्रौतसूत्रों में ब्रह्मत्व और याजमान प्रकरण आध्वर्यव से पृथक् दिये जाते हैं। किन्तु वाधूल० में कभी-कभी याजमान को याजमान और आध्वर्यव दोनों प्रकरणों में रखा गया है जो वाधूल की प्राचीनता का द्योतक है[२]। 'वाधूल-

---

१. *Über das Vadhula Sutra* (Acta. Orientalia, Lugduni Batavorum) Vol. I, 1923, p. 3-11. *Eine zweite Mitteilung Über das Vadh, S., ibid*, Vol, II, 1924, p. 142-167. *Eine dritte Mitteilung üb. d. Vādh. S., ibid.* 1926, p. 161-213 Vol. IV, p. 1-41. *Eine Vierte Mitt. üb. d. Vādha. S. it,* Vol. VI, 1928, p. 97-241.

२. काशिकर, सर्वे० पृ० १२०-१२१, टि० ५७।

कल्पव्याख्या' में दो बार 'सौशारद' शब्द का प्रयोग किया गया है—**सौशारदेऽनुपदे** जिसका संकेत 'सुशारद द्वारा निर्मित रचना' की ओर है। सम्भवतः इस नाम की रचना वाधूल० का परिशिष्ट था, जैसे 'कर्मान्त' बौ० श्रौ० सू० का परिशिष्ट है।

भाषा : वा० श्रौ० सू० की कुछ भाषागत विशेषताएं इस प्रकार हैं—

विभक्तियां—सप्तमी=चर्मन्, शीर्षन्, वर्त्मन्, ऋषभचर्मे, शारदूलचर्मे।

स्त्रीलिंग—तिरीची।

क्रियाएं—तक्ष्णुवन्ति।

विधि०—सिञ्चयात्; विन्द्यात्।

लेट्—प्रतितिष्ठासै; प्रयच्छासै; समश्नवतै।

लोट्—दोहतात्, सन्तृन्तात्।

लृट्—लोष्यन् (लविष्यन्) प्रणयिष्यामि।

लुङ्—विसृष्ठाः, अच्योष्ट।

यङ्लुक्—उपसासृजति, देदिश्यते, नेनीयते।

सन्—जिगृहीषेत्, ज्ञीप्सति, जिजनिषन्ति।

—तवै—एष्टवै, अपयितवै।

—तु—परिव्येतोः, प्रहर्तोः।

कारक—(सम्प्रदान)—प्रस्तरायोपसन्नत्य।

(अपादान)—प्रपथात् समिधं कुरुते 'देशे' के अर्थ में 'काले'— औदुम्बरायै काले (६, १) उपरवाणां कालः।

व्याख्याएं : १. कल्पागमसंग्रह—आर्यदास (या आचार्यपाद)-विरचित, प्रायः पूर्ण; अभी तक अप्रकाशित है।

२. प्रयोगसन्दर्भ (या प्रयोग कल्पना), शिवश्रोण विरचित, विस्तृत प्रयोग अभी तक अप्रकाशित है।

३. कारिकाएं जो प्रयोग विषयक ही हैं। इनके कर्ता के विषय में कुछ ज्ञात नहीं ये तीनों रचनाएं 'वाधूलकल्पव्याख्या' नामक हस्तलेख में ही सन्निहित है।

संस्करण : अभी तक यह ग्रन्थरत्न अप्रकाशित ही है, किन्तु इसका हस्तलेख गो० ओ० मैनस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास, में सुरक्षित है। संख्या, R 4375.

मानव श्रौतसूत्र

मानवश्रौतसूत्र मैत्रायणीयों से सम्बद्ध है। इसे मानव, मानवमैत्रायणीय तथा मैत्रायणीय श्रौतसूत्र अनेक संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। हेमाद्रि के अनुसार मैत्रायणीय को मानव से भिन्न मानना चाहिये। चरणव्यूह के अनुसार मानव मैत्रायणीयों की ही एक शाखा का नाम है। इससे हेमाद्रि के कथन की पुष्टि होती है। मानवश्रौतसूत्र मैत्रायणीय संहिता से सम्बद्ध कहा जाता है क्योंकि इसमें मै० सं० के मन्त्र प्रतीकरूपेण उद्धृत किये गये हैं, जबकि अन्य संहिताओं के सकल-पाठेन उद्धृत हैं। तो भी कम से कम दो ऐसे उदाहरण हैं जिनमें इस संहिता के मन्त्रों को भी सकल-पाठेन उद्धृत किया गया है[1] और क्योंकि यही मन्त्र वाराह श्रौ०सू० में भी सकल-पाठेन उद्धृत किये गये हैं, इसमें सन्देह होता है कि मा० श्रौ० सू० तथा वाराह श्रौ० सू० का सम्बन्ध वर्तमान मै० सं० से न होकर किसी अन्य संहिता से न हो। इस बात का संकेत हेमाद्रि के मा० श्रौ० सू० तथा मै० श्रौ० सू० में भेद करने के आग्रह से भी मिलता है।

मानवकल्प के अन्तर्गत मा० गृ० सू० के व्याख्याकार अष्टावक्र के मत में यह सूत्र मानवाचार्य द्वारा विरचित 'पूरण' है। मा० श्रौ० सू० के सम्पादकों ने उपलब्ध हस्तलेख के आधार पर इसके प्रतिपाद्य विषयों का एक विशेष क्रम स्वीकार किया है, जबकि अन्य पाण्डुलिपियों के अनुसार अन्य क्रम भी सम्भव हैं। स्वीकृत विषय-क्रम इस प्रकार है :—

भाग	अध्याय	विषय
१	१-४	दर्शपूर्णमास ।
,,	५	अग्न्याधेय ।
,,	६, १-३	अग्निहोत्र ।
,,	६, ४	आग्रयण ।
,,	६, ५	पुनराधेय ।
,,	७	चातुर्मास्य ।
,,	८	पशुयाग ।
२	२,१,१-२,५,५,२८	अग्निष्टोम ।
३	३,१,९-३,८,९	प्रायश्चित्त ।
४	४,१,१-४,८,४	प्रवर्ग्य ।
५	५,१,१,१-५,२,१६,२५	इष्टिकल्प ।

---

१. मा०श्रौ०सू० १, १,१, ४६ > मै० सं० ४, १,२; ३,२०-२१, तथा मा०श्रौ०सू० १,१, ३-३२७ मै० सं० ४,१,३ : ५, ८-९; (वाराह० श्रौ० सू० में भी ये मन्त्र क्रमशः १, २, १, २८ तथा १, २, २, २८ में सकलपाठेन पठित हैं)।

भाग	अध्याय	विषय
६	६,१,१,१-६,२,६,३२	चयनकल्प ।
७	७,१,१,१-७,२,८,२६	वाजपेय (द्वादशाह, गवामयन) ।
८	८,१,१-८,२६,१४	अनुग्राहिक (अनुग्रहिक) ।
९	९,१,१,१-९,१,५,४९	राजसूय ।
,,	९,२,१,१-९,२,५,३५	अश्वमेध ।
,,	९,३,१,१-९,३,८,३३	एकाह ।
,,	९,४,१,१-९,४,३,४०	अहीन ।
,,	९,५,१,१-९,५,४,४४	सत्त्र ।
,,	९,५,५,१-९,५,६,२८	गोनामिक ।
१०	१०,१,१,१-१०,१,४,८	शुल्बसूत्र ।
,,	१०,२,१,१-१०,२,५,१९	उत्तरेष्टक ।
,,	१०,३,१,१-१०,३,७,७	वैष्णव ।
११	११,१,१,१-११,७,३,७	परिशिष्ट ।
,,	११,८,१,१-११,८,१०,२१	प्रवराध्याय ।
,,	११,९,१,१-११,९,४,२३	श्राद्ध ।

सम्पादक के अनुसार मूल मानवश्रौतसूत्र पांच भागों में विभक्त रहा होगा। (१) **प्राक् सोम**, (२) **इष्टिकल्प**, (३) **अग्निष्टोम**, (४) **राजसूय** तथा (५) **चयन**, जिनमें क्रमशः ८, २, ५, ६ एवं ५ अध्याय रहे होंगे। **प्रवर्ग्य**, **अनुग्राहिक**, **शुल्ब** तथा **परिशिष्ट** इसमें समाविष्ट नहीं रहे होंगे या सम्भव है **प्रवर्ग्य** **राजसूय** से सम्बद्ध रहा भी हो किन्तु अधिक सम्भावना इसके बाद में समाविष्ट होने की है। **शुल्ब** तथा **प्रवर्ग्य** परिशिष्टों में रहे होंगे। **अनुग्राहिक** तथा अन्य **परिशिष्ट** श्रौतसूत्र के अनिवार्य अंग नहीं हैं।

यद्यपि **राजसूय** तथा **चयन** का प्रतिपादन बाद में किया गया है तो भी इष्टिकल्प में उनके संकेत किये गये हैं। इष्टिकल्प का उत्तरभाग **इष्टियों** से उतना सम्बद्ध नहीं है तथा इसका क्रम भी अव्यवस्थित सा है। **काम्येष्टियों** (५,१,५-५,२,३,५) के बीच में **सौत्रामणी** (खण्ड ४) का समावेश कर दिया गया है। जबकि **कौकिली सौत्रामणी** (खण्ड ११) का प्रतिपादन बाद में किया गया है। इनके मध्यवर्ती खण्ड ८-१०, १२, १३ **पशुबन्ध** से सम्बद्ध हैं, इनमें भी खण्ड ९ तथा १३ का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, इनके मध्य में तीन खण्डों का

व्यवधान केवल क्रमबाधक होने के अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं रखता। अत: यह असम्भव नहीं कि खण्ड ७-१०, तथा १२-१६ (ब्रह्मत्व) पश्चात्कालिक प्रक्षेप हों। एक और हस्तलेख के अनुसार गोनामिक का स्थान यहीं खण्ड १५-१६ में होना चाहिये तथा ब्रह्मत्व का खण्ड १७-१८ में। गोनामिक का आरम्भ चतुर्होतृक मन्त्रों से होता है जिसके कारण इसका सम्बन्ध १४वें खण्ड के होतृमन्त्रों से हो जाता है। अतः स्पष्ट ही इष्टिकल्प के क्रम में व्यत्यास तथा अव्यवस्था पायी जाती है।

इसी प्रकार अनुग्राहिक में ऐसे खण्ड हैं जिनका सम्बन्ध श्रौत से नहीं है। इसमें भी एक ऐसा सूत्र (८,१८,१) है जिसमें अश्वमेध तथा पुरुषमेध का प्रतिपादन कर चुकने की बात कही गयी है[1]। किन्तु अश्वमेध का प्रतिपादन राजसूय-प्रकरणान्तर्गत (९, २) किया गया है। जबकि पुरुषमेध की इस सूत्र में चर्चा तक नहीं की गयी। अतः सिद्ध होता है कि अनुग्राहिक प्रकरण भी पश्चात्कालिक प्रक्षेप ही है।

परिशिष्टों के अन्तर्गत भी तीन प्रकरण हैं। प्रथम में तो यमलशान्ति (पुत्रों, गौओं या घोड़ियों के जोड़े उत्पन्न होने पर शान्तिकर्म), आश्लेषा शान्ति (आश्लेषा नक्षत्र में सन्तान उत्पन्न होने पर शान्तिकर्म) तथा रुद्रजप-सदृश कर्मों का विधान किया गया है जो मुख्यतः गृह्यकर्म हैं[2]। द्वितीय प्रकरण प्रवराध्याय का है, जिसे कहीं भी परिशिष्ट नहीं माना जाता। यह प्रवराध्याय कात्यायनविरचित प्रवराध्याय से इतना मिलता है कि दोनों के एक ही मूल से निस्सृत होने की सम्भावना बहुत अधिक है। तृतीय श्राद्ध प्रकरण है जो स्पष्ट ही गृह्यविषय है और एक हस्तलेख में इसे गृह्यसूत्र से पूर्व रखा भी गया है[3]। इसे भी परिशिष्ट नहीं कहा जा सकता, उल्टा इसी का एक परिशिष्ट चतुर्थ खण्ड में है।

मा० श्रौ०सू० का आप० श्रौ०सू० से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें विषयगत समानता होते हुए भी शब्दगत साम्य नहीं पाया जाता। मा० श्रौ०सू० इतना संक्षिप्त है कि इसके अर्थों को स्पष्ट करने के लिये आप० श्रौ०सू० की सहायता अपेक्षित होती है। फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि दोनों की परम्पराएं भिन्न-भिन्न हैं। दोनों में से मूलतः कौन-सा सूत्र अधिक प्राचीन है, यह कहना भी कठिन है किन्तु अपने वर्तमान रूप में तो आप० श्रौ० सू० ही मा० श्रौ० सू० का आंशिक रूप में उपजीव्य प्रतीत होता है। गार्बे के मतानुसार मा० श्रौ० सू० का

---

१. व्याख्यातोऽश्वमेधः पुरुषमेधश्च, सर्वमेधं व्याख्यास्यामः।

२. तु. इति मानवगृह्यपरिशिष्टे रुद्रजपविधानप्रारम्भः। (एक हस्तलेख) भूमिका, पृ० ५।

३. भूमिका, वही।

रचनाकाल आप० श्रौ० सू० से प्राचीन है[1] और रामगोपाल ने भी यही विचार प्रकट किया है[2]।

किन्तु ये सभी अपनी-अपनी कल्पनाएं हैं, कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये गये।

व्याख्याएं :—१. प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट ने केवल इसी श्रौतसूत्र पर भाष्य लिखा था जो केवल **प्राक्सोम** भाग पर उपलभ्य है। इसमें उन्होंने शवर को भी दो बार उद्धृत किया है, जिससे प्रतीत होता है कि शवरस्वामी ने भी इस पर या किसी अन्य श्रौतसूत्र पर व्याख्या लिखी थी जो स्वयं कृष्णयजुर्वेदीय कल्प के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। कुमारिल की व्याख्या सामान्य व्याख्या न होकर कल्प के विषय पर शास्त्रार्थ के रूप में है जिसमें अन्य मतों का खण्डन भी किया गया है। किन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि मीमांसा सूत्रों (१, ३, १०-१२) की व्याख्या में कुमारिल ने बोधायन, वराह, मशक, आश्वलायन, बैजवाप, द्राह्यायण, लाटचायन, कात्यायन तथा आपस्तम्ब के सूत्रों का तो उल्लेख किया है, किन्तु उस मा० श्रौ० सू० की ओर संकेत भी नहीं किया जिस पर उन्हों ने व्याख्या लिखी है। इसी प्रकार शवर ने भी मशक, हास्तिक और कौण्डिन्य कल्पसूत्रों की तो चर्चा की है किन्तु मा० श्रौ० सू० का उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार वैदिक भाष्यकार माधव ने बोधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन और कात्यायन का तो उल्लेख किया है किन्तु मानव की चर्चा नहीं की। यह एक ऐसा रहस्य है जिस पर से अभी तक पर्दा नहीं हटाया जा सका[3]। कुमारिल की व्याख्या का सम्पादन गोल्डस्टूकर ने (लन्दन १८६१) किया था।

२. **'प्राक् सोम'** पर ही मिश्र बालकृष्ण कृत 'मानव सूत्र वृत्ति' के अनेक हस्तलेख उपलभ्य हैं, तो भी यह अभी तक अप्रकाशित ही है।

३. अग्निस्वामी द्वारा विरचित 'अग्निष्टोम भाष्य' भी अप्रकाशित है।

---

१. आप० श्रौ०, भूमिका पृ० २२-२४।

२. रामगोपाल, इण्डि० कल्पसू०, पृ० ८४-९०।

३. See, D.V. Garge, *Citations from the Śabarbhāṣya*, Intro. p. 8-12.

४. नारदपुत्र शिवदास कृत 'मानव शुल्ब भाष्य'[1] प्राप्य है।

५. बालकृष्ण मिश्र कृत पद्धति तथा अन्य कई बेनाम पद्धतियाँ उपलभ्य है किन्तु सम्पूर्ण सूत्र पर एक भी नहीं।

६. अग्निष्टोम पद्धति, कलकत्ता संस्कृत कालेज में सुरक्षित है। इसमें प्राक्सोम से उदाहरण दिये गये हैं तथा प्रायेण सम्पूर्ण प्रवर्ग्य उद्धृत किया गया है।

७. गैल्डर ने किसी 'कुमार' कृत व्याख्या का भी उल्लेख किया है।

संस्करण : १. भाग १-५, फ्रीड्रिख क्नावर (Friedrich Knauer) द्वारा सम्पादित, सेंट पीटर्स०, १९००-१९०३ ; कैलैण्ड ने इस संस्करण के पाठ में अनेक संशोधनों का सुझाव दिया था[2]। अभी भी इसमें संशोधन की आवश्यकता है[3]।

२. भाग ६ (चयन) का सम्पादन जे० एम० फान्० गैल्डर ने किया था, १९१९।

३. गैल्डर महोदया ने ही सम्पूर्ण श्रौतसूत्र का सम्पादन करके १९६१ में नैशनल अकादमी आफ़ इण्डियन कल्चर, नई दिल्ली, से प्रकाशित कराया है।

४. इसका आँग्लानुवाद भी १९६३ में इन्होंने ही वहीं से प्रकाशित कराया है।

भारद्वाज श्रौतसूत्र

यद्यपि श्रौतसूत्रों के पौर्वापर्य का निश्चय करना दुष्कर कार्य है तो भी आजकल के वेदज्ञों के मतानुसार मानव श्रौतसूत्र के उपरान्त भारद्वाज श्रौतसूत्र का वर्णन समीचीन प्रतीत होता है, यद्यपि, जैसे हम देखेंगे, कई एक संकेतों से भार० श्रौ० सू० का निर्माण-काल बौ० श्रौ० सू० के अनन्तर प्रतीत होता है।

भार० श्रौ० सू० सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है। यह ग्रन्थ पन्द्रहवें प्रश्न की पञ्चम कण्डिका तक ही उपलभ्य है और इसका विषय-विभाजन इस प्रकार किया गया हैं।

---

१. *Cf.* N.K. Mazumdar, *J. Deptt. Letten, Cal. Univ.*, Vol. 8, 1922.

२. *Deutsche Literaturzeitung* 1901 ; *GGA* 1902; 1904; *ZDMG Vol. LVIII*, 1904, p. 505-517.

३. काशिकर, सर्वे० पृ० १२१, टि० ६९।

प्रश्न १—३,१-१३	दर्शपूर्णमास (आध्वर्यव)।
३,१४-१८	,, (ब्रह्मत्व)।
४	,, (याजमान)।
५	अग्न्याधेय।
६,१-१४	अग्निहोत्र।
६,१५-१८	आग्रयण।
७	निरूढपशुबन्ध।
८	चातुर्मास्य।
९	पूर्व प्रायश्चित्त।
१०-१४	ज्योतिष्टोम, प्रवर्ग्य (आध्वर्यव)।
१५,१-५	,, (ब्रह्मत्व)।

अन्य श्रौतसूत्रों में उद्धृत किन्तु अनुपलभ्य भारद्वाज श्रौतसूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि भार० श्रौ० सू० में किसी समय **दाक्षायण यज्ञ**, **वैकल्पिक पशु याग**, **सोम** तथा **निरूढपशुबन्ध** से सम्बद्ध प्रायश्चित्त, **पश्वैकादशिनी** तथा **अश्वमेध** से सम्बद्ध प्रकरण भी सम्मिलित थे, जो अब लुप्त हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त भारद्वाज के नाम से प्रसिद्ध 'परिशेषसूत्र' में भी ऐसे अनेक विषयों के सूत्रों के किसी समय पाये जाने के संकेत हैं जो इस समय वहां उपलभ्य नहीं हैं। उपरिनिर्दिष्ट विषयों के अतिरिक्त इन विषयों का भी वहां निर्देश पाया जाता है—**चातुर्मास्य हौत्र**, **निरूढपशुबन्ध** का **याजमान**, **नक्षत्रेष्टि**, **प्रायश्चित्त** सहित **अग्निचयन**, **हौत्रपरिभाषा**, **वाजपेय**, **साग्निक एकाह**, **द्वादशाह**, **काम्या इष्टयः**, **राजसूय**, **सत्त्र**, **एकाह**, **यूपैकादशिनी** तथा **अतिपवित्रेष्टि**। इस सूत्र में **दर्शपूर्णमास** के अतिरिक्त और किसी कर्म का हौत्र नहीं दिया गया। इसीलिये जहां तै० ब्रा० से अन्य मन्त्रों को उद्धृत किया गया है वहां तत्रत्य हौत्र मन्त्रों का उपयोग यहां नहीं किया गया।

भार० श्रौ० सू० का सम्बन्ध तै० सं० से होने के कारण तत्रत्य मन्त्रों को उद्धृत करना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त यह आध्वर्यव वेद की अन्य शाखाओं से भी उद्धरण प्रस्तुत करता है जिनमें मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता तथा वाजसनेय संहिता सभी सम्मिलित हैं।

तैत्तिरीय आध्वर्यव शाखा से सम्बद्ध आश्मरथ्य तथा आलेखन के नामों का इस सूत्र में अनेक बार उल्लेख किया गया है। इन दोनों आचार्यों का अनेक ऐसे विषयों पर वैमत्य रहा है जिनके सम्बन्ध में तै० ब्रा० में कोई विशेष विधान नहीं किया गया। इनमें आश्मरथ्य तो परम्परागत विचारधारा के

पोषक प्रतीत होते हैं और आलेखन कर्मकाण्ड के नवीन और सरल रूप के प्रतिपादक हैं[1]।

बौ० श्रौ० सू० से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि दोनों सूत्रों में कई विषयों में समानता है तो अन्य में विषमता। बौ० श्रौ० सू० की अपेक्षा भार० श्रौ० सू० कर्म का प्रतिपादन संक्षेप से करता है। यह मन्त्रों को सकल-पाठ में उद्धृत नहीं करता। बौ० श्रौ० सू० में मन्त्रों को कर्म से पूर्व उद्धृत किया जाता है, तो भार० श्रौ० सू० में कर्म के विधान के बाद। बौ० श्रौ० सू० के समान ही भार० श्रौ० सू० में परिभाषा प्रकरण पृथक् नहीं दिया गया, किन्तु कुछ एक सूत्र[2] परिभाषा का प्रतिपादन करते हैं। बौ० श्रौ० सू० में तैत्तिरीय शाखा के विभिन्न ब्राह्मणों का भी उल्लेख किया गया है किन्तु भार० श्रौ० सू० इनका उल्लेख नहीं करता। बौ० श्रौ० सू० के द्वैध-प्रकरण में निर्दिष्ट आचार्यों का निर्देश भार० श्रौ० सू० में नहीं किया गया। इसी प्रकार भार० श्रौ० सू० में उल्लिखित अनेक आचार्यों की चर्चा बौ० श्रौ० सू० में नहीं की गयी। श्रौतसूत्रों में **प्रवर्ग्य** का प्रतिपादन प्रायः **अग्निष्टोम** के अनन्तर पृथक् प्रश्न में किया जाता है। भार० श्रौ० सू० में यह प्रकरण **ज्योतिष्टोम** के अन्तर्गत **आतिथ्येष्टि** के अनन्तर आता है जो इसका वास्तविक स्थान नहीं है। अतः अनुमान किया जाता है कि यह प्रकरण उत्तरकाल में किसी कारणवश यहाँ लाया गया है[3]। बौ० श्रौ० सू० में विहित **गोपितृयज्ञ**, जो **अग्न्याधेय** का अंश है, किसी अन्य श्रौत-सूत्र में नहीं पाया जाता। बौ० श्रौ० सू० की अन्य विशेषताएं भी भार० श्रौ० सू० में नहीं पायी जातीं। अतः यह बौ० श्रौ० सू० से परवर्ती प्रतीत होता है। कृष्ण यजुर्वेद के अन्य प्रसिद्ध सूत्र आप० श्रौ० सू० से भी इसकी तुलना लाभदायक होगी।

रचना-क्रम की दृष्टि से सत्या० श्रौ० सू० के व्याख्याता महादेव ने अपनी व्याख्या 'वैजयन्ती' (प्रस्तावना, श्लोक ७-९) में भारद्वाज को आपस्तम्ब से पूर्व रखा है जिसे प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है[4]। आप० श्रौ० सू० की रचना-शैली भार० श्रौ० सू० की शैली से अधिक प्रौढ़ है तथा उसमें पृथक् परिभाषा प्रकरण है। भार० श्रौ० सू० आगामी विषय का पूर्वाभास प्रायः दे देता है, यथा—६,७,९ में कहा गया है—**तस्य वैश्वदेविकेनैककपालेन कल्पो व्याख्यातः,**

---

१. काशिकर जे० ए० एस०, बम्बई, भाग ३६-३७, (१९६४) पृ० ३७।

२. भार० श्रौ० सू० १,१; ६,१५-१६ ; ९, १।

३. काशिकर, सर्वे० पृ० ५४-५५।

४. मॅक्समूलर, हि० ए० सं० लिट्, पृ० ३७१; बूह्लर, एस० बी० ई०, भाग, २, पृ० १६; गार्बे, आप० श्रौ०, भाग ३, भूमिका, पृ० १७; Caland, *Über das Rituelle Sutra des Baudhāyana*, p. 2-11; Winternitz, *Alt. Hoch*, p. 5 ff; कीथ, तै० सं० आंग्लानु०, भूमिका, पृ० ४५।

जिसका वास्तविक प्रतिपादन आगे ८,२,१५-१६ में किया गया है। इसी प्रकार ८,१,७ में कहा गया है—**दर्शपौर्णमासिक आहवनीयः स्यादित्येके सौमिक इत्यपरम्,** जबकि सोमयाग का प्रतिपादन आगे प्रश्न १०-१२ में किया गया है। नवें प्रश्न में प्रतिपादित प्रायश्चित्तों के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि आप० श्रौ० सू० में कई प्रायश्चित्त अधिक विहित हैं। आप० श्रौ० सू० ९, ११, १७; १२,१२ के समानान्तर भार० श्रौ० सू० में कोई प्रायश्चित्त नहीं है। भार० श्रौ० सू० **सोमयाग** को **ज्योतिष्टोम** की संज्ञा देकर पांचों संस्थाओं का विवरण प्रस्तुत करता है (प्रश्न १०-१५), जबकि आप०श्रौ०सू० ने इसे '**अग्निष्टोम**' की संज्ञा दी है (प्रश्न १०-१३) और अन्य चार संस्थाओं का विवरण चौदहवें प्रश्न में पृथक् दिया है। इसी प्रकार **आतिथ्येष्टि** के बाद सामान्य क्रम यह है—**तानूनप्त्र, आप्यायन, निह्नव, सुब्रह्मण्या,** किन्तु भार० श्रौ०सू ने **प्रवर्ग्य, तानूनप्त्र** प्रभृति का क्रम रखा है। अतः भार०श्रौ० सू० निश्चित रूप से आप०श्रौ०सू० से प्राचीन है। यदि बौ०श्रौ०सू० का रचनाकाल ८०० ई०पू० है आप०श्रौ०सू० का ७०० ई०पू० तो भार०श्रौ०सू० का रचनाकाल इन दोनों के मध्य में ७५० ई० पू० के आस-पास अवश्य होना चाहिये। इस विषय में यह बात स्मरणीय है कि ये दोनों श्रौतसूत्र पाणिनि-पूर्वकालिक हैं, या पाणिनि के इतने निकटस्थ हैं कि ये उस आचार्य के प्रभाव से सर्वथा अछूते रह गये। भार० श्रौ० सू० की भाषा आप० श्रौ० सू० की भाषा के समान ही है और वैदिक शब्दावली से पर्याप्त प्रभावित है। यथा—

१. आकारान्त स्त्री० शब्दों का पञ्चमी-षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग—प्रतिष्ठायै (२, २, १०); अजायै (९, ४, ७); दक्षिणायै (८,५,१५)
२. चुरादियों का विधि०, प्र०एक० में—येत के स्थान पर—यीत का प्रयोग—प्रक्षालयीत (९,५,३); आमन्त्रयीत (१०,७,१५)
३. तुमुन्नर्थक—तु का प्रयोग—अपाकर्तु (४,३,४) आहर्तु (४,३,३) होतु (६,११,५)
४. णमुलन्तों का प्रयोग—अविवेकम् (१,७,५) प्रत्यगपवर्गम् (१,६,१०); अभिसमाहारम् (२,४,४); अभिक्रामम् (३,६,५)

पाणिनि के उत्तरकालिक साहित्य में इनका प्रयोग अत्यन्त परिसीमित है।

५. विचित्र शब्द—समयाक्षम्, (१३, १२, १२) समयाध्वे (५, ८, ९) अनाश्वान् (५,६,१३)
६. प्रगृह्य स्वरों की सन्धि—उत्तरेण हविर्धानेऽपरेण (१५,२,६)
७. अपाणिनीय सुबन्त—एकपर्वे (=पर्वणि) (६,५,१६)
८. अनुप्रयुज्येरन् (=अनुप्रयुञ्जीरन्) (१०,७,१७)

यद्यपि भिन्न रचनाओं में भाषागत भेद पाया जाता है तो भी केवल इसी आधार पर कालक्रम का निर्णय करना संगत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भाषा-भेद काल के अतिरिक्त भौगोलिक स्थिति तथा व्यक्तिगत रुचि एवं परम्परा से जुड़े रहने की प्रवृत्ति पर भी निर्भर करता है। परम्परा का अनुकरण धार्मिक रचनाओं में स्वभावतः अधिक पाया जाता है। वैदिक कर्मकाण्ड के विकास पर तो कालक्रमागत तथा भौगोलिक परिस्थितियों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि एक ही वेद को अनेकानेक शाखाओं में विभक्त कर देने के सर्वाधिक प्रभावशाली कारण यही दो बने[1]।

बौ०श्रौ०सू० के साथ इस सूत्र का भाषागत विभेद अधिक है। बौ० श्रौ० सू० द्वारा प्रयुक्त अनेक विचित्र शब्दों का यहां अभाव पाया जाता है[2] तो भी कुछ विचित्र प्रयोग दोनों में समान हैं यथा 'काल' शब्द का 'स्थान' के अर्थ में प्रयोग (बौ० श्रौ० सू० २,१३; ४,१; ६,१०; २२ : भार० श्रौ० सू० १,४,१९; ७,८,५; १०,१३,९) आप० श्रौ० सू० ने यहां **देशे** का प्रयोग किया है (१०,२०,१३)। तीनों ने 'सामान्य नियम' के लिये 'अत्यन्त प्रदेश' का प्रयोग किया है।

वैसे आप०श्रौ०सू० और भार०श्रौ०सू० में अनेक सूत्रों की रचना समान पायी जाती है और कर्मकाण्डीय विवरण भी एक सा है।

सत्या०श्रौ०सू० यद्यपि आप०श्रौ०सू० से अत्यन्त प्रभावित है तो भी उसकी अनेक विधियां भार०श्रौ०सू० से अधिक समानता रखती हैं और पितृमेधसूत्र तो सत्याषाढ ने भारद्वाज का ही स्वीकार कर लिया है[3]। सत्याषाढ ने तो भार० गृ० सू० से भी कुछ अंश आत्मसात् कर लिये हैं[4]। भारद्वाज श्रौत तथा गृह्यसूत्रों का कर्ता एक ही व्यक्ति है क्योंकि दोनों की रचनाशैली समान है। श्रौतसूत्रों के समान ही गृह्यसूत्रों में भी विधि मन्त्र से पूर्व प्रस्तुत की गयी है। दोनों में ही ब्राह्मण-वचनों को **इति विज्ञायते** से उद्धृत करने की परिपाटी समान ही है और दोनों ही तै० सं० को आधार मानते हैं तथा अनुवाक एवं अनुवाकशेष का उल्लेख करते हैं। किसी भी कर्म की समाप्ति का संकेत **सन्तिष्ठते** शब्द से किया जाता है। अनेक विधानों में विनियुक्त मन्त्रों के सातत्य को दर्शाने के लिये श्रौतसूत्र में **अनुद्रुत्य** शब्द के प्रयोग के समान ही गृह्यसूत्र में भी इसका प्रयोग किया गया है।

---

१. काशिकर—सूत्रज़् ऑफ़ भारद्वाज, भूमिका, पृ० ३७।

२. *Vide* Caland, *Über das rituelle Sūtra des Baudhāyana*, p. 57-65.

३. बूह्लर ने कहा था (एस्० बी० ई० १४, भूमिका, पृ० १४) कि हिरण्यकेशि और भार०श्रौ०सू० का चयन एक सा है। परन्तु प्रतीत होता है कि उनका आशय 'पितृमेध सूत्र' से था (काशिकर)।

४. रामगोपाल, इण्डि० कल्प० सू०, पृ० ७७।

(भार० गृ० सू० ३,२) । दोनों में समान वचोविन्यास पाया जाता है। दोनों में सूत्र-रचना-शैली भी समान ही उपलब्ध होती है। भार० श्रौ० सू० ११,२१=गृ० सू० ३,६; तथा श्रौ० सू० १,९,३,४=गृ० सू० २,१३; दोनों ही सामान्य नियम के लिये 'अत्यन्त प्रदेश' पद का प्रयोग करते हैं। श्रौतसूत्र में प्रयुक्त वैदिक शब्दों तथा दुष्ट शब्दों के समान ही गृह्यसूत्र में भी ऐसे प्रयोग पाये जाते हैं—

यथा **व्याकृतीभिः** (भार० गृ० सू० १,४); **आहुतीभिः** (भार० गृ० सू० ३, १); **इमाभ्यः** (भार० गृ० सू० ३,३); **प्राजापत्या** (तृतीया०) **जुहोति** (भार० गृ० सू० ३,२)।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों का कर्ता एक ही भरद्वाज है।

संस्करण : (१) डा० रघुवीर, जर्नल ऑफ़ वेदिक स्टडीज़, भाग १-२ ; प्रश्न १-१२,६,९ ; लाहौर सन् १९३४-३५।

(२) सी० जी० काशिकर, सूत्रज़ ऑफ़ भरद्वाज, भाग १-२। वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९६४; प्रश्न १-१५,१-५; इनमें 'पैतृमेधिक' तथा 'परिशेष सूत्र' भी समाविष्ट हैं। भाग २ में सूत्रों का आंग्लानुवाद है।

चतुर्थ अध्याय

कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्र (२)

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र :

कालक्रमानुसार भारद्वाज-कल्प के बाद आप० कल्प की ही रचना मानी जाती है[1], जिसके साथ इसका न केवल सूत्ररचना-विषयक घनिष्ठ साम्य ही पाया जाता है, अपि तु दोनों के अनेक सूत्र शब्दशः समान हैं। कर्मकाण्ड के प्रतिपादन तथा विषयक्रम में भी दोनों में बहुत अधिक समानता पायी जाती है। दोनों ही तै० सं० से सम्बद्ध हैं।

आप०-कल्प में कुल ३० प्रश्न हैं, जिनमें से श्रौतसूत्र २४ प्रश्नों में समाप्त होता है। प्रश्न २५-२६ में आप० मन्त्रपाठ है। २७ में गृह्यसूत्र है। २८-२९ में धर्मसूत्र का समावेश किया गया है। अन्तिम ३०वें प्रश्न में शुल्बसूत्र प्रतिपादित है। श्रौतसूत्र में ५८८ कण्डिकाएं तथा ७५९ सूत्र हैं (वैद्य)। श्रौतसूत्र का विषय-विभाजन इस प्रकार किया गया है :—

प्रश्न :—	
१-४	दर्शपूर्णमास।
५	अग्न्याधेय।
६	अग्निहोत्र।
७	निरूढ-पशुबन्ध।
८	चातुर्मास्य।
९	प्रायश्चित्त।
१०-१३	अग्निष्टोम।
१४	उक्थ्य तथा अन्य सोम-संस्थाएं।
१५	प्रवर्ग्य।

---

१. द्र० सत्या० श्रौ० सू० का व्याख्याकार महादेव; गार्बे, आप०श्रौ०सू० भूमिका पृ० १७; बूह्लर, एस० बी० ई० भाग २, भूमिका, पृ० २२; काशिकर, सर्वे०, पृ०, ५६; किन्तु वैमत्यार्थ द्र. रामगोपाल इण्डि०कल्प०, पृ० ८४-९०; अस्को परपोला, श्रौतसूत्रज ऑफ़ लाटचायन द्राह्यायण, हेलसेंकी, भाग १, पृ० ९६; विस्तृत विवेचन अग्रे द्र.; अस्को परपोला के अनुसार आप० श्रौ० सू०, ला० श्रौ० सू० से अवश्य ही अर्वाचीन है।

प्रश्न :—१६-१७	अग्निचयन।
१८	वाजपेय तथा राजसूय।
१९	सौत्रामणी, काठक चयन, काम्य-पशु, काम्य-इष्टियां।
२०	अश्वमेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध।
२१	द्वादशाह, गवामयन, उत्सर्गिणामयन।
२२	एकाह तथा अहीन याग, सव।
२३	सत्त्र।
२४	परिभाषाएं, प्रवर, हौत्रक।

यदि हम भार० श्रौ० सू० तथा आप० श्रौ० सू० के विषय-क्रम पर ही दृष्टिपात करें, तो पता चलता है कि दोनों का प्रतिपादन-क्रम प्रायः एक-सा है। कहीं-कहीं अन्तर पाया जाता है। षष्ठ प्रश्न में अग्न्युपस्थान तथा अग्निहोत्र के क्रम के विषय में व्यत्यास हो गया है। ऐसे ही पशु-याग-सम्बन्धी प्रायश्चित्तों का विवरण आप० श्रौ० सू० में नवम प्रश्न में दिया गया है, जबकि भार० श्रौ० सू० में इनकी चर्चा नहीं की गयी। भरद्वाज ने सोमयाग की संस्थाओं **उक्थ्य**, **षोडशी**, तथा **अप्तोर्याम** के समेत **ज्योतिष्टोम** का विवरण एकत्र प्रस्तुत किया है, किन्तु आपस्तम्ब ने **अग्निष्टोम** का विवरण देकर **उक्थ्य** प्रभृति का प्रतिपादन पृथक् प्रश्न में किया है। **आतिथ्येष्टि** के अनन्तर भार० श्रौ० सू० में **तानूनप्त्र**, **आप्यायन**, **निह्नव**, **सुब्रह्मण्या** प्रभृति सामान्य क्रम के विरुद्ध **प्रवर्ग्य**, **तानूनप्त्र** प्रभृति क्रम को स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त दोनों में सूत्र-रचना की अत्यन्त समानता होते हुए भी आप० श्रौ० सू० की रचना-शैली अधिक प्रौढ है।

भार०श्रौ०सू० के समान ही आप०श्रौ०सू० में भी तै०ब्रा० के अच्छिद्रिक काण्ड (३, ७) में भार० श्रौ० सू० से भी अधिक श्लोकों का उपयोग किया गया है, किन्तु हौत्र-सम्बन्धी कारिकाओं का उपयोग नहीं किया गया। चौबीसवें प्रश्न में केवल **दर्शपूर्णमास**-सम्बन्धी हौत्र-कर्म का प्रतिपादन किया गया है, जबकि तै० ब्रा० में **अग्न्याधेय**, **पशुयाग**, **चातुर्मास्य**, **सौत्रामणी** प्रभृति सम्बन्धी इष्टियों में विनियोज्य हौत्र-कारिकाओं का भी समावेश किया गया है। वैसे आपस्तम्ब-हौत्र के नाम से सत्या० श्रौ० सू० के इक्कीसवें प्रश्न से पूर्व एक प्रकरण मुद्रित किया गया है। इसमें तै० ब्रा० में प्रतिपादित हौत्र-कर्म ही दिया गया है, किन्तु यह हौत्र आपस्तम्ब की रचना नहीं है, अपि तु आप० श्रौ० सू० का परिशिष्ट हो सकता है[1]। इस सूत्र की एक विशेषता यह भी है कि यह तै० सं० के मन्त्रों को तो

---

१. काशिकर, सर्वे०, पृ० ५९।

प्रतीक-रूपेण उद्धृत करता है, किन्तु तै० ब्रा० के मन्त्रों तथा उद्धरणों को सकल-पाठ में उद्धृत करता है। इसका कारण स्पष्ट नहीं है। सम्भव है कि श्रौतसूत्रकार तै० ब्रा० को शाखान्तरीय ब्राह्मण समझते हों, जबकि उनका अपना ब्राह्मण उच्छिन्न हो गया हो[1]।

आप० श्रौ० सू० में ऋग्वेद से अनेक और कौ० ब्रा० से केवल एक उद्धरण दिया गया है, जबकि सामवेद से तो बहुत कम उद्धरण दिये गये हैं। अहीनों और सत्रों के विवरण में पञ्च० ब्रा० को विशेषतः बहुत अधिक उद्धृत किया गया है। अथर्ववेद से भी पच्चीस उद्धरण दिये गये हैं, जो सम्भवतः पैप्पलाद-संहिता से हैं। अनेकों ब्राह्मण-वचन उच्छिन्न ब्राह्मणों से दिये गये हैं, यथा—काङ्कति, कालबवि, शाट्यायनि, शैलालि, भाल्लविक, तथा कलिङ्गायनिक—जिनका अन्यत्र कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया। वाजसनेयक का प्रायः उल्लेख किया गया है। 'इति विज्ञायते', 'यथा ब्राह्मणम्', 'यथा समाम्नातम्', 'यथा वदति' प्रभृति शब्दों से ब्राह्मणवचनों को उद्धृत किया जाता है या आरण्यक को। विचित्र बात यह है कि ऐ० ब्रा० तथा कौ० ब्रा० का उल्लेख यहां नहीं किया गया।

कई बार तो आपस्तम्ब वहां भी अन्य-शाखीय मन्त्रों तथा विधियों का उपयोग करता है, जहां तैत्तिरीय शाखा में उन कर्मों के लिए मन्त्रों तथा विधियों का स्पष्ट विधान विद्यमान है।

वस्तुतः आप०श्रौ०सू० ने मै० सं० की ओर अधिक स्पष्टता से निर्देश किये हैं[2]। यह भी संकेत मिलता है कि आप० श्रौ० सू० का कर्म तै० सं० से अधिक पञ्च० ब्रा० का अनुसरण करता है[3]। गार्बे के मतानुसार आप० श्रौ० सू०, मा० श्रौ०सू० का स्पष्ट अनुकरण करता है[4], किन्तु यह विचार सर्वमान्य नहीं हो सका। यह सम्भव है कि आप० प्रवराध्याय पर आश्व० श्रौ० सू० का प्रभाव पड़ा हो[5]। गार्बे के मत में यहां का प्रवराध्याय आश्व० श्रौ० सू० से ग्रहण किया गया है, एवम् आश्मरथ्य, आलेखन प्रभृति अनेक आचार्यों का नामतः उल्लेख किया गया है।

---

१. Cf. Caland, 'Unfortunately I must confess that this relation (between the *Apśs* and the *T.Br.*) is not yet clear to me......then I will only say that Āpastamba has regarded some passages from the Taittirīya Brāhmaṇa as belonging to an alien recension—*Śrauta-sutra des Āpastamba*', Pt. III, preface. Kashikar, *Survey*, p. 119, n. 36.

२. गार्बे, आप० श्रौ० सू०, भाग ३, भूमिका, पृ० १९-२१।

३. वही, पृ० २८-२९।

४. आप० श्रौ० सू०, भूमिका, पृ० २३-२४।

५. वही, पृ० २७।

इस श्रौतसूत्र में किसी सङ्कर जाति का उल्लेख नहीं किया गया और असवर्ण विवाहों से उत्पन्न सन्तान का वर्ण पिता के वर्ण के अनुसार होता दिखाया गया है। अतः प्रतीत होता है कि यह सूत्र पर्याप्त प्राचीन है।

कुछ एक यज्ञों में विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न मन्त्रों का विधान किया गया है, किन्तु अग्नि के विषय में ऐसा कोई विभेद नहीं किया गया। विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न छन्दों का भी विधान किया गया है, यथा—ब्राह्मण के लिए गायत्री, क्षत्रिय के लिए त्रिष्टुभ् तथा वैश्य के लिए जगती छन्द के मन्त्रों का विनियोग विहित है।

इसकी कुछ एक कर्मकाण्डीय विशेषताएं ये हैं। **दर्शेष्टि में पिण्डपितृयज्ञ** का विधान किया गया है। **अग्न्याधान** और **पुनराधान** के लिए विशेष नक्षत्रों तथा ऋतुओं का विशिष्ट वर्णों के लिए विशेष निर्देश किया गया है। **अग्निहोत्र** में यजमान को वर्षा में श्यामाक से, शरत् में व्रीहि से, वसन्त में यव से हवन करना चाहिये। **अग्निष्टोम-प्रकरण** में यज्ञ को ब्रह्माण्ड का प्रतीक मानकर होता को अग्नि, अध्वर्यु को सूर्य, ब्रह्मा को चन्द्रमा, चमसाध्वर्यु को सूर्यरश्मि प्रभृति कल्पित किया गया है और इस प्रकार यज्ञप्रक्रिया को सृष्टि-रचना के समानान्तर माना गया है। इस विषय में इसने ब्राह्मणों का ही अनुकरण किया है।

यद्यपि पूर्ववर्ती बौध० श्रौ०सू० में अभिचार-कर्मों का निर्देश पाया जाता है, तो भी आप० श्रौ० सू० में उससे अधिक अभिचार-कर्मों का विधान किया गया है। अभिचार-मन्त्रों का स्वरूप इस प्रकार का है— **हतोऽसौ फट्**[1]। प्रवर्ग्य के बाद एक वर्ष तक अनेक प्रकार के व्रत करने का विधान है। प्रतीकरूप में मानव आकृति के खण्ड विभिन्न देवताओं के लिए विभिन्न उद्देश्यों के लिए समर्पित किये जाते हैं, जिनमें विद्वेष करने वाले शत्रु को नाम लेकर मारना भी सम्मिलित है। **राजसूय** के अन्तर्गत **सौत्रामणी** में सुरा और सोम दोनों इन्द्र को अर्पित किये जाते हैं और एक विशेष प्रकार के **कौकिली** नामक **सौत्रामणी-कर्म** का भी विधान किया गया है। तै० ब्रा० में वर्णित **सावित्र-चयन** भी विहित है, जिसमें १५ दिनों, १५ रात्रियों, १५ मुहूर्तों तथा १३ मासों के नामों का विशेष महत्त्व है। **नाचिकेत** और **वैश्वसृज** नामक **चयन** भी विहित हैं।

एक और विशेषता यह है कि जहां पूर्ववर्ती भार० श्रौ० सू० मैं परिभाषा-प्रकरण को पृथक् स्थान न देने के कारण तद्विषयक बोध व्यवस्थित-रूप में नहीं कराया गया, वहां आप० श्रौ० सू० में परिभाषाओं का व्यवस्थित रूप से पृथक् विवरण दिया गया है (२४,१-४)।

---

१. आप० श्रौ० सू० १२,११,१०।

प्रायश्चित्तों के विषय में भी आपस्तम्ब ने अनेक नवीन प्रयोगों का विधान किया है, जो भार०श्रौ०सू० में नहीं पाये जाते। आप०श्रौ०सू० (९,११,१७; १२, १२) में विहित **प्रायश्चित्तों** के समानान्तर भार० श्रौ० सू० में कोई प्रायश्चित्त नहीं है। जैसा कि पहले भी कह चुके हैं, आपस्तम्व ने 'वाजसनेयक' एवं 'वाजसनेयिनः' को ५६ बार उद्धृत किया है, जबकि भरद्वाज ने एक बार भी नहीं किया[१]। भाषा के प्रयोग के विषय में भार०श्रौ०सू० तथा आप० श्रौ० सू० में विशेष अन्तर नहीं है। इसकी चर्चा हम कर चुके हैं।

विविध कृत्यों के स्पष्ट विवरण के विषय में आप०श्रौ०सू० अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण रचना है, जिसकी तुलना अन्य प्राचीन श्रौतसूत्रों में कोई भी नहीं कर सकता[२]।

आप० श्रौ० सू० का शुक्ल यजुर्वेद से घनिष्ठ सम्बन्ध था और शत० ब्रा० ने इसे अत्यन्त अधिक प्रभावित किया है, किन्तु इसके बहुत से उद्धरण माध्यन्दिन शतपथ में अनुपलभ्य हैं। इससे अनुमान किया गया है कि सम्भवतः ये काण्व-शाखा से ग्रहण किये गये हैं[३]। धर्मसूत्र में आपस्तम्ब ने काण्व को आधिकारिक आचार्य के रूप में उद्धृत भी किया है। अतः काण्व-शाखा से, जो माध्यन्दिन से प्राचीन है, आपस्तम्ब परिचित प्रतीत होता है[४]। बौधायन-कल्प के व्याख्याता यज्ञेश्वर ने आपस्तम्ब को बौधायन का 'मुख्य शिष्य' कहा है और बौधायन को 'कण्व-तनय' बताया है[५]।

आप० श्रौ० सू० और का० श्रौ० सू० में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि दोनों सूत्रों में लगातार समानताओं का तांता बंधा दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि आपस्तम्ब ने ऋग्वेद को उद्धृत किया है तथा आश्व० श्रौ० सू० एवं शां० श्रौ० सू० दोनों से बहुत साम्य भी पाया जाता है[६], तो भी ऋग्वेदीय ब्राह्मणों से

---

१. L. Von Schröeder, *Literatur-Blatt für Orientalische philologie*, Pt. I pp. 7, 8 के अनुसार आपस्तम्ब शुक्ल-यजुर्वेदियों का विरोधी था। किन्तु यह मत असंगत है। आपस्तम्ब ने चरकों का उल्लेख नहीं किया, क्योंकि चरक-सम्प्रदाय कृष्ण-यजुर्वेद से ही सम्बद्ध था और आपस्तम्बियों के अत्यन्त निकट था।

२. गार्बे, आप० श्रौ० सू०, भूमिका, पृ० १७।

३. गार्बे, वही, पृ० २४।

४. बूह्लर, आप० ध० सू० भूमिका पृ० २५ (एस० बी० ई० भाग २)। बूह्लर का यह अनुमान प्रसिद्ध है कि आपस्तम्ब माध्यन्दिनीय श० ब्रा० से अपरिचित था।

५. आप० श्रौ० सू०, मैसूर संस्करण, भाग १, भूमिका, पृ० ६ पर उद्धृत श्लोक।

६. आपस्तम्ब का प्रवराध्याय (२४, ५-१०) तो आश्व० श्रौ० सू० (१२, १०-१५) से प्रभावित प्रतीत होता है। गार्बे ने तो इसे वहीं से संगृहीत माना है (वही० पृ० २५)।

यह प्रभावित नहीं हुआ। कौ० ब्रा० (१२,५) को केवल एक बार उद्धृत करता प्रतीत होता है (आप० श्रौ० सू० १२,१७,२)।

जैसाकि हम बौ० श्रौ० सू० की चर्चा में देख चुके हैं, ओल्डनबर्ग के सन्देहों के बावजूद जिन आचार्यों के नाम से सम्पूर्ण कल्प प्रसिद्ध हैं, वे आचार्य ही उनकी रचना के लिए उत्तरदायी हैं। उत्तरवर्ती काल में कहीं-कहीं परिवर्तन-परिवर्धन तो सर्वथा सामान्य हैं, किन्तु मूलतः ये कृतियां एक ही व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज हैं। आपस्तम्ब-कल्प भी ऐसी ही कृति है। यद्यपि यह निश्चय नहीं किया जा सका कि यह आपस्तम्ब इस धरातल पर कब अवतीर्ण हुए, तो भी इस विषय में उपलभ्य साक्ष्य के आधार पर अनुमान तो किया ही जा सकता है।

संस्कृत-साहित्य के काल-निर्णय में पाणिनि प्रकाशस्तम्भ का काम करते हैं। उनके अनुसार चोल और पाण्डच शब्द चोल और पाण्डच प्रदेशों के राजाओं के वाचक हैं[1]। अतः सिद्ध है कि पाणिनि से बहुत पहले ये राज्य स्थापित हो चुके थे। महाभारत, अशोक के शिलालेख तथा बौद्ध गुफाओं के अभिलेख, सभी इस बात के साक्षी हैं कि ईसवी सन् के आरम्भ से कम से कम चार सौ वर्ष पूर्व आन्ध्रों का शक्तिशाली राज्य विद्यमान था। दक्षिण को आर्यों ने कब विजय किया और वहां कब अपने सांस्कृतिक एवं धार्मिक केन्द्र स्थापित किये, इसके विषय में ठीक-ठीक कह सकना अभी तक असम्भव है। किन्तु यह कार्य वैदिककाल की समाप्ति से बहुत पूर्व सम्पन्न हो चुका था। वैदिककाल का अन्त तथाकथित प्रामाणिक ऐतिहासिक काल (५०० ई० पू०) से बहुत पहले हो चुका था। और यह भी सुनिश्चित है कि आर्यों के दक्षिण में पदार्पण करने और अपना सांस्कृतिक प्रभाव जमाने के बीच पर्याप्त समय लगा होगा। दक्षिण में वैदिक चरणों की स्थापना तभी सम्भव थी, जब दाक्षिणात्य विद्वान् पूर्णरूपेण आर्य सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म को सर्वथा आत्मसात् कर चुके होंगे, जो पांच-दश दशकों में सम्भव नहीं हो सकता। इसके लिए शताब्दियों का समय अपेक्षित है। उस दूरस्थ काल में तो परिवर्तन की गति बहुत ही धीमी थी। इस विषय में यह ज्ञातव्य है कि ऐ० ब्रा० (७, १८) में आन्ध्रों का उल्लेख शबर आदि पिछड़ी और जंगली एवम् आर्य प्रभाव-क्षेत्र से बहिर्भूत जनजातियों के साथ किया गया है और बौधायन धर्मसूत्र (१,१,२,१४) में कलिंग प्रदेश में जाने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

यास्क के समय में दक्षिण प्रदेश न केवल आर्यों के प्रभाव-क्षेत्र में आ चुका था, अपि तु उनके रीति-रिवाजों के विषय में धर्मशास्त्रीय चर्चा भी होने लगी थी, (निरु० ३,५; ६,९)। यास्क का काल ८०० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

---

१. पा० ४, १, १७५।

यास्क पाणिनि से प्राचीन हैं। पाणिनि का काल हम ७०० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं समझते। पाणिनि के व्याकरण का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा कि उनके उत्तरवर्ती काल की कोई भी रचना उनके व्याकरण के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकती थी। आपस्तम्ब-कल्प के अनेकानेक शब्द पाणिनि के नियमों के अन्तर्गत नहीं आते। इनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, तो भी प्रसंगवश कुछ एक उदाहरण दिये जाते हैं :—

क्रव्यादः, दार (एकवचन), **सालावृकी**—सब वैदिक प्रयोग हैं। **अष्टभ्यः, (अष्टाभ्यः), उदञ्चः (उदीचः) ; ऋत्वे; व्रतभृवे (०भृते) ; प्रत्यष्ठात् (०स्थात्) ; परिधित (०हित)**[1] **सर्वान्निन् (सर्वान्नीन्) ; धाम्र्य (धर्म्य); दीवितृ (देवितृ)।**

अतः या तो आपस्तम्ब पाणिनि से कुछ पूर्व हो गये थे या फिर उनके इतने निकटस्थ थे कि उनके प्रभाव से अछूते रह गये। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यातव्य है कि पा० (४,१,१०४) ने 'आपस्तम्ब' को गणपाठ में पढ़ा है। इस विषय में 'परम्परागत भाषा के प्रयोग' की बात इसलिए लागू नहीं होती कि का० श्रौ० सू० ने निश्चित रूप से पाणिनीय नियमों का पालन करने का प्रयास किया है। पा० के सूत्र **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्** (५, २, ९४) पर वार्तिक **सन्मात्रे च ऋषिदर्शनात्** के विषय में महाभाष्य में उदाहरण दिया गया है—**यवमतीभिर्यूपं प्रोक्षति।** यह आप० श्रौ०सू० (७,९,९) में उपलभ्य है। अतः पतञ्जलि से पूर्व तो यह प्रसिद्ध हो ही चुका था, सम्भवतः कात्यायन को भी यह उदाहरण इष्ट था।

हम यह भी जानते हैं कि बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व ही समस्त प्राचीन सूत्रों का निर्माण हो चुका था और आपस्तम्ब प्राचीन सूत्रों के अन्तर्गत आता ही है।

दूसरे द्वितीय शती ई०पू० में रचित पतञ्जलिकृत महाभाष्य से उस समय तक पाणिनि की अष्टाध्यायी की सार्वभौम व्यापकता के अकाट्य प्रमाण उपलब्ध होते हैं। अतः भाषागत विशेषताओं के आधार पर आपस्तम्ब को तृतीय शताब्दी ई० पू० से अर्वाचीन माना ही नहीं जा सकता[2]। इसलिए बूह्लर ने इसका रचनाकाल ५०० ई० पू० माना है और हिल्लेब्राण्ट ने इसका समर्थन किया है[3]। कीथ ने बिना किसी युक्ति के ही भाषा-विषयक प्रमाणों की अवहेलना करके इसे ३००-३५० ई० पू० से प्राचीन मानने से इनकार कर दिया है[4] किन्तु अन्यत्र[5] इस

---

१. विस्तारार्थ द्र. गार्बे, आप० श्रौ० सू०, भूमिका।
२. बूह्लर, एस० बी० ई०, भाग २, भूमिका, पृ० ४२-४३।
३. रिच्वल्लिट्० पृ० २४।
४. तै० सं०, आंग्लानुवाद, भूमिका, पृ० ४५।
५. ऋग्० ब्रा०, भूमिका, पृ० ४९।

कात्यायन को श्रौतसूत्रकार कात्यायन से भाषागत आधार पर ही प्राचीन मानते हुए कात्यायन को तृतीय या चतुर्थ ई० पू० में स्थापित किया है। यह कात्यायन पाणिनि से अर्वाचीन है[1] और पाणिनि का काल ४००-३५० ई० पू० माना है[2]। इस अवस्था में 'वदतो व्याघात' दोष से दूषित कीथ ही अपनी इस असंगति में किसी प्रकार संगति बैठाने का प्रयास करें।

पी० वी० काणे ने आपस्तम्ब को ६००-३०० ई० पू० में मानने का सुझाव दिया है[3], किन्तु ऐसा मानने के लिए कोई युक्ति नहीं दी। यह तो सभी मानते हैं कि आपस्तम्ब-कल्प पाणिनि से पूर्वकालिक है। हमारी सम्मति में पाणिनि का काल सप्तमी शती ई० पू० से अर्वाचीन नहीं है[4]। अतः आपस्तम्ब का काल सप्तमी शती ई० पू० से कुछ पूर्व प्रायः ७००-६५० ई० पू० मानना असंगत नहीं होगा।

व्याख्याएं :—१. धूर्तस्वामी के नाम से प्रसिद्ध भाष्य आप०श्रौ०सू० की सर्वप्राचीन व्याख्या है। किन्तु आपस्तम्बीय सम्प्रदाय में प्रसिद्धि है कि सम्पूर्ण भाष्य धूर्तस्वामी की रचना नहीं है। प्रयोगदीपिकाकार तालवृन्तनिवासी के अनुसार आदि से **अग्नि-चयन** पर्यन्त भाग पर ही धूर्तस्वामी का भाष्य है[5]।

२. **वाजपेय** से लेकर **विश्वसृजामयन** पर्यन्त कपर्दिस्वामी का भाष्य है[6]। इसी प्रकार वरदनाथाचार्य ने भी यही बात कही है[7], जिसकी पुष्टि रामाण्डार ने भी की है[8]। परिभाषा-सूत्रों पर भी धूर्तस्वामी के नाम से प्रसिद्ध भाष्य को नृसिंहाचार्य ने रुद्रदत्त-

---

१. तै० सं० भूमिका, पृ० १६२, टि० ४।

२. ऐ० आर० भूमिका, पृ० २४।

३. हि० ध० शा० भाग १, पृ० ४५।

४. द्र. पाणिनि-प्रकरण।

५. **आपस्तम्बीयसूत्रस्य धूर्तस्वामिव्याख्यानुसारेण अग्निचयनपर्यन्तानां कर्मणां प्रयोग-वृत्तिः क्रियते।**

६. ... **वाजपेयादिविश्वसृजामयनपर्यन्तानां कर्मणां प्रयोगः** (ये दोनों वचन मैसूर सं० की भूमिका, पृ० २३ पर द्र.)।

७. **दृश्यते हि पूर्वोत्तरयोर्वृत्त्योरेकनिबन्धत्वमापस्तम्बीय-सूत्र-व्याख्यानयोर्धूर्तस्वामिकपर्दि-स्वामिनिबन्धयोरपि।** (वही)

८. **अत्र कपर्दिस्वामिना, 'शिशिरे दीक्षन्ते वसन्ते उत्तिष्ठन्ते' इति सूत्रे द्वादशप्रथमराश्योर्यदा सूर्योदयस्तदा वसन्त इत्युक्तत्वात्।** (२, २, ८)

विरचित माना है[1]। सुदर्शनाचार्य की आप० गृ० सू० की व्याख्या 'तात्पर्यदर्शन' में गृह्यसूत्र के भाष्य को कर्पादिस्वामिकृत घोषित किया है[2]।

धूर्तस्वामी ने अपने भाष्य में शबरस्वामी के मीमांसा-सूत्र-भाष्य की ओर "मीमांसक" शब्द द्वारा अनेकशः संकेत किया है (२,२,२८,४,११)। अतः वह शबरस्वामी से उत्तरवर्ती है। शबर का काल प्रथम शती ई० पू० आंका गया है। दूसरी ओर हेमाद्रि (१२७० ई०), शूलपाणि (११५० ई०) तथा रामानुज (१०५० ई०) ने वेदार्थ-संग्रह में कर्पादिस्वामी का उल्लेख किया है। अतः कर्पादिस्वामी का काल दशमी शती से उत्तरवर्ती नहीं हो सकता। कर्पादिस्वामी ने अपने भाष्य में नाम-निर्देश किये बिना धूर्तस्वामी के भाष्य का निर्देश किया है[3]।

धूर्तस्वामी के भाष्य पर रामाग्निचित् (रामाण्डार) की वृत्ति है। रामाण्डार के काल की ऊपरी सीमा, 'त्रिकाण्ड-मण्डन' के कर्ता भास्कर सोमयाजी ने रामाण्डार को '**मन्त्रब्राह्मण-भाष्य-कृत्**' तथा 'आचार्य' पद से स्मरण करके[4], निर्धारित कर दी है। त्रिकाण्डमण्डनकार का समय (११०० ई०) के आस-पास हो सकता है[5]। इधर रामाण्डार ने केशवस्वामी (१०वीं शती), भवस्वामी (८वीं शती से पूर्व), गुहदेव (८वीं-९वीं शती) तथा कुमारिल (सप्तमी शती) को अपनी वृत्ति में उद्धृत किया है[6]। अतः रामाग्निचित् (रामाण्डार) १०वीं-११वीं शती के मध्य में कहीं होना चाहिये और धूर्तस्वामी का काल प्रथम शती ई० पू० से लेकर नवमी शती तक कहीं भी हो सकता है। कर्पादिस्वामी ने परिभाषा तथा पितृमेधसूत्र पर भी भाष्य लिखा है।

३. धूर्तस्वामी, कर्पादिस्वामी, रामाग्निचित् के अतिरिक्त आप० श्रौ० सू० पर रुद्रदत्त ने भी स्वतन्त्रवृत्ति की रचना की है, जिसे 'त्रिकाण्ड-मण्डन' की टीका में 'भाष्य' का नाम दिया गया है। रुद्रदत्त ने अपनी वृत्ति में धूर्तस्वामी के भाष्य का मतान्तर के रूप में स्थान-स्थान पर खण्डन किया है[7]। इन्होंने केवल

---

१. वही, भूमिका, पृ० ३४-३६।
२. वही, पृ० ३५।
३. वही, पृ० ३४।
४. वही, पृ० ४३।
५. काणे, हि० ध० शा०, पृ० ७०१।
६. नृसिंहाचार्य, वही, पृ० ५१-५३।
७. आप० श्रौ० सू०, (मैसूर), भूमिका, पृ० ४६-४८।

पन्द्रह प्रश्नों की ही व्याख्या की है और सम्भवतः परिभाषा-प्रकरण की व्याख्या भी लिखी थी[1]। 'त्रिकाण्ड-मण्डन' के 'अधिकारि-निरूपण-प्रकरण' से सूचित होता है कि यह केशवस्वामी के मत के अनुयायी थे, जिन्होंने "बौधायन श्रौत-प्रयोगसार" की रचना की है। अनेक स्थलों पर रुद्रदत्त ने रामाण्डार का भी खण्डन किया है; अतः यह रामाण्डार से भी अर्वाचीन हैं[2]।

इन व्याख्याओं के अतिरिक्त बहुत से प्रयोग और पद्धतियां भी हैं, जिनमें यज्ञ-यागों की प्रक्रिया क्रमबद्ध की गई है। ये प्रायः पाण्डुलिपियों के रूप में देश के अनेक महत्त्वशाली पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं। इनमें चौण्डपाचार्यकृत "आपस्तम्व-प्रयोग-रत्न-माला" चौदहवीं शती की प्रसिद्ध कृति है।

संस्करण :— १. गार्बे—आप० श्रौ० सू०—वि० इण्डि०, कलकत्ता, सन् १८८२-१९०२।

२. कैलैण्ड—'श्रौतसूत्र देस आपस्तम्व' नाम से जर्मन अनुवाद ३ भाग गोटिंगन, १९२१ में प्रश्न १-७; प्रश्न ८-१५ (१९२४) एम्स्टर्डम, प्रश्न १६-२४ (१९२८) एम्स्टर्डम।

३. विद्वान् सो० नृसिंहाचार्य, रामाग्निचित्कृत वृत्तिसहित धूर्त-स्वामिभाष्य तथा रुद्रदत्तवृत्ति (प्रश्न ९-१०) ३ भाग, १० प्रश्न पर्यन्त, गवर्नमेण्ट ओरियेण्टल लाइब्रेरी, मैसूर १९४४-६०।

४. चिन्नस्वामी शास्त्री—धूर्तस्वामिभाष्यसहित, गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज़, बड़ौदा, २ भाग।

काठक श्रौतसूत्र

यद्यपि काठ० श्रौ० सू० के डेढ़ सौ से भी अधिक उद्धरण विभिन्न ग्रन्थों में पाये जाते हैं, जिनका संकलन रघुवीर[3] और सूर्यकान्त[4] ने किया है, तो भी काठ० श्रौ० सू० अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका। लौगाक्षि (काठ०) गृ० सू० की देवपालकृत व्याख्या से पता चलता है कि काठ० श्रौ० सू० में ३९ अध्याय थे। बूह्लर द्वारा संगृहीत हस्तलेखों में काठ० श्रौ० सू० के पिण्डपितृयज्ञ-प्रकरण से सम्बद्ध एक पर्ण

---

१. वही, पृ० ४८।

२. वही, पृ० ४८।

३. ओरियंटल कॉलेज मैगज़ीन, लाहौर; १९२८; ज० वे० स्ट०, १९३४, लाहौर।

४. काठक-संकलन, लाहौर, १९४३; यह संकलन रघुवीर के संकलन का ही पुनः सम्पादन है।

प्राप्त हुआ है[१], जिसे कैलैण्ड ने स्वरचित Altindischer Ahnenkult, p. 212-214 में प्रकाशित किया है। रघुवीर द्वारा प्रकाशित भाग के एक हस्तलेख[२] पर लिखा है—**श्री गुरुभ्यो नमः। अथ कठशाखानुसारेण चातुर्मास्यानां पाञ्चाहिकः प्रयोगः** और ३½ पंक्तियों में दैनिक प्रयोगार्थ कर्म का प्रतिपादन किया गया है। अतः यह काठ० श्रौ० सू० का अंश न होकर तत्सम्बन्धी प्रयोगांश है। एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल, कलकत्ता के हस्तलेख संख्या ३४९३ में **दिवः श्येनयः**[३] नामक सात इष्टियों का विवरण दिया गया है और अन्त में दो "संग्रह-श्लोक" दिये गये हैं। तदनन्तर **अपाद्याः (=समुदायः)**[४] का प्रतिपादन किया गया है, जिसमें पांच इष्टियों का विधान है, जिनके देवता तपस्, श्रद्धा, सत्य, मनस् तथा चरण कहे गये हैं। प्रत्येक में आग्नेय अष्टाकपाल चरु का विधान है। अन्त में लिखा है **इति चतुर्थः पटलः**। किन्तु किसी सूत्र अथवा शाखा का नामोल्लेख कहीं नहीं किया गया है।

कात्या० श्रौ० सू० की देवयाज्ञिककृत व्याख्या से पता चलता है कि देवयाज्ञिक ने काठ० श्रौ० सू० को प्रायः प्रत्येक विषय पर उद्धृत किया है। इसी प्रकार कर्काचार्य ने भी काठक को बहुत्र उद्धृत किया है।

सत्याषाढ श्रौतसूत्र

यद्यपि महादेव दीक्षित ने सत्या० श्रौ० सू० पर विरचित अपनी व्याख्या वैजयन्ती में तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों के क्रम-निर्धारण में आपस्तम्ब के पश्चात् सत्याषाढ को रखा है, तो भी सत्याषाढ की रचना-शैली तथा क्रम-व्यवस्था से प्रमाणित होता है कि इसमें यज्ञ-याग के आधुनिकतम विकसित रूप को अपनाया गया है और इसमें भारद्वाज और आपस्तम्ब को अपनी उपजीव्य रचनाओं के रूप में स्वीकार किया गया प्रतीत होता है। यहां तक कि आपस्तम्ब के बहुत से सूत्र सत्याषाढ में शब्दशः दोहराये गये हैं। इसकी बहुत सी विधियां आपस्तम्ब से भी अधिक भार० श्रौ० सू० से मेल खाती हैं। इस सम्बन्ध की घनिष्ठता इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि सत्याषाढ ने भारद्वाज पितृमेधसूत्र को ज्यों का त्यों अपना लिया है। गृह्यसूत्र में भी सत्याषाढ ने भार० गृ० सू० से कुछ अंश ग्रहण कर लिये हैं[५]। यह

---

१. Report on the *MSS* discovered in Kashmir, No. 13.

२. Sanskrit College, Banaras, Collection 3, Bundle 47.

३. तु. सा०, तै० ब्रा० ३, १२, ३, २-८।

४. तु. सा०, तै० ब्रा० ३, १२, ३, १।

५. द्र. सी० जी० काशिकर, सूत्रज़ ऑफ़ भरद्वाज, भाग १, भूमिका, पृ० ८४। बूह्लर ने कहा है कि 'हिरण्यकेशी' तथा भारद्वाज श्रौतसूत्रों में 'चयन-सूत्र' समान है (एस० बी० ई० १४, भूमिका, पृ० १४)। यह ठीक नहीं है। यहां 'पितृमेधसूत्र' होना चाहिए था।

हिरण्यकेशीय शाखा का सूत्र है। इसकी विषय-व्यवस्था इस प्रकार है—

प्रश्न :—	
१, १	परिभाषा।
१, २-३	दर्शपूर्णमास।
३, १-६	अग्न्याधेय।
३, ७	अग्निहोत्र।
३, ८	आग्रयण।
४	निरूढ पशुबन्ध।
५	चातुर्मास्य।
६	याजमान।
७-१०	ज्योतिष्टोम।
११-१२	अग्निचयन।
१३	वाजपेय।
१३	राजसूय तथा चरक सौत्रामणी।
१४	अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध।
१५	प्रायश्चित्त।
१६	द्वादशाह, महाव्रत, गवामयन।
१७	अयन, एकाह, अहीन।
१८	सत्र।
१९-२०	गृह्यसूत्र।
२१	हौत्र, प्रवर।
२२	काम्य-इष्टियां, काम्य-पशुयाग।
२३	सौत्रामणी (कौकिली), सव, काठकचयन।
२४	प्रवर्ग्य।
२५	शुल्बसूत्र।
२६-२७	धर्मसूत्र।
२८-२९	भारद्वाज पितृमेध।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो विषयों का क्रम पर्याप्त व्यवस्थित है, दूसरी ओर श्रौतकर्मों के मध्य में गृह्यसूत्रों का तथा पितृमेधसूत्रों से पूर्व धर्मसूत्रों का समावेश करके उस व्यवस्था को भंग कर दिया गया है। प्रवर्ग्य को श्रौतकर्मों के अन्त में रखना भी उचित नहीं है। इक्कीसवें प्रश्न का हौत्रसूत्र आपस्तम्बीय हौत्रसूत्र ही है, जो वास्तव में आपस्तम्ब की कृति न होकर श्रौतसूत्र का परिशिष्ट मात्र है[1]।

---

१. काशिकर, सर्वे०, पृ० ५९।

जैसा कि हम जानते हैं ब्राह्मणों में अनेक अवस्थाओं में न तो विधि ही पायी जाती है और न ही मन्त्रों की व्याख्या। ऐसी अवस्थाओं में तैत्तिरीय शाखा के सूत्रों में परस्पर भेद हो जाता है।

जहां-कहीं विधियों के रहते भी मन्त्रों का अभाव पाया जाता है, वहां सत्या० श्रौ० सू०, मै० सं० अथवा काठ० सं० से मन्त्र ग्रहण कर लेता है। ऐसे उदाहरण भी उपलभ्य हैं, जहां मन्त्र तथा विधि दोनों के तै० सं० में विद्यमान होते हुए भी इसने मै० सं० तथा काठ० सं० को ही प्राधान्य प्रदान किया है और तैत्तिरीय शाखा में विहित मन्त्रों तथा कर्मकलाप का विकल्प के रूप में विधान किया है। कई स्थलों पर इसने अपनी शाखा के विधान का परित्याग करके भी मै० सं० तथा काठ० सं० का अनुसरण किया है।

सोमयाग में यजमान के नेत्रों में अञ्जन लगाने के लिए सत्या० श्रौ० सू० ने मै० सं० (३, ६, ३) में दिये गये विधान के अनुसार एक-एक नेत्र को तीन-तीन बार आञ्जना स्वीकार किया है[1], जबकि तै०सं० (६, १, १) में विहित पांच बार[2] आञ्जने के कर्म का परित्याग कर दिया है।

अश्वमेधीय प्रकरण में अश्वरक्षकों को अपने खान-पान के लिए अश्वमेध-कर्म से अनभिज्ञ ब्राह्मणों को लूटने का निर्देश दिया गया है[3] तथा रथकार के घर में वास करने का विधान किया गया है[4]। इस प्रकरण में राजा की चतुर्थ रानी पालागली का उल्लेख नहीं किया गया।

अश्व के संज्ञपनार्थ श्यामूल (कम्बल) के प्रयोग का विधान किया गया है[5]। कम्बल लपेट कर अश्व का संज्ञपन किया जाता है। पुरुषमेध में 'पौरुषमेधिक पशुओं' को **उपाकरण** तथा **पर्यग्निकरण** के उपरान्त उत्तर की ओर छोड़ देने का स्पष्ट आदेश है।

परम्परा के अनुसार हिरण्यकेशि-शाखा आपस्तम्ब शाखा के अन्तर्गत मानी जाती है। अतः दोनों में इतना साम्य तथा लेन-देन बोधगम्य है। यद्यपि सत्या० श्रौ० सू० आपस्तम्ब पर आधृत है, तो भी दोनों में कालगत अन्तर बहुत अधिक

---

१. **त्रिरेकैकम्** (सत्याषाढ १०, १, २)।
२. **पञ्च कृत्वा आङ्क्ते।**
३. सत्या० श्रौ० सू० १४, १, ४७।
४. सत्या० श्रौ० सू० १४, १, ४८।
५. सत्या० श्रौ० सू० १४, ३, ५६।
६. **पर्यग्निकृतान्पुरुषानुदीचो नीत्वोत्सृज्याज्येन तद्देवता** (१४, ६, ९)।

नहीं है। बूह्लर के अनुसार यह अन्तर १००-१५० वर्षों से कम नहीं है[1]। जो काशिकर को भी मान्य है[2]। अतः सत्या० श्रौ० सू० का रचना-काल ५५०-५०० ई०पू० में होना चाहिए[3]।

व्याख्याएं—इस सूत्र पर अनेकानेक व्याख्याएं लिखी गयी हैं, किन्तु कोई भी पूर्ण नहीं है।

१. महादेव दीक्षित कृत वैजयन्ती १-६ तथा २१ प्रश्न पर है।

२. गोपीनाथ दीक्षित कृत ज्योत्स्ना प्रश्न ७-१० तक है।

३. महादेव शास्त्री (२०वीं शती) की प्रयोग-चन्द्रिका प्रश्न ११-२५ तथा भारद्वाज पितृमेधसूत्र प्रश्न २८-२९ पर है।

४. होशनि कर्णाटक वाञ्चेश्वर सुधी की व्याख्या प्रश्न १-१० तथा प्रश्न २४ पर है।

५. मातृदत्त ने केवल गृह्यसूत्र (प्रश्न १९-२०) पर व्याख्या लिखी है।

६. महादेव की "उज्ज्वला" धर्मसूत्र पर है।

७. महादेव सोमयाजी ने दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, नक्षत्रेष्टि और प्रायश्चित्तेष्टि विषयक प्रयोग इसी सूत्र के अनुसार निर्मित किये हैं।

८. एक व्याख्या 'प्रयोगरत्नमाला' भी उपलभ्य है।

संस्करण—आनन्दाश्रम, पूना, का संस्करण ही एकमात्र संस्करण है, जो उत्तम नहीं कहा जा सकता।

वाराह श्रौतसूत्र

वा० श्रौ० सू० का सम्वन्ध मैत्रायणीय शाखा से है। इसमें प्रायेण मै० सं० के मन्त्रों को उद्धृत किया जाता है। किन्तु बहुत बार अन्य शाखाओं के उद्धरण भी पाये जाते हैं, जिनमें तै० सं० मुख्य है। यद्यपि मा० श्रौ० सू० मैत्रायणीयों का ही सूत्र है और वा० श्रौ० सू० को भी मैत्रायणीयों का ही कनिष्ठ सूत्र घोषित किया जाता है, तो भी हेमाद्रि ने मानव-मैत्रायणीयों तथा मैत्रायणीयों में स्पष्ट अन्तर किया है। मैत्रायणीयों के नाम से दिये गये उद्धरणों में से बहुत से वा० श्रौ० सू० अथवा इसके परिशिष्टों में उपलब्ध होते हैं—**'अथ हस्तोन्मार्जनम्—तच्च पिण्ड-निर्वापानन्तरं मैत्रायणीयपिण्डपितृयज्ञसूत्रे दर्भेषु पिण्डं समन्त्रमुक्तम्—बर्हिषि लेपं**

---

१. एस० बी० ई० भाग २, भूमिका, पृ० २४।

२. सर्वे० पृ० १६१।

३. काशिकर ने इसे ४०० ई० पू० माना है।

निर्मार्ष्टि यात्र पितरः स्वधातया यूयं यथाभागं मादयध्वम् इत्यत्र 'पितरो मादयध्वम्' इति[1]। इस कल्प के गृह्यसूत्र तथा परिशिष्ट भी उपलभ्य हैं। इसके विषयों का प्रतिपादन इस प्रकार है—

१. प्राक्-सौमिक

अध्याय	विषय
१, १	परिभाषा।
१, २-४	याजमान।
१, ५-६	ब्रह्मत्व।
२, १-३, ७	दर्शपूर्णमास।
४, १-४	अग्न्याधेय।
५, १	पुनराधेय।
५, २-३	अग्निहोत्र।
५, ४	अग्न्युपस्थान।
५, ५	आग्रयण।
६, १-७	पशुबन्ध।
७, १-५	चातुर्मास्य।

२. अग्निचयन

अध्याय	विषय
१, १-२, ५	अग्निचयन।

३. वाजपेयादिकम्

अध्याय	विषय
१, १-२	वाजपेय।
२, १-२	द्वादशाह।
२, ३	गवामयन।
२, ४	उत्सर्गाणामयन।
२, ५	महाव्रत।
२, ६	एकादशिनी।
२, ७-८	सौत्रामणी।
३, १-४	राजसूय।
४, १-५	अश्वमेध।

---

१. श्राद्धकल्प, पृ० १४४९=वाराह-श्रौत-इष्टि-सूत्र २, ३ (वाराह गृह्य० सू०, रघुवीर, भूमिका, पृ० ३-४)।

जैसा कि उपरिनिर्दिष्ट तालिका से प्रकट होता है, इस सूत्र के उपलब्ध प्रकाशित संस्करण में अनेक न्यूनताएं पायी जाती हैं। अनेक ऐसे कर्मों का उल्लेख नहीं किया गया, जिनका अन्यत्र वर्णन उपलब्ध होता है। इसमें उल्लेखनीय न्यूनता अग्निष्टोम, प्रवर्ग्य, प्रायश्चित्त तथा इष्टि-कल्प के अभाव की है, जो बलात् हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इनके अतिरिक्त इष्टि, पशुबन्ध तथा चातुर्मास्यों के हौत्र का अभाव भी खलता है। इनमें से इष्टि-कल्प, हौत्र और प्रायश्चित्तों का विवरण परिशिष्टभाग में दे दिया गया है। सौत्रामणी से सम्बद्ध सूत्रभाग भी उचित क्रम से प्रस्तुत नहीं किया गया, जिसका व्यवस्थित क्रमानुसार प्रकाशन यद्यपि हो गया है[1] तो भी कैलैण्ड और रघुवीर द्वारा प्रकाशित इस सूत्र के पुनः सम्पादन की आवश्यकता है और इसके लिये नवीन और बेहतर सामग्री उपलभ्य है[2]। यह सूत्र मानवश्रौतसूत्र के समकक्ष है। दोनों में ही विधिवचन से पूर्व ही विनियोज्य मन्त्र का विधान किया जाता है। जैसा कि पुष्पिकाओं से प्रकट होता है, सूत्रकार ने इस रचना को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया है—(१) इष्टिकल्प, (सौमिक); (२) चयन और (३) द्वादशाह (वाजपेयादिक)। जहां मानवश्रौतसूत्र में परिभाषा-प्रकरण नाममात्र को है, वहां वा० श्रौ० सू० में इसका विवरण आरम्भ में ही एक पूरे खण्ड में प्रस्तुत किया गया है। मा० श्रौ० सू० में अन्य शाखाओं से कुछ एक ही मन्त्र ग्रहण किये गये हैं, वा० श्रौ० सू० में ऐसे मन्त्रों की संख्या बहुत है। मा० श्रौ० सू० की शैली तनिक जटिल है, किन्तु वा० श्रौ० सू० की रचना-शैली सरल और सुबोध है।

याज्ञिक दृष्टि से वा० श्रौ० सू० में अपत्नीक व्यक्ति भी अग्नियों को धारण कर सकता था। दर्शपूर्णमास के प्रसंग में कहा गया है कि अपत्नीक याग में अध्वर्यु को वेदि के पिछले भाग में उदगग्र दर्भशुल्ब की स्थापना करनी चाहिये[3]।

वाराह श्रौतसूत्र तथा परिशिष्ट, वाराह गृह्यसूत्र के उपजीव्य हैं। वा० गृ० सू० ८, १२-१३, के 'उपनिषदर्थाः' वा० श्रौ० सू० के परिशिष्ट 'अन्तर्कर्यंकल्प' से शब्दशः संगृहीत हैं। 'गृह्यपुरुष' नामक परिशिष्ट 'वैश्वदेवधर्म' के सूत्रों का मुख्य स्रोत है। किन्तु इनमें भेद भी पाया जाता है।

---

१. काशिकर—The Revised Sautrāmaṇī text of the Vārāha Śrauta Sūtra, JBBRAS, Vol. XXVI, No. 1, pp. 10-20.

२. काशिकर, सर्वे०, पृ० ७५; पशुबन्ध का विवरण अधूरा है, चातुर्मास्य का आरम्भिक अंश विलुप्त है।

३. पश्चार्धाद्दुदगग्रमपत्नीकस्य निदध्यात् (वा० श्रौ० सू० १,३,३,१०)।

वाराह गृह्य-सूत्र से ही पता चलता है कि श्रौतसूत्र के आनुग्राहिक, हौत्रिक तथा शौल्बिक नाम के परिशिष्ट थे, जो अब लुप्त हो गये हैं[1]। वा० श्रौ० सू० के सूत्रों के समानान्तर आप० श्रौ० सू०, मा० श्रौ० सू०, हिरण्यकेशि तथा का० श्रौ० सू० के अनेक सूत्र हैं। मानव० के साथ तो इसका घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं है, अपि तु उसके अनेक सूत्रों के पाठ-शोधनार्थ वाराह० अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। कहीं-कहीं मानव० की सहायता से वाराह० का शोधन किया जा सकता है।

मानव०	१,१,१,१२	वाराह०	१,२,१,१	के अनुसार शोधनीय है
मानव०	१,१,१,४२	वाराह०	१,२,१,२३	के अनुसार शोधनीय है (तै० सं० १,१,२,२)
मानव०	१,१,१,५०	वाराह०	१,२,१,२९	,, ,,
वाराह०	१,३,१,१५	मानव०	१,२,३,१४	,, ,,

वा०श्रौ०सू० में कहीं-कहीं ऐसे मन्त्रों का भी विनियोग विहित है, जिनका उस कर्म के लिये कहीं भी विधान नहीं किया गया[2]।

अग्न्याधान के समय नवनिर्मित आहवनीय अग्नि को अश्व द्वारा सूँघने का विधान सर्वथा अपूर्व है[3]।

इसमें ऋग्वेद की भी अनेक ऋचाओं का विनियोग है[4] और तै० सं० के मन्त्रों का भी। यद्यपि यह मैत्रायणीय शाखा का सूत्र कहा जाता है, तो भी कम से कम दो उदाहरण ऐसे हैं, जिनमें इस संहिता के मन्त्रों को सकलपाठेन उद्धृत किया गया है[5]। क्या वाराह श्रौत-सूत्र की अपनी कोई अन्य संहिता थी? मा० श्रौ० सू० ने इन मन्त्रों को सकलपाठ में ही पढ़ा है। प्रतीत होता है मा० श्रौ० सू० की संहिता भी वर्तमान मै० सं० से भिन्न कोई अन्य थी।

---

१. वाराह गृह्यसूत्र से इस बात का भी सङ्केत मिलता है कि श्रौतसूत्र का रचनाक्रम वर्तमान श्रौत-सूत्र के क्रम से भिन्न था। परिशिष्टों के विषय में भी सूचना दी गयी है कि इनकी संख्या २२ थी।

२. वा० श्रौ० सू० १, २, ३, १५ में पिण्डपितृयज्ञार्थ विहित मन्त्र।

३. वा० श्रौ० सू० १, ४, ३, २३।

४. वा० श्रौ० सू० १,४,३,२४ > ऋग् ३,२९,२। वा० श्रौ० सू० १,४,३,२५ > ऋग् ७, १, १। वा० श्रौ० सू० १, २, २, ३८ > तै० सं० १, ५, ४, ४।

५. वा० श्रौ० सू० १, २, १, २७ > मै० सं० ४,१,२; ३,२०-२१। वा० श्रौ० सू० १,२, २, २८ > मै० सं० ४,१,३; ५,८-९।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि वाराह श्रौत-सूत्र के अतिस्वल्प उद्धरण याज्ञिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। इसके सर्वप्राचीन उद्धरणों में से एक मानव कल्प-सूत्र के कुमारिल-भाष्य में उपलब्ध है, "उक्तञ्च वाराहके"—**'संवत्सरे सद्यो वेति'**[1]। तन्त्रवार्तिक में कुमारिल ने वाराह का उल्लेख किया है—**"बौधायनीय-वराह-मशकादि प्रबन्धवत्"**[2]। अनिरुद्ध भट्ट विरचित 'हार लता' में भी इसका नामतः निर्देश है—**"कल्प इति ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठानपद्धतिः,—यास्क-मशक-वराह-बौधायनीयाद्याः"**[3]।

वा० श्रौ० सू० पतञ्जलि और वादरायण को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करता है[4] और वाराह गृह्य-सूत्र मीमांसा और स्मृति के अध्ययन का विधान करता है[5] और जाति-पांति पर भी अधिक बल देता है तथा भिन्न जातियों के लिये भिन्न-भिन्न सावित्री तथा कमण्डलुओं का विधान करता है (५, २६ ; ५, २८)। मधुपर्क में वैकल्पिक गवालम्भ (११, २३) के विधान के कारण डा० शाम शास्त्री ने मानव गृह्यसूत्र का काल प्रथम या द्वितीय शती ईसवी निर्धारित किया है और हमने देखा है कि इन दोनों रचनाओं का परस्पर प्रगाढ सम्बन्ध है। श्री ब्रैडके ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है[6]। किन्तु श्रौत-सूत्र तनिक पूर्वकालिक ठहरता है, क्योंकि गृ० सू० ने इसका पर्याप्त अनुसरण किया है और दोनों की रचना-शैली और याज्ञिक दृष्टिकोण एक-सा है। अतः इन दोनों का रचना-काल और रचयिता एक ही है और यह सूत्रों की अन्तिम पीढ़ी से सम्बद्ध और वादरायण से पश्चात्कालिक होने के कारण ३०० ई० पू० के आस-पास हो सकता है। इस सूत्र में कुछ विचित्र शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा—**'आचान्तोदकोऽहसन्** (१,१,१,१५) ; **भूष्टिलमादत्ते** (१,३,१,३१) **अभ्याज्यं कृत्वा** (१,४,१,८)।

इस सूत्र पर कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं हो सकी। इसका सम्पादन केवल एक ही वार कैलैण्ड और रघुवीर द्वारा किया गया है, जिसे मेहरचन्द लक्ष्मणदास ने लाहौर से १९३३ में प्रकाशित किया था। किन्तु क्योंकि यह संस्करण एक ही हस्तलेख पर या 'प्रेस-कापी' पर आधृत है और अन्य पाण्डुलिपियां उपलभ्य हैं, अतः इसके पुनःसम्पादन की परमावश्यकता है। वैसे कैलैण्ड-रघुवीर सम्पादित सूत्र का द्वितीय संस्करण देहली से सन् १९७१ में प्रकाशित हुआ है।

---

१. गोल्डस्टुकर सं० पृ० ७५।
२. तन्त्रवा० १, ३, १०।
३. बि० इण्डि० संस्करण, पृ० ८।
४. शाम शास्त्री, वा० गृ० सू०, भूमिका, पृ० १।
५. वा० गृ० सू० ६, ३२।
६. ZDMG vol. XXXVI, pp. 450 seq.

वैखानस श्रौतसूत्र

वैखानस श्रौतसूत्र तै० सं० से सम्बद्ध श्रौत-सूत्रों में सब से अर्वाचीन है। वैखानस वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं, जो नारायण के उपासक हैं और विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। ये उस वैष्णवसूत्र के अनुसार आचरण करते हैं, जिसमें वानप्रस्थों के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है। इसी कारण तृतीय आश्रम को 'वैखानस आश्रम' भी कहते हैं। वैखानस शिखा, त्रिदण्ड तथा यज्ञोपवीत धारण करते हैं। तिरुपति जैसे मन्दिरों के अर्चक वैखानस ही होते हैं। वैष्णव होते हुए भी ये 'तप्तचक्राङ्क' नहीं लगाते, न ही अन्य वैष्णव सम्प्रदायों के आचार्यों की पूजा करते हैं।

परम्परा के अनुसार विखनस् ने "दैविक सूत्रम्" की रचना की थी, जिसे भृगु, मरीचि, अत्रि और कश्यप ने संक्षिप्त करके 'भगवच्छास्त्रम्' नामक चतुर्लक्ष-ग्रन्थात्मक रचना का निर्माण किया। वैखानस आन्ध्र प्रान्त तथा तमिलनाडु के तञ्जौर, त्रिचनापल्ली, चिंगलपेट तथा चित्तूर जिलों में पाये जाते हैं।

वैखानस श्रौतसूत्र के व्याख्याकार श्रीनिवास दीक्षित ने अपने सूत्र को 'औखेय सूत्र' की संज्ञा दी है। वैखानसों की 'आनन्दसंहिता' के अनुसार औखेय का अर्थ वैखानस है। चरणव्यूह में वैखानसों को तैत्तिरीयों में नहीं गिनाया गया। वहां तैत्तिरीयों के औखेय और खाण्डिकेय दो ही मुख्य विभाग किये गये हैं। वैसे वैखानस गृह्यसूत्र में तो कुछ एक बार विखनस् का नामोल्लेख किया भी गया है, श्रौतसूत्र में तो इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया। सत्याषाढ-हिरण्यकेशि-श्रौतसूत्र की व्याख्या 'वैजयन्ती' के रचयिता महादेव ने औखेयों को खाण्डिकेयों की उपशाखा माना है। किन्तु औखेयों की समस्या का अन्तिम समाधान अभी तक नहीं हो पाया[1]। हमें अभी तक यह भी अज्ञात है कि औखेयों का सम्बन्ध केवल श्रौ० सू० से ही था या पूरे कल्प से। वैखानस-कल्प के ३२ प्रश्न हैं। गृह्यसूत्र=१-७; धर्मसूत्र=८-१०; प्रवरसूत्र=११ वां प्रश्न। इसके वाद द्वादश प्रश्न से श्रौतसूत्र का आरम्भ होता है। अतः १२-३२ प्रश्नात्मक श्रौतसूत्र है।

वैखानस श्रौतसूत्र के विषय इस प्रकार वर्णित हैं :—

प्रश्न १,१-१८	अग्न्याधेय।
,, १,१९-२०	पुनराधेय।

---

1. कैलैण्ड, वैखानस श्रौतसूत्र, भूमिका, पृ० २७; हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि चरणव्यूह अपने वर्तमान रूप में कोई विश्वसनीय कृतियां नहीं हैं। द्र० R. Simon, Beiträge zur Kenntnis der Vedische Schulen, p. 18-19.

प्रश्न २,१-९	अग्निहोत्र ।
,, २,१०-११	अग्निभ्यः प्रवासः ।
,, ३-७	दर्शपूर्णमास ।
,, ८,१-२	आग्रयण ।
,, ८,३-९,१२	चातुर्मास्य ।
,, १०	निरूढपशुबन्धः ।
,, ११,१-६	सौत्रामणी (चरक) ।
,, ११,७-११	परिभाषाएं ('यज्ञायुधानि')
,, १२-१६	अग्निष्टोम तथा प्रवर्ग्य ।
,, १७,१-६	उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अप्तोर्याम ।
,, १७,७-१८	वाजपेय ।
,, १८-१९	अग्निचयन ।
,, २०	प्रायश्चित्त (इष्टि-विषयक) ।
,, २१	प्रायश्चित्त (सोम-विषयक) ।

इस विषय-तालिका से परिज्ञात होता है कि यहां दर्शपूर्णमास-विषयक हौत्र का प्रतिपादन नहीं किया गया, किन्तु अग्न्याधेय तथा आग्रयणेष्टि में प्रयोज्य याज्या-पुरोऽनुवाक्याओं का विधान किया गया है। चातुर्मास्य-प्रकरण में पशु-याग-सम्बन्धी **समिष्टयजुः**, की ओर संकेत किया गया है, जबकि इसका वर्णन बाद में किया गया है। ऐसे ही **वाजपेय**-प्रकरण (१७,१६) में अग्निचिति में **दीक्षांग-स्नान** का संकेत किया गया है जिसका प्रतिपादन १९,६ में किया गया है।

इस सूत्र में कई एक कृत्यों का प्रतिपादन नहीं किया गया, यथा अश्वमेध का। यद्यपि अश्वमेध का नामतः उल्लेख[1] सूत्र २०, ३५ में किया गया है, तो भी इसका प्रतिपादन वर्तमान सूत्र में नहीं पाया जाता ; सम्भवतः विलुप्त हो गया है।

प्रवर्ग्य का पृथक् प्रतिपादन न करके इसे अग्निष्टोम में ही समाविष्ट कर दिया गया है। **याजमान** का भी **आध्वर्यव** में ही समावेश कर दिया गया है। **पिण्डपितृयज्ञ** का विधान गृह्यसूत्र में किया गया है, श्रौतसूत्र में इसका उल्लेख

१. **'यदि पूर्वपर्यग्निकरणान्म्रियेत याऽश्वमेधे प्रायश्चित्तिस्तां कृत्वा ....।'**
(तु. बौ० श्रौ० सू० २८, ६)

मात्र है (३,६)। पितृमेध-प्रकरण का भी गृह्यसूत्र में ही समावेश किया गया है। वैखानस-कल्प में शुल्ब-सूत्र का अभाव है[१]। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुकूल ही यहां कृत्य करते समय यजमान को गार्हपत्य की भस्म से चार अंगुल ऊंचा पुण्ड्र शरीर के अंगों पर लगाने का विधान है,[२] तथा उसे 'नारायण-परायण' होकर बैठने का आदेश है। अग्नि-मन्थन के समय उसे स्वयं को मन्थ तथा अग्नि को विष्णु समझना चाहिये[३]। ऐसे ही शकटारोहण के समय भी स्वयं को विष्णु समझना चाहिये[४] और यज्ञ के मध्य अन्तरालों में उसे विष्णु का ध्यान करना चाहिये।

अग्नि-चयन के समय तृतीय चिति में सात 'वैखानस' इष्टकाओं के जड़ने का विधान किया गया है, जिसका आधार किसी ब्राह्मण में दृष्टिगत नहीं होता।

अन्य गृह्यसूत्रों के समान ही वैखानस गृह्यसूत्र की अपनी मन्त्र-संहिता है, किन्तु विचित्र बात यह है कि वै० श्रौ० सू० की भी अपनी पृथक् मन्त्र-संहिता है, जिसमें वै० गृ० सू० की मन्त्र-संहिता से पूर्व परिचय लक्षित होता है[५]। ऐसा प्रतीत होता है कि वैखानसों का अपना ब्राह्मण भी था[६], क्योंकि अनेकों उद्धरण तै० ब्रा० या किसी भी अन्य ब्राह्मण में उपलब्ध नहीं होते, यथा, २,६; ८,१; ९,१२ तथा १८,१। वैखानस यजुर्वेद की संहिता के पांच काण्ड थे, जिनके विषय में अधुना कुछ पता नहीं है।

इस सूत्र में मौलिकता अत्यल्प दृष्टिगोचर होती है। इसके मुख्य स्रोत बौ० श्रौ० सू०, आप० श्रौ० सू० तथा सत्या० श्रौ० सू० हैं, केवल कृत्यों का क्रम कुछ भिन्न कर दिया गया है। इसमें अग्नि-मन्थन का सविस्तर वर्णन किया गया है, यद्यपि यह काठक से ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार अग्निकुण्डों (१,१-२) तथा यज्ञपात्रों का भी (११,७-१०) विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

---

१. किन्तु 'सूत्र-तात्पर्य-चिन्तामणि' (पृ० २०) में शुल्ब का भी उल्लेख किया गया है— **"तच्च सूत्रं स्मार्तधर्मश्रौतशुल्बादिनामभिर्बहुधा प्रतिपाद्य विषयभेदेन विभक्तं सद् व्यवह्रियते।"** (द्र. कैलैण्ड, सं० पृ० २४)

२. वै० श्रौ० सू० २,६; तु. तै० आर० १०,११; तथा द्र. वै० गृ० सू०, १, ३।

३. वै० श्रौ० सू० १,१०।

४. वै० श्रौ० सू० ४,१।

५. श्रौत सू० मन्त्र-संहिता में वे मन्त्र प्रतीकरूपेण दिये गये हैं, जिन्हें गृ०सू० मन्त्र-संहिता में सकलपाठेन दिया गया है—द्र. कैलैण्ड, वै० श्रौ० सू०, भूमिका, पृ० १५; तथा २२-२४; कीथ, बी० एस० ओ० एस०, भाग ५, पृ० ९२३-९२५; (इस मन्त्र-संहिता में ४ प्रश्न तथा ६१ अनुवाक हैं, तथा श्रौ० सू० के १-६ प्रश्नों तक के मन्त्र पाये जाते हैं)।

६. आनन्द-संहिता, १,७८।

भाषा की दृष्टि से भी इसमें कई दूषित प्रयोग लक्षित होते हैं। आकारान्त स्त्री० शब्दों का सम्प्रदान (-आयै) के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग (-आयाः); ईकारान्तों का -यै के स्थान पर -याः का प्रयोग; संज्ञावाचक शब्दों का अशुद्ध लिंग तथा वचन; आत्मनेपदी के स्थान पर परस्मैपदी रूपों का प्रयोग—यथा, आददाति (९-१०) आदधात् (१३, ४)। इसके भाषागत अशुद्धियों के कुछेक उदाहरण हैं[1]। इस सूत्र में कुछ ऐसे अस्पष्ट एवं दुरूह शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है, जिनका अर्थ अनिश्चित है :—

अधोमेखला	(१,२) ; अनिरुप्र (१०,८)
अवकाविल	(१२,६) ; आखुमूषा (९,१०)
आछिद्रक	(१७,२) ; कुडुव (१,७)
नैष्पुरीष्य	(१२,२) ; प्रतिसामिधेनि (६,१)
सेष्टचाधान	(१,१६)।

डॉ० कैलैण्ड के मत में यह श्रौतसूत्र अपने गृह्य (स्मार्त) सूत्र से अर्वाचीन है, क्योंकि श्रौतसूत्र (२०, २२) में कहा गया है—**अपि वाकृति-दहनं कुर्युस्तद् व्याख्यातम्**, जो कि स्मार्त सूत्र ५,१२ की ओर संकेत करता है।

स्मार्तसूत्र में कहा गया है—**पात्रस्रुवादयो यज्ञे प्रोक्ताः** (१,८), जो वै०श्रौ० सू० ९,७-११ की ओर इंगित करता है। भाष्य के अनुसार यहां निष्ठा का प्रयोग **आशंसायां भूतवच्च** (पा० ३, ३, १३२) के अनुसार भविष्यत् के अर्थ में हुआ है।

ऐसे ही स्मार्तसूत्र (९, ३) में कहा गया है—**यथोक्तमग्निकुण्डानि कुर्यात्** जिस पर भाष्य इस प्रकार है—**वक्ष्यमाणश्रौतोक्तप्रकारेणाग्निशालां तत्राग्निकुण्डानि गार्हपत्यादीनि कुर्यात्**।

किन्तु इन उद्धरणों तथा ऊपर उद्धृत 'सूत्रतात्पर्य-चिन्तामणि' के वचन से इतना ही सिद्ध होता है कि इस कल्प में स्मार्त-भाग का प्रतिपादन श्रौत-भाग से पूर्व किया गया है। इससे कालगत व्यवधान सिद्ध नहीं होता।

वै० श्रौ० सूत्र कोई स्वतन्त्र कृति नहीं है, अपि तु बौ० श्रौ०सू०, आप० श्रौ० सू० तथा हिर० श्रौ० सू० पर निर्भर करता है; कहीं-कहीं विषय के पौर्वापर्य में फेर-बदल कर देता है। अन्तर केवल यह है कि जहां बौधायन० आपस्तम्ब० तथा

---

१. विशेष द्र. कैलैण्ड, उपर्युक्त, पृ० १७ तथा अग्रे।

२. पृ० ८४, टि० १।

हिरण्यकेशि-सूत्र यजमान के कृत्यों के विवरणार्थ एक पृथक् अध्याय 'याजमान' का निर्माण करते हैं, वहां वै० श्रौ० सू० यज्ञ में क्रम-प्राप्त यजमान-कृत्यों को उनके कर्मोचित स्थान पर ही सन्निविष्ट करने का प्रयास करता है। इसी प्रकार जहां अन्य सूत्र **प्रवर्ग्य** के विवरणार्थ पृथक् अध्याय का निर्धारण करते हैं, वहां वै० श्रौ० सू० अग्निष्टोम के अन्तर्गत क्रम-प्राप्त स्थान पर ही इसका विवरण प्रस्तुत करता है।

कैलैण्ड के अनुसार ग्रन्थकार की मौलिक रचना के दर्शन भी होते हैं, यथा—

१. अग्निमन्थन का विस्तृत विवरण (१,१)।
२. अग्निकुण्डों का यथार्थ वर्णन (१,१-२)।
३. यज्ञपात्रों का सूक्ष्म तथा विस्तृत विवरण (११,७-१०)। शेष समस्त वर्णन प्राचीन एवं पूर्वगत विवरणों पर आधृत है। तो भी इसमें कुछ एक नवीनताएं तथा उद्भावनाएं दृष्टिगोचर होती हैं।

इस सूत्र को आत्मसात् करने के लिये इसकी मन्त्रसंहिता को हृदयंगम करना आवश्यक है, यद्यपि वे सभी मन्त्र आप० श्रौ० सू० तथा हिर० श्रौ० सू० में उपलभ्य हैं, जो वर्तमान तै० सं० में नहीं पाये जाते। अतः मन्त्र-संहिता के अभाव में भी सूत्र को समझने में अपरिहार्य बाधा उपस्थित नहीं होती।

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, इस सूत्र में विष्णु के अतिरिक्त और किसी भी देवता को मान्यता प्रदान नहीं की गयी। वैखानस सम्प्रदाय ईश्वर, जीव तथा प्रकृति, इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करता है। तथा श्री महाविष्णु दिव्य-मंगल-विग्रह की भक्तिपूर्वक अर्चना के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।

संस्करण :—कैलैण्ड सम्पादित, बि०इण्डि०, कलकत्ता १९४१।

पञ्चम अध्याय

शुक्ल-यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

कात्यायन-श्रौतसूत्र :

वाजसनेय-संहिता की माध्यन्दिन और काण्व, दोनों शाखाओं का एक ही श्रौतसूत्र कात्यायन के नाम से विख्यात है[1], किन्तु इस विषय में ज्ञातव्य है कि इस सूत्र में अधिकांश विनियोग उन मन्त्रों के दिये गये हैं, जो केवल काण्व-संहिता में ही पाये जाते हैं और वे सकल-पाठ में उद्धृत हैं, केवल एक अपवाद है ४,२,१२ (काण्व-सं० २, ५, ७)। कई अंशों में यह सूत्र श० ब्रा० मा० की अपेक्षा काण्व श० ब्रा० के निकटस्थ है[2]। इसके तीन अध्यायों (२२-२४) के विषय सामवेदीय ब्राह्मणों—पञ्चविंश (ताण्डच) आदि से ग्रहण किये गये हैं। एक परम्परा के अनुसार कात्यायन ने गृह्यसूत्र की भी रचना की थी। स्मृतिचन्द्रिका[3] में तो पारस्कर-गृह्यसूत्र को कात्यायन-गृह्यसूत्र के नाम से उद्धृत किया गया है और चतुर्वर्ग-चिन्तामणि (श्राद्धकल्प, पृ० १४५३) में कात्यायन-सूत्र के नाम से[4]। किन्तु इस विषय में इस परम्परा के विरुद्ध दूसरी परम्परा को ही मानना उचित है, जो गृह्यसूत्र को पारस्कर की कृति मानती है[5]। ये कात्यायन वही कात्यायन हैं, जिन्होंने वा० प्रा० की रचना की थी।

---

१. तु. कर्काचार्य, का० श्रौ० सू० २,१,३ पर ··· **स्मरन्ति हि पञ्चदश शाखोपनिबन्धनं कृतमाचार्येणेति । तस्मान्नास्ति प्रत्यक्षकृतो विशेषः । उच्यते । शाखाद्वयमधिकृत्य तात्पर्येणानुप्रवृत्त आचार्यः ।** ध्यान रहे कि वा० प्रा० पन्द्रहों शाखाओं के लिये प्रमाण माना जाता है ।

२. द्र. कैलैण्ड श० ब्रा० का०, पृ० ९१ ।

३. पृ० ५७२; ५८१ ।

४. दुर्गामोहन भट्टाचार्य, *Materials for the study of Vaitānasūtra, Our Heritage*, Vol. V, p. 15, n.

५. Vide, Oldenberg, S.B.E., Vol. XXX, Intro. pp. XXXI-XXXII. इसके विरुद्ध द्र. श्रीधर शास्त्री वारे 'याज्ञवल्क्यचरित्र' (मराठी) पृ० ६०; तु. रामगोपाल, इण्डि० कल्प सू० पृ० ७३ ।

कात्यायन-श्रौतसूत्र की विषयतालिका इस प्रकार है :—

अध्याय :	
१	परिभाषा।
२-३	दर्शपूर्णमास।
४	पिण्डपितृयज्ञ, दाक्षायण-यज्ञ, अन्वारम्भणीयेष्टि, आग्रयणेष्टि, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र।
५	चातुर्मास्य।
६	निरूढपशुबन्ध।
७-११	अग्निष्टोम।
१२	द्वादशाह।
१३	गवामयन।
१४	वाजपेय।
१५	राजसूय।
१६-१८	अग्निचयन।
१९	कौकिली सौत्रामणी।
२०	अश्वमेध।
२१	पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध।
२२	एकाह।
२३-२४	अहीन।
२५	प्रायश्चित्त।
२६	प्रवर्ग्य।

इस प्रकार यह सूत्र २६ अध्यायों[1] में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय का विभाजन कण्डिकाओं में किया गया है, जो वा० सं० के विभाजन के अनुरूप ही है। इस श्रौतसूत्र में वा० सं० के मन्त्रों तथा शतपथब्राह्मण की विधियों के क्रम का अनुसरण किया गया है। किन्तु यद्यपि काम्य-इष्टियों और काम्य-पशु सम्बन्धी कृत्यों का विधान वा० सं० में नहीं पाया जाता, तो भी श्रौतसूत्र में कुछ एक काम्य-इष्टियों का प्रतिपादन किया गया है।

इस सूत्रग्रन्थ के सूत्र प्रायः छोटे और सहेतुक हैं, जिससे अनुमान किया जाता है कि यह सूत्रों के विकास के अन्तिम चरण से सम्बद्ध है। जहां आपस्तम्ब प्रभृति में बह्वृचों, वाजसनेयकों तथा अन्य शाखान्तरीय आचार्यों के विचारों को उद्धृत किया गया है, वहां इसमें जातूकर्ण्य, वात्स्य तथा बादरि के अतिरिक्त अन्य

---

१. काशिकर महोदय ने न जाने किस आधार पर का० श्रौ० सू० के विभागों को 'प्रश्नों' की संज्ञा दी है। वहां स्पष्ट ही 'अध्याय' निर्दिष्ट हैं।

आचार्यों अथवा शाखान्तरीय कर्म-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख नहीं किया गया। जहां-कहीं मतान्तर की ओर संकेत किया भी गया है, वहां 'इत्येके', 'इत्येकेषाम्' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो सम्भवत: शुक्ल यजुर्वेद के ही अन्य आचार्यों की ओर इंगित करते हैं।

इस सूत्र की एक विशेषता यह है कि इसमें जैमिनीय मीमांसासूत्र के सूत्रों से बहुत्र साम्य ही नहीं पाया जाता, अपि तु शाब्दिक ऐक्य भी लक्षित होता है, यथा—

	कात्यायन-सूत्र	जैमिनि-सूत्र
१.	परार्थेष्वेक: कृतत्वात् (१२,१,१४)	परार्थेष्वेक: (१२,४,३२)।
२.	चैत्यानन्तर्यात् (१३,१,५)	आनन्तर्यात्तु चैत्री स्यात् (६,५,३१)।
३.	प्रकृतेर्वाऽनामत्वात् (५,४,५)	प्रकृतं वाऽनामत्वात् (७,३,२१)।
४.	सोमाच्चावभृथे (४,३,५)	तथा अवभृथ: सोमात् (७,३,१२)।
५.	द्वादशाह: सत्रमहीनश्च (१२,१,४)	सत्रमहीनश्च द्वादशाह: (८,२,२४)।

दोनों सूत्रों में अर्थगत साम्य भी स्थान-स्थान पर लक्षित होता है।

१.	संख्याविकल्पो दानसंयोगे कृतत्वात् (१,८,२०)	संख्यासु विकल्प: स्यात्। (१२,४,९)
२.	नित्यानुवादोऽनुयाज-प्रतिषेध: (७,४,२६)	नित्यानुवादो वा कर्मण: स्यात्। (१०,७,३)
३.	कालातिक्रमे नियतक्रिया प्राप्तकालत्वात् (७,१,२२)	नियतानामनुत्कर्ष: प्राप्तकालत्वात्। (६,५,३८)
४.	आहवनीययजतयो ध्रुवाया: (१,८,३७)	ध्रौवाद्वा सर्व-संयोगात्[1] (१०,८,४८)।

इतना ही नहीं। यज्ञकर्मसम्बन्धी अनेक विषयों पर मीमांसा-शास्त्रीय तर्क-वितर्क के आधार पर विचार किया गया है। तथा अनेक पारिभाषिक शब्द भी मीमांसाशास्त्रीय शब्दावली के अनुरूप ही प्रयुक्त हुए हैं; यथा—**क्रम** (का० श्रौ० सू० १,५; जै० सू० ५,१), **तन्त्र** (का० श्रौ० सू० १,७; जै० सू० ९,३,४), **अतिदेश** (का० श्रौ० सू० ६, ३ ; जै० सू० ७,३)। द्विदेवत्य ग्रहों के शेष के भक्षण-क्रम के विषय में तो का० श्रौ० सू० (९,११,११-१५) ने मीमांसा-सूत्रों (३,५,३६-३९) का स्पष्ट अनुकरण ही नहीं किया, अपि तु तत्रत्य युक्तियों का भी ज्यों का त्यों प्रयोग किया है। इन सभी तर्कों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता

---

१. द्र. का० श्रौ० सू०, विद्याधर गौडकृत व्याख्या, भूमिका, पृ० २७-२८, अच्युतग्रन्थ-माला, वाराणसी, सं० १९८७।

है कि श्रौतसूत्र ने पूर्वमीमांसा को स्पष्ट आधार मान कर कर्मों का प्रतिपादन किया है। इसका अकाट्य प्रमाण यह है कि जैमिनिसूत्रों के ८९ अधिकरणों के समानान्तर सूत्र या सूत्रसमूह कात्यायन श्रौतसूत्र में उपलब्ध हैं। इनमें से भी २९ अधिकरण ऐसे हैं, जिनमें के न्यूनातिन्यून एक सूत्र का कात्यायन के समानान्तर सूत्र से शाब्दिक साम्य लक्षित होता है।

कात्यायन श्रौतसूत्र ही एक ऐसा सूत्र है, जिसमें शेष-शेषिभाव के सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है और इसी सूत्र में पूर्वमीमांसा के छह प्रमाणों—श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या—का खुलकर उपयोग किया गया है[1]। इन सभी निर्देशों से प्रतीत होता है कि पूर्व-मीमांसा तथा इस श्रौत-सूत्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इस सूत्र में दीर्घ-सत्रों के सभी रूपों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया गया है।

संवत्सर-साध्य-सत्रों में **आदित्यानामयनम्**, **अङ्गिरसामयनम्**, **दृति-वातवतोरयनम्**, **कुण्डपायिनामयनम्** तथा **सर्पाणामयनम्** का विवरण दिया गया है।

त्रिसंवत्सरसाध्य सत्रों में **तापश्चित्त**, **त्रिसंवत्सर सत्र** तथा पञ्चसंवत्सर-साध्य सत्रों में **महा-तापश्चित्त**, **क्षुल्लकतापश्चित्त** तथा **अग्निसत्र** गिनाये गये हैं।

चार महासत्रों का भी विवरण उपलब्ध होता है—

प्राजापत्य, जो द्वादशवर्ष तक चलता है।

शाक्त्यानामयनम् ३६ संवत्सरों में समाप्त होता है।

साध्यानामयनम् १०० संवत्सरों में समाप्त होता है। **विश्वसृजामयन** १००० वर्षों में सम्पाद्य है।

सारस्वत-सत्र की दीक्षा "सरस्वती-विनशन"[2] पर होती थी। पुनः **"शम्याप्रास"** पर यज्ञ करते हुए दक्षिण तीर पर प्रतिदिन ऊपर की ओर चलते

---

१. D.V. Garge, *Citations in Śabara-bhāṣya*, p. 16-17 ; 52-54.

२. "सरस्वती-विनशन" के अनेक अर्थ किये गये हैं। देवयाज्ञिक के अनुसार यह **"सरस्वती समुद्रसङ्गम=प्रभासक्षेत्र** है, 'जहां सरस्वती का "अन्तर्भाव" हो जाता है' (अग्निस्वामी, ला० श्रौ० सू० १०, १५, १)। "सरस्वती का मध्यभाग जहां भूमि में निमग्न होता है" (माधवाचार्य तथा धन्विभाष्यकार ; 'जहां सरस्वती 'अन्तर्हित' हो जाती है' (जय स्वामी)। वस्तुतः यह स्थान बीकानेर में है, जहां सरस्वती का प्रवाह रेत में निमग्न हो जाता है और आगे जाकर पुनः प्रकट हो जाता है।

हुए सरस्वती और दृषद्वती के संगम पर पहुँच कर "अपोनप्त्रीय चरु" का हवन करना होता था। "प्लक्षप्रास्रवण" (२४, ६, १५) के स्थान पर "अग्निकाम" दृष्टि का विधान था (२४,६,७) और अन्त में "कारपचव" देश में पहुँच कर यमुना में अवभृथ स्नान करना होता था।

इस सूत्र की एक विशेषता यह भी है कि वाजपेय के दोनों ओर बृहस्पति-सव का विधान करके दोनों का मिश्रण कर दिया गया है[1], यद्यपि अन्यत्र इसे पृथक्कर्म के रूप में स्वीकार किया गया है[2]। वाजपेय में ही "सप्तदश वृषल्यो निष्कण्ठ्यः (१४,२,२८) के अनुसार स्वर्णहारों सहित सत्रह शूद्रा दासियों का दक्षिणा के रूप में देने का विधान किया गया है। जात-पाँत के विषय में यह सूत्र अन्य सूत्रों से उत्तरवर्ती सामाजिक स्थिति का संकेत करता है। यज्ञशाला में शूद्र के प्रवेश का निषेध करके आपस्तम्बीय स्थिति में स्पष्ट परिवर्तन दर्शाया गया है। अश्वमेध की दक्षिणा के सम्बन्ध में एक विचित्र बात कही गयी है कि उदवसानीय के अन्त में यजमान महिषी तथा अनुचरियां ब्रह्मा को, वावाता और अनुचरियां उद्गाता को, परिवृक्ती तथा उसकी अनुचरियां होता को, कुमारी कन्या तथा पालागली अध्वर्यु को दे देवे। अथवा केवल अनुचरियों को दक्षिणा के रूप में प्रदान करे (२०,८,२४-२६)[3]। लगता है २६वां सूत्र परिवर्तित सामाजिक परिस्थिति के कारण रचा गया है।

कात्यायन-श्रौतसूत्र के स्रोत :

कात्यायन-श्रौतसूत्र के दो मुख्य स्रोत हैं—(१) शतपथब्राह्मण (२) ताण्ड्य महाब्राह्मण (पञ्च० ब्रा०)। इस के अधिकांश भाग का विषय-प्रतिपादन तथा विषयक्रम श० ब्रा० के अनुरूप हैं।

शु० य० वेद में प्रतिपादित कर्मकाण्ड की विस्तृत तथा क्रमबद्ध व्याख्या श० ब्रा० में की गयी है। इस ब्राह्मण के प्रथम नौ काण्डों में वा० सं० के अठारह अध्यायों की लगातार विस्तृत व्याख्या की गयी है। ब्राह्मण में केवल पिण्डपितृयज्ञ का विवरण अग्न्याधान, अग्निहोत्र प्रभृति के साथ दिया गया है, जबकि संहिता में इस की चर्चा दर्शपूर्णमास के साथ की गयी है। अन्तिम चार काण्डों में भी प्रायः वा० सं० का क्रम ही अपनाया गया है।

का० श्रौ० सू० के प्रथम अध्याय के अतिरिक्त, जहां परिभाषाओं, अधिकारी, मन्त्र, याग, होम प्रभृति के पारिभाषिक लक्षणों की व्याख्या की गयी

---

१. का० श्रौ० सू० १४, १, २।
२. का० श्रौ० सू० २२, ५, २९।
३. तु. श० ब्रा० १३,५,४,२७।

है—शेष अध्याय (१-१८) श० ब्रा० के प्रथम नौ काण्डों पर ही आधृत हैं। अध्याय १९ तथा २५ का आधार श० ब्रा० का बारहवां काण्ड है तथा अध्याय २०-२१ का तेरहवां काण्ड। अध्याय २२-२४ पञ्च० ब्रा० के अध्याय १६-२५ पर आश्रित हैं। सूत्र के बारहवें, तथा तेरहवें अध्यायों के अनेक सूत्रों का आधार पञ्च० ब्रा० के समानान्तर अध्यायों में पाया जाता है। २६वां अध्याय श० ब्रा० के १४वें काण्ड के प्रथम तीन अध्यायों का ऋणी है।

किन्तु सूत्र के प्रायः प्रत्येक अध्याय में ऐसे सूत्र पाये जाते हैं, जिन का मूल उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इस अनुपलब्धि का एक कारण यह हो सकता है कि इस समय तक कर्मकाण्ड का पर्याप्त विकास हो चुका था। अतः सूत्रकार ने सम्भवतः समयानुरूप विकसित नवीन पद्धति को अपना लिया होगा और याज्ञिकों को कर्मानुष्ठान में सुविधा प्रदान करने के लिए तथा कर्म की सम्पूर्णता के सम्पादनार्थ विशेष सूत्रों का निर्माण किया होगा।

यह भी सम्भव हो सकता है कि श० ब्रा० का वर्तमान रूप अपने मूलरूप में नहीं पाया जाता, क्योंकि बौ० श्रौ० सू० तथा आप० श्रौ० सू० में उद्धृत 'वाजसनेयिक' के दीर्घाकार वाक्य तथा आपस्तम्ब द्वारा संकेतित 'वाजसनेयिनों' के कर्मकाण्डीय नियम वर्तमान श० ब्रा० की दोनों शाखाओं में उपलब्ध नहीं होते। अतः इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारे सूत्रकार ने उस समय प्रचलित ब्राह्मण के अनुसार अपने सूत्रों का निर्माण किया होगा।

वस्तुतः सूत्रकार का मुख्य उद्देश्य किसी कर्म की प्रशंसा या व्याख्या न होकर कर्म के स्वरूप का प्रतिपादन मात्र होने के कारण वह ब्राह्मण का अन्धानुकरण करने को बाध्य भी नहीं है। इसी कारण उसने ब्राह्मण के दशमकाण्ड (अग्निरहस्य) से कुछ भी ग्रहण नहीं किया, क्योंकि उस में अग्निचयन के व्यावहारिक पक्ष के स्थान पर उस के रहस्यमय पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। इसी कारण एकादश काण्ड से भी कुछ ही सूत्रों के लिए सामग्री एकत्र की गयी है, कि उस में कर्मकाण्ड के व्यावहारिक पक्ष के स्थान पर उपाख्यानों तथा अर्थवाद-वचनों की भरमार है। इसी कारण सूत्रकार ने चौदहवें काण्ड के अन्तिम छह अध्यायों में से कुछ भी ग्रहण नहीं किया, क्योंकि उन में वृहदारण्यक उपनिषद् का समावेश है।

श० ब्रा० पर आधृत होते हुए भी हमारे सूत्रकार ने उस का अन्धानुकरण नहीं किया। इन्हों ने निरूढपशुबन्ध का विवरण अग्नीषोमीय-पशु-याग की प्रकृति के रूप में दिया है, जब कि श० ब्रा० में इसे अग्निषोमीय पशुयाग की विकृति मान कर संक्षेप से इसका वर्णन किया गया है। अतः इसके कुछ ही सूत्र श० ब्रा० के निरुढपशुबन्ध-प्रकरण पर आधृत हैं (११, ७, १, १-११, ८, ६, ६)। सौत्रामणी (१९वां अध्याय) में सूत्रकार ने अपनी पांच कण्डिकाओं के लिए ब्राह्मण के तीन अध्यायों (१२, ७-९) को आधार माना है, किन्तु ब्राह्मण के क्रम का सर्वथा

परित्याग कर दिया है। बीसवें अध्याय में सूत्रकार ने अश्वमेध का प्रतिपादन श० ब्रा० के १३वें काण्ड के प्रथम पांच अध्यायों के आधार पर किया है, किन्तु पूर्वोक्त सौत्रामणी के समान ही क्रम का सर्वथा व्यतिक्रमण कर दिया है।

पच्चीसवें अध्याय में प्रायश्चित्तों के विवरण को आंशिकरूपेण ब्राह्मण के १२वें काण्ड के तीन अध्यायों (४-५) तथा चतुर्थ काण्ड के पञ्चम अध्याय पर आधृत किया है। इस विषय में ब्राह्मण का विवरण सर्वथा अस्पष्ट तथा अधूरा है।

जहां तक पञ्चविंश ब्राह्मण का सम्वन्ध है, सूत्रकार ने इसका वहुत दूर तक अनुकरण किया है तथा एकाहों एवम् अहीनों के विवरण को इस ब्राह्मण के अनुरूप ही प्रतिपादित किया है।

सूत्रकार ने अनेकों ऐसे कर्मों का उल्लेख किया है, जिनकी श० ब्रा० में चर्चा भी नहीं की गयी।

सूत्रकार ने तीन सूत्रों में **तार्प्य** के विविध अर्थों पर प्रकाश डाला है[1]। **विष्णुक्रम** की व्याख्या की है[2] तथा **स्रुवाधार होम** में विनियोज्य मन्त्र का प्रतिपादन करके एतद्विषयक सन्देह का निवारण कर दिया है[3]। ब्राह्मण में ये तीनों नहीं पाये जाते।

कुछ विशेष कर्मों की कर्तव्यता के विषय में सूत्र ने विकल्प का विधान किया है[4], किन्तु ब्राह्मण में ऐसा नहीं किया गया। कई स्थलों पर सूत्रकार ने अन्य-आचार्यों की सम्मति को 'एके' शब्द से उद्धृत किया है, किन्तु ब्राह्मण में इन आचार्यों की सम्मति नहीं दी गयी। यथा अश्वमेध में अध्वर्यु पुंश्चलू को कुत्ते को मुसल से मारने का प्रैष देता है[5]। यह प्रैष **आयोगव** के प्रैष के विकल्प में दिया गया है, किन्तु ब्राह्मण ने ऐसा कोई विकल्प नहीं किया। इसके विरुद्ध अनेक वार सूत्रकार ब्राह्मण का शब्दशः अनुकरण करता है।

कात्यायन के काल का निर्णय करना टेढ़ी खीर है। हमारे सम्मुख तीन कात्यायन हैं, जिन्होंने अपनी प्रतिभा की छाप संस्कृत-साहित्य पर सदा के लिये लगा दी है। एक तो वा० प्रा० के कर्ता, दूसरे वे जिन्होंने ऋक्सर्वानुक्रमणी तथा

---

१. का० श्रौ० सू० १५, ५, ७-१०।
२. ,, ,, ,, १६, ६, ६।
३. ,, ,, ,, १६, १, ३५-३६।
४. ,, ,, ,, १४, १, १४; १४, १, १५; २०, १, ७-८।
५. ,, ,, ,, २०, १, ३६-३७।

श्रौतसूत्र का निर्माण किया था। तीसरे पाणिनीय अष्टाध्यायी के वार्तिककार। वार्तिककार का तो इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। शेष दो के विषय में विचार अपेक्षित है। यद्यपि परम्परा का० श्रौ० सू०, ऋक्सर्वा०, तथा वा० प्रा० को एक ही व्यक्ति की कृतियां मानती आ रही है और पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे मान्यता दी है[1] तो भी काशिकर का मत है कि अनुक्रमणीकार और श्रौतसूत्रकार में शताब्दियों का अन्तर है[2]। प्रथममतानुसार श्रौतसूत्रकार कात्यायन पाणिनि से पूर्वकालिक ठहरते हैं, जबकि द्वितीय के अनुसार वह पाणिनि से उत्तरवर्ती हैं। यदि श्रौतसूत्र तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी का कर्ता एक ही कात्यायन हो, तो बृ०दे० से उत्तरवर्ती होने के कारण वह आश्वलायन से अवश्य ही उत्तरवर्ती है। क्योंकि बृ० दे० (४,१३९) आश्वलायन का स्पष्ट उल्लेख करता है तथा स्वयं बृ० दे० ऋक्सर्वानु० का स्रोत है। सर्वानु० के अनेकानेक आर्ष एवम् अपाणिनीय प्रयोग इसे पाणिनि से पूर्वकालिक सिद्ध करते हैं। उपरि-वर्णित तथ्यों से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि पूर्वमीमांसा तथा का० श्रौ० सू० में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधिकारिक विद्वानों ने मीमांसासूत्रों का रचनाकाल ४०० ई०पू० के निकटस्थ माना है[3]। अतः यह कात्यायन पूर्वमीमांसा सूत्रों से उत्तरवर्ती ठहरते हैं। एक बात तो स्पष्ट है कि श्रौतसूत्रकार की रचना-शैली वा० प्रा० की रचनाशैली से अधिक प्रौढ और परिपक्व है, अतः वा० प्रा० का कर्ता कात्यायन श्रौतसूत्रकार नहीं हो सकता। यद्यपि इसमें भी वैदिक शब्दावलि और अपाणिनीय शब्दों के प्रयोग पाये जाते हैं, तो भी केवल इसी आधार पर इसे पाणिनि से पूर्वकालिक नहीं कहा जा सकता। वैदिक विषय और कर्मकाण्डीय परम्परा के कारण प्राचीन शब्दावलि का प्रयोग सर्वथा सम्भव है, तो भी आपस्तम्बीय श्रौतसूत्र की भाषा से इसकी भाषा में अधिक विकास लक्षित होता है। अतः यह श्रौतसूत्रों में अर्वाचीन रचना है।

अतः इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि यह रचना पाणिनि से उत्तरवर्ती है और पूर्वमीमांसा से अत्यन्त प्रभावित है। अतः इसका रचनाकाल ४००-३०० ई०पू० सम्भव है। दूसरी ओर सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन का काल

---

१. वेबर, इण्डिस्टु० ५, पृ० ६४; कीथ, तै० सं० आग्लानुवाद, भूमिका, पृ० १६७; मैकडॉनल ने इन्हें ही श्रौतसूत्रकार भी माना है (बृ० दे०, भूमिका, पृ० २२; ऋक्सर्वानुक्रमणी, भूमिका, पृ० ८; रामगोपाल ने इसी मत की पुष्टि की है— इण्डि० कल्प० सू०, पृ० ७२; तथा कीथ, ऐ० आर०, भूमिका, पृ० २१।

२. सर्वे०, पृ० ७७।

३. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग २, पृ० ३७१।

सप्तमी शती ई०पू० से अर्वाचीन नहीं हो सकता। अतः श्रौतसूत्रकार भी उतने ही प्राचीन ठहरते हैं[1]।

व्याख्याएं :—१. कात्यायन-श्रौतसूत्र पर अनेक व्याख्याएं लिखी गयी हैं, जिनमें से भर्तृयज्ञ की व्याख्या सर्वप्राचीन प्रतीत होती है। इनका उल्लेख यद्यपि कर्काचार्य ने नहीं किया, तो भी अनन्तदेव के भाष्य में इन का उल्लेख है। भर्तृयज्ञ नागर ब्राह्मण थे और इनका उल्लेख स्कन्दपुराण (नागर-खण्ड, ११३-११७) में किया गया है। कर्क ने पार०गृ० भाष्य में नाम-निर्देश के बिना ही भर्तृयज्ञ का अनेकशः खण्डन किया है। त्रिकाण्डमण्डन (११५० ई०) में भर्तृयज्ञ का उल्लेख किया गया है। मेधातिथि (मनु० ८,३) ने भी इन्हें उद्धृत किया है[2]।

२. कर्काचार्य ने अपने भाष्य में एक "वृद्धयाज्ञिक-यशोगोमी" का उल्लेख किया है (२,१,७) और एक 'उपाध्यायपाद' को भी स्मरण किया है, जो सम्भवतः उनके गुरु होंगे।

३. कर्कोपाध्याय या कर्काचार्य ने सम्पूर्ण सूत्र पर भाष्य लिखा है। श्रीधर शास्त्री वारे के मत में कर्कोपाध्याय का काल सं० ३८० है, क्योंकि एक 'कर्काध्यापक' का नाम 'दत्तकुशली' (प्रशान्त राय) द्वारा प्रदत्त उस समय के ताम्रपत्र में उल्लिखित है। किन्तु इन दोनों 'कर्कों' की एकता सिद्ध नहीं हो सकी, न ही ये कर्कोपाध्याय इतने प्राचीन माने जा सकते हैं। कर्कभाष्य सं० १९६५ में चौखम्बा संस्कृत-ग्रन्थमाला में वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है। इसके कुछ अंश वेबर ने १८५९ ई० में स्वसम्पादित का० श्रौ०सू० में प्रकाशित किये थे। १९०३-०८ ई० में मदनमोहन पाठक ने कर्कभाष्य वाराणसी से प्रकाशित किया था। कर्क को भास्कर मिश्र ने त्रिकाण्डमण्डन में उद्धृत किया है। अतः इनका स्थितिकाल ११वीं शती से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

---

१. वर्तमान मीमांसा-सूत्र भले ही ४०० ई० के आस-पास की रचना हो, किन्तु दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में यह दर्शन पाणिनि से पूर्व विद्यमान था। पा० (४,२,६१) ने मीमांसा (गणपाठ) तथा मीमांसक एवं 'मीमांसते' (३,१,६) का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में किया है।

२. पार० गृ० प्रकरण द्र.।

४. देवयाज्ञिक-कृत पद्धति, विद्याधर गौड द्वारा अध्याय २४, ६, ६ तक सम्पादित, चौखम्बा०, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित, १९३३। वेबर ने स्वसम्पादित का० श्रौ० सू० में इसके कुछ अंश १८५९ में प्रकाशित किये थे।

५. अनन्तदेव कृत भाष्य के हस्तलेख उपलभ्य हैं।

६. पं० विद्याधर गौड ने 'सरला वृत्ति' की रचना की है (अच्युतग्रन्थ-माला, वाराणसी, सं० १९८७)। यह सूत्रार्थ को आत्मसात् करने के लिये बहुत उपयोगी है।

षष्ठ अध्याय

सामवेदीय श्रौतसूत्र

आर्षेयकल्प या मशक कल्पसूत्र :

मशक या मशक गार्ग्य द्वारा रचित सामवेद से सम्बद्ध आर्षेय कल्प या मशक कल्पसूत्र में विभिन्न सोमयागों में गाये जाने वाले **स्तोमों** की **क्लृप्तियों** का विवरण दिया गया है। इसमें एकाह से लेकर सहस्रसंवत्सरपर्यन्त सोमयागों की सर्वाधिक विशाल, किन्तु शुष्क तालिकाएं दी गयी हैं। तीन सौ इकसठ दिनों तक चलने वाले **गवामयन** से आरम्भ करके एकाहों, अहीनों, **द्वादशाहों** से होता हुआ सहस्र-संवत्सरात्मक सत्त्र-पर्यन्त समस्त-यागों का साम-विषयक विवरण देते समय इसने पञ्चविंश (ताण्डचमहा)-ब्राह्मण का सूक्ष्म अनुसरण किया है। **श्येनयाग, संदंश, इषु** तथा **वज्र** जैसे एकाह अभिचार-यागों का विवरण पञ्च० ब्रा० में नहीं दिया गया, किन्तु षड्विंश ब्रा० में दिया गया है। तो भी इस सूत्र ने इन यागों के विषय में षड्० ब्रा० का अनुसरण न करके यजुर्वेदीय परम्परा को अपनाया है, जहां **श्येनयाग साद्यस्क्र** के पश्चात् तथा **इषु बृहस्पति सव** के पश्चात् एवं संदंश तथा **वज्रयाग** एकाहों के अन्त में दिये गये हैं।

इस सूत्र में यज्ञों में विनियोज्य गानों को प्रायः सामवेद के ऊह तथा **रहस्य** गानों से ग्रहण किया गया है। किन्तु कुछ एक गानों को **ग्रामगेयगानों** तथा **अरण्यगेयगानों** से भी लिया गया है।

जिस तृच पर कोई विशेष गान गाया जाता है, उसकी आद्या ऋचा का निर्देश प्रतीक से कर दिया गया है। कोई-कोई गान तृच से न्यूनाधिक ऋचाओं पर भी गाया जाता है, वहां ऋचाओं की संख्या का निर्देश कर दिया जाता है। कहीं-कहीं उस ऋचा के छन्द का संकेत किया जाता है, यथा—**गौरीवितमनुष्टुभि।** अर्थात् **गौरीवित** साम का गान अनुष्टुभ् छन्द वाली ऋचा पर गाया जाता है। यह विशेषज्ञ ही जान सकता है कि यहां कौन-सी विशेष अनुष्टुभ्-ऋचा का प्रयोग अभीष्ट है।

अन्यत्र **एकस्यां, अध्यास्यायां, अनुरूपः, प्रतिपत्** शब्दों के प्रयोग से किसी विशेष ऋचा या उसके एक भाग का निर्देश किया गया है। अनेक बार किसी भी ऋचा का निर्देश नहीं किया जाता, क्योंकि ब्राह्मण में उसका निर्देश पहले ही किया जा चुका है।

आर्षेयकल्प का आरम्भ **गवामयन** से होता है, जो दो अध्यायों में समाप्त होता है[1]। तृतीय से पञ्चम अध्याय तक **एकाहों** का विवरण दिया गया है। षष्ठ से अष्टम अध्याय तक **अहीनों** का तथा नवम से एकादश अध्याय तक **सत्रों** का वर्णन किया गया है।

गवामयन का विवरण इस प्रकार है कि इसको दो पक्षों में विभक्त किया गया है—पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष।

पूर्वपक्ष—

पूर्वपक्ष में १८० दिन लगते हैं। इनमें से प्रथम दो दिनों में **अतिरात्र** तथा **प्रायणीयेष्टि** का अनुष्ठान होता है, जिसमें **चतुर्विशस्तोमात्मक स्तोमों** का प्रयोग होता है = २ दिन

प्रथम मास में ४ **अभिप्लव-षडह** तथा एक **पृष्ठच-षडह** = ३० दिन

द्वितीय से पञ्चम मास तक पूर्ववत् =१२० दिन

षष्ठ मास में ३ **अभिप्लवषडह**+१ **पृष्ठच०**+१ **अभिजित्** +३ **स्वरसाम** = २८ दिन

विषुवत् = १ दिन

कुल योग १८१ दिन

उत्तर पक्ष—

सप्तम मास में ३ **स्वरसाम**+१ **विश्वजित्**+१ **पृष्ठच०** +३ **अभिप्लव०** = २८ दिन

अष्टम मास में १ **पृष्ठच०**+४ **अभिप्लव०** = ३० दिन

नवम, दशम तथा एकादश मास में भी पूर्ववत् = ९० दिन

द्वादश मास में ३ **अभिप्लव०**+१ **आयुष्टोम**+१ **गोष्टोम** +**द्वादशाह** के १० दिन = ३० दिन

महाव्रत+**अतिरात्र** = २ दिन

कुल योग १८० दिन

महायोग ३६१ दिन

---

१. व्याख्याकार वरदराज इस सूत्र को ११ अध्यायों में विभाजित करता है, जबकि कैलैण्ड सं० (पृ० १२) ११ प्रपाठकों की चर्चा करता है।

आरम्भ में अनुष्ठेय **अतिरात्र** में **षोडशिसाम** का प्रयोग नहीं किया जाता, किन्तु **प्रायणीयेष्टि** में **चतुर्विंशस्तोम** के सभी प्रकारों का प्रयोग किया जाता है। यहां छहों **स्तोमों** तथा सभी **उक्थों** की **क्लृप्तियों** का विधान किया गया है।

प्रथम मास में प्रयोज्य **अभिप्लवषडह** का निर्माण **ज्योति:+गौ:+आयु:+गौ:+आयु:+ज्योति:** के क्रमश: अनुष्ठान से किया जाता है। यहां ज्योतिष्टोम में उक्थ स्तोम नहीं होते। एक ही जैसे दो सामों में 'जामिदोष' (एक-सा अनुष्ठान) को रोकने के लिये शेष तीनों **अभिप्लव-षडहों** में परस्पर भेद किया जाता है। यहां **पृष्ठ्यषडह समूढ**-कोटि का होता है, जिसमें गायत्री, त्रिष्टुभ् तथा जगती छन्दों का स्थान-परिवर्तन नहीं होता, तथा सभी **स्तोम त्रिवृत्** प्रकार के होते हैं। **षडह** का द्वितीय दिन **दशरात्र** के द्वितीय दिन के समान होता है। केवल **माध्यन्दिन पवमान** में गेय साम (**एडोमायास्य, अभीवर्त** तथा **कालेय**) एक ऋचा पर ही गाये जाते हैं। **स्तोम पञ्चदश** होते हैं। तृतीय दिन में **माध्यन्दिन पवमान** में गेय साम-**पौरुमद्ग** तथा **अभीवर्त**—तो तृच (साम० ८५६-८) की प्रथम ऋचा पर, **कालेय** द्वितीय ऋचा पर, तथा **गौतम** तृतीय ऋचा पर गाये जाते हैं। चतुर्थ दिन से षष्ठ दिन तक **क्लृप्तियों** में न्यूनाधिक भेद किया जाता है तथा उनका अनुष्ठान **दशरात्र** के समानान्तर दिनों के समान ही किया जाता है।

द्वितीय से पञ्चम मास तक उपर्युक्त अनुष्ठानों की आवृत्ति की जाती है।

द्वितीय अध्याय में **गवामयन** का शेष कृत्य सम्पन्न किया गया है। षष्ठ मास में चार के स्थान पर तीन ही **अभिप्लवषडहों** का अनुष्ठान होता है, एक **अभिजित्** तथा तीन **स्वरसामों** का सन्निवेश और कर दिया जाता है। **अभिजित्** में **उक्थस्तोम** नहीं होता। **त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव** तथा **त्रयस्त्रिंश**—इन छह **स्तोमों** का प्रयोग होता है। इन **स्तोमों** के चार **स्तोमसमूह** इस प्रकार बनाये जाते हैं कि प्रत्येक समूह में तीन **स्तोम** सन्निविष्ट रहते हैं तथा प्रात: से सायं तक गाये जाते हैं। क्रमागत प्रत्येक **स्तोमसमूह** में से पूर्वगत **स्तोमसमूह** के एक **स्तोम** का परित्याग कर दिया जाता है तथा आगामी **स्तोमसमूह** में प्रयोज्य **स्तोम** को अन्त में जोड़ दिया जाता है ताकि तीन की संख्या बनी रहे। तीन-तीन **स्तोमों** के इन चार **स्तोम-समूहों** में से अन्तिम **स्तोमसमूह—एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश—सायंकालीन अच्छावाक आर्भव** तथा **अग्निष्टोम** स्तोत्रों में विनियुक्त होता है।

स्वरसामों में **उक्थों** के सन्निवेश करने अथवा न करने के विषय में मतभेद पाया जाता है। इन में प्रयोज्य तीनों स्तोम सप्तदशविधा के होते हैं।

विषुवत्—पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के मध्यस्थ यह कृत्य दोनों पक्षों को पृथक् करने का कार्य करता है।

उत्तरपक्ष सप्तम मास से आरम्भ होता है। इसमें पूर्वपक्षीय षष्ठमास के कृत्यों का ही प्रतिलोम क्रम से अनुष्ठान किया जाता है। वहां अनुष्ठित तीन **स्वरसामों** में से अन्तिम को यहां प्रथम **स्वरसाम** माना जाता है। इसी प्रकार **पृष्ठ्य-षडह** तथा **अभिप्लवषडह** कृत्यों का अनुष्ठान भी प्रतिलोम क्रम से ही सम्पन्न किया जाता है। सप्तम मास के २८ दिनों में **गवामयन** के अन्त में अनुष्ठेय **अतिरात्र** तथा **महाव्रत** के दो दिन जोड़ कर तीस दिन पूर्ण किये जाते हैं। अष्टम से एकादश मास तक के **पृष्ठ्य** तथा **अभिप्लव षडहों** तथा द्वादश मास के तीन **अभिप्लवषडहों** (१८ दिनों) का विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् आर्षेयकल्प में **आयुष्टोम, गोष्टोम** तथा **व्यूढ-द्वादशाह** के दशाह (१० दिनों) के कृत्यों का वर्णन किया गया है। अन्त में **महाव्रत** का अनुष्ठान विहित है, जिसे एक पक्षी के रूप में कल्पित किया गया है तथा उस में प्रयोज्य विविध स्तोत्रों की उसके विभिन्न अंगों के प्रतीक के रूप में कल्पना की गयी है।

तृतीय अध्याय में **गवामयन** के अनन्तर **अग्निष्टोम** तथा **व्यूढ-द्वादशाहों** के विवरण के स्थान पर **ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम, अभिजित्, विश्वजित्** तथा **महाव्रत** का विवरण प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि **अग्निष्टोम** तथा **व्यूढ-द्वादशाहों** का विवरण पञ्च० ब्रा० में पहले ही प्रस्तुत कर दिया गया है। **ज्योतिष्टोम** प्रभृति यागों में परस्पर साम्य के कारण इन्हें **निकायिनः** की संज्ञा दी गयी है। तदनन्तर **साहस्र** नामक चार यागों का विवरण दिया गया है। इनमें प्रातःसवन में भाग लेने वाले ऋत्विजों को सहस्र गौएं दक्षिणा में दी जाती हैं, **उपसद्** में सहस्र अनुवाकों का गान किया जाता है, **ब्रह्मसाम** में सहस्र अक्षर होते हैं[1]। इसी लिये इस की संज्ञा 'साहस्र' पड़ गयी है।

तदनन्तर **दीक्षा** से लेकर **अवभृथ** पर्यन्त सभी कृत्यों के एक ही दिन में समाप्त होने के कारण **साद्यस्क** नाम से अभिहित चार कृत्यों का वर्णन किया गया है।

इनमें से तृतीय **अनुक्री** तथा चतुर्थ **विश्वजिच्छिल्प** यद्यपि एकाहों के अन्तर्गत परिगणित हैं, तो भी इन्हें दो-दो दिनों में सम्पन्न किया जाता है। आचार्य **धानञ्जय्य** के अनुसार तो ये **त्रिरात्र** अनुष्ठान हैं। अतः इन्हें **एकाहों** के स्थान पर **अहीनों** में गिनना चाहिये।

श्येनयाग एक अभिचार-कर्म है, जिसका उल्लेख पञ्च० ब्रा० तथा षड्० ब्रा० में किया गया है। इसमें श्रमिक लोग ऋत्विज् होते हैं, किन्तु उन्हें भी वेदविद् होना आवश्यक है। ये रक्तवर्ण वस्त्र धारण करते हैं तथा रक्तवर्ण उष्णीष बांधते हैं, धनुष-बाण चढ़ाए रहते हैं तथा दक्षिणार्थ लायी गयी गौओं को तीक्ष्ण-

---

1. द्र. पञ्च० ब्रा० १६, ८, ३-४।

धार वाले अस्त्रों-शस्त्रों से बींध कर उनका रक्तस्राव करते हैं। ये यज्ञोपवीती न होकर 'निवीती' रहते हैं।

एकत्रिक में स्तोत्रों में **एक** तथा **त्रिक** नामक **स्तोमों** का प्रयोग किया जाता है। यह भी एक ही दिन में करणीय कृत्य है, जिसमें एक ही **दीक्षा** तथा तीन **उपसद्** होते हैं, ऐसा गौतम का मत है।

चार व्रात्यस्तोम संस्कारविहीन व्रात्यों द्वारा प्रायश्चित्त के रूप में सम्पन्न किये जाते हैं। **चतुःषोडशी, षट्षोडशी, द्विषोडशी शमनीचमेढ्राणां स्तोम** ये चारों कृत्य **निकायिनः** कहे जाते हैं। अन्तिम **स्तोम** वृद्ध तथा क्षीण-कामवासना वाले लोगों के लिये अनुष्ठेय है।

चार अग्निष्टुत् यागों का भी विधान है। ये चारों भी **निकायिनः** कहे जाते हैं। प्रथम तीन तो विविध प्रकार के पापों के लिये प्रायश्चित्त हैं, चतुर्थ **अन्नाद्यकाम** कर्म है। इससे अन्न तथा भोज्य पदार्थों की कामना पूर्ण होती है।

त्रिवृदग्निष्टोम—ये भी चार कर्म हैं (१) **प्रजापतेरपूर्व** उनके लिये है, जिनके ध्येय पूर्ण नहीं हुए। (२) **बृहस्पतिसव**—केवल उन ब्राह्मणों के लिए है, जो पौरोहित्य की कामना करते हैं। इसमें ३३ गौएं तथा अश्व दक्षिणा में दिये जाते हैं। बृहस्पति देवता के लिये एक पशु का आलम्भन किया जाता है तथा एक वन्ध्या गौ का मित्रावरुण के लिये भी। (३) **इषुयाग**—यह श्येनयाग के समान ही अभिचार-कर्म है, किन्तु पञ्च० ब्रा० में उल्लिखित नहीं। (४) **सर्वस्वार (शुनकर्णस्तोम)** यह **सुत्या** के दिन मरने की इच्छा करने वाले के लिए काम्य कर्म है।

इस **अध्याय** में वर्णित सभी कर्म एकाहों के अन्तर्गत परिगणित हैं।

चतुर्थ अध्याय (सौमिक-चातुर्मास्यानि)। चातुर्मास्यों में ७ **सुत्यादिन** होते हैं, जिनमें से दो तो **वरुणप्रघास** से सम्बद्ध हैं तथा तीन **साकमेध** से। यद्यपि इनकी परिगणना भी एकाहों में ही की गयी है, तो भी ये सात दिनों में अनुष्ठेय हैं। इनमें चार मुख्य कर्म होते हैं, (१) **वैश्वदेव** (२) **वरुणप्रघास** (३) **साकमेध** (४) **शुनासीरीय**। ये चारों कृत्य वर्षभर में सम्पाद्य हैं और क्रमशः फाल्गुनी पूर्णिमा, आषाढी पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा तथा फाल्गुनी पूर्णिमा को आरम्भ किये जाते हैं।

उपहव्य—(अग्निष्टोम-संस्था) (पञ्च० ब्रा० १८,१)।

ऋतपेय—(अग्निष्टोम-संस्था)।

दूणाश—(अग्निष्टोम-संस्था) 'साहस्र' से मिलता-जुलता कृत्य।

वैश्यस्तोम—(अग्निष्टोम-संस्था)।

तीव्रसत्—(उक्थ्य-संस्था) सोमयाग के उपरान्त किसी अपराध या दोष के हो जाने पर प्रायश्चित्तीय याग है, जो क्लृप्ति में आयुष्टोम से मिलता है।

वाजपेय—(उक्थ्य-संस्था) एकाह के गोष्टोम के समान है। इसकी समाप्ति प्रत्यवरोहणीय कर्म से होती है।

राजसूय—सौमिक चातुर्मास्यों के समान ही इसे भी एकाह नहीं कहा जा सकता। इसके अन्तर्गत ये कर्म मुख्य हैं—(१) अभ्यारोहणीय (२) अभिषेचनीय (३) दशपेय (४) केशवपनीय (५) व्युष्टिद्विरात्र (६) क्षत्रस्य धृति। एकाहों में परिगणित होने पर भी यह न तो एकाह है और न ही अहीन।

पञ्चम अध्याय—इसमें प्रतिपादित राज्, विराज्, औपशद्, पुनःस्तोम, चतुष्टोम (दो प्रकार का), उदभिद्, बलभिद्, अपचिति, सर्वस्तोम अपचिति, पक्षी (अग्निष्टोम०), ज्योतिः (अग्निष्टोम०), ऋषभ, गोसव, मरुत्स्तोम, इन्द्राग्न्योः कुलाय, इन्द्रस्तोम, इन्द्राग्न्योः स्तोम, दो विघन, सभी एकाह के अन्तर्गत परिगणित हैं। संदंश तथा वज्र नामक दो अभिचार-कर्म भी यहीं वर्णित हैं। इनमें से एक तो राजा के विरुद्ध प्रयोग में लाया जाता है, द्वितीय जनपद के विरुद्ध।

इस प्रकार कुल मिला कर यहां ६० एकाहों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

षष्ठ अध्याय से अष्टम अध्याय तक **अहीन** यागों का विवरण दिया गया है, जो दो रात्रियों से लेकर ११ रात्रियों तक चलते रहते हैं।

इन में १३ प्रकार के तो **अतिरात्र** ही हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

ज्योतिष्टोम०, सर्वस्तोम०, अप्तोर्याम०, नवसप्तदश०, विषुवद्०, गोष्टोम०, आयुष्टोम०, विश्वजित्, अभिजित्, ४ एकस्तोम० (त्रिवृत्०, पञ्चदश०, सप्तदश०, एकविंश०)।

द्विरात्र—आंगिरस द्विरात्र, चैत्र०, कपिवन०।

त्रिरात्र—गर्गत्रिरात्र, अश्वत्रिरात्र, बैदत्रि०, छन्दोमपवमानत्रि०, अन्तर्वसुत्रि०, परकत्रि०।

---

१. का० श्रौ० सू० २२, ५, १४।

२. पञ्च० ब्रा० १७, ११, २; आंग्लानुवाद।

सप्तम अध्याय

चतूरात्र—अत्रिचतूरात्र (चतुरवीर० वा), जामदग्न्य०, वासिष्ठप०, (संसर्प०) वैश्वामित्र० ।

पञ्चरात्र—तीन (देव०; पञ्चशारदीय, व्रतमध्य०) ।

षडह—तीन (ऋतूनां०, आयुष्काम०, पृष्ठ्यावलम्ब०) ।

सप्तरात्र—सात (सप्तर्षि०, प्राजापत्य०, पशुकामस्य०, क्षुल्लकजामदग्न्य०, इन्द्र०, जनक०, पृष्ठ्यस्तोम०) ।

अष्टरात्र—एक ।

नवरात्र—दो (देवानां०, पशुकामस्य०) ।

अष्टम अध्याय

दशरात्र—चार (त्रिककुब्०, कुसुरुबिन्द०, छन्दोमवद्०, देवपूर्०;) ।

एकादशरात्र—एक (पौण्डरीक०) । इन सब में परस्पर थोड़ा-थोड़ा भेद है ।

नवम अध्याय

इसमें ४८ सत्रों का विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

१. **द्वादशरात्र**—यह अतिरात्र (प्रायणीय) से आरम्भ करके अतिरात्र (उदयनीय) पर समाप्त किया जाता है। यह व्यूढ तथा समूढ दो प्रकार का होता है । इनमें से भी प्रत्येक अहीन तथा सत्र दो-दो प्रकार का होता है।

२. **त्रयोदशरात्र**—यह भी दो प्रकार का होता है—अतिरात्र+पृष्ठ्यषडह +सर्वस्तोम अतिरात्र+४ छन्दोम+अतिरात्र । इस प्रकार १३ दिनों में समाप्त होता है ।

३. द्वितीय त्रयोदशरात्र=अतिरात्र+द्वादशाह का दशाह+महाव्रत +अतिरात्र ।

४. चतुर्दशरात्र=प्रायणीय तथा उदयनीय अतिरात्र+गवामयन विधा के दो पृष्ठ्यषडह (द्वितीय षडह प्रतिलोम क्रम में सम्पाद्य) ।

५. द्वितीय चतुर्दशरात्र=दो अतिरात्र + ज्योतिष्टोम + गोष्टोम +आयुष्टोम (एकाहाः) + गवामयन का पृष्ठ्यषडह+आयुष्टोम +गोष्टोम+ज्योतिष्टोम ।

६. तृतीय चतुर्दशरात्र=दो अतिरात्र+गो+आयुः+द्वादशाह का दशाह ।

७-१०. चार प्रकार के पञ्चदशरात्र ।

११-१९. विविध प्रकार के सत्रयाग—षोडशरात्र, सप्तदशरात्र, दो अष्टादशरात्र, विंशतिरात्र, दो एकविंशतिरात्र, द्वाविंशतिरात्र, त्रयोविंशतिरात्र ।

२०. चतुर्विंशतिरात्र (संसोदामयन)=दो अतिरात्र+दो पृष्ठ्य०+दशाह।

२१. द्वितीय चतुर्विंशति०=दो अतिरात्र+दो अभिप्लव०+दशाह।

२२-३९. नाना प्रकार के सत्र, चत्वारिंशद्रात्र पर्यन्त।

४०-४६. सात प्रकार के एकोनपञ्चाशद्रात्र सत्र[1]।

४७. शतरात्रसत्र=अतिरात्र+ज्योतिः०+गो०+आयुः०+१४ अभिप्लव० +दशाह+महाव्रत+अतिरात्र।

४८. संवत्सररात्रसत्र—इसका वर्ष भर का विवरण इस प्रकार है—

प्रथम पांच मास=चार अभिप्लव०+१ पृष्ठ्य० (प्रतिमास)	=१५० दिन
षष्ठ मास=तीन अभिप्लव०+१ पृष्ठ्य०+१ अभिजित्	
+३ स्वरसाम+अतिरात्र+प्रायणीय	= ३० दिन
+दिवाकीर्त्यमहः	= १ दिन
कुल योग	१८१ दिन
सप्तम मास=३ स्वरसाम+विश्वजित्+१ पृष्ठ्य० +३ अभिप्लव०	= २८ दिन
अष्टम मास=१ पृष्ठ्य षडह+४ अभिप्लव०	= ३० दिन
नवम, दशम, एकादश मास, पूर्ववत्	=१२० दिन
द्वादश मास=३ अभिप्लव०+आयुः०+गो०+दशाह	= ३० दिन
महाव्रत तथा अतिरात्र (उदयनीय)	= २ दिन
कुल योग	=१८० दिन
	=१८१ दिन
महायोग	=३६१ दिन

दशम अध्याय—अयनयाग

गवामयन के अतिरिक्त अन्य **अयनयाग** भी आर्षेयकल्प में वर्णित हैं।

१. पाठ०, एकात्रपञ्चाशद्०।

१. मध्येपृष्ठ्यमयनम् या आदित्यानामयनम् का ढांचा इस प्रकार है—

प्रथम मास—अतिरात्र तथा चतुर्विंश प्रायणीय = २ दिन

२ अभिप्लव० (इनके अयुग्म दिनों में बृहत्स्तोम तथा युग्म दिनों में पञ्चदशस्तोम का प्रयोग होता है)+एक पृष्ठ्य०+२ अभिप्लव० = ३० दिन

द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम मासों में भी पूर्ववत् =१२० दिन

षष्ठ मास=३ अभिप्लव० (जिन में वृहत् तथा पञ्चदश स्तोमों का प्रयोग उपर्युक्त प्रथम मास के समान होता है)+१ पृष्ठ्य०+१ त्रिवृद्बृहस्पतिस्तोम+३ स्वरसाम = २८ दिन

दिवाकीर्त्यमहः = १ दिन

१८१ दिन

सप्तम मास=३ स्वरसाम+१ पञ्चदश-इन्द्रस्तोम उक्थ्य+पृष्ठ्य० त्रयस्त्रिंशारम्भण+१ अभिप्लव० (प्रथम मासवत्) +द्वादशाह का दशाह (त्रिवृत्स्तोम-प्रयोग पूर्वक व्यूढ-अग्निष्टोम के रूप में)+उद्भिद्+बलभिद् = २८ दिन

अष्टम मास=२ अभिप्लव० (उपर्युक्तवत्)+१ पृष्ठ्य० + २ अभिप्लव० = ३० दिन

नवम मास=दशम तथा एकादश (अष्टम मासवत्) = ९० दिन

द्वादश मास=१ अभिप्लव० (पञ्चदश तथा त्रिवृत्स्तोमों से)+१ पृष्ठ्य०+अभिप्लव० (पूर्ववत्)+गो०+आयुः० +छन्दोम-दशाह (क्रमशः ४८, ४४, ४०, ३६, ३२, ३०, २८, २८, २५, २४ स्तोमों सहित) = ३० दिन

महाव्रत तथा अतिरात्र = २ दिन

कुल योग १८० दिन
१८१ दिन

महायोग ३६१ दिन

गवामयन से आदित्यानामयन का अन्तर यह है—

१. अभिप्लवषडहों में प्रतिदिन प्रयोज्य स्तोमों में कुछ भेद होता रहता है।

२. बृहस्पतिसव में ब्रह्मसाम अभीवर्त होता है, सुज्ञान तथा गौरीवित साम क्रमशः उष्णिग् तथा अनुष्टुभ् छन्दों की ऋचाओं पर गाये जाते हैं।

३. आवृत्त स्वरसाम तक यह गवामयनवत् ही होता है, आगे अन्तर हो जाता है।

४. इन्द्रस्तोम में गौरीवित साम अनुष्टुभ् छन्द पर गाया जाता है।

५. सप्तम मास में प्रयोज्य पृष्ठ्यषडह की आवृत्ति प्रतिलोम होती है।

६. त्रिवृत् स्तोम में व्यूढ अग्निष्टोम से युक्त द्वादशाह के दशाह में २ से १० दिनों के कृत्य में कुछ परिवर्तन तथा संशोधन किया जाता है।

७. आवृत्त अभिप्लव० के प्रथम दिन ऐडमोक्षणोरन्ध्रसाम एकर्च पर गाया जाता है।

एकादश अध्याय

१. पुरस्तात्पृष्ठ्यम् या अंगिरसामयनम्—इसकी इस संज्ञा का कारण यह है कि इसके आरम्भ में पृष्ठ्यषडह का अनुष्ठान होता है। इसका रूप इस प्रकार है—

अतिरात्र तथा चतुर्विश प्रायणीय	= २ दिन
प्रथम से पञ्चम मास तक प्रतिमास १ पृष्ठ्य० + त्रिवृत्स्तोम से सम्पन्न चार अभिप्लव०	= १५० दिन
षष्ठ मास = ३ अभिप्लव० + १ पृष्ठ्य० (सभी त्रिवृत्स्तोम सहित) + १ बृहस्पति स्तोम + ३ स्वरसाम	= २८ दिन
विषुवत्	= १ दिन
सप्तम मास = ३ स्वरसाम + १ पञ्चदश इन्द्रस्तोम + १ अभिप्लव०, त्रयस्त्रिंशारम्भण सहित + त्रिवृद्-अभिप्लव० + दशाह + व्यूढ अग्निष्टोम, त्रिवृत् सहित + उद्भिद् + महाव्रत + उदयनीय अतिरात्र	= ३० दिन
अष्टम मास से एकादश मास तक प्रतिमास चार त्रिवृदभिप्लव० + १ पृष्ठ्यषडह	= १२० दिन
द्वादश मास = दो त्रिवृद् अभिप्लवषडह + १ पृष्ठ्य० + आयुः० + गो० + छन्दोमदशाह (१ से १० दिन तक क्रमशः २४, २८, १८, ३०, ३२, ३६; ४०, ४४ तथा ४८ स्तोम	= ३० दिन
महाव्रत तथा अतिरात्र (उदयनीय)	= २ दिन
योग	१८० दिन
	१८१ दिन
महायोग	३६१ दिन

(द्र० पञ्च० ब्रा० २५, २, १)

३. दृतिवातवतोरयनम्—इसका अनुष्ठानक्रम इस प्रकार है—

अतिरात्र (प्रायणीय)			= १ दिन
प्रथम मास प्रतिदिन त्रिवृत्स्तोम	से युक्त	पृष्ठ्य०	= ३० दिन
द्वितीय मास प्रतिदिन पञ्चदशस्तोम	से युक्त	पृष्ठ्य०	= ३० ,,
तृतीय मास प्रतिदिन सप्तदशस्तोम	से युक्त	पृष्ठ्य०	= ३० ,,
चतुर्थ मास प्रतिदिन एकविंशस्तोम	से युक्त	पृष्ठ्य०	= ३० ,,
पञ्चम मास प्रतिदिन त्रिणवस्तोम	,,	,,	= ३० ,,
षष्ठ मास प्रतिदिन त्रयस्त्रिंशस्तोम	,,	,,	= ३० ,,
महाव्रत			= १ ,,
सप्तम मास प्रतिदिन त्रयस्त्रिंशस्तोम	,,	,,	= ३० ,,
अष्टम मास प्रतिदिन त्रिणवस्तोम	,,	,,	= ३० ,,
नवम मास प्रतिदिन एकविंशस्तोम	,,	,,	= ३० ,,
दशममास प्रतिदिन सप्तदशस्तोम	,,	,,	= ३० ,,
एकादश मास प्रतिदिन पञ्चदशस्तोम	,,	,,	= ३० ,,
द्वादश मास प्रतिदिन त्रिवृत्स्तोम	,,	,,	= ३० ,,
अतिरात्र (उदयनीय)			= १ ,,
		कुल योग	३६३ दिन

इस कर्म में इस प्रकार ३६३ दिन लग जाते हैं। ये सामान्य अयनों से दो दिन अधिक होते हैं अतः पञ्च० ब्रा० (२५,३,१) के व्याख्याकार, ला० श्रौ० सू० (१०,१०,७-९) तथा का० श्रौ० सू० (२४,४,१६) के पद्धतिकार देवयाज्ञिक ने दो दिन घटाने की बात कही है। अर्थात् दो मास २९-२९ दिनों के कर देने चाहियें। किन्तु यह दो दिनों की कटौती कहां की जाये, इस विषय में मतभेद है।

४. कुण्डपायिनामयनम् में दीक्षा मास भर तक चलती रहती है। प्रायणीय अतिरात्र के पश्चात् प्रथम प्रवर्ग्य तथा उपसद् के दिन 'सोमक्रयण' होता है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें १२ उपसदों का अनुष्ठान किया जाता है तथा कुछ अंशों में यह अयन हविर्यज्ञ है तथा कुछ अंशों में सोमयाग। प्रथम छह मासों में अधोलिखित कर्म इस क्रम से सम्पन्न किये जाते हैं—

१. अग्निष्टोम, २. दर्शपूर्णमास, ३. वैश्वदेव, ४. वरुणप्रघास, ५. साकमेध, ६. शुनासीरीय।

इस काल में **सुब्रह्मण्यानिगद** का उच्चारण प्रतिदिन सायं-प्रातः किया जाता है। इस कर्म में **सुत्या** का कोई दिन घोषित नहीं किया जाता। **दृतिवातवतोरयन** के अनुरूप ही इसका कल्प है।

५. **तपश्चितामयन**—इसमें **दीक्षा, उपसद्** तथा **सुत्या** वर्ष पर्यन्त होते रहते हैं। इसकी प्रकृति **गवामयन** है, या फिर **ज्योतिष्टोम** है, जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाता। इस प्रकार यह **गवामयन** सहित षष्ठ संवत्सरात्मक सत्र है।

६. **प्रजापतेर्द्वादशसंवत्सर**—यह **अयन** बारह वर्षों तक चलता है इस में कुल चार **स्तोम** होते हैं, जो तीन-तीन वर्षों तक चलते रहते हैं प्रथम तीन वर्षों के लिये **त्रिवृत्**, द्वितीय के लिये **पञ्चदश**, तृतीय के लिये **सप्तदश** एवं चतुर्थ तीन वर्षों के काल के लिये **एकविंशस्तोम** का प्रयोग होता है।

७. **शाक्त्यानां षट्त्रिंशत्संवत्सर**—इसमें भी चार ही **स्तोमों** का प्रयोग होता है, जो प्रत्येक नौ वर्ष के बाद बदलते रहते हैं।

८. **साध्यानां शतसंवत्सर अयन**—इस में एक **स्तोम** का पच्चीस वर्षों तक लगातार प्रयोग होता रहता है और कुल चार **स्तोमों** का प्रयोग होता है।

इन सभी **अयनों** में जिन-जिन वर्षों में **त्रिवृत्स्तोम** का प्रयोग होता है उन का सम्बन्ध **अग्निष्टोम** संस्था से होता है, शेष कृत्यों का **उक्थ्यसंस्था से**। इन तीनों विशाल यज्ञों का कल्प **दृतिवातवतोरयन** के अनुरूप होता है।

९. **अग्नेः सहस्रसाव्य**—इसकी विशेषता यह है कि इस में **अतिरात्र** के बाद सहस्रदिनात्मक **सुत्या कर्म** का अनुष्ठान होता है। इसमें कल्प **ज्योतिष्टोम** का होता है, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जाता, या इस में **गौरीवित साम** के स्वर का प्रयोग विशेष है।

१०. **मित्रावरुणयोः सारस्वतमयनम्**—तीन सारस्वत अयनों का विधान किया गया है और ये तीनों सरस्वती नदी के दक्षिण तट पर अवस्थित 'विनशन' नामक स्थान पर किये जाते हैं। **'मित्रावरुणयोः सारस्वतमयनम्'** में **प्रायणीय** तथा **उदयनीय अतिरात्रों** में **षोडशी सामों** का प्रयोग विहित है। **प्रायणीय** के बाद **'सान्नाय्य'** कर्म का विधान है। पूर्णिमा के दिन **उक्थ्यसंस्था** के **बृहत्साम** के साथ **गोष्टोमस्तोम** का प्रयोग किया जाता है। सभी कृत्य पौर्णमासवत् किये जाते हैं। अमावास्या के दिन **आयुष्टोमस्तोम उक्थ्यसंस्था** के **रथन्तरसाम** में गाया जाता है। इन एकाहों के **गोष्टोम** तथा **आयुष्टोम** की आवृत्ति होती रहती है।

११. **इन्द्राग्न्योः सारस्वतमयनम्**—इस में **प्रायणीय** तथा **उदयनीय अतिरात्रों** में **षोडशीसाम** का प्रयोग किया जाता है तथा पर्यायेण **त्रिवृत्** तथा

पञ्चदशस्तोमों का विधान है। इस का कल्प भी **दृतिवातवतोरयन ही है।** इस में अग्निष्टोम में **त्रिवृत्** तथा **रथन्तरपृष्ठ** का प्रयोग होता है, जबकि **उक्थ्यसंस्था** के कृत्यों में **पञ्चदश** तथा **बृहत्पृष्ठ** का। प्रथम **सारस्वत-अयन** के समान ही इस में भी पूर्णिमा तथा अमावास्या को क्रमशः **गोष्टोम** तथा **आयुष्टोम** का प्रयोग विहित है।

१२. **अर्यम्णः सारस्वतमयनम्**—इस में भी दोनों **अतिरात्रों** में **षोडशी साम** का प्रयोग किया जाता है। **एकाह** के **ज्योतिः०, गो०** तथा **आयुः०** की प्रतिदिन आवृत्ति की जाती है, तथा पूर्णिमा को **अभिजित्** एवं **अमावास्या** को **विश्वजित्** याग किये जाते हैं।

१३-१४. **'दार्षद्वत'** तथा **'तौर' अयन**। इनका यहां केवल नामोल्लेख **मात्र** किया गया है। कृत्य पञ्च० ब्रा० (२५, १३-१४) के **अनुसार किये** जाते हैं। **दार्षद्वत अयन** का अनुष्ठान दृषद्वती नदी (आधुनिक घग्घर) के दक्षिण तट पर किया जाता था। वहां **'शम्याप्रास'** पूर्वक आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश से इष्टि करता हुआ यजमान अन्त में यमुना में 'त्रिप्लक्ष' नामक स्थान पर **अवभृथ स्नान** करके लोगों की **दृष्टि से लुप्त** हो जाता है[1]।

तुरायण (तौरायण) में **आग्नेय अष्टाकपाल** तथा **ऐन्द्र एकादशकपाल पुरोडाश** तथा विश्वेदेवों के लिये **चरु** का होम किया जाता है। यह कृत्य प्रतिदिन **संवत्सर** पर्यन्त करना होता है।

१५. **सर्पसत्त्र**—इस में **प्रायणीय** तथा **उदयनीय अतिरात्रों** में **षोडशी साम** का प्रयोग होता है। इन दोनों के मध्य में कार्यजात **दशस्तोमक** होता है, किन्तु **विषुवत् द्वादशस्तोमक** होता है। **विराज्** के समान **अग्निष्टोम** को कुछ हेर-फेर के साथ दोहराया जाता है। द्वितीय **अग्निष्टोम** का अपना स्वतन्त्र कल्प है। ये दोनों ही पर्यायेण छह मासों तक दोहराये जाते हैं। अन्तिम मास के २९ दिन होते हैं। तदनन्तर **द्वादशस्तोम** वाला **विषुवत्** आता है। अगले छह मासों में दोनों **अग्निष्टोम** संस्था वाले कृत्यों की प्रतिलोम आवृत्ति की जाती है। इसमें भी **अन्तिम मास के** २९ दिन ही होते हैं।

---

१. इस विधान के विविध अर्थ किये गये हैं। धानञ्जय्य (ला० श्रौ० सू० १०, १९, ५-१५) के अनुसार वह संन्यास ग्रहण कर लेता है। अथवा जल में ही अन्तर्धान होकर स्वर्गलोक पहुंच जाता है। वापस नहीं लौटता (द्र. सायण, पञ्च० ब्रा० २५, १३, ४)।

१६. **त्रिसंवत्सर सत्र**—इस कर्म में **गवामयन, आदित्यानामयन** तथा **अंगिरसामयन** अपने-अपने सम्पूर्ण कल्पों सहित सम्पन्न किये जाते हैं।

१७. **प्रजापतेः सहस्र-संवत्सरसत्र**—इस में **त्रिवृत्स्तोम** का प्रयोग किया जाता है, इसका कल्प **बृहस्पतिसव** का सम्पूर्णकल्प ही होता है।

१८. **विश्वसृजामयनम्**—यह सहस्रसंवत्सरात्मक यज्ञ है, जिसमें २५० वर्षों तक **त्रिवृत्स्तोम**, २५० वर्षों तक **पञ्चदशस्तोम**, २५० वर्षों तक **सप्तदशस्तोम** तथा २५० वर्षों तक **एकविंश स्तोम** का प्रयोग किया जाता है। इसका कल्प **दृतिवातवतोरयन** या **ज्योतिष्टोम** के अविकल रूप वाला होता है।

यद्यपि इन कृत्यों के विवरण में आर्षेयकल्प मुख्यरूपेण पञ्च० ब्रा० का अनुसरण करता है, तो भी इसमें ब्राह्मण से कुछ एक भेद भी लक्षित होते हैं, यथा—पञ्च० ब्रा० (४,६,६) में **विषुवत्** में प्रयोज्य **प्रतिपत्** तृच, अनुष्टुभ्, **वायो शुक्रो आयामि ते** (सा० २, ९७८-८०) का विधान किया गया है, तो भी आर्षेय० में अन्य तृच का विधान किया गया है[1]। ऐसे ही पञ्च० ब्रा० (४,२,१०) में ब्रह्मा के **उक्थस्तोम** के लिये **त्रैककुभ साम** का विधान किया गया है, किन्तु आर्षेय० (१,१,६ अन्त) में **सौभर साम** का। सम्भवतः इस विप्रतिपत्ति का कारण निदान-सूत्र में प्रतिपादित इन दोनों सामों की वैकल्पिकता हो सकती है। तृतीय उदाहरण पञ्च० ब्रा० (२१, ११, ३) का है जहां **वसिष्ठस्य चतूरात्र** नामक **अहीन** के प्रसंग में दो **जनित्र सामों** का विधान है। आर्षेय० (७, ६) इसके सम्बन्ध में सर्वथा मौन है। इस विषय में सूत्रकार (ला० श्रौ० सू० ९, १२, ८) का मत है कि या तो ये दोनों साम वैकल्पिक हैं या उनका विधान चतुर्थ दिन के लिये है।

डा० कैलैण्ड का मत है कि आर्षेय० को **उत्तरार्चिक** का ज्ञान नहीं था[2]। किन्तु यह सर्वथा निराधार एवं अप्रामाणिक धारणा है। जब आर्षेय० में दी गयी "शुष्कसामतालिका" में प्रायः सभी साम उत्तरार्चिक पर आधृत हैं तो आर्षेय० को उससे अनभिज्ञ मानना कोरी कल्पना है[3]।

कर्त्ता

आर्षेयकल्प के कर्ता का नाम मशकाचार्य या मशक गार्ग्य प्रसिद्ध है। इसीलिए आर्षेयकल्प को 'मशक कल्पसूत्र' भी कहते हैं। यद्यपि इसे सूत्र की संज्ञा दी गयी

---

१. डा० कैलैण्ड, पञ्च० ब्रा० ४, ६, ६ पर टिप्पणी २।

२. पञ्च० ब्रा० भूमिका, पृ० ५।

३. एक पत्र में डॉ० बी० आर० शर्मा ने मेरे इस विचार से सहमति व्यक्त की है। पत्र, दिनाङ्क २३, ९, ७४, वि० वै० शोध संस्थान, होशियारपुर।

है तो भी कहीं-कहीं तो सूत्रशैली के **प्रयोग के** रहते भी अधिकांश रचना विस्तृत गद्य में रची गयी है। सूत्रशैली भी अत्यन्त स्पष्ट तथा सुवोध है। इस रचना में यज्ञ यागों के विवरणार्थ पञ्च० ब्रा० (ताण्ड्य **महाब्राह्मण**) का आश्रय लिया गया है। निदानसूत्र तथा उपग्रन्थ प्रभृति प्राचीन रचनाओं में आर्षेयकल्प तथा इन्हीं की अन्य रचना क्षुद्रकल्प में परस्पर कोई अन्तर नहीं किया गया है। दोनों को सम्मिलित रूप से कौथुमशाखीयों का एक ही कल्प माना गया है। इसमें ब्राह्मण में वर्णित तथा किसी अन्य प्रसंग में वर्णित क्लृप्तियों का विवरण नहीं दिया गया, क्योंकि प्रकृतियागों का पूर्ण विवरण इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

यद्यपि भाषा की दृष्टि से इसमें कई एक अपाणिनीय प्रयोग पाये जाते हैं, यथा—**श्येनम्** (५, १९, १), **ज्योतिष्टोमम्** (२, ९, १), **ज्योतिष्टोमी (गायत्री)** (५, १, १), तो भी ये लिंगविषयक स्खलन मात्र कहे जा सकते हैं। सामान्यतः भाषा पाणिनीय व्याकरण का उल्लंघन नहीं करती।

इस रचना का मुख्य उद्देश्य विविध यागों में गाये जाने वाले नाना सोमों के नाम निर्देश तथा विशेष-विशेष सामों में **स्तोमों** की संख्या का व्योरेवार वर्णन करना है। विविध सामों की रचना का प्रकार समझाते हुए सूत्रकार उन की **योनियों** का प्रतीकरूपेण निर्देश करते हैं, किन्तु लाघव को ध्यान में रख कर किसी प्रसंग में एक वार निर्दिष्ट साम का पुनर्निर्देश न करके पूर्ववर्णित प्रसंग की ओर संकेत कर देते हैं। यदि वह साम इस याग या प्रसंग से पूर्व किसी अन्य याग या प्रसंग में प्रयुक्त हो चुका हो, तो उसका भी निर्देश कर देते हैं। अतः सामों को समग्ररूपेण आत्मसात् करना एक जटिल समस्या बन कर रह गयी है। कभी-कभी इन सामों के पारिभाषिक नामों का प्रयोग भी कर दिया जाता है, जिन्हें साम-साहित्य में निष्णात विज्ञ व्यक्ति ही समझ सकता है। इसीलिये आर्षेय० एक शुष्क तकनीकी रचना है, जिसमें सामों के विषय में तालिकाएं तथा यज्ञों में सामवेद से सम्बद्ध कार्यकलाप के निर्देश किये गये हैं।

इस ग्रन्थ में ६० **एकाहों**, ४७ **अहीनों**, ५० के लगभग **सत्रों**, तथा १८ **अयनों** से सम्बद्ध **सामों**, **स्तोमों** तथा **क्लृप्तियों** का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

व्याख्या :—इस ग्रन्थ पर वरदराज की व्याख्या प्रकाशित हो चुकी है, जो डा० बी० आर० शर्मा ने वि० वै० शोध संस्थान, होशियारपुर, से सन् १९७५ ई० में प्रकाशित की है। किन्तु व्याख्याकार के विषय में **प्रतिहार** सूत्र की स्वरचित व्याख्या में अपने सम्बन्ध में व्याख्याकार द्वारा दी गयी सूचना के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं है। उसके अनुसार इनके पिता का नाम कौशिक गोत्रोत्पन्न वामनार्थ था तथा पितामह का अनन्त नारायण यज्वा था। इनका सम्बन्ध तामिलनाडू के श्रीवैष्णव सम्प्रदाय से था।

इन्होंने प्रतिहारसूत्र पर व्याख्या इसलिये लिखी थी कि किसी माधवाचार्य ने उपग्रन्थ पर व्याख्या की रचना की थी, किन्तु उसी के अंशभूत प्रतिहारसूत्र पर व्याख्या नहीं लिख सका था। स्वयं वरदराज ने भी आर्षेयकल्प पर तो व्याख्या लिखी है, किन्तु इसी के अंगभूग **क्षुद्रकल्प** पर नहीं लिखी। इस लिये **क्षुद्रसूत्र** पर श्रीनिवास ने लेखनी उठायी, किन्तु उसने भी वरदराज अथवा इनकी कृतियों के विषयों में कोई सूचना या संकेत नहीं दिया।

इस विषय में यह भी सम्भव हो सकता है कि वरदराज ने क्षुद्रकल्प को इस लिये स्पर्श न किया हो कि श्रीनिवास की व्याख्या पहले ही विद्यमान थी। उस अवस्था में श्रीनिवास वरदराज से पूर्ववर्ती हो सकता है, किन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि वरदराज श्रौत और गृह्य कर्मकाण्ड में पारंगत तथा अपने समय के मूर्धन्य वैदिक विद्वान् थे। **आर्षेयकल्प** पर व्याख्या **प्रतिहार**सूत्र की व्याख्या **दशतयी** या **दशार्था** के उपरान्त लिखी गयी थी। वरदराज स्वयं राणायनीय शाखा के अनुयायी थे।

संस्करण :–(१) कैलैण्ड ने लाईप्सिग से सन् १९०८ में एक संस्करण *Der Ārṣeya-kalpa des Samaveda* के नाम से प्रकाशित किया था, जो दो हस्तलेखों पर आधृत था और जिसमें ग्रन्थ को 'कण्डिकाओं' में विभाजित किया गया था, किन्तु मुद्रित ग्रन्थ में इनका अभाव है। सम्पादक ने अन्त में सभी यागों तथा सामों की सूची दे दी है। कैलैण्ड ने इस सूत्र को ११ प्रपाठकों में विभक्त किया है।

(२) डा० बी० आर० शर्मा ने सन् १९७५ में वि० वै० शोध संस्थान, होशियारपुर, से वरदराज की व्याख्या सहित दूसरा संस्करण प्रकाशित किया है। श्री भास्करन नायर ने इसकी विस्तृत भूमिका लिखी है। वरदराज ने इस सूत्र को ११ अध्यायों में विभक्त किया है।

क्षुद्रकल्पसूत्र

क्षुद्रसूत्र या क्षुद्रकल्प में एक दिन से लेकर कई वर्षों तक अनुष्ठीयमान सोम-यज्ञों में प्रयोज्य साम गानों का परिगणन किया गया है। इस कार्य में इस में पञ्च० ब्रा० का अनुसरण किया गया है।

इस में ८५ **एकाहों** से सम्बद्ध सामों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। २२ प्रकार के **पृष्ठय-षडहों** तथा अनेकों प्रकार के **द्वादशाहों** का वर्णन भी किया

गया है। यहां कौथुमशाखीय पञ्च० ब्रा० का काम्येष्टियों के विषय में भी अनुकरण किया गया है, तथा कुछ सीमा तक प्रायश्चित्तीय कर्मों के विषय में भी इस ब्राह्मण को आधार बनाया गया है।

इसमें **नाराशंस** तथा **उपदंशन** प्रभृति जैसे कई प्रायश्चित्तों का उल्लेख नहीं भी किया गया। इसमें केवल **क्लृप्तियों** या **कल्पों** का ही ब्योरा प्रस्तुत नहीं किया गया, अपितु **विष्टुतियों** तथा **सम्पतों** (स्तोमों में प्रयोज्य विविध छन्दों पर आधृत सामों के अक्षरों का विवरण) तथा इस सम्बन्ध में निर्देशों तथा ऊहापोहों का भी दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार इसे सामवेद तथा इसके ब्राह्मणों एवं श्रौतसूत्रों के सहायक ग्रन्थों का पूरक माना जा सकता है। पञ्च० ब्रा० में **काम्येष्टियों** में गेय प्रथम **स्तोत्रीय** (प्रतिपत्) तथा **सन्धिसाम** (प्रायश्चित्तीय यागों में प्रातःकाल अन्तिम **रात्रि पर्याय** में गाने योग्य गान का उल्लेख ही किया गया है, किन्तु सामों की समग्र परिगणना नहीं की गयी। प्रायेण ब्राह्मण में **अर्थवादों, व्याख्यानों**, तथा मूल से सम्बद्ध कुछ आख्यानों एवं कभी-कभी काल्पनिक शब्द-निरुक्तियों की भरमार रहती है। किन्तु क्षुद्रकल्प प्रायेण प्रायश्चित्तों की **कल्प-सम्पत्तियों** का विवरण देने के उपरान्त पञ्च० ब्रा० से नाता तोड़कर शाखान्तर से सम्बन्ध जोड़ लेता है। क्षुद्रकल्प के प्रतिपाद्य विषयों का विभाजन इस प्रकार किया गया है।

अध्याय १ प्रापठक १ खण्ड (१-६)[1]—यहां केवल **काम्येष्टियों** तथा तत्सम्बन्धी कर्मों में प्रयोज्य **सामों, विष्टुतियों, स्तोमों** तथा **स्तोत्रीयों** का विवरण दिया गया है। अन्य कल्पसूत्रों के समान इस में **ज्योतिष्टोम** की उन **कल्प-सम्पत्तियों** की आवृत्ति नहीं की गयी, जो इस अध्याय में परिगणित कृत्यों में एक सी हैं। यहां परिगणित कृत्यों में १४ **प्रतिपत्, नौ ब्रह्मसाम**, एक **ज्योतिष्टोम** तथा सात **उक्थ्य याग** सम्मिलित है। इन सभी को 'काम्य' संज्ञा से अभिहित किया गया है। कई ऐसे भी 'काम्य' कृत्य हैं जिनकी अभीष्ट कामनाओं का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया (१, १, ८-९)। इनके लिये हमें ब्राह्मण को टटोलना पड़ता है। यह भी एक विचित्र बात है कि **श्येन** तथा **भ्रातृव्य** सदृश अभिचार-कर्म तथा **विभ्रष्टयज्ञ** सरीखे प्रायश्चित्तीय कर्म **ब्रह्मसामिकों** के अन्तर्गत गिनाये गये हैं, क्योंकि इनमें **ब्रह्मसाम** का प्रयोग किया जाता है।

अध्याय २, प्रपाठक १ (७-११)—इस अध्याय में तीन **अतिरात्रों** तथा दस **प्रायश्चित्त**-यज्ञों का प्रतिपादन किया गया है। यहां भी प्रतिष्ठाकाम तथा पशुकाम दो समान लक्ष्य वाले **अतिरात्रों** तथा **ब्रह्मसामिकों** एवं **उक्थ्यों** का उल्लेख समान संज्ञा से किया गया है।

---

१. कैलैण्ड ने इसे तीन प्रपाठकों तथा ६ अध्यायों में विभक्त किया है। दोनों का आधार हस्तलेख हैं।

अध्याय ३, प्रपाठक २ (१-९)—इस अध्याय का आरम्भ **वर्णकल्प** अथवा भिन्न-भिन्न वर्णों के लिये विहित सोमयागों के विधान से होता है, किन्तु क्योंकि—

(१) **ब्राह्मणकल्प** का प्रतिपादन पञ्च० ब्रा० (६-९) में किया जा चुका है, अतः क्षुद्रकल्प में केवल क्षत्रिय तथा वैश्य कल्पों का ही विवरण प्रस्तुत किया गया है, और क्योंकि सार्वभौम क्षत्रिय के लिये यज्ञ का प्रतिपादन पञ्च० ब्रा० (प्रथम अध्याय) में कर दिया गया है, अतः यहां केवल 'जातिमात्र क्षत्रिय' के लिये ही कर्म का विधान किया गया है। किसी भी प्रकृति-याग में पूर्व प्रतिपादित कर्म का उल्लेख 'समानमितरम्' कहकर कर दिया जाता है।

(२) इसी अध्याय में **उभयसाम-अग्निष्टोमाः** जैसे गौण यागों का विवरण भी दिया गया है, गौण इसलिये कि **पृष्ठस्तोत्र** तथा **अग्निष्टोम स्तोत्र** एक दूसरे पर निर्भर करते हैं, इनकी संख्या २१ है। इनके नाम सार्थक हैं तथा **बृहत्पृष्ठरथन्त-राग्निष्टोमसामा** का यह नाम इस लिये सार्थक है कि इस **अग्निष्टोम** में **पृष्ठस्तोत्र तो बृहत्साम** पर है तथा अन्तिम साम **रथन्तर** है।

(३) **दस प्रबर्ह** यागों का वर्णन भी यहां किया गया है। इनके नाम ये हैं—

दशरात्रप्रबर्हः=१ ; **द्वादशरात्र प्रबर्हः**=१ ; **सवनप्रबर्हः**=८ ।

'प्रबर्ह' शब्द की व्याख्या भाष्यकार ने इस प्रकार की है—**दशरात्रादेकैक-स्मादह्नः एकैकं स्तोत्रं प्रबृह्य पृथक्कृत्य निधानात् एतस्य दशरात्रप्रबर्हत्वम्** (पृ० १२६)। अर्थात् दशरात्र के एक-एक दिन से एक-एक स्तोत्र पृथक् कर देने के कारण यह **दशरात्रप्रबर्ह** कहलाता है।

(४) **आवापवान् अग्निष्टोम**—इसमें सामगानों को उनकी आवश्यकता-नुसार चुन सकने के अयोग्य ऋत्विजों के स्थान पर अन्य ऋत्विजों को नियुक्त कर लिया जाता है। इसी कारण इसका नामान्तर **ऋत्विगपोहन-अग्निष्टोम** भी पड़ गया है।

(५) **श्रीस्तोमाः** या **वाचस्तोमाः**—यद्यपि यह कृत्य चार रात्रियों तक चलता रहता है, तो भी इसे एकाहों में इसलिये गिनाया गया है कि यह सम्पूर्ण कृत्य एक ही है तथा कल्पकार मशक ने चारों रात्रियों के लिये एक ही क्लृप्ति का विधान किया है।

(६) **ब्रह्मसाम-पृष्ठ** या **तनुपृष्ठ** नामक दो कृत्य प्रतिपादित हैं। इस प्रकार कुल ८५ **एकाहों** का विवरण यहां दिया गया है।

अध्याय ४, प्रपाठक २ (१०-१४)—यहां २२ खण्डों में २२ **पृष्ठचषडहों** का शाखान्तरीय ब्राह्मण के अनुसार विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहां **षडहों** का परस्पर भेद उनके पृष्ठों में प्रयोज्य **सामों** के आधार पर किया गया

हैं। ये षडह वास्तव में पञ्च० ब्रा० में उल्लिखित **पृष्ठ्य-षडहों** के **अनुकल्प** या उपभेद हैं, यद्यपि इनका विवरण शाखान्तरीय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है।

अध्याय ४, प्रपाठक २ (१५-१६)—यहां **द्वादशाहों** को उनकी कुछ समान विशेषताओं के आधार पर तीन गणों में विभक्त किया गया है।

(क) **भरत द्वादशाह** (४)— इनमें प्रयोज्य मन्त्र तथा **कल्प-सम्पत्तियां ज्योतिष्टोम** के मन्त्रों तथा **कल्प-सम्पत्तियों** से अभिन्न है। 'भरत' शब्द की व्युत्पत्ति इसी आधार पर की गयी है—**ज्योतिष्टोमधर्ममेव बिभ्रतीति भरताः**-(व्याख्या, पृ० २१०)।

(ख) **त्रिकद्रुक द्वादशाह** (६)—ये **ज्योतिष्टोम** की विकृतियां ही हैं, जिनमें **ज्योतिः**०, **गो**० तथा **आयुः**० कृत्यों के विविध प्रकार से समान संख्या में प्रगुणन के द्वारा विविध प्रकार के द्वादशाहों का निर्माण किया जाता है, किन्तु **गो**० और **आयुः**० सदा मध्य में रहते हैं तथा **अतिरात्र** दोनों सिरों पर, यथा—

(१) **अतिरात्र**+**गो**०+**आयुः**० पर्यायेण पांच बार (=१०) + **अतिरात्र**=१२।

(२) **अतिरात्र**+**गो**०+**आयुः**० पर्यायेण चार बार (८) + **ज्योतिष्टोम** +**अतिरात्र**=१२।

(३) **अतिरात्र**+**ज्योतिः**०+**गो**० तथा **आयुः**० की तीन बार आवृत्ति (९) +**ज्योतिष्टोम**+**अतिरात्र**=१२।

इसी प्रकार **अभिजित्**, **विश्वजित्** प्रभृति अन्य **एकाह** तथा **अहीन यज्ञ** भी आवृत्तियों के द्वारा **द्वादशाहों** में परिवर्तित किये जा सकते हैं। छह, सात, आठ दिनों तक चलने वाले कृत्यों में इतने **ज्योतिष्टोम** जोड़ दिये जाते हैं कि कुल संख्या दस हो जावे, यथा **षड्रात्र** में चार **ज्योतिष्टोम**, **सप्तरात्र** में तीन, **अष्टरात्र** में दो तथा **नवरात्र** में एक ही **ज्योतिष्टोम** जोड़ा जाता है।

अध्याय ५, प्रपाठक ३ (१-९)—**द्वादशाहों के** दो भेद किये गये हैं—**समूढ** तथा **व्यूढ**। **व्यूढ द्वादशाहों** की चर्चा पञ्चविंश ब्राह्मण में तनिक विस्तार से की गयी है, इस लिये यहां केवल **समूढ द्वादशाहों** का विस्तार से वर्णन किया गया है। **समूढ द्वादशाहों** में तीनों सवनों के **स्तोमों** के छन्दों का अपना स्वाभाविक क्रम स्थिर रहता है, **व्यूढ** में उस क्रम में परिवर्तन कर दिया जाता है, तथा त्रिष्टुभ् के स्थान पर गायत्री, जगती के स्थान पर त्रिष्टुभ्, गायत्री के स्थान पर जगती का प्रयोग करने का विधान है। पुनः व्यतिक्रम इस प्रकार किया जाता है—गायत्री के स्थान पर त्रिष्टुभ्, त्रिष्टुभ् के स्थान पर जगती तथा जगती के स्थान पर गायत्री का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार का **व्यूढ द्वादशाह** के प्रथम तथा अन्तिम दो दिनों के अतिरिक्त शेष नौ दिनों में ही किया जाता है,

जिन्हें तीन त्र्यहों में विभाजित किया जाता है। इस **छन्दोव्यतिक्रम** या **व्यूढ** के अपने नियम हैं तथा कामना के अनुसार सामों तथा स्तोमों में परिवर्तन किया जाता है। इसीलिये इन यागों के नाम भी कामना के अनुसार परिवर्तन-शील होते हैं।

प्रथम द्वादशाह की विशेषता **विराट्-सम्पत्ति है**, जिसमें १० **छन्दों** तथा **स्तोमों** का प्रयोग किया जाता है। इसमें गायत्री, ककुभ्, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुभ्, जगती, अतिजगती तथा विराट् छन्दों तथा दस से विभाज्य संख्या के सामों का प्रयोग किया जाता है, इसे **अन्नाद्यकामद्वादशाह** कहते हैं।

द्वितीय द्वादशाह का नाम **अनुरूप-अग्निष्टोमसामद्वादशाह** है। इस यज्ञ में प्रयोज्य **पृष्ठ** तथा **अग्निष्टोम-साम** में कोई न कोई समानता अवश्य होनी चाहिये, यथा—प्रथम दिन **देवो वो द्रविणोदा** (साम० १४, २, १=१५१३) ऋचा पर गाया गया **रथन्तर**-साम **पृष्ठ** है, तथा **कण्व-रथन्तर साम अग्निष्टोम** है, दोनों में पर्याप्त साम्य है। सूत्रकार ने धानञ्जय, शाण्डिल्य प्रभृति आचार्यों की सम्मतियों को उद्धृत किया है। यह याग अनुरूप-प्रजा की कामना वालों के लिये किया जाता है।

अध्याय ६, प्रपाठक ३ (१०-१६)— इसका समारम्भ **समूढप्रधान द्वादशाहों** से होता है। यहां अन्तिम साम **व्यूढ** प्रकार का होता है, जबकि **छन्द समूढ** प्रकार के होते हैं। किन्तु प्रथम तीन दिनों में **व्यूढ-समूढ** का भेद नहीं किया जाता। शेष सात दिनों में साम-गान में अन्तर हो जाता है।

२—**व्यूढ-प्रधान** उपर्युक्त दिनों का **विरूप-कर्म** होता है। यहां अन्तिम साम **समूढ** प्रकार का हुआ करता है, जबकि छन्द **व्यूढ** प्रकार के होते हैं।

३—शुद्ध **समूढ** प्रकार के कर्मों में **व्यूढ** का सर्वथा अभाव होता है।

४—शुद्ध **व्यूढ** प्रकार के कर्मों में **समूढ** का प्रयोग सर्वथा वर्जित होता है।

५—**संक्रमद्वादशाह**—इसमें प्रथम तीन दिनों (**त्र्यह**) में अन्तिम छन्द तथा द्वितीय **त्र्यह** में आरम्भिक छन्द एक ही होने के कारण एक ही छन्द एक **त्र्यह** से द्वितीय **त्र्यह** में भी सङ्क्रमण करता है और यही इसकी संज्ञा का हेतु है।

६—चार **द्वादशाह** ऐसे है, जिनमें बृहती छन्द की ऋचा पर निर्मित अपने-अपने भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति में गाये गये साम प्रतियाग के भिन्न-भिन्न ब्रह्मसामों के प्रतिनिधि होते हैं। ये चार द्वादशाह इस प्रकार हैं—

अग्निष्टुत्, इन्द्रस्तुत्, सूर्यस्तुत् तथा **वैश्वानरस्तुत्**।

७ – यहीं पर दस ऐसे द्वादशाहों का वर्णन किया गया है, जिनके दसों दिनों में **स्तोमों** की एकता बनी रहती है, यथा—प्रथम **द्वादशाह** में प्रथम दिन का **स्तोम** ही शेष दिनों में गाया जाता है। द्वितीय **द्वादशाह** में द्वितीय दिन का **स्तोम** ही शेष दसों दिनों का **स्तोम** होता है। इसी प्रकार अन्य **द्वादशाहों** में भी **स्तोम**-साम्य बना रहता है।

८—ऐसे असंख्य **द्वादशाहों** का निर्माण हो सकता है, जितने सभी साम-शाखाओं में विद्यमान तृचों या सामों के आधार पर बनने सम्भव हैं, क्योंकि प्रत्येक **द्वादशाह** के कल्पों में इन तृचों या सामों के स्थान पर एक-एक करके अन्य तृचों या सामों को रखकर नवीन कल्प वाले नवीन **द्वादशाहों** का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार **स्तोमों** के आरम्भिक तृचों में भी परिवर्तन किया जा सकता है, तथा एक **द्वादशाह** के **स्तोमों** तथा **कल्पों** आदि के आदान-प्रदान से भी **द्वादशाहों** की असंख्य विधाएं निर्मित की जा सकती हैं।

विशेषताएं :

जैसे कि पहले कह चुके हैं यह कल्पसूत्र केवल उन काम्य तथा प्रायश्चित्तीय कर्मों का विवरण प्रस्तुत करता है, जो आर्षेय कल्प में वर्णित नहीं हैं और इस प्रसंग में यह पञ्च० ब्रा० का अनुसरण करता है। इसमें उन प्रायश्चित्तों को भी छोड़ दिया गया है, जो कल्पसूत्रों के अन्तर्गत नहीं आते। यह कल्पसूत्र पञ्च० ब्रा० तथा ला० श्रौ० सू० दोनों का पूरक कहा जाता है, क्योंकि इसमें अनेक ऐसे असाधारण कृत्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है, जो अन्यत्र दृष्टि-गोचर नहीं होते, यथा—**ऋत्विगपोहन, पुरस्ताज्ज्योतिः, सुकरजातयः** प्रभृति। ऐसे ही अनेक तत्त्वों पर आधृत अनेक **द्वादशाहों** का वर्गीकरण, **समूढ** तथा **व्यूढ** विधाओं को वास्तव में एक ही प्रकार के कृत्य समझना, तथा द्वादशाहों के असंख्य भेदों प्रभेदों में विभाजन की प्रक्रिया इस सूत्र की प्रमुख विशेषताएं हैं।

यद्यपि इसे सूत्र कहा जाता है तो भी यह ब्राह्मण-ग्रन्थों की गद्यशैली में लिखित रचना है, विशेषतः अन्तिम भाग में तो इसका वचोविन्यास तथा वाक्य-रचना भी ब्राह्मणों की सी है। सूत्रों की सी संश्लिष्टता तथा संक्षिप्तता, अनुवृत्ति तथा अधिकार प्रभृति का इसमें सर्वथा अभाव है।

बाह्य दृष्टि से पृथक् प्रतीत होता हुआ भी यह सूत्र वास्तव में आर्षेयकल्प का ही अंग है। निदानसूत्र तथा उपग्रन्थ सदृश प्राचीन रचनाओं में दोनों को मशकाचार्य की एक ही कृति माना गया है, परस्पर कोई भेद नहीं किया गया। इसके व्याख्याकार श्रीनिवास ने इसे आर्षेयकल्प का ही भाग मानकर इसे 'उत्तर कल्पसूत्र' की संज्ञा प्रदान की है। इन दोनों सूत्रों की रचना-शैली तथा वाक्य-विन्यास एक से हैं। अन्तर इतना ही है कि आर्षेयकल्प विविध सामों,

स्तोमों तथा शस्त्रों का उल्लेख करता हुआ भी यज्ञों या कृत्यों में उनके विनियोग का विवरण प्रस्तुत नहीं करता।

इस सूत्र में छान्दस प्रयोगों के भी अनेकत्र दर्शन होते हैं, यथा—

जामितायै=जामितायाः; उक्थ्यान्तस्य=उक्थ्यान्ते ;

अन्यत्सोमम्=(छान्दस लिंग व्यत्यास) ; साहस्रम्=साहस्रस्य ;

करवाणि=करोमि; वाजयन्ते=वाजयेयुः ।

इस सूत्र की भाषा तथा शैली को देखते हुए आर्षेयकल्प के समान ही इसे भी ब्राह्मणों तथा सूत्रों के सन्धिकाल की रचना मानना सर्वथा स्वाभाविक है। ला० श्रौ० सू० तथा द्रा० श्रौ० सू० दोनों ही आर्षेयकल्प से परिचित हैं। यहां तक कि इनमें उद्धृत गौतम, धानञ्जय, शाण्डिल्य प्रभृति आचार्यों ने भी इस रचना का उल्लेख किया है। **ग्रामगेय** तथा **अरण्य**गान दोनों ही आर्षेयकल्प से प्राचीन हैं। **ऊह** तथा **ऊह्य** गान के गानों का क्रम भी आर्षेयकल्प के समान ही है। इनके प्रथम पर्व में तो पञ्च० ब्रा० में प्रतिपादित **द्वादशाहों** का विवरण दिया गया है। द्वितीय से पञ्चम पर्व तो आर्षेय० के साम गानों के सर्वथा समानान्तर हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि इन श्रौतसूत्रों की रचना आर्षेय० तथा क्षुद्र० के बाद की गयी है[1]। अन्तिम दो पर्व तो क्षुद्र० से पूर्णतया साम्य रखते हैं। आर्षेयकल्प के अन्तिम पर्व के साथ नाम साम्य से भी प्रतीत होता है कि क्षुद्र० को आर्षेय० में जोड़ा गया है। यद्यपि क्षुद्र० कौथुमशाखा की रचना है, तो भी इसमें अन्य शाखीय सम्प्रदायों के यज्ञयागों का भी वर्णन किया गया है, जो सम्भवतः जैमिनीय या अन्य भी कोई सम्प्रदाय हो सकते हैं[2]।

व्याख्या :—शतक्रतु कुमार ताताचार्य के सुपुत्र श्रीनिवास ने इस ग्रन्थ पर एक विशद व्याख्या लिखी है। कुमार ताताचार्य तञ्जौर (तेञ्जाबूर) के राजा अच्युतराय (सन् १५६१-१६१४) के कृपापात्र थे। कुमार ताताचार्य ने स्वरचित नाटक पारिजातहरण में लिखा है कि उनके सात पुत्र थे, जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। श्रीनिवास ने 'पञ्चकाल-क्रियादीप' नामक कर्मकाण्ड की पुस्तक की भी रचना की थी। इस वंश की प्रसिद्धि 'नावलक्कं ताताचार्याः', 'शतक्रतुचतुर्वेदिनः' आदि विरुदावलियों से चारों ओर व्याप्त थी। ये लोग यद्यपि कृष्णयजुर्वेद के अध्येता थे तो भी सर्वशाखीय कर्मकाण्ड के प्रकाण्ड पण्डित थे।

---

१. कैलैण्ड, पञ्च० ब्रा०, भूमिका, पृ० ११-१२।

२. डा० बी० आर० शर्मा, भूमिका, पृ० २६।

इस व्याख्या में सूत्रों, कल्पों, तथा कृत्यों की **कल्पसम्पत्तियों** पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है, तथा पञ्च० ब्रा०, श्रौतसूत्र (मुख्यतः द्राह्यायण) तथा उपग्रन्थसूत्र को प्रमाण रूप में अनेकशः उद्धृत किया गया है। व्याख्याकार स्वयं को 'यज्वा' तथा 'गुरु' जैसे गौरवास्पद पदों से अलङ्कृत करते हैं। ये तञ्जौर से कुम्भघोण आ गये थे, जहां उनकी मृत्यु हो गयी।

जैमिनीयश्रौतसूत्र

सामवेद की जैमिनीयशाखा के सभी ग्रन्थ उपलभ्य हैं। इस शाखा का श्रौतसूत्र 'जैमिनीयश्रौतसूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि यह सूत्र अभी तक आंशिकरूपेण प्रकाशित हुआ है और डचूक गास्त्रा ने केवल अग्निष्टोम प्रकरण की २६ कण्डिकाओं को ही डच अनुवाद सहित सम्पादित किया है, तो भी कुछ ही वर्ष पूर्व १९६६ में प्रेमनिधि शास्त्री ने इस सूत्र पर भवत्रात की वृत्ति का सम्पादन करके सरस्वती विहार ग्रन्थमाला, दिल्ली, के अन्तर्गत प्रकाशित किया है। इसमें भवत्रात सूत्रों के प्रारम्भिक प्रतीकों का उल्लेख करके उनकी व्याख्या करता है। अस्को परपोला ने इसी वृत्ति के आधार पर जैमिनीयश्रौतसूत्र के प्रतिपाद्य विषयों का ब्योरेवार वर्णन प्रस्तुत किया है[1]। उसी विवरण के आधार पर निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैमिनीयश्रौतसूत्र तीन खण्डों में विभक्त है :—१. सूत्र, २. कल्प, ३. पर्यध्याय या परिशेष, जो पुनः १८ अध्यायों में विभाजित है[2]।

१. **सूत्र**—यह एक लघु खण्ड है, जिसमें दीर्घवाक्यात्मक २६ कण्डिकाओं में **ज्योतिष्टोम, अग्न्याधान** तथा **अग्निचयन** से सम्बद्ध सामों का विवरण दिया गया है (तु. ला० श्रौ० सू० १-२; जै० ब्रा० १,६६-३६४)।

२. **कल्प**—यह खण्ड कौथुमीय मशक-कल्प के समानान्तर रचना है। यह कल्प अनेक उपखण्डों में विभक्त है।

(क) स्तोमकल्प में विभिन्न स्तोत्रों के लिये स्तोमों का विवरण दिया गया है। समस्त सोमयागों (**अहीनों** तथा **सत्रों** सहित) के लिये याग के

---

१. Asko Parpola, *The Jaiminīya Śrauta and its Annexes* in *Orientalia Succana*, vol. xvi 1967, p. 181-214.

२. भवत्रात ने लिखा है—सूत्रं कल्पञ्च प्रणीय तदर्थसन्देहनिरासाय तदुक्तार्थवस्तुक्लृप्तये च द्वादशाध्यायीमेषां व्यधत्त (पृ० १९३ प्रेमनिधि संस्करण)।

दिनों तथा यज्ञानुष्ठान के क्रम का प्रतिपादन भी किया गया है। इसके विभिन्न विभागों में निम्न विषयों का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है।

खण्ड (१) **ज्योतिष्टोम, गवामयन**

(२-५) **एकाह**

(६-७) **अहीन**

(८) **सत्त्र (द्वादशाह** तथा **दीर्घसत्त्र)** (जै० ब्रा० २,३३४-३७०)।

(ख) **प्रकृतिकल्प** या **प्राकृत**—इसमें **एकाहों, अहीनों** तथा **सत्त्रों** की प्रकृतियों, **ज्योतिष्टोम, द्वादशाह** तथा **गवामयन**, में प्रयोज्य सामों का विवरण दिया गया है।

(ग) **संज्ञाकल्प**—इसमें संज्ञाओं तथा तकनीकी शब्दों की व्याख्या की गयी है। यहां व्याख्यात परिभाषाएं विकृति-कल्प के संक्षिप्त वर्णनों की कुञ्जी का काम करती हैं।

(घ) **विकृतिकल्प** या **वैकृत**—इसमें **उपसद्**, **चतुष्टोमोऽग्निष्टुत्**, **गोनामानि, व्युष्टि, व्रात्यस्तोम, वैश्वदेव, त्रिकद्रुक, अभिजित्** तथा **विश्वजित्** नामक **एकाहों** का विवरण प्रस्तुत किया गया है। **हाविष्मतीय व्युष्टिद्विरात्र, चतूरात्र, पञ्चरात्र, त्रिककुप्** तथा **पौण्डरीक** सदृश **अहीनों** एवं **संसदामयन** नामक **सत्त्र** का सामवैदिक क्रिया-कलाप विवृत है।

३. पर्यध्याय या परिशेष—इस खण्ड में सामों से सम्बद्ध विविध विषयों का विवरण द्वादश अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है।

अध्याय १ खण्ड १—अहर्ज्ञात्रिम्—इसमें यज्ञीय दिनों का तन्त्र प्रस्तुत किया गया है (ला० श्रौ० सू० ६, ९, १०-१८)।

अध्याय २—सामगान के विविध नियम—

१. **आविर्गान, लेशगान, छन्नगान।**

२. ह्रस्व, दीर्घ, परोक्ष, प्रत्यक्ष (ला० श्रौ० सू० ६, १०, १९)।

३. **अन्तःश्लेषणा।**

४. **आगाः** (जै० उप० ब्रा० १, ३७; ला० श्रौ० सू० २, २, ६-७) सामगान के समय बैठने का प्रकार; थूकने आदि का निषेध; (ला० श्रौ० सू० ६, १०, १८)।

अध्याय ३—विभिन्न सामगों द्वारा गेय सामभाग **(क) प्रस्तार (ख) आदि (ग) गीति** (ला० श्रौ० सू० ६,१०,१८-२१) **(घ) अन्तर्निधन (ङ) इडा।**

अध्याय ४—प्रतिहार (१-८)—इस अध्याय में आचार्य आभिश्रेण्य के प्रगीतों के सामों के **प्रतिहार** भी दिये गये हैं। यहां (५-८) कात्यायन के **प्रतिहार-सूत्र** का जैमिनीय प्रतिरूप देखा जा सकता है[1]।

अध्याय ५—१. विभागयसाम।

२. ऊह।

अध्याय ६—कल्पसमय—यहां **कल्प** की व्यवस्था के नियम प्रतिपादित हैं।
१. सामों के देवता, २. सामों के छन्द, ३. सामों के अन्त ४. **निधनों** के ऋषि, **५. रथन्तरजामि।**

अध्याय ७-८—गवामयन का विवरण (ला० श्रौ० सू० ३,३,५-४,४)।

अध्याय ९—परिशेष (भवत्रात द्वारा प्रदत्त संज्ञा)।

१. **एकाहों** के अतिरिक्त यज्ञों के सामों में 'हिंकार' का प्रयोग; **गौरीवितसाम; स्वसुत्याप्रवचनी सुब्रह्मण्या** का स्वरूप तथा प्रयोग (ला० श्रौ० सू० १,४,८-२७)।

२. **सुज्ञानसाम** तथा **षोडशिसाम।**

३-४. **ज्योतिष्टोम** की सात संस्थाएं; **पृष्ठचषडह।**

अध्याय १०-११—विष्टुतियों के प्रयोग के नियम (ला० श्रौ० सू० ६,२,५-८)।

अध्याय १२—विष्टुतियों का विवरण (पञ्च० ब्रा० अध्याय २-३)।

इस श्रौतसूत्र में ला० श्रौ० सू० (४,९-५,१२) में प्रतिपादित **'ब्रह्मत्व'** का अभाव पाया जाता है।

वास्तव में देखा जाये, तो यह सूत्र बौधायन तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्रों के समान ही कर्मकाण्ड का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। इसके कल्प, श्रौत तथा गृह्य सभी भाग जैमिनिकृत माने जाते हैं। किन्तु कौथुमों तथा राणायनीयों के ग्रन्थों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनके विभिन्न ग्रन्थों के कर्ता भिन्न-भिन्न हैं। तो भी सूत्रभाग के अतिरिक्त कल्प तथा परिशेषभाग बहुत प्राचीन नहीं प्रतीत होते। सूत्रभाग तो ला० श्रौ० सू० तथा द्रा० श्रौ० सू० से भी पूर्वभावी प्रतीत होता है तथा अति प्राचीन है।

इस श्रौतसूत्र का विषय प्रतिपादन पद्धतियों के समान है, किन्तु ब्राह्मणों की सी शैली के कारण भी इस का काल अत्यन्त प्राचीन माना जाता है।

---

१. Asko Parpola, ibid., p, 199.

आर्षेयकल्प[1] तथा द्राह्यायन श्रौतसूत्र[2] के व्याख्याकारों ने जै० श्रौ० सू० को बहुधा उद्धृत किया है। अनेक आध्वर्यव सूत्रों के समान यहां भी **प्रवर्ग्य** का पृथक् विवरण दिया गया है। इस सूत्र का उपजीव्य ग्रन्थ बौधायन-श्रौतसूत्र है। बौ०श्रौ०सू० में अध्वर्यु तथा प्रतिप्रस्थाता के गोदोहनार्थ जाने से पूर्व **दक्षिण-रौहिण-पुरोडाश** के हवन का विधान किया गया है, जबकि आपस्तम्ब में इसका विधान **घर्म** से पूर्व किया गया है। किन्तु जैमिनीय अग्निष्टोम-प्रयोग में इस पुरोडाश के हवन के समय गेय सामों का विधान आपस्तम्बीय क्रम से किया गया है। अन्यत्र भी विविध कृत्यों में सामों का गान-क्रम बौधायन श्रौतसूत्र में विहित क्रम के अनुसार दिया गया है। जैमिनीम और बौधायन श्रौतसूत्रों के घनिष्ठ सम्बन्धों पर इस तथ्य से भी प्रकाश पड़ता है कि श्रौतसूत्रों में मधुपर्क का प्रतिपादन केवल जैमिनीय० और लाटचायन०, बौधावन० और शांखायन० में ही किया गया है। लाटचायन० तो जैमिनीय० का अनुकरण करता है और जैमिनीय० बौधायन० का। शांखायन० भी जैमिनीय० और लाटचयान० से उत्तरवर्ती है। अतः इन सबका उपजीव्य बौधायन० ही है। बौधायन० का प्रभाव जैमिनीयों पर इतना व्यापक रहा है कि जैमिनीय० गृह्यसूत्र कई स्थलों पर बौधायनगृह्य के सर्वथा समान ही नहीं, उससे अभिन्न भी है। बौधायन-धर्मसूत्र और बौधायनगृह्य-परिशिष्ट का भी जैमिनीयगृह्य पर ऐसा ही प्रभाव है[3]। परिणामस्वरूप उत्तरवर्ती जैमिनीयों ने अपने यज्ञों में बौधायन-शाखीय अध्वर्यु को ही रखने का नियम बना दिया।

जैमिनीय श्रौतसूत्र में प्रतिपादित कुछ एक विशेषताएँ ये हैं। सोमयाग के तृतीय सवन में पितरों (पितामह और प्रपितामह) को भी आहुति प्रदान की जाती है। शाला से बाहर जाते समय यजमान अपनी छाया को देखता है[4]। **अनुयाजों** के अनन्तर दधिषोम का चमस या हाथों से खाने का विधान है[5]। **अवभृथ** के लिये कई नवीन मन्त्रों का विधान किया गया है।

प्रवर्ग्य, दीक्षणीया, प्रायणीया के कर्मों में तथा सोम के आनयन के समय **(राजन्यानीयमाने) सौत्रामणी** तथा **पशुबन्ध** में विनियोज्य सामों का विधान किया गया है। आचार्यों तथा **अनुब्राह्मणिनः** के मतभेदों का संकेत इसमें किया गया है।

---

१. जैमिनिराह, यानि पशौ शिष्टानि सामानि वपान्ते तानि गायेत् प्रधानयागकाल उपसत्सु चेष्टिषु चेति। (खण्ड २६); द्र. खण्ड २३।

२. धन्वि-भाष्य—१,२,२४; ३,५; २,१,१; ३,१,१५; ४,२,२; ५,१,२२; १२,२,११ प्रभृति।

३. जै० गृ० सू०, कैलेण्ड सम्पादित, पृ० १२, १९०५।

४. 'छायां पर्यवेक्षेतात्मनोऽप्रणाशाय।

५. पाणिभिर्वा (२०)।

शाटचायनि के अनुसार दक्षिणा के विषय में आरम्भ में निर्णय करना उचित नहीं है। क्योंकि इसमें गुणों के विक्रय की गन्ध आती है। ताण्डच के मत में यह निणर्य आरम्भ में ही हो जाना चाहिये क्योंकि यह फलदायी होता है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र में अनेक आचार्यों के मत व्यक्त किये गए हैं जिनमें ताण्डच तथा शाटचायनि प्रमुख हैं। अन्य आचार्य शाण्डिल्य, धानञ्जय्य, गौतम, क्षैरकलम्भि, लामकायन, वार्षगण्य प्रभृति ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके नाम कौथुमशाखीय ग्रन्थों में उल्लिखित है। वास्तव में जैमिनीय तथा कौथुम-राणायनीय नामक दो ही सामवेदीय शाखाएं हम तक सुरक्षित पहुंची है[1]। इन्हीं दोनों सम्प्रदायों की सत्ता प्राचीन अभिलेखों से भी सिद्ध होती है[2]।

जैमिनीयों का दूसरा नाम तलवकार भी है। जो जैमिनि का विशेषण प्रतीत होता है। जै०गृ०सू० (१,१४—'तर्पण') में १५ नाम गिनाये गये हैं, जबकि १३ आचार्यों की नामावली वहां अभीष्ट है। अतः स्पष्ट ही दो शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इनमें से एक तो 'भगवान्' 'उपमन्यु' के साथ जुड़ा हुआ है।

द्वितीय यही 'तलवकार' (=गायक) होना चाहिये। प्रेमनिधि शास्त्री ने अपने संस्करण की भूमिका में जैमिनि तथा 'तलवकार' में गुरुशिष्य का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया है[3]। इसी कारण इन दोनों को वैसे ही पर्यायवाचक मान लिया गया प्रतीत होता है जैसे सायण-माधव को[4]। 'तलव' का अर्थ 'गायक' किया जाता है और इस शब्द का सर्वप्राचीन प्रयोग वा० सं० ३,१३ में हुआ है। वैदिककाल में जैमिनियों को 'शाटचायनी' (शाटचानिन्) भी कहते थे[5]। यद्यपि जैमिनीयों तथा शांखायनीयों में अत्यन्त साम्य पाया जाता है[6], तो भी कौथुमों ने कौषीतकियों

---

१. W. Caland, *Die Jaminīya Saṁhitā mit elmer Einleitung Über die Sāmaveda Literatur*, 1907 ; Pañc. Br. Tr., p. 1 ; L. Renon. Les Écoles, p. 87 seq.

२. *Cf.* Renon, *The Vedic Schools and the Epigraphy* in *Siddha Bhāratī*, Vol, II, p. 218-221, 1950.

३. भूमिका, पृ० १; द्र. भगवद्दत्त, वै० वाङ्० १, पृ० ३१८।

४. Raghavan, *The Present Position of the Vedic Recitation and Vedic Śākhās*, p. 9, 1962.

५. Asko Parpola, *'On Jaiminīya Śrauta Sutra and Its Annexes'*, in *Orientalia Succana*, Vol. XVI, p. 181-182 ; n. 1, 1967.

६. लोकेशचन्द्र, शां०श्रौ०सू०, आंग्लानुवाद, भूमिका, पृष्ठ १४ से।

(शांखायनीयों) को हेय घोषित किया है—**तस्मात् कौषीतकानां न कश्चमातीत्व जिह्रीते यज्ञावकीर्णा हि ते**[1]। अर्थात् कौषीतकों में कोई भी व्यक्ति अत्यन्त भला नहीं है, क्योंकि वे यज्ञविहीन हो गये हैं।

व्याख्याएं :—१. भवत्रात ने इस पर वृत्ति लिखी है; जो न केवल अत्यन्त श्रेष्ठ व्याख्या है अपितु परिज्ञात सभी व्याख्याओं में सर्वप्राचीन भी है[2]। इनके पिता का नाम मातृदत्त था तथा यह मठर वंश के अन्तर्गत कश्यप मुनि के वंशज थे। मातृदत्त ने हि० श्रौ० सू० पर 'मन्त्रमाला प्रयोगसिद्धि' नामक व्याख्या तथा हि० गृ० सू० पर वृत्ति या व्याख्या की रचना की है[3]। भवत्रात की माता इनके गुरु ब्रह्मदत्त वैश्वामित्र की पुत्री थी। यह ब्रह्मदत्त सम्भवतः शां० श्रौ० सू० तथा शां० गृ० सू० का व्याख्याता था[4]। भवत्रात स्वयं भी 'महोपाध्याय' की उपाधि से अलंकृत थे। इनकी 'वृत्ति' अधूरी छूट गयी थी, जिसकी पूर्ति इनके शिष्य जयन्त भारद्वाज ने की थी, जो इनका जामाता भी था और भागिनेय भी। अतः सिद्ध होता है कि यह दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे।

भवत्रात की वृत्ति सम्प्रति उपलभ्यमान वैदिक व्याख्या ग्रन्थों में सर्वप्राचीन मानी जाती है[5]। इन्होंने इसमें शबरस्वामी का तो उल्लेख किया है, किन्तु कुमारिल तथा प्रभाकर की चर्चा नहीं की। जयन्त की सूचना के अनुसार भवत्रात ने जै० गृ० सू० तथा कौ० गृ० सू० पर भी व्याख्याएं लिखी थीं।

२. 'वैनतेय कारिका'—अग्निष्टोम प्रकरण पर २१५ कारिकाओं की एक रचना गास्ट्रा ने स्वसम्पादित जै० श्रौ० सू० (अग्निष्टोम प्रकरण) के अन्त में प्रकाशित की है, जिसके कर्ता का नाम अज्ञात है। किन्तु इसी रचना के बड़ोदा के एक हस्तलेख में इसका नाम 'वैनतेय कारिका' लिखा है[6] जिसे रामस्वामी ने 'जैमिनीय गृह्यसूत्र' से सम्बद्ध एक रचना 'प्रयोगसार' के कर्ता विनतानन्दन की

---

१. पञ्च० ब्रा० १७, ४, ३।
२. Parpola, *O.S.* Vol. XVI, p. 211.
३. Asko Parpola, *O.S.* Vol. XVI, p. 185 n. 12.
४. Ibid. p. 185, n. 11.
५. Parpola, Ibid. p. 186.
६. वही, पृ० २११।

कृति घोषित किया है। इस 'कारिका' में लेखक ने 'भवत्रातवचः' (कारिका ३) का उल्लेख किया है तथा स्वयं को श्रीनिवासाचार्य का शिष्य तथा 'वसिष्ठग्रामभूषण' घोषित, किया है। सम्भवतः यह श्रीनिवासाचार्य वही हैं, जिनकी जै०गृ०सू० पर व्याख्या अभी तक उपलभ्य है।

३. एक और ११६ श्लोकात्मक 'कारिका' भी प्रसिद्ध हैं जिस पर 'भवगात' के नाम से प्रसिद्ध एक व्याख्या भी है। रामस्वामी की सूचना के अनुसार यह व्याख्या भवत्रात के अतिरिक्त किसी 'माधव' से भी सम्बद्ध की जाती है[1]। किन्तु इस कारिका के आरम्भिक श्लोकों में माधव ने कारिका और वृत्ति दोनों को भवत्रात कृत बतलाकर स्वयं को केवल 'लेखक' (विलिख्यते) कहा है। इन कारिकाओं के अतिरिक्त दो प्रयोग भी बड़ोदा में विद्यमान हैं।

एक अर्जुनग्राम निवासी, वसिष्ठ गोत्रीय नीलमाणिक्क के पुत्र कुरुंगराज की कृति 'ऋतुदीपिका' है, जो २५० वर्षों से पुरानी नहीं हो सकती[2]। इसमें 'धारणलक्षण' के निर्माता सभापति को भी नमस्कार किया गया है। इसमें बौधायन के तन्त्रानुसार **अग्न्याधान** तथा **अग्निहोत्र** के अनुष्ठान का क्रमिक विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इसी से मिलता जुलता एक 'आधानपूर्वाग्निष्टोम प्रयोग' नामक प्रयोग भी उपलभ्य है। इसका कर्ता जै० गृ० सू० का व्याख्याकार श्रीनिवास अध्वरीन्द्र है। प्रयोग के अन्त में पुष्पिका के भी पश्चात् लिखा है कि जैमिनीयों के लिये भी आध्वर्यव कर्म बौधायनसूत्र के अनुसार करना चाहिये[3]।

चन्द्रशेखर भट्टाचार्य पञ्चाग्नि विरचित एक 'प्रयोगवृत्ति' भी उपलभ्य है, जिसकी पुष्पिका में इसे भवत्रात रचित घोषित किया गया है। यह काफी विशाल रचना है किन्तु जीर्णावस्था में है[4]।

संस्करण :—१. ड्यूक गास्त्रा (Dieuke Gaastra) ने १९०६ में डच भाषा में अनुवाद के साथ इसके केवल अग्निष्टोम के प्रकरण को प्रकाशित किया था तथा इसे ही जै० श्रौ० सू० समझा था। किन्तु साथ ही

---

१. A Desc Cat. MSS in *Or. Inst., Baroda* Vol. 2, p. 111.

२. Asko Parpola, *loc. cit.*, p. 212.

३. तु. कैलैण्ड, जै० गृ० सू०, संस्करण, १९०५, पृ० १२ तथा भवत्रात पृ० ५२।

४. Asko Parpola *loc. cit.*, p. 213.

यह विश्वास भी व्यक्त किया था कि इस शाखा का श्रौतकर्म सम्बन्धी अन्य साहित्य भी विद्यमान रहा होगा । जैमिनीय परिशेष-सूत्र को धन्वी ने उद्धृत किया है (द्रा०श्रौ०सू० ३,४,१४) भवत्रात के भाष्य-सहित इसके अनेक हस्तलेख उपलभ्य है, ओ०आई० बड़ोदा, हस्तलेख सं० ११५३८; पृ० १-४६, ४७-११६, देवनागरी; (प्रो० रामस्वामी द्वारा संगृहीत हस्तलेख सूची तथा वि० वै० शोध संस्थान, होशियारपुर, ह० ले० सं० २००२; ६५९४)।

२. प्रेमनिधि शास्त्री द्वारा सम्पादित भवत्रात कृत वृत्ति । सरस्वती विहार ग्रन्थमाला, दिल्ली । यह संस्करण नाना प्रकार की त्रुटियों से आक्रान्त है । यद्यपि सम्पूर्ण सूत्रपाठ अभी तक प्रकाश में नहीं आया तो भी अस्को परपोला ने सूत्रपाठ के खोज निकालने का दावा किया है, जिसमें से केवल २,१-२ तथा २,३ का कुछ भाग लुप्त है[1] ।

---

१. O.S. Vol. XVI, p. 207.

सप्तम अध्याय

सामवेदीय श्रौतसूत्र (२)

लाटयायन-श्रौतसूत्र :

सामवेद की कौथुमी-शाखा के दस श्रौतसूत्रों में से एक 'लाटयायन' नाम से प्रसिद्ध है। कुमारिल भट्ट के अनुसार[1] 'लाटयायन' का नाम लाटप्रदेश (गुजरात) से सम्बद्ध है और किसी 'लाटीय' अथवा 'लाटि' द्वारा निर्मित होने के कारण इसे लाटयायन कहते हैं। कल्पानुपद सर्वप्राचीन रचना है, जिसमें इस सूत्र का उल्लेख किया गया है[2]। द्राह्यायण-गृह्यसूत्र तथा द्राह्यायण-श्रौतसूत्र में भी इसका उल्लेख है। वंश-ब्राह्मण में प्राचीन आचार्यों की सूची में द्राह्यायण का नाम तो है, किन्तु लाटयायन का नहीं है।

लाटयायन-श्रौतसूत्र में दस प्रपाठक हैं, सातवें प्रपाठक में १३ खण्डिकाएं हैं और दसवें में बीस। शेष सभी में प्रत्येक में बारह खण्डिकाएं हैं। इस प्रकार यहां कुल १२९ खण्डिकाएं होती हैं। इसमें प्रतिपादित विषयों का विवरण इस प्रकार है—

प्रपाठकः	
१	परिभाषाएं तथा ऋत्विग्वरण।
२	अग्निष्टोम तथा इसकी संस्थाएं।
३	षोडशी में द्रव्य-विधान।
४	वाजिभक्षण।
५	चातुर्मास्य, वरुणप्रघास, सोमचमस।
६	सामविधान तथा द्व्यक्षर-प्रतिहार।
७	चतुरक्षर-प्रतिहार तथा गायत्री-गान।
८	एकाह तथा अहीन याग एवं वाजपेय।
९	राजसूय।
१०	सत्त्रयाग तथा उनकी परिभाषाएं।

---

१. तन्त्रवार्तिक १, ३, ११।

२. अस्को परपोला, श्रौ० ला० द्रा०, पृ० ३१।

इसकी सूत्र-गणना के विषय में मतभेद पाया जाता है। सी० वी० वैद्य[1] के अनुसार इसमें २५८४ सूत्र हैं, जबकि अस्को परपोला[2] के अनुसार ये २६४१ हैं।

इस सूत्र के अनुसार यज्ञ में मन्त्रपाठ एकश्रुति में किया जाना चाहिये। ऋत्विज् को आर्षेय, अनूचान, साधुचरण, वाग्मी, अन्यूनाङ्ग, अनतिरिक्ताङ्ग, **द्वयसत्**,[3] अनतिकृष्ण तथा अनतिश्वेत होना चाहिये[4]। **देवयजन** का स्थान प्रागुदक्-प्रवण, लोमश, अवृक्ष तथा समतल होना अपेक्षित है[5]। सभी यज्ञों की सामान्य प्रक्रिया का निर्देश यहां कर दिया गया है। विविध अवसरों पर गेय विविध सामों, उनके गाने के प्रकार तथा उनके पञ्चावयवों का विवरण यहां दिया गया है। **दीक्षणीय, प्रायणीय, उदयनीय, आतिथ्य** इष्टियों तथा अन्य यागों के सामगानों का भी विवरण यहीं उपलभ्य है। उद्गाता तथा प्रस्तोता के प्रातःसवन के कर्त्तव्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। विविध ऋत्विजों के निष्क्रमण, प्रवेशन तथा उपवेशन के नियमों का भी विधान किया गया है। उनके पारस्परिक **आहाव, प्रतिगर** एवं **हिङ्कार** प्रभृति के नियम भी प्रतिपादित हैं।

द्वितीय प्रपाठक में ऋत्विजों, अग्नियों, सवनों, आसनों आदि सम्बन्धी सामान्य निर्देशों के उपरान्त विविध सामों तथा उनके **स्तोभों** के गाने के प्रकार एवं यजमान तथा पत्नी के सामगान के **निधन** में सम्मिलित होने के प्रकार का विवरण दिया गया है। सोम-धाना-भक्षण के विस्तृत विवरण के उपरान्त विशेष सामगानों का **अवभृथ** में विनियोग समझाया गया है। अन्त में 'उद्वयं तमसस्परि'[6] से सूर्योपस्थान का विधान है।

तृतीय प्रपाठक में सोमयाग तथा इसकी संस्थाओं से संम्बद्ध दीक्षाओं का विवरण है। अग्निमन्थन के समय गेयसामों का विधान, यज्ञशाला में विविध द्वारों से विविध ऋत्विजों के प्रवेश तथा निष्क्रमण-सम्बन्धी नियमों का निर्देश, एवं **महाव्रत** में सामवेदीय ऋत्विजों के कर्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्थ प्रपाठक में वीणा के विविध प्रकारों तथा निर्माण-विधियों का विवरण देकर यज्ञ में उनके प्रयोग पर प्रकाश डाला गया है। इनमें अलाबु-वीणा, महावीणा, शील-वीणा, काण्डवीणा, पिच्छोरा प्रभृति का वर्णन है। इस विस्तृत विवरण का कारण

---

१. हि० सं० लिट्०, तृतीय भाग, पृ० १६७।
२. श्रौत सूत्रज ऑफ लाटचायन एण्ड द्राह्यायण, भाग १, पृ० ४०। हेलसेङ्की, १९६८।
३. जिसकी नाभि से ऊपर तथा नीचे की लम्बाई एक सी हो।
४. ला० श्रौ० सू० १, १, ७।
५. ला० श्रौ० सू० १, १, १२।
६. ऋग्० १, ५०, १०।

यह है कि साम-संगीत में वीणा का प्रयोग सदा किया जाता था। छान्दोग्य-उपनिषद् में कहा भी गया है—**तद्य इमे वीणायां गायन्ति एतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः**[1]। यजमान-पत्नी काण्ड-वीणा तथा पिच्छोरा का 'मृदु' वादन करती है। एक शूद्र तथा वैश्य अथवा ब्राह्मण और क्षत्रिय यज्ञशाला से बाहर सूर्य के प्रतीक एक परिमण्डलाकार चर्म-खण्ड पर प्रहार करते हैं। दक्षिणाभिमुखी एक पुंश्चली पर गालियों की बौछार की जाती है।

पञ्चम से सप्तम प्रपाठक तक में सामगानों, उनके छन्दों, **स्तोमों, स्तोभों** विविध ऋषियों के सामों के **प्रतिहारों** के विषय में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किये गये हैं।

अष्टम प्रपाठक में **एकाहों, अहीनों** का **वाजपेय** पर्यन्त वर्णन है। इनकी दीक्षा अथवा दीक्षाओं (अपरिमित), तथा **एकाहों—ज्योतिष्टोम, अभिजित्, विश्वजित्—** के **उपसदों** का विवरण दिया गया है। साद्यस्क तथा अन्य कृत्यों के लिये नाना दक्षिणाओं का विधान भी किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय वास्तविक सोम दुर्लभ हो गया था। इसीलिये सोमपान के स्थान पर यह विधान किया गया है—**अभक्षयन्त ऋत्विजश्चमसानेव जिघ्रयुः । अवभृथ** के अनन्तर यजमान को निषाद-ग्राम के समीप रात काटनी होती थी।

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि **श्येन-याग** के लिये 'व्रातीन' योद्धा ब्राह्मणों के 'अनूचान' पुत्रों को ऋत्विज् बनाने का विधान किया गया है[2]। ये लोग लोहित वर्ण की पगड़ियां (उष्णीष) बाँधते थे। इससे प्रकट होता है कि उस समय के ब्राह्मणों का जीवन कष्टमय होता था और कि वे आजीविकोपार्जनार्थ सङ्घ बना कर रहते थे और विविध प्रकार के परिश्रमसाध्य कार्यों को भी अपना लेते थे। **व्रात्यस्तोम** में दक्षिणा 'मगधदेशीय ब्रह्मबन्धु' को देने का विधान है। **व्रात्यस्तोम** सम्पन्न करने के उपरान्त 'व्रात्य' भी **त्रैविद्यवृत्ति** बनकर ब्राह्मणों के साथ भोजन करने के योग्य हो जाते थे—**तेषां भुञ्जीत, कामं याजयेत्**[3]।

नवम प्रपाठक में **राजसूय** का प्रतिपादन है। इसमें राजा अपने अधीनस्थ राजाओं की सम्पत्ति को तीन भागों में विभाजित करवा कर एक भाग को ऋत्विजों

---

१. छां० उप०, १, ७, ६।

२. ला० श्रौ० सू० ८, ५, १—**व्रातीनानां योधानां पुत्राः ; व्रातीनोव्रातेन शरीरायासेन जीवति इति** (पा० ५, २, २१) पर भट्टोजि । **नानाजातीयानामलब्धजीवनद्रव्याणां भारवहनादिकष्टकर्मजीविनां संघो व्रातः। तस्य यज्जीवनार्थं कष्टं कर्म तदिह व्रातम् इति भाष्यम्।**

३. ला० श्रौ० सू० ८, ६, ३०।

की दक्षिणा के लिये, द्वितीय को प्रतिसवन **संसर्पियों** की दक्षिणा के निमित्त प्रदान करके तृतीय भाग को उपहार के रूप में स्वामी को लौटा देने की व्यवस्था सर्वथा नवीन है। ये राजा अभिषेक के योग्य नहीं रह जाते थे[1]। यहां अनेक व्रतों का प्रतिपादन किया गया है, जो वर्ष भर चलते हैं। एक विचित्र बात और है, राजसूय के अंगभूत **दशपेय याग** के उपरान्त ब्राह्मणों के अतिरिक्त समस्त राष्ट्र में वर्ष भर तक कोई केशवपन नहीं करा सकता था, **नास्याब्राह्मणा राष्ट्रे वापयेरन्** (९,२,२५); तु. का० श्रौ० सू०—**अभिषेचनीयान्ते केशवपनार्थे निवर्तनं संवत्सरम्** (१५,८,२४)।

इसी प्रपाठक में कई एक छोटे-मोटे कृत्य और भी विहित हैं जिनमें वैश्य के लिये **गोसव** का विधान है और राजा तथा प्रजा दोनों के विरुद्ध अभिचारों का भी विवरण दिया गया है। सहस्र-पशु-प्राप्ति के लिये एक **शबलीहोम** का भी विधान है, जिसमें होमानन्तर यजमान वन में जाकर **शबली-शबली** पुकारता है। यदि किसी कुत्ते के भौंकने या गधे के रेंकने का शब्द सुनाई पड़े तो होम को असफल मानना चाहिये और पशु-प्राप्ति की आशा नहीं करनी चाहिये (९, ८)।

यहां **अश्वमेध** का प्रतिपादन 'राजा' के लिए किया गया है; न कि अन्य सूत्रों के समान 'सार्वभौम' राजा के लिए। राजा की पत्नी 'वावाता' को **पत्नीनां प्रियतमा यजमानस्य** और 'राजपुत्री' कहा गया है। 'परिवृक्ती' का उल्लेख तो किया गया है, किन्तु उसे **अनपचिता** अर्थात् **असम्मानिता** कहा गया है। शेष कर्म अन्यत्र विहित कृत्यों के समान ही हैं।

अश्वमेध के समान ही एक और **पतन्तक** कर्म का भी विधान है, जिसमें अश्व को केवल एक पक्ष के लिये छोड़ा जाता है। एक सरलतर ज्योतिष्टोम का विवरण भी मिलता है[2]। यहीं एक और कृत्य **जामदग्न्य** भी प्रतिपादित है (खण्डिका १२), जो अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता[3]। यह अपर-पक्ष की त्रयोदशी को आरम्भ होता है।

दशम प्रपाठक में सत्त्रों का विधान और विवरण है। इसमें ४९ रात्रियों तक विहित कर्म के अनन्तर विशेष सामों तथा उनके **निधनों** के द्वारा **द्वादशाह** को सम्पन्न करने का विधान है। **गवामयन** तथा अन्य दीर्घ सत्त्रों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इन्द्रदेवता-सम्बन्धी ऋग्वेद की १०४ बार्हत प्रगाथ-ऋचाओं का

---

१. सी० वी० वैद्य, वही पृ० १७२; **संसृपाहवि** तो श० ब्रा० ५, ४, ५ तथा का० श्रौ० सू० १५, ८ में प्रतिपादित है, किन्तु वहां ऐसी बात नहीं कही गयी।

२. इससे इस सूत्र की या कम से कम इस कृत्य की अर्वाचीनता सिद्ध होती है, (वैद्य, वही, पृ० १७३)।

३. वैद्य—वही, पृ० १७३।

विधान भी यहां विशेष है (६,१३)। **अभीवर्त** याग में कौन से मास में कौन सी प्रगाथ-ऋचाओं का विनियोग करना चाहिये, इसके विषय में भी नियमों का विधान किया गया है। सर्वत्र उद्गाता ही सामगान करता है, किन्तु **महाव्रत** में अन्य ऋत्विज् भी गान में सम्मिलित हो जाते हैं। **कौण्डपायिनामयन** तथा **दृतिवातवतोरयन** में गेय सामों के विषय में प्राचीन आचार्यों में मतभेद था। इसमें **तापश्चित** के **पृष्ठचों** के विषय में विस्तृत विवरण दिया गया है (खण्डिका १३) तथा **सारस्वत-सत्र** के प्रतिदिन सरस्वती के तट पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनुष्ठानों के तथा **प्लक्षप्रस्रवण** क्षेत्र में कर्तव्य अन्तिम अनुष्ठान का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। सरस्वती में **अवभृथ** स्नान का निषेध करके नदी में से जल लेकर बाहर स्नान का विधान सर्वथा नवीन है। दार्षद्वतयाग दृषद्वती के तीर पर किया जाता था, जहां किसी ब्राह्मण की गौओं को वर्षपर्यन्त चराने का विधान है। इसके **अवभृथ** के उपरान्त यजमान को संसार से सन्न्यास लेकर सामगान करना चाहिये। एक सर्वथा नवीन याग **तौर** का विवरण भी यहीं दिया गया है (खण्डिका २०)। **प्राजापत्य सहस्रसंवत्सर** याग का भी उल्लेख है।

लाट्यायन न केवल पञ्चविंश ब्राह्मण से ही उद्धरण देता है, अपितु आर्षेयकल्प को भी उद्धृत करता है तथा अनेक प्राचीन आचार्यों के विचारों को भी हम तक पहुंचाता है, जिनमें प्रमुख शाण्डिल्य हैं, जो प्रायः यज्ञ का व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करते प्रतीत होते हैं। ये आचार्य धानञ्जय्य, शाण्डिल्यायन, गौतम, शौचिवृक्षि, क्षैरकलम्भि, कौत्स, वार्षगण्य, लामकायन तथा राणायनी-पुत्र हैं। सूत्रकार ने शाट्यायनि तथा शालङ्कायनि को भी उद्धृत किया है तथा 'वाजसनेयक' के नाम से एक बार शतपथ-ब्राह्मण को भी उद्धृत किया है[1]।

कात्यायन, आश्वलायन एवं शाङ्खायन के श्रौतसूत्रों से भी एकाहों, अहीनों तथा सत्रों के विषय में ला० श्रौ० सू० की भिन्नता स्पष्ट होती है। इन तीनों में परस्पर मतभेद नहीं लक्षित होता। जैसा कि हम देख चुके हैं, सामवेदीय सूत्र में अनेक ऐसे यज्ञ-यागों का प्रतिपादन किया गया है, जो अन्य वेदों के सूत्रों में नहीं पाये जाते। यदि पाये भी जाते हैं तो केवल तालिका के रूप में गिना दिये गये हैं, उनका विवरण नहीं दिया गया।

लाट्यायन-श्रौतसूत्र में आर्षेयकल्प को भी अनेक बार उद्धृत किया गया है[2]।

द्राह्यायणश्रौत-सूत्र सामवेद की राणायनीय शाखा से सम्बद्ध है और लाट्यायन से अर्वाचीन है। वह लाट्यायन के कुछ सूत्रों को प्रक्षिप्त मानता है,

---

१. ला० श्रौ० सू० ४, १२, १२।

२. ला० श्रौ० सू० ९, ५, २२; ९, १२, ९; १०, ६, ७; १०, ८, १० आदि।

जिनमें संशोधन करने का प्रयास भी लक्षित होता है। इसने लाटचायन की क्रमव्यवस्था में भी परिवर्तन किया है तथा इसके अर्थों को स्पष्ट करने के लिये लगभग ३० स्थानों पर परिवर्तन, निष्कासन अथवा सरलीकरण के उपायों का प्रयोग किया है। परिणामस्वरूप दोनों सूत्रों में कहीं-कहीं विरोध उत्पन्न हो गया है। लाटचायन और द्राह्यायण की पारस्परिक तुलना से लाटचायन की अत्यन्त प्राचीनता सिद्ध होती है[1], यहां तक कि आपस्तम्ब तथा शां० श्रौ० सू० भी लाटचायन से अर्वाचीन समझा जाता है[2]।

दूसरी ओर जैमिनीय-श्रौतसूत्र को लाटचायन का उपजीव्य सूत्र माना जाता है। क्योंकि लाटचायन (१, ६) मुख्यतः जैमिनीय-श्रौतसूत्र पर ही आधृत है[3], किन्तु जहां जै० श्रौ० सू० की रचनाशैली ब्राह्मणों की सी है वहां ला०श्रौ०सू० की शैली अधिक विकसित सूत्रशैली है। जै०श्रौ०सू०, जै०सं० तथा जै०ब्रा० के मन्त्रों को सर्वत्र सकलपाठेन उद्धृत करता है और कुछेक कर्मों को बार-बार उन्हीं शब्दों में दोहराता है, किन्तु ला० श्रौ० सू० संक्षिप्तरूपेण उनका विवरण प्रस्तुत करके 'सर्वत्र' शब्द से उनकी आवृत्ति की सूचना दे देता है। ला० श्रौ० सू० के परिभाषा-सूत्र यथास्थान समय-समय पर दिये गये हैं, आप० श्रौ० सू० तथा शां०श्रौ०सू० के समान एक स्थान पर नहीं लिखे गये, किन्तु कहीं-कहीं लाटचायन० बौधायन० का अनुकरण करता है[4]। लाटचायन० और कौशिक-सूत्र में कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है[5]। इससे लाटचायन० के काल पर प्रकाश पड़ता है और यह सर्व-प्राचीन सूत्र-रचनाओं के अन्तर्गत रखा जा सकता है। बौधायन०, जैमिनीय और आर्षेयकल्प अवश्य ही लाटचायन० से पूर्ववर्ती हैं। अतः इसका रचनाकाल ७५० ई० पू० के आसपास सम्भव है।

भाषा :—इस सूत्र की भाषा में प्राचीन तथा अपाणिनीय प्रयोग पाये जाते हैं, जो मध्यवर्गीय श्रौतसूत्रों की विशेषता है[6]। इस सूत्र पर कुमारिल की टिप्पणी द्रष्टव्य है कि इसमें 'स्तुवीरन्' जैसे अपाणिनीय प्रयोग पाये जाते हैं[7]। इसकी शैली सर्वथा निर्विशेष तथा एक से शब्द एक से क्रम

---

१. रघुवीर, द्राह्यायणश्रौतसूत्र, ज० वे० स्ट०, भाग १ भूमिका, पृ० ३।
२. अस्को परपोला, वही, पृ० ९६।
३. लाटचायन और जैमिनीय की तुलना के लिये द्र. अस्को परपोला, ओ० एस०, १९६७, पृ० १९६ से।
४. अस्को परपोला, श्रौ० सू० ला०, द्रा०, भाग १, पृ० ९६।
५. वही।
६. अस्को परपोला, श्रौ० सू० ला० द्रा०, पृ० २८८।
७. ला० श्रौ० सू० २, २, १; (तन्त्रवा० १, ३, ९)।

में प्रयुक्त किये गये हैं। फलस्वरूप अनेक सूत्रों का वचोविन्यास एक-सा हो गया है (२, २, ९=२, ११, ९=३, ४, १२=३, ७, ९=९, ८, ११; १, २, १९=२, ७, २२; २, १, ३=२, ५, १६ प्रभृति)[1] ला० श्रौ० सू० में अपनी शाखा के अनेकों प्राचीन श्लोकों तथा मन्त्रों को उद्धृत किया गया है। यह उद्धरण की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि सूत्रकार पूर्वरचित अपने ही सूत्रों को भी संक्षेप से उद्धत करते नहीं चूकते (यथा—१, १, २ तथा ४)। किन्तु कुछ अवस्थाओं में ये अपने प्रतीकों के शब्दों को मध्य में ही काट देते हैं। यथा कृशेति (२,८,१२) =कृशा० इति (पञ्च ब्रा० १,७,८—कृशानो सव्यानायच्छ); दासेति (१३)=दास० इति (पञ्च० ब्रा० १,९,९—दासनो दक्षिणानवगृहाण)। ला० श्रौ० सू० २, ११, १७—अप्सु धौतेति=पञ्च० ब्रा० ११६, ११ अप्सु धौतस्य ···। ला० श्रौ० सू० ३,१,२२—इन्द्रमिद्धेति=साम० २, ३८०—इन्द्रमिद्धरि वहतः··· "।

व्याख्याएं :—१. इस सूत्र पर सर्वश्रेष्ठ प्राचीन व्याख्या अग्निस्वामिकृत भाष्य है। का० श्रौ० सू० की व्याख्या में कर्काचार्य ने अग्निस्वामी को नामतः उद्धृत किया है[2]। अग्निस्वामी की मानव-श्रौत-सूत्र के अग्निष्टोम भाग पर भी एक व्याख्या प्रसिद्ध है, जो वास्तव में कुमारिल द्वारा उद्धृत जरद्गव की रचना है[3]। अग्निस्वामी ने शां० श्रौ० सू० पर भी भाष्य की रचना की है। वसुदेव ने शांखायन-गृह्य-संग्रह में अग्निस्वामी का उल्लेख किया है तथा शां० श्रौ० सू० की व्याख्या में वरदत्त-सुत-ब्रह्मदत्त आनर्तीय ने भी अग्निस्वामी को तीन बार उद्धृत किया है[4]। ब्रह्मदत्त को नारायण ने अपनी शां० श्रौ० पद्धति में स्मरण किया है। नारायण १५२९ वि० (१४७२ ई०) से पूर्व हो चुके हैं[5]। यह सब होते हुए भी अग्निस्वामी का काल अनिर्णीत ही है। अग्निस्वामी ने मगध के राजा कुमार

---

१. वही, पृ० २९।

२. हिल्लेब्राण्ट्, रिच्वल्लिट्०, पृ० १७।

३. अस्को परपोला, वही, पृ० १०१।

४. वही; तथा भगवद्दत्त, वै० वाङ्०, द्र. भाग १, पृ० २१३।

५. भगवद्दत्त, वही, पृ० २१२।

गुप्त का उल्लेख किया है, किन्तु यह राजा कौन सा है, यह स्पष्ट नहीं है। अग्निस्वामी मगधवासी प्रतीत होते हैं[1]।

२. एक व्याख्या रामकृष्ण दीक्षित उपनाम नानाभाई ने भी १७वीं शती में लिखी है। कई स्थलों पर यह अग्निस्वामी से मतभेद व्यक्त करता है, यहां तक कि सूत्रों के योग-विभाग में भी वैमत्य प्रकट करता है। यह व्याख्या संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट है। इनके पिता दामोदर त्रिपाठी अकबर के सभापण्डित थे। १३ रचनाएं रामकृष्ण की प्रसिद्ध हैं।

३. अग्निष्टोम भाग पर मुकुन्द झा बख्शी की भी व्याख्या प्रकाशित हुई है[2]।

संस्करण :—१. अग्निस्वामी के भाष्य सहित सम्पूर्ण ला० श्रौ० सू० का सम्पादन १८७०-७२ में आनन्दचन्द्र वेदान्त वागीश द्वारा बि० इण्डि० के अन्तर्गत किया गया था। यह संस्करण पाठ तथा मुद्रण के अनेक दोषों से दूषित होने के कारण शोधकार्यों के लिये अनुपयुक्त है। इसके पुनः सम्पादन की आवश्यकता है[3]।

२. आर० साईमन ने ६,१०-७,१३ तक zii, Vol. II, p. 1-33 में छपवाया था।

३. हिल्लेब्राण्ट ने शबलीहोम (९, ८) का सम्पादन करके उसका विश्लेषण १८६२ में (इण्डिस्टु०, ४, पृ० ४३७-४४७) किया था। तथा वाजपेय (८, ११; ५, १२, ८-२५) एवं सौत्रामणी तथा राजसूय भागों का अनुवाद प्रकाशित किया था।

४. कैलैण्ड ने लाट्यायन-श्रौतसूत्र तथा संहिता एवं ब्राह्मण के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला था[4]।

५. रेनु ने ला० श्रौ० सू० तथा द्रा० श्रौ० सू० के परस्पर सम्बन्धों पर प्रकाश डाला था (Ecoles, ९१-९२)।

---

१. अस्को परपोला, वही।

२. चौखम्भा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९३२।

३. Vide Knaver, *G. G. S.* Pt IV; Caland, *ZDMG* Vol. 52, 1898, p. 427.

४. आर्षेयकल्प, १९०७; पञ्च० ब्रा० अनु०, १९३१, भूमिका।

द्राह्यायण श्रौतसूत्र

चरणव्यूह के अनुसार कौथुमी और शाटचायनी शाखाएं राणायनीयों की ही उपशाखाएं हैं। किन्तु, क्योंकि कौथुमों तथा राणायनीयों का भेद श्रौतसूत्रों तथा उत्तरवर्ती साहित्य में अधिक उभर कर सामने आता है और साथ ही द्राह्यायण-श्रौतसूत्र लाटचायन० से परवर्ती है, अतः प्रतीत होता है कि कौथुमी-शाखा ही मुख्य शाखा थी और राणायनीयों का साहित्य उत्तरवर्ती काल में विकसित हुआ[1]। द्राह्यायण श्रौतसूत्र को राणायनीयों से सम्बद्ध किया जाता है। लाटचायन के समान इसे भी छन्दोगसूत्र की संज्ञा दी जाती है तथा 'प्रधानसूत्र' भी कहते हैं। क्योंकि कर्ता वसिष्ठ गोत्र का था अतः इसे 'वसिष्ठ-सूत्र' भी कहते हैं। द्राह्यायण-गृह्यसूत्र (खादिरगृह्यसूत्र) का द्राह्यायण-श्रौतसूत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है और राणायनीय शाखा का सूत्र प्रसिद्ध है, किन्तु यह गोभिलगृह्यसूत्र का ही संक्षिप्त रूप है तथा गौतम की रचना माना जाता है। किन्तु हेमाद्रि गोभिलाचार्य को "राणायनीय-सूत्र-कृत्" कहते हैं और कर्मप्रदीप के कर्ता आशार्क के अनुसार गोभिलगृह्यसूत्र आरम्भ में कौथुमों और राणायनीयों दोनों का सूत्र था[2]। इस प्रकार समस्या जटिल बन गई, यहां तक कि इसके विषय-विभाजन में भी उभयविध संज्ञाविधि का आश्रय लिया गया है। एक में तो इसे ३२ पटलों में विभाजित किया गया है, प्रत्येक पटल के चार खण्ड हैं, बाईसवें और उन्तीसवें पटलों में पांच-पांच खण्ड हैं, सत्ताईसवें और अठाईसवें में तीन-तीन। इस प्रकार कुल १२८ खण्ड होते हैं। इसमें लगभग ३२२२ सूत्र हैं[3]।

द्वितीय विभाजन विधि में अध्यायों का आश्रय लिया गया है[4]। एक अध्याय में प्रायः तीन पटल हैं। इस में कुल १० अध्याय हैं। व्याख्याकार धन्वी पटलों को अध्यायों के उपखण्ड ही मानते हैं। इस विभाजन का भी कारण

---

१. अस्को परपोला, श्रौ० ला० द्रा०, भाग १ भूमिका; तथा L. Renou, Ecoles, Para 74; p. 92, n. 2; Knauer, F., *G.G.S.*, tr. p. 40 seq.

२. *Vide* Renou, Ecoles, Para 108-109.

३. काशिकर सर्वे०, पृ० ९२; किन्तु अस्को परपोला के अनुसार इसमें कुल ३१ पटल हैं और १२९ खण्ड; २०, २२; २८ पटलों में ५-५ खण्ड हैं, २७वें के ६ हैं। इस गणना-भेद का मुख्य कारण व्याख्याकारों के द्वारा सूत्रों का भिन्न-भिन्न योग-विभाग ही है। कई अवस्थाओं में अग्निस्वामी के एक सूत्र को धन्वी ने दो में विभक्त कर दिया है। जबकि रुद्रस्कन्द सूत्र को काट छांट कर और भी छोटा कर देते हैं।

४. रघुवीर इसे ही मुख्य मानते हैं। पटल विभाजन को गौण (भूमिका पृ० ४)।

यह है कि आरम्भ में यह कौथुमशाखीय विभाजन-पद्धति के अनुसार प्रपाठकों में विभक्त होगा, बाद में जब राणायनीयों ने इसे अपनी शाखा के अनुसार ढालना चाहा, तो अध्यायों, पटलों और काण्डों का आश्रय लिया गया। यह द्वितीय विभाजन-विधि कौथुमीयों में भी उपलभ्य है, जो वास्तव में जैमिनीयों से ग्रहण की गयी है। इस प्रकार के संज्ञाकरण से अनुमान किया जा सकता है कि राणायनीयों ने सामतन्त्र, ऋक्तन्त्र, गृह्य-संग्रह-परिशिष्ट तथा कर्मप्रदीप के अतिरिक्त, जहां कौथुमीय प्रपाठक-व्यवस्था उपलभ्य है, अन्य सभी कौथुमीय रचनाओं के राणायनीय संस्करण तय्यार कर लिये थे[1]। द्राह्यायण के विषय ये हैं—

पटल	१- ७	ज्योतिष्टोम।
	८-११	गवामयन।
	१२-१५	ब्रह्मत्व।
	१६-२१	अहीन।
	२२-२६	एकाह।
	२७	अश्वमेध।
	२८-३२	सत्र।

जैसा कि लाटचायन के प्रकरण में दिखा चुके हैं, द्राह्यायण ने लाटचायन को अपना उपजीव्य मानकर उसी के समानान्तर विषय प्रतिपादन ही नहीं किया, अपितु वचो-विन्यास भी उसी के अनुसार रखा है। रचना का सूत्र-क्रम तथा सूत्र-विभाजन भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों के अनुसार भिन्न-भिन्न पाया जाता है। कई स्थलों पर प्रक्षेप, विवरण तथा व्यवस्थाक्रम में हस्तलेखों में विभिन्नता लक्षित होती है। सूत्रों के अन्तर्गत बाह्य विवरण भी विन्यस्त हो गये हैं। इसका कारण धन्वी की इस सूचना में निहित है कि इस सूत्र का लोप हो गया था और उसे इसकी एक प्रति ताम्रपर्णी के तट पर मिली थी। अतः लाटचायन का पाठ अधिक शुद्ध है[2]। लाटचायन में उल्लिखित आचार्यों के नाम द्राह्यायण में पाये जाते हैं। इसका कर्मकाण्ड ला० श्रौ० सू० के अत्यन्त समान है। इसमें वर्णित **वाजपेय** की विशेषता यह है कि इसमें सर्वत्र १७ संख्या का महत्त्व प्रकट होता है। यहां तक कि दक्षिणा में भी १७ ही गौएं दान दी जाती हैं। इसका नाम **कुरुवाजपेय** है। इस यज्ञ के अनन्तर यजमान को कई व्रत धारण करने पड़ते हैं, जिनमें से एक यह है कि वह योद्धा का जीवन व्यतीत करेगा—'क्षत्रवृत्ति वर्त्तयेत्' (५, १२, १)।

---

१. द्र. अस्को परपोला, वही, पृ० ५७; ब्लूमफील्ड ZDMG, 35, 1881, p. 533.

२. अस्को परपोला के अनुसार द्राह्यायण ने लाटचायन के अस्पष्ट सूत्रों को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

लाटचायन तथा द्राह्यायण-श्रौतसूत्रों की पारस्परिक तुलना से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि दोनों अत्यन्त प्राचीन काल की कृतियां हैं। डा० रघुवीर के अनुसार तो दोनों में इतना अधिक साम्य है कि दोनों किसी समय एक ही रचना के रूप में निर्मित हुई, जिस का पश्चात्काल में विभाजन हो गया। इनका शब्दकोश ही नहीं सूत्ररचना तथा सूत्रक्रम भी एक ही हैं।

इनमें विभिन्नताएं भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। द्रा०श्रौ०सू० में अनेक वृद्धियां की गयी हैं, जो अन्य सभी प्रकार की विभिन्नताओं से अधिक तथा महत्त्वशाली हैं। ये वृद्धियां इतनी स्पष्टता से पृथक् उभर कर सामने आती हैं कि अत्यन्त सरलता-पूर्वक अलग की जा सकती हैं और इस पृथक्करण से मूल-रचना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता[1]।

परपोला के विचार में इन विभिन्नताओं के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि द्रा०श्रौ०सू० की रचना ला०श्रौ०सू० से बहुत पश्चात्कालिक है[2]। इनकी गणना के अनुसार ला०श्रौ०सू० के केवल १३ ऐसे सूत्र हैं जिनके समानान्तर द्रा० श्रौ०सू० में कोई सूत्र नहीं है[3], जबकि द्रा० श्रौ० सू० में ऐसे २५० से अधिक सूत्र हैं, जिनके समानान्तर सूत्र ला० श्रौ० सू० में उपलब्ध नहीं होते। इनके अनुसार तो द्रा० श्रौ० सू० में की गयी वृद्धियों को निकाल देने से सूत्रपाठ में सुधार हो जाता है।

परपोला के अनुसार द्रा०श्रौ०सू० के अप्रकाशित भाग में कई ऐसी वृद्धियां उपलब्ध होती हैं, जो ला०श्रौ०सू० के परिशिष्ट का काम देती हैं। **गोविनत अश्वमेध** ऐसा ही एक कृत्य है जो ला० श्रौ०सू० में उल्लिखित नहीं है[4]। ऐसे परिशिष्टों में द्रा०श्रौ०सू० प्रायेण पञ्च०ब्रा० अथवा श०ब्रा० की ओर संकेत करता प्रतीत होता है, जिन्हें वह ला०श्रौ०सू० के समान ही उद्धृत करता है यथा—'इति ह्याह' (१,१,१६; ५,२,८; २६,४,५; २७,४,३) 'इति हि ब्राह्मणं भवति' (९,३,२२)। ऐसे अवसरों पर सूत्रकार अन्य शाखाओं का आश्रय लेता है। इस प्रसंग में ध्यातव्य है कि 'गोविनत अश्वमेध' पञ्च०ब्रा० में नहीं है, जैसा कि जै०ब्रा० तथा श० ब्रा० में है[5]। पूर्वार्द्ध में १,३,२३-३१ का परिवर्धन विशेतषः ध्यातव्य है। छोटी

---

१. रघुवीर, जे० बी० एस०, १; १९३४, पृ० १५ से; L. Renou, Ecoles, para 91-92.

२. श्रौ० ला० द्रा०, पृ० ३४।

३. वही, पृ० ३५।

४. द्रा०श्रौ०सू० ९,९-११।

५. Caland, on Pañc. Br. 21, 6.

मोटी वृद्धियां तो अत्यन्त अधिक हैं, तु. २, १, ३-५ ; ९, २, ३१-३३ ; प्रभृति ।

कुछ परिवर्धित सूत्र तो उदाहरण अथवा व्याख्यात्मक हैं, जिनमें ब्राह्मणों से उद्धरण तक पाये जाते हैं, यथा—१,१,१६ ; २,३ ११, १६ ब[1]। अपने ब्राह्मण के अतिरिक्त यहां सामवेदीय भाल्लविक ब्राह्मण, अध्वर्युबह्वृचाः (=ऐब्रा० ३,३३,१ तथा आप०श्रौ०सू० २१,१२,१)[2] आध्वर्यव[3], तथा बह्वृच तैत्तिरीयक ब्राह्मण[4] को भी उद्धृत किया गया है द्रा० श्रौ० सू० ने बौ०श्रौ०सू० (५, ४, ११), जैमिनीयाः (१,२,१९,२७ (?); ९,३,१,२२ प्रभृति), जै० उप० ब्रा० ४,१,८[४,२,१३]६,४,११ प्रभृति, नि० सू० (१, ३, २३-२७), गो० गृ० सू० (१, २, १-५), शां० श्रौ० सू० (७,३,१;५), आश्व० श्रौ० सू० (४,२,२; ६,२,१४); आप० श्रौ० सू० (२,३,११)[5] को भी उद्धृत किया है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि द्राह्यायण० से पूर्व ही ला०श्रौ०सू० में कुछ प्रक्षेप कर दिये गये थे, जिन्हें ठीक करने का प्रयास द्राह्यायण० ने किया है, यथा—१, २, १-५, जहां पार० गृ० सू० तथा गो० गृ० सू० (१,३,१४) से प्रक्षेप किया गया प्रतीत होता है। द्रा० श्रौ० सू० (६,२,११) में ला० श्रौ० सू० के विचार का 'एके' कहकर निराकरण कर दिया गया है। इसी प्रकार १२, १, ३३ में ला०श्रौ०सू० (४,९,२१)को उद्धृत किया गया है। यहां द्राह्यायण० के सूत्र ३५ तक सम्पूर्ण वाक्य ही इतना स्पष्ट व्याख्यात्मक है कि इसमें द्राह्यायण० के बाद प्रक्षेप किये जाने का आभास होता है[6]।

इन प्रक्षेपों के अतिरिक्त द्राह्यायण० ने लाटचायन श्रौतसूत्र के सूत्रपाठ में भी अनेक परिवर्तन किये हैं। तीस स्थलों पर सूत्रक्रम में परिवर्तन कर दिया है[7]। सम्भवतः ऐसे परिवर्तन सूत्रों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से किए गये प्रतीत होते हैं। किन्तु कई स्थलों पर ला० श्रौ० सू० का सूत्रक्रम अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। यथा—१, ३, ३-५ तथा ३, १०, ११। अन्यत्र द्रा० श्रौ० सू० का

---

१. अस्को परपोला, वही, पृ० ३६ ।

२. ९,१,१८ तु. कैलैण्ड, आप० श्रौ० सू० २१,११,१३ ।

३. द्रा० श्रौ० सू० १२,१,३४ ।

४. द्रा०श्रौ०सू० *Cf.*, Weber, IS X, p. 150 seq.: Oldenberg, SBE 29, p. 196; Caland in *Āp. ŚS* 10.1.3 ; Drāhy. *Ś.S.* 27.6.36-37.

५. For Drāhy. and Kh. G.S. *cf.* Oldenberg SBE 29, p. 372.

६. अस्को परपोला, वही, पृ० ३६ ।

७. वही, पृ० ३७ ।

पाठ वस्तुतः अधिक स्पष्ट एवं स्वाभाविक है, यथा—द्रा० श्रौ० सू० १२, ३, १० का पाठ ला० श्रौ० सू० ४,११,११ से अधिक स्वाभाविक है।

द्राह्यायण ने अनेक अनावश्यक सूत्रों का निराकरण भी कर दिया है तथा अनेक सूत्रों में स्पष्टीकरणार्थ अपेक्षित परिवर्तन भी किये हैं।

किन्तु अपने इन संशोधनों की धुन में सूत्रकार ने अनेक भूलें भी कर डाली हैं। फलतः एक सूत्र में परिवर्तन के कारण अगले सूत्रों का अर्थ ही बदल गया है[1]।

एक विचित्र प्रकार का परिवर्तन प्राचीन आचार्यों के नामों में किया गया है जिन से दोनों सूत्रपाठों के अर्थों में परस्पर विरोध उत्पन्न हो गया है[2]।

व्याख्याएं :—१. मखस्वामी या मघस्वामी की व्याख्या का उल्लेख रुद्रस्कन्द की रचना "औद्गात्र सारसंग्रह" में किया गया है। हिल्लेब्राण्ट[3] विण्टरनित्स तथा कीथ[4] ने रुद्रस्कन्द की रचना को मखस्वामी की व्याख्या की पूरक समझने की भूल की है[5]। अग्निस्वामी तथा धन्वी ने मखस्वामी को उद्धृत किया है। धन्वी ने इनकी व्याख्या की आलोचना करते हुए बहुधा 'अयुक्तम्' कह कर त्याज्य माना है।

२. रुद्रस्कन्द ने द्रामिलाचार्य द्वारा लिखित छां०उप० २, २२, २ के भाष्य को उद्धृत किया है (द्राह्यायण० ६,२,३)। द्रामिल का उल्लेख शङ्कर-रामानुज-भाष्यों में मिलता है। यह भर्तृप्रपञ्च से भी प्राचीन हैं[6]। रुद्र ने 'द्राह्यायण गृह्य-सूत्र-वृत्ति' भी लिखी, जो मखस्वामी के भाष्य पर आधृत है। रुद्र के पिता का नाम नारायण था जो मखवाट् (?) के निवासी थे। रुद्र ने अनेक स्थलों पर ला० श्रौ० सू० के पाठ स्वीकार किये हैं। रुद्र की व्याख्या

---

१. वही, पृ० ३८।
२. द्रा० श्रौ० सू० ७,१,४-५=ला० श्रौ० सू० ३,१,४-५। किन्तु प्रथमसूत्र में धानञ्जय्य के स्थान पर शाण्डिल्य और द्वितीय में शाण्डिल्य के स्थान पर धानञ्जय्य कर दिया गया है। विस्तारार्थ, द्र. परपोला, वही, पृ० ३८।
३. रिच्वल् लिट, पृ० ३४।
४. बॉड कैटेलॉग, भाग २, संख्या ८५९,१।
५. अस्को परपोला पृ० ५७, टि० १२।
६. J.A.B. Van Buitenen, *Ramānuja's Vedārtha Saṃgraha, Deccan College, Poona*, p. 29.

केवल १-७, १ पटलों पर उपलभ्य है। इनकी एक और रचना 'प्रयोगक्रम' भी प्राप्य है। यह कर्णाटक के निवासी प्रतीत होते हैं[1]। इन्होंने अपने भाष्य में ऋषियों, छन्दों तथा देवताओं और साम-भक्तियों का विस्तृत विवेचन किया है। कहीं-कहीं छन्दों को निदानसूत्र के छन्दों से भिन्न रूप में प्रस्तुत किया है।

३. धन्वी ने स्वरचित छन्दोगसूत्रदीप में सूचना दी है कि वे कश्यप गोत्र के थे और कि उन्होंने स्वयं सोमयाग किया था। वह वैष्णव सम्प्रदाय के थे। इन्होंने प्रभाकर और कुमारिल के भाष्यों का उल्लेख किया है (द्राह्यायणश्रौतसूत्र ३,४,२३)। दूसरी ओर सायण ने इनका उल्लेख किया है। इन्होंने जैमिनीयों के ग्रन्थों को भी उद्धृत किया है। इनकी शैली जैमिनीयश्रौत-सूत्र के व्याख्याकार भवत्रात से मिलती है। इनका रचनाकाल बर्नेल ने १२वीं शती निर्धारित किया था, किन्तु यह और प्राचीन हैं[2]।

४. धन्वी ने अग्निस्वामी को अनेक बार उद्धृत किया है। जैसा कि ऊपर देख चुके हैं धन्वी और अग्निस्वामी के सूत्र-विभाजन में भी भेद पाया जाता है, व्याख्या में तो भेद है ही। अग्निस्वामी के विषय में लाटचायनश्रौतसूत्र के प्रकरण में लिख चुके हैं।

संस्करण :—१. जे०एन० रॉयटर ने १९०४ में द्राह्यायणश्रौतसूत्र का तिहाई भाग (१,१,१-२,१,४) धन्वी की व्याख्या-सहित प्रकाशित किया था। द्वितीय भाग (१,१,५-१६,४,५) तक टंकित करवा लिया था, किन्तु प्रकाशित न करवा सका। डा० रघुवीर ने ११-१५ तक का भाग धन्वि-भाष्य-सहित १९३४ में ज० वे० स्ट०, भाग १ में प्रकाशित किया था। शेष अभी तक अप्रकाशित है।

निदानसूत्र

सामवेद की कौथुमीशाखा के सूत्रों की गणना में निदानसूत्र का तृतीय स्थान है तथा इस शाखा के दस श्रौतसूत्रों में से यह एक है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है, इन दस तथाकथित श्रौतसूत्रों में कुछ एक तो केवल अनुक्रमणियां हैं, किन्तु इनकी रचनाशैली सूत्रों जैसी है।

---

१. हिल्लेब्राण्ट, रिच्वल्लिट०, पृ० २६, टि० १२।

२. कीथ, इण्डिया ऑफिस कैटा०, भाग २, संख्या ४५७३।

निदान शब्द का प्रयोग श० ब्रा० में अनेक बार हुआ है[१]। निरुक्त में नैदानों के मत उद्धृत किये गये हैं[२], किन्तु इनका छन्दों या साम-सम्बन्धी अन्य विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं है, जो निदानसूत्र के प्रधान परिपाद्य विषय हैं। बृहद्देवता निदान-नामक रचना से परिचित था, जिसमें छन्दोगों की 'श्रुति' कही गयी है[३], किन्तु जिस वचन की ओर संकेत किया गया है वह वर्तमान निदानसूत्र में उपलभ्य नहीं है, जिससे मैकडॉनल ने परिणाम निकाला है कि एक भाल्लवियों का भी निदानसूत्र रहा होगा[४]। वासिष्ठ धर्म-सूत्र में भी भाल्लवि-निदान का उल्लेख किया गया है[५]। हमारे इस सूत्र को "पातञ्जल निदानसूत्र" की संज्ञा दी गयी है[६]। इससे कैलैण्ड इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि सम्भवतः यह सूत्र मूलरूप में भाल्लविशाखा का ही हो और कौथुमों ने बाद में अपना लिया हो[७]।

यह सब कुछ होते हुए भी 'निदान' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। सम्भव है कि इस सन्दर्भ में इसका अर्थ 'परीक्षा' या 'परख' हो, क्योंकि यह मुख्यतः छन्दों, गानों, उक्थों और स्तोमों की जांच पड़ताल करके उनका विवरण प्रस्तुत करता है[८]।

निदानसूत्र के १० प्रपाठक (या ३० पटल हैं।) प्रत्येक प्रपाठक में १३ खण्ड हैं। इनमें प्रतिपादित विषयों का विवरण इस प्रकार है—

प्रपाठक—	१, १-७	छन्दोविचिति; यति तथा छन्दों से सम्वद्ध अन्य विषय।
	१, ८-९	स्तोम तथा उनके भेद।
	१, १०	सात मुख्य छन्दों के **स्तोम-पथ्या, अविदुष्टपर्याया, विदुष्टपर्याया, समात्समा, भस्त्रान्याय, प्रत्यवरुद्ध-पर्याया** प्रभृति।
	१, ११	विधि शेष; यज्ञों की सामग्री का विवरण; उद्गाता के सामगान के समय बैठने का प्रकार।

---

१. श० ब्रा० १, २, ४, १२; १३ प्रभृति।
२. निरुक्त, ६, ९, १; ७, १२, ४।
३. बृ० दे० ५, २३—**निदानसंज्ञके ग्रन्थे छन्दोगानामिति श्रुतिः।**
४. वही, नोट।
५. वा० ध० सू० १, १४।
६. माधव भट्ट, ऋग्वेदानुक्रमणी ६, ६, ८।
७. पञ्च० ब्रा०, भूमिका, पृ० ६।
८. *Cf. ... ... a band of sutras, i.e., a collection of sutras (on certain topics) or special instrution in and discussion of definite topics,* Weber, H. J. L. p. 301.

१, १२	**स्वर, निधन, इडा, वाक्** के अनुसार सामान्तों के भेद-प्रभेद ।
१, १३	विविध प्रकार के सामों के सन्निपात तथा व्यत्यास के अवसर । साम के छन्द तथा देवता पर विचार, धानञ्जय्य-गौतम विवाद ।
२, १	**ऊहगान** के ऋषिकृत वा अनृषिकृत होने के विषय में विवाद ।
२, २	सामों का सम्बन्ध एक ऋचा से है या तृच से ।
२, ३	**रथन्तर** तथा **बार्हत साम** ।
२, ४	देवता यज्ञांगों से प्रसन्न होते हैं या सम्पूर्ण यज्ञ से ।
२, ५-६	यज्ञ का समय-निर्धारण तथा तद्विषयक प्रायश्चित्त ।
२, ७	**बहिष्पवमान** ।
२, ८-९	**गायत्र सामान्त**, बृहद् तथा **रथन्तर** सामान्त ।
२, १०-११	**यज्ञायज्ञीय** साम, **सामों**, **स्तोमों** का यज्ञ में स्थान ।
२, १२-१३	**षोडशी, ज्योतिष्टोम** में इसकी आवश्यकता ।
३, १-२	**अग्निष्टोम** और **अतिरात्र** की तुलना ।
३, ३	**ज्योतिष्टोम** के छह व्यञ्जन स्थान-**प्रतिपद्, गायत्र, निधन, विष्टुति, ब्रह्मसाम, उक्थप्रणय, सन्धिसाम** ।
३, ४	अनुष्टुभ् के भेद प्रभेद तथा विभाग ।
३, ५	**अन्तर** और बाह्य **सन्धियां** ।
३, ६	**दशरात्र** के विभाग ।
३, ७	**अहीनों** के विभाग ।
३, ८	**सुब्रह्मण्या** सम्बन्धी विचार ।
३, ९	**दशरात्र** याग में कर्ता-कर्म प्रभृति कारकों का प्रयोग ।
३, १०	**स्वर-भक्ति, निधन-भक्ति, इड़ा-भक्ति** का साम से सम्बन्ध ।
३, ११	**वैरूप-साम** तथा इसके विनियोग ।
३, १२	**प्रमंहिष्ठीय** साम ।
३, १३	**महानाम्नी** ऋचाओं पर आधृत साम ।

प्रपाठक ४—में गायत्र, जागत तथा त्रैष्टुभ **अयन, पुरीषसाम, महानाम्नी** ऋचाओं का महत्त्व, **वारवन्तीय साम, दशरात्र** में विनियोज्य साम **षोडशी** के

सन्धि स्तोमों के रात्रिसाम, पृष्ठचस्तोत्र, छन्दोमाः महावृक्षिसम्पत् संवत्सरप्रबर्ह (गवामयन) का आरम्भ, सौभर, साकमश्व, सत्रासाहीय प्रभृति साम।

प्रपाठक ५—अभिप्लवषडह में त्वाष्ट्रिसाम, आन्धीगव साम, त्रिककुभ स्तोम प्रभृति का प्रयोग, चार अभिप्लवषडह और एक पृष्ठच से सम्पाद्य एक मास की पांच बार आवृत्ति से पांच मास का कार्य सम्पन्न करके गवामयन के शेष कृत्यों का प्रतिपादन किया गया है। अन्त में अनाहिताग्नि की सत्र सम्बन्धी योग्यता के विषय में विवाद का प्रतिपादन है।

प्रपाठक ६—समाहारसिद्धि सत्र तथा पृष्ठशमनीय (एक प्रकार का ज्योतिष्टोम) का विवरण। पृष्ठशमनीय 'अमित-दक्षिणः' या 'शश्वद्-ब्राह्मण' के अनुसार 'सहस्र-दक्षिणः' होता है।

६,२-७,१३ में एकाहों का विवरण है। इसके अन्तर्गत, गोस्तन्त्र, उभयसामतन्त्र और आशीस्तन्त्र की व्याख्या की गयी है। बृहद् रथन्तर, अभीवर्त, नौधस, ब्रह्म, श्रायन्तीय, अग्निष्टोम, यज्ञायज्ञीय, श्यावाश्व तथा श्रुध्य सामों का विवरण देकर विश्वजित् तथा अभिजित् नामक एकाहों का वर्णन किया गया है। साहस्र, साद्यस्क्र तथा इसी के अन्य भेद जिघांसद्यज्ञ, व्रात्यस्तोमों, ज्येष्ठ यज्ञ तथा अग्निष्टुत् नामक एकाह के साथ प्रपाठक समाप्त होता है।

प्रपाठक ७—त्रिवृत्-अग्निष्टुत्, पुरोधाकामयज्ञ (स्थपति सव) तथा ब्रह्मसव का विवरण देकर सर्वस्वार् कर्म के वर्णन के अनन्तर चातुर्मास्यों, अभिषेचनीय राजसूय (पवित्र, अभिषेचनीय, दशपेय, केशवपनीय, विष्टुतिद्विरात्र तथा क्षत्रस्यधृति सहित), प्रतीचीन स्तोम (इस प्रकार का राजसूय, जो पञ्च० ब्रा० में नहीं पाया जाता), द्वन्द्व एकाह, पशुकाम यज्ञ, अपचितिकामयज्ञ, ऋषभ एकाह (पञ्च० ब्रा० १९,१२), गोसव (वैश्य यज्ञ) तथा राजपुरोहित-यज्ञ 'इन्द्राग्न्योः कुलायः' (पञ्च० ब्रा० १९, १४) या मरुत्स्तोम (कात्या० श्रौ० २२,११,१५) विजिघांसद् यज्ञ, विघन तथा अभिचरणीय एकाह का विवरण है।

प्रपाठक—८,१-९,९ अहीन यागों का विवरण और उनमें विनियोज्य सामों का वर्णन। इनमें बुभूषद् यज्ञ (सर्वसोमातिरात्र—पञ्च० ब्रा० २०, २), प्रजापतिकामयज्ञ ('नव सप्तदशातिरात्र'— पञ्च० ब्रा० २०, ४) अर्कातिरात्र ('गर्गातिरात्र'—पञ्च० ब्रा० २०, १४) प्रभृति त्रिरात्र, राजयज्ञ, पतन्तक (एक प्रकार का अश्वमेध) चतूरात्रयज्ञ, वसिष्ठयज्ञ, षडह, आयुष्कामयज्ञ, पृष्ठचावलम्ब-सप्तरात्रयज्ञ का विवरण।

प्रपाठक ९—**प्रतिष्ठाकामयज्ञ** ('ऐन्द्र'—पञ्च० ब्रा० २०,८), **दशरात्र**, **कुसुरबिन्द छन्दोयवान् (दशरात्र)**, **अभिचर्यमाणयज्ञ**, **एकादशाह**, **अहीनों**, **सत्रयागों**, **सप्तदशरात्र**, **एकविंशतिरात्र**, **एकत्रिंशद्रात्र**, **त्रयस्त्रिंशद्रात्रयाग** प्रभृति यागों का प्रतिपादन।

प्रपाठक १०—एक तृतीय **त्रयस्त्रिंशद्रात्र**, **विधृति** (४९ दिनों का यज्ञ), **श्रीकामयज्ञ** (४९ दिनों का यज्ञ), तथा **अञ्जनाभ्यञ्जना** (तृतीय ४९ दिनों का यज्ञ), **संवत्सरसम्मिता** तथा **सन्तानार्थक** यज्ञ (सभी ४९ दिनों के हैं)। **प्रजापति-काम-सत्त्र**, **प्रतिष्ठाकामसत्त्र**, **एक-षष्टिरात्रसंवत्सर**, **शतरात्र** तथा कई वर्षों तक चलने वाले **आदित्यानामयन**, **स्वर्गसिद्धसाधन सत्त्र**, **पुरुषस्य नारायणस्यायन**, **क्षुल्लकतापश्चित्तायन** तथा ३६ वर्ष में समाप्य **शाक्त्य** एवं **शतसंवत्सर**, **सहस्रसव्य** (सहस्र दिनों का अग्नियज्ञ) **सारस्वत स्वर्गकामसत्त्र**, **दार्षद्वत स्वर्गकामायन** तथा **सर्पसत्त्र** का भी विवरण इस प्रपाठक में दिया गया है। अन्त में साहस्र वार्षिक **विश्वसृज्** सत्त्र का वर्णन किया गया है।

यह सूत्र मुख्य रूप से पञ्चविंश-ब्राह्मण पर आधृत है, किन्तु कहीं-कहीं उससे भिन्न भी है, यथा—पञ्च० ब्रा० में **सत्त्रों** का आरम्भ **त्रयोदशाह** से करने का विधान है, किन्तु निदान सूत्र में **द्वादशाह** से। **चतूरात्र** (प्रपा० ८, ९, १०) का निदान ने कोई भेद नहीं दर्शाया, जबकि पञ्च० ब्रा० में (२१, ९, १२) इसके चार भेद किये गये हैं। **अष्टादशरात्र** तथा **एकोनविंशरात्र** का निदान सूत्र में उल्लेख नहीं किया गया। यज्ञों के नामों के विषय में भी कहीं-कहीं भेद है, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं।

इस सूत्र का बहुत सा भाग लाट्यायन तथा द्राह्यायण श्रौत सूत्रों से बहुत मिलता है। आर्षेयकल्प का तो यह प्रतिसंस्करण माना ही जाता है।

जैसाकि ऊपर देख चुके हैं इस सूत्र के कर्ता का नाम पतञ्जलि[1] प्रसिद्ध है। किन्तु यह कौन-सा पतञ्जलि है? इस विषय में निश्चय करना कठिन है। भारतीय परम्परा के अनुसार तो तीन पतञ्जलि प्रसिद्ध हैं। महाभाष्यकार, योगसूत्रकार तथा वैद्यकशास्त्रकार। निदान सूत्रकार की चर्चा प्रायः नहीं की जाती। इन तीनों को एक ही व्यक्ति मानने की भी परम्परा प्रसिद्ध है[2]।

---

१. हृषीकेश शर्मा, छन्दोविचिति की व्याख्या; तातप्रसादकृत निदान सूत्र की व्याख्या, तत्त्वसुबोधिनी, भूमिका।

२. वासवदत्ता पर शिवराम की व्याख्या, पृ० ११९; पतञ्जलि चरित, काव्यमाला, सं० ५१, श्लोक २५।

षड्गुरुशिष्य के अनुसार यह पतञ्जलि योग-सूत्रकार ही थे, जिन्होंने निदानसूत्र की भी रचना की है[1]।

निदान सूत्र के रचना-काल के विषय में निर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसने आर्षेयकल्प को उद्‌धृत किया है और उपनिदान सूत्र ने निदान सूत्र को अपना उपजीव्य ग्रन्थ स्वीकार किया है[2]। किन्तु हमें उपनिदान-सूत्र के काल के विषय में भी कोई निश्चय नहीं है। निदानसूत्र ने यद्यपि ला० श्रौ० सू० से बहुत कुछ ग्रहण किया प्रतीत होता है, किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इसने लाट्यायन का नाम तक नहीं लिया; न ही ला०श्रौ०सू० ने नि०सू० की चर्चा की है। इसीलिए कैलैण्ड ने सन्देह व्यक्त किया है कि नि०सू० को ला० श्रौ० सू० या द्रा० श्रौ० सू० का पता था[3]। इस विषय में बाह्य साक्ष्य भी सहायक नहीं सिद्ध होता और नि० सू० का रचना-काल अनिश्चित ही है। निदानसूत्र के महत्त्व को सायण, वरदराज, धन्वी, देवयाज्ञिक, रुद्रस्कन्द, अग्निस्वामी सभी ने स्वीकार किया है।

निदानसूत्र ने 'आथर्वणिकाः', 'ऐतरेयिणः' जैसे सामान्य निर्देशों के अतिरिक्त औपमन्यव, कापटव, कापदर्य, कालबविनः, कौत्स, गौतम, धानञ्जय्य, पैङ्गिनः, भाल्लविनः, राणायनीपुत्र, लामकायन, वदनायन, वसिष्ठ, वार्षगण्य, शाट्यायनिनः, शाण्डिल्य, शौचिवृक्षि प्रभृति अनेक प्राचीन आचार्यों के मत ही नहीं दिये, उनके विवादास्पद विषयों पर अपना मत व्यक्त करके निर्णय भी लिये हैं। निदान सूत्र पर ये व्याख्याएं उपलभ्य हैं :—

व्याख्याएं :—१. नारायण के पुत्र हृषीकेश शर्मा या पेत्ता शास्त्री (पदमञ्जरी और सि० कौ० के व्याख्याता रंगनाथाध्वरी के पौत्र) की व्याख्या प्रथम पटल पर उपलब्ध है।

२. तातप्रसाद विरचित तत्त्वसुबोधिनी वृत्ति, प्रथम पटल पर मिलती है। निदानसूत्र से अनेक उद्धरण विद्यारण्य तथा वरदराज की व्याख्याओं में पाये जाते हैं[4]।

संस्करण :—१. सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा 'उषा' में सम्पादित, १८९६ कलकत्ता; भ्रष्टपाठ।

२. वेबर (१,१-७) इण्डिस्टु, ८, पृ० ८३-१२५।

३. कैलाशनाथ भटनागर, लाहौर, १९३९, द्वि० सं० दरयागञ्ज, दिल्ली १९७१।

---

१. कात्यायन सर्वानु०, मैक्समूलर द्वारा उद्‌धृत, हि० एं० सं० लि०, पृ० २३८-३९।

२. ब्राह्मणात्ताण्डिनश्चैव पिंगलाच्च महात्मनः। निदानादुक्थशास्त्राच्च छन्दसां ज्ञानमुद्‌धृतम्।

३. आर्षेयकल्प, भूमिका पृ० १८।

४. प्रो० ए० आई० ओ० सी०, पटना, १९३०, पृ० ५५१-५५४।

उपनिदानसूत्र

छन्दोविचयः, सामगानां छन्दः, छन्दः परिशिष्ट, छन्दोग परिशिष्ट अनेक नामधारी उपनिदानसूत्र वैदिक छन्दों का सामान्यतः और सामवेदीय छन्दों का विशेषतः प्रतिपादन करता है। यह एक प्रकार से ऋग्वेद की शौनक कृत सर्वानुक्रमणी के समान सामवेद संहिता के छन्दों की अनुक्रमणी है। इसके दो पटल और आठ प्रपाठक हैं। प्रपाठक १ में सात आर्ष छन्दों तथा उनके प्रकारों का विवरण है। द्वितीय में दोषपूर्ण छन्दों तथा अतिछन्दों का विवरण देकर सन्देहास्पद छन्दों के वास्तविक स्वरूप को समझने के उपाय दिये गये हैं। तृतीय में दैव, आसुर तथा प्राजापत्य छन्दों का विचार किया गया है। चतुर्थ-पञ्चम में सामवेद संहिता के पूर्वार्चिक के छन्दों का; षष्ठ में आरण्यकाण्ड तथा महानाम्न्यार्चिक के छन्दों का; सप्तम में उत्तरार्चिक के छन्दों का तथा अपवादभूत छन्दों का विवरण दिया गया है। अष्टम में छन्दों के रंगों तथा देवताओं की चर्चा की गयी है[1]।

इसके आधारभूत ग्रन्थ ताण्डचब्राह्मण, पिंगलसूत्र, तथा निदानसूत्र हैं[2], तो भी यह ग्रन्थ पर्याप्त प्राचीन है। यजुःसर्वानुक्रमणी के भाष्य में देवयाज्ञिक ने इसका उल्लेख किया है, जो सायणाचार्य से उत्तरवर्ती हैं।

इसके कर्ता के विषय में यद्यपि कुछ भी ज्ञात नहीं है तो भी इसके अन्त में पुष्पिका में लिखा है—**इत्याह भगवान् गार्ग्यो गार्ग्यः**। इस पर रामकृष्ण त्रिपाठी की व्याख्या उपलब्ध है।

संस्करण :—१. दक्षिण भारत में ग्रन्थ लिपि में मुद्रित।

२. मंगलदेव शास्त्री द्वारा सरस्वती भवन, वाराणसी, से प्रकाशित १९३१।

---

१. विशेष विवरणार्थ द्र० छन्दः प्रकरण।

२. ब्राह्मणात्तण्डिनश्च पिङ्गलाच्च महात्मनः।
निदानादुक्थशास्त्राच्च छन्दसां ज्ञानमुद्धृतम्॥

अष्टम अध्याय

अथर्ववेदीय श्रौतसूत्र

वैतान (श्रौत) सूत्र

अथर्ववेद के श्रौतसूत्र का नाम "वैतानसूत्र" या "वितान कल्प" है। कात्यायन श्रौत-सूत्र के व्याख्याकार कर्काचार्य ने इसे 'अथर्वसूत्र' या केवल 'आथर्वण' के नाम से स्मरण किया है। अथर्ववेदीय कर्मकाण्ड से सम्वद्ध चार अन्य कृतियां भी प्रसिद्ध हैं (१) कौशिकसूत्र (संहिता कल्प या संहिता विधि), (२) नक्षत्र कल्प, (३) शान्ति-कल्प, (४) आङ्गिरसकल्प (अभिचारकल्प या विधानकल्प)।

वैतान (श्रौत) सूत्र की विचित्रता यह है कि जहां अन्य श्रौतसूत्रों की रचना गृह्यसूत्रों से पूर्व होती है और वे गृह्यसूत्रों के उपजीव्य होते हैं, वहां इस कृति की रचना अपने गृह्यसूत्र (कौशिक सूत्र) के पश्चाद्वर्ती काल में की गयी और गृह्यसूत्र ही इसका आधार ग्रन्थ माना जाता है। इस सूत्र का नाम वैतान सम्भवतः इसके प्रथम वाक्य "अथ वितानस्य" के कारण ही पड़ा प्रतीत होता है, अन्यथा इसके वास्तविक नाम या कर्ता के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अथर्ववेदियों का श्रौतसूत्र पहले नहीं था, बाद में अन्य श्रौत सूत्रों तथा उनमें प्रतिपादित कर्मों के अनुसरण पर, इस विषय में अपनी न्यूनता दूर करने के लिये ही, इसकी रचना की गयी[1]। इसका भी यह कारण प्रतीत होता है कि अथर्ववेद का सम्बन्ध मुख्य रूप से गृह्य कर्मों से ही है। केवल २०वें काण्ड में ऋग्वेद के मन्त्रों के सहारे श्रौत कर्मों का प्रतिपादन किया जा सकता था, वह वैतानसूत्र में कर दिया गया है। वैसे पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं में इसे 'कौशिकीयसूत्र' कहा जाता है। इस सूत्र में ८ अध्याय हैं, जो ४३ कण्डिकाओं में विभक्त किये गये हैं। गार्बे के एक हस्तलेख में १४ अध्याय भी उपलब्ध होते हैं, किन्तु अन्तिम ६ अध्यायों की संज्ञा 'प्रायश्चित्तसूत्र' है और ये उत्तरवर्ती काल में किसी प्रकार इस सूत्र के अन्त में समाविष्ट हो गये। यही बात सोमादित्य के 'आक्षेपानुविधि' संज्ञक भाष्य से भी सिद्ध होती है क्योंकि यह भी आठ अध्यायों पर ही किया गया है।

---

१. ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद तथा गो० ब्रा०, पृ० १५; जे० ए० ओ० एस० ११, पृ० ३७९।

वैतानसूत्र के प्रतिपाद्य विषयों का विवरण इस प्रकार है—

अध्याय	कण्डिका	विषय
१	१	परिभाषा।
१	२-४	दर्शपूर्णमास।
२	५-६	अग्न्याधेय।
२	७	अग्निहोत्र।
२	८, १-२	आरम्भणीयेष्टि।
२	८, ३	पुनराधेय।
२	८, ४-७	आग्रयणेष्टि।
२	८, ८-९, २७	चातुर्मास्य।
२	१०	पशुबन्ध।
३	११-२४	अग्निष्टोम।
४	२५, १-११	उक्थ्य।
४	२५, १२-१५	षोडशी।
४	२६	अतिरात्र।
४	२७, १-१७	वाजपेय।
४	२७, १८-३०	अप्तोर्याम।
५	२८-२९	अग्निचयन।
५	३०	सौत्रामणी।
६	३१-३५	गवामयन।
७	३६, १-१३	राजसूय।
७	३६, १४-३७, ९	अश्वमेध।
७	३७, १०-३८, ९	पुरुषमेध।
७	३८, १०-१४	सर्वमेध।
८	३९-४२	एकाह, अहीन।
८	४३	काम्य इष्टियां।

जैसाकि ऊपर कह चुके हैं यह सूत्र शौनकीय अथर्ववेद के २०वें काण्ड पर आधृत है। पैप्पलाद संहिता में शौनकीय शाखा के बीसवें काण्ड की ऋचायें नहीं पायी जातीं। अतः इस सूत्र का उस शाखा से कोई सम्बन्ध नहीं है। वैसे वैतानसूत्र में अन्य संहिताओं से भी मन्त्र लिये गये हैं। गार्बे की गणना के अनुसार इस सूत्र में

ऋग्वेद के १६ निर्देश हैं, वाजसनेय के ३४, तैत्तिरीयों की संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक के १९।

यह सूत्र अनेक रचनाओं के नाना मतमतान्तरों का मिश्रण है। वैसे तो कोई भी ऐसा श्रौतसूत्र नहीं है, जिसमें अन्य सूत्रों से कुछ न कुछ ग्रहण न किया गया हो, किन्तु इसकी निजी परम्परा उतनी सुदृढ़ तथा पुरातन न होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि सब कुछ उधार ही लिया हुआ हो। इस पर सर्वप्रथम तो कौशिकसूत्र का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। जब कभी वैतान० ऐसे मन्त्रों को उद्धृत करता है जो कौशिक० में दिये गये हैं तो उन्हें सदा प्रतीक रूप में ही उद्धृत करता है। यहाँ तक कि एक ऐसा मन्त्र भी है जो कौशिक के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता (कौ० सूत्र ६, ११) और जिसे टीकाकार दारिल ने 'कल्पजा' कहा है, उसे भी वैतान ने प्रतीकरूपेण ही उद्धृत किया है (वैतान० २४, ७)। ऐसे ही जहां कौशिक ने किसी कर्म का विस्तार से वर्णन किया है वहां वैतान० ने केवल आद्यन्त का उल्लेख करके संक्षेप से संकेत मात्र कर दिया है। यथा—

वैतान (१,१९) **जीवाभिराचम्येत्यादि प्रपदनान्तम्**=कौ० सू० ३,४-५।

वैतान (११,१४) **दक्षिणेनाऽग्नि कशिप्वित्यादि वीक्षणान्तम्**=कौ०सू० २४,२८-३४

वैतान (२४,३) **'अपां सूक्तैरित्याद्युपस्पर्शनान्तम्'**=कौ० स० ७,१४।

वैतान (२४,७) **'विमुञ्चामीत्यादिमार्जनान्तम्'**=कौ० सू० ६,११-१३।

वैतान (५,१०) के **'उषसि शान्त्युदकं करोति चित्यादिभिराथर्वणीभिः**.........

की तुलना में कौ० सू० (८, १६) में शान्त्युदकार्थ अनेक वस्तुओं को गिनाया गया है। वैतान में इन 'आथर्वणी' ओषधियों का अपनी गिनायी हुई 'आङ्गिरसी' ओषधियों से मुकाबला किया गया है। आङ्गिरसी ओषधियों का नामतः उल्लेख इसलिये किया गया है कि इन्हें कौ० सू० में गिनाया नहीं गया, जबकि 'आथर्वणी' ओषधियों का उल्लेख 'चित्यादि' कह कर इसलिये किया गया है कि इन्हें वहां गिना दिया गया है।

दोनों सूत्रों में अनेक समान वाक्यांशों तथा शब्दों का प्रयोग भी इनके परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर संकेत करता है, यथा—पित्र्युपवीत, पित्र्युपवीती (वैतान० ७, ५ ; २८, २६ ; कौ० सू० ८७, २६ ; ३० ; ८८, २९) **पुरस्ताद्धोम, संस्थित होम, सरूपवत्सा** (गौ), **सारूपवत्सम्** (सरूप-वत्सा गौ का दुग्ध) (वैतान १२, १४), **सम्पात** तथा **सम्पातवत्** (वैतान ३१, २५; १२, १४) **रसप्राशनी** (वैतान २१, १९ ; ३०, ६=कौ० सू० २१, २१) **पुरोडाशसंवर्त** (=पुरोडाश पिण्ड) (वैतान० २२, २२=कौ० सू० ३०, १८) **आकृतिलोष्ट** (वैतान० ५, १२= कौ० सू० ६९, १०)।

यामसारस्वत (वैतान० ३७, २६=कौ० सू० ८३, १६)।

दोनों की शैली की विशेषता यह है कि दोनों ही पूर्ववर्णित अथवा उक्त बात को श्लोक से पुष्ट करते हैं—**'तदपि श्लोकौ वदतः'** (वैतान ४, २३ ; ९, १२); **'अथापि श्लोकौ भवतः'** (कौ० सू० ६, ३४) **'तत्र श्लोकौ'** (कौ० सू० ६८, ३७) **'तदपि श्लोको वदति'** (कौ० सू० ७४, १२)।

कौ० सू० में सूक्तों तथा ऋचाओं को गणों के रूप में निर्दिष्ट करने की परिपाटी है, जिसे वैतान ने भी अपना लिया है, यथा—**चातन, मातृनाम, वास्तोष्पतत्य गणाः, अपां सूक्तानि, सम्पात सूक्तानि, शम्भुमयोभु, आशापालीय सूक्त, सहस्रबाहु सूक्त, जीवा, गन्धप्रवादा, उत्थापनी, हारिणी, मधुसूक्त।** कौशिक० में मधुसूक्त के अतिरिक्त सभी का उल्लेख है।

कौ० सू० को वैतान श्रौ० सू० संहिता विधि समझता है[1] इस अत्यन्त साम्य तथा घनिष्ठता ने तीन भिन्न-भिन्न विचारों को जन्म दिया है। प्रथम यह कि वैतान० का अपना कुछ नहीं, सब कुछ कौशिक० पर आधृत है और यह पग-पग पर उसी का अवलम्बन लेकर चलता है और सर्वथा गौण रचना है। यह कर्मकाण्ड के स्वाभाविक विकास का परिणाम न होकर अथर्ववेदियों की अन्य वेदों से हर बात में होड़ का फल है कि अथर्ववेदियों का श्रौतसूत्र भी स्वतन्त्र होना चाहिये[2]। द्वितीय यह है कि ये दोनों ही सूत्र किसी समान परम्परा की उपज हैं और कि वैतान० को कौशिक० का सीधा संग्राहक नहीं कहा जा सकता[3]। तृतीय यह कि ये दोनों रचनाएं कौशिक[4] या कौशिक के वंशजों में से किसी के[5] द्वारा निर्मित की गयी हैं।

प्रथम दो परिणामों के लिये तो ऊपर पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की गयी है। दुर्गामोहन भट्टाचार्य ने तृतीय परिणाम के पक्ष में ये तर्क प्रस्तुत किये हैं।

वैतानसूत्र के व्याख्याकार सोमादित्य के आक्षेपानुविधि भाष्य की पाण्डुलिपियों की पुष्पिकाओं में **'कौशिकीये वैतान-कल्पे……अध्यायः'** लिखा मिलता है। इससे कौशिकीय परम्परा के अन्तर्गत ही वैतान० भी प्रतीत होता है। कौशिक के नाम से केवल कौशिकसूत्र ही नहीं अपि तु ७२ अथर्ववेदीय परिशिष्ट

---

१. F. Edgerton, Kauśika and the Atharva Veda ; Volume of Eastern and Western Studies, p. 78.

२. Bloomfield, Position of Vaitane Sutra in the Literature of the Atharva Veda, *JAOS*, XI, p. 379 ; *JOAS* XIV, p. XX ff.

३. वही, पृ० ३८७-८८।

४. M. Bhattacharya, Materials for further study of the Vaitana Sutra, Our Heritage, V, p. 1 ff.

५. विश्वबन्धु, वैतान श्रौतसूत्र, भूमिका, पृ० १८।

भी प्रसिद्ध है[1]। पाणिनि ने काश्यपसूत्र के साथ कौशिकसूत्र का भी उल्लेख किया है[2]। पतञ्जलि ने काश्यप और कौशिक कल्पों का उल्लेख किया है[3]। अतः यह परिणाम सर्वथा स्वाभाविक है कि कौशिककल्प की परम्परा में कौशिकसूत्र तथा वैतानसूत्र दोनों का निर्माण एक ही योजना के अन्तर्गत एक ही व्यक्ति द्वारा किया गया[4]। सोमादित्य ने न केवल दोनों कृतियों के परस्पर साम्य के उदाहरण ही दिये हैं, अपितु इनको एक ही व्यक्ति की दो कृतियां माना है (**अथेति संहिता-विधिसापेक्षत्वद्योतनाय तदानन्तर्यार्थः**)।

कई विशेष कृत्यों के विषय में वैतान० विस्तार से कुछ न कह कर 'विधि' में इनके प्रतिपादन का संकेत करके रह जाता है, यथा— '......**प्राणापानौ ओजोऽसीत्युक्तम्**' (वैतान० ४, २०) : तु० कौ० सू० ५४, १२। '**मन्त्रोक्तं कर्म कर्तव्यम्**'......(सोमादित्य)। '**त्रीणि पर्वाणीत्युक्तम्**' (वैतान० ५, २)—'**यदस्माभिः स्मार्तकल्पेऽन्यार्थमुक्तं** (द्र. कौ० सू० ९४, ७) '**तदत्रापि प्रत्येतव्यम्**' (सोमादित्य) '**उक्तो ब्रह्मौदनः**' (वैतान० ५,२)— '...... **स्मार्तकल्पे** (द्र. कौ० सू० ६०,१) **य उक्तो ब्रह्मौदनः सोऽस्मिन्नाधेये कर्तव्यत्वेन प्रत्येतव्यः**' (सोमादित्य)।

वतानसूत्र (५, ५) पर भूमिका के रूप में सोमादित्य का कथन है— '......**स्मार्तब्रह्मौदने चतुर आर्षेयान्**' (कौ० सू० ६३, ३) **इत्याद्युक्तम्। तदनुवादम् ऋत्विज उपसादयति** (वैतान० ५, ५)।

अतः सिद्ध है कि कम से कम वैतानसूत्र का भाष्यकार तो दोनों कृतियों को एक ही व्यक्ति की रचनाएं उसी प्रकार मानता है जैसे कि अन्य श्रौत और गृह्य सूत्र एक ही व्यक्ति की रचनाएं मानी जाती हैं। केवल रचना-क्रम भिन्न है। किन्तु क्या हम सोमादित्य के साक्ष्य को सर्वथा प्रामाणिक मान सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर श्री काशिकर 'नहीं' में देते हैं, क्योंकि न तो वैतानसूत्र ही अधिक प्राचीन रचना है[5], न ही सोमादित्य प्राचीन भाष्यकार है[6]। अतः इनका साक्ष्य सर्वथा प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

वैतान० के अर्वाचीन होने का एक प्रमाण यह भी है कि इस में **प्रवर्ग्य सोमयाग** के अन्तर्गत अपने क्रमानुसार प्रस्तुत किया गया है। वैखानस (जो अर्वाचीन

---

१. द्र. हेमाद्रिकृत चतुर्वर्ग चिन्तामणि, श्राद्धकल्प पृ० १२२९; १३७९; १५०१; वीरमित्रोदय, श्राद्ध-प्रकाश, पृ० २३९।

२. पा० ४, ३, १०३।

३. पा० ४, २, ६६ पर भाष्य।

४. भट्टाचार्य, पृ० १५।

५. द्र. हिल्लेब्राण्ट, रिच्वल्लिट्०, पृ० ३५-३६; गार्बे, वैतानसूत्र, भूमिका पृ० ६-७; ब्लूमफ़ील्ड, कौशिकसूत्र, भूमिका, पृ० २२।

६. काशिकर, सर्वे०, पृ० १००।

है) के अतिरिक्त सभी श्रौतसूत्रों में प्रवर्ग्य के पृथक् प्रतिपादन करने की परिपाटी है।

यद्यपि इन तर्कों में कोई दम नहीं है, तो भी अधिकांश विद्वान् इसी विचार से सहमत हैं कि कौशिकसूत्र और वैतानसूत्र दो भिन्न व्यक्तियों और कालों की रचनाएं हैं। हमारे मत में दुर्गामोहन भट्टाचार्य की विचार-पद्धति की ओर गम्भीरता से परीक्षा करने की अपेक्षा है।

गोपथब्राह्मण और वैतानसूत्र के सम्बन्धों के विषय पर भी विचार किया गया है। ब्लूमफ़ील्ड के अनुसार गोपथब्राह्मण वैतान० से पश्चाद्वर्ती है[1]। उनके अनुसार गो० ब्रा० अनेक स्थलों पर (२, १, १६; २, ९; २, १२) वैतान० (२, १; १५, ३; १६, १५-१७) को उद्धृत करता है। वैतान० (२, १) से गो० ब्रा० (२, १, १६) का उद्धरण ब्राह्मण में सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। किन्तु वैतान में **अग्निष्टोम** के प्रकरण में इसकी संगति सर्वथा साधु है। वैतान० से उद्धरण देते हुए गो०ब्रा० उनका पूर्ण पाठ प्रस्तुत करता है[2]। किन्तु कभी-कभी प्रतीक रूप में भी (वै० सू० ३, १४; ४, १६=गो० ब्रा० २, १, ३; ४)। प्रसिद्ध घर्म-सूक्त को प्रतीक रूप में ही उद्धृत किया गया है। (वैतान श्रौ० सू० १४, ४=गो० ब्रा० २, १, ६)। शतपथ ब्राह्मण की शैली में व्याख्यासहित वैता० श्रौ० सू० के मन्त्रों को भी गो० ब्रा० उद्धृत करता लक्षित होता है (वैता० सू० १६,१७; १८,११=गो० ब्रा० २,२,१२; १८)। वैता० सू० (५,१०) में आङ्गिरसी ओषधियों का तो पूरा वर्णन किया गया है, किन्तु आथर्वणी ओषधियों का केवल **'चित्यादिभिराथर्वणीभिः'** से संकेतमात्र कर दिया गया है, क्योंकि इनका पूरा विवरण कौ० सू० में दिया गया है। किन्तु क्योंकि वैता० सू० और कौ० सू० दोनों ही गो० ब्रा० के समक्ष विद्यमान थे, अतः उसने दोनों प्रकार की ओषधियों का **'आथर्वणीभिश्चाङ्गिरसीभिश्च'** शब्दों से संकेत करके सन्तोष कर लिया है। इसके अतिरिक्त गो० ब्रा० (१, २, १८) में वर्णित आथर्वणिक कथा वैता० सू० (५, १०) और कौ० सू० (८, ९) पर आधृत है[3]।

कीथ ने इन युक्तियों को अपर्याप्त समझ कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वैता० सू० (१७, ११; और ३१, १) में गो० ब्रा० की ओर संकेत है। वैता० सू० १६, ५ में प्रयुक्त विचित्र शब्द **'पुरा प्रचरितोः'** से भी यही सिद्ध होता है कि वैता० सू० गो० ब्रा० का ऋणी है[4]।

---

१. अथर्ववेद, पृ० १०२, स्ट्रॉसबर्ग, १८९९।
२. घोषाल, इ० हि० क्वा, ३४, भूमिका पृ० ५।
३. ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद, पृ० ६४-६६; दि पोजीशन ऑफ़ गो० ब्रा० इन दि वैदिक लिटरेचर, जे० ए० ओ० एस०, भाग १९, पृ० १ से।
४. जे० आर० ए० एस०, १९१०, पृ० ९३४ से।

कैलैण्ड के मत में भी गो० ब्रा० वैतान से प्राचीन है, क्योंकि वैता० सू० के कुछ वचन (७, २६; ११, २०; ३१, ४) गो० ब्रा० की सहायता के बिना बोधगम्य नहीं हैं। वैतान० (७, २; ३; २४) में ऐसे सन्दर्भ भी हैं, जिनमें वैदिक मन्त्रों का गलत अर्थ लगाया गया है और वाक्यरचना भी दोषपूर्ण है, जो श्रौतसूत्र को परम्परा में गो० ब्रा० से ही प्राप्त हुए हैं। अनेक सन्दर्भ वैतान० ने गो० ब्रा० से ही ग्रहण किये हैं (२, १५; ५, ३; ८, १; ८, ५; ८, ८; प्रभृति), क्योंकि इनमें विधिलिङ् का प्रयोग किया गया है, जो सूत्रों की आत्मा के विरुद्ध है। कीथ ने कैलैण्ड के इस साक्ष्य को बहुत महत्त्व प्रदान किया है।

कुछ ऐसे भी सन्दर्भ इस सूत्र में पाये जाते हैं, जो गो० ब्रा० में भी उपलब्ध होते हैं और अन्य ब्राह्मणों में भी। इनके विषय में अन्यों की अपेक्षा गो० ब्रा० को ही सूत्र का उत्तमर्ण मानना अधिक संगत प्रतीत होता है[1]। वै० सू० कई बार **ब्राह्मणोक्तम्, उक्तम्** शब्दों का प्रयोग करता है—**देवयजनमित्युक्तम्** (वैता० श्रौ० ११, ४)। देवयजन का विवरण गो० ब्रा० १,२,११ में है, जिसे सोमादित्य ने स्पष्ट कहा है। वैता० सू० (१२, १४) में ऋतुमती जाया को सरूपवत्सा गौ के दुग्ध का स्थालीपाक गृह्याग्नि में पका कर खिलाने का विधान गो० ब्रा० (१,३,२३—**एवं दीक्षिता जाया पुत्रं लभेत**) के अनुरूप है। **ब्राह्मणोक्तेन दीक्षेरन्** (वैता० श्रौ० ३१-१; गो० ब्रा० १,४,१)।

निरुक्त (८, २२) ने एक ब्राह्मण को उद्धृत किया है—**यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्यन्**, जिसे प्रायः ऐ० ब्रा० ३, ८, १ समझा जाता है, किन्तु वहां 'मनसा' पद नहीं है, जबकि गो० ब्रा० २, ३, ४ में यह वचन ज्यों का त्यों उपलभ्य है। अतः गो० ब्रा० को ही निरुक्त में उद्धृत किया गया है और गो० ब्रा० यास्क से प्राचीन है[2], अर्थात् ८०० ई० पू० से पूर्ववर्ती है। यद्यपि कैलैण्ड की सभी बातें मान्य नहीं हो सकतीं और कीथ ने उनका खण्डन भी किया है, तो भी प्रतीत होता है कि गो० ब्रा० को वैता० सू० से प्राचीन मानने के तर्क अधिक सबल हैं और अधिकांश विद्वानों का यही मत है। दारिल ने तो गो० ब्रा० को कौ० सू० या संहिताविधि से भी प्राचीन माना है—**स विधिर्वेद-प्रत्ययः। गोपथब्राह्मण-प्रमाणकः** (कौ० सू० १, २ पर दारिल)।

दूसरी ओर वैता० सू० शुक्ल यजुर्वेद के प्रभाव में बहुत अधिक था। यहां तक कि उसने निर्णय दे दिया है कि **देवता हविर्दक्षिणा यजुर्वेदात्** (१, ८) और वैतान० के पूर्वार्ध का कात्यायन श्रौतसूत्र से बहुत साम्य देखा जा सकता है।

---

१. कैलैण्ड, वै० सू०, जर्मन अनुवाद, प्रस्तावना पृ० ५; द्र० हि० क्वा० ३४, भूमिका, पृ० ७-९ पर उद्धृत, एस० एन० घोषाल द्वारा प्रस्तुत वै० सू० का आंग्लानुवाद।

२. द्र. कीथ, ऋग्० ब्रा०, भूमिका, पृ० ४५; तै० सं० आंग्लानुवाद, भूमिका, पृ० १७०।

कण्डिका ४, ७, ९ में प्रत्येक सूत्र के समानान्तर कात्या०श्रौ०सू० में सूत्र मिलता है। दोनों सूत्रों में इतना अधिक सम्बन्ध है कि कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्यकार कर्काचार्य ने वैतान० को वैतान, आथर्वण तथा अथर्वसूत्र के नाम से बहुधा उद्धृत किया है। इससे कुछ लोग इसे कात्यायन श्रौतसूत्र से अर्वाचीन घोषित करते हैं[1], जो उचित नहीं है। घोषाल के मतानुसार गो० ब्रा० और वैता०सू० में कालगत व्यवधान अधिक नहीं हैं[2]। ब्लूमफ़ील्ड के मत में तो यह सूत्र गो० ब्रा० से प्राचीन है, जो अप्रामाणिक सिद्ध किया जा चुका है। अतः वैतान० को बहुत प्राचीन नहीं, तो बहुत अर्वाचीन भी नहीं माना जा सकता। किन्तु इस विषय में अभी और खोज अपेक्षित है।

व्याख्या :—इस सूत्र पर अभी केवल एक ही व्याख्या उपलब्ध हुई है, जिसका नाम 'आक्षेपानुविधि' है। इसका कर्ता सोमादित्य है, जिसके विषय में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं है। किन्तु अपने भाष्य में इसने एक अन्य भाष्यकार वाचस्पति का १६ बार उल्लेख किया है, जिसे इसने "भगवान्" कह कर स्मरण किया है।

संस्करण :—१. रिचर्ड गार्बे ने १८७८ ई० में इसका सम्पादन भी किया था और जर्मन-अनुवाद भी, जो क्रमशः लण्डन और स्ट्रॉसबर्ग से एक साथ प्रकाशित हुए। इसके अन्त में उपयोगी शब्दानुक्रमणिका दी गई थी। व्याख्या के अभाव में इस संस्करण में सूत्रों के योग-विभाग तथा समझने में अनेक त्रुटियां रह गयी थीं।

२. कैलैण्ड ने गार्बे के पाठानुसार ही जर्मन-अनुवाद तथा आलोचनात्मक टिप्पणियों सहित नवीन संस्करण १९१० में एम्स्टर्डम से प्रकाशित किया, जिसमें गार्बे के पाठ में कई संशोधन किये गये।

३. १९३८ में एच० एल० औलक ने इस सूत्र के प्रथम चार अध्यायों या २७ कण्डिकाओं का सम्पादन किया था, किन्तु वह प्रकाशित न हो सका।

४. श्री एस० एन० घोषाल ने इन २७ कण्डिकाओं का ही आंग्लानुवाद इ० हि० क्वा० संख्या ३४, १९५९, में प्रकाशित किया।

५. विश्वेश्वरानन्द वैदिकशोध-संस्थान, होशियारपुर, से श्री विश्वबन्धु ने सोमादित्य के भाष्य, 'आक्षेपानुविधि'-सहित एक नवीन संस्करण १९६७ में प्रकाशित किया। इस में जहां सूत्रों की नवीन योजना प्रस्तुत की गयी है, वहां सोमादित्य के भाष्य के कारण इसका महत्त्व अत्यन्त अधिक हो गया है।

---

१. द्र० गार्बे-सम्पादित संस्करण की भूमिका।

२. इ० हि० क्वा, ३४, आंग्लभूमिका, पृ० १०।

नवम अध्याय

शुल्व-सूत्र

प्रतिपाद्य विषय

विविध वैदिक यज्ञों के लिए विविध प्रकार की वेदियों का विधान अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। सामान्यतः वेदि का उल्लेख तो स्वयं ऋग्वेद में ही किया गया है[1]। वेदि के निर्माण[2], नापने[3], अग्नि के तीन स्थानों[4] तथा 'गार्हपत्य अग्नि'[5] के स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में किये गए हैं। वाजसनेयिसंहिता[6] तथा तैत्तिरीयसंहिता[7] में इस प्रकार के उल्लेख तो सर्वथा सम्भावित हैं ही। इन सभी उल्लेखों से यज्ञयाग तथा उनके अनुष्ठानार्थं वेदियों एव अग्नियों के प्रयोग की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। श्रौत-सूत्रों में तो तीन अग्नियों का विधान किया गया है, जिनका आधार ब्राह्मण-ग्रन्थों में स्पष्ट उपलब्ध होता है। तो भी ऐसा अनुमान किया गया है कि ये तीनों अग्नियां ऋग्वेद से भी सुदूर पूर्ववर्ती काल में एक ही अग्नि से विकसित हुई थीं, क्योंकि वहीं साधारण अग्नि तथा विकसित कर्मकाण्डीय अग्नियों का विभेद हो चुका था[8]। उस एक अग्नि में प्रत्येक श्रद्धालु गृहस्थ के लिये प्रतिदिन गृह्यकर्म करने का विधान तो कर्मकाण्ड के आकर-ग्रन्थों में किया ही गया है, समृद्ध तथा समर्थ लोगों के लिए तीन अग्नियों के आधान तथा उनमें सायंप्रातः अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास याग करने का विधान भी किया गया है। किन्तु सभी पारिवारिक कृत्य, जिनका वैयक्तिक जीवन में महत्त्व है, केवल गृह्याग्नि में ही करने का विधान है। तीन अग्नियों में एक 'गार्हपत्य अग्नि' है, जिसके नाम से ही प्रकट होता है कि वह 'गृहपति' की अग्नि

---

१. ऋग्० १,१६४,३५ ; १७०,४ ; ५,३१,१२।
२. ऋग्० ८, १९, १८।
३. ऋग्० १०, ६१, २।
४. ऋग्० ५, ११, २।
५. ऋग्० १, १५, १२ ; ६, १५, १९ ; १०, ८५, २७ ।
६. वा० सं० २, २७ ; ३, ३९ ; १९, १८।
७. तै० सं० १, ५, ४।
८. लुड्विग्, ऋग्वेद, भाग ३, पृ० ३५५ ; ओल्डनबर्ग, एस० बी० ई०, ३०, पृ० १०, टि० १।

है। यह अग्नि गृह्याग्नि से ही विकसित हुई प्रतीत होती है, किन्तु इन तीन अग्नियों का विकास किस प्रकार से हुआ इसे सिद्ध करना अत्यन्त कठिन कार्य है[1]।

न ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि इस अग्नित्रयी में विविध प्रकार के अग्नि-सम्बन्धी कर्मकाण्ड का सम्मिश्रण उपलब्ध होता है[2]। **गार्हपत्याग्नि** भोजन पकाने और पात्रों को गरमाने आदि के काम में आती है। **आहवनीय** अग्नि में देवताओं के निमित्त पके हुए इस भोजन की आहुतियां दी जाती हैं, किन्तु कहीं-कहीं इन दोनों के कार्य में व्यत्यास भी पाया जाता है[3]। तीसरे **दक्षिणाग्नि** को **अन्वाहार्य-पचन** भी कहते हैं। इसका स्थान वेदि में दक्षिण की ओर होता है, जिससे यह संकेत मिलता है कि इसका मौलिक प्रयोजन अपनी ज्वालाओं से दुःसत्त्वों तथा प्रेतात्माओं का अपसारण रहा होगा। इस विषय में यह ब्राह्मण-वचन द्रष्टव्य है कि दक्षिणाग्नि पितरों की ओर से उत्पन्न भय का निवारण करती है[4]।

इन अग्नियों को स्थापित करने के लिये वेदियों का निर्माण आवश्यक है। विविध कर्मों के लिये विविध वेदियों के निर्माणार्थ विस्तृत नियम शुल्वसूत्रों में दिये गये हैं। 'शुल्ब' का अर्थ मापने का डोरा होता है, जो '√शुल्व माने' से निष्पन्न किया जाता है। अतः ऐसे सूत्र, जिनमें वेदि आदि के मापने तथा निर्माण की विधि समझायी गयी हो, 'शुल्व-सूत्र' कहलाते हैं। मानव तथा मैत्रायणीय शुल्ब-सूत्रों में ज्यामिति को 'शुल्ब-विज्ञान' की संज्ञा दी गयी है। प्राचीन भारत में 'शुल्व-विज्ञान' के विशेषज्ञ को 'शुल्बविद्' तथा शुल्ब-परिपृच्छक' के अतिरिक्त 'संख्याज्ञ', 'परिमाणज्ञ' तथा 'समसूत्रनिरञ्छक' की संज्ञाओं से भी अभिहित किया जाता था[5]। यूनानी विद्वान् डिमोक्रिटोस (Democritos) ने भी पर्यायवाचक शब्दों का ही प्रयोग किया है, जिससे यूनानी ज्यामिति पर भारतीय प्रभाव लक्षित होता है (वही)। अग्नि का आधार होने के कारण वेदि को भी 'अग्नि' ही कहते हैं, और वेदि के चयन को 'अग्निचयन'। वैदिक विचारधारा के अनुसार यज्ञ वास्तव में ब्रह्माण्डीय महाशक्ति तथा उसके विविध कृत्यों का प्रतीक है। इस तथ्य का आभास हमें पुरुषसूक्त (ऋग्० १०,९०) में प्राप्त होता है, जहां सृष्टि की उत्पत्ति-रूप यज्ञ में आदिपुरुष-रूप हविष्य की आहुति का उल्लेख किया गया है[6]।

---

१. ओल्डनबर्ग, रिलि० देस वेद २, पृ० ३४९, टि० ३; फ़ेस्तग्रास ऑन रॉथ, पृ० ६४।
२. हिल्लेब्राण्ट, वै०मि०, भाग, २, पृ० ९७ तथा आगे।
३. श० ब्रा० १,३,७,२६ एवं आगे; का० श्रौ० सू० १,८,३४; 'श्रपणं वाऽऽहवनीये' १, ८, ३५।
४. श० ब्रा० २,३,२,६; शां० श्रौ० सू० २,१४,३; १५,४।
५. B. B. Datta—Science of Śulba', p. 6-9।
६. ऋग्० १०,९०,२; ६।

ब्राह्मण-काल में पुरुष का स्थान प्रजापति या प्रजापति-अग्नि ने ग्रहण कर लिया[1] और उधर क्योंकि 'अग्नि' या वेदि का चयन संवत्सर के लिये किया जाता है, अतः संवत्सर=अग्नि=प्रजापति ।

यजमान अग्नि की रक्षा एक संवत्सर के लिये करता है, क्योंकि प्रजापति जब विश्राम करता है तो वह इसी अग्नि के रूप में होता है, जिसका चयन क्रिया जाता है—**स यः स प्रजापतिर्व्यस्रंसत, अयमेव स योऽयमग्निश्चीयते......'**[2] । इतना ही नहीं, प्रजापति यजमान भी है[3] ।

अग्निचयन की विधि जहां एक ओर तैत्तिरीयसंहिता में कही गयी है[4], वहां दूसरी ओर शतपथ-ब्राह्मण में भी इसका प्रतिपादन किया गया है[5] । **गार्हपत्याग्नि** (वेदि) वृत्ताकार या समचतुरस्र होती है । **आहवनीय** सदा समचतुरस्र तथा **दक्षिण** अर्धवृत्ताकार होती है । किन्तु तीनों का क्षेत्रफल एक-सा अर्थात् एक व्याम या १२० अंगुल होना चाहिये । इस समानता के विधान के कारण ही रेखागणित की अनेक समस्याएं उठ खड़ी होती हैं, यथा समचतुरस्र का वृत्त या अर्धवृत्त में परिवर्तन तथा वृत्त का समचतुरस्र में परिवर्तन । इस प्रकार की सभी समस्याओं का समाधान शुल्व-सूत्रों में इस पटुता से किया गया है कि आश्चर्य होता है कि इतने प्राचीन काल में भी रेखागणित की इतनी उन्नति हो चुकी थी कि संख्या दो, तीन और पांच के वर्गमूल निकाले जाते थे[6] । दो या अधिक समचतुरस्रों के परिमाण का एक समचतुरस्र, अथवा उनके क्षेत्रफल के अन्तर के परिमाण का समचतुरस्र बनाना, अथवा विषम चतुरस्र का समचतुरस्र में परिवर्तन अथवा समचतुरस्र के परिमाण के त्रिभुज अथवा वृत्त के निर्माण के अत्यन्त व्यावहारिक उपायों के प्रयोग शुल्व-सूत्रों में किये गये हैं । वेदि का अग्रभाग (पूर्व) अपेक्षाकृत तंग होता है और पृष्ठभाग चौड़ा एवं मध्यभाग क्षीण, जिससे वेदि का शरीर '(आत्मा)' युवति के शरीर के समान प्रतीत हो ।

---

१. प्रजापतिर्वा अग्निः । संवत्सरो वै प्रजापतिः (श० ब्रा० २,३,३,१८) ।

२. श० ब्रा० ७,१,२,९ ।

३. 'यजमानो वै प्रजापतिः' मै० सं० ३,७,४ ; श० ब्रा० १,६,१,२० ; 'एष ३ एव प्रजापतिर्यो यजते' (ऐ०ब्रा० २,१८) ।

४. तै० सं० ५, ५ ।

५. सप्तम से दशम काण्ड के अन्त तक । दशमकाण्ड में अग्निचयन के रहस्य के उद्घाटन के कारण इसका नाम 'रहस्य-काण्ड' पड़ गया ।

६. थीबो, जे० आर० ए० एस०, बंग०, भाग ४४, पृ० २३१ ।

ऊपर तीन अग्नियों की चर्चा की गयी है। इनमें से **गार्हपत्य** में पक्ष और पुच्छ नहीं बनाये जाते, किन्तु **आहवनीय** में विविध आकार के पक्षियों के अनुरूप पक्ष और पुच्छ भी नाना आकार के होते हैं। **गार्हपत्य** में तो अग्नि का प्रतीक पूर्व की ओर सिर किये पीठ के बल उत्तान लेटा हुआ पुरुष होता है। पुरुष प्रजापति है, प्रजापति अग्नि है, अतः अग्नि की योनि उसके शरीर के आकार के समान होती है[1]। **गार्हपत्य** परिमण्डलाकार होती है, क्योंकि योनि परिमण्डलाकार होती हैं[2]। यज्ञ-भूमि पर **गार्हपत्य** वेदि वर्तुलाकार होती है, आहवनीय समचतुरस्र। **गार्हपत्य** इस लोक की प्रतीक है, तो **आहवनीय** द्युलोक की और **दक्षिणाग्नि** अन्तरिक्ष-लोक की।

महावेदि पर **गार्हपत्य** और **आहवनीय** के अतिरिक्त आठ और छोटे-छोटे अग्निकुण्ड बनाये जाते हैं, जिन्हें **'धिष्ण्या'** कहते हैं। **महावेदि** में **आहवनीय** के पश्चिम में दो **हविर्धान** या हवि लाने वाले शकट रखे जाते हैं। उनके पृष्ठभागों के उत्तर और दक्षिण की ओर क्रमशः **आग्नीध्रीय** तथा **मार्जालीय धिष्ण्या** होती है, जबकि अन्य छह धिष्ण्याएं हविर्धानों के पश्चिम में **'सदस्'** नामक स्थान के भीतर इसके पूर्वी छोर के साथ-साथ बनायी जाती हैं। महावेदि के बीचों-बीच पूर्व-पश्चिम दिशा में खींची गयी रेखा को **'पृष्ठचा'** कहते हैं। 'पृष्ठचा' के उत्तर की ओर दक्षिणोत्तर दिशा में पांच धिष्ण्याएं इन पांच ऋत्विजों से सम्बद्ध होती हैं (१) होता (२) ब्राह्मणाच्छंसी (३) पोता (४) नेष्टा (५) अच्छावाक। **पृष्ठचा** के दक्षिण की ओर सदस् के पूर्वी छोर पर ही मैत्रावरुण की धिष्ण्या होती है। आग्नीध्र-सहित ये छह ऋत्विज् 'सप्तहोतारः' कहलाते हैं। **आग्नीध्रीय** और **मार्जालीय धिष्ण्याओं** की चतुरस्र शालाएं होती हैं, जो पूर्व तथा **हविर्धानों** की ओर खुलती हैं। और क्योंकि मार्जालीय में यज्ञ-पात्रों को शुद्ध किया जाता है, अतः उसे **शुन्ध्यु** भी कहते हैं।

इस प्रकार की वेदि के अनेक प्रकार के आकारों का विधान तथा निर्माण-विधियों का प्रतिपादन शुल्ब-सूत्रों में किया गया है। सामान्यतः वेदि (अग्नि-) चयन की पांच क्रमिक भूमियां होती हैं, जिनको 'चितियां' कहा जाता है। पक्षी के आकार की वेदि (=अग्नि) का शरीर ('आत्मा') चार पुरुष (३० फीट वर्ग) परिमाण का होता है। वेदि के 'आत्मा' पर हल चला कर एवम् उस पर विविध प्रकार की ओषधियों के बीज बोकर एक युग वर्ग (७ × ७ फीट) की उत्तरा-वेदि बनायी जाती है। तथा इसके केन्द्र में, जहां पूर्व-पश्चिम एवम् उत्तर-दक्षिण भुजाओं को मिलाने वाली दो रेखाएं (पृष्ठचाएं) परस्पर काटती हैं, एक कमलपत्र रख कर

---

१. श०ब्रा० ७,१,१,३७।

२. वही।

उसके ऊपर एक सुवर्ण-रुक्म, जिसे दीक्षा के दिन से यजमान अपने गले में धारण किये रहता है और जो सूर्य का प्रतीक है, रखा जाता है। इस रुक्म पर अग्नि तथा यजमान की प्रतीक पुरुषाकार स्वर्णमूर्ति (उत्तान) पीठ के बल ऐसे लिटा दी जाती है कि उसका सिर पूर्व की ओर रहता है। उसके दोनों पार्श्वों में एक-एक स्रुक् स्थापित की जाती है। पार्श्व की ओर कार्ष्मर्य-काष्ठमयी स्रुक् को आज्य से भरकर दक्षिण में स्थापित किया जाता है और औदुम्बरी को दही से भरकर उत्तर की ओर[1]।

उस हिरण्यमयी मूर्ति पर एक '**स्वयमातृण्णा** रन्ध्रान्वित (Porous) इष्टका' रखी जाती है ताकि उस पुरुष का श्वास अवरुद्ध न हो जाए। यह अन्त में यजमान के स्वर्गारोहण में भी मार्ग देने में सहायता करती है। इस इष्टका पर दूर्वा घास का एक पौधा इस प्रकार रखते हैं कि उसका मूल इष्टका पर रहता है और पर्ण नीचे लटकते रहते हैं। यह पृथ्वी पर शस्यश्यामलता तथा यजमान के भोजन का प्रतीक है। इस इष्टका के पूर्व में पृष्ठ्या के ऊपर **द्वियजुष्** नाम की इष्टका रखी जाती है, और उसके सामने पृष्ठ्या के दोनों ओर दो **रेतःसिच्** नामक इष्टकाएं रखते हैं। उनके सामने एक **विश्वज्योतिः** नामक इष्टका, तदनन्तर दो **ऋतव्या** और अन्त में यजमान की दीक्षिता पत्नी की प्रतीक **आषाढा** रखते हैं। ये सभी इष्टकाएं १५ अङ्गुल वर्ग की होती हैं। **आषाढा** के दक्षिण तथा उत्तर में दो इष्टकाओं का स्थान छोड़कर दक्षिण में हिरण्यपुरुष की ओर मुख किये एक जीवित कूर्म तथा उत्तर में उलूखल-मूसल को स्थापित किया जाता है। उलूखल पर दुग्ध तथा रेत से भरी एक **उखा** रखी जाती है और उसके ऊपर पांच पशुओं के सिर स्थापित किये जाते हैं जिनके मुख, नासिका, कानों और नेत्रों में स्वर्ण-शकल ठूंसे जाते हैं। ये पशु प्राणों के प्रतीक हैं। तदनन्तर दोनों पृष्ठ्याओं के चारों सिरों पर पांच-पांच **अपस्या** इष्टकाएं रखते हैं, जिनमें से एक तो पृष्ठ्या पर रहती है और दो-दो दोनों पार्श्वों पर। उत्तरी पृष्ठ्यान्त के इष्टका-समूह को ब्राह्मण में **छन्दस्या** संज्ञा भी दी गयी है।

तदनन्तर दस-दस **प्राणभृत्** इष्टकाओं के पांच गण चिने जाते हैं। प्रथम चार इष्टकागण तो वेदि के शरीर को केन्द्र से सम्बद्ध करने वाले चार कर्णों पर रखे जाते हैं और पञ्चम गण केन्द्रीय इष्टका के आस-पास **रेतःसिच्** इष्टकाओं के समकक्ष रखा जाता है। प्रत्येक इष्टका पर विशेष चिह्न अंकित किये जाते हैं तथा ये इष्टकाएं पश्चिम-पूर्व तथा उत्तर-दक्षिण दिशाओं में चिनी जाती हैं।

---

१. श० ब्रा० ७, ४, १, ३७-३८; तै० सं० ५, २, ७, २।

द्वितीया चिति से पूर्व रिक्त स्थान को **लोकम्पृणा** नामक इष्टकाओं से भर दिया जाता है।[1] सामान्य प्रकार की वेदि के लिए भिन्न-भिन्न तीन आकार की १०२८ **लोकम्पृणा** इष्टकाएं अपेक्षित होती हैं। इनके परिमाण पाद, अर्धपाद तथा ¾ पाद होते हैं (पाद=१५ अंगुल)। इनसे ३२१ वर्गपाद क्षेत्रफल पाट दिया जाता है। ७९ वर्ग-पाद स्थान में ९८ **यजुष्मती** इष्टकाएं बिछायी जाती हैं। वेदि के प्रत्येक पक्ष के १२० वर्गपाद स्थान के लिये ३२० **लोकम्पृणा** इष्टकाओं की आवश्यकता होती है। पुच्छ के लिए २८३ इष्टकाएं चाहियें, जिनसे ११० वर्गपाद स्थान पाटा जा सकता है। इस प्रकार प्रथमा चिति में ६२१ वर्गपाद स्थान को पाटने के लिए सभी आकार की १९२९ **लोकम्पृणा** इष्टकाएं अपेक्षित होती हैं। यदि गार्हपत्य की इष्टकाएं भी सम्मिलित कर ली जायें, तो **लोकम्पृणा** इष्टकाओं की संख्या १९५० हो जाती है[2]। इसी प्रकार द्वितीया, तृतीया तथा चतुर्थी चिति में भी इतनी ही इष्टकाएं अपेक्षित होती हैं। किन्तु अन्तिम पञ्चमी चिति में १००० **लोकम्पृणा** अधिक लगायी जाती हैं, इस प्रकार कुल १०८०० इष्टकाएं अपेक्षित होती हैं।

द्वितीया चिति—द्वितीया चिति के लिये पांच-पांच के चार या चार-चार के चार चट्टे या एक पाद वर्गात्मक १६ इष्टकाएं अपेक्षित होती हैं, जो **रेतःसिच्** इष्टकाओं के समकक्ष इस प्रकार लगायी जाती हैं कि पांच पाद वर्ग के चतुरस्र की पर्यन्त रेखाएं बन जायें और मध्य में ९ वर्गपाद का चतुरस्र खाली रह जाये। प्रत्येक चट्टे में बाएं से दाहिने ये चार इष्टकाएं इस क्रम से लगायी जाती हैं—**आश्विनी, वैश्वदेवी, प्राणभृत्** और **अपस्या**। ये इष्टकाएं सदा कोण में लगायी जाती हैं। दक्षिण की ओर आधी इष्टकाओं के दो चट्टे लगते हैं, जिनकी दीर्घ भुजाएं पश्चिम-पूर्व रखी जाती हैं। पूर्व और पश्चिम दिशा की इष्टकाएं इस प्रकार लगायी जाती हैं कि उन पर अङ्कित रेखाएं भी पश्चिम-पूर्व रहती हैं, जबकि दक्षिण और उत्तर की इष्टकाओं की रेखाएं दक्षिण-उत्तर रहती हैं। प्रत्येक श्रेणी की पांच इष्टकाएं **आश्विनी** से आरम्भ करके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर क्रम से लगायी जाती हैं। किन्तु पांच **आश्विनी** इष्टकाओं के अनन्तर २ **ऋतव्या** प्रथमा चिति की दो **ऋतव्या** इष्टकाओं के ऊपर लगायी जाती हैं।

द्वितीया चिति में अन्य विशेष इष्टकाएं १९ **वयस्या** होती हैं, जो दोनों **पृष्ठ्याओं** के चारों कोणों पर इस प्रकार लगायी जाती हैं—पूर्व में चार, शेष तीन दिशाओं में पांच-पांच।

तृतीया चिति—प्रथमा चिति में **लोकम्पृणा** वेदि के दक्षिण-पूर्व से आरम्भ करके लगायी जाती है और द्वितीया में दक्षिण-पश्चिम कोण से। किन्तु तृतीया

---

१. श० ब्रा० ८, १, ४, १०।

२. का० श्रौ० सू० १७, ७, २१।

चिति में वाम श्रोणि या उत्तर-पश्चिम कोण से आरम्भ करके दो पारियों में रिक्त स्थान को पाटा जाता है। इस चिति का वर्णन, श० ब्रा० (८, ३, १) में किया गया है। **रेतःसिच्** तथा **विश्वज्योतिः** इष्टकाएं भी प्रथमा चिति के समान ही चिनी जाती हैं। **विश्वज्योतिः** के साथ पूर्व दिशा में दो **ऋतव्या** रखी जाती हैं, जो यद्यपि सामान्य से अधिक मोटी होती हैं तो भी प्रथमा तथा द्वितीया चिति की इष्टकाओं के ठीक ऊपर स्थापित की जाती हैं। इसी आकार की दो अन्य **ऋतव्या** इनके ऊपर रखते हैं[1]। तदनन्तर दस **प्राणभृत्** इष्टकाएं रखते हैं, तदनन्तर **छन्दस्याः**। पांच-पांच **प्राणभृत् पृष्ठ्या** के साथ-साथ दोनों ओर **वालखिल्या** इष्टकाओं के लिए एक पाद स्थान छोड़कर लगाते हैं[2]।

१२-१२ के तीन गणों में ३६ **छन्दस्या** 'आत्मा' की श्रणि के साथ-साथ वहां लगाते हैं, जहां दोनों पक्ष तथा पुच्छ इससे मिलते हैं। ६-६ इष्टकाएं **पृष्ठ्या** के दोनों ओर रखनी चाहियें।

पिछले भाग में इष्टका 'आत्मा' को पुच्छ से पृथक् करने वाली श्रणि के साथ सटा कर नहीं रखी जातीं, अपितु दोनों के मध्य में कम से कम पादभर स्थान **'छन्दस्याओं'** के पीछे एक और प्रकार के इष्टका-समूह के लिये छोड़ दिया जाता है।

वेदि के अग्रभागस्थ दस **प्राणभृतों** तथा बारह **छन्दस्याओं** के साथ-साथ ७-७ **'वालखिल्या'** इष्टकाएं लगायी जाती हैं। तदनन्तर दो **लोकम्पृणा** रखते हैं।

चतुर्थी चिति—इसकी विशेषता १८ **'स्तोम'** इष्टकाओं के लगाने में है। **पृष्ठ्या** के दोनों सिरों पर जानु परिमाण (=३२ अंगुल) की एक-एक इष्टका इस प्रकार रखी जाती है कि पूर्वीय इष्टका तो **पृष्ठ्या** के उत्तर की ओर रहे और पश्चिमीय इष्टका दक्षिण की ओर। इनकी रेखाएं पश्चिम-पूर्व रहनी चाहियें। पाद-वर्ग-परिमाण की सामान्य इष्टका तिरश्ची **पृष्ठ्या** के दक्षिण प्रान्त पर इस प्रकार रखी जाती है कि इसका केवल चतुर्थ भाग **पृष्ठ्या** रेखा के एक ओर रह जाता है और इसके रेखाङ्क दक्षिण-उत्तर रहते हैं। इसी परिमाण की एक अन्य इष्टका उत्तर की ओर इस प्रकार रखी जाती है कि वेदि के उत्तरी छोर तथा इसके मध्य एक इष्टका का अन्तर बना रहता है। अग्रिम इष्टका के पीछे पश्चिम की दिशा में **पृष्ठ्या** के दोनों ओर उत्तर से दक्षिण सात-सात पादार्ध इष्टकाएं चिनी जाती हैं। इन अठारह इष्टकाओं के स्थापित करने के अनन्तर दस **'स्पृताः'** इष्टकाएं इस प्रकार लगायी जाती हैं—दो **पृष्ठ्या** के पूर्वीय तथा पश्चिमीय प्रान्तों

१. श० ब्रा० ८, ३, २, १३—**चतस्र ऋतव्यास्तासां विश्वज्योतिः पञ्चमी ···।**

२. श० ब्रा० ८, ३, ४, १।

पर, एक पृष्ठ्या के उत्तर में दूसरी दक्षिण में, दो तिरश्ची पृष्ठ्या पर, दो **स्तोम**-इष्टकाओं के ठीक उत्तर में, शेष छह इष्टकाएं वेदि के अग्रभाग में, चौदह **स्तोम** इष्टकाओं के पीछे, पृष्ठ्या के दोनों ओर तीन-तीन की संख्या में स्थापित की जाती हैं। इन '**स्पृता:**' इष्टकाओं की स्थापना के अनन्तर दो '**ऋतव्या**' इष्टकाएं पूर्व स्थापित '**ऋतव्याओं**' के ठीक ऊपर स्थापित की जाती हैं। तदनन्तर '**रेत:सिच्**' इष्टकाओं के समकक्ष, केन्द्र के चारों ओर, **पृष्ठ्या** की उत्तर दिशा में आठ तथा दक्षिण दिशा में नौ '**सृष्टि**' इष्टकाएं ऐसे लगायी जाती हैं कि दक्षिणीय भाग में पांच तथा शेष प्रत्येक दिशा में चार-चार इष्टकाएं रहती हैं। दक्षिण-भागस्थ पांच इष्टकाओं में से उत्तर-दक्षिण-**पृष्ठ्या** रेखा पर स्थापित पाद-वर्ग-परिमाण की एक इष्टका के दोनों ओर पादार्ध-वर्ग-परिमाण की एक-एक इष्टका, और दोनों सिरों पर पुन: पाद-वर्ग-परिमाण की एक-एक इष्टका रखी जाती है। यद्यपि अन्य दिशाओं के विषय में स्पष्ट कुछ नहीं कहा गया, तो भी अनुमान किया जा सकता है कि पूर्व और पश्चिम में पूर्व-पश्चिम-**पृष्ठ्या** के दोनों ओर उत्तर और दक्षिण में एक-एक पाद-वर्ग इष्टका एक-एक पादार्ध-वर्ग इष्टका से उपस्पृष्ट होनी चाहिये[1]।

पञ्चमी चिति—चतुर्थी चिति के अनन्तर दो '**लोकम्पृणा**' पूर्वोत्तर कोण या वामांस में रखी जाती हैं और वहां से वेदि के रिक्त स्थानों को दो पारियों में पाटा जाता है। इस चिति की विशेषता यह है कि इसमें '**असपत्ना**' इष्टकाओं का प्रयोग किया जाता है। प्रथम पांच '**असपत्ना**' इष्टकाओं में से चार को **पृष्ठ्याओं** के चारों सिरों पर इनसे एक पाद की दूरी पर स्थापित किया जाता है और इस प्रकार उनका स्थान द्वितीया चिति की '**आश्विनी**' इष्टकाओं के समान होता है। इन चारों इष्टकाओं के रेखाङ्क अपनी-अपनी **पृष्ठ्याओं** के समानान्तर रहते हैं। पञ्चमी '**असपत्ना**' दक्षिणीय '**असपत्ना**' के उत्तर की ओर एक अरत्नि की दूरी पर स्थापित की जाती है। ये दोनों '**असपत्ना**' पूर्ण परिमाण (=१ पाद-वर्ग) की होती हैं। पञ्चमी '**असपत्ना**' के रेखाङ्क पश्चिम-पूर्व भी हो सकते हैं और दक्षिण-उत्तर भी।

असपत्नाओं के अनन्तर प्रत्येक दिशा के पृष्ठ्यान्त पर १०-१० '**छन्दस्या**' (=४०) रखी जाती हैं। तदनन्तर २९ अथवा ३० '**स्तोमभाग**' इष्टकाएं '**आषाढा**' के समकक्ष स्थापित की जाती हैं। तदनन्तर इष्टकाओं पर मिट्टी (पुरीष) विछा दी जाती है। इन '**स्तोमभाग**' इष्टकाओं के द्वारा वेदि के मध्यभाग की परिधि का निर्माण किया जाता है। किन्तु इनकी व्यवस्था के विषय में मतभेद पाया जाता है। कात्यायन के अनुसार[2] इनमें से १५ तो पश्चिम-पूर्व **अनूक** (**पृष्ठ्या**) के दक्षिण में और १४ उत्तर में स्थापित करनी चाहियें। दक्षिणीय मण्डलार्ध में १५ इष्टकाओं

---

१. थीबो—बौधायन शुल्वसूत्र, उपोद्घात २, (१९६८); नई दिल्ली, पृ० १३।

२. का० श्रौ० सू० १७, ११, १०।

में से आठ दक्षिणपूर्वीय वृत्तपाद में और सात दक्षिणपश्चिमीय वृत्तपाद में रहनी चाहियें। इस व्यवस्था के अनुसार दक्षिणपूर्वीय वृत्तपाद में दो अर्धेष्टकाएं लगानी पड़ती हैं—एक तो **पृष्ठ्या** के ठीक दक्षिण में और द्वितीय तिरश्ची **पृष्ठ्या** के ठीक पूर्व की ओर। **ऋतव्या** कक्ष के मण्डल के भीतर (पूर्व के अतिरिक्त) पृष्ठ्याओं पर पांच **'नाकसदस्'** नामक इष्टकाओं की स्थापना की जाती है। पूर्व में यह **पृष्ठ्या** के उत्तर में इससे एक पाद की दूरी पर रखी जाती है ताकि इसके और 'नाकसदस्' के मध्य में बाम **ऋतव्या** के लिये स्थान रह जाये[1]। दक्षिण में दो अर्धपद्य इष्टकाएं लगाई जाती हैं। ये पांचों **'नाकसद्'** सामान्य से आधी मोटाई की होती हैं, ताकि इनके ऊपर **'पञ्चचूड'** इष्टकाएं भी रखी जा सकें।

मध्य में रिक्त स्थान को अष्टेष्टका वाले गार्हपत्य कुण्ड से भर दिया जाता है। इन आठ के ऊपर उसी प्रकार की आठ और इष्टकाएं रखी जाती हैं, जिन्हें **'पुनश्चिति'** की संज्ञा दी जाती है। अब पूर्व की ओर दो **'ऋतव्या'** मण्डल के भीतर लगाई जाती हैं और उनके पश्चिम की ओर **'विश्वज्योतिः'**, जोकि सूर्य का प्रतीक है। अब रिक्त स्थानों को **'लोकम्पृणा'** से पाट दिया जाता है और उनके ऊपर मिट्टी (पुरीष) डाल दी जाती है। पुरीष के भरने के अनन्तर **'विकर्णी'** और **'स्वयमातृण्णा'** दो इष्टकाओं को ऐसे स्थापित करते हैं कि **''स्वयमातृण्णा''** तो ठीक केन्द्र में टिक जाती है और **'विकर्णी'** इसके ठीक उत्तर में **पृष्ठ्या** के ऊपर।

इस प्रकार की चितियों का ठीक-ठीक निर्माण करने के लिये पर्याप्त विकसित रेखागणितीय ज्ञान की आवश्यकता स्पष्ट ही परिलक्षित होती है। वर्तमान शुल्ब-सूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि ये इस ज्ञान की दीर्घ परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योंकि इनमें न केवल अपने पूर्वाचार्यों का ही उल्लेख है[2], अपितु उनके सिद्धान्तों तथा पारस्परिक मतभेदों की भी चर्चा की गयी है[3], जिनका सङ्केत प्रायः तै० सं० या तै० ब्राह्मण की ओर होता है। बौधायन ने तो मैत्रायणीय ब्राह्मण को भी उद्धृत किया है[4], जिसका अस्तित्व अब लुप्त हो चुका है। इस परम्परा के दृढमूल होने का एक प्रमाण यह भी है कि इनके सूत्रों की शब्दावलि में पर्याप्त साम्य उपलब्ध होता है। दो एक उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा।

---

१. तु. श० ब्रा० ८, ७, १, १।

२. बौ० शु० सू० १, ६५ ; ७१ ; ७६ ; आप० शु० सू० ४, १ ; ५, १ : ८, १६।

३. इत्यभ्युपदिशन्ति (बौ० शु० सू० १, ८५); 'इत्युक्तम्' (आप० शु० सू० ९, ८)।

४. बौ० शु० सू० ३, १०।

१. "समचतुरस्रस्याक्ष्णया द्विस्तावतीं भूमिं करोति" (बौ० शु० सू० १, ४५)

'समचतुरस्रस्याक्ष्णया रज्जुर्द्विकरणी' (का० शु० सू० २, १२)।

'समचतुरस्रस्याक्ष्णया द्विस्तावतीं भूमिं करोति' (आप० शु० सू० १, ११)।

अर्थात् समचतुरस्र की कर्णरेखा पर बनाए गये समचतुरस्र का क्षेत्रफल मूल चतुरस्र के क्षेत्रफल से द्विगुण होता है।

२. दीर्घचतुरस्रस्याक्ष्णया रज्जुः पार्श्वमानी तिर्यङ्मानी च यत् पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति (बौधा० ; १,४८ ; आप० १,९ ;)। '... ...इति क्षेत्र-ज्ञानम्' (अधिक)। कात्यायन० २,११।

दीर्घचतुरस्र की कर्णरज्जु अकेली ही उसके दोनों भुजाओं पर चतुरस्रों के समान क्षेत्रफल का चतुरस्र बनाती है।

ये दोनों सूत्र मिलकर पाइथागोरस के नियम का प्रतिपादन करते हैं। थीबो का यह विचार ग्राह्य है कि यद्यपि प्राचीन आर्यों ने $\sqrt{2}$ का मूल्य छह अङ्कों तक निकाल लिया था, तो भी वे इसे सीधे ढंग से निकालने में असमर्थ रहे। फिर भी उनका समचतुरस्र से विषम चतुरस्र के निर्माण का ढंग सर्वथा रेखागणितीय था[1]। वे वृत्त के समचतुरस्र में परिवर्तन के प्रयास में हमारी इच्छा के अनुकूल सफलता प्राप्त नहीं कर सके, तो भी उनके नियम व्यावहारिक थे[2]।

इन सूत्रों की समान या लगभग समान भाषा तथा प्रतिपादन-शैली एवं विषय के समधिगमन का प्रकार सभी सिद्ध करते हैं कि कल्पसूत्रों में समाविष्ट होने से बहुत पहले ये विषय अध्वर्यु लोगों की सम्पत्ति बन चुके होंगे[3]। यद्यपि शुल्बसूत्रों के नियम 'बड़े भोंडे और अटपटे से हैं', तो भी इनका सबसे बड़ा लाभ यह है कि उन्हें वास्तविक ज्यामितिक शब्दावलि में अभिव्यक्त किया गया है, और इस विषय में उनका प्रतिपादन लीलावती तथा तत्सदृश अन्य रचनाओं के प्रश्नों के विवेचन से कहीं अधिक उत्कृष्ट है[4] तथा इनकी यह प्रारम्भिक अवस्था ही इनकी प्राचीनता की द्योतक है[5]।

सिद्धान्ततः तो प्रत्येक शाखा का अपना विशिष्ट शुल्बसूत्र होना चाहिये। किन्तु वास्तविक स्थिति के अनुसार इस समय निम्नलिखित शुल्ब-सूत्र ही उपलब्ध

---

१. जे० ए० आर० एस०, बंग० भाग ४४, पृ० २४७।
२. वही, पृ० २५२।
३. वही, पृ० २७१।
४. वही।
५. वही, पृ० २५२।

होते हैं, जो यजुर्वेद की ही विविध शाखाओं से सम्बद्ध हैं, जो स्वयं कर्मकाण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं।

(१) बौधायन शुल्वसूत्र (२) आपस्तम्ब० (३) मानव० (४) मैत्रायणी० (५) वाराह० (६) वाधूल०। ये सभी कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं। इनके अतिरिक्त आप० शु० सू० की टीका में करविन्द ने मशक-शुल्व तथा हिरण्यकेशि-शुल्व का उल्लेख किया है, जो इस समय अनुपलभ्य हैं। इनके अतिरिक्त शुक्ल-यजुर्वेदीय कात्यायन-शुल्वसूत्र भी उपलब्ध है।

यज्ञयागों का अनुष्ठान किसी न किसी कामना की पूर्त्यर्थ किया जाता था। अतः प्रत्येक कामना के अनुरूप ही यज्ञ के अनुष्ठान की विधि, प्रयोज्य उपकरणों, विनियोज्य मन्त्रों तथा अग्नियों (वेदियों) के आकार-प्रकार में भेद किया गया है। यहां हम मानव की मुख्य कामनाओं के अनुरूप शुल्वसूत्रों में प्रतिपादित भिन्न-भिन्न अग्नियों की एक तालिका प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि ये अग्नियां किसी न किसी कामना की पूर्ति के उद्देश्य से निर्मित की जाती थीं, अतः इन की संज्ञा 'काम्य अग्नियां' रख दी गयी।

आपस्तम्ब शुल्वसूत्र के अनुसार काम्य अग्नियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

	कामना	अग्नि का स्वरूप तथा संज्ञा
१.	शत्रु का नाश	प्रउगचित्
२.	भूत तथा वर्तमान शत्रु का नाश	उभयतःप्रउगचित्
३.	शत्रु का नाश	रथचक्रचित्
४.	अन्न-प्राप्ति	द्रोणचित्
५.	पशुधन की प्राप्ति	समुह्यचित्
६.	किसी लोक का प्रभुत्व	परिचाय्यचित्
७.	पितृलोक की प्राप्ति	श्मशानचित्
८.	पशुधन की प्राप्ति	छन्दश्चित् (पक्षी-आकार)
९.	स्वर्ग की प्राप्ति	श्येनचित् (चतुरश्र, दो प्रकार)
१०.	,,	कङ्कचित्
११.	,,	अलजचित्
१२.	सदेह (सिर-सहित) स्वर्ग-प्राप्ति	सिर-सहित कङ्कचित्

इनके अतिरिक्त न्यूनाधिक परिवर्तित कामनाओं की पूर्ति के लिये अन्य अग्नियों (वेदियों) का भी विधान किया गया है। यथा—**चतुरश्र-श्मशान०,**

परिमण्डल-श्मशान०,चतुरश्र-द्रोणचित्, परिमण्डल-द्रोणचित्, उपचाय्यचित्,पूर्वश्येन-चित्, परश्येनचित्। बौधायन शुल्बसूत्र में ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिये **कूर्मचित्** अग्नि का विधान किया गया है।

जैसा कि इन के नामों से स्पष्ट व्यक्त होता है, इन अग्नियों के आकार विविध वस्तुओं, अथवा पक्षियों एवं प्राणियों अथवा स्थानों के अनुरूप होने के कारण इन की संज्ञाएं भी अन्वर्थ ही हैं। श्येन, कङ्क तथा अलज पक्षियों के नाम हैं। जैसा कि ऊपर निर्देश कर चुके हैं, वेदियां प्रायः पक्ष फैला कर आकाश में उड़ते हुए पक्षी की छाया के अनुरूप निर्मित की जाती थीं, तो भी कामना के भेद के अनुसार ही वेदि के आकार में भेद कर लिया जाता था। कुछ वेदियों (आहवनीयों) में पक्षियों के अनुरूप ही पक्षों तथा पुच्छों की रचना की जाती थी।

काम्य अग्नियों के अतिरिक्त कृत्य के अनुसार भी वेदियों के आकार, प्रकार तथा विस्तार में अन्तर किया गया है। दर्शपूर्णमास-इष्टि के लिये दार्शिकी वेदियों का निर्माण किया जाता है। इनमें **'प्राची'** या **आहवनीय** से **गार्हपत्य** तक की पूर्व-पश्चिम रेखा ८ प्रक्रम या २४० अंगुल या १८० इञ्च होती है। पूर्व में समचतुरस्राकार **आहवनीय** रहती है, जिसका परिमाण ४×४ अरत्नि (=९६×९६ अंगुल) होता है। पश्चिम की ओर वृत्ता- (परिमण्डला-) कार **गार्हपत्य** अग्नि रहती है तथा दक्षिण में अर्धवृत्ताकार दक्षिणाग्नि की रचना की जाती है। इन सभी का क्षेत्रफल समान होता है।

पाशुबन्धिका वेदि पशुयाग या निरूढ-पशुबन्ध के लिये निर्मित की जाती है, जो आहवनीय के पूर्व में रहती है। इसमें पूर्व की दिशा में एक उत्तरवेदि की रचना की जाती है। वेदि के पूर्व में पशुबन्धनार्थ एक विशेष प्रकार का अष्टाश्रि यूप गाड़ा जाता है। इस वेदि का परिमाण पूर्व की ओर ८६ अंगुल, पश्चिम की ओर १०४ अंगुल, तथा **आहवनीय** एवं **गार्हपत्य** के मध्य में **प्राची** १८८ अंगुल की होती है। इस वेदि को 'चारणरथ' या 'विपथरथ' की संज्ञा दी जाती है।

सोमयाग के अनुष्ठानार्थ **सौमिकी** वेदि का निर्माण किया जाता है। इस की लम्बाई ३६ पद तथा चौड़ाई २४ पद निर्धारित की गयी है। एक पद १५ अंगुल का माना गया है। आहवनीय से ६ प्रक्रम पूर्व की ओर ३६ पद दीर्घ तथा २७ पद चौड़ी महावेदी बनायी जाती है, जिसका क्षेत्रफल ९७२ वर्ग पद होता है। सौत्रामणी वेदि का क्षेत्रफल ३२४ वर्गपद होता है, तथा इसके द्विगुणित क्षेत्रफल वाली वेदि **आश्वमेधिक** वेदि कहलाती है। **सदस्** वेदि पूर्वस्थ तिर्यङ्मानी ९ अरत्नि तथा उत्तरस्थ पार्श्वमानी २७ अरत्नि होती है। कुछ एक शाखाओं के व्यवहारानुसार पार्श्वमानी १८ अरत्नि ही होती है।

---

१. आप० शुल्ब० खण्ड ६, सू० १७; १८ तथा १८ पर कपर्दिस्वामी का भाष्य।

इस वेदिनिर्माण कार्य के सम्वन्ध में यह ध्यातव्य है कि इस के पद, युग, अरत्नि, शम्या प्रभृति के परिमाण सुनिश्चित न होकर यजमान तथा ऋत्विजों की इच्छा पर निर्भर करते हैं। निरुढपशुवन्ध याग की वेदि **आहवनीय** के पूर्व में वनायी जाती है, जिस के पूर्व में पशुवन्धनार्थ एक यूप गाडा जाता है। पूर्व में यह ८६ अंगुल, पश्चिम में १०४ अंगुल, तथा इस की **प्राची** १८८ अंगुल होती है। या यूं कह सकते हैं कि पूर्व की ओर '**विपथयुग**' के समानाकार की पश्चिम में 'रथाक्ष' के वरावर तथा प्राची 'ईषा' के वरावर होती है[1]। इस वेदि का आकार '**चारणरथ**' कहाता है[2]। कर्पादिस्वामी की व्याख्या के अनुसार इसे ही '**विपथरथ**' भी कहा जाता है[3]।

---

१. द्र० आप० शुल्व, खण्ड ६, सूत्र ७-१७।

२. वही, १८।

३. वही, सूत्र १८ पर भाष्य।

कसु० २२

दशम अध्याय

बौधायन शुल्ब-सूत्र

तैत्तिरीय संहिता की बौधायन शाखा के कल्प के अन्तर्गत 'बौधायन शुल्ब सूत्र' इस कल्प का तीसवां प्रश्न है। तैत्तिरीयसंहिता के चतुर्थ काण्ड के तृतीय प्रपाठक में चिति-वर्णन के प्रसंग में पांचों चितियों की विविध इष्टकाओं के चयन की विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। तदनन्तर पञ्चम काण्ड में उख्याग्नि, चित्युपक्रम, गार्हपत्यचयन, क्षेत्रकर्षण, प्रथम चित्युपधान प्रभृति विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम इष्टकाचयन में अपस्या, प्राणभृत्, अपानभृत् तथा संयता इष्टकाओं का विधान है। द्वितीय चिति में इन इष्टकाओं के चयन का विधान है—

> **आश्विनी, ऋतव्या, प्राणभृत्, अपस्या, वयस्या, स्वयमातृण्णा, दिश्या, बृहती, वालखिल्या, अक्षणयास्तोमीया, सृष्टि, व्युष्टि, असपत्ना, विराट्, स्तोमभागा, नाकसद्, पञ्चचूड़ा, विकर्णी, सयुक्, विश्वज्योतिः, संयानी, आदित्या, यशोदा, भूयस्कृत्, अग्निरूप, द्रविणोदा, आयुष्या, अग्निहृदया, वृष्टिसानि, कृत्तिका, मण्डल, छन्दस्।**

चतुर्थ प्रपाठक में इन इष्टकाओं का उल्लेख है—

> **इन्द्रतनु, यज्ञतनु, नक्षत्र, ऋतव्या तथा वैश्वदेव।**

पञ्चम प्रपाठक में अन्य ये गिनायी गयी है—

> **हिरण्य, अह्वरूप, आत्मेष्टका।** इनके अतिरिक्त **कुम्भ, भूत** (प्रपा० ६) **ऋषभ, वज्रिणी, राष्ट्रभृत्** तथा **व्रत** नामक इष्टकाएं विहित हैं (प्रपा० ७)।

इतने प्रकार की विविध इष्टकाओं का विधान ही शुल्ब परम्परा की प्राचीनता तथा शुल्बसूत्रों की आधारभूत सामग्री की ओर स्पष्ट संकेत करता है।

बौधायन शुल्ब-सूत्र बौधायन कल्प के अन्य सूत्रों के समान ही सर्वप्राचीन रचना है। द्वारकानाथ यज्वा, जो बौधा० शु० सू० के मुख्य व्याख्याकार हैं, इस सूत्र को तीन अध्यायों में विभक्त करते हैं—**व्याकृतः, धर्मवाचकः** तथा **उपपत्तिसमन्वितः**। थीबो ने इसी वर्गीकरण को मान्यता प्रदान की है। प्रथम

अध्याय के चार खण्ड हैं, द्वितीय के तीन और तृतीय के चौदह। इस प्रकार इसमें कुल २१ खण्ड हैं। कैलैण्ड ने इन्हें दस अध्यायों में इस प्रकार विभक्त किया है—

अध्याय	खण्ड	सूत्र	अध्याय	खण्ड	सूत्र
१	१	४९	४	१०	४३
	२	१३		११	३१
	३	२५		१२	१७
	४	२६		१३	८
२	५	२८		१४	११
	६	२३		१५	७
	७	३२	५	१६	३६
३	८	४०	६	१७	२२
	९	२१	७	१८	१६
			८	१९	१७
			९	२०	३३
			१०	२१	२१

कुल सूत्र = ५१९

इतना होते हुए भी कुछ सूत्रों के विभाजन के विषय में सन्देह बना हुआ है। डा० सत्यप्रकाश के मतानुसार वास्तविक स्वाभाविक सूत्र संख्या ५५० तक हो सकती है[1]।

विषय-विवेचन

प्रथम अध्याय में सूत्र में प्रयुक्त परिमाणों तथा भूमि के मापने के प्रकारों की व्याख्या, तथा शुल्बसूत्र में प्रयुक्त अन्य पारिभाषिक शब्दों के अर्थों पर प्रकाश डाला गया है। समचतुरस्र से रज्जु के द्वारा विषम चतुरस्र के निर्माण का प्रकार, द्विकरणी, तृतीयकरणी, बौधायन-नियम (पाइथागोरस का नियम—

---

१. बौ० शु० सू०, सं०. नई दिल्ली, पृ० ३२ ; डा० थीबो तथा विभूति भूषणदत्त (The Science of Śulba, p. 2-3) के अनुसार प्रथम अध्याय में ११६ सूत्र हैं, द्वितीय में ८६ तथा तृतीय में ३२३ सूत्र हैं। इस प्रकार कुल ५२५ सूत्र होते हैं।

"समचतुरस्र के करण पर बनाए हुए समचतुरस्र का क्षेत्रफल मूल समचतुरस्र से द्विगुणा होता है"), दो समचतुरस्रों का सम्मिश्रण, बड़े समचतुरस्र में से व्यवकलन, समचतुरस्र से विषमचतुरस्र के निर्माण तथा इसके व्यत्यास, समचतुरस्र से समान क्षेत्रफल वाले त्रिभुज, तिर्यक् समचतुरस्र (Rhombus) तथा मण्डल (वृत्त) तथा मण्डल से समचतुरस्र के निर्माण के नियम, समचतुरस्र के करण का उसकी भुजा से सम्बन्ध, √२[वर्गमूल]=१·४१४२१३, **गार्हपत्य** से **आहवनीय** की दूरी, दक्षिणाग्नि के स्थान का अवधारण, वेदि की प्राची दिशा का अवधारण, पितृयज्ञार्थ वेदि का स्वरूप, महावेदि, सौत्रमणी की वेदि, **प्राग्वंश** का विवरण, **हविर्धानों** की स्थापना, उत्तरवेदि का स्वरूप, **चात्वाल** का निर्धारण, **सदस्**, **धिष्ण्या**, **आग्नीध्रीय आगार**, **मार्जालीय धिष्ण्या**, तथा **यूपावट**—इन सबके विषय में स्पष्ट विवरण दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी पारिभाषिक शब्दों तथा माप के साधनों तथा विविध मापदण्डों के विस्तृत विवेचन के अतिरिक्त इस अध्याय में रेखागणितीय समस्याओं के सूक्ष्म विवरण तथा उनके व्यावहारिक समाधानों के नियमों का स्फुट प्रतिपादन किया गया है, जिनमें कुछ एक तो इतने जटिल हैं कि आज भी इस विज्ञान के विशेषज्ञों को चकित ही नहीं, चमत्कृत भी कर देते हैं। पाइथागोरस के नियम की चर्चा करते समय आज का गणितज्ञ बोधायन तथा उससे भी पूर्वकालिक उस अतिप्राचीन भारतीय वैज्ञानिक के चरणों में नतमस्तक हुए बिना नहीं रह सकता, जिसकी उर्वरा बुद्धि ने उस तथाकथित अन्धकारमय युग में संसार को तो इस अतिमहत्त्वपूर्ण सत्यान्वेषण से आलोकित कर दिया, किन्तु स्वयं विस्मृति की विशाल जवनिका से आवृत रहकर सदा के लिए तिरोहित हो गया। यही अवस्था वर्गमूल की भी है। यद्यपि २ का वर्गमूल अभीष्ट सूक्ष्म गणना तक नहीं पहुंच पाया है, तो भी गणितीय तथ्य के इस चमत्कारी आविष्कार ने उस सुदूर काल में भी विज्ञान के अन्धकारमय मार्ग को प्रशस्त करके संसार को कुछ कम उपकृत नहीं किया है। यह एक सर्वग्राह्य तथ्य है कि आरम्भ में मानव की धार्मिक आवश्यकताओं पर ही विज्ञान की आधार-शिला स्थापित हुई थी।

द्वितीय अध्याय में विविध प्रकार की अग्नियों का विस्तृत विवरण दिया गया है, जिसमें विविध प्रकार की एवं नाना परिमाण की इष्टकाओं का सूक्ष्म तथा विस्तृत वर्णन किया गया है। सोमयाग के लिए प्रथम बार निर्मित महावेदि का परिमाण ७½ वर्ग पुरुष अथवा १०८००० वर्ग अंगुल होता है (२,१)। द्वितीय अग्नि का ८½ वर्ग पुरुष, और इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते अग्नि-परिमाण १०१½ पुरुष तक जा सकता है (२,४-५)। **अश्वमेध** करने के लिए २१ अग्नियों का चयन करना ही होता है। यदि **अश्वमेध** से पूर्व २१अग्नियों का चयन न हो सका हो तो **अश्वमेध** के अनन्तर २२½ पुरुष परिमाण की अग्नि का चयन करना होगा।

यदि **अश्वमेध** से पूर्व ३०½ पुरुष परिमित अग्नि का चयन हो चुका हो तो **अश्वमेध के** पश्चात् यजमान को ३१½ पुरुष परिमित अग्नि का चयन करना होगा (२, ९-१०)। इस प्रकार के अनेक नियम प्रतिपादित हैं। **प्रथम श्येनचित् अग्नि के निर्माण के लिए** १००० इष्टकाओं का विधान किया गया है।

गार्हपत्य अग्नि के स्वरूप के विषय में भी मतभेद व्यक्त किया गया है। कुछ के मतानुसार यह चतुरस्र होनी चाहिये, दूसरों के अनुसार परिमण्डलाकार। इसका परिमाण व्याम मात्र (चार अरत्नि या ९६ अंगुल) होना चाहिये। **विविध** वेदियों के लिये नाना प्रकार के प्रस्तारों का विधान किया गया है। **परिधियों** तथा **धिष्ण्याओं** के विभाजन की विधि निरूपित करके संवत्सर पर्यन्त **उख्य** अग्नि धारण करने वाले यजमान के लिये आदेश दिया गया है कि वह उख्य भस्म से संसृष्ट इष्टकाओं का निर्माण कराये (२, ७८)।

तीन सहस्र इष्टकाओं से अग्नि-चयन कर चुकने वाले (अर्थात् तीन बार अग्नि चयन कर चुकने वाले) यजमान को चाहिए कि वह **छन्दश्चित्** अग्नि का चयन करे। इसमें इष्टकाओं के स्थान पर उपयुक्त मन्त्रों का यथावत् उच्चारण करते हुए तत्तत्स्थान को केवल स्पर्श करना होता है। **छन्दश्चित्** का आकार **श्येनचित्** के सदृश होता है (२, ८१-८३) क्योंकि **श्येनचित्** ही सभी चितियों की प्रकृति है।

तृतीय अध्याय में **श्येनचित्** का आत्मा, पुच्छ, सिर और पक्ष के चयन की विधि समझायी गयी है। पक्ष-विस्तार, इष्टकाचयन तथा प्रथमा एवं द्वितीया चिति का वर्णन भी यहीं किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में **वक्रपक्ष-व्यस्तपुच्छ-श्येनचित्** के निर्माणार्थ इष्टका-चयन के प्रकार, छह प्रकार की इष्टकाओं का विवरण, चिति के विविध रूपों का विवरण, दो प्रकार की **वक्रपक्ष-श्येनचित्** के प्रस्तारों का निरूपण, **कङ्कचित्, अलजचित्, प्रउगचित्** तथा **उभयतःप्रउगचित्** वेदियों के चयन का वर्णन किया गया है।

पञ्चम अध्याय में **रथचक्रचित्, साररथचक्रचित्** वेदियों के निर्माण, नाभि के विभाग, नाभि के अन्तर्गत मण्डल-निर्माण, नेमि-विभाजन, अर-विभाजन तथा **रथचक्रचित्** के लिये सोलह प्रकार की इष्टकाओं का विधान उपलब्ध होता है (५, ३८)।

षष्ठ अध्याय में मूँठ-सहित (सत्सरु) **द्रोणचित्** का विवरण तथा इसकी विभिन्न चितियों में इष्टका-करण का विधान किया गया है। **द्रोणचित्** का आत्मा चतुरस्र होता है।

सप्तम अध्याय में **द्रोणचित्** के ही एक और प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। समचतुरस्र के मण्डल में परिवर्तन, विविध चितियों में नौ प्रकार की

इष्टकाओं के प्रयोग का विधान किया गया है। अन्त में परिचाय्य अग्नि के चयन का विधान है।

अष्टम अध्याय में श्मशानचित् अग्नि के चयन के विवरण के उपरान्त प्रउग तथा उभयतःप्रउग-चित् अग्नियों के दस भागों में विभाजन का विधान किया गया है, जिससे २० त्रिभुज बन जायेंगे। यह अग्निक्षेत्र का परिमाण है और उसका १५ समचतुरस्र भागों में विभाजन, तथा अग्नि की ऊँचाई में वृद्धि करने के उपाय तथा पञ्चचितियों का वर्णन किया गया है।

नवम अध्याय में **कूर्मचित्** के चयन का विधान है, जो ब्रह्मलोक की विजय का इच्छुक किया करता है। **कूर्मचित्** में कूर्म भी दो प्रकार बनाया जाता है—वक्राङ्ग तथा परिमण्डलाकार। इसके लिये अनेक प्रकार की इष्टकाओं का विधान किया गया है। सिर के निर्माणार्थ विशेष प्रकार की इष्टकाओं का प्रयोग किया जाता है।

दशम अध्याय में द्वितीय प्रकार की **कूर्मचिति** का वर्णन है। इसी में आश्वमेधिक अग्नि के चयन के विषय में भी सङ्केत दिया गया है (१०, १९-२०)।

इस प्रकार दस अध्यायों का विषय संक्षेप से दे दिया गया है। कुल मिलाकर १२ काम्य अग्नियों के चयन का विधान यहां किया गया है।

हम कह चुके हैं कि बौधायन शुल्ब-सूत्र बौधायन-कल्प का अंग होने के कारण श्रौत और गृह्य सूत्रों की समकालिक रचना है[1] और यह कल्प आपस्तम्बीय कल्प से शताब्दियों प्राचीन है[2]। आपस्तम्ब० का काल यदि ७०० ई० पू० भी माना जाए तो बौधायन का काल १०००-९५० ई० पू० के मध्य में होना चाहिये। यह न्यूनातिन्यून मानना चाहिये। डा० गोरख प्रसाद ने ज्योतिष के आधार पर बौधायन० का काल १३३० ई० पू० निर्धारित किया है[3]।

व्याख्याएं :—१. द्वारकानाथ यज्वा कृत व्याख्या इनके विषय में अधिक कुछ भी ज्ञान नहीं। केवल इतना कह सकते हैं कि यह प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् आर्यभट्ट से अर्वाचीन हैं, क्योंकि इन्होंने उसके एक सिद्धान्त का निर्देश किया है और उसमें अपना संशोधन प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार π का मूल्य आधुनिक गणना के अनुरूप ३,१४१६ ही सिद्ध होता है। द्वारकानाथ यज्वाकृत इस व्याख्या का नाम **शुल्ब-दीपिका** है।

---

१. द्र० बूह्लर, एस० बी० ई०, १४, पृ० XXXI.

२. बूह्लर, एस० बी० ई०, २, पृ० XXII.

जे० आर० ए० एस०, १९३६, पृ० ४१८ एवं आगे।

२. वेङ्कटेश्वर दीक्षित की व्याख्या का नाम **शुल्ब-मीमांसा है** जो उपर्युक्त यज्वा की व्याख्या से अर्वाचीन है।

संस्करण :—१. थीबो सम्पादित, द्वारकानाथ यज्वा-कृत शुल्ब-दीपिका, आंग्लानुवाद तथा टिप्पणियों-सहित, पण्डित, वाराणसी, १८७५-७७।

२. सत्यप्रकाश तथा रामस्वरूप शर्मा, उपर्युक्त की द्वितीय आवृत्ति, १९६८, नई दिल्ली।

मानव शुल्व सूत्र

मानव शुल्ब-सूत्र मानव श्रौतसूत्र का अंग है और गद्यपद्यात्मक रचना है। यह तीन भागों में विभक्त है—(१) शुल्ब (२) उत्तरेष्टक तथा (३) वैष्णवम्। शुल्ब-भाग में शुल्ब का स्वरूप, आयाम, दर्शपूर्णमास की वेदि का परिमाण, सरल रेखा पर मण्डल का निर्माण, **आहवनीय, गार्हपत्य** तथा **दक्षिणाग्नि** के खरों के परिमाण पर विचार किया गया है।

आहवनीय २४ अंगुल की समचतुरस्र होती है, **गार्हपत्य** $१३\frac{३}{३}$ या $१३\frac{५}{६}$ अंगुल के व्यासार्ध की मण्डलाकार तथा **दक्षिणाग्नि** $१९\frac{१}{२}$ अंगुल के व्यासार्ध के अर्धमण्डल के आकार की होती है। **चरकरथवेदि** के परिमाण भी यहीं दिये गये हैं, जो ऐन्द्राग्न पशुयाग में काम आती है। इसकी ईषा=१८८ अंगुल, तिर्यक् अक्ष=१०४ अंगुल, और युग=८६ अंगुल होता है।

इसके अनन्तर **पाशुकी, पाकयाज्ञिकी, मारुती, वारुणी** वेदियों तथा **पैतृकी वेदि** का निर्देश किया गया है, जिनमें से **मारुती, वारुणी वेदियों** का उल्लेख[1] सर्वथा नवीन है और बौधायन० तथा आपस्तम्ब० में नहीं पाया जाता।

प्राग्वंश १० अरत्नियों (२४×१० अंगुलियों) का समचतुरस्र होता है, जिसके **अन्तर्गत** पत्नीशाला ४ अरत्नि की समचतुरस्राकार बनायी जाती है। **प्राग्वंश** से पूर्व की ओर तीन प्रक्रमों (९० अंगुल) की दूरी पर **महावेदि** का पश्चिमी छोर होता है तथा इससे और पूर्व को एक प्रक्रम की दूरी पर २७×९ अंगुलियों के दीर्घ चतुरस्राकार **'सदस्'** का पश्चिमी छोर होता है[2]। **सदस्** के पूर्व की ओर चार प्रक्रमों पर **हविर्धान** का पश्चिमी छोर होता है। **हविर्धान** १२ अरत्नि (या '१२ प्रक्रम'—शिवदास) का समचतुरस्रागार होता है जिसमें हवि लाने के लिये दो शकट

---

१. मानव शुल्बसूत्र (मानव श्रौतसूत्र) १०, १, २, ५।

२. व्याख्याकार शिवदास के अनुसार यह दूरी ३ प्रक्रम की होती है।

रखे जाते हैं। **हविर्धान** से ५ १/२ प्रक्रम पूर्व की ओर '**उत्तरवेदि**' होती है, जिसके पूर्व में यूप गाड़ा जाता है। **हविर्धान** के ठीक उत्तर में ६ अरत्नियों का समचतुरस्र **आग्नीध्रागार** होता है। और दक्षिण में मार्जालीय धिष्ण्या।

इस विषय में यह जानना लाभदायक होगा कि विभिन्न शुल्ब-सूत्रों में **प्रक्रम** के भिन्न-भिन्न परिमाण माने गये हैं। स्वयं मानव शु० सू० में ही विभिन्न स्थितियों में इसके विषय में विभिन्न विचार व्यक्त किये गये हैं। कहीं पर तो इसे ४६ ७/८ अंगुल[1] माना गया है। अन्यत्र[2] जहां **रथचक्र** १०४ अंगुल का है, वहां प्रक्रम ५० अंगुल का माना गया है। अन्यत्र यह ५५ अंगुल का भी होता है[3] तथा १६ अंगुल का भी[4]। मैत्रायणीय शुल्वसूत्र के भाष्यकार शङ्कर ने इसे ४७ १/३ अंगुल माना है। बौधा० शु० सू० (१, १५) के अनुसार यह तीस अंगुल का होता है। किन्तु इस प्रसंग में इसे ५० १३/२४ अंगुल माना गया है[5]।

अन्य माप-परिमाणों के विषय में भी इस सूत्र का बौधायन से भेद है। **यथा**— छह कमल-नाल-तुण्ड = १ त्रिवर्षीय बछड़ी का बाल।

३ ऐसे बाल	=	१ सर्षपार्ध (सर्षप ?)[6]।
५ सर्षप	=	१ यव ('यवः पञ्च तु सर्षपाः' (कर्काचार्य, का०शु० भाष्य, कारिका २३)।
६ यव	=	१ अंगुल।
१० अंगुल	=	१ प्रादेश (बौधायन० = १२ अंगुल)।
१२ अंगुल	=	१ वितस्ति (बौधायन० में नहीं—इसे 'प्रादेश' कहा है)।
२ वितस्ति	=	१ अरत्नि या शय (= २४ अंगुल)।
४ शय	=	१ व्यायाम (= ९६ अंगुल)।

---

१. मा० शु० सू० १०, १, ३, ७।

२. मा० शु० सू० १०, १, २, १।

३. मा० शु० सू० ५, २, १२, ५।

४. मा० शु० सू० १०, ३, ४, ३।

५. मा० श्रौ० सू० १०, १, ३, ८ पर जे० एम० वान् गैल्डर की आंग्ल व्याख्या।

६. अनुवादक ने इसका अर्थ सर्षप (mustard) किया है। शिवदास का कथन है 'त्रिवालं सर्षपं विद्याद्यवं विद्यात्त्रिसर्षपम्'। किन्तु इस अर्थ के लिये पाठ 'सर्षपार्ध' उपयुक्त नहीं है (१०, १, ४, २-४)। किन्तु पाठ सर्षपार्ध ही हैं। और उसका अर्थ 'half-mustard seed' ही करना चाहिये (द्र० कर्क कृत श्लोक—कात्यायन शुल्ब भाष्य के अन्त में श्लोक २१)।

आगे चलकर 'वैष्णव' प्रकरण में पुनः परिमाणों की चर्चा की गयी है। वहां १२ अंगुल का **प्रादेश** स्वीकार किया गया है और दो प्रादेशों की एक अरत्नि या प्रक्रम[1]।

क्योंकि चितियों में 'अंगुल' यजमान का अंगुल होता है, अतः यदि यजमान दुर्बल या रुग्ण हो तो स्वाभाविक है कि प्रादेश १० के स्थान पर १२ अंगुल का हो जाये[2]।

उत्तरेष्टक प्रकरण में विविध अग्नियों के लिए इष्टकाओं के संख्या-भेद पर प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक प्रकार की इष्टका का उत्सेध (ऊंचाई) ½ अर्व[3] या छह अंगुल होता है। गार्हपत्य प्रभृति अग्नियों तथा धिष्ण्याओं के क्षेत्रफल तथा उनमें प्रयुज्यमान इष्टकाओं की संख्या का ब्योरा दिया गया है। सामान्य वेदि (सौमिकी) में रखी जाने वाली विविध वस्तुओं का ब्योरे वार वर्णन किया गया है[4]।

'वैष्णव' प्रकरण में वेदियों के विविध प्रमाण, चतुरस्र का परिमण्डल में परिवर्तन तथा परिमण्डल का चतुरस्र में परिवर्तन, **सौत्रामणी, सौमिकी**, **दार्शिकी** वेदियों के परिमाण तथा आकार, **गार्हपत्य** के दो प्रकार और उनमें प्रयुज्यमान इष्टकाओं के प्रकार, आग्नीध्र, मार्जालीय तथा होत्रीय, ब्राह्मणाच्छंसीय **धिष्ण्याओं में** इष्टकाओं का प्रयोग प्रभृति विषयों की चर्चा की गयी है। **श्येनचित्, अलजचित्** तथा **कङ्कचित्** वेदियों के पक्षों, पुच्छों तथा सिरों के परिमाणों की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उनमें प्रयुज्यमान इष्टकाओं के प्रकारों तथा संख्याओं का इनके क्षेत्रफलों के अनुरूप निरुपण किया गया है[5]।

प्रउग, उभयतः प्रउग के तिर्यक्, चतुरस्र (Rhombus) स्वरूप, क्षेत्रफल, इष्टकाचयन का निरूपण करके **समुह्यचित्, श्मशानचित्** तथा **द्रोणचित्** पर प्रकाश डाला गया है। यहां **द्रोणचित्** के त्सरु का परिमाण कुछ अधिक दिया गया है, जो वेदि के दशमभाग के तुल्य कहा गया है[6], जो ९८१८ वर्ग अंगुल होता है। बोधायन ने इसे ५६०० वर्ग अंगुल निश्चित किया है। **रथचक्रचित्** के मण्डल का क्षेत्रफल १०½ वर्ग पुरुष है। इसके निर्माण का विस्तृत वर्णन चार श्लोकों में किया गया

---

१. 'प्रक्रमोऽरत्निसमो भवेच्चितिषु' (१०,३,२,३), तु० वही १०,१,४,२-४।

२. मा० शु० सू० १०,३,२,१।

३. मा० शु० सू० १०,३,२,३; 'अर्वन्' स्पष्ट ही प्रादेश के तुल्य है (तु० १०,२,२,३); आपस्तम्ब० और बौधायन० में यह ६⅔ अंगुल कहा गया है (गैल्डर)।

४. मा० शु० सू० १०,२,३,१ तथा आगे, १०,२,४,१९ तक।

५. मा० शु० सू० १०, ३, ५।

६. मा० शु० सू० १०, ३, ६, ६।

है[1]। एक और प्रकार की **रथचक्रचिति** का भी निरूपण किया गया है, जो इससे त्रिगुणे क्षेत्रफल (३१½ वर्ग पुरुष) की होती है[2]। इसकी सभी दिशाओं का निर्माण त्रिकरणी के द्वारा √३ से किया जाता है। पूर्वोक्त **रथचक्र** की नेमि (७३ अंगुल) इसके अरों की चौड़ाई के बराबर होती है[3]। उसमें नेमि ७३ अंगुल की होती है और अरों की चौड़ाई ४३ अंगुल। अब इसके अरों की चौड़ाई ४३√३=७४ अंगुल होगी। इसकी नेमि ७३√३=१२६ अंगुल होती है। इसी प्रकार अन्य परिमाणों को भी समझना चाहिये।

इसमें **सुपर्णचित्** की भी चर्चा की गयी है[4], जो सर्वथा नवीन है। इसी प्रकार **मारुती-वारुणी** वेदियां भी यहीं निर्दिष्ट हैं, जो बौधायन० या आपस्तम्ब० में नहीं पायी जातीं। यह सूत्र अनेक स्थानों पर त्रुटित है तथा अस्पष्ट है। इसके अनेकानेक पाठ भ्रष्ट हैं, जिनके अर्थ दुर्बोध हो गये हैं।

इस सूत्र के तीन प्रकरणों या भागों के अन्तर्गत खण्डों का विभाजन इस प्रकार किया गया है—

शुल्व	=	४ खण्ड
उत्तरेष्टक	=	५ खण्ड
वैष्णवम्	=	७ खण्ड
कुल योग	=	१६ खण्ड

इस सूत्र की एक विशेषता यह है कि जहां बौधायन एवं आपस्तम्ब के शुल्व-सूत्रों में दिशा-ज्ञान का कोई उपाय नहीं बतलाया गया तथा कात्यायन शुल्व-सूत्र में तीन उपायों का वर्णन किया गया है, वहां मानव शुल्ब-सूत्र में चार प्रकार से दिग्ज्ञान करने का विवरण दिया गया है।

इसका प्रकाशन मानव श्रौतसूत्र के अंग के रूप में हुआ है। मानव श्रौत-सूत्र का आप०श्रौतसूत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण इनमें परस्पर बहुत अधिक साम्य है। अतः मानव शुल्व-सूत्र में भी आप० शु० सू० के साथ बहुत साम्य पाया जाता है। दोनों में से कौन-सा सूत्र अधिक प्राचीन है यह सिद्ध करना कठिन है, किन्तु परम्परा के अनुसार आपस्तम्ब प्राचीन माना जाता है। अतः मानव शुल्व-सूत्र को भी आप० शु० सू० से आर्वाचीन मानना ही उपयुक्त है।

इसे डा० जे० एम० वान् गेल्डर ने १९६१ में मानव श्रौतसूत्र के अंग के रूप में नई दिल्ली स्थित 'इण्टरनैशनल अकादमी आव् इण्डियन कल्चर' के तत्त्वावधान में प्रकाशित कराया है।

---

१. मा० शु० सू० १०, ३, ६, १५-१८।
२. मा० शु० सू० १०, ३, ७, १—'संक्षेपोक्तस्य विष्णुना'।
३. मा० शु० सू० १०, ३, ७, ३।
४. मा० शु० सू० १०, २, ४, ६।

इस पर नारदपुत्र शिवदास का भाष्य उपलब्ध है, जो केवल शुल्व सम्बन्धी भाग की ही व्याख्या करता है। विविध प्रकार की अग्नियों तथा इष्टकाओं का व्याख्यान नहीं करता। यह अभी तक अप्रकाशित है।

शिवदास ने कात्यायन शुल्बसूत्र के व्याख्याकार राम वाजपेयी के मत को उद्धृत किया है तथा सायण के मत का भी निर्देश किया है। राम वाजपेयी का काल १५वीं शती का मध्य हो सकता है। इसलिये शिवदास का काल १६वीं शताब्दी ई० सम्भव है। इस भाष्य का एक हस्तलेख १७वीं शती का 'एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल' में विद्यमान है।

आपस्तम्ब शुल्बसूत्र

आपस्तम्ब शुल्वसूत्र आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का अङ्ग है तथा आपस्तम्बीय कल्प का तीसवां प्रश्न है और अपने महत्त्व के कारण इसका स्थान कल्पसूत्रों में केवल बौधायन० के बाद आता है। कुछ एक विस्तृत वर्णनों तथा विकसित विवरणों के कारण इन शुल्व सूत्रों का ज्यामितिक मूल्य और भी बढ़ गया है। इस रचना का महत्त्व इसी से प्रमाणित होता है कि इस पर तीन पाण्डित्यपूर्ण व्याख्याएं इस समय भी उपलब्ध हैं। ये व्याख्याकार कर्पदिस्वामी, करविन्द तथा सुन्दरराज है, जो अपने समय के प्रकाण्ड रेखागणितज्ञ थे। विषय की प्रतिपादन-शैली तथा सामग्री के प्रस्तुतीकरण के ढंग से भी बौधायन० निश्चय ही आपस्तम्ब० से प्राचीन है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र प्रकरण में हम ने आपस्तम्ब का काल न्यूनातिन्यून ७०० ई० पू० माना है और क्योंकि आपस्तम्बकल्प सम्पूर्ण, अविच्छिन्न और परस्पर सम्बद्ध है, अतः शुल्वसूत्र को हम पश्चात्कालिक कृति कदापि नहीं मान सकते[1]।

इस शुल्बसूत्र में ६ पटल, २१ खण्ड तथा ४९८ सूत्र हैं जिनका व्योरा इस प्रकार है—

पटच	खण्ड	सूत्र	पटल	खण्ड	सूत्र	पटल	खण्ड	सूत्र
१	१	२१	३	८	२५	५	१५	२४
	२	२४		९	२४		१६	२९
	३	२२		१०	२८		१७	२१
२	४	२३	४	११	२४	६	१८	३२
	५	३१		१२	१२		१९	१७
	६	३६		१३	५६		२०	२०
	७	२६		१४	१८		२१	१५
							कुल योग	४९८*

१. बूहलर, एस० बी० ई० ३०, पृ० XXIII ; तथा एस० बी० ई० २, पृष्ठ XI-XIII.

* बिभूतिभूषणदत्त ने यहां सूत्र संख्या २२३ परिगणित की है जो अशुद्ध है (Vide Science of Śulba, p. ३)।

विषय-विवेचन—

प्रथम पटल में पारिभाषिक शब्दावलि पर प्रकाश डाला गया है। **विहार** या **विहारयोग** शब्द उस प्रत्येक वस्तु के लिये प्रयुक्त होते हैं, जो ज्यामितिक निर्माण में किसी भी प्रकार की सहायता करती हो। शुल्ब, वेणु (वांस का दण्ड) तथा शङ्कु से ही मापने के सभी कार्य सम्पन्न किये जाते थे। उत्तरकाल में लम्बसूत्र का प्रयोग किया जाने लगा, किन्तु शुल्व साहित्य में इसकी चर्चा नहीं की गयी। वेदि तथा उसके अनेक प्रकारों की चर्चा भी की गयी है। सामान्यतः वेदि मध्य में क्षीण होती थी। पृष्ठ्या-स्थापनार्थ तथा वेदि-निर्माणार्थ दिशा-ज्ञान आवश्यक था, किन्तु आपस्तम्ब ने एतद्विषयक सर्वथा शुद्ध तथा निर्दोष ज्ञान के लिए कोई उपाय नहीं बताया। व्याख्याकारों ने इस विषय में अनेक उपायों की चर्चा की है तथा कृत्तिका, चित्रा एवं स्वाति नक्षत्रों के निरीक्षण के द्वारा अथवा शङ्कुओं की छाया के निरीक्षण के सहारे दिग्-ज्ञान का प्रयास किया है। बौधायन के नियमानुसार विषमचतुरस्र को समचतुरस्र में परिवर्तित करने की विधि यहां भी समझायी गयी है। करण के ज्ञान के लिये वर्गमूल की आवश्यकता पड़ी तो २ का वर्गमूल निकालने की विधि भी समझायी गयी है। इस वर्गमूल को यहां **सविशेष** की संज्ञा दी गयी है जिसका मूल्य १.४१४२१५६ आंका गया है। वेदि के अंस और श्रोणि का लक्षण भी बताया गया है। **द्विकरणी** (समचतुरस्र) का **करण** जिस पर बनाए गए समचतुरस्र का क्षेत्रफल मूलसमचतुरस्र से द्विगुण होता है और जिसकी लम्बाई √२ सविशेष के तुल्य होती है एवं **त्रिकरणी** (जो १×√२ भुजाओं वाले विषम चतुरस्र की करणी होती है, जो √३ के तुल्य होती है) के लक्षणों को भी यहीं समझाया गया है। दो विभिन्न क्षेत्रफल वाले समचतुरस्रों के क्षेत्रफल के समान क्षेत्रफल वाले एक समचतुरस्र, बड़े से छोटा चतुरस्र, विषम चतुरस्र से समचतुरस्र तथा इसका विपर्यास, समचतुरस्र से मण्डल तथा इसका विपर्यास, इन सबके निर्माण के नियम दिये गये हैं, जो बहुधा बौ० शु० सू० के नियमों के समान ही हैं।

द्वितीय पटल में विविध प्रकार की वेदियों की चर्चा की गयी है। **गार्हपत्य, दार्शिकी, पैतृकी** (यजमान-मात्री) तथा **सौमिकी**—इन सबका वर्णन किया गया है। यहां विचित्र बात यह है कि **गार्हपत्य** तथा **आहवनीय** के मध्य की दूरी भिन्न-भिन्न जातिओं के लिये भिन्न-भिन्न विहित है। ब्राह्मण के लिये आठ प्रक्रम, राजन्य के लिये ११ प्रक्रम, वैश्य के लिये १२ प्रक्रम। प्रक्रम तीस पद का या ४५० अंगुल का होता है (आप०शु०सू० ५,१)। बौधायन० ने ऐसा कोई नियम नहीं बनाया। आपस्तम्व० और बौधा० का यह अन्तर उनके कालगत या देशगत अन्तर के कारण है। यही जाति-भेद-प्रवणता आप० धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में भी प्रतिबिम्बित होती है[1]।

---

१. ४,२-४ ; द्र० बूह्लर, एस० बी० ई० १४, पृ० XXXVIII ; किन्तु अगले ही सूत्र में आपस्तम्व ने सामान्य दूरी २४ प्रक्रमों की निश्चित कर दी है। अतः इस विषय में आपस्तम्ब का कोई आग्रह प्रतीत नहीं होता। सम्भव है वह किसी अन्य प्रचलित मत की चर्चा कर रहे हों।

वेदि पर **गार्हपत्य, आहवनीय** तथा **दक्षिण** अग्नियों के स्थानों का निर्धारण श्रुति के अनुसार (श्रुतिसामर्थ्यात्) किया गया है। **दार्शिकी** वेदि को क्षीणमध्या योषा का रूप देने का विधान किया गया है। **सौमिकी** वेदि के अंसों तथा श्रोणियों के निर्धारण का प्रकार बताया गया है। **महावेदि** का परिमाण ९७२ पद होता है। **द्विकरणी, त्रिकरणी, तिर्यङ्मानी, पार्श्वमानी, पृष्ठ्या,** सबका परिमाण निर्धारित किया गया है। **सौत्रामणी** की वेदि का क्षेत्रफल प्रायः ३२४ पद निश्चित किया गया है। **निरुढपशुबन्ध** याग के लिये रथचक्रचित् का विधान है जिसका पश्चात् (पश्चिमी) भाग रथाक्ष (१०४ अंगुल) के तुल्य होता है, प्राची भुजा ईषा (१८८ अंगुल) के परिमाण की तथा अग्रभुजा विपथयुग के परिमाण की होती है। **चारणरथचित्, पैतृकी** वेदि (यजमान मात्री) तथा **सौमिकी** वेदि के परिमाणों का वर्णन किया गया है। यजमान की लम्बाई ८६ अंगुल मानी जाती है। कभी-कभी **पैतृकी** वेदि पुरुष-परिमाण या १२० अंगुल की भी होती है। **सदस्** वेदि की **तिर्यङ्मानी** नौ अरत्नि अर्थात् (२४×९) २१६ अंगुल तथा **पार्श्वमानी** २७ अरत्नि (२४×२७) अर्थात् ६४८ अंगुल होती है। एक और पक्ष के अनुसार **पार्श्वमानी** १८ अरत्नि ही होती है।

गार्हपत्यचिति का परिमाण एक व्यायाम अर्थात् ४ अरत्नि होता है (=९६ अंगुल)। यह चतुरस्र भी होती है और परिमण्डलाकार भी। इसकी प्रथमाचिति के ऊपर द्वितीया चिति के लिये इष्टकाएं व्यत्यास क्रम से चिनी जाती हैं, जिससे प्रथमाचिति और तृतीयाचिति तथा द्वितीया और चतुर्थी चिति का इष्टका-चयन समान प्रकार का होता है। जोड़ पर जोड़ न आने के कारण वेदि सुदृढ़ हो जाती है।

धिष्ण्यों का परिमाण १ 'पिशील' (१ बाहु) होता है और ३६ अंगुल भी। **आग्नीध्रीय** या **आग्नीध्रागार** १४४ अंगुल लम्बी शाला होती है, जहां अग्नि प्रज्वलित की जाती है। इसे नौ भागों में विभक्त करके केन्द्रीय भाग में एक पत्थर रखा जाता है। धिष्ण्यों में रखी जाने वाली इष्टकाओं की संख्या १२, १६, २१ तथा २४ होती है।

तृतीय पटल में श्रुति[1] के अनुरूप ही निर्णय किया गया है कि अग्नियां पक्षी के आकार की हैं। अग्नि (वेदि) के आत्मा का क्षेत्रफल चार वर्गपुरुष होता है, दक्षिण पक्ष का एक पुरुष, उत्तर पक्ष का एक पुरुष, पुच्छ का एक पुरुष। इस प्रकार पक्षी रूपी अग्नि का समस्त क्षेत्रफल सात वर्ग-पुरुष का होता है। यह पक्षी यहां श्येन ही है। और अग्नि का रूप उड़ते हुए श्येन की छाया के अनुरूप बनाया जाता है। दोनों पक्ष एक-एक अरत्नि लम्बाई में बढ़ाए जाते हैं और पुच्छ प्रादेश (१२ अंगुल)

---

१. 'सुपर्णोऽसि गरुत्मांस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ' (वा० सं० १२,४)।

या वितस्ति मात्र (१३ अंगुल) पीछे की ओर बढ़ाई जाती हैं। यह वेदि सौ पुरुष-परिमाण तक ही हो सकती हैं। इस वेदि के अंसों ओर श्रोणियों के निर्माण की विधि समझाकर इष्टका बनाने के विविध प्रकार के सांचों (करणों) का विवरण दिया गया है। सामान्य इष्टका २४ अंगुल समचतुरस्र होती है। अध्यर्ध ३६×२४ अंगुल, अर्ध=२४×१२ अं०; चतुर्थ प्रकार की १२×१२ अं०; पञ्चम प्रकार की 'पञ्चदशभागीय'=८×८ अं०; षष्ठ प्रकार 'पञ्चमभागीय'=२४×२४ अं०। इष्टका की मोटाई ६ अंगुल १३ तिल (जानु का पञ्चम भाग=३२/५ अंगुल) होती है। ये पांच प्रकार की इष्टकाएं महावेदि के लिए होती हैं। **नाकसद्** और **पञ्चचूड** इष्टकाओं की मोटाई जानु का दशम भाग ३२/१० अंगुल (३ अंगुल ७ तिल) होती है। जो जनिष्यमाण भ्रातृव्यों का नाश चाहता है, उसे **उभयतःप्रउग-चित्'** का निर्माण करना चाहिये, जिसका आकार तिर्यक् समचतुरस्र और क्षेत्रफल ७½ पुरुष होता है। भातृव्यों के नाश का इच्छुक यजमान अपनी इष्ट-सिद्धि **रथचक्रचित्** से भी कर सकता है। इसका निर्माण ७½ पुरुष क्षेत्रफल वाले मण्डल के अन्तर्गत निर्मित समचतुरस्र आकार का किया जाता है; तथा मण्डल की चारों प्रधियों को विविध प्रकार की इष्टकाओं से पाट दिया जाता है। समचतुरस्र के अन्तर्गत १२ अंगुल करणी की इष्टकाएं लगाने का विधान है।

द्रोणचित् दो प्रकार की होती हैं—समचतुरस्र तथा मण्डलाकार। किन्तु 'गुणशास्त्र' के अनुसार ये समचतुरस्र ही गुणकारिणी होती हैं[1] तथा पिछले भाग ('पुच्छस्थाने') में एक मूठ (त्सरु) लगाई जाती है जो पूरी वेदि के दशमभाग की होती है। इसकी करणी में **द्वादशिका** इष्टकाएं लगायी जाती हैं[2]। **द्रोणचित्** की चार चितियां होती हैं और प्रत्येक में २०० चतुरस्र इष्टकाएं लगती हैं।

समुह्यचिति का विधान पशुकाम के लिये किया गया है। यह वेदि अन्य सामान्य वेदियों के समान आकार की ही होती है, केवल इष्टकाव्यवस्था का अन्तर होता है। इसमें **चात्वाल** चारों दिशाओं में होते हैं। 'ग्राम-काम' को **परिचाय्यचिति** का चयन करना चाहिये। इसमें मध्यमा परिमण्डलाकार वेदि को तो **स्वयमातृण्णा** इष्टकाओं से भरा जाता है और इसके चारों ओर विविध प्रकार की इष्टकाएं लगायी जाती हैं। ग्रामकामी को अपनी इष्ट-सिद्धि **उपचाय्य** वेदि से भी हो सकती है, जिसमें भी इष्टकाओं का 'व्यत्यास' किया जाता है[3]।

---

१. 'गुणशास्त्र' हमें बताता है **'द्रोणे वा अन्नं भ्रियते'** और अन्न भरने वाला द्रोण समचतुरस्र ही बनाया जाता था (कपर्दिस्वामी १२,११)।

२. 'द्वादशिका' का परिमाण १९ अंगुल ½ तिल×२६ अंगुल १ तिल होता है।

३. **समुह्य** और **परिचाय्य** तथा **उपचाय्य** का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है (पा० ३,१,१३१)।

'पितृलोक' के इच्छुक व्यक्ति को **श्मशानचिति** का निर्माण करना चाहिये, जो दो प्रकार की होती है—'समचतुरस्र' तथा 'परिमण्डल'। किन्तु समचतुरस्र ही बनानी चाहिये। इसमें भी **द्रोणचिति** के प्रयोग इसी नाम की वेदियों में होता है। वस्तुतः ये माप सांचों के या कच्ची ईण्टों के बताये गये हैं। पकने पर ये कुछ सिकुड़ जाती हैं। उस त्रुटि की पूर्ति पुरीष (पलस्तर) से की जाती है। इसके अनन्तर वेदि के विभिन्न अवयवों पर विभिन्न प्रकार की इष्टकाओं के चयन का विधान किया गया है। प्रथम बार अग्निचयन करने वाले को जानुदघ्नी वेदि बनानी चाहिये, जिसके निर्माण में एक सहस्र इष्टकाएं व्यय होती हैं। द्वितीय बार नाभिदघ्नी वेदि होनी चाहिये, जो दो सहस्र इष्टकाओं से बनती है (द्विषाहस्री); तृतीय बार आस्यदघ्नी, जिस पर तीन सहस्र इष्टकाएं लगती हैं (त्रिषाहस्री)। इसी प्रकार इष्टकाओं की संख्या बढ़ती जाती है। स्वर्ग की कामना करने वाले को महान्, बृहत् एवं अपरिमित अग्नि का चयन करना चाहिये। एक बार बड़ा अग्नि-चयन करके फिर छोटा नहीं करना चाहिये।

चतुर्थ पटल में समचतुरस्र इष्टकाओं से निर्मित वेदियों का वर्णन किया गया है जो एक पाद (१५ अंगुल)[1] अरत्नि (१/५ पुरुष), **ऊर्वस्थि** (१/६ पुरुष) तथा अनूक (१/८ पुरुष) परिमाण हो सकती हैं। तदनन्तर इन ईटों के लगाने के स्थानों का ब्योरा दिया गया है। अग्नि रूपी श्येन के पक्षों, पुच्छ प्रभृति स्थानों पर विविध इष्टकाएं लगाने के बाद भी २०० की संख्या पूरी नहीं होती। अग्नि के आत्मा पर १४ पादेष्टकाओं के लिए स्थान शेष रह जाता है. जिनके लगाने का विशेष विधान है। प्रथम दो प्रस्तारों में पञ्चमभागीय इष्टकाओं का ही बाहुल्य होता है। प्रथम प्रस्तार के आत्मा पर २१ '**विशय**' तथा द्वितीय में १४ '**पादेष्टका**' लगाई जाती हैं। फिर भी स्थान रिक्त रहता है, उसे ६ पादेष्टकाओं से ही पाटा जाता है।

काम्याग्नियों के अन्तर्गत **प्रउग** तथा **उभयतःप्रउग** चितियां हैं। भ्रातृव्य के नाशार्थ प्रउग-चित् का विधान है तथा जो जात और जनिष्यमाण दोनों प्रकार के भ्रातृव्यों के नाशार्थ **उभयतःप्रउग** चिति का विधान किया है। इसमें त्सरु भी लगाया जाता है। अन्य कामनाओं के लिये अन्य चितियों का विधान किया गया है। 'पशुकामी को '**छन्दश्चिति**' का निर्माण करना चाहिये। जिसमें इष्टकाओं के स्थान पर छन्दों का प्रयोग किया जाता हैं।

पञ्चम पटल में श्येनचिति का वर्णन किया गया है जो 'स्वर्गकाम' के लिये विहित है। जैसाकि बौधायन शुल्ब में कह चुके हैं यह उड़ते हुए श्येन की

---

१. सम्भव हो यहां पाद १/४ वेदि हो। तु. **तत्र यथाकामी शब्दार्थस्य विशयित्वात्** (११,९)।

छाया के आकार की होती है और उसके समान ही 'वक्रपक्ष-व्यस्त-पुच्छ' बनायी जाती है। इसका क्षेत्रफल ७½ पुरुष होता है। यदि पूरी वेदि का क्षेत्रफल १२० इकाईयां हो तो उनमें इस प्रकार अंग विभाग किया जाता है—सिर=४; शरीर=२६; पुच्छ=१५; दोनों पक्ष ७५ (३७½×२)।

इसमें इष्टकाओं के विविध 'करणों' का विवरण दिया गया है।

षष्ठ पटल में **श्येनचिति** ही का विवरण चलता रहता है जिसमें विविध प्रकार की इष्टकाओं का उल्लेख किया गया है। यथा—

अर्धेष्टका=३०×३०×३०√२ (=४२ अंगुल १४½ तिल) अंगुल। यह त्रिभुजाकार होती है।

पादेष्टका=(त्रिभुजाकार)=३०×३०√२/२ (२१ अंगुल ७½ तिल)×३० √२/२ (२१ अंगुल ७½ तिल)।

षोडशी=(चतुर्भुज)=१५×४५×३०×३०√२ (४२/१४½ तिल)

पक्षेष्टका=(चतुर्भुज)=३०×३०×१७ अंगुल ५ तिल×१७/५

पक्षमध्यीया=(चतुर्भुज)=३०×३०×१७/५×१७/५

पक्षाग्रीय=(त्रिभुज)=३०×४७/५×५९/२१

श्येनचिति का वर्णन बीसवें खण्ड के अन्त में समाप्त होता है। २१ वें खण्ड में कङ्कचित् और **अलजचित्** का वर्णन किया गया है। यह भी पक्षियों के आकार की होती हैं और इनका परिमाण **श्येनचिति** के अनुरूप ही होता है। किन्तु इसके सिर नहीं बनाए जाते। **कङ्कचित्** का सिर वह बनावे जो उस लोक में सिर समेत पुनः उत्पन्न होना चाहे[1]।

यह सब होते हुए भी आप० शु० सू० के नियम बौधायन० से संक्षिप्त और कम ब्योरे वार हैं। आप० शुल्ब सू० का निर्माण आपस्तम्ब कल्प के अन्य अंगों के साथ ही कम से कम ७०० ई०पू० में हुआ है।

व्याख्याएं :—इस पर कपर्दिस्वामी का भाष्य तथा करविन्द और **सुन्दरराज** की व्याख्याएं उपलब्ध हैं और प्रकाशित हो चुकी हैं। कपर्दिस्वामी का भाष्य पर्याप्त प्राचीन है। डा० सत्यप्रकाश ने इसका नाम 'शुल्बाख्य' समझ लिया है[2] जो सर्वथा अयुक्त है।

रामनुजाचार्य (११वीं शती) ने कपर्दिस्वामी का नामोल्लेख किया है, अतः यह निश्चय है कि वह ११वीं शती से पूर्व ही ख्याति प्राप्त

१. **"कङ्कचितं शीर्षण्वन्तं चिन्वीत यः कामयेत सशीर्षोऽमुष्मिन् लोके सम्भवेयम्"** इति।

२. द्र. भूमिका पृ० २१५।

कर चुके थे। शूलपाणि (११५० ई०) तथा हेमाद्रि (१२७० ई०) ने भी इनके मत को उद्धृत किया है। **करविन्द** की व्याख्या का नाम 'शुल्व-प्रदीपिका' है। इनके व्यक्तित्व तथा जीवन के विषय में कोई सूचना नहीं हैं। तो भी यह आर्यभट (४९९ ई०) से अवश्य अर्वाचीन हैं, जिनकी रचना का निर्देश इन्होंने किया है।

सुन्दरराज की व्याख्या का नाम 'शुल्व-प्रदीप' है। यह कुशिक गोत्र के थे। इनके पिता का नाम माधवाचार्य था जो महान् याज्ञिक थे। यह सूचना इनके अवतरण श्लोक में ही दी गयी है। इन्होंने बौ० शु० सू० के व्याख्याकार द्वारकानाथ यज्वा के कई वाक्यों को उद्धृत किया है। १५८२ ई० का हस्तलेख प्राप्त है।

संस्करण :—१. गार्बे, बि० आइ० (१८८२-१९०२)—आप० श्रौ० सू० के अन्त में प्रकाशित।

२. डी० श्रीनिवासाचार तथा विद्वान् एस० नरसिंहाचार, मैसूर; १९३१; केवल शुल्वसूत्र; तीन व्याख्याओं सहित।

३. सत्यप्रकाश एवं रामस्वरूप द्वारा पुनः प्रकाशित, सन् १९६८, नई दिल्ली। ये व्याख्यायें आंग्लानुवाद तथा टिप्पणियों से समन्वित होने के कारण बहुत उपयोगी हैं।

इसका अनुवाद बुर्क (Bürk) ने भी किया है।

हिरण्यकेशि (या सत्याषाढ) शुल्बसूत्र

कृष्ण यजुर्वेद की हिरण्यकेशीय अथवा सत्याषाढीय सौत्र शाखा के शुल्व-सूत्र सत्याषाढीय कल्प का अंग है जिसका एक उद्धरण आपस्तम्वीय शुल्बसूत्र में भी पाया जाता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हिरण्यकेशीय या सत्याषाढीय शुल्व-सूत्र आप० शु० सू० से प्राचीन है। वस्तुस्थिति यह है कि तथाकथित हिरण्यकेशीय या सत्याषाढीय शुल्वसूत्र आपस्तम्व शुल्व का ही नामान्तर है। दोनों में कोई भेद नहीं है।

कात्यायन शुल्बसूत्र

शुक्ल यजुर्वेदीय कात्यायनीय शाखा से सम्बद्ध 'कात्यायन शुल्व-सूत्र' या 'कात्यायन (या कातीय) शुल्ब परिशिष्ट' है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग सूत्रात्मक

---

१. द्र. भूमिका, पृ० २१५।

है जिसमें छह कण्डिकाओं के अन्तर्गत १०२ सूत्र हैं। विभूतिभूषणदत्त ने यहां सात कण्डिकाओं के अन्तर्गत ९० सूत्रों का उल्लेख किया है जो विचारणीय है।[1] कर्क तथा महीधर दोनों के भाष्य छहों कण्डिकाओं के १०२ सूत्रों पर ही पाये जाते हैं। द्वितीय भाग कारिकात्मक है जिसमें शुल्बसूत्र में वर्णित विषयों का श्लोकों में संग्रह किया गया है। इस संग्रह के भी दो संस्करण हैं। अतः 'परिशिष्ट' की संज्ञा से इसे अभिहित करना अधिक संगत है[2]। एक कर्काचार्य द्वारा अपने शुल्व भाष्य के अन्त में सङ्कलित है और द्वितीय महीधर द्वारा अपने शुल्व भाष्य के अन्त में। यद्यपि दोनों संग्रहों का विषय एक है और अधिकांश श्लोक भी समान हैं, तो भी दोनों की क्रम-व्यवस्था तथा पाठ-भेद में बहुत अधिक अन्तर है। कर्काचार्य के संग्रह में ४० श्लोक हैं किन्तु महीधर ने ४३ श्लोक गिने हैं। विद्याधर गौड की वृत्ति में श्लोक संख्या ३९ ही है। इण्डिया आफ़िस की प्रति में ४८ श्लोक हैं।

कात्यायन शुल्ब-सूत्र में वर्णित विषयों का विवरण इस प्रकार है :—

प्रथम कण्डिका—प्राची-उदीची दिशाओं के निश्चय के उपाय, वेदि के अंसों और श्रोणियों का निर्धारण, **निरञ्छन** का स्वरूप-निरूपण, **प्राग्वंश**, वेदि, शाला, **सदस्** प्रभृति के मानों का निश्चय, **गार्हपत्य** तथा **आहवनीय** के मध्य में **दक्षिणाग्नि** के स्थान का निर्धारण तथा उत्कर के दो स्थानों का निर्देश।

द्वितीय कण्डिका—रथमात्री उत्तर-वेदि के ईषा, अक्ष तथा शम्या के प्रमाणों का निश्चय किया है जो मानव-शुल्व सूत्र में दिये गये प्रमाणों के सर्वथा समान हैं। इसके अनन्तर **पितृमेधिकी** वेदि के निर्माण की विधि समझायी गयी है। तदनन्तर दशपदा **उत्तरवेदि**, ४४ पद की उत्तरवेदि, शम्यामात्री तथा युगमात्री उत्तरवेदि के प्रमाण तथा निर्माण की विधि का निरूपण किया गया है। क्षेत्र के द्विगुण, त्रिगुण, तृतीयांशकरण, त्रिभागकरण की विधियां भी यहीं निर्दिष्ट हैं। तुल्य-प्रमाण समचतुरस्रों, नाना-प्रमाण समचतुरस्रों के एकीकरण, तथा महत् क्षेत्र से लघु क्षेत्र के पृथक् करण, दीर्घचतुरस्र से समचतुरस्र के निर्माण की विधियां।

तृतीया कण्डिका—तुल्य-प्रमाण-चतुरस्रों तथा विषम-प्रमाण चतुरस्रों के एकीकरण, सम तथा विषम चतुरस्रों से दीर्घ चतुरस्रों के निर्माण की विधियों का विधान विस्तार से किया गया है। क्षेत्रफल के ज्ञान के उपायों, चतुरस्र के वर्तुलीकरण, वर्तुल के चतुरस्रीकरण के उपाय भी यहीं समझाये गये हैं।

चतुर्थी कण्डिका— द्रोणचिति, रथचक्रचिति, कङ्कचिति, प्रउगचिति, उभयतः-प्रउगचिति, समूह्य पुरीषचिति— इन सबका सामान्य सा परिचय दिया

---

१. Vide, The Science of Śulba, p. 4.

२. विभूतिभूषणदत्त, The Science of Śulba, पृ० ५।

गया है। द्रोणचिति की विशेषता उसके पक्षों और पुच्छ में निहित है। पक्षपुच्छ-सहित क्षेत्रफल (७½ पुरुष) का समचतुरस्र बनाकर उसके दशम भाग के 'वृत्ताकार' बनाने का विधान किया गया है। जिसे अन्यत्र 'त्सरु' कहा गया है। **प्रउग-चिति** तथा **उभयतः-प्रउगचिति** के त्रिकोणों के समचतुरस्रीकरण के उपाय भी समझाये गये हैं।

पञ्चमी कण्डिका—प्रत्येक बार अग्निचयन में क्षेत्रफल में वृद्धि का विधान बौधायन० तथा आपस्तम्ब० में किया ही गया है। यहां भी १०१ विध पुरुष पर्यन्त वृद्धि का विधान किया गया है। आश्वमेधिक अग्नि में २१ विध पुरुष परिमाण की चिति का विधान किया गया है। स्वाभाविक है कि 'पुरुष परिमाण' की वृद्धि होने पर इष्टकाओं में वृद्धि करनी ही पड़ेगी।

षष्ठी कण्डिका—किन्तु **गार्हपत्य** और उसके पूर्व भाग में स्थित तीन प्रक्रम परिमाण के '**अन्तःपात्य**' नामक भूखण्ड में द्वितीय तृतीय प्रभृति चयनों में कोई वृद्धि नहीं की जाती (६, ६)। किन्तु **यूपैकादशिनी** वेदि में वृद्धि का विधान है। इसे **शिखण्डिनी** वेदि कहते हैं। क्योंकि ग्यारह यूप वेदि के पूर्वी छोर पर मोर-पंखों के समान फैले हुए दिखायी देते हैं। इस शुल्वसूत्र में विविध वेदियों में इष्टकाओं की संख्या, क्रम तथा व्यवस्था की कोई चर्चा नहीं की गयी है। किन्तु वेदि-निर्माण के समस्त आवश्यक रेखागणितीय नियमों का वर्णन किया गया है। शुद्ध शुल्व-विधानों की ही चर्चा की गयी है। न ही काम्य इष्टियों से सम्बद्ध वेदियों का वर्णन किया गया है क्योंकि कात्यायन श्रौत सूत्र के सत्रहवें अध्याय में इनका वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

श्लोकात्मक भाग में मापने वाली रज्जु (शुल्व), शङ्कु, मुद्गर, के लक्षणों, वेदि निर्माता के गुणों, तथा कर्त्तव्यों तथा कठिनाइयों का विवरण, तथा सूत्र भाग में वर्णित विषयों का श्लोकों में संग्रह किया गया है।

का० शु० सू० की विशेषता इसके **प्राची**-साधन के विविध उपाय हैं। बौ० शु० सू० तथा आप० शु० सू० में उपायों की चर्चा नहीं की गयी। उन्हें मान लिया गया है। इस पर पांच टीकाएं उपलब्ध है—

(१) कर्काचार्य-कृत शुल्व-भाष्य— इसके अन्य भाष्यों के समान ही संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित है। हेमाद्रि ने स्वरचित 'श्राद्ध निर्णय' में कर्क के मत का खण्डन किया है। हेमाद्रि का काल १२५० के आसपास निश्चित किया जा चुका है। कर्क को त्रिकाण्डमण्डनकार ने भी 'आपस्तम्बीय ध्वनितार्थकारिका' में उद्धृत किया है। त्रिकाण्डमण्डन का रचना-काल ११५० ई० है। अतः कर्क का समय ग्यारहवीं शती का अन्त या १२वीं का आरम्भ हो सकता है।

(२) महीधर-कृत 'शुल्ब-सूत्र विवरण'— यह प्रसिद्ध वेदभाष्यकार महीधर की कृति है जिसका रचनाकाल १५८९ ई० है।

यह कर्क-कृत भाष्य से सरल तथा विस्तृत है। यह लेहरिया-सरायस्थ विद्यापति नामक मुद्रणालय से प्रकाशित हुई थी। तदनन्तर वाराणसीस्थ चौखम्भा मुद्रणालय से गोपालशास्त्री नेने ने १९३६ में कर्कभाष्य-सहित प्रकाशित करवायी थी।

(३) राम वाजपेयी कृत तीन व्याख्याएं हाल ही में उपलब्ध हुई हैं। राम नैमिषारण्यवासी थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमें निम्न-लिखित उल्लेखनीय हैं—

(क) कात्यायन-शुल्बसूत्र-वार्तिक एक पद्यात्मक व्याख्या है जो न केवल मूल सूत्र का व्याख्यान करती है, अपितु उस पर कर्काचार्य के भाष्य के गूढार्थ पर भी प्रकाश डालती है। सूत्रानुसारी छह कण्डिकाओं में विरचित इस कृति में कुल ५१५ पद्य हैं जिनका ब्योरा इस प्रकार है—१७८+६७+३८+३३+११८+८१=५१५।

(ख) सूत्रवार्तिक टीका जो उपर्युक्त वार्तिक पर इनकी स्वोपज्ञ टीका है तथा गद्यात्मक है। यह टीका अत्यन्त विस्तृत एवं विशद है। यह भी छहों कण्डिकाओं पर उपलभ्य है।

(ग) शुल्ब-सूत्र-वृत्ति—यह मूल सूत्रों की क्रमिक व्याख्या के रूप में गद्यात्मिका कृति है। यह भी छहों कण्डिकाओं पर लिखी गयी है तथा पूर्वोक्त रचनाओं पर ही आधृत होती हुई भी अपेक्षकृत संक्षिप्त है।

शुल्ब-सूत्र पर इन तीन कृतियों में से डा० थीबो ने केवल दो कण्डिकाओं को वृत्तिसहित सन् १८८२ में 'पण्डित' पत्रिका (वाराणसी) में प्रकाशित कराया था। अब ये तीनों कृतियां हस्तलेख संग्रहालय, सींधिया ओरियेण्टल इंन्स्टिच्यूट, उज्जयन, में सुरक्षित हैं। इनका विवरण डा० एस०एल० कात्रे ने अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् (AIOC) के तेरहवें अधिवेशन में प्रस्तुत किया था जो परिषद् की कार्यवाही में प्रकाशित किया गया है।

डा० कात्रे के विवरण से राम वाजपेयी के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। इनके पिता अपने समय के प्रख्यात वैदिक सूर्यदास थे तथा माता विशालाक्षी थी। सूर्यदास के पिता शिवदास पं० श्रीधर मालव के सुपुत्र थे। राम वाजपेयी के गुरु विद्याकर तथा हरिस्वामी थे। विद्याकर के पिता का नाम शम्भुकर था। हरिस्वामी काश्मीरी पण्डित थे तथा इन्होंने राम को गणित की शिक्षा दी थी। अपने गणित-विषयक पाण्डित्य के आधार पर ही राम ने $\sqrt{2}$ के मूल्य में संशोधन करके आधुनिक मूल्य के निकट ला दिया है।

इनकी शुल्बसूत्र-वृत्ति का महत्त्व इसी से समझा जा सकता है कि प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् एवं भाष्यकार महीधर ने 'शुल्ब सूत्र विवरण' की रचना इसी वृत्ति के आधार पर सं० १६४६=सन् १५८९ में की थी।[1] राम के काल के विषय में भी कोई कठिनाई नहीं है। इन्होंने स्वयं ही अपने वार्तिक की भूमिका में इसके रचना काल का विवरण दे दिया है। यह रचना सं० १४९१=सन् १४३४ ई० में लिखी गयी थी।

इनकी एक अन्य कृति 'कुण्डमण्डपलक्षण' का रचना काल १४४९ ई० है।

राम वैद्यक-शास्त्र के भी ज्ञाता थे। इन्होंने इस क्षेत्र में भी 'नाडी परीक्षा' नामक कृति की रचना सन् १४४७ में की थी।

इनके आश्रयदाता रत्नपुर (या गाल्लपुर) के राजा रामचन्द्र थे। थीवो ने प्रथम दो कण्डिकाओं को राम वाजपेयी के भाष्य सहित सन् १८८२ में 'पण्डित' पत्रिका में प्रकाशित किया था।

(४) पं० विद्याधर जी गौड़ रचित 'वृत्ति' अच्युत ग्रन्थ माला, वाराणसी से सं० १९८५ या १९२८ ई० में प्रकाशित हुई है।

(५) गंगाधर विरचित एक टीका भी उपलभ्य है।

मैत्रायणीय शुल्बसूत्र

यद्यपि मानव शु० सू० भी मैत्रायणीय शाखा से सम्बद्ध है तो भी मैत्रायणीय शुल्बसूत्र भी विद्यमान है, जो मानव-शुल्ब का ही एक संस्करण है। किन्तु इसमें सूत्रों तथा विषयों की व्यवस्था उससे भिन्न है। इसके चार खण्ड हैं, और इस पर नारद-पुत्र शङ्कर का भाष्य उपलब्ध है, जो मानव-शुल्ब पर शिवदास के भाष्य के समान ही केवल शुद्ध शुल्ब सम्बन्धी विषयों का ही व्याख्यान है।

शिवदास के समान ही शङ्कर ने भी राम वाजपेय के मत का उल्लेख किया है। अतः इसका रचना काल १६वीं शताब्दी सम्भव है क्योंकि शङ्कर शिवदास का ही अनुज था।

वाराह शुल्बसूत्र

मानवों के समान ही वाराह भी मैत्रायणीयों की ही एक शाखा है, जो मानवों के अत्यन्त निकटस्थ है।

वाराह श्रौत और वाराह गृह्य के समान वाराह शुल्ब सूत्र भी उपलब्ध होता है, जो मानवों और मैत्रायणीयों के शुल्ब सूत्रों के समान ही है। इसमें मानव शुल्ब की अनेक कारिकाएं पुनरावृत्त हैं। कात्यायन शुल्ब की भी कुछ एक कारिकाएं इसमें पायी जाती हैं। इस शुल्ब-सूत्र के तीन भाग हैं, जिनमें से प्रत्येक खण्डों में विभक्त है।

---

१. Vide, *The Science of Śulbha*, p. 11.

एकादश अध्याय

पितृमेधसूत्र

पितृमेध नामक कृत्य पिता के स्वर्गवास हो जाने पर पुत्र अथवा निकटतम सम्बन्धी द्वारा मृत व्यक्ति के हितार्थ किया जाता है। मूल रूप में यह वैदिक विचारधारा के अनुसार यज्ञ की इस भावना पर आधृत है कि यजमान को अपनी सर्वप्रिय वस्तु को देवता के अर्पण कर देना चाहिये। अन्ततो गत्वा वह अपनी अस्थियां और मांस भी अग्निदेव को समर्पित कर देता है। भारद्वाज पितृमेध सूत्र में कहा भी गया है कि अग्नि को मानव शरीर सर्वाधिक प्रिय है।

कई शाखाओं में तो पितृमेध कर्म स्वतन्त्र रूप से प्रतिपादित है। दूसरों के श्रौत सूत्रों के अंग के रूप में ये सूत्र समाविष्ट हैं। अन्यों के गृह्यसूत्रों के ये अंग माने गयें हैं। इस त्रिविध प्रतिपादन का कोई विशेष कारण प्रतीत नहीं होता। यह कृत्य आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि दो प्रकार के लोगों के लिये दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है। मुख्य रूप से आहिताग्नि के लिये प्रतिपादित कर्म तो प्रायः श्रौत सूत्रों के अंग बन गये, अनाहिताग्नि सम्बन्धी कर्म को गृह्य सूत्रों का अंग बना दिया गया। कुछ ने इन दोनों प्रकार के कर्मों को स्वतन्त्ररूपेण प्रतिपादित किया प्रतीत होता है। बौधायन, भरद्वाज तथा गौतम के पितृमेध सूत्र स्वतन्त्र रूप में उपलभ्य हैं। शाङ्खायन तथा मानव के श्रौत सूत्रों के ये अंग हैं। आश्वलायन, कौषीकि, वैखानस और आग्निवेश्य के गृह्य सूत्रों में इनका समावेश किया गया है। कौशिक सूत्र में भी पितृमेध-सूत्र सम्मिलित हैं। आपस्तम्ब, वैखानस तथा आश्वलायन श्रौतसूत्रों के भी कुछ अंश पितृमेध से सम्बन्धित हैं। किन्तु वास्तव में यह प्रकरण श्रौतसूत्रों का ही स्वाभाविक अंग है, क्योंकि इसमें तीन या पांच अग्नियों के प्रयोग तथा विसर्जन का विधान है जो दिवंगत व्यक्ति द्वारा स्थापित की गयी थीं।

नीचे हम पितृमेधसूत्रों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

कुछ एक श्रौतसूत्रों तथा उनके ब्राह्मणों में पितृमेध का प्रतिपादन मृतक की मृत्यु के वर्षों पश्चात् क्रियमाण **श्मशानचिति** से ही आरम्भ किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में तथा उसके कात्यायन श्रौतसूत्र में ऐसा ही किया गया है। 'श्मशान' शब्द से दो प्रकार के अर्थों की प्रतीति होती है। आश्व० गृ० सू० के वृत्तिकार गार्ग्यनारायण ने कहा भी है— **श्मशान-ग्रहणेनात्र**

श्मशानद्वयं गृह्यते। कुतः। उत्तरत्र विशेषणाददहनस्य लक्षणं श्मशानस्येति। दहनदेशश्च श्मशानम्, सञ्चित्य यत्रास्थीनि निधीयन्ते तच्च श्मशानम्[1]। श० ब्रा०[2] के व्याख्याकार हरिस्वामी ने भी द्वयर्थक श्मशान शब्द को स्वीकार करते हुए लिखा है— **श्मशानं प्रसिद्धमेव। अस्थिसंरक्षणाय वाऽस्तु।** श० ब्रा० में वस्तुतः इस शब्द का प्रयोग द्वितीय अर्थ में ही हुआ है। तथा का० श्रौ० सू० (२१, ३-४) में जिस पितृमेध का विवरण प्रस्तुत किया गया है उसका आरम्भ भी 'अस्थि-संरक्षणाय' क्रियमाण श्मशान के निर्माणार्थ ही किया गया है। यह एक प्रकार की समाधि ही थी, जिस में दग्ध अस्थियों को गाड़ा जाता था। पितृमेध तथा दाह-संस्कार में अन्तर किया जाता था, इसका प्रमाण का० श्रौ० सू० (२५, ७-८) से प्राप्त होता है, जहां पहले (२५, ७, १—२५, ८, ५) तो मृतक के दाह-संस्कार का विवरण प्रस्तुत किया गया है और तदनन्तर श्मशानविधान की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। तथा कर्क ने **श्मशानं चिकीर्षतः**[3] का अर्थ **पितृमेधं कर्तुमिच्छतः** करके अपने मत को स्पष्ट कर दिया है।

किन्तु बौधा०, भार०, आप० प्रभृति पितृमेधसूत्रों में इस कर्म के अन्तर्गत अन्त्येष्टि अर्थात् दाहकर्म से लेकर श्मशानचिति पर्यन्त समस्त कर्मकाण्ड को ही ग्रहण कर लिया गया है, और क्योंकि अधिकतर सूत्रों ने इसी परिपाटी को स्वीकार किया है, अतः निम्नलिखित पृष्ठों में हम भी इसी परिपाटी के अनुसार पितृमेध का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

आहिताग्नि की मृत्यु हो जाने पर उसके शव को गार्हपत्य अग्नि के पश्चिम में बिछाये गये दर्भों पर दक्षिण की ओर सिर करके लिटाया जाता था तथा उसे पूर्वीय द्वार से निकाल कर गार्हपत्य तथा आहवनीय के मध्य में स्थापित करके शव को स्पर्श करता हुआ अध्वर्यु पहले आहवनीय और अनन्तर गार्हपत्य में एक-एक आज्याहुति समन्त्र प्रदान करता था, किन्तु दक्षिण, सभ्य, आवसथ्य तथा औपासन अग्नियों में आज्याहुति तूष्णीं दी जाती थी और उसके केश, श्मश्रु, नख प्रभृति का विकर्तन कर दिया जाता था[4]। शव को किसी काष्ठ के तख्ते पर या शकट पर रख कर ले जाया जाता था। तख्ते या शकट पर दक्षिणाभिमुख, ऊर्ध्वलोम

---

१. आश्व० गृ० सू० ४,११ पर।

२. श० ब्रा० १३, ८, १, १।

३. द्र. **'श्मशानं चिकीर्षतः कुम्भे सञ्चयनम्'** (का० श्रौ० २५, ८, ६)। इन सूत्रों को **'पितृमेधशेष'** कहने की परिपाटी भी है (द्र. विद्याधर गौडकृत वृत्ति)।

४. भार०पितृ०, १,१,१६-२१; मा० श्रौ० (८, १९, ४-५) में मृत्यु के समय के भेद के अनुरूप भिन्न-भिन्न कर्मों का विधान किया गया है।

कृष्णाजिन बिछा कर नवीन वस्त्र से आपादमस्तक ढक कर शव को उस पर लिटा कर सगे-सम्बन्धी द्वारा अनुसृत श्मशान को ले जाया जाता था। उसके पूर्वपरिहित वस्त्रों को उसके पुत्र, भ्राता अथवा निकट-सम्बन्धी को देने का विधान है[1]। शकट-वाहक बैल कृष्णवर्ण होने चाहियें, ऐसा शाट्यानक ब्राह्मण का विधान है[2]। इस अवसर पर अध्वर्यु आहवनीय के पीछे उलपघास की तीन पंक्तियां बिछाकर अन्वाहार्यपचन अग्नि पर अवहत किन्तु अपरिपूत चावल तूष्णीं पकावे, तथा गार्हपत्य पर मैत्रावरुणी आमिक्षा पकावे[3]। गार्हपत्य अग्नि से पलाश की एक लकड़ी में फूस से आग लगा कर उसे मशाल के रूप में आगे रख कर उसके पीछे एक बकरी तथा एक जीर्ण गौ[4] जिसके बायें पांव में रस्सी बन्धी हो, तत्पश्चात् अग्नियां, यज्ञोपकरण, अग्निहोत्र-शेष कन्धे या शकट पर शव तथा उसके पीछे अध्वर्यु तथा अन्य सगे-सम्बन्धी श्मशान की ओर प्रस्थान करें[5]। मार्ग में तीन स्थानों पर शव को उतार कर मिट्टी के तीन ढेलों को चूर-चूर करके उन पर पके हुए चावल रखें[6]। एक बार शव-वाहक अपनी बायीं चोटी को उठा कर दाहिनी को खोल कर अपनी दाहिनी जंघाओं को पीटते हुए तथा अपने वस्त्रों से सिरों से शव को हवा करते हुए तीन प्रदक्षिणा करें। दूसरी बार बायीं चोटी को उठा कर दाहिनी को खोल कर अपनी बायीं जंघाओं को पीटते हुए, वस्त्रों से शव को हवा न करते हुए तीन बार अप्रदक्षिणा करें। इसी प्रकार दूसरे स्थान पर भी ऐसे ही करें। तृतीय स्थान पर चूर-चूर किये मिट्टी के ढेलों पर चावलों को रखने के अनन्तर उस चावल-पात्र को ढेलों पर फोड़ देवें। तथा अध्वर्यु जलघट को पृथ्वी पर इस प्रकार दे मारे कि उसके कपालों में जल न रहने पाये। अन्त में श्मशान में पहुंच कर शव को पश्चिम की ओर रख कर सभी लोग उत्तर की ओर जाकर लौट आवें।

श्मशान-स्थल की कुछ एक विशेषताएं सूत्रों में वर्णित हैं, जिसका चयन प्राचीनावीती अध्वर्यु करता था। यह स्थान दक्षिण-पश्चिम की ओर ढालुवां होना चाहिये ताकि जल दक्षिण-पश्चिम की ओर वह कर उत्तर की ओर जाकर किसी नदी में जा मिले[7]। यह चारों ओर से खुला हो किन्तु मध्य में वृक्षादि से आच्छन्न

---

१. भार० पितृ० १, २, ३।
२. वही, १२।
३. केवल सोमयाजी-मृतक के लिये इसका विधान है (भार० पितृ० १,२,५)।
४. आश्व० गृ० (४,२,५-६) में गौ या अजा वैकल्पिक है।
५. मा०श्रौ०सू० (८,९,७-८) में सम्बन्धियों के पीछे चार पगड़ीधारी ऋत्विजों के चलने का विधान है।
६. बौ० पितृ० के अनुसार बकरी के बच्चे को मार कर अगला कर्म करें। चावलों का विधान अजशिशु के अभाव में है।
७. भार० पितृ०, १,१,३; आश्वा० गृ० (४,१,१४) के अनुसार इसके चारों ओर जल प्रवाहित होता हो।

होना चाहिये[1]। श्मशान न तो ऊपर होना चाहिये न क्षार-युक्त, न कटाफटा, न ही गहरा। इसमें न तो गढ़े होने चाहियें, न ही कण्टकी तथा क्षीरी पेड़-पौधे। किन्तु वैसे पेड़-पौधों से भरपूर (बहुलौषधिकम्) होना चाहिये[2]।

उत्तर की ओर से लौट कर अध्वर्यु पलाश की हरी शाखा से श्मशान-स्थल को साफ़ करके, शाखा को दक्षिण दिशा में फेंक कर, जल को स्पर्श करके उस में हथेली नीचे की ओर करके, हाथ से जल छिड़क कर, एक स्वर्ण-कलश रख कर, उस पर दक्षिणाग्र दर्भ बिछा कर, यज्ञिय काष्ठ की चिता चुनकर, उस पर पूर्व में **आहवनीय**, पश्चिम में **गार्हपत्य**, दक्षिण में **दक्षिण** तथा पूर्व में ही **सभ्य**, **आवसथ्य** एवम् **औपासन** अग्नियों को स्थापित करे[3]। शव की रस्सियां काट कर चिता पर दक्षिणाग्र दर्भ बिछा कर उन पर उत्तरलोम कृष्णाजिन को बिछा कर उस पर शव को लिटावे[4]। शव, यज्ञोपकरणों तथा चिता पर प्रोक्षणी जल को पवित्र के द्वारा परिपूत करके प्रोक्षण करे। विविध स्रुव आदि पात्रों में होमार्थ बिना मन्त्र के ही दर्शपूर्णमासेष्टि की विधि के अनुसार आज्य ग्रहण करे। अग्निहोत्र-शेष आज्य को दही में मिश्रित करके खात-युक्त यज्ञ-पात्रों में भर दे[5]। शाट्यायनक ब्राह्मण के अनुसार मृतक के उदर को काट कर, अन्तड़ियों को निकाल कर, उन्हें निचोड़ कर उनमें से मैला निकाल कर, उसे एक गढ़े में फेंक कर, अन्तड़ियों को पुनः उदर में रख कर, उन में घी भर देना चाहिये। किन्तु भारद्वाज सूत्रकार के अपने मतानुसार ऐसा नहीं करना चाहिये[6]।

अब कृष्णवर्णा अथवा केवल काले नेत्र, शफ तथा पूंछ वाली जीर्ण वृद्धा गौ (अनुस्तरणी) को सभी सगे सम्बन्धी—पहले कनिष्ठ तत्पश्चात् ज्येष्ठ, उनमें भी स्त्रियां सर्वप्रथम— स्पर्श करें। गौ का आलम्भन भी किया जा सकता था और मुक्ति भी। मुक्ति की अवस्था में गौ को तीन बार अग्नियों की प्रदक्षिणा करा के मुक्त कर दिया जाता था[7]। आलम्भन की अवस्था में अध्वर्यु के प्रैष पर

---

१. आश्व० गृ० सू० ४, १, ११; १४।
२. भार० पितृ० सू० १,१,२-३; आश्व० गृ० ४,१,१२-१३।
३. भार० पितृ० सू० १,३,८; आश्व० गृ० ४,२,११-१३ में तनिक अन्तर है। वहां सभ्य प्रभृति का उल्लेख नहीं है।
४. भार० पितृ० सू० १,३,९-११; आश्व० गृ० ४,२,१५।
५. भार० पितृ० सू० १,३,१२-१३।
६. भार० पितृ० सू० १,४,१-२; यह वैकल्पिक विधान का० श्रौ० (२५, ७, १८) में भी किया गया है।
७. भार० पितृ० सू० १,४,८ (द्र. मा० श्रौ० ८,१९,१९)।

गौ के कान के पश्चाद्-भाग पर प्रहार करके उसका हनन करके उसके प्रत्येक अंग से अस्थियां पृथक् करके केवल मांस को पका कर समानान्तर अंगों पर रखने का विधान है। जातूकर्ण्य ने तो अस्थि-सहित अंगों के अंगों पर स्थापन का निर्देश दिया था। किन्तु अस्थियों के सञ्चयन के समय गौ तथा पुरुष की अस्थियों में भेद करने की कठिनाई के कारण कात्यायन ने इसका निषेध कर दिया[1]। गौ (या अजा) की वसा से शव के मुख को आच्छादित करने[2] तथा वसा से सिर को ढकने[3] तथा गोचर्म (या अजाचर्म) से समस्त शरीर को आच्छादित करने का विधान है[4]। इसके अतिरिक्त यज्ञ के पात्रों को भी उसके विविध अंगों पर स्थापित किया जाता था। किस अंग पर कौन-सा पात्र स्थापित करना चाहिये इस विषय में थोड़ा बहुत मतभेद है[5]। पत्नी को पति के साथ चिता पर लिटाने का रिवाज भी था। भार०पितृ०सू० (१,५,६; १४) में तो यह वैकल्पिक कर्म है, किन्तुआश्व० गृ० सू० (४, २, १६) में यह आवश्यक माना गया है। मा०श्रौ०सू० में इस की चर्चा नहीं की गयी। पति का कोई निकट-सम्बन्धी अथवा कुछ धन लेकर कोई ब्राह्मण[6] अथवा देवर या मृतक का अन्तेवासी अथवा वृद्ध दास[7] उसे चिता से उठा लेता था।

इस कर्म से सती की प्रथा का संकेत मिलता है किन्तु यद्यपि अथर्व (१८, ३, १) तथा तै० आर० (६,१,३) में इस कर्म को प्राचीन धर्म (धर्मं पुराणमनुपालयन्ती) कहा गया है तो भी अगले ही मन्त्र में उसे चिता से उठकर इस संसार में लौट आने तथा नवीन जीवन व्यतीत करने को कहा गया है[8]। अत: ऋग्वेद या अथर्ववेद के काल तक भी विधवा को चिता पर अनुगमन करने से रोका जाता था। इस अवसर पर विधवा को सहस्र गौवें दान करने को कहा गया है[9]। अब अध्वर्यु शव के अंगों पर एक-एक स्वर्ण-शकल अथवा आज्य रखे। तदनन्तर अग्नियों

---

१. भार०पितृ०सू० १,२,५;१,६,२२-२६; का०श्रौ० २५,७,३४-३६; मा०श्रौ० (८,१९,१६) के अनुसार भी गौ अथवा अजा के हनन का निर्देश है (द्र. आश्व० गृ० ४,२,५-६)।
२. भार० पितृ० सू० १, ६, २५; का० श्रौ० २५,७, ३७; मा०श्रौ० ८,१९,१८।
३. भार० पितृ० सू० १, ६, २६।
४. भार० पितृ० सू० १, ७, १; मा० श्रौ० ८, १९, १८।
५. भार० पितृ० सू० १,५,१६-१,६,२०; का० श्रौ० २५, ७, २१-३३ (३६ विद्याधर); मा० श्रौ० ८,१९,१५; आश्व० गृ० सू० ४,३,१-१८।
६. भार० पितृ० सू० १, ५, ७-८।
७. आश्व० गृ० सू० ४, २, १८; कौसु० ८०, ४४।
८. यद्यपि ऋग् १०,१८,८ (=अथर्व० १८,३,२) का अर्थ विवादास्पद है, तो भी इतना स्पष्ट ही है कि उस विधवा को चिता से उठा लिया जाता था (द्र. गृह्यसूत्र प्रकरण में अन्त्येष्टि कर्म)।
९. भार० पितृ० सू० १, ५, ८।

को प्रज्वलित करे। यदि धूम ऊपर को आकाश तक जाता प्रतीत हो, तो मृतक की स्वर्ग-प्राप्ति का चिह्न है, यदि अन्तरिक्ष में लुप्त हो जावे तो अन्तरिक्ष-लोक की, और यदि पृथ्वी पर ही फैल जावे तो पृथिवी-लोक की प्राप्ति का संकेत है[1]। इसी प्रकार अग्नियों के शव तक पहुँचने के क्रम के अनुसार मृतक की परलोक-गति का अनुमान लगाया जाता था[2]। चिता के पीछे समीप ही एक बकरी को निस्सत्त्व रस्सी से बांधा जाता था, जिसे तुड़ाकर भाग जाने पर अध्वर्यु कुछ दूर तक उसका पीछा करता था, तथा लौट कर अध्वर्यु मांस काटने के काष्ठ (इडासून) अथवा पात्र अथवा चमस से अग्नि में आहुति देकर आज्य की नौ आहुतियां प्रदान करता था। अग्नि के पीछे बैठकर पूर्वाभिमुख अध्वर्यु यम-सूक्त की नौ ऋचाओं से अग्नि की स्तुति करता था।

श्मशान-स्थल के पीछे उत्तर की ओर तीन नालियां (कर्षु) खोद कर उन्हें पत्थरों तथा रेत से घेर कर उनमें अयुग्म-संख्यक घड़ों से जलभर कर श्मशान में उपस्थित सभी सम्बन्धियों को उनमें प्रवेश करना होता था[3]। इन नालियों के पृष्ठभाग में पलाश या शमी की दो शाखाएं गाड़ कर उन्हें दर्भ की रस्सी से परस्पर जोड़ कर सभी उपस्थित सम्बन्धी इन दोनों के बीच में जाते थे। अन्तिम व्यक्ति इन शाखाओं को उखाड़ फैंकता था तथा सभी आदित्य की स्तुति करते एवम् अपने केशों को खोल सिर में धूलि डालते थे। फिर एक ही वस्त्र पहन कर दक्षिणाभिमुख होकर जल में एक ही डुबकी लगा कर निकल आते थे। इसी प्रकार तीन बार करते थे। इसी समय सभी द्वारा मृतक को जलाञ्जलि भी प्रदान की जाती थी। तदनन्तर या तो सभी ग्राम को लौट आते थे[4] या वहीं नक्षत्र-दर्शन तक प्रतीक्षा करते थे[5]। ग्राम में लौट कर स्त्रियों के कथनानुरूप कर्म किये जाते थे[6]। श्मशान को जाते समय 'ज्येष्ठ-प्रथमाः कनिष्ठ-जघन्याः' का रिवाज था तो ग्राम को लौटते समय 'कनिष्ठ-प्रथमा ज्येष्ठ-जघन्याः' का सिद्धान्त अपनाया जाता था। प्रेत की क्षुधा एवं तृषा को शान्त करने के लिये दस दिन तक उदक तथा पिण्ड प्रदान किये जाते थे। इस उदक-दान की प्रक्रिया यह थी कि प्रथम दिन एक, द्वितीय दिन दो+१, तृतीय दिन ३+२, चतुर्थ दिन ४+३, पञ्चम दिन ५+४, षष्ठ दिन ६+५, सप्तम दिन ७+६, अष्टम दिन ८+७, नवम दिन ९+८, दशम दिन १०+९ अञ्जलियां तथा प्रतिदिन एक-एक पिण्ड दान करने की विधि है[7]।

---

१. भार० पितृ० सू० १, ७, ४।
२. मा० श्रौ० सू० ८,१९,२०; आश्व० गृ० ४,४,१-५।
३. भार० पितृ० सू० १, ७, ११।
४. भार० पितृ० सू० १, ८, ८।
५. आश्व० गृ० सू० ४, ४, १०।
६. भार० पितृ० सू० १, ८, ८।
७. आश्व० गृ० परि०, पृ० २६२ (जीवानन्द सं०)।

अथवा ग्यारह दिनों तक उदक-अञ्जलियां प्रदान करने के साथ इन दिनों में उपवास, अनध्याय, भू-शयन तथा स्नान का व्रत करें[१]। महागुरु की मृत्यु पर १२ दिन पर्यन्त दान तथा अध्ययन का निषेध किया गया है[२]। प्रेत की पत्नी को सदा ही स्नान, एक समय भोजन, भू-शयन, ब्रह्मचर्य तथा क्षार-लवण-मधु के वर्जन का व्रत पालन करना चाहिये[३]। मा० श्रौ० सू० (८,२३,१-१५) में पत्नी के लिये अनेक नियमों का निर्देश किया गया है तथा स्त्री को 'विकृत' माना गया है[४]।

अगले दिन अथवा तृतीय, पञ्चम या सप्तम दिन अस्थि-सञ्चयन करना चाहिये[५]। बौ० पितृ० सू० (१, ११) के अनुसार नवें अथवा ग्यारहवें दिन भी अस्थि-चयन किया जा सकता है तथा वर्ष के पश्चात् भी। आश्व० गृ० सू० (४,५,१) में कृष्णपक्ष की दशमी के उपरान्त अयुग्म तिथियों तथा एकनक्षत्र में इस कर्म का विधान है, जबकि गार्ग्यनारायण ने पर्याप्त ऊहापोह के पश्चात् एक पक्ष में द्वितीय चतुर्थ प्रभृति दिनों में भी इस कर्म के करने का निर्णय दिया है[६]।

अस्थि-सञ्चय से पूर्व अध्वर्यु उन पर उदुम्बर की शाखा से जलमिश्रित-दुग्ध से अभ्युक्षण करे। अंगारों को दक्षिण की ओर निकाल कर उन पर तीन आज्याहुतियां प्रदान करे। अयुग्म-संख्यक वृद्ध[७] स्त्रियां अस्थियों पर घड़ों से जल डाल कर अस्थि-सञ्चय करें। अगर्भवती ज्येष्ठपत्नी बाएं हाथ में नीले तथा लाल धागों से 'बृहती' के फल बांध कर बाएं पांव पर एक पत्थर पर अवस्थित होकर दांतों या सिर की अस्थियों को बाएं हाथ से चुने[८], तथा उन्हें वस्त्र या घड़े[९] में डाले। द्वितीया कन्धों अथवा भुजाओं की, तृतीया पार्श्वों या नितम्बों की, चतुर्थी जंघाओं या टांगों की, पांचवीं पैरों की अस्थियों का सञ्चय करे। और इस प्रकार अस्थियों का पूरा सञ्चय करना चाहिये[१०]। आश्व० गृ० सू० (४,५,४) के अनुसार

---

१. भार-पितृ० सू० १,८,७; ९।
२. आश्व० गृ० सू० ४,४,१७ (द्र. आश्व० गृ० सू० ४, ४, १८-२६ तथा भार-पितृ० सू० वही १०; ११-१२; १२ दिन के न्यूनातिन्यून व्रत का निर्देश है, बौ० पितृ० सू० १,९।
३. भार० पितृ० सू० वही १३।
४. सा० श्रौ० सू० ८, २३, १६।
५. भार० पितृ० सू० १, ९, १।
६. द्र. का० श्रौ० सू० २५, ८, १।
७. 'प्रवयसः', आश्व० गृ० सू० ४, ५, २।
८. भार० पितृ० सू० १, ९, २-५; बौ० पितृ० सू० (१, ११) में पांव या सिर का निर्देश है।
९. 'अलक्षणे कुम्भे' (आश्व० गृ० सू० ४,५,२)।
१०. भार० पितृ० सू० १, ९, ६-११ ।

अस्थि-संचय अंगुष्ठ तथा अनामिका से बिना शब्द किये करना चाहिये[1]। अध्वर्यु राख को एकत्र करके उसे मनुष्याकार में रख कर अस्थि-कलश को लेकर शमीवृक्ष के ऊपर लटका दे या पलाश की जड़ के समीप गाड़ दे तथा सभी लोग उसकी परिक्रमा करते हुए पूर्ववत्[2] तीन नालियां खोदने से लेकर स्नान-पर्यन्त समस्त कर्म पुनः करें[3]।

का० श्रौ० सू० (२५, ८, १) के अनुसार अस्थि-संचय पलाशपुट में करना चाहिये, किन्तु यदि 'पितृमेध'[4] कर्म करना हो, तो कुम्भ में करना चाहिये, तथा कुम्भ का निखनन निःशब्द होना चाहिये[5]। आश्व० गृ० सू० (४, ५, ५) के अनुसार अस्थि-कलश की स्थापना ऐसे स्थान पर करनी चाहिये जहां वर्षा के अतिरिक्त जल प्रवाहित होकर न आ सकें।

हविर्याजी की अस्थियों के व्यवस्थापनार्थं विशेष निर्देशों के अनुसार शाश्वत लोक की प्राप्ति के लिये अध्वर्यु चुपचाप, बिना इधर-उधर देखे, चारों ओर से घिरे हुए समतल स्थान पर गढ़ा खोद कर, अभ्युक्षण करके, कंकड़ भर कर उन पर दर्भों को बिछा कर उन पर अस्थियों को रख देवे। पुनर्दाह करना चाहें तो अग्निहोत्रहवणी, कृष्णाजिन, दृषद्-उपल को अग्नि में नहीं झोंकना चाहिये[6]। बौ० पितृ० सू० १,१३ के अनुसार अरणियों को भी साथ नहीं जलाना चाहिये।

दाह के पश्चात् अध्वर्यु अग्नि के अंगारों को दक्षिण की ओर सरका कर उस अग्नि को या मथित अग्नि को[7] तीन रात्रि पर्यन्त प्रज्वलित रखे तथा दाह-स्थल सदृश किसी स्थल का चयन करके, वहां अग्नि प्रज्वलित करके, उसका परिस्तरण करके दक्षिणाग्र दर्भों को बिछा कर, उन्हें कृष्णाजिन से ढक कर दृषद्-उपल को रख कर, अस्थियों को घी से तर कर के खूब पीस कर, उस चूर्ण को घड़े में घृत-मिश्रित करके उस मिश्रण की अग्निहोत्रहवणी से आहुतियां प्रदान करके उसे समाप्त कर दे। तदनन्तर अग्निहोत्रहवणी, कृष्णाजिन, दृषद्-उपल सब का अग्नि में प्रक्षेप कर दे। अब उसकी श्मशान-चिति के निर्माण की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उसके इस दाहस्थल पर काली मिट्टी या कंकड़ों को बिछा देना चाहिये। उस पर सूर्य चमकता है, वायु प्रवाहित होता है, उसे जल स्पर्श करता है[8]।

---

१. द्र. मा० श्रौ० सू० ८, २१,८।
२. भार० पितृ० सू० १, ७, ११।
३. भार० पितृ० सू० वही, १३; का० श्रौ० २५,८,३; मा० श्रौ० ८,२१,८-९।
४. 'श्मशानं चिकीर्षतः कुम्भे सञ्चयनम्', का० श्रौ० सू० २५,८,७।
५. का० श्रौ० सू० २५, ८, ८।
६. भार० पितृ० सू० १, १०, १-४।
७. बौ० पितृ० सू० १,१७।
८. भार० पितृ० सू० १,१०,५-१०; तु० का० श्रौ० सू० २१,३,१५।

जिसका व्यवस्थापन इस प्रकार हो जाता है, उसकी सन्तान वर्चस्विनी तथा उत्कृष्ट होती है[1]। **शान्ति कर्म**=इस प्रकार दाह-संस्कार को सम्पन्न करके शान्ति कर्म करना चाहिये।

नौवीं रात्रि के प्रातः काल में अध्वर्यु को यज्ञोपवीती होकर ग्राम तथा श्मशान-स्थल के बीच अग्नि प्रज्वलित करके उसके चारों ओर दर्भों से परिस्तरण करके अग्नि के पीछे रक्तवर्ण, उत्तरलोम, तथा पूर्वाभिमुख ग्रीवा वाले साण्ड-चर्म को बिछा कर उस पर वेतस-माला पहने हुए सम्बन्धियों को मन्त्रोच्चार-पूर्वक खड़ा करना चाहिये, तथा उन्हें दीर्घायु होने का आशीर्वाद देना चाहिये। वरणमय चमस में से चार-चार चम्मच आज्याहुतियां प्रदान करके दस आज्याहुतियां (या बारह-बौ० पितृ० सू० १,१७) प्रदान करके चमस तथा स्रुव दोनों को अग्निसात् कर देना चाहिये। एक रक्तवर्ण अनड्वान् को अग्नि के उत्तर में पूर्वाभिमुख खड़ा करके सभी सम्बन्धी स्पर्श करके पूर्वाभिमुख चल पड़ते हैं। अन्तिम व्यक्ति वेतस की छड़ी तथा अवका से पदचिह्नों को मिटाता चलता है। अध्वर्यु दक्षिण में एक पत्थर उनके अवरोधार्थ रखता है, ताकि उनमें से कोई भी जीवन के मध्य में मृत्यु का अनुसरण न कर सके[2]।

तदनन्तर वह आज्यशेष को स्त्रियों की अञ्जलियों में डाल देता है ताकि वे अपने नेत्रों को आञ्ज लें तथा विधवा हुए बिना अश्रु-रहित नीरोग तथा प्रसन्न दीर्घ-जीवन को व्यतीत करती हुई सन्तानोत्पत्ति करती रहें[3]। वे इस आज्य-शेष को अपने अपने मुख पर मलती हैं तथा नेत्रों में त्रिककुद् पर्वत से लाये गये अञ्जन को लगाती हैं। यदि वह अप्राप्य हो, तो अन्य कोई सा अञ्जन लगा सकती हैं[4]। तब अध्वर्यु एक धान्य-नाल को भूमि पर रखता है और कहता है—हे धान्यनाल! जैसे तू पृथ्वी से ऊंचा उठता है, उसी प्रकार ये सभी ब्रह्मवर्चस तथा कीर्ति से युक्त होकर उन्नति करें[5]। तथा सभी घर लौट आते हैं। घर के ईशान कोण में अध्वर्यु अग्नि प्रदीप्त करके दर्भों से परिस्तरण करके इसमें वारण-स्रुव से चार-चार चम्मच आज्य की दो आहुतियां प्रदान करता है, तथा वारण-स्रुव को अग्नि में झोंक देता है। उस दिन एक बकरे का मांस तथा जौ पकाये जाते हैं। भोजनानन्तर सभी भूशय्या का परित्याग करके चारपाइयों पर सोते हैं तथा पीठों पर बैठते हैं। नापित से केशश्मश्रु का मुण्डन कराते हैं। आश्व० गृ० सू० (४, ६, २-३) में भस्म सहित अग्नि को अग्न्यागार सहित घर से बाहर दक्षिण दिशा

१. वही, १३; द्र. बौ० पितृ० सू० १, १३।
२. भार० पितृ० सू० १,११,११; तै० आर० ६,१०; द्र. का० श्रौ० सू० २१,४,२४।
३. वही, १२; तै० आर० ६,१०।
४. भार० पितृ० सू० १,११,१-१५; द्र. का० श्रौ० सू० २१,४,२४।
५. वही, १,१२,१; तै० आर० ६,१०।

में चौराहे पर रख कर या किसी अन्य दिशा में रख कर तीन बार बाएं ऊरु-स्थलों को बाएं हाथों से पीटते हुए तीन अप्रदक्षिणा विहित हैं। तथा केशश्मश्रु मुण्डवा कर जल-मटकों, घड़ों, कमण्डलु प्रभृति पात्रों, शमीमयी अरणियों, परिधियों, इध्मों, गोचर्म, नवनीत, दृषद्-उपल रूपी पत्थरों, तथा घर में युवतियों की संख्या के अनुरूप कुश पूलों के स्थान पर नवीन ले आने का विधान किया गया है। नवीन अग्नि को जला कर उसके पीछे नवीन गोचर्म को बिछा कर उस पर सभी घर वालों को आरूढ किया जाता है। अग्नि के उत्तर में पत्थर रख कर चार आहुतियों का विधान है (आश्व० गृ० सू० ४,६,४-१०)।

यह पितृमेध कर्म अनाहिताग्नि के लिये भी विहित है। केवल पात्रासादन तथा इष्टकाचिति नहीं की जाती। अनाहिताग्नि का दाहसंस्कार **औपासन अग्नि** से किया जाता है, उसकी पत्नी का मथित अग्नि से। स्त्रियों तथा पशुयाग न करने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में **राजगवी** सम्बन्धी कर्म का परित्याग कर देना चाहिये। अनुपनीत व्यक्तियों तथा कन्याओं का पितृमेध संस्कार इस रीति से न करके पुनर्दाहार्थ विहित मन्त्र[1] से संस्कार कर देना चाहिये। कुछ एक आचार्यों के मत में अनाहिताग्नि तथा स्त्रियों की अन्त्येष्टि का अन्त अस्थियों के घर में स्थापन में[2], हविर्याजी की अस्थियों को गढ़े में दबाने में[3], सोमयाजियों की अस्थियों के पुनर्दाह में[4] तथा अग्निचयन करने वाले की अस्थियों पर श्मशानचिति[5] के निर्माण में होता है।

तदनन्तर **ब्रह्ममेध** का विवरण दिया गया है, जिसके अन्तर्गत ब्राह्मण की मुक्ति के लिये पूर्ववर्णित **पितृमेध** कर्म में कुछ एक विनियोज्य मन्त्रों तथा क्रिया-कलाप में कुछ फेर बदल कर दिया गया है, कुछ एक मन्त्र बढ़ाये गये हैं, यथा भर्तृसूक्त[6] पत्नीमन्त्र[7], दक्षिणामन्त्र[8], प्रतिग्रहमन्त्र[9], हृदयमन्त्र[10], सम्भारयजुर्मन्त्र[11],

---

१. तै० आर० ६, ४; भार० पितृ० सू० १, १२, १७; विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के दाहसंस्कार की विभिन्न विधियों के लिये द्र. मा० श्रौ० सू० ८,२०,२-४।
२. भार० पितृ० सू० १, ९, १३।
३. वही, १, १०, १-३।
४. वही, १, १०, ४-१३।
५. वही, २, ९, १ से।
६. तै० आर० ३,१४; भार० पितृ० सू० २, १, ५।
७. भार० पितृ० सू० २,१,६; तै० आर० ३,९।
८. वही ७; तै० आर० १, ४, ४३।
९. वही, तै० आर० ३, १०।
१०. वही ८; तै० आर० ३, ११।
११. वही ९, तै० आर० ३, ८।

ज्योतिष्मती ऋचाएं[१], नारायण अनुवाक[२], मृत्युसूक्त[३], सूर्यमन्त्र[४] प्रभृति। इन मन्त्रों तथा तत्सम्बन्धी क्रियाकलाप का प्रयोग सामान्य दाह-संस्कार अथवा आचार्यों एवं वेदज्ञों से भिन्न व्यक्तियों के दाहार्थ नहीं करना चाहिये[५]।

श्मशान-चिति—जैसा कि पूर्व वर्णन कर चुके हैं, श्मशानचिति वैकल्पिक कर्म है[६]। तथा विशेष प्रकार के व्यक्तियों के लिये ही विहित है[७]। का०श्रौ०सू०(२१, ३, ४) में तो इसी को **पितृमेध** कहा गया है, जिसके अनुसार इस कर्म को प्रेत की मृत्यु के वर्ष के भी विस्मृत हो जाने पर करना चाहिये, अथवा अयुग्म वर्षों में एक नक्षत्र में करना चाहिये[८]। यदि दिन या समय स्मरण न हो तो इच्छानुसार किया जा सकता है[९]। निदाघ, शरद् अथवा माघ में[१०] अथवा फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, की पूर्णिमा के अनन्तर अमावास्या के दिन अस्थियों को चिति में स्थापित करना चाहिये[११]। प्रेत की अस्थियों को ग्राम के समीप लाकर अस्थि-कुम्भ को पूर्वस्थापित खाट पर रख कर अहत वस्त्र के एक देश से उसे वेष्टित करके बाजे-गाजे, वीणा आदि को बजाते हुए उसके पुत्र-पौत्र अपने उत्तरीयों से उसे हवा करते हुए तीन बार उसकी परिक्रमा करते हैं। स्त्रियां भी चाहें, तो यह कर्म कर सकती हैं। रात्रि को पूर्वभाग, मध्यभाग तथा अपरभाग में इस की आवृत्ति की जाती है। नृत्यगीत आदि तो अनवरत चलते ही रहते हैं। कुछ लोग अस्थि-कुम्भ के समक्ष अन्न का उपहार भी प्रस्तुत करने के पक्ष में हैं[१२]। उषःकाल में अस्थि-कुम्भ को लेकर दक्षिण दिशा की ओर चल देते हैं, ताकि अस्थिनिवाय सूर्योदय से पूर्व ही आरम्भ कर दिया जाये। श्मशान-स्थल वृक्षलतादि से आवृत हो, किन्तु वहां मध्याह्नकाल में सूर्य की धूप पड़नी चाहिये[१३]। यह श्मशान-स्थल क्षार-मृत्तिका से युक्त उत्तर या दक्षिण की ओर ढाल या समतल स्थान पर होना चाहिये तथा मार्ग से दूर एवं

---

१. वही, १०; तै० आर० ३, १९।
२. वही, ११; तै० आर० ३,१२-१३।
३. वही, १५; तै० आर० ३, १५।
४. वही, १७; तै० आर० ३, १६।
५. वही, २१-२२।
६. का० श्रौ० सू० २५, ८, ७।
७. भार० पितृ० सू० १, १२, ९-१३।
८. का० श्रौ० सू० २१,३,२-३; भार० पितृ० सू० २,२,१।
९. भार० पितृ० सू० वही २।
१०. का० श्रौ० सू० वही ५।
११. भार० पितृ० सू० वही, ३।
१२. का० श्रौ० सू० वही, १२।
१३. का० श्रौ० सू० वही, १५।

ग्राम से अद्रष्टव्य होना चाहिये। वहां स्थित न्यग्रोध, अश्वत्थ, लोध्र, दारुहल्दी, विस्फूर्जक, बहेड़ा, लसूड़ा, कचनार प्रभृति[1] अवाञ्छनीय पौधों[2] को काट देना चाहिये। किन्तु पाठा, सिंहपुच्छी (पृश्निपर्णी), तालपत्र (कर्णिका), सप्तपर्ण राजवृक्ष तथा अन्य क्षीरी वृक्षों को नहीं उखाड़ना चाहिये[3]। यह स्थान शान्तिप्रद, रमणीय तथा चित्र-विचित्र होना चाहिये[4]। एक व्यक्ति तृण-पूलक को बांस आदि किसी लकड़ी में बांध कर कर्मस्थल पर कर्मकाल में ऊँचा उठाये रखे, कर्म की समाप्ति पर उसे घर ले जाकर भी खड़ा कर देवे। **श्मशानचिति** के लिये पुरुषमात्र या ५×५ प्रक्रम या पूर्व की ओर ६ प्रक्रम (=६×५ प्रक्रम) भूमि को नापना चाहिये[5]। उस स्थल पर अयुग्म-संख्यक घड़ों से प्रभूत जलावसेक करना चाहिये ताकि तत्रत्य सभी जीवजन्तु भाग जावें[6]। पलाश शाखा से उस स्थान को बुहार कर, पत्थरों से घेर कर, औदुम्बर-हल में छह या १३ बैलों को जोत कर उसमें हल चलाया जाता है[7]। हल चलाने से पूर्व भार० पितृ० सू० में कुछ विचित्र विधान किये गये हैं, जिनके अनुसार प्रतिपदा के दिन ब्राह्मणों को मांस का भोजन कराया जाता है। यदि अस्थियों पर हवा करना हो तो एक शाला या वप्र बनाकर उसके पूर्वार्ध या मध्य या पश्चिमार्ध में एक पलाश की तिपाई गाड़ कर अस्थियों को उसके नीचे रखा जाता है। एक शूद्र या कुत्सित ब्राह्मण मृतक की ज्येष्ठ पत्नी से सम्भोग का प्रस्ताव करता है, जिसे वह अस्वीकार कर देती है, द्वितीय दिन फिर यही प्रक्रिया दोहराई जाती है, अन्त में तृतीय दिन एक या उतनी रात्रियों के लिये मान जाती है, जितनी तक अस्थियों को हवा (वाजन) करवानी हो[8]।

---

१. का० श्रौ० सू० वही, २०।

२. भार० पितृ० सू० २,२,५।

३. भार० पितृ० सू० ५,२,६; यहां यह ध्यातव्य है कि जहां का० श्रौ० सू० में तिल्वक तथा विभीदक को अवाञ्छनीय माना गया है, वहां भार० पितृ०सू० में इन्हें वाञ्छनीय घोषित किया गया है।

४. का० श्रौ० सू० वही, २२-२३।

५. का० श्रौ० सू० वही, २७-२८; भार० पितृ० सू० वही, ७।

६. भार० पितृ० सू० वही, १०।

७. का० श्रौ० सू० २१,३,३२-३३; भार० पितृ० सू० २,४,३ में ६ या १३ बैलों का विधान है।

८. भार० पितृ० सू० २,३,६-९; बौ० पितृ० सू० (१,७) में यह विधि नहीं है। वाजन कृष्णपक्ष में तीन रात्रियां या पांच, सात, नौ, ग्यारह, पन्द्रह रात्रियां, एक मास या वर्ष भर तक किया जा सकता है, वही, २२-२३।

पलाश की तिपाई पर सौ छिद्रों वाला एक घड़ा रखा जाता है तथा दर्भ की रज्जु से एक चर्मखण्ड इस पर बांधा जाता है। फटे दूध के पानी (वाजिन) को घड़े में डाल कर चूते हुए घड़े पर दो मन्त्र पढ़े जाते हैं[१]। चार ब्रह्मचारी या ब्राह्मण अपनी दाहिनी चोटियों को बांध कर बायीं को खोल कर उस घड़े की तीन बार प्रदक्षिण परिक्रमा करते हुए अपनी दायीं जंघा को पीटते हैं तथा घड़े को चर्मखण्ड से पीटते हुए वस्त्र के कोने से उस पर हवा करते हैं। सम्बन्धी तथा स्त्रियां भी बिना मन्त्र पढ़े यही प्रक्रिया करती हैं। तदनन्तर तीन बार अप्रदक्षिण परिक्रमा की जाती है। इस समय वीणा, तूणव, शंख बजा कर नाचने गाने का विधान है। यही प्रक्रिया प्रातः, मध्याह्न, तथा अपराह्ण, दिन में तीन बार तथा रात्रि में भी तीन बार दोहराई जाती है। जब तक वाजन चलता रहे, प्रतिदिन अन्न-वस्त्र अपनी शक्ति के अनुसार बांटे जाते हैं या अन्तिम दिन ही बांटे जा सकते हैं। उसी अग्नि पर पांच पात्रों में चावल पका कर इन में क्रमशः घृत, गरम दूध, दही तथा मधु डाल कर पात्रों को अपूपों से ढक देवें। रात्रि के अन्तिम भाग में अग्नि, जलपूर्ण घट, अनड्वान्, अस्थियां अन्य सामग्री तथा सामान लेकर चिति के स्थान की ओर चलें[२]। चिति के स्थल पर जितने बैलों का प्रयोग किया जाये, उतनी सौ कच्ची इष्टकाओं का प्रयोग करना चाहिये[३]। इष्टकाओं का आकार चिति के आकार का १/२४ होना इष्ट है, जिनमें ऐसी १/४ इष्टकाओं का प्रयोग भी होता है। हल से अध्वर्यु को छह कर्षु (नालियां) इस प्रकार बनाने चाहियें कि प्रत्येक रेखा के अन्त में जाकर बायीं ओर बाहर को मुड़ जावे[४]। चारों ओर चार रेखाएं बना कर मध्य में अप्रादक्षिण्येन अमित रेखाएं बिना मन्त्र के बनानी चाहियें[५]। बैलों को खोल कर कृष्ट स्थल पर सभी ओषधियों को बोया जाता है[६] मध्य में अस्थि-कलश को रखा जाता है[७]।

उस स्थल को चारों ओर से पत्थरों से घेर कर चारों दिशाओं में सीमा-बन्दी करने वाले चार मिट्टी के ढेलों (विधृति-लोष्टों)[८] को स्थापित करके भुने हुए

१. भार० पितृ० सू० २,३,१०-१४।
२. वही १५-३२।
३. वही २,४,३-४।
४. वही ९।
५. का० श्रौ० सू० (२१, ४, १-३) चार कार्षुओं का ही विधान करता है।
६. का० श्रौ० सू० वही, ४; भार० पितृ०, सू० वही, १४।
७. भार० पितृ० सू०, वही, ११; का० श्रौ० सू० (वही, ५) के अनुसार अस्थियों को ही मध्य में स्थापित करके घड़े को दक्षिण दिशा में चुपचाप फैंक दिया जाता है या तोड़ दिया जाता है, वही, ६।
८. भार० पितृ० सू० २,४,१५; १८; का० श्रौ० सू० २१,४,२४ (मर्यादालोष्ट)।

जौ तिलों में मिश्रित करके तीन वार चारों ओर विकीर्ण कर देना चाहिये[1]। अभिवान्या[2] गौ के अर्ध-चमस भर दूध में मन्थ को कच्चे मृत्पात्र में अप्रदक्षिण मथ कर दक्षिण दिशा में रख कर उसी दिशा में समूल बर्हि को बिछा कर उसके चारों ओर पलाश की परिधियां स्थापित कर देवे। मध्य में नड-तृण को रख कर अस्थियों को घी से तर करके उत्तर की ओर बैठ कर, बिना इधर-उधर देखे, अस्थियों को घड़े में से दर्भों पर उंडेल देवे[3] तथा उन्हें मनुष्य शरीर के आकार के अनुरूप जोड़ कर रखे। घड़े को भीतर से एक जीर्ण वस्त्र से पोंछ कर, सिर से ऊपर उठाकर, शव के सिर के दक्षिण की ओर पटक कर, चूर-चूर कर दें[4]। उसी जीर्ण वस्त्र से अस्थियों को ढक कर जल पात्र में से उदुम्बर शाखा से उन पर प्रोक्षण करे[5]। चारों दिशाओं में चार इष्टकाएं, मध्य में पाञ्चवीं तथा दक्षिण में षष्ठी इष्टका स्थापित करे[6]। इसी प्रकार पके चावलों के पात्रों को भी स्थापित करे तथा भुने जौ चारों ओर विकीर्ण कर दे, तथा पौधों की शाखाओं को, बिना उनकी ओर ताके, चारों ओर इस प्रकार स्थापित करे— अर्जुनशाखा पूर्व में, दूर्वा उत्तर में, काश पश्चिम में तथा दर्भ दक्षिण में[7]। तदनन्तर लोकम्पृणा नामक इष्टका स्थापित करे। फिर उन पर मिट्टी डाले,[8] किन्तु प्राची दिशा से पुरीषाहरण(मृत्तिका-आहरण)नहीं करना चाहिये[9]। ब्राह्मण की श्मशानचिति पुरीषावाप के द्वारा मुख तक ऊँची करनी चाहिये, क्षत्रिय की वक्षस्थल पर्यन्त अथवा ऊर्ध्ववाहु परिमाण तक, वैश्य की जंघा तक, स्त्री की उपस्थ पर्यन्त, शूद्र (रथकार) की जानुपर्यन्त निर्मित करनी चाहिये, अथवा सभी की जानु से नीचे ही रखनी चाहिये[10]। भार० पितृ०सू० (२,५,८-९) ने बिना जाति-भेद के सामान्यतः २, ३, ४ अंगुल या वित्ताकार, या जानु, जंघा, कटि-प्रदेश तक ऊँचाई के अनेक विकल्पों का विधान किया है, तथा अधिकतम ऊंचाई से अधिक उच्छ्राय न करने का निर्देश किया है। यह चिति पूर्व की ओर दो अंगुल ऊँची तथा पश्चिम की ओर भू-समतल भी हो सकती है[11]। चिति

---

१. भार० पितृ० सू० १९।
२. वह गौ जो दूसरी गौ के बछड़े को दूध पिलाती है (द्र० मा० श्रौ० सू० ८,१९,१)।
३. भार० पितृ० सू० २,४,२०-२६; का० श्रौ० सू० २१,४,८।
४. भार० पितृ० सू० वही, २८-२९; का० श्रौ० सू० २१,४,६।
५. भार० पितृ० सू० २,४,३०।
६. भार० पितृ० सू० २,५,१; का० श्रौ० सू० २१,४,९ में चारों दिशाओं में तीन-तीन रेखारहित इष्टकाओं को पूर्वपश्चिम स्थापित करने का निर्देश है।
७. भार० पितृ० सू० २,५,४; का० श्रौ० सू० २१,४,१८।
८. भार० पितृ० सू० २,५,७; का० श्रौ० सू० २१,४,१०।
९. का० श्रौ० सू० वही।
१०. का० श्रौ० सू० २१,४,१२-१७।
११. भार० पितृ० सू० २,५,११।

को अवका-शाखाओं तथा कुशों से आच्छादित करके उसके दक्षिण की ओर दो वक्र गर्त खोद कर सगे सम्बन्धी पूर्वदिन लाये गये घड़ों से उन्हें दूध तथा जल से भर देवें, तथा उत्तर की ओर सात प्रागायत तथा दक्षिणसंस्थ गर्तों को खोद कर उन्हें जल से पूरित कर दें। इन गर्तों में अध्वर्युसहित सभी लोग तीन-तीन पत्थर फेंकें, तथा उन पत्थरों पर से होकर ग्राम को जावें। स्नान करके, नवीन वस्त्र धारण करके बैल की पूंछ को थाम कर ग्राम को लौटें। ग्राम तथा श्मशान के मध्य में मर्यादा-लोष्ट को स्थापित करना चाहिये। नेत्रों में काजल आदि लगा कर तथा पांवों में तेल लगा कर औपासनाग्नि का परिस्तरण करके वरण-वृक्ष की परिधियों को स्थापित करके वारण स्रुव से एक आहुति प्रदान करके अध्वर्यु सभी की सुरक्षा की प्रार्थना करे। इस औपासन-अग्नि का द्वार से भिन्न किसी अन्य स्थान से निरसन कर दिया जाता है। तकिये सहित जीर्ण आसन्दी (कुर्सी), बूढ़ा बैल, पुराने जौ, सभी कुछ जीर्ण, दक्षिणा में दिया जाता है। इच्छा हो तो अधिक भी दे सकता है[1]। कुछ आचार्यों के मतानुसार इस अवसर पर सभी को धूलि से स्नान करना चाहिये[2]।

भार० पितृ० सू० में इसके अनन्तर **यम-यज्ञ** का विवरण प्रस्तुत किया गया है, जो पितृमेध का अंग न होकर गृह्य कर्म है। जैसा कि ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है, अन्य कर्मों के समान पितृमेध (श्मशान-चिति) के विषय में भी शाखा-भेद से कुछ न कुछ कर्म-भेद दृष्टिगोचर होता है[3]।

बौधायन पितृमेधसूत्र

बौधायन पितृमेधसूत्र स्वतन्त्र सूत्र है, जिसमें तीन प्रश्न हैं। मूल रूप में इसमें एक ही प्रश्न था, दो बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं। द्वितीय प्रश्न के कई अंश प्रथम प्रश्न के समानान्तर भागों से सम्बद्ध हैं। तृतीय प्रश्न का दहन-कल्प प्रथम प्रश्न के इसी नाम के कृत्य से भिन्न है। इसमें राजगवी का वध, चिता से बकरे का बांधना तथा पत्नी का चिता पर पति के साथ लिटाना (चितारोहण) नहीं पाये जाते। भारद्वाज पितृमेधसूत्र में विहित **यमयज्ञ** नामक कृत्य इस सूत्र में नहीं दिया गया, किन्तु बौधायन-गृह्य-परिशिष्ट में उल्लिखित है[4]।

---

१. का० श्रौ० सू० २१,४,१८-३०।

२. भार० पितृ० सू० २,५,२१।

३. *Vide, Cult and Images of the Pitṛs by* Dakṣiṇārañjan Shastri, *in journal of Indian School of Oriental Art*, Vol. 7, 1939; Vāj. S. XXXV and Ś. Br. XII. 8. 1.

४. बौ० गृ० परि० १,१७।

इस सूत्र के हस्तलेखों में पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है। कैलैण्ड के प्रथम प्रश्न के संस्करण में १७ कण्डिकाएं हैं तथा रआवे के द्वितीय-तृतीय प्रश्नों के संस्करण में क्रमशः ७ और १२ कण्डिकाएं हैं। मैसूर संस्करण के प्रथम प्रश्न में तो १७ ही कण्डिकाएं है, किन्तु द्वितीय प्रश्न में ८-१२ तक की कण्डिकाएं रआवे के संस्करण में अनुपलभ्य हैं। द्वितीय प्रश्न वैसे भी पूरक सा है। इस सूत्र के विषय-विभाजन इस प्रकार किये गये हैं—

	अध्याय	कण्डिका	
प्रश्न (१)	१	१-३	आरम्भिक कर्म, श्मशान भूमि को प्रस्थान।
	२	४-७	श्मशान भूमि में चिता की तय्यारी, राजगवी का वध, पात्र-चयन प्रभृति।
	३	८-१०	दाह-संस्कार, अनन्तर कर्म तथा अनाहिताग्नि के लिये विशेष क्रियाकर्म।
	४	११-१२	अस्थिचयन।
	५	१३	पुनर्दहन।
	६	१४-१६	धुवन कर्म, लोष्टचिति।
	७	१७	शान्ति कर्म, ब्रह्ममेध।

प्रश्न (२) पूरक सा है। इसमें प्रायः प्रश्न १ में वर्णित विषयों का ही थोड़े बहुत परिवर्धन के साथ पुनर्वर्णन किया गया है। केवल कुछ शब्दों की व्याख्या तथा कुछ उद्धरण अधिक हैं।

प्रश्न (३) दहनकल्प का पुनर्विधान किया गया है, जिसके कर्म प्रथम प्रश्न के दहन कर्म से भिन्न हैं, यथा—यहां राजगवी का वध, अजबन्धन, पत्नी का चितारोहण प्रभृति का अभाव है। अतः यह बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है। इसमें अनाहिताग्नि तथा आहिताग्नि[1] दोनों के लिए कृत्यों का प्रतिपादन किया गया है। गर्भवती स्त्री तथा परिव्राजक के विषय में भी कृत्यों का प्रतिपादन यहां किया गया है।

इस सूत्र की रचनाशैली प्रायः बौधायन के अन्य सूत्रों के समान ही है। इसमें अनेक विषयान्तर तथा प्राचीन वचनों को उद्धृत करने की परिपाटी है। पश्चाद्-वर्ती सूत्र (भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशि) इसका संक्षेप ही नहीं अपितु

---

१. हविर्याग करने वाले आहिताग्नि की अस्थियों को एक मिट्टी के मटके में रखकर भूमि में दबा देने का विधान है। सोमयाजी की अस्थियों का पुनर्दहन तथा अग्निचयन करने वाले का अन्तिम संस्कार लोष्टचिति में होना चाहिये।

अधिक व्यवस्थित तथा व्यावहारिक भी हैं। इसमें श्मशान के गुणों का वर्णन वहां क्रियमाण कर्मों के प्रतिपादन के बाद किया गया है जबकि अन्य सूत्रकारों ने सूत्र का आरम्भ ही श्मशान के गुण-दोषों के वर्णन से किया है। इसमें अनेक नवीन तथा अन्यत्र अप्रयुक्त शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। यथा—प्रच्यावनी= मटका ; निर्मार=अणिमा ; वेदयति=सम्मार्ष्टि ; प्रतिहित=द्वितीय वर।

इस सूत्र की कोई व्याख्या उपलभ्य नहीं है।

संस्करण :—१. कैलैण्ड द्वारा **पितृमेधसूत्राणि** के अन्तर्गत प्रथम प्रश्न सम्पादित (*Abhendlumgen für die Kunde des Morgenlandes* Vol. X, Pt. 3, Leipzig, 1896।

२. C.H. Raabe, *Praśna* 2-3, Leiden, 1911।

३. बौ० गृ० सू०, द्वि० सं० में आर० शामशास्त्री द्वारा सम्पादित, मैसूर, १९२०।

भारद्वाज पितृमेधसूत्र (पैतृमेधिक सूत्र)

भारद्वाज कल्प के अन्तर्गत पितृमेधसूत्र स्वतन्त्र रचना है, जिसके दो प्रश्न हैं, जो प्रत्येक १२-१२ कण्डिकाओं में विभाजित हैं, जिनमें दाहकर्म, अस्थिचयन, अस्थिपेषण, पुनर्दहन, शान्तिकर्म, ब्रह्ममेध, चिति-रचना, यमयज्ञ प्रभृति कृत्यों का विवरण दिया गया है। इसका पटल-विभाजन भी पाया जाता है, जिसके अनुसार अन्तिम अर्थात् पञ्चम पटल, प्रश्न २,५ पर समाप्त हो जाता है, जिसका अर्थ यह है कि प्रश्न २,६-१२ का भाग प्रक्षिप्त है[1]। इसकी पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि पितृमेध के कर्म का अन्त २,५ पर हो जाता है। २,६-७ में यम-यज्ञ का वर्णन किया गया है, जिसका अन्त्येष्टि क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें प्रतिमास यम को बलि देने का विधान है, जो निश्चय ही गृह्य कर्म है। २,८-१२ का भाग आनुषङ्गिक कर्मों से सम्बद्ध है। आप० पितृ० सू० तथा सत्या० पितृ० सू०, दोनों का ही आधार-भूत सूत्र भार० पितृ० सू० ही है। भार० कल्प तथा भार० पितृ० सू० से बहुत बड़ी संख्या में व्याख्याकारों द्वारा उद्धृत वचनों से सिद्ध होता है कि एक समय में न तो आपस्तम्बियों का और न ही सत्याषाढ सम्प्रदाय का कोई पितृ० सू० था। कालान्तर में इसी में कुछ परिवर्तन करके इन दोनों ने अपने-अपने पितृ० सू० बना लिये। भारद्वाज पितृमेध सूत्र अपने श्रौत तथा गृह्यसूत्रों की शैली पर रचा

---

१. गार्ग्य गोपाल यज्वा ने आप० पितृ० सू० की अन्तिम सप्त कण्डिकाओं पर भाष्य नहीं लिखा, किन्तु कपर्दिस्वामी ने इस पर व्याख्या रची है। प्रतीत होता है कपर्दि-स्वामी के समय में यह भाग मूल सूत्र में सम्मिलित हो गया था। यज्वा ने इनमें से 'भार० पितृ० सू०' के नाम से उद्धरण दिये हैं।

गया है। इसमें अपने कल्प के अनुरूप ही भाषा की विशेषताएं परिलक्षित होती हैं :—

यथा—**अजस्य प्राश्नन्ति ; अभिवान्यायै दुग्धस्य ; अधश्शय्या ; पत्रः ; प्रत्यक्-शिरसीं दक्षिणापदीम् संज्ञपयन्ति**। **अत्यन्तप्रदेश** शब्द का प्रयोग **श्रौतसूत्र** के समान यहां भी हुआ है।

इस सूत्र का महत्त्व इसी से प्रमाणित होता है कि दीर्घकाल-पर्यन्त आपस्तम्बियों ने अपना अन्त्येष्टि कर्म इसी सूत्र से किया है। आपस्तम्ब पितृमेध-सूत्र पर कपर्दिस्वामी का भाष्य वस्तुतः भारद्वाज पैतृमेधिक सूत्र पर ही है।

संस्करण :—सी०जी० काशिकर ने स्वसम्पादित भार० श्रौ० सू० के अन्तर्गत इनका भी सम्पादन किया है और अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है, पूना, १९६४। (*Śrauta, Paitṛmedhika, and Pariśeṣa Sūtras of Bharadvāja*)।

आपस्तम्ब पितृमेध सूत्र

जैसा कि ऊपर देख चुके हैं आपस्तम्ब पितृमेध सूत्र का भारद्वाज पैतृमेधिक सूत्र से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। अन्तर केवल इतना है कि २, ६-१२ का भाग परिशिष्ट के रूप में माना जाता है। आरम्भ में आपस्तम्ब कल्प का अपना पितृमेध सूत्र नहीं था और इसके कुल तीस ही प्रश्न थे। पितृमेध सूत्र के दो प्रश्न बाद में जोड़े गये हैं। चौण्डपाचार्य (१४वीं शती) ने आप० श्रौ० सू० पर अपनी व्याख्या 'प्रयोग-रत्न-माला' में पितृमेधसूत्र का उल्लेख नहीं किया। प्रतीत होता है कि आपस्तम्बियों ने आरम्भ में भार० पितृ० सू० को ही अपना सूत्र मान लिया था[1]। कपर्दिस्वामी के आप० पितृ० सू० पर भाष्य की पुष्पिकाओं तथा भाष्य से प्रकट होता है कि उनका भाष्य वस्तुतः भार० पितृ० सू० पर है[2]। गार्ग्य गोपाल यज्वा ने इन सूत्रों पर अपने भाष्य में अन्तिम सात कण्डिकाओं को इस सूत्र का भाग न मानकर उन्हें 'भार० पितृ० सू०' के नाम से उद्धृत किया है। किन्तु स्मृतिमुक्ताफल के रचयिता वैद्यनाथ दीक्षित ने इन्हें आप० पितृ० सू० के नाम से उद्धृत किया है। तैत्तिरीयारण्यक पर अपने भाष्य में पितृमेध प्रकरण में सायण ने भार० पितृ० सू० को ही उद्धृत किया है। अतः सायण को आप० पितृ० सू०

---

१. काशिकर, सूत्रज ऑफ़ भरद्वाज, भाग १, भूमिका, पृ० ४५।

२. वही, पृ० ४६; तु. 'इति भारद्वाज-सूत्रे परिधानीयके कपर्दिभाष्ये प्रथमं पटलम्'। इस विषय में कॅलेण्ड किसी सुनिश्चित परिणाम पर नहीं पहुँच सके (*Die altindischen Todten und Bestattungsgebrauche, Asmterdom*, 1896, Intro, P. 5), अन्यत्र इन्होंने इसे आप० श्रौ० सू० का अंग न मानकर स्वतन्त्र कृति माना है।

का पता नहीं था[1]। भास्कर-भट्ट-सूनु हरिहर ने स्वरचित अन्त्येष्टि पद्धति में कहा है कि उनकी रचना का आधार भार० पितृ० सू०, उसका कर्पादिभाष्य, तथा कारिकाएं हैं। इस रचना को आपस्तम्बीय शाखा के अनुयायी भी मान्यता प्रदान करते हैं। रुद्रदत्त स्वरचित आप० श्रौ० सू० भाष्य में सदा भार० पितृ० सू० को उद्धृत करते हैं। आप० श्रौ० सू० ९, ११, ४ तथा १२ के भाष्य में उन्होंने भार० पितृ० सू० २, १०, १०; २, ११, १ को उद्धृत किया है[2]। इन समस्त साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि आप० पितृ० सू० का आधार भार० पितृ० सू० है। किन्तु इनमें कहीं-कहीं अन्तर भी पाया जाता है।

इस सूत्र का विषय-वार विवरण इस प्रकार है :—

प्रश्न १—पटल १-२ में मृत्युकाल का क्रिया-कर्म, श्मशान-चयन, स्नपन, परिधापन, श्मशान को नयन, दाहकर्म, प्रार्थना तथा स्नान के बाद शोकाकुल सम्बन्धियों का घर लौटना। इसमें ८ खण्डों में १३८ सूत्र हैं।

पटल ३ (खण्ड २; २८ सूत्र)—अस्थि चयन, तथा दशाह पर्यन्त क्रियमाण कर्मों का विवरण।

पटल ४ (खण्ड २; ५५ सूत्र)—दशम दिन का क्रिया-कलाप, शान्ति तथा आनन्द होम। तृतीय खण्ड में ब्रह्ममेध सम्बन्धी कर्म।

प्रश्न २—पटल १ (२ खण्ड १९ सूत्र) में काठकाग्नि में (तै० ब्रा० के कठ प्रश्नों १०-१२ के अनुसार) दग्ध व्यक्तियों की अस्थियों को मटके में रख कर लोष्टचिति में स्थापित करने का विवरण है। यह कर्म अब केवल परम्परा से ज्ञातव्य रह गया है। इस भाग पर भाष्य उपलभ्य नहीं है[3]। कपर्दिस्वामी ने आप० श्रौ० सू० के परिभाषा पटल और पितृमेध सूत्र (प्रश्न १) पर ही भाष्य लिखा प्रतीत होता है। सम्भव है आपस्तम्ब सूत्र के अन्य भागों पर भी लिखा हो, किन्तु इस समय उपलब्ध नहीं है।

व्याख्या—१. गार्ग्य गोपाल यज्वा कृत भाष्य, टी० एम०, नारायण द्वारा ग्रन्थाक्षरों में प्रकाशित, कुम्भघोणम्, १९१६।

२. कपर्दिस्वामी कृत भाष्य (प्रथम प्रश्न)। डा० बर्नेल के विचार में

---

१. काशिकर, वही, पृ० ४७।

२. काशिकर, वही, पृ० ४८, तथा पृ० १४ से।

३. बी० वी० कामेश्वर अय्यर, कल्पसूत्रज एण्ड आपस्तम्ब, क्यू० जे० एम० एस०, भाग १३, जनवरी १९२३, पृ० ५२५-५२९।

कर्पदिस्वामी तथा आण्डपिल्लै (तालवृन्त निवासी) एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं, जो समीचीन नहीं है। कर्पदिस्वामी का 'भाष्य' है, जबकि आण्डपिल्लै की 'वृत्ति' है। आण्डपिल्लै ने स्वरचित 'वृत्ति' में आप० सूत्रों को आधुनिक वैदिक कर्म-काण्डीय आवश्यकताओं के अनुसार अनेक परिवर्तन परिवर्धन किये हैं।

संस्करण—१. टी० एम० नारायण सम्पादित।

२. म० म० टी० गणपति शास्त्री द्वारा कर्पदिस्वामी भाष्य, गार्ग्य गोपाल यज्वा के भाष्य के अंश, स्वरचित व्याख्या तथा आण्डपिल्लै (तालवृन्त निवासी) कृत 'अपरप्रयोग' सहित ग्रन्थाक्षरों में सम्पादित।

मानव पितृमेधसूत्र

मानव पितृमेधसूत्र, मानव श्रौतसूत्र के अन्तर्गत आनुग्राहिक प्रकरण का अंग है (८, १९-२३)। यह बहुत प्राचीन नहीं प्रतीत होता। अस्थिचयन कर्म माध्यन्दिन-शाखीयों के कर्म के अनुरूप है। १९वें अध्याय में आहिताग्नि के दाह-संस्कार का वर्णन है और २०वें अध्याय में अनाहिताग्नि, बच्चे तथा व्रती के दाह-संस्कार के नियम, घर लौट कर करणीय कृत्यों का विवरण, २१वें में देशान्तर-स्थित अथवा युद्ध में मारे गये व्यक्ति के शरीर की प्राप्ति और अप्राप्ति पर भिन्न-भिन्न कृत्यों का विधान, २२वें में आनुषङ्गिक कर्मों का तथा २३वें में विधवा के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है।

आग्निवेश्य पितृमेधसूत्र

आग्निवेश्य पितृमेधसूत्र का विवरण आग्निवेश्य गृह्यसूत्र (३, ४-८) में दिया गया है। यह बौधा० पितृ० सू० के आनुषङ्गिक कर्मों के अनुरूप ही है। यह तैत्तिरीय संहिता की वाधूल शाखा से सम्बद्ध है।

कात्यायन पितृमेधसूत्र

कात्यायन पितृमेध सूत्र का विवरण कात्यायन श्रौतसूत्र (२५; २१, ३-४) में दिया गया है।

कौशिक पितृमेधसूत्र

कौशिक पितृमेध कर्म कौशिकसूत्र या 'संहिता विधि' (८०-८६) में ही विहित है। इसमें पुनर्दहन का विधान नहीं है। अस्थियों के मानवाकार पुतले को जोती हुई भूमि पर रख कर उसके आस-पास भात के पांच पात्रों के स्थान पर नौ पात्र रखने का विधान किया गया है। चिति-रचना के अनन्तर घर लौटने से पूर्व खेत में नाली खोदकर, उसमें जल भर कर, उसमें नौका चलाने की विधि भी है, जो अन्यत्र नहीं पायी जाती।

सत्याषाढ़-हिरण्यकेशि पितृमेधसूत्र

इस समय सत्याषाढ़-हिरण्यकेशि-पितृमेधसूत्र सत्याषाढ-हिरण्यकेशि-कल्प के २८-२९ दो प्रश्नों के रूप में उपलब्ध होते हैं। प्रथम प्रश्न के तीन पटलों में बारह कण्डिकाएं हैं और द्वितीय प्रश्न के पांच पटलों में ग्यारह कण्डिकाएं हैं[1]। इसके अतिरिक्त सत्याषाढ-पितृमेधसूत्र तथा आप० पितृ० सू० में गर्भवती स्त्री के अन्त्येष्टि कर्म से सम्बद्ध परिशिष्ट भी उपलभ्य है, जो भार० पितृ० सू० में नहीं पाया जाता। कैलैण्ड के मतानुसार 'हिरण्यकेशि पितृ०सूत्र तथा भारद्वाज पितृ०सूत्र प्रायेण एक समान है'[2]। किन्तु सत्याषाढ़-कल्प-सूत्रों के महान् व्याख्याता महादेव ने प्रथम सूत्र के भाष्य में ही लिखा है, **इदं हि सप्तविंशत्यात्मकं सत्याषाढ-हिरण्यकेशि-सूत्रम्** और घोषित किया है कि प्रश्नद्वयात्मक पितृमेधसूत्र भरद्वाज ने रचे थे और मुनि (सत्याषाढ़) ने उन्हें ग्रहण कर लिया था[3]। इससे यह सिद्ध होता है कि मूलरूप में सत्याषाढ़-कल्प में पितृमेधसूत्र नहीं था। और इस शाखा के अनुयायियों ने भारद्वाज पितृमेधसूत्र को ही अपने अन्त्येष्टि कर्म के लिये अपना लिया था। बाद में इन्होंने इस सूत्र में तनिक परिवर्तन करके अपने नाम से प्रसिद्ध कर दिया। भार० पितृ० सू० में **ब्रह्ममेध** का प्रकरण चिति से पूर्व आता है, सत्या० पितृ० सू० में बाद में। इसी प्रकार के कुछ परिवर्तन और भी किये गये हैं, यथा—सत्या० पितृ० सू० की अन्तिम दो कण्डिकाओं को एक कर दिया गया है, अतः द्वितीय प्रश्न में ११ कण्डिकाएं रह गयी हैं, भार० पितृ० सू० में बारह हैं। भारद्वाज की रचना-व्यवस्था सम्भवतः ठीक है[4]। कहीं-कहीं शब्द प्रयोग में भी हेर-फेर किया गया है। यथा—

भारद्वाज=अक्ष्योः→सत्याषाढ़=अक्ष्णोः

भारद्वाज=वत्सायै→सत्याषाढ़=वत्सायाः

आप० पितृ० सू० की विषय-व्यवस्था भार० पितृ० सू० से मिलती है। अतः सत्या०पितृ० सू० का उससे भी उसी प्रकार का भेद पाया जाता है। सत्याषाढ़ (२९, ५, ६ या पितृमेध २, ५, ६) में **यम-यज्ञ** का प्रतिपादन भारद्वाज पितृ० सू० के अनुसार किया गया है, जो सम्भवतः आप०पितृ०सू० में नहीं था[5]। गार्ग्य गोपाल

---

१. कैलैण्ड का संस्करण—'पितृमेधसूत्राणि'; तथा आनन्दाश्रम, पूना, संस्करण।

२. पितृमेध-सूत्राणि, भूमिका, पृ० १४।

३. "पितृमेधस्तु भारद्वाजीयो मुनिना परिगृहीतो द्वौ प्रश्नौ" (आनन्दाश्रम सं० भाग १, पृ० ८, पूना)।

४. कैलण्ड, वही, भूमिका, पृ० १५।

५. कैलैण्ड, वही, पृ० १७।

यज्वा सत्या० पितृ० सू० (२, ८) से अनेक उद्धरण देता है। जब वह अशौच-धर्मों का विवरण देता है तो भारद्वाजीय पाठ उद्धृत करता है, आपस्तम्बीय नहीं। दूसरे सत्या० (२, ११) का विषय आपस्तम्ब ने अपने प्रायश्चित्त प्रकरण (९, ११, २२-२३) में प्रस्तुत कर दिया था। ये दोनों सूत्र भारद्वाज० के प्रायश्चित्त प्रकरण (८,१४;१५) तथा सत्याषाढ़० (१५,१२) में विद्यमान नहीं हैं[1]। इसी प्रकार सत्याषाढ़ पितृ० सूत्र (२,८) के विषय आपस्तम्ब० (९,११,२१) में पहले ही दे दिये गये हैं।

आप० पितृ० सू० तथा भार०-सत्या० पितृ० सू० में परस्पर पाठ का अन्तर सत्या० तथा भार० पितृ० सूत्रों के पारस्परिक अन्तर से अधिक है। यद्यपि आपस्तम्बीय तथा सत्याषाढीय पितृमेधसूत्रों का आधार भार० पितृ० सू० है, तो भी सत्याषाढीय पितृ० सूत्रों में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। यथा—

अयुजकारम्=अयुजं करोति।

उपोषण=दाहसंस्कार।

चयनान्त=श्मशान में चिता का निर्माण करके।

विधृतिलोष्ट=दो वस्तुओं को पृथक् करने वाला मध्य में रखा मिट्टी का ढेला।

व्याख्या :—इस सूत्र पर महादेव की व्याख्या सत्याषाढ कल्प के अन्तर्गत ही की गयी है।

संस्करण :—१. कैलैण्ड, **पितृमेधसूत्राणि** के अन्तर्गत प्रकाशित, लाईप्सिग्, १८९६।
२. **सत्याषाढ कल्पसूत्र** के अन्तर्गत, आनन्दाश्रम, पूना।

गौतम पितृमेधसूत्र

सामवेद की राणायनीया शाखा के सूत्रों के अन्तर्गत गौतम पितृमेध सूत्र भी आते हैं। इसमें दो पटल हैं, प्रत्येक में ७-७ अध्याय हैं। इनके विषयों की व्यवस्था इस प्रकार की गयी है—

पटल १	अध्याय १-५	दाह संस्कार पर्यन्त सभी कर्म।
	६	अस्थि-चयन।
	७	शान्तिकर्म।
पटल २	१	पुनर्दहन।
	२-६	श्राद्ध-कल्प।
	७	अनाहिताग्नि का दाह-संस्कार।

---

१. कैलैण्ड, पितृमेध-सूत्राणि, भूमिका, पृ० १७।

ये कर्म बौधायन पितृमेध सूत्र के आनुषङ्गिक कर्मों से मिलते जुलते हैं। कैलैण्ड के अनुसार यहां का श्राद्धकल्प कात्यायनीय तथा गोभिलीय श्राद्धकल्पों से अर्वाचीन है। अतः इन दोनों से प्रभावित है[1]। बौधायन के अतिरिक्त गौतम पितृमेधसूत्र वैखानस-सूत्र के भी निकटस्थ है। श्रौतसूत्रों में इसका सम्बन्ध द्राह्यायण श्रौतसूत्र से है, लाटयायन से नहीं[2]। इसका प्रमाण यह है कि २,७,७-३२ का पाठ द्राह्यायण २३, ४, १६-२३ के समान है। केवल दो स्थलों पर थोड़ा भेद है :—

गौतम २, ७, १५—**कर्णयो र्वा**—द्राह्यायण में उपलभ्य नहीं है।

गौतम २,७,३२—**पृषदाज्येन पूरयित्वा**—द्राह्यायण में पृषदाज्यवन्ति है।

वैसे इस सूत्र का पाठ बहुत भ्रष्ट है। **गौतमश्राद्धकल्प** को छन्दोग अथवा **खादिरश्राद्धकल्प** की संज्ञाओं से भी स्मरण किया जाता है, तथा **गोभिलश्राद्धकल्प के समानान्तर रचना है,** जिसे श्राद्धकल्प को इसके सम्पादक तथा व्याख्याकार तर्कालङ्कार ने ८ खण्डों में विभक्त किया है[3]।

गोभिलश्राद्धकल्प वसिष्ठ की भी कृति मानी जाती है और **गोभिलगृह्य** सूत्र से कुछ अंश **कात्यायन श्राद्धकल्प** में जोड़ कर नवीन रचना बना ली गयी है। कर्म-प्रदीप में वसिष्ठ के नाम से ही उद्धृत भी की गयी है[4]। इसका सम्बन्ध कौथुमों से स्पष्ट ही प्रकट होता है।

जैसा कि कैलैण्ड ने निर्देश किया है[5] गो०पितृ०सू० के सूत्र २,७,७-३२= निदान सूत्र २, ६। किन्तु इस बात का निर्णय कैलैण्ड भी नहीं कर सके कि यह श्राद्धकल्प जो गो० श्राद्ध० से उत्तरवर्ती है राणायनीयों से सम्बद्ध है या गौतमीयों से[6], जिन्हें चरणव्यूह में राणायनीयों की उपशाखा माना गया है। इस विषय में यह भी ध्यातव्य है कि खा०गृ०सू० को गौतम की रचना माना जाता है[7]।

व्याख्या— अनन्त यज्वा का विवरण उपलभ्य है।

संस्करण—कैलैण्ड द्वारा 'पितृमेधसूत्राणि' के अन्तर्गत सम्पादित। लाईप्सिग्, १८९६

---

१. *Der Gautama Śradhekalpa, eln Beitrage zur Geschichte der* S.V. Schulen (Brijdragen VI. 1. p. 97).
२. कैलैण्ड, पितृमेधसूत्राणि, भूमिका, पृ० २२।
३. गोभिलपरिशिष्ट, कलकत्ता, बि० आइ० १९०९।
४. *Cf.*, Caland, *Ahnencult*, p. 113 seqq.
५. Brijdr. VI. 1, p. 98.
६. वही।
७. जै०सं० भूमिका पृ० १७।

कौषीतक पितृमेधसूत्र

कौषीतक गृह्यसूत्र के अन्तर्गत (५म अध्याय) प्रतिपादित है। कौषी० गृ० सू० को ही शाम्बव्य गृ० सू० भी कहते हैं।

शाङ्खायन पितृमेधसूत्र

शाङ्खायन पितृमेधसूत्र शाङ्खायन श्रौतसूत्र के अन्तर्गत है (४,१४-१६)। इस पितृ० सू० की विशेषता यह है कि इसमें चिता पर स्थापित शव के पांव पर शकट रखने का विधान है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय में **दर्शपूर्णमास** इष्टि में वास्तविक शकट के स्थान पर खिलोने का प्रयोग किया जाने लगा था[1]। विषय प्रायः वही है जो अन्य सूत्रों में प्रतिपादित है।

आश्वलायन पितृमेधसूत्र

आश्वलायन पितृमेध सूत्र आश्वलायन गृह्यसूत्र (चतुर्थ अध्याय) में प्रतिपादित हैं। इसमें मृतक के दाँतों पर 'ग्रावा' रखने का विधान किया गया है (४, ३, ५)[2]। अनुस्तरणी गौ के अभाव में अजा के वध का विधान किया गया है।

काठक पितृमेधसूत्र

गृह्यपञ्चिका में दो स्थानों पर **पराची कर्म** (अन्त्येष्टि कर्म) का विवरण दिया गया है, जो गद्य-पद्यात्मक है। पद्य प्रायः **लौगाक्षि स्मृति** से ग्रहण किये गये हैं, जो बहुत अर्वाचीन हैं।

वैखानस पितृमेधसूत्र

यह **वैखानस स्मार्तसूत्र** का अंग है (पञ्चम प्रश्न)। इसकी विशेषता यह है कि इसमें मरते हुए व्यक्ति की मानसिक दशा चित्रित की गयी है। चिता के चारों कोनों पर चार शङ्कु गाड़ने की भी व्यवस्था यहां है। **अनुस्तरणी** या अजा के वध का विधान नहीं किया गया। आहिताग्नि की चिता पर उसके यज्ञ-पात्रों को उसके अंगों पर रखने का भी विधान किया गया है। वेद और कूर्च को चूडिका पर रखना चाहिये। **पुनर्दहन** कर्म में अन्न और अपूप चढ़ाकर अस्थियों के पुतले का दाह विहित है (५, ६)। वैखानस श्रौतसूत्र (२०, २०-२३) में भी ऐसे कर्म का विधान किया गया है।

संस्करण :—कैलैण्ड द्वारा सम्पादित, वैखानस गृह्यसूत्र, बि० इण्डि०, कलकत्ता।

---

१. कशिकर, सर्वे, पृ० १०८।

२. नु० शां० पितृ० सू० (शां० श्रौ० सू० ४, १४, २६)।

तैत्तिरीय पितृमेधसूत्र

तैत्तिरीय आरण्यक के षष्ठ प्रपाठक को ज़ीग[1] ने उपनिषद् न मान कर पितृमेध सूत्र के रूप में स्वीकार किया है। यह सर्वथा सम्भव है कि भिन्न-भिन्न शाखाओं में पितृमेधसूत्र का स्थान भिन्न भिन्न रहा हो। यथा बौधायन-कल्प में पितृमेध-सूत्र गृह्यसूत्र के पश्चात् रखा गया है[2]। काठक तथा मैत्रायणीय शाखाओं में पितृमेध-सूत्र इस रूप में नहीं पाया जाता। अतः यह सूत्र बहुत अवरकालिक रचना प्रतीत होती है। वा० सं० का ३५वां अध्याय 'पित्र्य अध्याय' के नाम से विख्यात है और यह शेष संहिता की अपेक्षा पश्चकालिक माना जाता है।

---

१. भारद्वाज शिक्षा, पृ० २ से।

२. Caland, *Über des Rituelle des Baudhāyana*, p. 13,

द्वादश अध्याय

प्रवर सूत्र

विशेष-विशेष यज्ञीय कर्मों में—मुख्यतः दर्शपूर्णमास, अग्निचयन, विवाह-संस्कार, अश्वमेध, राजसूय प्रभृति कर्मों तथा सत्त्रों में—गोत्र तथा प्रवर के उच्चारण की प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है। किन्तु ये प्रवर क्या हैं, कब से आरम्भ हुए तथा कर्मकाण्ड में इन के उच्चारण का क्या उद्देश्य है ? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनके समाधान के विषय में विज्ञ विद्वानों में तीव्र मतभेद पाये जाते हैं।

काणे के मतानुसार 'प्रवर' का विचार अत्यन्त प्राचीन काल से गोत्र के साथ सम्बद्ध रहा है। यद्यपि इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में नहीं हुआ है, तो भी यह ऋग्वैदिक काल को स्पर्श अवश्य करता है[1] और कि इस संस्था का संघटन ब्राह्मण तथा सूत्रकाल के मध्य में पूर्ण हो चुका था[2]।

प्रवर शब्द का पर्यायवाची शब्द 'आर्षेय' अर्थात् 'ऋषिपरम्परा' है। अतः 'प्रवर' से अभिप्रेत उन ऋषियों की परम्परा है जो मन्त्रद्रष्टा थे तथा यज्ञकर्ता के गोत्र ऋषियों के भी पूर्वज माने जाते हैं अतः श्रद्धा के पात्र बन गये हैं।

डा० जे० ब्रो० के अनुसार 'प्रवर'-संस्था ऋग्वेद के अवरकालिक सूक्तों में जड़ पकड़ती दृष्टिगोचर होती है। तथा इसका विकास प्राचीन ब्राह्मण काल में हो चुका था[3]। यद्यपि सिद्धान्त रूप में यह माना जाता है कि 'प्रवर' वास्तव में उन ऋषियों के नाम हैं, जिन्होंने किसी न किसी वैदिक सूक्त के मानसिक दृष्टि से दर्शन किये हैं[4]। एस० बी० करन्दिकर की गणना के अनुसार ऋग्वेद के न्यूनातिन्यून सात मन्त्रों में स्पष्टरूपेण अग्न्याधान, अथवा अग्निचयन में अग्नि प्रज्वलित करते समय अग्निदेव का आह्वान किया गया है कि वह वेदि में पधार कर यज्ञ को सफल बनावे। इस प्रार्थना का स्वरूप कुछ इस प्रकार है—

---

१. जे० बी० बी० आर० ए० एस०, १९३५, पृ० ११।

२. हि० ध० शा०, खण्ड २, पृ० ४८६—८७।

३. Dr. J. Brough, ed. *Gotra-Pravara Manjari*, *Intro*. Pp. 21-24.

४. आप० श्रौ० सू० २४,५,६।

'मैं अग्नि का आह्वान उसी प्रकार करता हूँ जैसे श्रौर्व, भृगु तथा श्राप्नवान ने किया था[१]।

'हे जातवेदस्! आप प्रस्कण्व की पुकार उसी प्रकार सुनें जैसे प्रियमेध, अत्रि, विरूप तथा अंगिरस् की सुनी थी'[२]।

'वे पराशर, शतयातु तथा वसिष्ठ, जिन्होंने ने आपको घर-घर प्रसन्न किया, आप जैसे उदार कृपालु का विस्मरण नहीं करेंगे[३]।

यहां ध्यातव्य है कि पराशर, शतयातु (='शक्ति'—सा०) और वसिष्ठ पराशर-गोत्र के प्रवर-ऋषि हैं।

अथर्व० (११, १, १६; २५, २६, ३२, ३३, ३५; १२, ४, २, १२; १६, ८, १३) में 'आर्षेय' शब्द का प्रयोग 'ऋषियों की सन्तान' या 'ऋषियों से सम्बद्ध' अर्थ में हुआ है। तै० सं० में 'प्रवर' तथा 'आर्षेय' दोनों का प्रयोग उन्हीं अर्थों में किया गया है, जिनमें सूत्रों ने किया है। इतना ही नहीं। यहां तो प्रवरोच्चारण के प्रकार का भी स्पष्टीकरण कर दिया है कि ऋषियों को ऊपर से नीचे की ओर क्रम से चुना जाता है[४]।

प्रवृणीते शब्द का सर्वप्राचीन प्रयोग ऐ० ब्रा० तथा कौ० ब्रा०[५] में किया गया है। तदनन्तर श० ब्रा०[६] तथा आप० श्रौ० सू० में देखा जा सकता है[७]।

प्रवर-ऋषियों के नामों के उच्चारण के दो प्रकार हैं। प्रथम प्रकार में होता आहवनीय अग्नि का आह्वान करता है और यजमान के प्रवर-ऋषियों के नामों का उच्चारण करता है, जिनमें सर्वप्राचीन ऋषि का नाम सर्वप्रथम 'वृद्धिपूर्वक' लिया जाता है। यथा—**अग्ने महां असि ब्राह्मण, भरत देवेद्ध, मन्विद्ध··· भार्गव-च्यावनाप्नवानौर्वजामदग्न्येति**। द्वितीय प्रकार में अध्वर्यु ऊर्ध्वजानु बैठे होता का, अन्य पक्ष के अनुसार अध्वर्यु भी आहवनीय अग्नि का ही, वरण करता है,

---

१. ऋग्० ८, १०२, ४; यहां यह ध्यातव्य है कि इस मन्त्र में वत्स-भृगुगण के पांच में से तीन प्रवर-ऋषियों के नाम गिनाये गये हैं।

२. ऋग्० १, ४५, ३।

३. ऋग्० ७, १८, २।

४. तै० सं० २, ५, ८, ७; 'पुरस्तादर्वाञ्चो वृणीते'।

५. ऐ० ब्रा० ७, २५; कौ० ब्रा० ३, २।

६. श० ब्रा० १, ४, २, ३।

७. आप० श्रौ० सू० २, १५, १; २, १६, ५-८।

वही देवताओं का सर्वश्रेष्ठ **होता है**। गोत्रप्रवरमञ्जरी में पुरुषोत्तम देव गोत्रप्रवर (निवन्ध-कदम्ब, पृ० ७-८) का वरण इन शब्दों में करता है—**अग्निदेवो होता देवान् यक्षद् विद्वांश्चिकित्वान् मनुष्वद् भरतवदमुवदमुवद् इति यथार्षेयो यजमानः**[1]।

यहां अमुवद् के स्थान पर ऊपर के प्रवर के अनुरूप व्यतिक्रम पूर्वक ऋषियों का नामोच्चारण किया जाता है—**जमदग्निवत्-ऊर्वंवत्-अप्नवानवत्-च्यवनवत्-भृगुवत्**[2]। स्वयं ऋग्वेद में वत्-प्रत्यय तथा तद्वाचक 'यथा' एवं 'इव' शब्दों का प्रयोग ऋषियों के नामों के साथ किया गया है। ऐसे ऋषियों की संख्या आठ है—अंगिरस्, अत्रि, भृगु, मान्धातृ, मनुस्, प्रियमेध, विरूप तथा ययाति।

पहले क्रम में यजमान के सुदूरस्थ पूर्वज का नाम सर्वप्रथम तद्धितान्त वृद्ध रूप में लिया जाता है, जबकि द्वितीय क्रम में यजमान के समीपस्थ पूर्वज का नाम सामान्य रूप में सर्वप्रथम तथा सुदूरस्थ का अन्त में लिया जाता है, किन्तु कात्यायन के अनुसार अध्वर्यु भी होता के प्रवरोच्चारण-क्रम का अनुसरण करता है— **इत एवोर्ध्वं होता प्रवृणीतेऽन्वागत्यध्वर्युः**। प्रत्येक नाम के साथ वत्-प्रत्यय लगाने की परिपाटी है, जिसका आशय यह है कि जिस प्रकार उन गौरवशाली ऋषियों ने यज्ञ-कर्म में सफलता प्राप्त करके अपने कुल को गौरवान्वित किया था, उसी प्रकार हमारे इस कर्म को भी गौरव तथा सफलता प्राप्त हो।

सूत्रों के अनुसार देवता उस व्यक्ति की आहुति को स्वीकार नहीं करते, जो किसी न किसी मन्त्र-द्रष्टा ऋषि की सन्तान न हो[3]। एक अन्य विचार के अनुसार देवता यजमान को ऋषि के माध्यम से पहचानते हैं और यदि किसी दूसरे व्यक्ति के प्रवर-ऋषियों का नामोच्चारण किया जाये तो आहुति तथा उसका फल उन ऋषियों को प्राप्त होता है[4]।

किन्तु इस अवसर पर कितने ऋषियों के नाम का उच्चारण करना चाहिये, अर्थात् किस गोत्र के कितने प्रवर-ऋषि (आर्षेय) है, इस विषय में अति प्राचीन काल से विभिन्न सूत्रों में बहुत अधिक वैमत्य पाया जाता है।

---

१. आप० श्रौ० सू० २,१६,१।

२. आप० श्रौ० सू० २४,५,८; बौ० प्र० सू० २; तै० सं० २,५,९; श० ब्रा० १,४,२; आश्व० श्रौ० सू० १,२,२७-१,३,६; शां० श्रौ० सू० १,२,१४।

३. कौ० ब्रा० ३,२; आप० श्रौ० सू० २४,५।

४. आप० श्रौ० २४, ५।

यद्यपि इस सम्बन्ध में ब्राह्मण-साहित्य में कोई संकेत नहीं किया गया तो भी सर्वप्राचीन श्रौतसूत्र बौधायन ने कहा है कि ऋत्विग्-वरण के समय ध्यान रखना चाहिये कि द्व्यार्षेय प्रवर वाले ब्राह्मण का किसी कृत्य के लिये वरण नहीं करना चाहिये[1]।

किन्तु आप० श्रौ० सू०[2] ने इस विषय पर तनिक अधिक विस्तार से लिखा है कि अध्वर्यु तथा आग्नीध्र को अपना-अपना प्रवर घोषित करना चाहिये। आगे चल कर[3] यजमान को भी अपने तीन मन्त्र-द्रष्टा ऋषि-पूर्वजों के नाम घोषित करने का निर्देश किया गया है। साथ ही यह भी स्पष्ट कह दिया गया है कि वह एक, दो अथवा तीन ऋषियों के नामों की घोषणा कर सकता है। किन्तु वह चार ऋषि—नामों या पांच से अधिक की घोषणा नहीं कर सकता।

सर्वप्रथम यहीं स्पष्ट निर्देश किया गया है कि यद्यपि सामान्यतः प्रवर त्र्यार्षेय होते हैं[4], तो भी एकार्षेय, द्व्यार्षेय तथा पंचार्षेय प्रवर भी होते हैं। चतुरार्षेय प्रवर नहीं होता, जिसका संकेत न तो श० ब्रा०[5] में ही किया गया है और न ही बौ० श्रौ० सू०[6] में। साथ ही आपस्तम्ब ने बौधायन के द्व्यार्षेय पर प्रतिबन्ध का भी निराकरण कर दिया है।

इतना ही नहीं। आपस्तम्ब ने तो प्रवरोच्चारण को अनिवार्य न मान कर ऐच्छिक घोषित किया है[7]। केवल 'मनुवत्' कहना ही पर्याप्त समझा है। किन्तु आगे चल कर २४, १०, १८ में सूत्रकार ने उपर्युक्त विचार को 'तण्डिनों' (सामवेदियों) का विचार घोषित करके अपने ही पूर्व कथन का निराकरण कर दिया है[8]। सामवेदीय याज्ञिक सभी वर्णों के लिये एकार्षेय प्रवर का विधान करते हैं। होता 'मानव' कहता है तो अध्वर्यु 'मनुवत्' कहता है। इसका मुख्य कारण यही है कि मनु मनुष्यमात्र के पूर्वज हैं।

---

१. बौ० श्रौ० सू० २,३।

२. बौ० श्रौ० सू० २,१५,१।

३. बौ० श्रौ० सू० २,१६,५-८।

४. आप० श्रौ० सू० २४, ५, ६—'त्रीन् प्रवृणीते मन्त्रकृतो वृणीते, यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीत इति विज्ञायते। अथैकेषामेकं वृणीते द्वौ वृणीते, त्रीन् वृणीते, न चतुरो वृणीते न पञ्चाति वृणीत इति विज्ञायते।''

५. श० ब्रा० १,४,२,३।

६. बौ० श्रौ० सू० २,३।

७. आप० श्रौ० सू० २,१६,१२।

८. आप० श्रौ० सू० २४,१०,१८।

आश्व० श्रौ० सू० ने भी आपस्तम्ब के अनुकरण पर चतुरार्षेय प्रवरों तथा पञ्चार्षेय से अधिक प्रवरों का निषेध कर दिया है। किन्तु इस में द्विगोत्रीय व्यक्तियों के लिये त्यार्षेय तथा पञ्चार्षेय प्रवरों का विशेष विधान किया गया है। यदि कोई शुंगगोत्रीय व्यक्ति किसी शैशिर गोत्रीय व्यक्ति की पत्नी से नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करे तो वह सन्तान शुंग-शैशिरीय कहलाती है। ऐसा द्विगोत्रीय व्यक्ति एक गोत्र से एक ऋषि को और द्वितीय गोत्र से दो ऋषियों को लेकर त्यार्षेय प्रवर का निर्माण कर सकता है। पञ्चार्षेय प्रवरार्थ एक गोत्र से दो ऋषियों को एवं दूसरे गोत्र से तीन ऋषियों को चुन कर पञ्चप्रवर पूरे किये जा सकते हैं। कात्यायन तथा शांखायन सूत्रों के समय तक कुछ अपवादों के साथ, प्रवरों की संख्या प्रायः सुनिश्चित हो चुकी थी[1]। इस तथ्य का विशेष महत्त्व है। आप० श्रौ० सू० (२, १६, ५) के व्याख्याता रुद्रदत्त ने सूचित किया है कि आपस्तम्ब द्वारा विहित त्यार्षेय प्रवर से कुछ लोग यह परिणाम निकालते हैं कि इस विधान के कारण तीन से न्यूनाधिक प्रवर वाले व्यक्ति उन यज्ञों में भाग नहीं ले सकते, जिन में अपने-अपने प्रवर की घोषणा अनिवार्य है[2]।

इस प्रसंग में यह जानना आवश्यक है कि अन्य ऐसे यागों के अतिरिक्त जहां प्रवरोच्चारण अनिवार्य होता है, सत्रों की विशेष भूमिका है। सत्रों में १६ अथवा १७ समान प्रवर वाले ऋत्विजों के वरण का विधान किया गया है। दूसरे इनमें ऋत्विज् तथा यजमान दोनों में कोई भेद नहीं होता। आश्वलायन के अनुसार आचार्य गाणगारि सत्र में भिन्न-भिन्न गोत्रों वाले ऋत्विजों के वरण का विरोध करते थे, जबकि शौनक की सम्मति में नाना गोत्रों वाले ऋत्विजों के द्वारा सत्र के अनुष्ठान में कोई आपत्ति नहीं थी। अन्ततोगत्वा आश्वलायन ने यह निर्णय दिया कि भिन्न-भिन्न गोत्रों वाले ऋत्विजों को अपना-अपना प्रवर पृथक्-पृथक् घोषित करना चाहिये। समान गोत्र वाले व्यक्तियों के लिये एक ही बार प्रवरोच्चारण पर्याप्त माना जाता था[3]।

ब्राह्मणों के प्रवर तो सूत्रों तक आते-आते सुनिश्चित हो गये थे, किन्तु राजन्यों तथा वैश्यों के प्रवरों की समस्या बनी रही। ऐतरेय ब्राह्मण[4] ने बहुत पहले घोषणा कर दी थी कि राजा अपने पुरोहित के प्रवर को ही अपना प्रवर मान कर

---

१. शां० श्रौ० सू० १,४,१५-१८; का० श्रौ० सू० ३,२,७-११।

२. Ghurye; *Two Brāhamanical Institutions*, P. 152.

३. बौ० श्रौ० सू०, प्रवराध्याय १,१५; आचार्य शालीकि के अनुसार नानागोत्रीय ऋत्विजों के लिए भी एक ही बार आर्षेयवरण पर्याप्त है।

४. ऐ० ब्रा० ७,२५; ३४,७; ३५,५।

यज्ञ में भाग ले सकता था। इसी निर्देश को आश्वलायन ने अपने सूत्र में स्वीकार कर लिया।[1]

आपस्तम्ब ने एक पग आगे बढ़ा कर समस्त क्षत्रियों के लिये विधान कर दिया कि उनके पुरोहित का प्रवर ही उनका अपना प्रवर होता है[2] और इस प्रकार अपने ही पूर्वप्रतिपादित राजा से सम्बद्ध सिद्धान्त[3] का समस्त क्षत्रिय वर्ण तक विस्तार कर दिया। क्षत्रियों के लिये एक ही प्रवर का उच्चारण पर्याप्त है, यथा— 'मानव-ऐळ-पौरूरवस' तथा 'पुरूरवोवत्-इळावत्-मनुवत्'।

किन्तु उपर्युक्त व्यवस्था केवल उन्हीं क्षत्रियों के लिये की गयी है, जिनके पूर्वजों में कोई मन्त्रद्रष्टा ऋषि नहीं हुआ। जिन क्षत्रियों के पूर्वजों में कोई मन्त्रद्रष्टा हो गये हैं उन्हें उन्हीं राजर्षियों के नामों का उच्चारण करना चाहिये। यथा मान्धातृ, अम्बरीष तथा यौवनाश्व राजर्षियों के नाम प्रवरोच्चारणार्थ प्रयुक्त होते हैं।

पुराणों में कई ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनमें ब्राह्मणों के प्रवरों में क्षत्रियों के नामों को सम्मिलित किया गया है। वायु-पुराण (८८, ७२-७९) में आंगिरस-आम्बरीष-यौवनाश्व प्रवर हारीत-गोत्रीय ब्राह्मणों का माना गया है। विकल्प में इनका प्रवर मान्धाता-आम्बरीष-यौवनाश्व कहा गया है, जो क्षत्रियों के नाम हैं[4]।

यद्यपि इस प्रकार के प्रवरों का आधार अन्धकार के गर्त में विलीन है तथापि अनुमान किया जाता है कि प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था लचीली थी, अतः वर्ण-परिवर्तन के अनेकों उदाहरण प्राप्त होते हैं। किन्तु पूर्वजों का परिवर्तन असम्भव होने के कारण उनके गोत्र-प्रवर वही चले आ रहे हैं। वीतहव्य एक क्षत्रिय राजा था, किन्तु बाद में भार्गव ब्राह्मण बन गया था[5]।

आश्वलायन ने वैश्यों के लिये एकार्षेय प्रवर 'वात्सप्र' का विधान किया है। किन्तु बौधायन ने उनके लिये त्र्यार्षेय प्रवर 'भालन्दन-वात्सप्र-मांकतिल' की व्यवस्था की है[6]।

---

१. आश्व० श्रौ० (उत्तर०) ६,१५,४-५; बौ० श्रौ० प्रवर प्रश्न ५४।

२. आप० श्रौ० सू० २४,१०,११-१५।

३. आप० श्रौ० सू० २,१६,१०;२४,५,९।

४. काणे, हि० ध० शा०, भाग २, पृ० ४९६।

५. म० भारत, अनु० अध्याय ३०।

६. बौ० प्रवर० सू० २०।

यह सब होते हुए भी गोत्र-प्रवर की समस्या वास्तव में ब्राह्मणों के लिए ही है, क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिये नहीं। मेधातिथि ने इस समस्या पर बहुत पहले विचार किया था तथा इस प्रसंग में आश्व० श्रौ० सू० १, ३ को उद्धृत किया है[1]।

जब प्रवर का आधार मन्त्र-द्रष्टा ऋषि को ही मान लिया गया, तो यह भी सम्भव था कि किसी ब्राह्मण के भी पूर्वजों में एक भी मन्त्रद्रष्टा न हुआ हो, ऐसी अवस्था में क्या वह ब्राह्मण यज्ञ के अधिकार से वञ्चित कर दिया जा सकता था? घुर्ये का स्पष्ट मत है कि शास्त्रवचन के अभाव में भी अनुमान किया जा सकता है कि गुरु-परम्परा से भी प्रवर-ऋषियों को मान्यता दी जाती होगी[2]। किन्तु इस प्रसंग में श० ब्रा० में कहा गया है कि प्राचीन गौरवशाली प्रवर-ऋषि परस्पर पिता-पुत्र-सम्बन्ध से सम्बद्ध होते थे--**इदं हि पितैवाग्रेऽथ पुत्रोऽथ पौत्रस्तस्मात् परस्तादर्वाक् प्रवृणीते**[3]।

अतः घुर्ये का विचार अप्रमाणिक है और अनुमान असिद्ध।

इस विषय में यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न श्रौतसूत्रों में प्रवर-ऋषियों के नामों तथा संख्या के सम्बन्ध में बहुत मत-भेद पाया जाता है। बौधायन और आश्वलायन सूत्रों में क्रमशः ९१ तथा ९३ के कुल १८४ नामों में से २४ नामों की विभिन्नता लक्षित होती है। इन में से १७ नाम, जो बौधायन में परिगणित हैं, आश्वलायन० में नहीं पाये जाते। १३ नाम जो आश्वलायन० की तालिका में हैं, बौधायन० में नहीं हैं। इस प्रकार इस १३% विभिन्नता का कारण गोत्रसंख्या तथा प्रवरसंख्या के मध्य कालगत तथा देशगत अन्तराल ही हो सकता है[4]।

विभिन्न श्रौतसूत्रों में विभिन्न प्रवरों के नामों तथा संख्या में कितना अधिक भेद है इस पर ध्यान दिया जाये, तो पता चलता है कि अनेक नाम एक श्रौतसूत्र में पाये जाते हैं तो दूसरे में नहीं।

बौ० श्रौ० सू० के ४९ प्रवरों में से ६ पञ्चार्षेय हैं। इनमें से आश्व० श्रौ० सू० भार्गवगण के तीन प्रवरों तथा भारद्वाज-आंगिरस गण के एक प्रवर के विषय में इससे सहमत है, किन्तु गौतम-आंगिरसों के विषय में भिन्न-मत है।

आश्व० श्रौ० सू० ने दीर्घतमसों के तीन प्रवरों का उल्लेख किया है— **आंगिरस, औचथ्य तथा दैर्घतमस**। बौ०श्रौ० सू० में वर्णित काक्षीवत तथा गौतम के

---

१. मनु० ३,५ पर मेधातिथि-भाष्य।
२. Ghurye in *Two Brāhamanical Institutions*, P. 147.
३. श० ब्रा० १, ४, २, ३-४।
४. घुर्ये, वही, पृ० १५३।

नाम इसमें नहीं हैं। बौ० श्रौ० सू० के पञ्चार्षेय प्रवर वाले कौमण्डों के अन्तर्गत कौमण्ड के स्थान पर आश्व०श्रौ०सू० में औशिज का नाम पढ़ा गया है और कौमण्डों की चर्चा तक नहीं की गयी। बौधायन सूत्र में पठित पञ्चार्षेय विदों के नामोल्लेख का आपस्तम्बसूत्र में उल्लेख तक नहीं पाया जाता तथा भार्गवगणों को त्र्यार्षेय माना गया है। च्यवन तथा आप्नवान को उड़ा दिया गया है।

आपस्तम्ब के अनुसार गौतमों में पञ्चार्षेय प्रवर नहीं होता। बौधायन ने पञ्चार्षेय प्रवर माना है। चार गौतम-आंगिरसों में से तीन का आपस्तम्ब ने त्र्यार्षेय प्रवर प्रदान किया है। आश्वलायन ने द्व्यार्षेय प्रवर किसी का भी नहीं माना, जबकि बौधायन तथा आपस्तम्ब दोनों ने वैश्वामित्र गण का प्रवर द्व्यार्षेय माना है। बौधायन ने वैश्वामित्रों के अन्तर्गत एक अष्टक-लोहित नामक गण को पढ़ा है, जबकि आश्वलायन ने अष्टकों को त्र्यार्षेय वैश्वामित्रों के अन्तर्गत गिनाया है। बौधायन ने लोहितों को एक पृथक् गण के रूप में वैश्वामित्रों के अन्तर्गत मान्यता देकर इन्हें 'वैश्वामित्र-आष्टक-लौहित' प्रवर प्रदान किया है।

वसिष्ठ को एकार्षेय-प्रवर वाला गोत्र माना गया है। किन्तु आपस्तम्ब ने इन्हें विकल्प से त्र्यार्षेय प्रवर 'वासिष्ठ-ऐन्द्रप्रमद-आभरद्वसु' प्रदान किया है, जबकि बौधायन तथा आश्वलायन सूत्रों में यह प्रवर उपमन्यु गोत्र का गिनाया गया है, जिसकी आपस्तम्ब सूत्र की गोत्र-तालिका में चर्चा तक नहीं की गयी। बौधायन ने शुनकों को भी एकार्षेय प्रवर, शौनक अथवा गार्त्समद, प्रदान किया है[1], जबकि आपस्तम्ब तथा आश्वलायन दोनों ने इसे केवल गार्त्समदों के साथ पढ़ा है। किन्तु इनमें से भी आश्वलायन ने विकल्प से इन्हें त्र्यार्षेय प्रवर प्रदान किया है, एवं भार्गव तथा शौनहोत्र अन्य दो नाम बढ़ा दिये हैं।

बैजवाप गोत्र को बौधायन ने मुद्गलों के अन्तर्गत गिनाया है। आपस्तम्ब ने इन्हें अतिथियों के अन्तर्गत पढ़ा है। आश्वलायन इन से परिचित ही नहीं। कात्यायन ने इन्हें गविष्ठिरों के अन्तर्गत परिगणित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही गोत्र में प्रवर-विषयक महान् वैमत्य दृष्टिगोचर होता है। आश्व० श्रौ० सू० में शाण्डिल गोत्र के प्रवर-ऋषियों के दो विभाग बनाये हैं—'शाण्डिल-असित-दैवल' या 'काश्यप-असित-दैवल'। किन्तु आप० श्रौ० सू० ने इस प्रवर के दो ही ऋषियों को मान्यता प्रदान की है—'दैवल-असित'। बौ० श्रौ० सू० ने इनके चार विभाग किये हैं—(क) काश्यप-अवत्सार-दैवल। (ख) काश्यप-अवत्सार-असित। (ग) शाण्डिल-असित-दैवल। (घ) काश्यप-अवत्सार-शाण्डिल। इतने प्राचीन काल में ही इन प्रवरों के नामों तथा विभागों

१. बौ० प्र० सू० ९।

उपविभागों में इतने अधिक भेद-प्रभेदों के किसी सन्तोषजनक कारण को खोज निकालना टेढ़ी खीर है।

एक विचित्र सूचना बौधायन ने यह भी दी है कि लौगाक्षि गोत्र के लोग दिन में वसिष्ठ होते हैं और रात्रि में कश्यप। इनके प्रवर भी इसी मान्यता के अनुसार परिवर्तनशील हैं[1]।

ऊपर कहा गया है कि प्रवर मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नामों को लेकर निश्चित किये गये हैं, किन्तु सत्य यह है कि सभी गोत्र-प्रवरकार मन्त्रद्रष्टा नहीं हैं। एस० वि० केतकर की गणना के अनुसार बौ० श्रौ० सू० तथा आश्व० श्रौ० सू० में परिगणित ऋषियों में से ११३ मन्त्रद्रष्टा नहीं हैं या कम से कम इस समय उनके मन्त्रद्रष्टा होने का कोई प्रमाण नहीं है[2]।

इतने मतभेदों तथा विभिन्नताओं के कारण इन प्रवर तालिकाओं में किसी प्रकार के सामञ्जस्य की स्थापना की आशा सर्वथा व्यर्थ है। सूत्रकारों द्वारा प्रतिपादित गोत्र-प्रवर-संस्था इतनी अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित हो चुकी है कि मेधातिथि सदृश प्रकाण्ड पण्डित तथा धर्मशास्त्रकार भी इस विषय की टेढ़ी-तिरछी राहों में भटक कर रह गये। मनु० (३, ५) पर भाष्य लिखते हुए उन्होंने नानागोत्रीय व्यक्तियों के 'प्रवर-ऋषि' समान होने का उदाहरण देते समय 'उपमन्यु' तथा 'पराशर' गोत्रों के प्रवर ऋषि 'वासिष्ठ-भारद्वाज-ऐकपाद-गार्ग्य-पाराशर्य' गिनाये हैं। किन्तु श्री घुर्ये के अनुसार इन दोनों गोत्रों के ये प्रवर सर्वथा ग़लत हैं[3]। स्वयं मेधातिथि के अनुसार लोगों को अपने गोत्र तो स्मरण रहते हैं, किन्तु प्रवर विस्मृत हो जाते हैं, क्योंकि एक तो ये बहुसंख्य होते हैं, दूसरे सूत्रकारों के वचन के अतिरिक्त इनकी सत्यता को परखने का कोई अन्य मानदण्ड नहीं है[4]।

विवाह-प्रसंग में वाग्दान के अवसर पर प्रवरोच्चारण के समय अनन्तदेव को इस विषय में बहुत ऊहापोह करना पड़ा कि क्या प्रवरोच्चारण अनिवार्य है[5]। कन्यादान के सम्बन्ध में इन्होंने तीन प्रमुख आचार्यों की सम्मतियों को उद्धृत किया है। आश्वलायन-गृह्य-परिशिष्ट तथा शौनक की सम्मति में इस अवसर पर केवल गोत्रोच्चारण ही पर्याप्त है। किन्तु हेमाद्रि के मत में गोत्र तथा प्रवर दोनों का उच्चारण करना चाहिये। अन्त में अनन्तदेव ने प्राचीन आचार्यों की सम्मतियों

---

१. बौ० प्र० सू० ४४।

२. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष, खण्ड ३, पृ० ४७७, घुर्ये द्वारा उल्लिखित वही, पृ० १५५।

३. वही, पृ० १६५।

४. मनु० ३,५ पर भाष्य।

५. संस्कारकौस्तुभ, पृ० २११।

के विरुद्ध नवीन धर्मशास्त्रकार हेमाद्रि द्वारा खींची गयी लकीर पर चलना स्वीकार कर लिया[1]।

प्रवरसंस्था के आरम्भ के विषय में मेधातिथि का दृष्टिकोण स्पष्ट ही वेद के अपौरुषेयत्व तथा अनादित्व के साथ प्रवर को सम्बद्ध करने का है। उनके अनुसार इस बात की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती कि पराशर नामक कोई व्यक्ति किसी कालविशेष में उत्पन्न हुआ था और उसके वंशज पाराशर कहलाये, क्योंकि इस विचार से वेद के अनादित्व को ठेस लगती है। अतः प्रवरसंस्था को भी अनादि ही मानना होगा[2]।

किसी सुदृढ़ आधारशिला के अभाव में इस पर निर्मित प्रवरसंस्था का विशाल भवन सदा लड़खड़ाता रहा है।

बौधायन प्रवरसूत्र

प्रवर सूत्रों में सर्वप्राचीन बौधायन श्रौतसूत्र के अन्त में परिशिष्ट के रूप में पठित 'महाप्रवर-सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध प्रवराध्याय है। इस प्रवरसूत्र का मुख्य उद्देश्य सगोत्र तथा समानप्रवर लोगों में परस्पर विवाह पर प्रतिबन्ध लगाना प्रतीत होता है क्योंकि, **अथ प्रवरान् व्याख्यास्यामः** के तुरन्त बाद के सूत्र में **असमानार्षगोत्रजा** कन्या से विवाह की बात चलायी गयी है, तथा सगोत्र विवाहों के दुष्परिणामों तथा तत्सम्बन्धी प्रायश्चित्तों की चर्चा की गयी है, तथा व्यवस्था दी गयी है कि मामा की पुत्री तथा माता की सगोत्रा तथा समान प्रवर कन्या से विवाह हो जाने पर भी उसे त्याग कर चान्द्रायण व्रत करना चाहिये।

बौधायन के अनुसार गोत्रों की संख्या अपरिमित है, किन्तु इन सब के प्रवर केवल ४९ ही हैं[3]। प्रवर-ऋषियों की संख्या आठ मानी गयी है जिनमें सात— विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ तथा कश्यप ऋषियों के अतिरिक्त अष्टम अगस्त्य गिनाया गया है। दर्शपूर्णमास प्रभृति कर्मों में पहले होता यजमान के प्रवर-ऋषियों के तद्धितान्त नामों का क्रम से उच्चारण करता हुआ आहवनीय अग्नि का वरण करता है, तदनन्तर अध्वर्यु विपरीत क्रम से उन्हीं ऋषियों के नामों का वत् प्रत्यय सहित उच्चारण करता हुआ आहवनीय का ही वरण करता है[4]। अन्य मत के अनुसार अध्वर्यु होता का वरण करता है।

सर्व-प्राचीन प्रवर सूत्र होने के कारण बौ०प्र०सू० की अपनी विशेषताएं हैं।

---

१. वही, पृ० २१७-२२०।
२. मनु० ३,५ पर भाष्य।
३. बौ० प्र० सू० २।
४. अथात ऊर्ध्वानध्वर्युर्वृणीतेऽमुतोऽर्वाचो होतेति (वही, १,२); गोत्रप्रवरनिबन्धकदम्ब, पृ० १०।

यथा—इस सूत्र का मुख्य उद्देश्य ही सगोत्र-सप्रवर विवाह का प्रतिषेध है, अतः एव कहा गया है कि सगोत्रा से विवाह हो जाने के उपरान्त चान्द्रायण व्रत कर चुकने पर भी ब्राह्मणी का परित्याग न करके उसका माता अथवा भगिनी के समान पालन-पोषण करना चाहिये । गर्भ हो जाने पर उसे कोई दोष नहीं लगता[1] ।

यद्यपि बौधायन-प्रवरसूत्र में प्रवर-परिगणन पर्याप्त सावधानी तथा विस्तार से किया गया है, तो भी पश्चाद्-भावी कात्यायन, लौगाक्षि, हिरण्यकेशि-सूत्रों में इसकी अपेक्षा अनेकों गोत्रों के प्रवरों की संख्या अधिक ही है । और मत्स्य-पुराण में तो इस से भी अधिक गोत्र परिगणित हैं । सर्वप्रथम बोधायन ने ही गोत्रों को गणों में विभक्त कर के उनके प्रवरों को सुनिश्चित रूप प्रदान किया है । भृगुओं को वत्स, विद्, आर्ष्टिषेयण, यस्क, मित्रयु, वैन्य तथा शुनक इन सात गणों में बांटा गया है । आंगिरसों के अन्तर्गत गौतम, भारद्वाज तथा केवलांगिरस पढ़े गये हैं । गौतमों के अन्तर्गत अवान्तर भेद ये है—आयास्य, शारद्वत, कौमण्ड, दैर्घतमस, औशनस, तथा कारेणपालि । भारद्वाजों के अन्तर्गत भारद्वाज, रौक्षायण, गर्ग गिनाये गये हैं । भारद्वाजों के ही अन्तर्गत विष्णुवृद्ध, कण्व, हरित, संकृति, रथीतर, मुद्गल तथा कपि वाद में बढ़ा दिए गए ।

अत्रि गोत्र के अन्तर्गत अत्रि, वाग्भूतक, गविष्ठिर, तथा मुद्गल ये चार गण हैं ।

विश्वामित्रों के अन्तर्गत कुशिक, लोहित (रोहित), कामकायनि, रौक्षक, कत, धनञ्जय, आजायन, अघमर्षण, इन्द्रकौशिक, पौरण—ये दस गण गिनाये गये हैं ।

कश्यपों के अन्तर्गत कश्यप (निध्रुव), रेभ, शाण्डिल तथा लौगाक्षि-गण पठित हैं ।

वसिष्ठों के अन्तर्गत वसिष्ठ, कुण्डिन, उपमन्यु, तथा पराशर गोत्र आते हैं ।

अगस्त्यों के अन्तर्गत अगस्ति, सोमवाह, यज्ञवाह, ये तीन ही गण परिगणित हैं ।

बौधायन द्वारा प्रस्तुत इस लम्बी तालिका में विभिन्न गोत्रों के अवान्तर भेदों को भी गिनाया गया है, जिनके प्रवरों को यहीं निर्धारित किया गया है, तो भी पश्चाद्-भावी सूत्रकारों ने न केवल इस तालिका में वृद्धि तथा संशोधन ही किये हैं, अपितु अनेक गोत्र-नामों में भी फेर-बदल किया है तथा उन के प्रवरों के सम्बन्ध में भी मतभेद व्यक्त किये हैं ।

---

१. 'गर्भो न दुष्यति कश्यप इति विज्ञायते' (तु० का० श्रौ० सू० ४, १, २ पर कर्क—गर्भः सगोत्राभायामुत्पन्नोऽपि तदन्यगोत्रोऽपि सन् कश्यपो भवतीति विज्ञायते) ।

उदाहरणार्थ, गौतम प्रवरान्तर्गत बोधायन ने ऋक्षों तथा पृषदश्वों को न पढ़कर भरद्वाजों के अन्तर्गत परिगणित किया है। किन्तु आश्वलायन ने इन्हें गौतमों के अन्तर्गत पढ़ा है। इस प्रकार के परिगणनभेद का कोई औचित्य न देख कर पुरुषोत्तम देव को लिखना पड़ा—**इह तु गौतममध्यपाठे कारणं किमप्या-श्वलायनबुद्धिगम्यमस्तीति कल्प्यम्**[1]।

ये मतभेद केवल गोत्रों की तालिकाओं तक ही सीमित नहीं हैं। अपितु एक ही गोत्र के प्रवरों की संख्या तथा उनके प्रवर-ऋषियों के नामों के सम्बन्ध में भी है। यथा बौ० प्र० सू० तथा आश्व० प्र० सू० के अनुसार भारद्वाजों के अन्तर्गत विष्णुवृद्धों के त्र्यार्षेय प्रवर के ऋषि आंगिरस-पौरुकुत्स-त्रासदस्यव माने गये हैं, किन्तु पश्चाद्भावी कात्यायन-लौगाक्षि सूत्रों के अनुसार यह प्रवर 'आंगिरस-पार्षदश्व-राथीतर' पढ़ा गया है।

कहीं-कहीं गोत्र-नामों तथा प्रवर-ऋषियों के नामों में पाठभेद पाया जाता है।

बौधायन ने संकृति-गोत्र का त्र्यार्षेय प्रवर 'आंगिरस-सांकृत्य-गौरुवीत' लिखा है, जबकि अन्य सूत्रकारों ने यहां 'गौरीवीत' पढ़ा है। इस प्रकार के पाठभेद तो बहुत अधिक हैं।

यद्यपि बौधायन-प्रवर-सूत्र में ही सर्वप्रथम प्रवरविषयक विशद प्रतिपादन किया हुआ प्रतीत होता है, तो भी यह स्पष्ट है कि इतनी लम्बी तालिकाएं तथा उनके प्रवरों का इतना सूक्ष्म विवेचन सर्वप्रथम बौधायन ने किसी परम्परागत आधार के बिना कर डाला हो, यह सर्वथा अमान्य है। इस से पूर्व इस विषय में विवेचन का कुछ न कुछ आधार अवश्य रहा होगा।

बौधायन की ये तालिकाएं भी समय के साथ-साथ परिवर्तन-परिवर्धन की अपेक्षा करने लगीं। यह बात उत्तरवर्ती सूत्रकारों की तालिकाओं से प्रमाणित हो जाती है। अतः यह विकास-क्रम बौधायन से पूर्व ही आरम्भ हो चुका था।

संस्करण :—कैलैण्ड द्वारा सम्पादित, बौ० श्रौ० सू०, भाग ३।

आपस्तम्ब प्रवरसूत्र

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के चौबीसवें अध्याय में प्रवरों के विषय में चर्चा की

1. प्रवरमञ्जरी, गौतमकाण्ड, गोत्रप्रवर-निबंधकदम्ब, पृ० ४०।

गयी है[1]। इसमें प्रवरों के कुल ४९ गण गिनाये गये हैं[2]। यहां अध्वर्यु तथा आग्नीध्र को अपने-अपने प्रवरोच्चारण के लिये विशेष स्थिति में खड़ा होने का निर्देश दिया गया है[3]।

यहां हमें प्रथम बार बताया गया है कि प्रवर में सामान्यतः तीन ऋषि होते हैं और कि वे मन्त्रद्रष्टा होने चाहियें न कि कोई सा भी पूर्वज ऋषि[4]। वहां कहा गया है—

त्रीन्……यर्थाष मन्त्रकृतो वृणीते।

किन्तु एकार्षेय, द्व्यार्षेय तथा पञ्चार्षेय प्रवर भी हो सकते हैं। वहां स्पष्ट निर्देश है—**अपि वैकं द्वौ त्रीन् पञ्च**। किन्तु चार प्रवर-ऋषि नहीं हो सकते—**न चतुरो वृणीते**। न ही पांच से अधिक ऋषि प्रवर में सम्मिलित किये जा सकते हैं—**न पञ्चाति प्रवृणीते**[5]।

इस निर्देश से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि बौ० प्र० सू० में यह दावा किया गया है कि प्रवरों में ऋषियों की संख्या तथा नामों के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय ले लिया गया है, तो भी आपस्तम्ब ने उस निर्णय को अन्तिम मानने से इनकार कर दिया है।

श० ब्रा० (१,४,२,३) ने त्र्यार्षेय प्रवर का उल्लेख किया है, एक, दो या पांच ऋषियों वाले प्रवरों का संकेत नहीं किया। न ही बौ० प्र० सू० के कर्ता ने ऐसा सोचा था। बौ० प्र० सू० (२, ३) ने तो स्पष्ट ही द्व्यार्षेय ऋत्विजों के वरण का निषेध किया है। आप० श्रौ० सू० ने द्व्यार्षेय प्रवर को मान्यता दी है[6]।

प्रवर-संस्था आपस्तम्ब तथा आश्वलायन श्रौतसूत्रों का अविच्छेद्य अंग है, जबकि बौधायन के प्रवर-सूत्र उसके श्रौतसूत्र के परिशिष्ट रूप में टांके हुए प्रतीत होते हैं। दूसरे, आपस्तम्ब तथा आश्वलायन श्रौतसूत्रों में प्रवरों की चर्चा कर्म-काण्ड के सम्बन्ध में की गयी है, जबकि बौधायन का मुख्य उद्देश्य विवाह सम्बन्धी

---

१. आप० श्रौ० सू० २४, ५, १० से।

२. घुर्ये, वही, पृ० १२६।

३. आप० श्रौ० सू० २, १५, १।

४. यद्यपि वास्तव में 'मन्त्रद्रष्टा' को ही 'ऋषि' कहा जाता है, तो भी इसी सूत्र से सिद्ध होता है कि 'अमन्त्रकृत्' भी ऋषि हो सकते थे।

५. वही २, १६, ३।

६. एग्लिग का विचार है कि प्रायेण तीन या पांच प्रवरों की चर्चा की जाती है (श० ब्रा० १,४,२,३ टि० १, पृ० ११५)।

प्रतिबन्धों को सुदृढ़ करना प्रतीत होता है। सगोत्र विवाह के साथ सप्रवर विवाह को भी निषिद्ध घोषित कर दिया गया है। आश्व० श्रौत सू० तथा आप० श्रौ० सू० ने अपने-अपने प्रवर-प्रकरण को पूर्णता प्रदान करने का भरसक प्रयास किया है।

उपर्युक्त एकार्षेय प्रवर (आप० श्रौ० सू० २, १६, ७) के विधान का आगे चल कर (२४, १०, १८) यह कह कर निषेध कर दिया गया है कि यह मत ताण्डिनों का है कि सभी वर्णों का प्रवर एक 'मानव' ही होना चाहिये[1], किन्तु ऐसा 'सार्ववर्णिक' निर्देश पश्चात्कालिक वर्ण-व्यवस्था के पोषक 'गोत्रप्रवरमञ्जरी'-कार पुरुषोत्तम को अभीष्ट न था। अतः उसने अपनी रचना में इस सूत्र का उल्लेख तक नहीं किया, जबकि 'गोत्र-प्रवर-निबन्धकदम्बम्' के कर्ता, चेन्सल राव, ने इस सूत्र को उद्धृत किया है।

आप० श्रौ० सू० ने प्रवर को यज्ञाङ्ग के रूप में ग्रहण किया है। इसीलिये प्रवरोच्चारण को कर्मकाण्डीय प्रामाणिकता प्रदान करने के लिए घोषित किया है कि देवता मनुष्य को उसके ऋषियों के द्वारा पहचानते हैं। दूसरे, यदि कोई व्यक्ति अपने प्रवर के स्थान पर अन्य किसी के प्रवर का उच्चारण करता है तो उसकी दी हुई आहुति आदि तथा उसके फल को उस प्रवर के ऋषि प्राप्त करते हैं[2]। इस बात की चर्चा किसी सूत्रकार ने इससे पूर्व[3] नहीं की।

आप० श्रौ० सू० २, १६, ५ में सूचित किया गया है कि राजा अपने पुरोहित के प्रवर का उच्चारण करता है। आगे चल कर[4] सूत्रकार ने इस नियम का विस्तार समस्त क्षत्रिय जाति तक करके व्यवस्था दी है कि क्षत्रियों को अपना प्रवर मानव-ऐळ-पौरूरवस तथा पुरू-वोवत्-इळावत्-मनुवत् पढ़ना चाहिये। जिन क्षत्रियों का कोई भी पूर्वज मन्त्रकृत् नहीं हुआ, उन्हें अपने पुरोहित के प्रवर को अपना मानना चाहिये, किन्तु जिनके पूर्वज मन्त्रकृत् हो गये हैं उन्हें उन्हीं को अपना प्रवर-ऋषि मानना चाहिये[5]। इस प्रकार सूत्रकार अपनी २, १६, ५ की स्थिति पर लौट आया है। इसने मुख्यतः तीन प्रवर-ऋषियों का विधान किया है। इस पर व्याख्याकार रुद्रदत्त की टिप्पणी यह है कि कुछ आचार्यों ने इस विधान

---

१. 'अथाह ताण्डिन एकार्षेयं सार्ववर्णिकं समामनन्ति। मानवेति होता, मनुवदिति अध्वर्युः। मानव्या हि प्रजा ···।' (२४,१०,१८)

२. आप० श्रौ० सू० २४, ५।

३. वही, २, १६।

४. वही, २४, १०, ११-१५।

५. वही, २, १६, ३।

का यह अर्थ लगाया है कि तीन से न्यूनाधिक प्रवरों वाले व्यक्तियों को यज्ञकर्म में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि सूत्रकारों ने प्रवरों को व्यवस्थित कर दिया था, तो भी सभी के लिये अपने इन जटिल प्रवरों को स्मरण रखना सम्भव न था। इसीलिये बौ० श्रौ० सू०[1] में कहा गया था कि जिन लोगों को अपना प्रवर विस्मृत हो गया है उन्हें 'मनुवत्-भरतवत्' कहना चाहिये। यद्यपि आप० श्रौ० सू०[2] ने अपने पुरोहित या गुरु के प्रवर को अपनाने की व्यवस्था दी है, तो भी ब्राण्डिनों के विचार के अनुसार सभी वर्ण केवल एक मानव प्रवर को अपना सकते हैं।

आश्वलायन प्रवरसूत्र

आश्व० श्रौ० सू० के द्वादश अध्याय में प्रवर सूत्रों का भी समावेश किया गया है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं वर्तमान प्रवरसूत्रों में सर्वप्राचीन सूत्र बौधायन द्वारा परिगणित हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र तक आते-आते प्रवर-संस्था पर्याप्त विकास को प्राप्त हो चुकी थी। यहां तक कि गार्बे के विचार में आप० श्रौ० सू० के अन्तर्गत सन्निविष्ट प्रवरसूत्र आश्व० श्रौ० सू० के प्रवर-सूत्रों पर आधृत हैं। आश्व० श्रौ० सू० में सन्निविष्ट प्रवर पूर्णरूपेण रूढ हो चुके हैं।

अग्न्याधान के समय प्रवर-ऋषियों के नामों (आर्षेय) का स्मरण अनिवार्य था। किन्तु यहां प्रवरसंख्या या मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के पद के विषय में कोई ठोस, दृढ़ निर्देश नहीं दिये गये। ऋषि-परम्परा अथवा आर्षेय पहले वे ही स्थापित हो चुका था।

सत्र में ऋत्विजों के वरण के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से ही दो सर्वथा विरुद्ध धारणाएं प्रचलित थीं। कुछ आचार्यों के मतानुसार समान प्रवर ऋत्विजों को ही सत्र में भाग लेने का अधिकार है। इन में आचार्य गाणगारि प्रमुख थे। अन्य विचार के अनुसार नाना गोत्र-प्रवर वालों को भी सत्र में ऋत्विज् बनने का अधिकार है। इन में शौनक प्रमुख थे। इन के अनुसार यज्ञसंस्था विशेषतः सत्रयाग सार्वभौम संस्था है, अतः किसी सुयोग्य ब्राह्मण को केवल इसलिये इसमें भाग लेने से वञ्चित नहीं किया जा सकता कि उसके प्रवर-ऋषि अन्यों से भिन्न हैं। अपने गुरु शौनक के विचार के अनुरूप ही आश्वलायन ने नाना गोत्र-प्रवर वाले ऋत्विजों को सत्र में भाग लेने का अधिकार दे दिया, किन्तु यह व्यवस्था दी कि जहां समान-

---

१. बौ० श्रौ० सू० २९, २४।

२. आप० श्रौ० सू० २४, १०-१७।

प्रवरऋत्विजों के प्रवर का उच्चारण एक ही बार किया जाता है, वहां नाना प्रवर वाले ऋत्विजों का प्रवरोच्चारण पृथक्-पृथक् किया जाना चाहिये। यज्ञ के सम्पादनार्थ उसमें भाग लेने वालों को अपने-अपने प्रवर का ज्ञान तथा यज्ञ में उसकी उद्घोषणा को सर्वथा अनिवार्य कर दिया गया था। इन्हें यज्ञ का अविच्छेद्य अंग बना दिया गया था।

ऋग्वेदीय परम्परा में ऐ० ब्रा० (७, २५ ; ३४, ७) में ही घोषणा कर दी गयी थी कि राजा के पुरोहित का प्रवर ही उसका अपना प्रवर होता है। किन्तु जिनके पूर्वजों में मन्त्रद्रष्टा ऋषि हो गये थे उनके प्रवर उन राजर्षियों के नामों के अनुरूप होते थे।

आप० श्रौ० सू० के समान ही यहां भी चार प्रवरों तथा पांच से अधिक प्रवरों का निषेध कर दिया गया है।

द्वि-गोत्रीय (द्वि-प्रवचन) लोगों के प्रवर-निर्धारण का प्रकार विचित्र था। त्र्यार्षेय लोगों को एक गोत्र के दो ऋषियों तथा दूसरे के एक ऋषि को चुन कर अपना त्र्यार्षेय प्रवर बनाने का अधिकार था। पञ्च-प्रवर लोग एक गोत्र के तीन ऋषियों तथा दूसरे के दो ऋषियों को मिला कर अपने पञ्च-प्रवर की पूर्ति कर सकते थे। किन्तु अन्य प्रवर वालों के सम्बन्ध में सूत्र सर्वथा मौन है।

इस सूत्र में प्रवर-ऋषियों के गुणों की कोई चर्चा नहीं की गयी। बौ० प्र० सू० तथा आश्व० प्र० सू० के बीच कालगत एवं देशगत दूरी ही प्रवर-विषयक विचार-विभिन्नता का कारण प्रतीत होता है। इस सूत्र में सामान्यत: त्र्यार्षेय प्रवरों का पक्ष ही प्रबल प्रतीत होता है। कहीं-कहीं अपवाद भी दृष्टिगत होते हैं।

बौ० प्र० सू० तथा आश्व० प्र० सू० में २४ प्रवर ऋषियों के नामों में विभिन्नता पायी जाती है। इन में १३ नाम आश्वलायन श्रौत-सूत्र में प्राप्त होते हैं, किन्तु बौधायन प्रवरसूत्र में नहीं देखे जाते। १७ नाम बौ० प्र० सू० में प्राप्त होते हैं, आश्व० श्रौ० सू० में नहीं।

त्र्यार्षेय भार्गव-गणों के विषय में आश्वलायन तथा बौधायन एक-मत हैं। भारद्वाज आंगिरसों के एक प्रवर के विषय में इन सूत्रों में सहमति है। किन्तु गौतम-आंगिरसों के विषय में विमति है। दीर्घतमसों को यहां त्र्यार्षेय घोषित करके 'आंगिरस-औचथ्य-दैर्घतमस' प्रवर की चर्चा की गयी है, किन्तु बौ० प्र० सू० में उल्लिखित काक्षीवत तथा गौतम को सम्मिलित नहीं किया गया। बौधायन द्वारा उल्लिखित कौमण्डों की यहां चर्चा भी नहीं की गयी। भारद्वाज-गण के गर्गों को यहां पञ्चार्षेय अथवा विकल्प से त्र्यार्षेय माना गया है, जबकि आप० श्रौ० सू० में ये लोग त्र्यार्षेय माने गये हैं। आश्व० श्रौ० सू० में भारद्वाजों का त्र्यार्षेय प्रवर गिनाया ही नहीं गया। यहां द्व्यार्षेय प्रवर को मान्यता ही नहीं दी गयी। वैश्वामित्र-गण के अन्तर्गत अष्टकों को त्र्यार्षेय माना गया है।

वसिष्ठ गोत्र वालों का प्रवर एकार्षेय है। शुनकों का भी एकार्षेय प्रवर गार्त्समद माना गया है, विकल्प में भार्गव शौनहोत्र के साथ इसे त्यार्षेय भी माना गया है। बैजवापों का यहां उल्लेख तक नहीं किया गया। बौ० श्रौ० सू० में उल्लिखित वाग्भूतकों तथा मुद्गलों का भी यहां उल्लेख नहीं।

इस प्रकार इस सूत्र की अनेक विशेषताएं दृष्टिगत होती हैं।

गार्ग्यनारायण के अनुसार सन्देह की स्थिति में तीनों वर्णों का प्रवर मनु को मानना चाहिये (आश्व० श्रौ० सू० १,३ पर वृत्ति)।

कात्यायन प्रवरसूत्र

कात्यायन प्रवरसूत्र कात्यायन श्रौतसूत्र के परिशिष्टों में से अन्यतम है। जैसा कि बौ० प्र० सू० के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है, उत्तरोत्तर विकास के फलस्वरूप इस प्रवरसूत्र में बौ० प्र० सू० से अनेक भेद उत्पन्न हो गये हैं।

इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि जहां बौ०प्र०सू० के अनुसार पहले अध्वर्यु प्रवरों के तद्धितान्त रूप में पूर्वज ऋषियों के नामों का ऊपर से नीचे क्रमानुसार प्रवरोच्चारण करता है तथा तदनन्तर होता उन नामों का सामान्य रूप में -वत् प्रत्यय सहित नीचे से ऊपर क्रम से उच्चारण करता है[1], वहां कात्यायन प्रवरसूत्र के अनुसार पहले होता तद्धितान्त प्रवर नामों का उच्चारण करता है तदनन्तर उसी क्रम से सामान्य रूप में प्रवर-नामों के साथ -वत् प्रत्यय लगा कर अध्वर्यु उच्चारण करता है[2]।

---

१. **'अथात ऊर्ध्वानध्वर्युर्वृणीतेऽमुतोर्वाचो होतेत्येष एकेभयोस्सर्वत्रोद्देशः'** (बौ० प्र० सू० २)।

२. **'इत एवोर्ध्वं होता प्रवृणीतेऽन्वगित्यध्वर्युः'** (का० प्र० सू०)।

३. विण्टरनित्स, 'ऑन ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ़ इण्डो-यूरोपियन कस्टम्स विद् स्पेशल रेफरेंस टु मैरेज-कस्टम्स'—इण्टरनेशनल फोक्लोर कॉंग्रेस, १८९१, पेपर्स एण्ड ट्राजेक्शंस, लण्डन, पृ० २६७-२९१।

४. इण्डिस्टु०, खं० ५, पृ० २७७-३२१।

५. ए० ए० मैक्डॉनल, हि० सं० लिट्० पृ० २६३-२६४।

६. वही, पृ० २५३।

सत्याषाढ प्रवरसूत्र

यह सूत्र सत्याषाढ (हिरण्यकेशि) कल्पसूत्र के इक्कीसवें प्रश्न में प्रतिपादित है।

मानव प्रवरसूत्र

मानवप्रवरसूत्र मानव-श्रौतसूत्र का परिशिष्ट है।

संस्करण :—जे० एम० वान गैल्डर द्वारा सम्पादित, नई दिल्ली, १९६१।

वाराह प्रवरसूत्र

वाराह प्रवरसूत्र वाराह-परिशिष्ट का अंग है।

कल्पसूत्र

गृह्यसूत्र

त्रयोदश अध्याय

विषय प्रवेश :

गृह्यसूत्रों का उद्भव और विकास

यद्यपि गृह्यसूत्रों में मुख्यरूप से आर्यों के दैनिक धार्मिक जीवन से सम्बद्ध उन कृत्यों का वर्णन किया गया है, जो गृह्य-अग्नि के माध्यम से गृह में ही सम्पन्न होते हैं, तथापि वैदिक आर्यों के प्राचीन सामाजिक तथा गृह्य-जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने के कारण इनका गौरव और भी बढ़ गया है। वस्तुतः आर्यों का सामाजिक और गृह्य-जीवन भी उनके धार्मिक विचारों और क्रियाकलापों से इतना ओत-प्रोत था कि दोनों को एक-दूसरे से पृथक् करना असम्भव है। उनके जीवन की प्रत्येक घटना और क्रिया में धार्मिक विचारधारा अनुस्यूत थी। उनके समस्त जीवन की आधारभित्ति उनके धार्मिक विश्वासों और श्रद्धा पर आधृत थी। जीवन की छोटी से छोटी घटना भी किसी न किसी धार्मिक कृत्य से सम्बद्ध थी।

किन्तु यह न समझना चाहिए कि यह धर्मपरायणता केवल भारतीय आर्यों की निजी विशेषता है, इन गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित अनेकों क्रियाकलापों के समानान्तर कर्मकाण्डीय क्रियाकलाप और रीति-रिवाज अन्य भारोपीय जातियों में भी दृष्टिगोचर होते हैं। यूनानियों, रोमनों, जर्मनों और स्लावों के विवाह-संस्कारों से तुलना करने पर पता चलता है कि भारोपीय आर्यों में परस्पर भाषागत संबन्धों से भी बहुत गहरे सामाजिक और धार्मिक सम्बन्ध विद्यमान हैं[1]।

संसार की सभी आदिम जातियां अपने धार्मिक जीवन में पदार्पण को द्वितीय जन्म समझती थीं, और देवताओं को प्रसन्न करने हेतु अग्नि में हविष्य प्रदान करने की प्रथा यूनान और इटली में भी पायी जाती थी। विवाह के समय पति-पत्नी द्वारा अग्नि की परिक्रमा तथा पति द्वारा हविः और पत्नी द्वारा लाजा-होम जैसी प्रथाएं भारोपीय आर्यों में भी प्रचलित थीं।

रोमन लोगों में अग्नि में हविष्य प्रदान करने से पूर्व दम्पती द्वारा बाएं से दाहिने अग्नि की परिक्रमा करने की प्रथा थी। भारतीय पाणिग्रहण की प्रथा से बहुत मिलती-जुलती 'डेक्स्ट्रेरम जंक्शो' प्रथा रोमनों में प्रचलित थी। विवाह में पति द्वारा पत्नी के शिखाविमोचन कर्म, सप्तपदी कर्म तथा नवविवाहित जोड़े पर

---

१. विण्टरनित्स, 'ऑन ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ़ इण्डोयुरोपियन कस्टम्स विद् स्पेशल रेफरेंस टु मैरेज-कस्टम्स,'—इण्टरनेशनल फ़ोक्लोर कांग्रेस, १८९१, पेपर्स एण्ड ट्रांजेक्शंस, लण्डन, पृ० २६७-२९१।

यव आदि अन्न उछालने की प्रथा भी भारोपीय आर्यों में किसी न किसी रूप में प्रचलित थी[1]। दो काष्ठों के परस्पर संघर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करने का कृत्य और भी प्राचीन सिद्ध होता है। इसी प्रकार वेदि-निर्माण के समय पांच प्रकार के पशुओं के सिरों को वेदी की नींव में चुनने की प्रथा भी अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित इस विश्वास पर आधृत थी कि जब तक किसी मनुष्य या पशु की बलि न दी जाये, वास्तु-निर्माण का कार्य चिरस्थायी नहीं हो सकता[2]। इसके अतिरिक्त यौवन में पदार्पण करते ही दीक्षा ग्रहण करने का भी रिवाज उन में था[3]।

इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि कुछ गृह्य कर्म अत्यन्त प्राचीन काल से आर्यों के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं, जो विभिन्न दिग्-दिगन्तरों में प्रसरण करते हुए आर्यों के साथ-साथ परम्परा के रूप में प्रचलित रहे, किन्तु विविध आचार-व्यवहार वाली नाना जातियों के साथ सम्पर्क में आने के कारण इन परम्पराओं का विकास नाना रूप में हुआ। आर्यों के रीति-रिवाजों में से कुछ-एक में सम्पर्क-जन्य परिवर्तन हुए और कुछ-एक अन्य आर्येतर रीति-रिवाजों ने आर्यों के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में इस प्रकार घर कर लिया कि आज उन्हें पृथक् रूप में देख सकना दुष्कर हो गया है। समय के साथ-साथ ये नवागन्तुक रीति-रिवाज तथा धार्मिक कृत्य आर्यों के जीवन में सदा के लिए समुद्र में बूंद के समान इस प्रकार विलीन हो चुके हैं कि इन बाह्य, किन्तु समाज में बद्धमूल, विचारों का उन्मूलन गृह्यसूत्रकार भी न कर सके, न ही उन्होंने ऐसा करना अभीष्ट ही समझा। विवाह-संस्कार का वर्णन करते हुए पा० गृ० सू०(१, ८, ११-१३) में कहा गया है कि विवाह और श्मशान-विषयक कृत्यों में ग्राम में प्रचलित रीति-रिवाजों को करना चाहिये[4]।

इस विषय में यह स्मरणोय है कि सभी आर्य कबीलों तथा कुलों के रीति-रिवाज एक से नहीं थे। ग्राम प्रायः एक ही कुल के जन-समूह को कहते थे।

इस प्रकार आश्व०गृ०सू० में भी कहा गया है कि विवाह के विषय में जनपदों तथा ग्रामों में नाना प्रकार के धर्म प्रचलित हैं, उन्हीं के अनुसार आचरण करना चाहिये। हम तो सर्वत्र प्रचलित समान धर्मों को कहेंगे[5]।

---

१. इण्डिस्टु, खं० ५, पृ० २७७-३२१।

२. ए० ए० मैक्डॉनल, हि० सं० लिट्० पृ० २६३-२६४।

३. वही, पृ० २५३।

४. 'ग्रामवचनञ्च कुर्युः। विवाह-श्मशानयोर्ग्रामं प्राविशतादिति वचनात्, तस्मात्तयोः ग्रामः प्रमाणमिति श्रुतेः।'

५. 'अथ खलूच्चावचा जनपद-धर्मा ग्रामधर्माश्च, तान् विवाहे प्रतीयात्। यत्तु समानं तद् वक्ष्यामः' (१, ५, १-२)।

आप० गृ० सू० (१, २, २५) में तो विवाह में मन्त्ररहित क्रियाओं को भी मान्यता दी गयी है। उन क्रियाओं का ज्ञान स्त्रियों से प्राप्त करने का विधान किया गया है[1]।

इन गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित कृत्य प्रायः समन्त्रक होते हैं। उनमें से कुछ मन्त्र तो तत्तद् गृह्यसूत्र से संबद्ध संहिता से लिये जाते हैं, कुछ मन्त्र अन्य संहिताओं वे भी ग्रहण किये गये हैं, किन्तु बहुत बड़ी संख्या ऐसे मन्त्रों की भी है, जो या तो अन्य वैदिक ग्रन्थों से संगृहीत हैं अथवा तत्तत्-कार्य-विशेष के लिए रचे गये हैं और मन्त्रपाठों के रूप में संगृहीत होते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से मन्त्र ऐसे भी हैं, जिनके स्रोत का आज हमें कोई ज्ञान नहीं। भिन्न-भिन्न गृह्यसूत्रों के विवाह प्रकरणों में सङ्कलित इन मन्त्रों का व्योरेवार विभाजन अधोलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाएगा।

सूत्र ग्रन्थ	मन्त्र संख्या	संहिता से	मन्त्र-पाठ से	अन्यस्रोत से	अज्ञातस्रोत से
आश्व० गृ०	२१	ऋग्वेद १४	३	१	३
भार० गृ०	११९	तै० सं० ९	४३	५४	१३
हिर० गृ०	११९	,, ९	४३	५४	१३
बौ० गृ०	१५०	,, १४	५९		७७
वैखा० गृ०	१६०	तै०सं०-१; ऋक्सं २७; अथर्व=१; वा०सं० २; =३१	१६	७५	३८
गो० गृ०	५५	साम= १	४८	६	—
कौ० सू०	१३१	अथर्व० १११			२०

इस तालिका से पता चलता है कि इन गृह्यसूत्रों में जहां अनेकों मन्त्रों के विषय में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता, और अनेकों मन्त्र तत्तत्कर्म को लक्ष्य में रख कर रचे गये हैं, वहां ऐसे मन्त्र भी कर्मों में विनियुक्त हैं, जिनकी प्राचीनता प्राचीनतम वैदिक काल तक पहुँचती है। ऋग्० १०, ८५ में विवाह-विषयक कृत्यों का उल्लेख होने के कारण और इन मन्त्रों का पश्चाद्वर्ती गृह्यकर्मों में एतदर्थ विनियुक्त होने से यही सिद्ध होता है कि गृह्यों की परम्परा ऋग्वैदिक काल को स्पर्श करती है। इसी प्रकार गृह्यसूत्रों में विहित अन्त्येष्टि कर्मों का मूल हमें ऋग्वेद के दशम मण्डल के चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें सूक्तों में मिलता है।

---

१. ताश्च यथा-जनपदं यथा-वर्ण यथा-कुलं यथा-स्त्रीपुंसं व्यवस्थिता एव। न तु सर्वाः सर्वत्र समुच्चिताः। तात्पर्यदर्शन, आप० गृ० सू० २, १, १५ पर; (तु. आश्व० गृ० सू० १, १४, ८)।

ऋग्वैदिक काल में गृह्य कृत्यों की स्थिति के विषय में प्राध्यापक ओल्डनबर्ग ने कल्पना की थी कि क्योंकि गृह्य कर्मों का क्षेत्र सोमसम्बन्धी यागों से छोटा और क्रियाकलाप अपेक्षाकृत सरल है, अतः उन गृह्य कर्मों में वैदिक ऋचाओं का प्रयोग नहीं होता था और ये कर्म अत्यन्त सादे ढंग से, सम्भवतः छोटे-छोटे गद्यात्मक मन्त्रों के द्वारा, सम्पन्न कर लिये जाते थे[1]।

इस कल्पना की पुष्टि के लिए इस विद्वान् आलोचक की स्थापना यह है कि गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों में से यद्यपि कुछ वस्तुतः प्राचीन हैं, तथापि इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि इनकी रचना गृह्यकर्मों के प्रतिपादन के लिए ही की गयी थी। कर्मों के साथ उनके सम्बन्ध का अध्ययन करने से तो उल्टा यही परिणाम निकलता है कि कुछ एक ऐसे मन्त्र अवश्य हैं, जो गृह्यकर्मों में विनियोगार्थ ही निर्मित किये गये थे, किन्तु ये मन्त्र अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। इनमें से अधिकांश मन्त्र तो पश्चात्कालिक संहिताओं में, विशेषतः अथर्ववेद में, उपलब्ध होते हैं। अन्य मन्त्रों के मूलस्रोत का ही पता नहीं चलता। अतः ऋग्वैदिक काल के अन्तिम कांठे में सोमयाग के अनुकरण पर ही गृह्यकर्मों में भी ऋचाओं का प्रयोग होने लगा था[2]।

अपनी इस अन्तिम मान्यता की पुष्टि के लिए प्राध्यापक महोदय ने दो तर्क प्रस्तुत किये हैं। एक तो यह है कि विवाह और मृत्यु सम्बन्धी ऋचाएं ऋग्वेद के दशम मण्डल में पायी जाती हैं और दूसरा यह कि ये गृह्य-प्रतिपादक ऋचाएं अनुष्टभ् छन्द में विरचित हैं, जिससे इनकी अर्वाचीनता सिद्ध होती है[3]। किन्तु डा० विण्टरनित्स ने ओल्डनबर्ग की इस मान्यता का प्रतिवाद किया है। उनके मतानुसार यह कल्पना अत्यन्त असम्भावनीय है कि किसी भी काल में विवाह और मृत्यु से सम्बद्ध कृत्य वैदिक ऋचाणों के बिना भी सम्पन्न होते थे। कई एक कर्म तो केवल देवताओं के आवाहन मात्र से अधिक कुछ नहीं हैं और कुछ एक केवल जादू-टोनों से सम्बद्ध मन्त्रों के उच्चारण से ही सम्पन्न हो जाते हैं। कुछ कार्य ऐसे हैं जो स्तुति-प्रार्थना के बिना 'कर्म' ही नहीं रह जाते और फिर यह सिद्ध नहीं है कि जटिल एवं विशाल सोम-याग सरल और संक्षिप्त गृह्यकर्मों से अवश्य ही प्राचीनतर कर्म हैं। अधिक सम्भावनीय विचार तो यह है कि वैदिक काल में काव्य की दो समानान्तर धाराएं प्रवाहित थीं। एक तो ऋग्वेद की कला-पूर्ण, अलङ्कार-प्रधान धारा थी और दूसरी जनसाधारण में प्रचलित लोककाव्यधारा, जिस का प्रतिनिधित्व अथर्ववेद और गृह्य मन्त्र करते हैं। ये दोनों धाराएं कभी एक दूसरे

---

१. एस० वी० ई०, ३० भूमिका, पृ० ९-१०।

२. वही, पृ० १०।

३. वही, पृ० १०-१२।

के पास आ जाती थीं तो कभी दूर हट जाती थीं। जहां तक अनुष्टुभ् छन्द के प्रयोग का सम्बन्ध है, हमें स्मरण रखना चाहिये कि ये मन्त्र जनसाधारण की थाती थे। दूसरे, मन्त्र-पाठ पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि इनमें व्याकरण के समान ही छन्दोरचना के नियमों की जी खोलकर अवहेलना की गयी है। अतः इन तर्कों के आधार पर गृह्यसूत्रों के विकास-क्रम का निर्णय करना उचित नहीं[1]।

यदि ओल्डनबर्ग के उक्त विचार को मान भी लिया जाये कि गृह्य कर्मों में प्रयुक्त मन्त्र ऋग्वेद के प्राचीन भागों से अर्वाचीन हैं, तो भी इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि इन मन्त्रों की रचना से पूर्व गृह्य कर्मों में इसी प्रकार के अन्य मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता था। यह सर्वथा असम्भव नहीं कि जनसाधारण में प्रचलित और प्रसिद्ध उन मन्त्रों को ऋग्वेद जैसे असाधारण और कलापूर्ण काव्यात्मक संग्रह में स्थान देना आवश्यक न समझा गया हो[2]। ई० डब्ल्यू० फे[3] (*E. W. Fay*) तथा वी०एम० आप्टे[4] द्वारा गृह्य-सूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया है, किन्तु इस प्रकार के वर्गीकरण का कोई उचित आधार न होने के कारण दोनों प्रयत्न असफल रहे हैं। इस प्रकार के किसी भी वर्गीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह है कि एक ही मन्त्र परस्पर असम्बद्ध, विविध क्रिया-कलापों में विनियुक्त होता देखा जाता है। ऐसे मन्त्रों का कर्मों में विधान पाया जाता है, जिनका उन कर्मों के साथ दूर का भी सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता। कभी-कभी तो विनियुक्त मन्त्र के किसी वर्णसमूह का कर्म में प्रयोज्य वस्तु के साथ उच्चारण-साम्य को ही विनियोग का आधार माना गया है, जो अत्यन्त हास्यास्पद है। यथा, विवाह के अवसर पर वर-वधू के साथ-साथ दधिभक्षण का विधान इस मन्त्र से किया गया है[5] (जिसमें प्रयुक्त **दधिक्राव्णः (अश्वस्य)** शब्द का दधिभक्षण के साथ केवल **दधि** शब्द पर आधृत वर्ण-साम्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं है)—**दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखा करत् प्रण आयूंषि तारिषत्** (ऋग्वेद ४, ३९, ६)।। 'जिस दधिक्रावा नामक विजयशाली, वेगवान् अश्व की हमने स्तुति की है वह हमारे मुखों को सुरभित करे तथा हमारी आयु की वृद्धि करे।' आश्चर्य की बात यह है कि ऋग्वेद अथवा वा० सं० प्रभृति संहिताओं के भाष्यकारों में से किसी ने भी 'दधिक्रावा' का अर्थ 'दही को पचाने वाला' 'वैश्वानर' नहीं किया।

---

१. मन्त्रपाठ, प्रस्तावना पृ० ४४; द्र० ब्लूमफील्ड, एस. बी. ई. भाग ४२, पृ० २०६।
२. रामगोपाल, इण्डिया ऑफ वैदिक कल्पसूत्रज़, पृ० १६।
३. ऋग्वेद मन्त्रज़ इन दि गृह्यसूत्रज़, १८९९।
४. ऋग्वैदिक मन्त्रज इन देयर रिचुअल सैटिंग इन दि गृह्यसूत्रज, बुलेटिन ऑफ़ डेक्कन कॉलेज रिसर्च इंस्टिच्यूट, भाग १, पृ० १४-४४।
५. शां० गृ० सू० १,१७,१; का० गृ० सू० २८, ५; वा० गृ० सू० १५, २; पा० गृ० सू० २, १०, १६।

इसी प्रकार ऋग्वेद (८, १०१, १५) के **माता रुद्राणाम्** प्रभृति मन्त्र का विनियोग गृह्य सूत्रों में मधुपर्क के प्रसङ्ग में अतिथि द्वारा गौ को मुक्त करने के लिए किया गया है, किन्तु पा० गृ०सू० (१,३,२७) में इसी मन्त्र का विनियोग गौ का वध करने के लिए किया गया है। ये दोनों परस्पर-विरुद्ध विनियोग तो विस्मय-जनक हैं ही, इनमें से किसी भी विनियोग का मन्त्रार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

यजुर्वेद में गृह्य कर्मों से सम्बद्ध सामग्री का प्राय: अभाव है। पाकयज्ञ आदि कुछ पारिभाषिक शब्दावली[1] के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों के विकास के विषय में इस वेद में कोई जानकारी नहीं पायी जाती। दूसरी ओर अथर्ववेद के मन्त्रों की रचना मुख्य रूप में गृह्य-कर्मों के लिए की गयी प्रतीत होती है। इसके मन्त्र ब्राह्मणों अथवा श्रौतसूत्रों में प्रतिपादित किसी भी महत्त्वपूर्ण यज्ञ में विनियुक्त नहीं किये गये। अधिकांश मन्त्र **विवाह, चतुर्थीकर्म, गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, उपनयन, गोदान, अन्त्येष्टि, अष्टका, वास्तुनिर्माण** प्रभृति कर्मों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के जादू-टोनों, यन्त्र-तन्त्र-विषयक क्रिया-कलाप से सम्बद्ध है। सच पूछा जाये तो गृह्यकर्मों का विषय मुख्यतया आथर्वणिक ही है[2] और अथर्ववेदीय सूक्तों में गृह्यकर्मों का विकसित रूप परिलक्षित होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अथर्ववेदीय गृह्यतन्त्र के प्रतिपाद्य विषय भी अवश्य ही ऋग्वेदकाचिक गृह्यतन्त्र से उत्तरवर्ती हैं, अपितु कई विषयों में अथर्ववेदीय गृह्यतन्त्र ऋग्वेदीय गृह्यतन्त्र से भी प्राचीन कहे जा सकते हैं[3]।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी गृह्यकर्मों से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग से सिद्ध होता है कि उस समय तक गृह्यकर्म पर्याप्त रूप में विकसित हो चुके थे[4]। ऐ० ब्रा० में तो गृह्याग्नि का उल्लेख इसके पारिभाषिक अर्थ में किया गया है[5]। **आग्रयणेष्टि, पञ्चमहायज्ञ, उपनयन, गर्भाधान, सोष्यन्तीकर्म, आयुष्यकर्म, मेधाजनन, नामकरण** प्रभृति प्राय: सभी गृह्यकर्म श० ब्रा० में उल्लिखित हैं[6]।

हिल्लेब्राण्ट का अनुमान है कि वर्तमान श्रौतकर्म-प्रतिपादक ब्राह्मणों के समान ही गृह्यकर्म-प्रधान ब्राह्मण भी कभी रहे होंगे, जिनसे गृह्यसूत्रों ने प्रेरणा प्राप्त की[7]। यही नहीं, अपितु पश्चात्कालिक 'प्रयोगों' के समान ही गृहपद्धतियां भी अवश्य बनायी गयी होंगी[8]। किन्तु ब्राह्मणों के उपरिनिर्दिष्ट विखरे उल्लेखों के

---

१. तै० सं० १, ७,१,३ ; ६, २, ५, ४।
२. ब्लूम फील्ड, एस. बी. ई., ४२, पृ० ४३।
३. तु. सूर्यकान्त, कौथुम गृ०, सू०, भूमिका, पृ० २६।
४. द्र. ऐ० ब्रा० ३, ४०, २ ; श० ब्रा० १, ४, २, १०।
५. ऐ० ब्रा० ८, १०, ९।
६. श० ब्रा० ११, ५,६, १ : ११, ५, ४, १ ; १४,९,४, १७।
७. रिच्बल् लिट्, पृ० २३।
८. Neu und-vollmondsopfer P. XV.

कारण ओल्डनबर्ग ने यह प्रतिपादन करने का प्रयास किया कि उस समय गृह्यकर्म-प्रतिपादक ब्राह्मणों की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता, अन्यथा वर्तमान ब्राह्मणों में भी गृह्यकर्म-विषयक कुछ न कुछ सङ्केत अवश्य मिलता[1]। डा० हॉग ने स्पष्ट शब्दों में हिल्लेब्राण्ट के मत का समर्थन किया है। यद्यपि इस समय ऐसे गृह्य-ब्राह्मणों की पृथक् सत्ता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं होता, तो भी वर्तमान गृह्य-सूत्रों के किसी न किसी मूलस्रोत की कल्पना सर्वथा असङ्गत नहीं कही जा सकती। गृह्यसूत्रों में अनेक कर्मों के विषय में ब्राह्मणों के प्रमाण दिये गये हैं[2]। किन्हीं लुप्त ब्राह्मणों के विषय में भी हमें गृह्यसूत्रों से महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त होती हैं। गो० गृ० सू० (३, २, ६) में रौरकि-ब्राह्मण और भार० गृ० सू० (३, १८) में शाटचायनि-ब्राह्मण, बौ० गृ० सू० में शाटचायनक (२, ५, २५) के स्पष्ट उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि गृह्य विषयों पर प्रकाश डालने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थ अवश्य विद्यमान थे। इनके अतिरिक्त गृह्यसूत्रों में आत्रेय, काशकृत्स्न, औपमन्यव प्रभृति अनेक प्राचीन आचार्यों के मत उद्धृत किये गये हैं[3]। अतः सिद्ध होता है कि गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित विषयों पर विचार-विमर्श सूत्रों से बहुत पहले से होता आ रहा था।

गृह्य-सूत्रों पर ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। और इस पर कोई आश्चर्य भी नहीं होना चाहिये, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रायः सभी वेदाङ्गों के बीज विद्यमान हैं। गृह्यसूत्रों में प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक शब्द ब्राह्मणों में पहले ही प्रयुक्त हो चुके हैं। यथा—**आघारौ, आज्य-भागौ, परिस्तरण, उपस्तरण, पर्युक्षण, अवदान, पर्यग्निकरण, प्राचीनावीती** प्रभृति। **चतुरवत्ती** तथा **पञ्चावत्ती** का मूल ब्राह्मण में ही पाया जाता है। होम के अनुष्ठान की प्रक्रिया भी ब्राह्मणों से ही ग्रहण की गयी है। गृह्यसूत्रों की विशेषता ब्राह्मणोक्त कर्मकाण्ड के सरलीकरण में दृष्टिगोचर होती है। **आग्रयण, दर्शपूर्णमास, अन्त्येष्टि** और **श्राद्ध** तो सीधे ब्राह्मणों से ही ग्रहण किये गये हैं।

श्रौत कर्म तो केवल आहिताग्नि के लिए विहित हैं, किन्तु गृह्य कर्म आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों के लिए अनुष्ठेय हैं। श्रौत **आग्रयण** में तो **पुरोडाश और चरु** की आहुति दी जाती हैं, किन्तु गृह्य **आग्रयण** में केवल **स्थालीपाक** का विधान है। श्रौत **दर्शपूर्णमास** में **पुरोडाश** का प्रयोग किया जाता है और कई

---

१. एस० बी० ई० ३०, भूमिका पृ० १७-१८।

२. आश्व० गृ० सू० १, १, ५; ४, ८, ६; बौ० गृ० सू० १, ३, ८; १, ७, ३६; आप० गृ० सू० ३, ८, १२; ६, १५, १०; हिर० गृ० सं० १, २४, ७; भार० गृ० सू० १, २०; २, १२।

३. विस्तरार्थ द्र० इण्डि० कल्प-सू० पृ० १९।

ऋत्विजों की सहायता से दो दिनों में समाप्त होता है, जबकि गृह्यकर्म पति-पत्नी द्वारा ही स्थालीपाक की आहुति देकर सम्पन्न किया जा सकता है। **अन्त्येष्टि-क्रिया** आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों के लिए विहित है। इस विषय में गृह्यसूत्रों ने ब्राह्मणों का इतनी दूर तक अनुसरण किया है कि आश्व० गृ० सू० ने आहिताग्नि की **अन्त्येष्टि** की प्रक्रिया ही नहीं, अपितु वाक्य भी श० ब्रा० से शब्दशः ग्रहण कर लिये हैं।

श्राद्ध की सम्पूर्ण प्रक्रिया ब्राह्मणों के पिण्डपितृयज्ञ पर ही आधृत है और गृह्यसूत्रों ने श्रौतसूत्रों का भी इस विषय में बहुत कुछ अनुकरण किया है। गो० गृ० सू० तथा कौ० गृ० सू० दोनों में श्राद्ध का वर्णन पिण्डपितृयज्ञ के रूप में ही किया गया है।

अनेक गृह्य विषयों के वर्णन में ब्राह्मणों को आधार माना गया है। पञ्च महायज्ञों के वर्णन में आश्व० गृ० सू० ने श० ब्रा० का बहुत अधिक अनुसरण किया है। पा० गृ० सू० का उपनयन श० ब्रा० के अनुरूप है। इसी प्रकार **पुंसवन, जातकर्म** तथा **इन्द्रयज्ञ** के वर्णन में भी पा० गृ०सू० शतपथ ब्रा० का ऋणी है।

जैसे श्रौतसूत्र संहिताओं से सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार गृ० सू० भी मन्त्रपाठों से सम्बद्ध हैं। आश्व० गृ० सू०, बौ० गृ० सू०, आप० गृ०, सत्या० गृ० तथा वैखा० गृ० सूत्रों के मन्त्रपाठ तो उपलब्ध हैं, सम्भवतः अन्यों के भी रहे होंगे। ओल्डनबर्ग ने तो मन्त्रपाठों और गृ० सूत्रों की रचना एक ही व्यक्ति से और एक ही योजना के अन्तर्गत मानी है, जिसका विण्टरनिट्स ने विरोध किया है। उनके विचार में मन्त्र-संहिताएं गृह्यसूत्रों से पूर्व विद्यमान थीं[1]। क्नावर के अनुसार गो० गृ०सू० के सामने लिखित मन्त्र-पाठ रहा होगा[2]। विण्टरनिट्स ने इसका विरोध किया।

कहीं-कहीं गृह्यसूत्रों तथा श्रौतसूत्रों में साम्य पाया जाता है और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि अधिकतर श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। वहां गृह्य सूत्रकारों ने मन्त्र-विनियोगों के विधान में श्रौतसूत्रों की परम्परा का ही अनुसरण किया है, यथा-ऋग्वेद (१, ९०, ६-८) के 'मधुवाता ऋतायते' प्रभृति तीन मन्त्रों का विनियोग कुछ गृह्यसूत्रों ने मधुपर्क के आलोडनार्थ किया है[3]। आश्व० गृ०सू०(१, २४, १४) में अतिथि द्वारा इसके केवल अवलोकनार्थ तथा कौ० सू० (९१, १) में केवल अभिमन्त्रणार्थ विधान किया गया है। इन्हीं का

१. आप० मन्त्र-पाठ, पृ० ३२।

२. दज़ गो० गृ० सू०, भाग २, पृ० ३१-३४।

३. मा० गृ० सू० १, ९, १४; का० गृ० सू० २४, ११; वा० गृ० सू० ११, २६।

प्राचीनतम विनियोग श० ब्रा० (१४, ९, ३, ११-१३) में मन्थपान के लिए तथा श्रौतसूत्रों में वेदी-चयन के समय मधु-मिश्रित दधि से कूर्म के अवलेपनार्थ विहित है। इस प्रकार उभयविध सूत्रों में दधि और मधु दोनों समान पदार्थों के साथ इन मन्त्रों का सम्बन्ध जोड़ा गया है।

जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं, अनेक मन्त्र ऐसे पाये जाते हैं, जो संहिता या अन्य वर्तमान वैदिक रचना में नहीं पाये जाते। अतः सिद्ध है कि या तो वे ऐसी प्राचीन रचनाओं से संगृहीत हैं जो अब लुप्त हो चुकी हैं, या लोक में प्रचलित ऐसी मन्त्र-राशि रही होगी, जिसमें से आवश्यकता पड़ने पर समय-समय पर गृह्य-सूत्र-कार अपनी रुचि के अनुसार अपनी रचनाओं के लिए मन्त्र-चयन कर लेते थे और जिनका संग्रह, उनकी लोक में प्रसिद्धि तथा प्रचलन के कारण, आवश्यक नहीं समझा गया होगा। प्रथम मान्यता के पक्ष में अनेक ऐसे वचन प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जो गृह्यसूत्रों में प्रमाण के रूप में उद्धृत किये गये हैं[1]।

द्वितीय विचार का प्रतिपादन बूह्लर ने किया है[2], जो यद्यपि धर्मसूत्रों के विषय में व्यक्त किया गया है किन्तु गृह्यसूत्रों पर भी लागू होता है। काणे ने बूह्लर के विचार का विरोध तो किया है[3], किन्तु कोई प्रबल युक्ति नहीं दी।

गृह्यसूत्रों में मन्त्रों को उद्धृत करने की एक समान पद्धति का अनुसरण नहीं किया गया। कुछ सूत्र तो अपनी शाखा की संहिता के मन्त्रों को प्रतीक रूप में उद्धृत करते हैं तथा अन्य स्रोतों से संगृहीत मन्त्रों को सकल पाठ के रूप में। कुछ मन्त्रों अथवा मन्त्र-समूहों को उनके परम्परागत नामों से उद्धृत किया जाता है, यथा—आपोहिष्ठीय, आगावीय, स्वस्त्ययन, शान्तातीय प्रभृति। कुछ सूत्रों में किसी विशिष्ट देवता से सम्बद्ध मन्त्रों का विधान किया गया है। ऐसी स्थिति में इन मन्त्रों का ज्ञान केवल गृह्य-परम्परा के आधार पर होता है, जिसकी जानकारी प्रायः भाष्यकारों की सहायता से ही हो पाती है। वृषोत्सर्ग के समय रुद्र-सम्बन्धी मन्त्रों के विषय में विभिन्न गृह्यसूत्रों के भाष्यकारों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है, क्योंकि प्रत्येक भाष्यकार अपनी शाखा के अनुसार इन मन्त्रों का विधान करता है। शां० गृ० संग्रह के अनुसार ये मन्त्र ऋग्वेद १, ४३, १; ४;२, ३३, ७; ४६ हैं, जबकि पा० गृ० सू० के भाष्यों के अनुसार ये वा० सं० के सोलहवें अध्याय के मन्त्र हैं, और काठ० गृ० सू० भाष्य में काठ० सं० के १७, ११-१६ अनुवाकों का विधान किया गया है। आप० गृ० सू० में तो प्रायः मन्त्र का प्रतीक भी नहीं दिया गया। वहां तो केवल संहिता में मन्त्र की क्रम-संख्या से निर्देश किया गया है, यथा-**आदितो द्वाभ्याम्** (१, ४, २), **तृतीयाम्, चतुर्थ्याम्** इत्यादि।

---

१. इण्डि० कल्पसू०, पृ० १९।

२. एस० बी० ई०, भाग २५, मनुस्मृति, प्रस्तावना, पृ० ९०।

३. हि० ध० सू० भाग-१, पृ० ८।

गृह्यसूत्रों के विकास के विषय में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इनमें कहीं तो समय के साथ-साथ विस्तार और जटिलता आयी है, तो कहीं संक्षेप और सरलता। विवाह में आश्व० गृ० सू० में केवल २१ मन्त्रों का विनियोग विहित है, जबकि पश्चात्कालिक किन्तु अनतिदूरवर्ती शां० गृ० सू० में १२३ मन्त्रों का विधान है। दूसरी ओर पूर्वकालिक गो० गृ० सू० की अपेक्षा उत्तरकालिक खादिर गृह्यसूत्र में संक्षेप की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है[1]। यह संक्षेप या विस्तार काल-क्रम पर निर्भर न होकर व्यक्ति और उसके दृष्टिकोण पर निर्भर करते प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार यद्यपि गृह्यसूत्रों के विषय अत्यन्त प्राचीन हैं और इन विषयों पर रचनायें भी बहुत प्राचीन काल से चली आ रही हैं, तो भी वर्तमान गृह्यसूत्रों को मूल रचनायें नहीं माना जा सकता। अनेकों परिवर्तनों, परिवर्धनों और काट-छांट के बाद ये हम तक पहुंचे हैं[2]।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि विषय और रचनाकाल की दृष्टि से ये गृह्यसूत्र एक दूसरे से बहुत दूरस्थ नहीं कहे जा सकते[3]। इनमें एक से विषयों का प्रतिपादन प्रायः एक सा ही किया गया है। भाषागत वैषम्य भी बहुत अधिक नहीं है। फिर भी धार्मिक और सामाजिक विचारधारा और परिस्थितियों का अन्तर अवश्य लक्षित होता है।

गृह्यसूत्रों और श्रौतसूत्रों में परस्पर सम्बन्ध

यदि गृह्यसूत्र किसी पूर्ण कल्प का अंग हों, तो प्रायः श्रौतसूत्र ही पहले रचा जाता है। केवल कौशिकसूत्र इस विषय में अपवाद है। कई गृह्यसूत्रों में अपने चरण से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों के सङ्केत पाये जाते हैं और स्पष्ट कह भी दिया जाता है कि श्रौत कर्मों की व्याख्या हो चुकी, अब गृह्य कर्मों की व्याख्या करेंगे[4]। आप० गृ० सू० में तो आप० श्रौ० सू० का उल्लेख किया गया है[5]। शां० गृ० सू० (१, १, १३) में तो शां० श्रौ० सू० के यज्ञोपवीत सम्बन्धी नियमों का आवर्तन गृह्य कर्मों में भी करने का आदेश इसलिए दिया गया है कि दोनों एक ही कल्प से

---

१. सूर्यकान्त, कौथुमगृह्यसूत्र, प्रस्तावना, पृ० ३३-४०।

२. ओल्डनबर्ग, एस० बी० ई० २९, पृ० ७, टि० ४; पृ० २०, टि० १।

३. द्र. सूर्यकान्त, वही, पृ० १०७।

४. 'उक्तानि वैतानिकानि, गृह्याणि वक्ष्यामः' (आश्व० गृ० सू० १, १, १)।

५. आप० गृ० सू० १, १, १९ में आप० श्रौ० सू० १, ११, ६ का तथा आप० गृ० सू० १, २, ५ में आप० श्रौ० सू० २, १२, ७ का उल्लेख है।

सम्बद्ध हैं[1] । इसी प्रकार पा० गृ० सू० (१, १८, १), का० श्रौ० सू० (४, १२, २१) का उल्लेख करता है । अतः एक ही कल्प से सम्बद्ध श्रौत और गृह्य सूत्रों में परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध होता है ।

श्रौत और गृह्य सूत्रों में मुख्य अन्तर यह है कि श्रौतसूत्रों में ऐसे कर्मों का विधान किया गया है जो मुख्यतः **आहवनीय**, **गार्हपत्य** और **दक्षिण** इन तीन अग्नियों की सहायता से सम्पन्न किये जाते हैं और गृह्यसूत्रों में एक ही अग्नि का प्रयोग किया जाता है । दूसरे, श्रौत कर्मों को करने के लिए चार से लेकर सोलह या सत्रह ऋत्विजों तक की सहायता लेनी पड़ती है, जब कि गृह्य कर्मों को यजमान स्वयं ही किसी अन्य ऋत्विज् की सहायता के बिना सम्पन्न कर सकता है । यदि उसे कार्यवशात् कहीं बाहर जाना पड़े या किसी कारणवश वह स्वयं कर्म करने में असमर्थ हो, तो उसके स्थान पर उसकी पत्नी, पुत्र, शिष्य या पुरोहित कोई भी उसे सम्पन्न कर सकता है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों परस्पर सर्वथा भिन्न हैं । **दर्शपूर्णमास**, **अन्त्येष्टि** कर्म, **आग्रयणेष्टि** तथा **मधुपर्क** जैसे महत्त्वपूर्ण कर्म दोनों में विहित हैं । अतः कोई कर्म श्रौतसूत्रों में वर्णित होने मात्र से ही गृह्यसूत्रों से बहिष्कृत नहीं हो जाता, न ही गृह्यसूत्रों में उसका वर्णन अनुपयुक्त या असंगत ही कहा जा सकता है । **अन्त्येष्टि** कर्म पर ही दृष्टिपात करें तो पता चलता है कि **आहिताग्नि** की **अन्त्येष्टि क्रिया** में एक ही अग्नि से संपूर्ण कर्म सम्पन्न किया जाता है[2] । अतः **अन्त्येष्टि** कर्म को श्रौत कर्म नहीं कहा जा सकता, तो भी उसका वर्णन श्रौतसूत्रों में भी किया गया है । दूसरे, यह कर्म प्रेत के सम्बन्धियों द्वारा किया जाता है, पुरोहितों द्वारा नहीं । श्रौतसूत्रों का क्षेत्र इस विषय में सीमित है, क्योंकि उनमें केवल **आहिताग्नियों** की **अन्त्येष्टि** का विधान किया गया है । अतः डा० क्नावर का यह मत समीचीन नहीं कहा जा सकता कि **अन्त्येष्टि**-कर्म गृह्यसूत्रों के क्षेत्र का विषय नहीं है ।

हम ऊपर देख चुके हैं कि मन्त्रों के विनियोग के विषय में गृह्यसूत्र श्रौतसूत्रों का स्पष्ट अनुकरण करते हैं । इन समानताओं और परस्पर आधार-आधेय-भाव का मुख्य कारण यह है कि एक ही शाखा के कल्पसूत्रों के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं । किन्तु पारस्कर, खादिर और गोभिल गृह्यसूत्रों के कर्ता पारस्कर, खदिर और गोभिल ही हैं, जबकि इनके श्रौतसूत्रों के रचयिता क्रमशः कात्यायन, द्राह्यायण और लाटचायन हैं । इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों में वैमत्य पाया जाता है । डा० बूह्लर तो भारतीय मत के पोषक हैं, क्योंकि गृह्यसूत्रों और श्रौत-

१. 'यज्ञोपवीतयादि च सम्भवत् सर्वं कल्पैकत्वात्' (शां० गृ० सु० १, १, १३) ।

२. वै० गृ० सू० ५, ५ ।

सूत्रों में परस्पर एक दूसरे के सङ्केत पाये जाते हैं। दूसरे इनकी भाषा तथा रचना शैली भी एक ही की ओर सङ्केत करती हैं[1]।

डा० ओल्डनबर्ग ने इस मत का विरोध किया है। उनके अनुसार यद्यपि इन गृह्य तथा श्रौत सूत्रों में परस्पर अनेक प्रकार की समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं, तो भी इन समानताओं और पारस्परिक सङ्केतों के आधार पर उनका समान-कर्तृत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि उसी शाखा का कोई अन्य व्यक्ति भी दोनों में पारस्परिक साम्य और एकसूत्रता को स्थिर करने का स्वाभाविक सफल प्रयास कर सकता था, जिसमें कहीं-कहीं विरोध तथा विभेद का अनायास ही आ जाना भी उतना ही स्वाभाविक है और ध्यानपूर्वक देखने से इन सूत्रों में परस्पर ऐसे विरोध, इतनी असंगतियां, आवृत्तियां आदि सामने आती हैं, जो सिद्ध करती हैं कि इनके कर्ता एक नहीं हो सकते। किन्तु इस विषय में अन्तिम निर्णय करने के लिए अभी और पुष्ट प्रमाणों को अपेक्षा है[2]।

डा० ओल्डनबर्ग ने डा० बूह्लर के तर्कों का खण्डन करते हुए कहा है कि एक से वचन-विन्यास तथा व्याकरण-विषयक त्रुटियों तथा अन्य असंगतियों के कारण कृतियों का एक-कर्तृत्व सिद्ध करने का प्रयास स्वयं में एक तर्कहीन स्थापना की चेष्टा है[3]। किन्तु स्वयं डा० ओल्डनबर्ग ने भी अपनी स्थापना को सिद्ध करने के लिए कोई अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। अतः बद्धमूल परम्परागत मान्यता का इन दुर्बल और काल्पनिक मन्तव्यों के आधार पर उच्छेदन उचित नहीं[4], और यही मानना उचित है कि एक ही शाखा के श्रौत और गृह्य सूत्रों की न केवल परम्परा, अपितु प्रायेण कर्ता भी एक ही हैं। कहीं-कहीं कर्तृभेद भी दृष्टिगोचर होता है, यथा कात्यायन श्रौतसूत्र कात्यायन की रचना है तो उसी शाखा का गृह्यसूत्र पारस्कर के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि परम्परा 'पारस्कर' को देशवाची मान कर इसे कात्यायन का ही नामान्तर मानती है, तो भी नामभेद से कर्तृभेद मानना उचित है।

---

१. एस० बी० ई०, भाग २, भूमिका पृ० १५ ; भाग १४ भूमिका, पृ० ३०।

२. एस० बी० ई० भाग ३० ; भूमिका पृ०, ३२-३३।

३. वही, पृ० ३२, टि० २।

४. रामगोपाल, इण्डि० कल्प० सू० पृ० ७ ; काशिकर, सर्वे० पृ० १५३।

चतुर्दश अध्याय

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

ऋग्वेदीय शाखाओं के तीन गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं—आश्वलायन, शाँखायन और कौषीतकि। ऋग्वेद की शाखाओं के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि चरणव्यूह में उल्लिखित आश्वलायन और शाङ्खायन दोनों शाखाओं की संहिताएं कभी रही होंगी, तथा कौषीतकि शाखा, शांखायन से बहुत समान किन्तु भिन्न रही होगी। आश्वलायन-कल्प के भाष्यकारों के अनुसार आश्वलायन-कल्प का संबन्ध किसी एक संहिता से न होकर कई संहिताओं से है। अन्तर इतना है कि देवस्वामी, देवत्रात और गार्ग्यनारायण के मत में इसका सम्बन्ध समस्त ऋक्-शाखाओं से है, जबकि षड्गुरुशिष्य के मत में यह केवल शाकल और बाष्कल दो शाखाओं से ही सम्बद्ध है। इनमें से षड्गुरुशिष्य का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है[1]।

श्रौतसूत्रों के समान ही गृह्यसूत्रों की भी न्यूनाधिक यही स्थिति है। इन गृह्यसूत्रों ने अपनी-अपनी शाखाओं की संहिताओं की आद्य और अन्त्य ऋचाओं की पुष्टि कर दी है। आश्व० गृ० सू० की शाकल शाखा की अन्तिम ऋचा **समानी व आकूतिः** है और शां०-कौ० गृ० सू० की बाष्कल शाखीय अन्तिम ऋचा **तच्छंयोरावृणीमहे** है।

जहां तक खिल सूक्तों का संबन्ध है, ये विभिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु इन खिल सूक्तों का पाठ गृह्यसूत्रों से पूर्व ही स्थिर हो चुका था और इन सूत्रों के लिए ये 'खिल' न रहकर 'सूक्त' 'मन्त्र' या 'ऋचाएं' बन चुके थे। कौषीतकि गृह्यसूत्र (१, १) में **येनेदम्**[2] को 'सूक्त' की संज्ञा दी गयी है, न कि 'खिलसूक्त' की।

आश्व० गृ० सू० (३, १२, १४) में वालखिल्य **प्रधारयन्तु मधुनो घृतस्य** (८म मण्डल) को **सौपर्ण** संज्ञा से स्मरण किया गया है, खिलसूक्त से नहीं। इसी प्रकार शां० गृ० सू० (३, १, ७) तथा आश्व० गृ० सू० (३, ८, १६) में खिल सूक्त **आयुष्यं वर्चस्यम्**[3] को 'सूक्त' ही कहा गया है। **सीमन्तोन्नयन** में विनियुक्त खिल मन्त्र **नेजमेष परापत**[4] को '**ऋक्**' संज्ञा से उद्धृत किया गया है[5]।

---

१. द्र. भगवद्दत्त, वै० वाङ्०, भाग १, (द्वि० सं०) पृ० २०८-२०९।

२. ऋग्० खिल० ३३, १ (सातवलेकर सं०)।

३. खिल० २७, १।

४. खिल० ३४, १।

५. शां० गृ० सू० १, २२, ७; कौ० गृ० सू० १, १४, ६; १०; आश्व० गृ० सू० १, १४, ३।

गृह्यसूत्रों में संहिता के मन्त्रों का विनियोग कालक्रमानुसार अधिकाधिक वृद्धि को प्राप्त होता दृष्टिगोचर होता है।

आश्व० गृ० सू० में ऋग्० के १२५ मन्त्र उद्धृत हैं।

शां० गृ० सू० में ऋग्० के १७० मन्त्र उद्धृत हैं।

कौ० गृ० सू० में ऋग्० के १८७ मन्त्र उद्धृत हैं।

इस प्रकार तीनों गृह्यसूत्रों में उद्धृत इन ४८२ मन्त्रों में से केवल ३६ उद्धरण ऐसे हैं, जो तीनों में कुछ-कुछ अन्तर के साथ समानान्तर ही कहे जा सकते हैं[1]।

इतना ही नहीं। ऋग्वेद से सम्बद्ध इन गृह्यसूत्रों में अनेकों मन्त्र अथर्ववेद से लिये गये हैं। **शाला-कर्म** में आथर्वण मन्त्र प्रयुक्त हैं। **गोष्ठ-कर्म** में कौ० गृ० सू० में ७ मन्त्रों वाले आथर्वण सूक्त (४, २१=ऋग्० ६, २८ [८ मन्त्र] का विनियोग किया गया है। आश्व० गृ० सू० के भाष्यकार हरदत्त ने ऋग्वेद के सूक्त का ही विधान किया है। इसी प्रकार विवाह कर्म में शां० गृ० सू० (१, १५, ६) तथा कौ० गृ० सू० (१, ९, ७) में **रवे रथस्य**[2] का विधान अथर्ववेद (४, १, ४१) की परम्परा के अनुसार किया गया है। यही मन्त्र (ऋग्० ८, ९१, ७) ऋग्वेदीय परम्परा में विवाह से भिन्न प्रसंग में विहित है[3]। अतः यहां अथर्ववेद का प्रभाव लक्षित होता है।

कभी-कभी ऋग्वेदबाह्य मन्त्रों में परिवर्तन एवं परिष्कार करने का प्रयास भी किया जाता है। शां० गृ० सू० (१, २८, ८) तथा कौ० गृ० सू० (१, २१, ७) में **चूड़ाकर्म** के अवसर पर इस मन्त्र का विधान किया गया है—

सम्पृच्यध्वमृतावरीरूर्मिणा मधुमत्तमाः।
पृञ्चतीर्मधुना पयो मन्द्रा धनस्य सातये॥

इसका प्रथम पाद मै० सं० (४, १, ३); काठ० सं० (१, ३) तथा तै० सं० (१, १, ३, १) में पठित है। द्वितीय पाद में तै० सं० में **ऊर्मिणीर्** पाठ है, जिसे कौ० गृ० सू० ने अपनाया है। तृतीय पाद ऋग्० (१, २३, १६) तथा अथर्व० (१, ४, १) में पठित है। मै० सं० में इसका पाठ **पृञ्चतीः पयसा पयः** है। इन गृह्यसूत्रों ने ऋग्वेदीय पाठ को अपनाया है।

इन प्रमाणों से इन सूत्रों के ऋग्वेद से सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है।

---

१. सीताराम सहगल, शां० गृ० सू०, पृ० ३८-३९।

२. ऋग्० ८, ९१, ७।

३. गृह्य० विनि०, पृ० ४५।

आश्वलायन गृह्यसूत्र

ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा से सम्बद्ध आश्वलायनगृह्यसूत्र के चार अध्याय हैं। तृतीय अध्याय (३, ३), में ऋषि-तर्पण के प्रकरण में महत्त्वपूर्ण आचार्य-वंशावली दी गयी है। तृतीय अध्याय (३, २) में वेदाध्ययन के विशेष नियम और उपाकर्म या श्रावणी का वर्णन भी महत्त्वपूर्ण हैं (३, ४). किन्तु इस बात का सन्देह किया जाता है कि इस गृह्यसूत्र में कुछ सूत्रों का प्रक्षेप बाद में किया गया है[1], जिस कारण प्रकरणानुसार न होने के से वे सूत्र-क्रम में व्याघात डालते हैं। इन सूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों का उल्लेख आश्वलायन मन्त्र-संहिता में भी नहीं हुआ[2]। चार अध्यायों का विषय-विभाजन इस प्रकार किया गया है—

प्रथम अध्याय—पाकयज्ञ, सायं-प्रातः सिद्ध-हविष्य-होम, विवाह, पार्वणस्थाली-पाक, पुँसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, अन्नप्राशन, चौलकर्म, गोदान, उपनयन, ब्रह्मचर्य-व्रत तथा मधुपर्क।

द्वितीय अध्याय—श्रवणा, आश्वयुजी, अष्टका, वास्तुनिर्माण तथा गृहप्रवेश।

तृतीय अध्याय—पञ्चमहायज्ञ, ऋषि-तर्पण, वेदाध्ययन, उपाकर्म, समावर्तन तथा राजसन्नाहन।

चतुर्थ अध्याय—दाहकर्म, श्राद्ध तथा शूलगव।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, आश्वलायन शौनक के शिष्य थे, किन्तु जब आश्वलायन ने अपना कल्पसूत्र शौनक के सम्मुख प्रस्तुत किया तो गुरु ने अपना कल्पसूत्र नष्ट कर दिया[3]। आश्वलायन गृह्य और श्रौत दोनों सूत्रों में गुरु के विचारों का उल्लेख भी किया गया है[4]।

शौनकीय बृहद्देवता (४, १३९) में आश्वलायन की सम्मति का उल्लेख किया किया गया है[5]। कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में बृ० दे० से बहुत सहायता ली है। सर्वानुक्रमणी के अनेकों प्राचीन और अपाणिनीय प्रयोगों के कारण कात्यायन

---

१. V. M. Apte, *A Textual Criticism of the Ās'va. Gr. Sutra.* B.D.C.R.I. Vol. I, No. 2-4, March 1940, P. 394-410.

२. वही,

३. मैक्समूलर, हि० ए० सं० लि०, पृ० १२०।

४. आश्व० गृ० सू० ४, ७, १४; आश्व० श्रौ० सू० ६, ८; ६, १०; ६, १५।

५. आश्व० गृ० सू० २, ६, १२ का संकेत।

को प्राक्-पाणिनीय कहा जाता है[1], अतः बृ० दे० में आश्वलायन का उल्लेख उसके प्राक्-पाणिनि होने का प्रमाण है।

ऐ० आर० का पञ्चम अध्याय सूत्ररूप में है और षड्गुरुशिष्य के मतानुसार यह अध्याय आश्वलायनकृत है[2]। कीथ ने भी स्वीकार किया है कि ऐ०आर० (५, ३, २) में आश्व० श्रौ० सू० (१, ५, १७) के सङ्केत हैं, और कि आश्वलायन द्वारा इस अध्याय की रचना प्रमाणित होती है[3]। और क्योंकि ऐ० आर० पाणिनि से पूर्व माना जाता है, अतः आश्वलायन प्राक्-पाणिनि अवश्य हैं। इसके अतिरिक्त आश्व० गृ० सू० की रचना-शैली कहीं-कहीं ब्राह्मण-शैली से मिलती है, अतः आश्व० गृ० सू० सर्वप्राचीन सूत्रकाल की रचना है।

आश्व० गृ० सू० और शां० गृ० सू० के सम्बन्धों पर विचार किया जाये, तो सर्वप्रथम हमें ध्यान रखना चाहिये कि आश्व० गृ० सू० और शां० गृ० सू० दोनों ही अपने-अपने श्रौतसूत्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और दोनों शाखाओं के श्रौत और गृह्य सूत्रों के रचयिता भी क्रमशः आश्वलायन और शांखायन ही हैं। श्रौतसूत्र-प्रकरण में हम दिखा चुके हैं कि आश्व० श्रौ० सू०, शां० श्रौ० सू० से प्राचीन है। अतः आश्व० गृ० सू० भी शां० गृ० सू० से प्राचीन ठहरता है। यद्यपि आश्व० गृ०सू० और शां०गृ० सू० के रचनाक्रम को हिल्लेब्राण्ट ने उलटने का प्रयास किया है[4], तो भी रचना-शैली को देखा जाये तो शां० गृ०सू० की शैली आश्व० गृ० सू० की शैली से संक्षिप्ततर है और इसमें शब्दों की बचत करने की दृष्टि से क्त्वान्त, क्तान्त और भावाधिकरण का प्रचुर प्रयोग किया गया है[5]। दूसरे, शां० गृ०सू० में जातपात पर अधिक बल दिया गया है। यथा—**चूड़ाकरण** संस्कार में बालक की आयु के विषय में (१,२८), **उपनयन में सावित्री-प्रशिक्षण** के विषय में (२,५) और विवाह के अन्त में उपहार के विषय में (१, १४)। तीसरे, हम जानते हैं कि आश्वलायन ने आश्व० श्रौ० सू०, आश्व० गृ० सू० तथा ऐ० आर० के पञ्चम अध्याय की रचना की थी और शांखायन ने शां० श्रौ० सू० तथा शां० गृ० सू० की। ऐ० आर० और शां० श्रौ० सू० में वर्णित **महाव्रत** की तुलना करने से ज्ञात होता है कि आश्व०

---

१. मैक्डॉनल, बृ० दे०, भूमिका, पृ० २२-२३; कीथ, ऐ० आर०; भूमिका, पृ० २१।

२. मैक्डॉनल, सर्वानु०, भूमिका पृ० १९।

३. ऐ० आर०, आंग्लानुवाद, पृ० २९७, टि० १४; ओल्डनबर्ग, एस० बी० ई० २९, पृ० १५४ से।

४. Ritualliteratur, P. 25.

५. शां० गृ० सू० १, ११,१-४; १, १२, १-२; १, २१, १-३; २, ७, १-७।

श्रौ०सू० को उद्धृत करने वाला ऐ०आर०, शां०गृ०सू० से प्राचीनतर है[1]। चौथे आश्व० गृ०सू० में विवाह-संस्कार में केवल २१ मन्त्रों का विनियोग किया गया है, जबकि शांखायन गृह्यसूत्र में १२३ मन्त्रों का। इससे भी शां० गृ० सू० की अर्वाचीनता का सङ्केत प्राप्त होता है। यद्यपि ओल्डनबर्ग ने आश्व० गृ० सू० में शांखायन का उल्लेख होने के कारण शांखायन गृह्यसूत्र को प्राचीनतर माना हैं, तो भी क्योंकि पश्चाद्वर्ती सूत्रकार कर्मकाण्ड तथा संस्कारों को लगातार विस्तृत एवं जटिल बनाने की प्रवृत्ति का परिचय देते हैं, अतः आश्व० गृ०सू० को ही शां० गृ०सू०से प्राचीनतर मानना उचित है[3] और फिर एक दूसरे को उद्धृत करने का तर्क इस विषय में प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि आप० मन्त्रब्राह्मण (२, ५, ४) बौ० गृ० सू० (१, ४, २५) को उद्धृत करता प्रतीत होता है, किन्तु चूड़ाकरण संस्कार में बौधायन० ही आपस्तम्ब गृह्यसूत्र (६, १६६) को उद्धृत करता प्रतीत होता है, किन्तु केवल इसी आधार पर इसके पौर्वापर्य के विषय में कोई प्रामाणिक निर्णय नहीं किया जा सकता[4], अपितु सूत्ररचना-शैली के आधार पर वर्तमान शां० गृ० सू० को उत्तरकालिक गृह्यसंग्रहों के काल तक उतारने की भी बात कही गयी है[5], जो सर्वथा मान्य नहीं हो सकती।

आश्व० गृ०सू० में विनियुक्त मन्त्रों का संग्रह 'आश्वलायन मन्त्रसंहिता' में किया गया है, किन्तु आश्व० गृ० सू० में ऐसे बहुत से मन्त्र उपलभ्य हैं, जो आश्व० मं० सं० में नहीं पाये जाते और वे उत्तरकालिक प्रक्षेपों की कोटि में आते हैं[6]। कुछ मन्त्र ब्राह्मण-शैली के हैं (१, १, ३-४), जो किसी प्रक्रिया में विनियोज्य नहीं हैं, अपितु क्रिया की व्याख्या या औचित्य-प्रदर्शनार्थ हैं। अन्य गृह्यसूत्रों के समान ही यहां भी ऐसे मन्त्रों का विनियोग किया गया है, जिनका विनियोग अन्यत्र सर्वथा विरुद्ध संदर्भ में विहित है। यथा ऋग् १, ३१, १६ को लाट्० श्रौ० सू० में आहिताग्नि द्वारा आज्याहुति में विनियोज्य कहा गया है, जबकि ऐसे ही प्रसंग में आश्व० गृ० सू० ने इसे अनाहिताग्नि द्वारा विनियोज्य माना है[7]। कई ऐसे मन्त्र भी यहां विनियुक्त हैं, जिनका प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऋग् ८,१०१,१-४

---

१. कीथ, ऐ० आर०, प्रस्तावना, पृ० २६-३६ ; जे० आर० ए० एस०, १९०७, पृ० ४१०-४१३।

२. एस० बी० ई०, भाग २९, पृ० ३ से।

३. सूर्यकान्त, कौथुम गृ० सू०, प्रस्तावना, पृ० ३३।

४. द्र. सूर्यकान्त, कौथुम गृ० सू०, पृ० ८१-८२।

५. सूर्यकान्त, वही, पृ० ३३।

६. वी० एम० आप्टे, *A Textual criticism of the Āśvalāyana Gṛhya Sūtra;* B.D. C. R. I., Vol. I. No. 2-4. P. 390-410.

७. लाट्या० श्रौ० सू०, ३, २, ७ ; आश्व० गृ० सू० १, २३, २५।

को राजा युद्ध में रथ हांकते समय पढ़ता है (आश्व० गृ० सू० ३, १२, १२), जबकि इन में मित्रावरुणों से प्रार्थना की गयी है कि अग्नि से संघर्ष न हो। इसी प्रसंग में **अभीवर्त सूक्त** (ऋग्० १०, १७४) का भी विनियोग किया गया है, जबकि ऐ० ब्रा० (८, १०, ४) में इस सूक्त का विनियोग राजसूय में पुनरभिषेकार्थ किया गया है।

कई ऐसे मन्त्र भी यहां विनियुक्त हैं, जो किसी अन्य वैदिक संहिता में नहीं पाये जाते। यथा—आश्व० गृ० सू० ३, १२, १३ में सौपर्ण सूक्त का विधान किया गया है, जो नारायण के अनुसार **प्रधारयन्तु मधुनो घृतस्य** है। किन्तु यह न तो किसी संहिता में उपलभ्य है और न ही सुपर्णाध्याय में।

डा० वी० एम० आप्टे ने आश्व० गृ० सू० के निम्नलिखित सूत्रों के मौलिक होने के विषय में सन्देह व्यक्त किया है[1]।

अध्याय—१. १, ३-४; ७, १७: ८, २-३; १२, ३; २३, ६-२४।
२. ६, ५; ७; १२; १४; १५।
३. ६, ५; ७, ८-९; १२, १२-१६।
४. २, १८; २०; ६, ७।

किन्तु डा० सीताराम सहगल ने इनके सन्देह को निराधार घोषित किया है[2]। इनके तर्क अधिक संगत हैं। आश्व० गृ० सू० की कुछ विशेषताएँ हैं, जो इसे अन्य अनेक गृह्यसूत्रों से पृथक् करती हैं।

ऊपर कहा गया है कि आश्व० गृ० सू० में **विवाह** संस्कार में बहुत कम मन्त्रों का विनियोग किया गया है और इसकी प्रक्रिया भी अति सरल है। इसी प्रकार **पुंसवन** संस्कार भी अति सरल है। इसमें पति सरसों के दो दाने तथा यव का एक दाना पत्नी के दाहिने हाथ में रखता है, जिन्हें पत्नी दधि के साथ तीन बार मन्त्र-सहित भक्षण करती है[3]। **जातकर्म** संस्कार भी अपेक्षाकृत सरल है। इसके अंगभूत **कुमाराभिमन्त्रण** संस्कार में पिता केवल पुत्र के कन्धों को मन्त्र से स्पर्शमात्र करता है[4]। **अन्त्येष्टि** संस्कार में शव को श्मशान ले जाते समय शव के पीछे गौ अथवा कृष्णवर्णा या एकवर्णा अजा के अगले वाम पाद में रस्सी बांध कर चलाने और उसके पीछे मृतक के सगे-संबन्धियों के चलने का विधान किया

---

१. *A Textual criticism of the Āśva. Gṛ. S.*, B.D.C.R.I. Vol. I, No. 2-4, P. 390-410.

२. शां० गृ० सू०, प्रस्तावना, पृ० ५-६; ३०-३६।

३. आश्व० गृ० सू० १, १३, २-४।

४. आश्व० गृ० सू० १, १५, ३।

गया है[1], जो अन्यत्र नहीं पाया जाता। **अन्त्येष्टि-क्रिया** की एक और विशेषता यह भी है कि शव के साथ चिता पर पत्नी को लिटा देने का निर्देश किया गया है, जिसे देवर, मृतक का शिष्य अथवा वृद्ध वृषल ऋग्० १०, १८, ८ से उठा देता है[2]। आहिताग्नि के यज्ञ-पात्रों को उसके विविध अंगों पर स्थापित करके उसके साथ ही भस्म कर देने का निर्देश किया गया है[3]। आहिताग्नि की चिता तीनों अग्नियों से प्रज्वलित की जाती है[4]। **अन्वष्टक्य** कर्म में स्त्री-पूर्वजाओं को भी पिण्ड देने का विधान है और उनके लिए सुरा तथा चावलों की मांड का निवपन गर्तों में किया जाता है[5]। **शूलगव** में धान के तुष, पशु की पूंछ, चर्म तथा सिर और पादों का अग्नि में होम तथा उसके उत्तर में दर्भों या कुश-कूर्चों पर पशु के रक्त को सर्पों के निमित्त अर्पण करने का विधान है[6]। **राजसन्नाहन** कर्म भी आश्व० गृ० सू० की अपनी विशेषता है, जिसका अन्यत्र किसी भी सम्प्रदाय में उल्लेख नहीं किया गया। आश्व० गृ०सू० में ६१ ऐसे उद्धरण हैं जिनका समानान्तर अन्य किसी भी सम्प्रदाय में उपलब्ध नहीं होता। ये उद्धरण मुख्यतया **विवाह, रथारोहण, समावर्तन, काम्येष्टियों, उपनयन, मधुपर्क, मेधाजनन, पाकयज्ञप्रशंसा, शूलगव, पशुबन्ध** प्रभृति में उपलभ्य हैं।

व्याख्याएं :—दिवाकर-सूनु नारायण ने आश्व०गृ० सू० पर 'विवरण' की रचना की है। इसने कई श्लोकों के उद्धरण दिये हैं, जो आश्व० श्रौ० सू० 'वृत्ति' के कई श्लोकों की छाया मात्र हैं। आश्व० श्रौ० सू० 'वृत्ति' का रचयिता भी नारायण है, किन्तु वह नृसिंह (नरसिंह) का पुत्र है और गार्ग्य गोत्र का है, जबकि हमारा प्रस्तुत नारायण नैध्रुव गोत्र का है। दोनों ने ही देवस्वामी के भाष्य का अनुकरण किया है। तो भी दोनों का कर्ता एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता[7]। श्रौतवृत्तिकार नारायण, गृह्य विवरणकार से प्राचीन है[8]। रेणु दीक्षित ने पारस्कर गृह्यसूत्र की कारिका में अपना काल ११८८ शाके लिखा है। उसने नारायण को उद्धृत किया है[9]। अतः नारायण सन् १२६६ ई० से पूर्वकालिक है।

---

१. आश्व० गृ० सू० ४, २,४-२ (तु. कौ० गृ० सू० ५,२, १-८)।
२. आश्व० गृ० सू० ४, २, १५-१८।
३. वही, ४, ३, १-१८।
४. वही, ४, ४, १-६।
५. आश्व० गृ० सू० २, ५, ६ ; आश्व० श्रौ० सू० २, ६, ७।
६. आश्व० गृ० सू० ४, ८, २७।
७. See Velankar, Decc. Cat. S.P. MSS, BBRAS, Vol. II, P. 168 ; 183 ; *L. Sarup* ; *Indices of Nirukta*, P. 36.
८. भगवद्दत, वै० वाङ्, भाग १, खण्ड २, पृ० २०।
९. पा० गृ० सू० १५, १२।

इसके अनेक संस्करण मुद्रित हो चुके हैं—

(१) गृह्यपरिशिष्ट-सहित— आर० विद्यारत्न तथा ए० वेदान्तवागीश द्वारा सम्पा०, कलकत्ता, १८६६-६९ (बी० आई०)।

(२) गृह्यपरिशिष्ट-सहित तथा कुमारिलभट्ट-कृत कारिका-सहित— बम्बई, १८९५।

(३) गृह्यपरिशिष्ट-सहित तथा कुमारिलभट्ट-कृत कारिका-सहित— वासुदेव लक्ष्मण, पणशीकर, बम्बई, १९०९।

(४) गृह्य-परिशिष्ट-सहित तथा कुमारिल भट्ट कृत कारिका सहित— भवानी शङ्कर सुकठणकर, बम्बई, १९०९।

(५) गृह्य-परिशिष्ट-सहित—जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८९३।

द्वितीय भाष्यकार देवस्वामी हैं जो नारायण के उपजीव्य हैं, अतः उससे प्राचीन हैं। परन्तु इनका भाष्य अभी तक पूर्ण मुद्रित नहीं हो सका। इन्हीं देवस्वामी ने आश्व० श्रौ० सू० पर भी भाष्य लिखा था, जिसका अनुसरण नृसिंह-सूनु नारायण गार्ग्य ने अपनी श्रौतसूत्र की वृत्ति में किया है। देवस्वामी ने स्मृतिसंग्रह के वचनों की व्याख्या भी की थी[1]। स्मृतिसंग्रह का समय अष्टमी शती तथा दशमी शती के मध्य में माना गया है[2]। प्रपञ्चहृदय (त्रि० सं० सी०, पृ० ३९) द्वारा उल्लिखित मीमांसा-भाष्यकार देवस्वामी का इस देवस्वामी के साथ अभेद स्थापित करने के प्रयास प्रमाण के अभाव में असफल हो जाने पर यही कहा जा सकता है, कि इसका स्थितिकाल १००० ई० के आसपास हो सकता है[3]। आश्व० गृ० सू० के टीकाकार हरदत्त ने एक भाष्यकार को उद्धृत किया है, जो सम्भवतः हमारा देवस्वामी ही है[4]। हरदत्त का काल लगभग ११०० ई० है।

इस भाष्य का प्रथम अध्याय रविवर्मा ने अड्यार से सन् १९४४ में प्रकाशित किया है।

तृतीय टीकाकार प्रसिद्ध वैयाकरण, काशिका पर **पदमञ्जरी** के कर्ता, हरदत्त मिश्र हैं, जिनको सायण तथा देवराज यज्वा ने बहुधा उद्धृत किया है[5]।

---

१. स्मृतिचन्द्रिका, भाग २; पृ० २८९।
२. काणे, हि० ध० शा०, भाग-१, पृ० २४९।
३. काणे, वही, पृ० २८१।
४. काणे, वही, पृ० ३४७।
५. द्र. लक्ष्मणसरूप, इण्डिसिज़, पृ० ३७-३८।

इनका काल ११०० ई० के लगभग आंका गया है[1]। इनकी अनाविला टीका, अतिप्रसिद्ध, स्पष्ट तथा सरल है। इसका सम्पादन त्रिवेन्द्रम से टी० गणपति शास्त्री ने १९२३ में किया था।

इनके अतिरिक्त आश्व० गृ० सू० पर कुमारिल कृत-कारिकाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनके अनेक संस्करण मूल के साथ ही निकल चुके हैं। यथा—वासुदेव लक्ष्मण पणशीकर द्वारा सम्पा०, बम्बई, १९०९; तथा भवानी शङ्कर सुरूठणकर द्वारा सम्पा०, बम्बई, १९०९ प्रभृति।

शाङ्खायन गृह्यसूत्र

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों में शाङ्खायन गृह्यसूत्र का अपना विशेष महत्त्व है। यह ऋग्वेद की शाङ्खायन शाखा से सम्बद्ध है और ओल्डनबर्ग के अनुसार ऋग्वेद की वाष्कल शाखा पर आश्रित है।[2] इस गृह्यसूत्र का कर्ता सुयज्ञ है, जिसका नामोल्लेख आश्व० गृ० सू० (३,४), शां० गृ० सू० (४,१०) तथा शाम्बव्य गृह्यसूत्र की आचार्य-वंशावलियों में किया गया है[3]। इसके छह अध्याय उपलब्ध है, जिनमें से 'पञ्चम अध्याय' को तो वृत्तिकार नारायण ने ही परिशिष्ट का नाम दिया है।[4] वासुदेव कृत शां० गृह्य-संग्रह में भी पञ्चम तथा षष्ठ अध्याय का उल्लेख नहीं किया गया। कौ० गृ० सू०, जो शां० गृ० सू० का पदानुग कहा जाता है[5], इन दोनों अध्यायों के विषय में मौन है। गृह्यसूत्रों में वर्णित सभी विषय चतुर्थ अध्याय तक समाप्त हो जाते हैं। पञ्चम अध्याय में ऐसे विविध विषयों के सम्बन्ध में चर्चा की गयी है, जिनकी चर्चा पहले हो चुकी है। इसके अतिरिक्त उद्यान-प्रतिष्ठा (५,३) तथा तड़ाग एवं कूप प्रतिष्ठा (५, २) ऐसे विषय हैं, जिनका समुचित स्थान पुराणों, परिशिष्टों तथा धर्मसूत्रों में होना चाहिये। षष्ठ अध्याय के आरम्भ में ब्रह्मा, ब्रह्मर्षि, इन्द्र, प्रजापति प्रभृति देवताओं तथा वैदिक ऋषियों तथा आचार्यों की स्तुति इस बात की ओर संकेत करती है कि यह अध्याय उत्तरवर्ती काल में स्वतन्त्ररूप से रचा गया है, जिसमें यद्यपि शां० सूत्रों के मुख्य भाग से परिचय झलकता है, किन्तु यह इस कृति का अंग प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस

---

१. बेल्वेल्कर, सिस्टम्स० पृ० ४०।

२. एस० बी० ई० २९, पृ० ३; ११३।

३. ओल्डनबर्ग, वही, पृ० ३-४; टी० आर० चिन्तामणि, प्रो. ओ. कां., सं० ९, त्रिवेन्द्रम, पृ० १८० से; पं० भगवद्दत्त, वै० वाङ्०, प्रथम भाग, पृ० २१४।

४. इण्डिस्टु० भाग १५; शां० गृ० सू०, पृ० २११; शां० गृ० सू० १,९, ३; १०, २।

५. किन्तु कौ० आर०, अध्याय १५, ऋषिवंशावली में कौषीतकि को शांखायन से पूर्व पढ़ा गया है। शां० गृ० सू० (६, १) में भी यही स्थिति है।

अध्याय का उद्देश्य 'रहस्य' भाग के अध्ययन से सम्बद्ध कृत्य का प्रतिपादन है। इस अध्याय में उन विषयों का प्रतिपादन भी किया गया है, जिनका उल्लेख मूल गृह्यसूत्र में २,१२ तथा ४,१७ पर किया जा चुका है।

शेष चार अध्याय भी क्षेपकों से सर्वथा मुक्त नहीं कहे जा सकते। प्रथम अध्याय का छब्बीसवां खण्ड कौ० गृ० सू० में उपलभ्य नहीं है। नारायण ने इसे स्पष्ट शब्दों में क्षेपक खण्ड कहा है[1]। यह एक प्रकार से १,२५,५-६ का परिशिष्ट कहा जा सकता है, जहां तीन नक्षत्रों और उनको अधिष्ठात्री देवताओं को गिना दिया गया है।

शां० गृह्य० सू० के विषयों का ब्यौरा इस प्रकार दिया जा सकता है—

प्रथम अध्याय :—पाकयज्ञ, दर्शपूर्णमास, ब्रह्मयज्ञ, विवाह्य कन्या के गुण. कन्या-पक्ष की स्वीकृति के उपरान्त प्रातिश्रुत्क-होम का विधान (जो सभी गृह्यकर्मों पशुयागों, पाकयज्ञों के कर्मों की प्रकृति है), वर-वधू का समञ्जन, महाव्याहृति-होम, पाणिग्रहण, अश्मारोहण, लाजा-होम, सप्तपदी, प्रस्थान, पतिगृह में प्रवेश, वधू की गोद में बालक को बैठाना, ध्रुवदर्शन, चतुर्थीकर्म, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, गाथागान, सूतिका-गृह में काकातनी, मचकचातनी, कोशातकी तथा नील की जड़ों को पीस कर लेप का विधान, जातकर्म, नामकरण, मेधाजनन, अन्न-प्राशन, चूड़ाकर्म।

द्वितीय अध्याय :—उपनयन, वेदाध्ययन (अनुवाचन), शुक्रिय, शाक्वर, व्रातिक तथा औपनिषद व्रत, वैश्वदेव बलि, मधुपर्क।

तृतीय अध्याय :—समावर्तन, वास्तोष्पति के लिए होम, आग्रयणेष्टि, वृषोत्सर्ग, अष्टकाएं।

चतुर्थ अध्याय :—श्राद्ध—पार्वण, एकोद्दिष्ट, सपिण्डीकरण, तथा आभ्युदयिक, उपाकरण, उत्सर्ग (दीर्घकालिक अनध्याय), अनध्यायों का विधान, देवर्षिपितृतर्पण, स्नातक का शिष्टाचार, क्षेत्रकर्षण, श्रावण होम, आश्वयुजी, आग्रहायणीयेष्टि, प्रत्यवरोहण।

पञ्चम अध्याय :—अग्नि का यजमान के शरीर में समारोहण करके अग्निहोत्र से छुट्टी, तड़ाग-कूप-उद्यान प्रभृति की प्रतिष्ठा, दर्शपूर्णमास के न करने का प्रायश्चित्त, कपोत अथवा उल्लू के घर पर बैठ जाने एवं दुष्वप्न तथा अर्धरात्रि के समय कौए के बोलने पर प्रायश्चित्त। रोग-निवारणार्थ, सीमन्तोन्नयन के बिना बालकोत्पत्ति पर, तथा जातकर्म

---

१. शाम्बव्य गृह्यसूत्र में भी यह खण्ड उपलभ्य नहीं है।

न करने पर, यूप की शाखाएं फूटने पर, प्रणीता-पात्र तथा यज्ञ-सम्बन्धी अन्य मृत्-पात्रों के फूट जाने पर विविध प्रायश्चित्त तथा सपिण्डीकरण।

षष्ठ अध्याय :—आरण्यक भाग के अध्ययनार्थ नियम, शक्वरी ऋचाओं, महाव्रत, उपनिषद् तथा संहिताभाग के अध्ययन के नियम।

इन विषयों का प्रतिपादन शाङ्खायन ने प्रायः आश्वलायन के समान ही किया है, तो भी इसका गहरा सम्बन्ध कौ० गृ० सू० के साथ है। कौ० गृ० सू० के समान ही शां०गृ०सू० में भी कुछ ऐसे श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जो मनुस्मृति के श्लोकों से मिलते हैं। यथा—

शां० गृ० सू० ४, ५, १७=मनु ३, ११९
शां० गृ० सू० २, १६, ३=मनु ३,१०३

क्योंकि शां० गृ० सू० में मनु० के एक श्लोक को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया है (२,१६,१), अतः डा०टी०आर० चिन्तामणि ने यह परिणाम निकाला है कि यह गृह्यसूत्र मनुस्मृति से अर्वाचीन है (कौ० गृ०सू० की प्रस्तावना पृ० ७-१८)।

किन्तु डा० बूह्लर के मत में इस स्थल पर शां० गृ० सू० सम्भवतः मानव-धर्मसूत्र का उल्लेख कर रहा है और यह भी सम्भव हो सकता है कि गृ० सू०, मनु० के मूलस्रोत को उद्धृत कर रहा हो[1]। जहां तक इस प्रकार के उद्धरणों का सम्बन्ध हैं, हम जानते हैं कि यास्क ने निरुक्त (३, ४) में दाय-याग के विषय में मनुस्वायम्भुव का मत नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया है, जिससे मिलता जुलता मत मनुस्मृति (९, १२०; १३३; १३९) में व्यक्त किया भी गया है। किन्तु इस आधार पर यास्क को स्मृतिकार मनु से पश्चात्कालिक नहीं माना जा सकता। इसका अधिक संगत और समीचीन समाधान यही हो सकता है कि मनु एक अत्यन्त प्राचीन व्यक्ति थे, जिनके नाम से अनेकों वचन प्रसिद्ध और लोक में प्रचलित थे[2]। उन्हीं के नाम पर मनुस्मृति का भी नामकरण किया गया।

शां०गृ०सू० और पा०गृ०सू० में भी अनेक सूत्र समान हैं। यथा—

शां० गृ० सू० १, ५, १-५=पा० गृ० सू० १, ४, १-५
शां० गृ० सू० १,१४,१३-१६=पा० गृ० सू० १,८,१५-१८
शां० गृ० सू० १,२२,१०-१२=पा० गृ० सू० १,१५,६-७

---

१. एस० बी० ई० २५; प्रस्तावना, पृ० ३५, ३६।

२. द्र० हॉप्किस, जे. ए. ओ० एस० ११, पृ० २५३ से; बूह्लर, एस० बी० ई० २५, प्रस्तावना, पृ० ९०।

इसके अतिरिक्त शां० गृ० सू० ३,११, पा० गृ० सू० ३, ९ और काठ० गृ० सू० ५,९ सभी में **वृषोत्सर्ग** का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है। इन सभी स्थलों पर शां० गृ० सू० ही मूलग्रन्थ प्रतीत होता है[1], क्योंकि गौओं के मध्य में स्थित वृष का जिस मन्त्र से अभिमन्त्रण करने का विधान किया गया है वह ऋग्वेद (१०, १६९) का है। यह वा० सं० में पाया ही नहीं जाता और जिन सूत्रों में परस्पर सर्वथा अभेद पाया जाता है, उनमें भी शां० गृ० सू० को ही मूल आधार मानना चाहिये। अतः शां० गृ० सू०, पा० गृ० सू० से प्राचीन है। कौ० गृ० सू० तथा शां० गृ० सू० में तो साम्य इतना अधिक है कि ७९ कृत्यों में दोनों में समान कर्मों में समान मन्त्रों का विनियोग किया गया है, केवल कुछ ही स्थलों पर भिन्नता लक्षित होती है। वह भी इतनी स्वल्प है कि उसका विशेष महत्त्व नहीं है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र से शां० गृ० सू० की भिन्नता अधिक है। यद्यपि ओल्डनबर्ग ने आश्व०गृ०सू० तथा कौ०गृ०सू० में वर्णित आचार्य-वंशावलियों के आधार पर शां० गृ० सू० को आश्व० गृ० सू० से प्राचीनतर माना है[2], किन्तु जैसे हमने आश्व० गृ० सू० के प्रकरण में दर्शाया है, शां० गृ० सू० अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

शां० गृ० सू० से एक महत्त्वपूर्ण सूचना यह प्राप्त होती है कि इस सूत्र की शाखा की संहिता की अन्तिम ऋचा **तच्छंयोरावृणीमहे**[3] थी, जबकि आश्व० गृ०सू० की संहिता की अन्तिम ऋचा **'समानी व आकूतिः'** है। हम जानते है कि **तच्छंयोरावृणीमहे** बाष्कल संहिता की अन्तिम ऋचा है[4]। चरणव्यूहभाष्य से पता चलता है कि बाष्कल संहिता में शाकल संहिता से आठ सूक्त अधिक थे[5]। अतः शां० संहिता और बाष्कल में घनिष्ठ सम्बन्ध था।

शां०गृ०सू० में अन्त्येष्टि कर्म या पितृमेध की चर्चा नहीं की गयी। क्योंकि इस प्रकरण का प्रतिपादन शां०श्रौ०सू० (४,१४-१६) में कर दिया गया है। इसी प्रकार शां०श्रौ०स० (४,१७) में **शूलगव** का प्रतिपादन किया गया है, जो वास्तव में गृह्य कर्म है। यह विषय-व्यत्यास क्यों और कैसे हो गया, यह बोध-गम्य नहीं है।

---

१. ओल्डनबर्ग, एस० बी० ई० ३०, प्रस्तावना, पृ० ३८।

२. एस० बी० ई० २९, प्रस्तावना, पृ० ३।

३. शां० गृ० सू० ४, ५, ९।

४. तु. इण्डिस्टु० ४, पृ० ४३१, वेबर, बर्लिन संस्कृत हस्तलेख (Sanskrit Handschriften) पृ० ३१४।

५. तु. डा० फॉन श्रोदर सम्पा० मै० सं० की प्रस्तावना, भाग १, पृ० २४। भगवद्दत्त, वै० वाङ्० भाग १, पृ० २००-२०३।

शां० गृ० सू० में ६ ऐसे मन्त्रों का विनियोग किया गया है, जिनके समानान्तर मन्त्र अन्य किसी भी गृह्यसूत्र में उपलभ्य नहीं हैं। ये मन्त्र इन संस्कारों में विनियुक्त हुए हैं—

गृह-प्रपादन, अन्न-प्राशन, उपनयन, गृहप्रवेश तथा समावर्तन।

संस्करण—(१) ओल्डनवर्ग, जर्मन अनुवाद नारायणभाष्य तथा रामचन्द्र-कृत पद्धति के उद्धरणों सहित, १८७८।

(२) पं० रत्नगोपाल भट्ट, बनारस, १९०८ (कौषीतक गृह्यसूत्र के नाम से)।

(३) सीताराम सहगल, नारायण-कृत भाष्यांशों सहित, दिल्ली, १९६०, इन्होंने कौ० गृ० सू०, बनारस सं० को पं० वासुदेव सम्पादित कहा है, जो ग़लत है। द्र. भूमिका, पृ० ३।

शाम्बव्य गृह्यसूत्र (कौषीतकि गृह्यसूत्र)

यद्यपि ऋग्वेद की शाम्बव्य शाखा की संहिता या ब्राह्मण की सत्ता के विषय में कोई प्रमाण नहीं हैं, तो भी इस शाखा के कल्प की सत्ता के विषय में प्रमाण उपलभ्य है। जैमिनीय श्रौतसूत्र-भाष्य में भवत्रात ने इसकी चर्चा की है कि शाम्बव्य कल्प में २४ पटल थे[1]। हरदत्त ने अपने एकाग्निकाण्डभाष्य में शाम्बव्य का उल्लेख किया है[2]। अरुणगिरिनाथ की रघुवंश पर प्रकाशित टीका (६, १५) तथा कुमारसम्भव की टीका (७, १४) में शाम्बव्य का एक सूत्र उद्धृत किया गया है[3]। आश्व० गृ० सू० (४, ९, २४) में शाम्बव्य का मत दिया गया है। गार्ग्य नारायण की वृत्ति में इसे शांवत्यः के नाम से स्मरण किया गया है, जो अशुद्ध है[4]। आग्निवेश्य गृह्यसूत्र में भी शाम्बव्य (सूत्रम्) को कौषीतकम् से पृथक् पढ़ा गया है। शाम्बव्य गृह्य कारिका के मंगल-श्लोकों से प्रतीत होता है कि इसके पांच अध्याय थे, जिनके निर्माण में शां० गृ० सू० से बहुत सहायता ली गयी है। अधिकतर तो शां० गृ० सू० का पदशः अनुकरण किया गया है। किन्तु शाम्बव्य गृह्यसूत्र का पञ्चम अध्याय, जिसमें अन्त्येष्टि संस्कार (पितृमेध) का वर्णन है, शां० गृ० सू० में नहीं पाया जाता। तो भी यह शां० श्रौ० सू० (४, १४-१६) पर आश्रित प्रतीत होता है। यद्यपि शाम्बव्य गृह्यसूत्र शां० गृ० सू० पर

---

१. द्र. भगवद्दत्त, वै० वाङ्० भाग १, पृ० २१७।

२. एकाग्नि०, (२, २) भाष्य।

३. भगवद्दत्त, वही।

४. ओल्डनबर्ग (एस. बी. ई. २९, पृ० ६-९) हिल्लेब्रान्ट (रिच्वल्लिट्० पृ० २५); टी. आर. चिन्तामणि, (कौ० गृ० सू०, प्रस्तावना, पृ० १७) ने शां० शाखा से सम्बद्ध शाम्बव्य विरचित कौषीतकि शाखा का गृह्यसूत्र माना है, जो ठीक नहीं है।

आश्रित है, तो भी शाम्बव्य० की सहायता से शां० गृ० सू० के अनेक अशुद्ध अथवा सन्दिग्ध पाठों को शुद्ध तथा सुनिश्चित करने में सहायता मिल सकती है[1]। शां० गृ० सू० (१, २६), जिसे स्वयं नारायण ने 'क्षेपक खण्ड' का नाम दिया है, शाम्बव्य में नहीं पाया जाता। इसी प्रकार शां० गृ० सू० का सपिण्डीकरण प्रकरण (४, ३) भी शाम्बव्य ने छोड़ दिया है, जो इस समय शां० गृ० सू० का अंग बन चुका है, किन्तु जो किसी समय मूल ग्रन्थ में नहीं था[2]। शां० गृ० सू० (४, ९) से प्रतीत होता है कि ऋषितर्पण प्रत्येक स्नान के उपरान्त करना चाहिये, किन्तु शाम्बव्य ने इसका विधान वेदाध्ययन की समाप्ति पर किया है और इस विषय में इसे आश्व० गृ० सू० का भी समर्थन प्राप्त हैं[3]। शां० गृ० सू० की स्थिति इस तथ्य से भी सन्देहास्पद हो जाती है कि षष्ठ अध्याय (प्रक्षिप्त) में पुनः आरण्यक भाग के अध्ययन के अन्त में तर्पण का विधान किया गया है (६, ६, १०)। इन सभी सन्दर्भों से शाम्बव्य गृह्यसूत्र की शां० गृ० सू० से घनिष्ठ सम्बन्धों और इसके संशोधन में सम्भाव्य महत्त्वपूर्ण योगदान की क्षमता पर प्रकाश पड़ता है।

डा० टी० आर० चिन्तामणि ने इस गृह्यसूत्र में उपनिबद्ध तथा मनुस्मृति के श्लोकों की भावाभिव्यक्ति करने वाले कुछेक श्लोकों के आधार पर इसे मनुस्मृति से पश्चात्कालिक सिद्ध करने का प्रयास किया है[4]। एक श्लोक में तो मनु का नामतः निर्देश किया गया है। यही श्लोक शां० गृ० सू० और वसिष्ठ ध० सू० में भी उद्धृत किया गया है। किन्तु इससे इतना ही सिद्ध होता है कि ये श्लोक प्राचीन परम्परा से लोक में प्रचलित होकर प्रसिद्ध हो गये थे और मनुस्मृति से बहुत पहले से मनु के नाम से उद्धृत किये जाते थे, जैसे मनु के नाम पर मनुस्मृति की रचना की गयी। इस प्रकार के सभी श्लोक कौ० गृ० सू० के खण्डों के अन्त में पाये जाते हैं और किसी न किसी विचार की पुष्टि के हेतु रखे गये हैं। इनके बिना सूत्रों की भावाभिव्यक्ति अथवा विचार-क्रम में कोई अन्तर भी नहीं पड़ता। यह भी सम्भव है कि इनमें से कुछ श्लोक बाद में प्रक्षिप्त किये गये हों। अतः इनके आधार पर कोई परिणाम निकालना अनुचित है।

यद्यपि टी० आर० चिन्तामणि ने स्वसम्पादित कौ० गृ० सू० को शाम्बव्य की रचना माना है, तो भी भगवद्दत्त के अनुसार कौषी० गृ०सू० और शाम्बव्य

---

१. द्र. एस० बी० ई० २९, प्रस्तावना, पृ० ६-९।
२. द्र. ओल्डन बर्ग, शां० गृ० सू० (एस० बी० ई० २९) ४, ३, १, टि०, पृ० १०९।
३. द्र. आश्व० गृ० सू० ३,४ तथा उस पर नारायण।
४. कौ० गृ० सू० भूमिका, पृ० १७-१८; यथा—कौ० गृ० सू० २,३, १९=मनु० २, ४६; कौ० गृ० सू० ३, ७, ११=मनु० ४, ११९; कौ० गृ० सू० ३, १०, ३५=मनु० ५, ४१; ३, १०३; ३, १०१।

गृह्यसूत्र में अन्तर होना चाहिये। जब तक शाम्बव्य कल्प का प्रकाशन नहीं हो जाता, कौषीतकि और शाम्बव्य के सूत्रों के सम्बन्ध धूमिल ही रहेंगे[1]।

इसमें सन्देह नहीं कि कौषीतकि और शाङ्खायन की शाखाओं में सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ थे, यहां तक कि इनके सम्बन्धों के विषय में दो परम्पराएं प्रसिद्ध हो गयीं। एक के अनुसार कौषीतकि मुख्य शाखा थी और शाङ्खायन उसकी प्रशाखा[2]; दूसरी के अनुसार कौषीतकि शाङ्खायन का शिष्य था[3]। ये दोनों परम्पराएं पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होती हैं। आश्व० गृ० सू० (३, ४) और शां० गृ० सू० (६, १) की आचार्य-वंशावलियों में आचार्य-क्रम इस प्रकार है—

कहोलं कौषीतकम् (-तकिम्), महाकौषीतकम् (-किम्)…………सुयज्ञं शांखायनम्………।

कौ० आर० (अध्याय १५) की परम्परा यह है—उद्दालक, आरुणि, कहोल, कौषीतकि, गुणाख्य—('सुयज्ञ' ?—ओल्डनबर्ग) शांखायन …

शाम्बव्य गृह्यकारिका के मंगल-श्लोकों में कहा गया है—

नत्वा कौषीतकाचार्यं शाम्बव्यं सूत्रकृत्तमम्
गृह्यं तदीयं संक्षिप्य व्याख्यास्ये बहुविस्तरम्।
यथाक्रमं यथाबोधं पञ्चाध्याय-समन्वितम्।

अर्थात् सूत्रकारों में श्रेष्ठ कौषीतकाचार्य शाम्बव्य को प्रणाम करके उसके पञ्चाध्यायात्मक गृह्यसूत्र की यथामति व्याख्या करूँगा। इससे स्पष्ट है कि शाम्बव्य ही कौषीतकि सम्प्रदाय के आचार्य थे, जिन्होंने गृह्यसूत्र की रचना की थी, किन्तु पं० भगवद्दत्त ने इस कारिका में आये कौषीतकाचार्य तथा शाम्बव्य को पृथक्-पृथक् व्यक्ति मानकर शाम्बव्य गृह्यसूत्र को कौषी० गृ० सू० से पृथक् माना है, जिसकी पुष्टि अग्निवेश के नाम से सम्बद्ध वचन से होती है, जिसमें शाम्बव्य गृह्यसूत्र को नौ 'पूर्व-सूत्रों' में गिनाया गया है और 'कौषीतक' को नौ 'अपर-सूत्रों' में। **बौधायनं………शाम्बवं कात्यायनमिति नवानि पूर्वसूत्राणि। वैखानसं शौनकीयं……कौषीतकमिति नवान्यपरसूत्राणि[4]।**

---

१. वै० वाङ्०, पृ० २१८।

२. तु. कौषीतकिमतानुसारि शाङ्खायनब्राह्मणम्, आक्सफोर्ड हस्तलेख, भगवद्दत्त द्वारा उद्धृत।

३. "शांखायनशाखायाः कौषीतकिगृह्यसूत्रे षष्ठोऽध्यायः" (काशी से प्रकाशित कौ० गृ०सू०) तथा 'शांखायनाचार्यशिष्य-कृत-कौषीतकि-ब्राह्मणे' (पञ्जाब वि० वि०; लाहौर, का हस्तलेख—भगवद्दत्त, वही)।

४. द्र. सूर्यकान्त, कौथुमगृह्यसूत्र, भूमिका, पृ० ९।

इससे यह भी स्पष्ट है कि शाम्बव्य-रचित कौषीतकि गृह्यसूत्र के पांच अध्याय थे। यह भी सुविदित है कि भवत्रात ने कौ० गृ० सू० पर भाष्य लिखा था। यही गृह्यसूत्र इसी भाष्य के साथ डा० चिन्तामणि ने सम्पादित किया है और इसके पांच अध्याय हैं[1]। इसके विषय तो प्रायः वही हैं जो शां० गृ० सू० तथा आश्व० गृ० सू० में प्रतिपादित हैं। केवल व्यवस्था तथा क्रम का कुछ भेद है। इन दोनों के महत्त्वशाली भेदों की ओर ऊपर ध्यान आकृष्ट करा दिया गया है।

यह सूत्र कुछेक अंशों में आश्व० गृ० सू० से भिन्न है। इसमें **निष्क्रमणिक** नामक संस्कार अधिक प्रतिपादित है, जिसमें **सम्पूषन्नध्वनः**[2] मन्त्र का विनियोग किया गया है। आश्व० गृ० सू० में इसको काम्येष्टि में विनियुक्त किया गया है। इसमें ४४ ऐसे मन्त्र उद्धृत हैं, जो अन्यत्र कहीं नहीं पाये जाते। इनमें से अधिकांश पञ्चम अध्याय के हैं, जहां **प्रेतकर्म** का प्रतिपादन किया गया है। **कर्णवेधन** संस्कार भी इस गृह्यसूत्र की विशेषता है।

दूसरी ओर कौ० गृ० सू० और शां० गृ० सू० में समान संस्कारों में ७९ समान मन्त्रों का विनियोग किया गया है, किन्तु कहीं-कहीं अन्तर भी पाया जाता है। शां० गृ० सू० में **सूर्यो नो दिवस्पातु**[3] का विनियोग 'उत्सर्ग' में किया गया है, जबकि कौ० गृ० सू० में **सम्प्रायश्चित्ति** में इस मन्त्र का विनियोग है।

व्याख्या :—(१) कौषीतकि गृह्यसूत्र पर भवत्रात का भाष्य डा० टी० आर० चिन्तामणि ने मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित किया है, १९४४ ई०।

(२) पं० रत्नगोपाल द्वारा शां० गृ० सू० संग्रह सहित (वासुदेव कृत) काशी सं० सीरीज, १९०८ ई०।

अमुद्रित ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

उपर्युक्त प्रकाशित गृह्यसूत्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसे उद्धृत गृ० सू० भी हैं, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आये।

(१) शौनक गृह्यसूत्र का उल्लेख अनेक ग्रन्थों में आता है। हेमाद्रि ने शौनकाश्वलायन गृह्य को उद्धृत किया है। डा० टी० आर० चिन्तामणि ने भी

---

१. कौ० गृ० सू० के नाम से काशी से पं० रत्नगोपाल भट्ट द्वारा प्रकाशित सूत्र शां० गृ० की ही प्रतिलिपि सी हैं।

२. ऋग्० १, ४२, १; आश्व० गृ० ३, ७, १०।

३. ऋग्० १०, ८५, १; शां० गृ० सू० ४, ६, ४; कौ० गृ० सू० १, ५, २९।

शौनक गृह्यसूत्रों का उल्लेख किया है। बर्नेल के अनुसार षड्गुरुशिष्य-कृत **अभ्युदयप्रदा** में शां० गृ० के उद्धरण विद्यमान हैं (तञ्जौर सूची, पृ० १३६)। एक शौनक स्मृति का भी उल्लेख मिलता है[१]।

(२) भारवीय गृह्यसूत्र का उल्लेख भवत्रात ने कौ० गृ० सू० के भाष्य में किया है[२]।

(३) शाकल्य गृह्यसूत्र का उल्लेख षड्गुरुशिष्य ने सर्वानु० की टीका की प्रस्तावना में किया है।

(४) पैङ्गि गृह्यसूत्र का उल्लेख गोपीनाथ ने 'संस्कार रत्नमाला' में किया है[३]। आश्व० गृ० सू० (३, ४, ४), शां० गृ० सू० (४, १०), कौ० गृ० सू० (२, ३, ५) में पैङ्ग्य आचार्य का उल्लेख किया गया है। श० ब्रा० (१४, ९, ३, १६) के अनुसार मधुक पैङ्ग्य ने वाजसनेय याज्ञवल्क्य से आत्मविद्या प्राप्त की थी। बृ० दे० (१, २४) में भी उसे मधुक नाम से स्मरण किया गया है[४]। शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में एक 'पैङ्गि ब्राह्मण' को उद्धृत किया है। 'पैङ्गायनि ब्राह्मण' का उल्लेख आप० श्रौ० सू० (५, १४, १८; ५, २९, ४) में है। मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका, तथा अन्य आकर ग्रन्थों में पैङ्गि को उद्धृत किया है। काशिका (पा० ४, ३, १०५) ने पैङ्गि को प्राचीन कल्पकार माना है। निबन्धों के एक जातूकर्ण्य के सूत्रों (ध० सू०) के उद्धरण भी मिलते हैं।

(५) पाराशर गृह्यसूत्र का हस्तलेख उपलभ्य है जो सम्भवतः ऋग्वेद की पाराशर शाखा का गृह्य है[५]।

(६) बह्वृच गृह्यसूत्र और ऐतरेय गृह्यसूत्र की सत्ता की सम्भावना पायी जाती है।

काठक गृह्य (२५, ८) के भाष्य में आदित्यदर्शन बह्वृच गृह्यसूत्र का एक सूत्र उद्धृत करता है, जो आश्व० गृ० सू० तथा शां० गृ० सू० में नहीं पाया जाता[६]।

आश्व० गृ० सू० (१, ६, २०) की टीका में हरदत्त मिश्र ने ऐतरेय गृह्यसूत्र का एक सूत्र उद्धृत किया है[७]। अन्यत्र भी ऐतरेय गृह्यसूत्र का सङ्केत पाया जाता है।

---

१. बूह्लर, जे० ए० एस० बी०; भाग ३५, पृ० १५३।
२. कौ० गृ० सू० भाष्य, पृ० ६९।
३. कौ० गृ० सू० भूमिका पृ० १६।
४. विस्तारार्थ द्र. भगवद्दत्त, वै० वाङ्०, पृ० २२७-२२८।
५. कौ० गृ० सू० भूमिका, पृ० २६।
६. द्र. पं० भगवद्दत्त, वै० वाङ्०, भाग १, पृ० २२३-२२५।
७. भगवद्दत्त; वै० वाङ्०, पृ० २३२।

पञ्चदश अध्याय

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र (१)

बौधायन गृह्यसूत्र

बौ०गृ०सू० बौधायनकल्प का भाग है, जो तैत्तिरीय शाखा के कल्पसूत्रों में सर्वप्राचीन माना जाता है। हिर० श्रौ० सू० के व्याख्याकार महादेव के अनुसार तैत्तिरीय शाखा के कल्पसूत्रों का रचनाक्रम इस प्रकार है—बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशि, वाधूल और वैखानास[1]। सभी ने इस क्रम को स्वीकार कर लिया है। आन्तरिक साक्ष्य भी इस क्रम की पुष्टि करता है। बौधायन और आपस्तम्ब के बीच दशकों का नहीं, शताब्दियों का अन्तर होना चाहिये[2]। इन दोनों सूत्रों के अन्तराल में धार्मिक और सामाजिक विचारधारा में बहुत अन्तर आ गया था। बौ०गृ०सू० (२, ५, ६) में रथकार के **उपनयन** का कोई उल्लेख नहीं। रथकार का सामाजिक स्तर इस बीच में बहुत गिर गया प्रतीत होता है। बौ०गृ०सू० (२, ७) में **शूलगव** के समय **गोबलि** का विधान किया गया है, किन्तु आप०गृ०सू० (७, १९, १३-१४; ७, २०, १-११) में **पिष्टबलि** का विधान है, **गोबलि** को त्याग दिया गया है। इस नवीन विचारधारा के विकास के लिए शताब्दियों की अपेक्षा है। बौ०गृ०सू० में **मुण्डन** संस्कार के व्याख्यान में आप०गृ०सू० (६,१६,६) का एक उदाहरण दिया गया है, किन्तु इस आधार पर बौ०गृ०सू० को आप०गृ०सू० से उत्तरकालिक सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके विरुद्ध हम यह भी जानते हैं कि आप० मन्त्र ब्रा० (५, ४, १) में बौ०गृ०सू० (१,४,२५) की ओर संकेत किया गया है। अतः यह सम्भव है कि ये दोनों किसी साधारण मूलस्रोत को उद्धृत कर रहे हों। सूत्रों में इस प्रकार का साम्य बहुधा उपलब्ध होता है[3], यद्यपि आप०गृ०सू० की अपेक्षा बौ०गृ०सू० में **विवाह**-प्रकरण में कहीं अधिक मन्त्रों का विनियोग किया गया है, तो भी अन्य प्रबल कारणों के आधार

---

१. सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र, पूना, भाग १, पृ० १-२; गार्बे, आप० श्रौ० सू० भाग ३, भूमिका, पृ०१७, विण्टरनिट्स, Alt. Hoch., पृ० ५; बूह्लर, एस० बी० ई० २, भूमिका, पृ० १८ से; और कैलैण्ड Uber des Ritualle Sūtra des Baudhāyana, पृ० २-११।

२. बूह्लर, वही, पृ० २३-२४।

३. द्र. ओल्डनबर्ग, एस० बी० ई० ३०, भूमिका, पृ० ३७-३८, सूर्यकान्त, कौथुम गृ० सू० पृ० ८१।

पर बौ०गृ०सू० को आप०गृ०सू० से प्राचीन मानना ही संगत है[1]। आप०गृ०सू० की सामाजिक और धार्मिक स्थिति को देखते हुए दोनों के बीच कम से कम दो शताब्दियों का अन्तर होना चाहिये। अतः बौ०गृ०सू० का काल ९०० ई०पू० है[2]। जो बौ०गृ०सू० मैसूर से शामशास्त्री द्वारा प्रकाशित किया गया है, उसमें चार प्रश्न हैं, किन्तु कुछेक हस्तलेखों में प्रश्नों की संख्या दस भी गिनायी गयी है।

विषय :—बौ०गृ०सू० के प्रतिपाद्य विषयों का विवरण इस प्रकार है—

विवाह (मूर्ध्नि संस्राव होम १,६,२०-२१), गृह्यालङ्कार, उपसंवेशन (१,६, २२-२६) गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकर्म, उपनिष्क्रमण, अन्न-प्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, समावर्तन, शूलगव, वैश्वदेव, पञ्चमहायज्ञ, प्रत्यवरोहण (२,१०,१-१०),[3] अष्टका-होम, होतृ-शुक्रियव्रतचर्या,[4] उपनिषद्व्रतचर्या, गोदान, सम्मितव्रत,[5] अवान्तरदीक्षा, वास्तुशमन, सर्पवलि, मासिकश्राद्ध, विविध प्रायश्चित्त (इनमें श्मशानादि-व्यतिक्रम का भी प्रायश्चित्त है) (४,३,२-५), 'प्राकृतिक विघ्नों' तथा 'विद्युत्-स्तनित' जैसी प्राकृतिक घटनाओं के लिये भी प्रायश्चित्त का विधान है (४,४,१२-१३)। गृहस्थ तथा ब्रह्मचारी द्वारा अग्निहोत्र प्रभृति के काल का व्यतिक्रम होने पर तथा स्त्री के ऋतुसंवेशन के व्यतिक्रम पर भी प्रायश्चित्तों का विधान है (४,१२,१-६)।

इसके बाद गृह्यपरिभाषासूत्र का प्रारम्भ होता है, जिसमें निम्न विषयों की व्याख्या की गयी है—

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, पुण्याह, दर्विहोमों में विशेषविधानपूर्वक पाक-यज्ञ-प्रशंसा, वैवाहिकश्राद्ध, अग्न्याधेय का काल, स्नातक के धर्म, आग्रयण-स्थालीपाक, पशुवन्धप्रतिनिधि, श्रौतोक्त स्मार्तकर्तव्य, अपूर्वहोमविधि, यज्ञोपवीतधारण के प्रकार (निवीत, प्राचीनावीत), पञ्चमहायज्ञ,

---

१. सूर्यकान्त, कौथुम गृ० सू०, प्रस्तावना, पृ० ८१-८२; काणे ने आप० गृ० सू० और बौ० गृ० सू० के विषय में दो स्थानों पर परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किये हैं। एक स्थान (हि० ध० शा०; भा० १, पृ० २९-३०) पर बौ० गृ० सू० को आप० गृ० सू० से उत्तरकालिक माना है, अन्यत्र आप० गृ० सू० को बौ० गृ० सू० से पश्चात्-कालिक (वही, पृ० ३९-४०)।

२. द्र. आप० गृ० सू० प्रकरण।

३. इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग अन्य किसी गृ० सू० में नहीं हुआ।

४. शुक्रिय व्रत के लिए द्र. वै० गृ० सू० २, ११-१३।

५. कौ० गृ० सू० ३, २, ६; शां० गृ० सू० ३, ३, २।

अतिथिपूजा के प्रकार, पाकयज्ञ में अभिचार आदि के लिये क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिए विशेष विधान तथा पुत्रार्थिहोम।

इसके आगे **गृह्यशेषसूत्र** नामक ग्रन्थ है, जो प्रायः गृह्यसूत्रोक्त कर्मों में थोड़े बहुत हेर फेर या वृद्धि का विधान करता है। यह परिशिष्ट स्पष्ट ही उत्तरकालिक प्रक्षेप है। बौधायन गृह्यशेष-सूत्र में पांच प्रश्न हैं, जिनके अन्तर्गत २४+२२+२३+२१+८=९८ अध्याय हैं। इनमें गृह्यसूत्र में अनुक्त अथवा न्यूनोक्त विषयों का विवरण तथा विस्तार दिया गया है। बहुत से कर्मों की कर्मकाण्डीय प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। यथा—स्थण्डिलविधि, परिस्तरणविधि, नामकरणविधि, कर्णवेधविधि, गर्भाधान, नक्षत्रहोम, नवग्रहपूजाविधि, राजाभिषेकविधि, गर्भाधान, यज्ञोपवीतविधि, उपनयने विशेषः, पुनर्विवाह, रुद्रस्नानार्चनविधि, पञ्चगव्यविधि, दुर्गाकल्प प्रभृति अनेक कल्पों की प्रक्रिया, नारायणबलि प्रभृति, अर्कोद्वाहविधि प्रभृति अनेक पौराणिक कर्मों का विधान पश्चात्कालिक उद्भावनाएं हैं।

बौधायन और आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों में परस्पर ऐक्य होते हुए भी पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इसका कारण जहां कालगत अन्तर हो सकता है, वहां देशगत अन्तर भी हो सकता है। इस विषय में बूह्लर का मत यह है कि बौधायन और आपस्तम्ब दोनों ही दक्षिण भारत में निर्मित तथा प्रचारित-प्रसारित हुए। इस विषय में उन्होंने जो तर्क दिये हैं उन्हें हमने आप०गृ०सू० के प्रकरण में विस्तार से दिया है। किन्तु रामगोपाल ने बौ०गृ०सू० तथा आप०गृ०सू० दोनों को ही उत्तर भारतीय पर्यावरण में निर्मित माना है[1]। बौ०गृ०सू० के विषय में उनके तर्क इस प्रकार हैं—यद्यपि आजकल बौ०गृ०सू० के अनुयायी दक्षिण क्षेत्र में ही पाये जाते हैं, तो भी बौधायन ने आर्यावर्त के शिष्टजनों के व्यवहार को ही अनुकरणीय माना है[2] और दक्षिण में प्रचलित मामा और फूफा की कन्या से विवाह की रीति के कारण दक्षिणात्यों को 'सङ्करयोनयः' तक कह कर इन अशिष्ट व्यवहारों की निन्दा की है[3], तथा बौ० श्रौ० सू० से प्रतीत होता है कि वह कुरुक्षेत्र और कुरुपाञ्चाल से परिचित थे[4]। वह 'खाण्डवप्रस्थ' से भी परिचित थे[5], जो खाण्डव वन में स्थित एक नगर था। इसी प्रकार 'अदर्शन', सरस्वती के लुप्त होने का स्थान—'विनशन', कालकवन (विहार में या प्रयाग के पास), 'पारियात्र' (विन्ध्यपर्वत का

१. द्र. इण्डि० कल्पसू०, पृ० ९४-१०० ।
२. बौ० धर्म० सू० १, १, २, १०-११।
३. बौ० ध० सू० १, १, २, १४।
४. बौ० श्रौ० सू० १८, ४५।
५. बौ० श्रौ० सू० १७, १८।

एक भाग)—सभी विन्ध्याचल से उत्तरवर्ती हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि बौधायन उत्तरभारत से पूर्ण परिचित थे[1]। इसके अतिरिक्त बौ०ध० सू० १,१ में कलिंग देश में जाने के बाद प्रायश्चित्तीय होमादि के विधान से यही मत पुष्ट होता है।

व्याख्याएं :—इस सूत्र पर अभी तक कोई विशेष व्याख्या प्रकाशित नहीं हुई।

संस्करण :—केवल एक ही संस्करण आर० शामशास्त्री ने मैसूर से प्रकाशित किया है (१९२० ई०)।

'बौधायन परिशेष सूत्र' खण्ड ७ का सम्पादन कीथ ने जे० आर० ए० एस० (१९०९) में किया था। बौ० गृ० परि० सूत्र का संग्रह (चयन) 'सिलेक्शन्स फ्रॉम बौ० गृ० परिशिष्टसूत्र' के नाम से पी० एन० यू० हार्टिंग ने रोमन अक्षरों में 'आंग्लानुवाद' सहित १९२२ में प्रकाशित किया था, जिसकी समालोचना बार्नेट ने जे०आर०ए०एस० (१९२३) पृ० ४२८ पर की थी।

मानव गृह्यसूत्र

मानव गृह्यसूत्र कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता से सम्बद्ध होने के कारण 'मैत्रायणीय-मानव गृह्यसूत्र' के नाम से भी प्रसिद्ध है। मानव गृह्यसूत्र भाष्यकार अष्टावक्र ने इसे मानवाचार्य द्वारा विरचित **'पूरण' की संज्ञा दी है**, जो विचित्र है[2]। इसमें प्रतीकेन उद्धृत मन्त्र प्रायः मैत्रायणी संहिता से लिये गये हैं। चरणव्यूह में मानवों को मैत्रायणीयों की छह शाखाओं में से अन्यतम कहा गया है, **तत्र मैत्रायणीया हारिद्र वेयाः श्यामायनीयाश्चेति**[3]। चरणव्यूह के भाष्यकार महिदास के अनुसार **'मैत्रायणीयस्तु वाजसनेयवेदाध्यायी'**[4] है, जो विचित्र प्रतीत होता है।

आचार्य विश्वरूप ने याज्ञ० स्मृ० (१, ७) पर बालक्रीड़ा टीका में लिखा है—**न हि मैत्रायणीशाखा काठकस्यात्यन्तविलक्षणा**। पं० भगवद्दत्त का अनुमान है कि मैत्रायणीय और मानव गृह्यसूत्र भिन्न-भिन्न थे। परस्पर अतिसाम्य के कारण आधुनिक पाठकों ने उन्हें एक मान लिया। यदि ये दोनों एक ही होते, तो मै० श्रौ० सू० और मानव० श्रौ० सू० भी एक होने चाहियें थे। किन्तु हेमाद्रि आदि द्वारा उद्धृत मैत्रायणीय श्रौतसूत्र वा उसके परिशिष्ट के पाठ वाराह श्रौत और उसके परिशिष्टों से अधिक साम्य रखते हैं। इन तीनों शाखाओं (मैत्रायणी, वाराह तथा मानव) के शुल्व सूत्रों में भी पर्याप्त विभिन्नता लक्षित होती हैं।[5] मानव श्रौत और मानव गृह्यसूत्रों के अनेक परिशिष्ट

---

१. बौ० ध० सू० १, १, २, १०-११।

२. मा० गृ० सू० पृ० १०५।

३. चरणव्यूह, २१० ; पाठान्तरार्थ द्र. भगवद्दत्त, वही, पृ० २९१।

४. चरण० पृ० ३३।

५. वै० वाङ्०, भाग १, पृ० २९८।

भी परस्पर मिलते हैं। इसमें अध्यायों को 'पुरुष' (=मानव) की संज्ञा दी गयी है और 'पुरुष' के अवान्तर भेद 'खण्ड' कहलाते हैं, जिनके अन्त में 'पूरण' शब्द का व्यवहार किया गया है। गृह्यसूत्र के सम्पादक के अनुसार इससे इस गृह्यसूत्र का नामान्तर 'पूरण' भी प्रतीत होता है। इसके कारण की यह कल्पना की गयी है कि क्योंकि इसमें चक्रपूजन, वधूस्वप्न, वस्त्रालङ्कारदान प्रभृति अनेक बातें ऐसी प्रतिपादित हैं, जो अन्य गृह्यों में नहीं कही गयीं, अतः इसे 'पूरण' संज्ञा प्रदान की गयी होगी[1]।

डा० श्रोदर के अनुसार[2] कालाप का ही नामान्तर मैत्रायणी है; अतः सम्भव है कि मै० गृ० सू० का भी नामान्तर हो। मैत्रायणीय-मानव गृह्यसूत्र में ऐसे अनेक मन्त्र प्रतीकरूपेण उद्धृत हैं, जो मै०सं० में नहीं पाये जाते। अतः यह भी सम्भव है कि कालान्तर में मैत्रायणी संहिता ने ही कालाप संहिता का स्थान ग्रहण कर लिया हो[3] और यह भी सम्भव है कि 'पुरुष' और 'पूरण' भी मानवों और मैत्रायणीयों के आचार्यों के नाम ही हों[4]। अतः मा० गृ० सू० किसी एक शाखा से सम्बद्ध न होकर अनेक शाखाओं की उपज प्रतीत होता है और इस कारण इसकी सामग्री भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा सङ्कलित प्रतीत होती है।

व्रतचर्या और संध्या एवम् अगले चार खण्ड उत्तरकालिक प्रतीत होते हैं[5]। **सीमन्तोन्नयन** की चर्चा दो बार की गयी है[6]। प्रथम पुरुष के अन्त में गृह्यकर्म से सर्वथा असम्बद्ध अनेक दीक्षाओं की चर्चा की गयी है। द्वितीय पुरुष (२,१३) में पठित **षष्ठीकल्प** की चर्चा अन्य किसी गृह्यसूत्र में नहीं की गयी। चार विनायकों की पूजा (२,१४) भी इस गृह्यसूत्र की विशेषता है। अपने मूल रूप में मानव गृह्यसूत्र अत्यन्त प्राचीन रचना है, जबकि सुरा और मांस का निषेध कुछ विशेष अवस्थाओं में किया जाता था[7] और बाद में तो मधुपर्कार्थ बद्ध गौ को मुक्त कर दिया जाता था। **उपनयन** में एक सामान्य सा नियम बना दिया गया है, जिसमें वर्णभेद या जाति पांति की तनिक भी गन्ध नहीं—**सप्तमे नवमे वोपायनम्** (१, १२, १)। अष्टका में गोवध आवश्यक था—**उत्तमायाः प्रदोषे चतुष्पथेऽङ्गशो गां कारयेत्। यो य आगच्छेत् तस्मै तस्मै दद्यात्**[8]। किन्तु हम देखते हैं कि काठक गृह्यसूत्र के प्रारम्भिक भाग

---

१. रामकृष्ण हर्षे, प्रस्तावना, पृ० ४-५।
२. ZDMG ३३, सं० २।
३. मा० गृ० सू० (बड़ौदा सं०) भूमिका, पृ० ६।
४. वही. पृ० ७।
५. वही,
६. वही, १, १२, २; १, १५।
७. तु. **नाऽमांसो मधुपर्कः** (१,९,२२), किन्तु '**न मधुमांसम् अश्नीयात्** (१, १, १२)।
८. वही, २, ९, १-२।

मा० गृ० सू० के प्रारम्भिक खण्डों से बहुत मिलते हैं। और अन्य गृह्यसूत्रों में भी नाना व्रतों और दीक्षाओं का विधान किया ही गया है, जो वेदादि के अध्ययन से पूर्व ब्रह्मचारी को करने पड़ते हैं[1]।

डा० ब्रैडके ने दर्शाया है कि मानव श्रौतसूत्र और मानव गृ० सू० का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है[2]। अतः यह कहा जा सकता है कि दोनों का कर्ता एक ही व्यक्ति हो सकता है। मा० श्रौ० सू० का रचनाकाल आप० श्रौ० सू० से प्राचीन है, क्योंकि अनेक विषयों में आप० श्रौ० सू० ने मा० श्रौ० सू० का अनुकरण किया है[3]। अतः यह भी सिद्ध होता है कि आप० गृ० सू० भी मा० गृ० सू० से अर्वाचीन है। इन दोनों की रचना-शैली और विषय-विवेचन भी इस बात की पुष्टि करते है। अतः मा० गृ० सू० का रचना-काल ८०० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं हो सकता[4]। किन्तु क्योंकि आश्व० गृ० सू० में आठ प्रकार के विवाहों को मान्यता दी गयी है और मा० गृ० सू० (वा० गृ० सू० तथा काठ० गृ० सू० भी) ब्राह्म और शौल्क दो ही प्रकार के विवाहों को मान्यता प्रदान करता है, अतः बहुत सम्भव है कि मा० गृ० सू० का रचनाकाल आश्व० गृ० सू० से अर्वाचीन हो[5]।

हम देख चुके हैं कि मानव, काठक और वाराह गृह्यसूत्रों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा अनेकों विषयों के वर्णन में परस्पर शब्द-साम्य तक देखा जाता है। यथा **ब्रह्मचारिव्रतानि, समावर्तन, उपाकर्म, उत्सर्जन, विवाह** तथा **गर्भाधान** संस्कारों में इनका अति-साम्य है। मानव गृह्य और काठक गृह्यसूत्रों में **फाल्गुनी** तथा **ध्रुवाश्वकल्प** जैसे कर्मों के विषय में भी समानता लक्षित होती है[6]। ये कर्म वाराह गृह्यसूत्र में प्रतिपादित नहीं हैं। मा० गृ० सू० तथा काठ० गृ० सू० का सम्बन्ध और भी घनिष्ठ है।

वाराह गृह्यसूत्र में तो अधिकांश भाग मानव गृह्यसूत्र से ही ग्रहण किया गया है। वाराह गृह्यसूत्र का काठक की अपेक्षा मानव० के साथ निकटतर सम्बन्ध है[7]।

---

१. रामगोपाल, इण्डि० कल्पसू०, पृ० ३०-३१।

२. ZDMG, 36, P. 450 ff.

३. गार्बे, आप० श्रौ० सू० भाग ३, भूमिका, पृ० २२-२४।

४. द्र. आप० गृ० सू० प्रकरण।

५. सूर्यकान्त, कौथुम गृ० सू०, पृ० ५१।

६. विस्तरार्थ द्र. Jolly, *Das Dharmasūtra des Viṣṇu und Kaṭhaka Gṛhya Sūtra*, ZDMG 36, P. 445 ff.

७. द्र. वाराह गृह्यसूत्र-प्रकरण।

काठक गृह्यसूत्र और वाराह गृह्यसूत्र के विवाह प्रकरणों की परस्पर तुलना करने पर विदित होता है कि काठक० ने मानव० में सुधार तथा संशोधन करने का प्रयास किया है[1]।

डा० जॉली के अनुसार कठ, मैत्रायणीय और मानव सम्प्रदायों के अनुयायी परस्पर पड़ौसी थे। मानव गृह्यसूत्र ने प्राचीन मै० गृ० सू० को उखाड़ फेंका प्रतीत होता है और इस कारण यह मै० गृ० सू० से अर्वाचीन है, किन्तु आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा भारद्वाज सम्प्रदायों से अवश्य प्राचीन है।

मा० गृ० सू० के भाष्यकार अष्टावक्र के अनुसार इसकी रचना 'मानवाचार्य' नामक किसी व्यक्ति ने की थी। किन्तु इस विषय में कोई विश्वसनीय प्रमाण के अभाव में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

इस गृह्यसूत्र में कुल दो अध्याय ('पुरुष') हैं, तथा ४१ खण्ड हैं। प्रथम 'पुरुष' में २३ खण्ड है और द्वितीय में १८। अष्टावक्र ने 'पुरुष' संज्ञा का औचित्य यह बताया है कि इसमें दो प्रकार के संस्कारों के अधिकारी, दो प्रकार के पुरुषों का वर्णन है। प्रथमतः, समिदाधान, उपाकर्म, वेदव्रत प्रभृति का अधिकारी ब्रह्मचारी प्रथम पुरुष है। अन्य संस्कारों का अधिकारी गृहस्थ द्वितीय पुरुष है। किन्तु यह व्याख्या सर्वथा प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। किन्तु क्योंकि इस में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का विवरण पहले दिया गया है, जबकि अन्य गृह्यसूत्रों का आरम्भ विवाह या उपनयन से किया है, अतः सम्भव है कि इसी कारण व्याख्याकार को यह व्याख्या सूझी हो। दूसरी ओर हम देखते हैं कि मनुस्मृति में इस प्रसंग में इसी क्रम को अपनाया गया है—

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते (मनु० २, १७३)।

अतः ऐसी विलक्षणता इसी रचना की नहीं कही जा सकती। मनु से अन्य साम्य भी देखे जा सकते हैं—

(१) मान० गृ० १, १, १=मनु० २, १७३।

(२) तीन प्रकार के ब्रह्मचारी—'मुण्डः, शिखाजटः, सर्वजटो वा' मा०गृ० सू० १, २, ६=मनु० २, २१९।

(३) ब्रह्मचारी को स्त्रियों, मधु, मांस, गन्ध, माल्य प्रभृति से दूर रहना चाहिये। मा० गृ० सू० १, १, १०-११=मनु० २, १७७।

(४) उपाकरण—मा० गृ० सू० १, ४,१=मनु० ४, ९५।

(५) प्रातः-सायं सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सोने पर प्रायश्चित्त का विधान। मा० गृ० सू० १, ३, १=मनु० २, २२०।

---

१. द्र० काठ० गृ० सू० प्रकरण तथा सूर्यकान्त; कौथुम गृ० सू०, पृ० ६६-६८।

(६) रजस्वला के साथ सहवास का निषेध। मा० गृ० सू० १, २, १९= मनु० ४, ४०।

(७) ग्राम से बाहर जंगल में सन्ध्या का विधान। मा० गृ० सू० १, २, २ =मनु० २, १०४।

अन्य कई स्मृतियों में भी यही क्रम अपनाया गया है, यथा—लघुहारीत स्मृ० (तृतीय अध्याय), औशनस स्मृ० (द्वितीय अध्याय) संवर्त स्मृ० (प्रथम अध्याय) बृहत् पराशर स्मृ० (११वां अध्याय)। ये सभी स्मृतियां निश्चय ही इससे परवर्ती रचनाएं हैं।

अन्य गृह्यसूत्रों से इस गृ० सू० की अपनी कुछ विशेषताएं भी हैं।

(१) ब्राह्म विवाह में केवल तीन बार 'ददामि' तथा 'प्रतिगृह्णामि' ही कहने का विधान है (मा० गृ० सू० १, ८, ६)।

(२) शौल्क विवाह में प्रतिग्रहीता केवल एक बार 'धनाय त्वा, पुत्राय त्वा' का उच्चारण करके धन देता है (१, ८, ७)।

(३) इसमें कुछ विचित्र दृश्यों तथा परिस्थितियों (उत्पातों) का वर्णन किया गया है, जो अन्य गृह्यसूत्रों में परिलक्षित नहीं होता, यथा—उत्पातों में मूर्ति का हंसना, रोना, चलना, स्थानान्तरण प्रभृति।

(४) अन्य गृ० सू० में प्रायः अष्टविध विवाहों का विवरण रहता है। किन्तु यहां ब्राह्म तथा शौल्क दो ही विवाहों की चर्चा की गयी है।

विषय :—इस सूत्र के ४१ खण्डोंमें निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन किया गया है—

(१) ब्रह्मचारी के नियम, (२) समिदाधान, (३) सन्ध्योपासन, (४) नैष्ठिक ब्रह्मचारी के कृत्य, (५) समावर्तन संस्कार, (६) स्नातकनियम, (७) प्रायश्चित्त, (८) उपाकर्म, (९) वेदाध्ययन विधि, (१०) अनध्याय, (११) वेदोत्सर्गविधि, (१२) वेदभाग-विशेष का अध्ययन, (१३) अन्तरकल्पकर्म, (उपाकर्म के पश्चात् क्रियमाण कर्मविशेष), (१४) होम-विशेष सम्बन्धी विचार, (१५) वेदाध्ययन के योग्य विद्यार्थी, (१६) विवाह संस्कार, (१७) विवाहयोग्य कन्या के लक्षण, (१८) ब्राह्म तथा शौल्क विवाह, (१९) वधू की गृहप्रवेश विधि, (२०) प्राजापत्य स्थालीपाक, (२१) पिण्डपितृ-यज्ञ, (२२) दम्पती का ब्रह्मचर्य, (२३) गर्भाधान, (२४) सीमन्तोन्नयन, (२५) पुंसवन (फलस्नान तथा फलों की दक्षिणा), (२६) जातकर्म संस्कार (आज्यहोम से २१ प्रधान आहुतियां, अनुमति के लिए आहुति, पवित्रादि होम के अन्त में मधु, दधि, तथा जल को स्वर्ण-कलश में मिला कर अनामिका से तीन बच्चों को चटाना, ढाक के तीन पत्तों में से बीच के पत्ते को लपेट कर उसका एक सिरा बच्चे के कान में तथा दूसरा अपने मुख में रख कर

मन्त्रपाठ तथा माता द्वारा स्तनपान, (२७) दशमी रात्रि में नामकरण, (२८) अभ्यंजन (नवनीत से बच्चे की मालिश) (२९) आदित्यदर्शन (निष्क्रमण), (३०) अन्न-प्राशन (पञ्चम वा षष्ठ मास में), (३१) तृतीय वर्ष में चौल कर्म, (३२) चौल के समान ही षोडश वर्ष में गोदान, (३३) उपनयन (सप्तम वा नवम वर्ष में), (३४) चातुर्होतृकी दीक्षा (वर्ष भर का कर्म। ब्रह्मचारी, वाचस्पति प्रभृति चार होताओं के लिये आहुतियां प्रदान करना, तथा वाक् आदि छह होताओं के साथ सप्तहोतृक होम), (३५) अग्नि की दीक्षा (द्वादशरात्र कर्म, आघार तथा आज्यभागों के उपरान्त समन्त्रक आठ आहुतियां, छह अन्य आहुतियां देकर **विश्वो देवस्य नेतुः** (वा० सं० २२, २१) से सातवीं आहुति; अग्निकाण्ड के आठ अनुवाकों का अनुवाचन। प्रातः, मध्याह्न तथा सायं, तीन-तीन घड़े जल के भर कर लाना। एक वस्त्र धारण करके भूमि या कण्डों की राख या बालू पर सोना। दीक्षा के दिनों में जल में घुस कर स्नान नहीं करना चाहिये। अन्त में मालपुओं से अग्नि में आहुति देकर 'वात्सप्री' देवता वाले अनुवाक (मै० सं० २, ७, ९) का जप, (३६) आश्वमेधिकी दीक्षा (द्वादश दिनों में सम्पाद्य—क्षत्रिय ब्रह्मचारी के लिये विहित। बेत की समिधाओं से अग्नि जला कर नवें अनुवाक से होम तथा छठे अनुवाक से देवता-उपस्थान। आदि से २१ अनुवाकों का पाठ। प्रातः, मध्याह्न तथा सायं तीन-तीन पूली घास अश्व के लिये लाना। आग्निकीदीक्षावत्, भूमिशयन। **या ओषधयः** (मै० सं० २, ७, १-१६) इन चार अनुवाकों से स्नान। उद्दीक्षा का होम इन तीनों दीक्षाओं में करणीय। **शादं दद्भिः** (वा० सं० २५, १-१४) आदि १४ अनुवाकों का अनुवाचन। (३७) अवमथ्य अग्न्याधान, (३८) स्थालीपाक, (३९) स्मार्त अग्निहोत्र, (४०) पक्षयाग, (४१) आश्वयुजी याग, (४२) नवान्नेष्टि (आग्रयणेष्टि), (४३) पशुयाग, (४४) शूल-गवयाग, (४५) ध्रुवाश्वकल्प याग (घोड़ों की पुष्टि के लिये आश्विन मास की पूर्णिमा में क्रियमाण कर्म), (४६) आग्रहायणी कर्म, (४७) स्मार्त-चातुर्मास्यानि, (४८) तीन अष्टकाएं, (४९) फाल्गुनी याग, (५०) हलाभियोग कर्म, (५१) शालाकर्म विधि, (५२) मणिकावधान, (५३) वास्तोष्पत्य याग, (५४) पञ्च-महायज्ञ (वैश्वदेव), (५५) धनलाभार्थ षष्ठी-कल्प, (५६) विनायक शान्ति कर्म, (विनायक चार हानिकर राक्षस हैं—शालकटङ्कट, कूष्माण्डराजपुत्र, उस्मित तथा देवयजन—जिनकी पूजा से उनको प्रसन्न किया जाता है। विनायकों से उपहत व्यक्तियों के लक्षण तथा उन से मुक्ति के उपाय यहां वर्णित हैं। (५७) अद्भुतो-त्पात प्रायश्चित्त, जिनके द्वारा विचित्र उत्पातों को देख कर उनके प्रभाव को दूर किया जा सकता है। इन उत्पातों में मूर्ति का हंसना, चलना, स्थानान्तरण आदि सम्मिलित हैं। (५८) सर्पबलि कर्म, (५९) कपोतपदप्रायश्चित्त (कबूतर का पांव अग्निशाला, दही, दूध, मठा के पात्र, सत्तुओं या घृत में देखने पर **देवाः कपोत** (ऋग् १०, १६५, १-५) इन पांच ऋचाओं का जप या इन से आज्याहुतियां दी जाती हैं)। इसी प्रकार उलूकपदप्रायश्चित्त भी विहित हैं (२, १७, १)। कपोत

या उलूक के बोलने पर भी प्रायश्चित्त का विधान है (वही)। (६०) षाडाहुत पुत्रेष्टि-याग— ब्रह्मणाग्नि: (ऋग्० १०,१६२,१-६) इन छह ऋचाओं से स्थालीपाक की छह आहुतियों से सम्पाद्य कर्म—एक वर्ष भर किया जाता है। (६१) सामान्य परिभाषायें। ऊपर के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्विधान में प्रतिपादित कर्मों के समान ही अद्भुत कर्मों तथा विविध प्रकार के जादू-टोनों का विवरण यहां भी पर्याप्त मात्रा में दिया गया है, जिससे इनकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

व्याख्याएं :—इस सूत्र की एक ही व्याख्या प्रकाशित हुई है, जिसका कर्ता अष्टावक्र है। व्याख्याकार ने अपने विषय में कुछ भी नहीं बताया। इसका नाम भी सन्देहास्पद प्रतीत होता है। इसने मनु०, वा० ध० सू०, तथा अनेकों आचार्यों की कृतियों तथा श्रुतियों को नाम-निर्देश के बिना ही उद्धृत किया है। गृह्य ग्रन्थ की व्याख्या में किसी-किसी कर्म की ही विस्तृत तथा विशद व्याख्या की गयी है। अन्यथा सामान्य शाब्दिक अर्थ ही किये गये हैं।

संस्करण :—(१) इस सूत्र का सर्वप्राचीन संस्करण फ्रीड्रिख क्नाबर (Friedrich Knauer) द्वारा प्रकाशित किया गया था, जिसमें अष्टावक्र की व्याख्या के उद्धरण दिये गये हैं (St. Petroberg, 1897).

(२) गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज़, (सं० ३५) में प्रकाशित सम्पूर्ण भाष्य सहित सम्पूर्ण ग्रन्थ। सम्पादक—विनयतोष भट्टाचार्य, बड़ौदा। इसका नाम 'मैत्रायणीय-मानव गृह्यसूत्र' है।

(३) मानव गृह्यसूत्र, अष्टावक्र भाष्य सहित, रामकृष्ण हर्षे, शास्त्री, द्वारा सम्पादित, तथा प्रा० बी० सी० लेले द्वारा लिखित भूमिका सहित, १९२६।

(४) पं० भीमसेन कृत हिन्दी अनुवाद सहित, मूल गृ० सू० (अत्यन्त भ्रष्ट संस्करण)।

भारद्वाज गृह्यसूत्र

भारद्वाज गृह्यसूत्र तैत्तिरीयों की भारद्वाज शाखा से सम्बद्ध है, जो खाण्डिकीय शाखा के पांच उपभेदों में से एक कही गयी है[1]। भार०गृ०सू० की रचना किसी तर्कसंगत क्रम के अनुसार नहीं की गयी, यहां तक कि इस सूत्र के भाष्यकार ने भी विषयों के प्रतिपादन में लक्षित व्युत्क्रम की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

---

१. वै० वाङ्०, प्रथम भाग, पृ० ३०५।

सूत्र में विषयों का क्रम इस प्रकार है—

उपनयन, (मेधाजनन, गोदान), विवाह, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, क्षिप्रसुवन, विजातारक्षण, जातकर्म, नामकरण, विप्रोष्य कर्म, अन्नप्राशन, चौड़, श्रवणाकर्म, आग्रहायणी, हेमन्त-प्रत्यवरोहण, शालाकर्म, आगारप्रवेश, श्वग्रह-प्रायश्चित्त, शूलगव, मासिश्राद्ध, अष्टका, स्नान, अर्घ्य, **संवादजयन**, सुभृत्यगुप्ति, भार्यागुप्ति, **रथारोहण**, हस्त्यारोहण, प्रायश्चित्त, अद्भुतप्रायश्चित्त, औपासनकल्प, व्रतादेश-विसर्जन, अवान्तरदीक्षा, उपाकरण, विसर्जन, वैश्वदेव, नान्दीश्राद्ध, सपिण्डीकरण, गृह्यप्रायश्चित्त।

भाष्यकार के अनुसार विषयक्रम इस प्रकार होना चाहिये—

पाकयज्ञ, हविर्यज, सोमयज्ञ, गर्भाधान, पुँसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौड, उपनयन, वेदव्रत, समावर्तन, सहधर्मचारिणी-संयोग (विवाह) और पञ्चमहायज्ञ।

गौ० ध० सू० (८,१४-२१) में यही क्रम दिया गया है। अन्तर केवल इतना है कि वहां गर्भाधानादि का उल्लेख करने के उपरान्त पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ तथा सोम-यज्ञ गिनाये गये हैं।

कुल मिला कर इस गृह्यसूत्र के विषय अन्य गृह्यसूत्रों के समान ही हैं, तो भी भार० गृ० सू० का विषय-प्रतिपादन स्वतन्त्र है। एक विशेषता यह भी है कि जहां भार०,हिर० और आप० श्रौतसूत्र में परस्पर अतिसाम्य लक्षित होता है, वहां उनके गृह्यसूत्रों में पर्याप्त वैषम्य उपलभ्य है। भार० गृ० सू० में बहुत से ऐसे नवीनमन्त्रों का विनियोग किया गया है, जो ब्लूमफील्ड के मन्त्रकोष में भी नहीं पाये जाते[1]।

इस में आगार-प्रवेश का वर्णन विस्तार से किया गया है। **वैश्वदेव** प्रकरण में नवीन शब्दों का प्रयोग किया गया है। प्रायश्चित्तों का भी विस्तारपूर्ण विवरण किया गया है। प्रायश्चित्त तीन प्रकार के कहे गये हैं। एक तो वे, जिनका सम्बन्ध घर से बाहर की घटनाओं से होता है। यथा श्मशान आदि से होकर जाना या किसी अद्भुत वृक्ष के दर्शन या वात्या-चक्र के आने पर या अग्नि के स्वयं प्रज्वलित हो उठने पर किये जाने वाले प्रायश्चित्त। दूसरे वे प्रायश्चित्त, जिन्हें **अद्भुत प्रायश्चित्त** की संज्ञा दी गयी है और अकस्मात् घर के भीतर ही घटने वाली घटनाओं के विषय में विहित हैं। यथा, घर में मधुमक्खियों के छत्ते का लगना या वांबी का उभर आना। तीसरे वे, जो गृह्यकर्मों में त्रुटि या अवहेलना हो जाने पर विहित हैं। इन अन्तिम प्रायश्चित्तों का बड़े विस्तार से यहां वर्णन किया गया है।

---

१. एच. जे. डब्ल्यू. सालोमन्स, भार० गृ० सू०, भूमिका, पृ० १०, मन्त्रसूची पृ० ९१।

भार० गृ० सू० की रचना आप० गृ० सू० से पूर्वकालिक प्रतीत होती है। सत्याषाढश्रौतसूत्र के व्याख्याकार महादेव के वचन के अतिरिक्त इसकी सरल और स्वाभाविक रचनाशैली से भी यही अनुमान लगाया जा सकता है। आप०गृ०सू० का **पुंसवन** संस्कार भार० गृ० सू० के संस्कार का संक्षिप्त विवरण प्रतीत होता है[1]। **समावर्तन** तथा **क्षिप्रसुवन** आदि संस्कारों की तुलना से भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है। रचना-शैली की दृष्टि से यह सूत्र आप० गृ० सू० की अपेक्षा बौ० गृ० सू० के अधिक निकट है। बौ० गृ० सू० (२, ५, ६) के समान ही भार० गृ० सू० (१, १) में वर्षा-ऋतु में रथकार के **उपनयन** का विधान किया गया है, जबकि आप० गृ० सू० इस विषय में मौन है। किन्तु **शूलगव** के वर्णन में भार०गृ०सू० ने **गवालम्भ** का वर्णन नहीं किया, जब कि बौ० गृ० सू० ने किया है और आप० गृ० सू० में **स्थालीपाक** द्वारा **शूलगव** के करने का विधान है। अतः भार० गृ० सू० एक ओर तो बौ० गृ० सू० से अर्वाचीन है, तो दूसरी ओर आप०गृ०सू० से प्राचीन कहा जा सकता है। किन्तु भार० गृ० सू० (१, १२) की आप० गृ० सू० (२,१६—३,१५) से तुलना करने पर प्रतीत होता है कि भारद्वाज यहां पर आपस्तम्ब की ओर सङ्केत कर रहा है, जिसमें **इन्वका** (मृगशिराः) तथा **निष्टचा** (स्वाति) दोनों शब्दों की व्याख्या कर दी गयी है[2]। किन्तु इस एक सन्दिग्ध संकेत को इस विषय में प्रमाण मान कर कोई परिणाम निकालना उचित नहीं हो सकता[3]।

बौ०गृ०सू० और भार०गृ०सू० में **अवान्तर दीक्षा** का प्रकरण भी एक-सा है[4], जबकि हिर० गृ० सू० तथा आप० गृ० सू० में उसका कोई उल्लेख नहीं है। **उत्सर्ग** के विवरण में भी भार०गृ०सू० तथा बौ०गृ०सू० में शब्द-साम्य है।

हिर० गृ० सू० के साथ भी भार० गृ० सू० का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बहुत से संस्कार तथा अन्य गृह्य कर्म दोनों में समानरूप से वर्णित हैं, यथा—**जातकर्म**, **नामकरण**, **आग्रहायणी**, **उपनयन**, **शूलगव**, **शालाकर्म**, **भार्यागुप्ति**, **अष्टका**, **श्वग्रहप्रायश्चित्त**, **उपाकर्म** तथा **उत्सर्ग**। इनमें से बहुतों में तो दोनों गृह्यों में शब्दसाम्य तक दृष्टिगोचर होता है, यथा **जातकर्म**, **नामकरण**, **आग्रहायणी**, **उपाकर्म** और **उत्सर्ग**। हिर० गृ० सू०, आप० गृ० सू० की अपेक्षा भार० गृ० के अधिक समीपस्थ हैं। अनेक स्थलों पर हिर० गृ० सू०, भार० गृ० का संक्षेप जान पड़ता है। भार० गृ० सू० १, १२-२६ की तुलना हिर० गृ० सू० १, १९, ३ से की

---

१. भार० गृ० सू० २२, २२, ५; आप० गृ० सू० ६, १४,९-१२।

२. सूर्यकान्त, कौथुम गृ० सू०, पृ० ९०।

३. तु. वही,

४. बौ० गृ० सू० ३, ४-८=भार० गृ० ३, ६-७।

जाये, तो स्पष्ट विदित होता है कि भार० गृ० के १५ सूत्रों का आशय हिर० गृ० सू० ने एक ही सूत्र में व्यक्त कर दिया है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी उपलभ्य हैं[1]।

कात्यायन श्रौतसूत्र (१,६, २१) में भारद्वाज के मत का स्पष्ट उल्लेख भारद्वाज को कात्यायन से पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। भार० गृ० सू० (१, २१) में **सीमन्तोन्नयन** के वर्णन में एक मन्त्र पढ़ा जाता है—**सोम एव नो राजेत्याहुः, ब्राह्मणीः प्रजाः। विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तवेति**। यहां इस मन्त्र के विनियोग के लिए **यमुने** तव के स्थान पर उस नदी का नाम लेना चाहिये, जिसके तीर पर प्रयोक्ता वास करता हो। टीकाकार ने उदाहरण दिया है, यथा—**तीरेण वेगवति तव, तीरेण कावेरि तव**। अतः प्रतीत होता है कि सूत्र का निर्माण तो यमुना के तीर पर हुआ, किन्तु टीकाकार कावेरी-तटवर्ती दाक्षिणात्य है। दूसरे, सूत्रकार ने आश्मरथ्य और आलेखन नामक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है (१, २०)। इनका उल्लेख आश्व० श्रौ० सू० ने भी किया है (५, १३, १०; ६, १०, ३०)। आश्वलायन ने ऐसे भौगोलिक सङ्केत दिये हैं, जिन से प्रतीत होता है कि वह यमुना के आसपास निवास करता था—**यमुनायां कारपचवेऽवभृथमुपेयुः**। (१२, ६)। अतः सिद्ध होता है कि आश्वलायन और भारद्वाज दोनों ही कुरु-पाञ्चाल क्षेत्र के वासी थे। और भारद्वाज आपस्तम्ब से पूर्ववर्ती होने के कारण ८०० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं हो सकते।

सॉलोमन्स ने लिखा है कि भार० गृ० सू० कुछ अधिक प्रचलित न होने के कारण निबन्धों में कहीं भी उद्धृत नहीं किया गया[2], जो सर्वथा असमीचीन है। उसको उद्धृत करने वाले अनेक निबन्धकार हैं, यथा, मदनपारिजात (पृ० ३७८-७९), अपरार्क (पृ० ११५), संस्काररत्नमाला (पृ० ७८०)। यद्यपि यह अन्तिम वचन भार० गृ० सू० में यथावत् नहीं मिलता, तो भी भार० गृ० सू० (३, २०) से अतिसाम्य रखता है।

व्याख्या :—भार० गृ० सू० के व्याख्याकार के नाम-निर्देश के विना ही सॉलोमन्स ने इस की चर्चा 'भाष्यकार' कह कर की है। इसके नाम तथा कृतियों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

संस्करण :—एच० जे० डब्ल्यू० सॉलोमन्स (Henriette J. W. Solomons) द्वारा सम्पादित, लेडन (Leyden), १९१३।

---

१. सूर्यकान्त, वही, पृ० ९०-९१।

२. भार० गृ० सू०, प्रस्तावना, पृ० १०।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र

आपस्तम्ब-कल्प में कुल ३० प्रश्न हैं, जिनमें से २३ प्रश्न श्रौत और वैतानिक यज्ञ-यागों का प्रतिपादन करते हैं, चौबीसवां प्रश्न परिभाषा, प्रवरों तथा हौत्रक अथवा होता द्वारा प्रयोज्य मन्त्रों का प्रतिपादक है, २५-२६ प्रश्न गृह्यसूत्रों में विनियोज्य मन्त्रों का व्योरा प्रस्तुत करते हैं। इन दोनों प्रश्नों को 'मन्त्रपाठ' की संज्ञा दी गयी है। सत्ताइसवें प्रश्न में गृह्यकर्मों का वर्णन किया गया है। प्रश्नसंख्या २८-२९ में धर्मसूत्र प्रतिपादित हैं और ३० में शुल्वसूत्र[1]।

इसमें सन्देह नहीं कि समूचे कल्प का रचयिता एक ही व्यक्ति है, क्योंकि **यथोक्तम्, यथोपदेशम्** अथवा **यथापुरस्तात्** जैसे शब्दों के द्वारा गृह्यसूत्रों का निर्देश किया गया है[2]। दूसरे, आप० गृ० सू० (८, २१, १) में **यथोपदेशं कालः** से ध० सू० २, ७, १६, ४-२२ की ओर संकेत किया गया है। तीसरे, कई सूत्र गृह्यसूत्र और ध० सू० में समान है[3]। चौथे, धर्मसूत्र (२, २, ५, १७) में **ऋत्वे त्वा जायाम्** में **ऋत्व्ये** के स्थान पर प्रयुक्त अपशब्द **ऋत्वे** का ही प्रयोग आप० श्रौ० (३, १७, ८; ८, ४, ६) में भी किया गया है। पांचवें, गृ० सू० में भी अनेक स्थलों पर आप० श्रौ० सू० की ओर सङ्केत किये गये हैं और दोनों में समान सूत्र भी पाये जाते हैं। छठे, यद्यपि भाषा और शैली के साम्य का महत्त्व इस विषय में अतिसीमित होना चाहिये, तो भी इसे नगण्य नहीं कहा जा सकता, और यह साम्य इस कल्प के चारों भागों में पूर्ण रूप से परिलक्षित होता है। अतः सिद्ध है कि आप० कल्प० एक ही व्यक्ति की रचना है।

विषय :—सम्पूर्ण गृह्यसूत्र आठ पटलों तथा तेईस खण्डों में विभक्त है। इसमें प्रतिपादित विषयों का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है—

खण्ड :—(१) परिभाषा, अग्निमुखनिरूपण।

(२) दर्वीहोम, पाकयज्ञ।

---

१. द्र. बूह्लर, एस० बी० ई०, भाग-२, भूमिका, पृ० ११-१२, जहां प्रश्न १-२४ श्रौतसूत्र, प्रश्न २५ परिभाषा, २६ मन्त्रपाठ, २७ गृह्य के प्रतिपादक कहे गये हैं, जो समीचीन नहीं; तथा ओल्डनबर्ग, एस० बी० ई० ३०, भूमिका, पृ० २९, जो बूह्लर का ही अनुकरण-मात्र है। द्र. चिन्नस्वामी शास्त्री, आप० गृ० सू०, प्रस्तावना, पृ० ३, चौखम्बा, वाराणसी, सन् १९२८।

२. आप० ध० सू० १, १, ४, १६; २, २, ३, १७; २, २, ५, ४; २, ७, १७, १६; आदि।

३. धर्मसूत्र १, १, १८=गृ० सू० ४, १०, २-३; ध० सू० १, १, २, ३८=गृ० सू० ४, ११, १६-१७; ध० सू० १,१,४, १४=गृ० सू० ४, ११, २४।

(३-५) विवाह-प्रकरण ।

(६) वधू का गृह-प्रवेश ।

(७) वधू द्वारा स्थालीपाक यज्ञ, पार्वण स्थालीपाक, औपासन होम तथा वैश्वदेव कर्म ।

(८) उपाकरण, त्रिरात्रव्रत, ऋतुसमावेशन ।

(९) दम्पती-प्रीतिकर कर्म, पतिवश्यकर कर्म, सपत्नीबाधन कर्म, भार्या-क्षयरोग-निवारण कर्म ।

(१०) उपनयन ।

(११) गुरुकुल में गायत्र्युपदेश, दण्डधारण, स्मृतवाचन, आदित्योपस्थान, ब्रह्मचर्य-नियमविधि, समिदाधान, उपाकर्मोत्सर्जन, पितृदेवता-ऋषितर्पण ।

(१२) समावर्तन ।

(१३) मधुपर्क ।

(१४) सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, क्षिप्रसुवन, जरायुपतन ।

(१५) जातकर्म, नामकरण ।

(१६) अन्नप्राशन, चौल कर्म, गोदान ।

(१७) गृहनिर्माण कर्म, गृहप्रवेशविधि ।

(१८) बालग्रह (पिशाच ग्रह) का उपचार, सर्पबलि ।

(१९) बलिहरण-अन्न का भक्षण, आग्रयण कर्म (स्थाली पाक), हेमन्त-प्रत्यवरोहण, ईशानबलि ।

(२०) ईशानावाहन, होम, स्विष्टकृत्, क्षेत्रपति का स्थालीपाक ।

(२१) मासिश्राद्ध, अष्टका-पाकयज्ञ ।

(२२) अपूपहोम, वपाहोम, मांसौदन होम, पिष्टान्न होम, अन्वष्टका कर्म, रथारोहण, अश्वारोहण, हस्त्यारोहण ।

(२३) स्वभार्यायां परपुरुषसम्बन्धप्रतिरोधक कर्म । भृत्यप्रीतिजनक कर्म, नैमित्तिक कर्म, अद्भुत प्रायश्चित्त ।

आप० गृ० सू० अपेक्षाकृत ह्रस्वाकार कृति है, जिस में गृह्यकर्मों का प्रतिपादन स्थूल रूप में ही किया गया है, जबकि आश्व० गृ० सू०, शां० गृ० सू०, गो० गृ० सू० तथा पा० गृ० सू० में कर्मों का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

उपनयन में ब्रह्मचारी के वस्त्रों, मेखला, अध्ययन काल, भिक्षाटन प्रभृति के सम्बन्ध में नियमों का प्रतिपादन नहीं किया गया, जबकि आश्व० गृ० सू० में इन विषयों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है[1]।

आप० गृ० सू० का हिर० गृ० सू० के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों में अन्तर यह है कि आप० गृ० सू० में केवल कर्म का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है, मन्त्रों के विनियोग पर प्रकाश नहीं डाला गया। गृह्यकर्मों में विनियोज्य मन्त्रों का संग्रह एक पृथक् रचना 'मन्त्रपाठ' में किया गया है। हिर० गृ० सू० में कर्म का विधान मन्त्र-सहित किया गया है।

जिस प्रकार श्रौतसूत्रों का वैदिक संहिताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है और उनमें प्रतिपादित प्रत्येक कृत्य के उद्देश्य की सफलता का आधारस्तम्भ वैदिक-संहिताओं का मन्त्र-संग्रह है, उसी प्रकार कुछ एक गृह्यसूत्र अपने कृत्यों के सम्पादनार्थ किसी न किसी मन्त्र-संग्रह का आश्रय लेते हैं, यह हम गृह्यसूत्रों पर सामान्य दृष्टि डालते समय ऊपर देख चुके हैं।

आप० गृ० सू० के कृत्यों में विनियोजनार्थ मन्त्रों का एक पृथक् संग्रह विद्यमान है, जिसे आपस्तम्बीय मन्त्रपाठ की संज्ञा प्रदान की गयी है। आपस्तम्बीय शाखा के गृह्य कर्मों में प्रयोगार्थ मन्त्र-संग्रह होते हुए भी गृह्यसूत्र में कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं, जो मन्त्रपाठ में अनुपलभ्य हैं। ओल्डनबर्ग की सम्मति में मन्त्रपाठ तथा गृह्यसूत्र दोनों ही एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं, जिनका निर्माण एक ही योजना के अन्तर्गत किया गया है। इन दोनों के रचयिता ने दीर्घाकार मन्त्रों को तो मन्त्रपाठ में समाविष्ट कर दिया, किन्तु ह्रस्वाकार मन्त्रों का समावेश गृह्यसूत्र में ही रहने दिया[2]।

किन्तु विण्टरनिट्स ने दर्शाया है कि गृह्यसूत्र में केवल ह्रस्वाकार मन्त्र ही समाविष्ट नहीं हैं, अपितु दीर्घाकार मन्त्रों का समावेश भी किया गया है। अतः उनके अनुसार गृह्यसूत्र के प्रतिपाद्य कृत्यों के आधार-भूत वे सभी मन्त्र गृह्यसूत्र में समाविष्ट हैं, जो मन्त्रपाठ में अनुपलभ्य थे। उनके विचार में मन्त्रपाठ तथा गृह्यसूत्र दोनों एक व्यक्ति की कृतियां नहीं हैं। मन्त्रपाठ गृह्यसूत्र से पूर्व ही विद्यमान था, अतः आपस्तम्ब न तो इन मन्त्रों के निर्माता थे, न ही संग्राहक। विनियोज्य मन्त्र—गृह्यसूत्र में समाविष्ट भी तथा मन्त्रपाठ में संगृहीत भी—गृह्यसूत्रों से पूर्व ही विद्यमान थे तथा श्रौत एवं गृह्यसूत्रों के निर्माण से पूर्व प्रचलित श्रौत एवं गृह्य कर्मों में विनियुक्त होते आ रहे थे[3]। आप० गृ० का

१. आश्व० गृ० सू० १, १९।

२. एस० बी० ई० ३०, गो० गृ० सू० की भूमिका, पृ० ४-८।

३. विण्टरनिट्स, मन्त्रपाठ ऑफ आपस्तम्ब, भूमिका, पृ० ३२; ऑक्सफोर्ड, सन् १८९७।

मन्त्रपाठ सूत्र से न्यूनातिन्यून एक शताब्दी पूर्वकालिक है[1]। आपस्तम्ब-मन्त्रपाठ निश्चय ही सूत्रपाठ से पूर्वकालिक रचना है। जिस प्रकार बौधायन० और आपस्तम्ब० में शताब्दियों का अन्तर है, उसी प्रकार आपस्तम्ब० और हिरण्यकेशि० में शताब्दियों की दूरी है। हिरण्यकेशी या उसके किसी उत्तराधिकारी ने आप० ध० सू० को आत्मसात् करके या उसमें कहीं-कहीं परिवर्तन करके अपने नाम से प्रसारित कर दिया प्रतीत होता है। परिवर्तन भी कठिन तथा प्राचीन शब्दावलि के स्थान पर सरल तथा नवीन शब्दावलि का प्रयोग ही मुख्य है, किन्तु यह परिवर्तन श्रौत तथा गृह्यसूत्रों में नहीं किये गये। अतः इन दोनों और ध० सू० की शब्दावलि तथा भाव में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। हिर० गृ० सू० के अनुसार ब्राह्मण का **उपनयन** सप्तम वर्ष में करना चाहिये, जबकि आप० गृ० सू० में अष्टम वर्ष का विधान किया गया है। इस विषय में हिर० ध० सू० ने आपस्तम्ब के अनुसार विधान किया है, कि **उपनयन** गर्भ से अष्टम वर्ष में होना चाहिये। हिर० गृ० सू० में बहुत से ऐसे विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जिनका सीधा सम्बन्ध धर्मसूत्र से है और जो ध० सू० में दोहराये भी गये हैं। हिरण्यकेशीय सम्प्रदाय भी इसी खाण्डिकीय शाखा का अवान्तर भेद है, जिसके अन्तर्गत आपस्तम्ब-शाखा की भी गणना की जाती है। आपस्तम्ब० और हिरण्यकेशि० में १००-१५० वर्षों से कम का अन्तर नहीं हैं[2]।

आपस्तम्ब० बौधायन० से अर्वाचीन है, क्योंकि—

१. आपस्तम्ब० ने बौधायन० के काल से परवर्ती काल के सिद्धान्तों तथा विचारों का प्रतिपादन किया है, यथा—

(क) बौधायन० ने पुत्रहीन व्यक्तियों को ग्यारह प्रकार के पुत्रों में से किसी को गोद लेने तथा उसे अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाने की अनुमति दी है, किन्तु आपस्तम्ब केवल औरस सन्तान को ही दाय का अधिकारी मानता है।

(ख) बौधायन० ने नियोग का विधान किया है, जबकि आपस्तम्ब० ने इसका निषेध किया है।

(ग) बौधायन० ने **पैशाच विवाह** को अनिच्छा से ही सही, मान्यता दी है, किन्तु आपस्तम्ब० ने इसे अमान्य घोषित किया हैं।

(२) आपस्तम्ब० ने बौधायन० के कई मतों का नाम-निर्देश के बिना खण्डन किया है। यथा—

---

१. वही, पृ० १४।

२. बूह्लर, एस० बी० ई०, भाग:२, भूमिका, पृ० ९४।

(क) सम्पत्ति के विषय में बौधायन० ने तीन सिद्धान्त स्वीकार किये हैं—प्रथम यह कि सम्पत्ति का सभी पुत्रों में समान रूप से बंटवारा किया जाये। द्वितीय यह, कि ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति के सर्वोत्तम भाग का अधिकारी माना जाये। तृतीय यह, कि ज्येष्ठ पुत्र को पूरी सम्पत्ति का १/१० भाग अन्य पुत्रों से अधिक प्रदान किया जाये। इसके विरुद्ध आपस्तम्ब० ने ज्येष्ठ पुत्र को कुछ देकर शेष सम्पत्ति को सभी पुत्रों में समान रूप से बांट देने का एक ही सिद्धान्त माना है, यहां तक कि ज्येष्ठ पुत्र को अधिक अधिकार देने वाले मन्त्र को भी अर्थवाद मात्र कहकर उसकी अवहेलना कर दी है।[1]

(ख) बौधायन० के अनुसार ब्रह्मचारी को गुरु के उच्छिष्ट मधु, मांस तथा अन्य पदार्थ खा लेने चाहियें, किन्तु आपस्तम्ब० ने इसका निषेध किया है। अतः आपस्तम्ब० को उत्तरवर्ती मानना सर्वथा संगत है।

अतः चरणव्यूह के अनुसार बोधायन को प्रवचनकार मानकर उसके पश्चात् भरद्वाज, आपस्तम्ब, सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी और अग्निवेश की क्रमशः स्थिति को स्वीकार करना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। किन्तु बौधायन और आपस्तम्ब के बीच काल का अन्तर दशकों का नहीं, शताब्दियों का होना चाहिये।[2]

प्रचलित विचारानुसार आपस्तम्ब-कल्प की रचना आन्ध्र प्रदेश में हुई, क्योंकि इसमें तै० आर० के आन्ध्र संस्करण को उद्धृत किया गया है। चरण-व्यूह-भाष्य में 'महार्णव' के उद्धरण देकर इसी विचार को प्रमाणित किया गया है। यथा— **'आन्ध्रादिदक्षिणाग्नेयी गोदा सागरावधि। यजुर्वेदस्तु तैत्तिर्यो आपस्तम्बी प्रतिष्ठितः'** (६)। वैसे भी इस शाखा के अध्येता मुख्यतया बम्बई, मराठवाडा और कार्णाट मण्डलों के अन्तर्गत तथा आन्ध्र, बरार तथा मद्रास के कुछ भागों में अद्ययावत् निवास करते हैं।

नासिक, पूना, सतारा, कोल्हापुर, शोलापुर के निवासी देशस्थ ब्राह्मण तथा बेलगांव, धारवाड़, करवाड़ आदि के निवासी कार्णाटक ब्राह्मण तथा कोंकण के चित्तपावन ब्राह्मणों में कुछेक—ये सभी आपस्तम्बीय हैं[3]। रामगोपाल ने

---

१. आप० ध० सू० २,६, १४, ६-१३।

२. बूह्लर, एस० बी० ई०, भाग-२, भूमिका, पृ० २२।

३. बूह्लर, वही, पृ० ३१-३२।

आपस्तम्ब का भी मूल उद्गमस्थान उत्तर भारत ही सिद्ध करने का प्रयास किया है[1], जो अधिक सुसंगत तथा समीचीन प्रतीत होता है।

ऐ० ब्रा० (७, १८) में आन्ध्रों का उल्लेख शबर आदि पिछड़ी जन-जातियों के साथ किया गया है। बौधायन धर्मसूत्र में कलिंग प्रदेश में जाने पर प्रायश्चित्त करने का विधान किया गया है। पाणिनि के अनुसार चोल और पाण्ड्य शब्द इन प्रदेशों के राजाओं के लिये प्रयुक्त हुए हैं।[2] अतः सिद्ध हैं कि पाणिनि से बहुत पहले दक्षिण में राज्य स्थापित हो चुके थे। महाभारत, अशोक के शिलालेखों तथा बौद्ध गुफाओं के अभिलेखों से सिद्ध होता है कि कम से कम ५०० वर्ष ई० पू० से ही आन्ध्रों का शक्तिशाली राज्य स्थापित हो चुका था।

आर्य लोग दक्षिणमें कब पहुंचे और कब उन्होंने वहां अपने सांस्कृतिक तथा धार्मिक केन्द्र स्थापित किये, इसका सुनिश्चित काल आंकना कठिन है। किन्तु यह निश्चित है कि वैदिक काल की समाप्ति से बहुत पहले यह सब सम्पन्न हो चुका था। वैदिक काल का अन्त भारतीय इतिहास के तथाकथित 'प्रामाणिक' आरम्भ से बहुत पूर्व हो चुका था, जो प्रायः ५०० ई० पू० माना जाता है। और यह भी निश्चित है कि आर्यों के दक्षिण में पहुंचने तथा अपना सांस्कृतिक प्रभाव जमाने के बीच पर्याप्त समय व्यतीत हुआ होगा। दक्षिण में वैदिक चरणों की स्थापना तभी संभव थी, जब दाक्षिणात्य विद्वान् पूर्णरूपेण उस सभ्यता, संस्कृति और धर्म को आत्मसात् कर चुके थे। यह कार्य पांच-दस दशकों में सम्पन्न नहीं हो सकता था।

इसके अतिरिक्त यह तथ्य सभी को स्वीकार्य है कि बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व ही समस्त प्राचीन कल्पसूत्रों का निर्माण हो चुका था। आन्तरिक प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है। आपस्तम्बीय सूत्रों की भाषा से भी इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। इसमें कुछ ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो या तो वैदिक साहित्य में प्रयुक्त हो चुके हैं या वैदिक प्रयोग के अनुकरण पर गढ़े गये हैं, यथा—**क्रव्याद, दार (एक वचन), सालावृकी**।

सन्धिविषयक स्खलन भी इसी कोटि में आते हैं, यथा—**पादून**। अथवा करणकारक में **विद्यया** के स्थान पर **विद्या**। दूसरे, पाणिनि द्वारा उल्लिखित ऐसे शब्द भी हैं, जो धर्मसूत्र के अतिरिक्त अन्यत्र प्रयुक्त नहीं हुए, यथा, श्रृंख् (छींकना) →**श्रृंखनिक, निःश्रृंखन; वेदाध्याय** (=वेदाध्यायी); **ग्रुमुष्टिः, मर्ग**।

---

१. इण्डि० कल्पसू०, पृ० ९४-९८।

२. पा० ४, १, १७५।

तीसरे, पाणिनि के नियमों के विरुद्ध प्रयोग भी किये गये हैं—**यथा सर्वान्निन्** (**सर्वान्नीन**), **धार्म्य** (**धर्म्य**), **दीवितृ** (**देवितृ**), **प्राश्नाति** (**प्राश्नाति** का प्राकृतीकरण), **ऋत्वे** (**ऋत्व्ये**), **आरोहती, तरती, नक्षत्रनामा:, अस्यै दक्षिणेन, तस्यै वपां, वासश्चतुर्थीम्** प्रभृति प्रयोग पा० व्याकरण के विरुद्ध हैं।

यद्यपि ऐसे प्रयोग आश्व० गृ० सू० तथा पार० गृ० सू० में मिलते हैं, यथा—**अस्यै दक्षिणमंसम्**, तो भी क्योंकि इस प्रकार के प्रयोग इसी सूत्रकार की विशेषताएं हैं, अत: यह नहीं कहा जा सकता कि इसने पाणिनि की अवहेलना करके सूत्रकारों की परम्परा का अनुसरण किया है। अतः या तो आपस्तम्ब पाणिनि के व्याकरण से सर्वथा अनभिज्ञ था या फिर तब तक पाणिनि की ख्याति समस्त देश में फैली न होगी। किन्तु क्योंकि पाणिनि का वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य था, अत: सिद्ध है कि चतुर्थ शती ई० पू० तक पाणिनि की दुन्दुभि सर्वत्र बज चुकी थी। अतः आपस्तम्ब को तृतीय शती ई० पू० से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता[1]। अतः बूह्लर ने इसका रचना काल ५०० ई० पू० माना है और हिल्लेब्राण्ट ने इसका समर्थन किया है[2]।

किन्तु डा० कीथ ने विना किसी युक्ति के ही भाषा-विषयक प्रमाणों की अवहेलना करके आपस्तम्ब को ३००-३५० ई० पू० से प्राचीन मानने से इनकार कर दिया है[3]। किन्तु अन्यत्र कीथ ने कात्यायन श्रौतसूत्र के रचयिता कात्यायन से आपस्तम्ब को भाषागत आधार पर ही प्राचीन माना है और कात्यायन को तृतीया अथवा चतुर्थी शती ई० पू० में स्थापित किया है[4]। यह कात्यायन पाणिनि से अर्वाचीन है[5] और पाणिनि का काल ४००-३५० ई० पू० निश्चित किया है[6]। तो फिर 'वदतो व्याघात' दोष से दूषित कीथ ही अपनी इस असंगति में किसी प्रकार संगति बैठाने का प्रयास करे।

डा० पी० वी० काणे ने आपस्तम्ब को ६००-३०० ई० पू० में मानने का सुझाव दिया है[7], किन्तु इस मत के लिए कोई युक्ति प्रस्तुत नहीं की।

---

१. बूह्लर, एस० बी० ई०, भाग-२, भूमिका, पृ० ४२-४३।

२. रिच्वल्लिट्, पृ० २४।

३. तै० सं०, आंग्लानुवाद, भूमिका, पृ० ४५।

४. ब्राह्मणज़ ऑफ द ऋग्वेद, भूमिका, पृ० ४९।

५. तै० सं०, आंग्लानुवाद, भूमिका, पृ० १७२, टि० ४।

६. ऐ० आर०, भूमिका, पृ० २४।

७. हि० ध० शा०, भाग-१, पृ० ४५।

वास्तव में सूत्रसाहित्य के निर्माणकाल का निर्णय पाणिनि के काल पर निर्भर करता है। अतः जो लोग पाणिनि को अपेक्षाकृत अर्वाचीन मानते हैं, वे सूत्रों को भी उतना ही अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। हमने पाणिनि को ७०० ई० पू० में प्रमाणित करने का प्रयास किया है[6]। अतः सूत्रकाल का आरम्भ ११०० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। और बौधायन तथा आपस्तम्ब के मध्य कम से कम दो शताब्दियों का अन्तर स्वयं बूह्लर ने स्वीकार किया है और बौधायन सर्वप्राचीन सूत्रकार नहीं हैं। अतः उनका काल अष्टमी शती ई० पू० मानना सर्वथा संगत है और आप० गृ० सू० का काल ७००-६५० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।

व्याख्या :—(१) हरदत्त मिश्र कृत अनाकुला—११०० ई०।

(२) सुदर्शनाचार्य-कृत तात्पर्यदर्शन—१३००-१५०० के बीच[7]। सुदर्शनाचार्य अपनी टीका में हरदत्त मिश्र के व्याख्यान का पंक्तिशः निर्देशपूर्वक खण्डन करता है। ये दोनों व्याख्याकार दाक्षिणात्य थे।

संस्करण :—(१) हरदत्त तथा सुदर्शनाचार्य की व्याख्याओं के उद्धरण सहित, विण्टरनित्स सम्पा०, वियन, १८८७।

(२) हरदत्त की व्याख्या सहित, ए० महादेवशास्त्री-सम्पादित, मैसूर, १८९३।

(३) हरदत्त तथा सुदर्शनाचार्य की व्याख्या सहित, सम्पादक, म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री, १९२८।

(४) हरदत्त तथा सुदर्शनाचार्य की व्याख्याएँ तथा हिन्दी अनुवाद, चौखम्बा, वाराणसी, १९२८।

आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा-सूत्र

आपस्तम्बीय गृह्यसूत्रों के आरम्भ में आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा सूत्र नामक प्रकरण भी पाया जाता है, जिसमें श्रौत और गृह्य उभयविध यज्ञों के लिये परिभाषाओं का विवरण दिया गया है। इस प्रकार की परिभाषायें प्रायः सभी कल्पसूत्रों में पायी जाती हैं, किन्तु इनके स्थान के विषय में भेद लक्षित होता है।

---

६. द्र. पाणिनिप्रकरण (इसी ग्रन्थमाला के षष्ठ खण्ड, 'वेदांग' के अन्तर्गत)।

७. पी० के० गोडे; ए० बी० ओ० आर० आई० ३७; पृ० ५५-५७; काणे हि० ध० शा०, भाग १, पृ० ७५६।

शां० श्रौ० सू० में परिभाषा-प्रकरण श्रौत-प्रकरण से पूर्व रखा गया है। आपस्तम्ब में इसका स्थान श्रौतसूत्र के अन्त और गृह्यसूत्रों के आरम्भ में निर्धारित किया गया है। यह इस का पचीसवां प्रश्न है, किन्तु कौण्डप्पाचार्य कृत 'प्रयोगरत्नमाला' के अनुसार यह प्रकरण चौवीसवें प्रश्न का ही भाग है।

व्याख्याएं :—यज्ञपरिभाषा-सूत्र पर व्याख्याएं उपलभ्य हैं। एक कर्पादिस्वामी की है, जो प्राचीन है। सुदर्शनाचार्य ने कपर्दी की व्याख्या का उल्लेख किया है, किन्तु इस से भी प्राचीन उल्लेख रामानुजाचार्य द्वारा वेदभाष्यकार के रूप में कर्पादिस्वामी का नामतः निर्देश करके किया गया है। अतः कर्पादिस्वामी रामानुज से दो-तीन शताब्दियां पूर्ववर्ती होंगे। सम्भव है कि वह शङ्कराचार्य से भी पूर्ववर्ती हों, जिन्हें रामानुज ने वेदार्थ के विषय में आचार्यों की तालिका में सम्मिलित नहीं किया।

दूसरे व्याख्याकार हरदत्त हैं, जो आप० गृ० सू० की 'अनाकुला' व्याख्या के प्रसिद्ध कर्ता हैं और काशिका की प्रामाणिक व्याख्या 'पदमञ्जरी' के भी लेखक हैं। कलकत्ता-संस्करण में इनकी व्याख्या को धूर्तस्वामि-कृत कहा गया है, किन्तु क्योंकि धूर्तस्वामी द्वारा रचित परिभाषा सूत्रों पर कोई व्याख्या प्रसिद्ध नहीं है और उन्होंने आप० कल्प० के प्रथम प्रश्नों पर ही व्याख्या लिखी है, अतः यह व्याख्या हरदत्त-कृत ही है। उस व्याख्या में सभी वैदिक शाखाओं से उद्धरण तथा सूत्र उद्धृत किये गये हैं। जिनमें अधिकतर तै० शाखा से ही संगृहीत हैं। इनमें से कुछेक उद्धरणों का मूल अभी तक अज्ञात है।

संस्करण :—(१) सामश्रमी (सत्यव्रत) द्वारा उषा में सम्पादित।

(२) रा० महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित, मैसूर, सन् १८९३।

आपस्तम्बीय एकाग्निकाण्ड

आपस्तम्बीय कल्प के अन्त में गृह्यकर्मों से सम्बद्ध मन्त्रों के संग्रह को 'एकाग्निकाण्ड' की संज्ञा दी गयी है। इस संग्रह के दो प्रपाठक हैं। एक में १८ खण्ड हैं, द्वितीय में २२। इसमें समाविष्ट विषयों का विवरण इस प्रकार है—

प्रथम प्रपाठक में विवाह की पूरी प्रक्रिया का विवरण दिया गया है। **गृहप्रवेश** के अनन्तर **ध्रुवदर्शन** तथा **अरुन्धती-दर्शन** के बाद **चतुर्थी होम** और **ऋतु समावेशन** पर्यन्त सभी कर्मों को सम्पन्न करके अन्त में **पतिवशीकरण, सपत्नी-बाधनकर्म** तथा **वधू-यक्ष्मादि-हरण कर्म** के विधान तक पूरा वर्णन किया गया है।

द्वितीय प्रपाठक में **उपनयन, समावर्तन,** ब्रह्मचारी द्वारा **आदर्श वीक्षण उपानद्-ग्रहण, छत्र-दण्ड-धारण, मधुपर्क** मंत्र, **सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म,**

प्रवासागमनकर्म, अन्नप्राशन, चौलकर्म, गृहनिर्माण तथा गृहप्रवेश, श्वग्रह वा **शंखग्रह** से पीड़ित का अभिमन्त्रण, **सर्पबलि, आग्रयण, हेमन्तप्रत्यवरोहण, ईशान-बलि, मासिश्राद्ध, अष्टका, क्रोधापनयनार्थ कर्म, पण्यव्यवहार** की सिद्धि के लिए कर्म, स्नेह के अविच्छेदार्थ कर्म, पलायित दास आदि के लौटाने के लिये कर्म प्रभृति विषयों का समावेश किया गया है।

इस पर भट्ट भास्कर ने भी भाष्य लिखा था, क्योंकि **पितृमेधसूत्र** के भाष्य में **माता रुद्राणाम्** मन्त्र के प्रसङ्ग में इन्होंने लिखा है—**मातेत्याद्युत्सृजेतेत्यन्तं मधुपर्कं गतम्**, जिससे प्रतीत होता है कि इन्होंने इस काण्ड पर भाष्य लिखा था, क्योंकि मधुपर्क मन्त्र केवल उसी एकाग्निकाण्ड में मिलता है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि एकाग्निकाण्ड आरण्यक से पूर्व ही आम्नात था।

वैसे हरदत्त का भाष्य भी भट्ट भास्कर के भाष्य से अधिक भिन्न नहीं है।

संस्करण :—श्री एल० श्रीनिवासाचार्य द्वारा हरदत्त-भाष्य सहित, सन् १९०२ में मैसूर में सम्पादित तथा प्रकाशित।

षोडश अध्याय

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्र (२)

काठक गृह्यसूत्र

कृष्ण यजुर्वेद की कठ-शाखा का गृह्यसूत्र काठक गृ० सू० के नाम से प्रसिद्ध है। कठ एक शाखा है, जिसका उल्लेख पतञ्जलि ने अपने वैयाकरण महाभाष्य में किया है, **कठं महत् सुविहितमिति**[१]। कठ शाखा का प्रचार उत्तर भारत में विशेषतः अल्मोड़ा, कुमाऊँ, काश्मीर, पञ्जाब, अफगानिस्तान आदि प्रदेशों में विशेष था। आजकल कठ शाखाध्यायी ब्राह्मण काश्मीर में ही मिलते हैं[२] और काश्मीर का शैवमत काठक सिद्धान्तियों का है[३]।

डा० कैलैण्ड के मतानुसार काठक गृह्यसूत्र का ही नामान्तर लौगाक्षि गृह्यसूत्र भी है, और कि हेमाद्रि आदि निबन्धकारों ने इसी नाम से इसे उद्धृत किया है[४]। किन्तु पं० भगवद्दत्त का विचार है कि क्योंकि वैखानसों की 'आनन्द संहिता' में दोनों को पृथक्-पृथक् माना गया है, अतः इन दोनों के भिन्न-भिन्न होने की बड़ी सम्भावना है[५]। बाद में दोनों की अत्यधिक समानता के कारण दोनों परस्पर मिल गये होंगे। कात्यायन श्रौतसूत्र (१, ६, २४) में लौगाक्षि के मत का उल्लेख किया गया है। महाभाष्यकाल में काठक शाखा का बहुत प्रचार था। पतञ्जलि ने लिखा है—**ग्रामे-ग्रामे काठकं कालापकञ्च प्रोच्यते**[६]।

इस गृह्यसूत्र के दो प्रकार से विभाग किये जाते हैं। एक प्रकार से तो इसमें ७५ कण्डिकाएं होती हैं। दूसरे प्रकार से इसमें पांच अध्याय होते हैं, जिस कारण इसे 'गृह्यपञ्चिका' भी कहते हैं। डा० कैलैण्ड के मत में मुद्रित काठक० का सम्बन्ध चरक (=चारायणीय) शाखा से था। उनके अनुसार, डा० बूह्लर का

---

१. महाभाष्य, पा० ४, २, ६६।

२. द्र. भगवद्दत्त, वै० वाङ्० भाग-१, पृ० २८७।

३. वही, पृ० २८९।

४. काठकगृह्य सूत्र, प्रस्तावना, पृ० ८।

५. वही, पृ० २८८।

६. महाभाष्य, पा० ४, ३, १०१।

यह विचार समीचीन है कि चरक और चारायणीय एक ही थे[1], किन्तु पं० भगवद्दत्त के अनुसार 'चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय' से विदित होता है कि काठ० सं० से भिन्न चारायणीय संहिता भी थी[2]। चरणव्यूह में चरकों के बारह भेदों में चरक और चारायणीय पृथक्-पृथक् गिनाये गये हैं। चारायणीय प्रातिशाख्य और शिक्षा का भी पता चलता है[3]। कैलैण्ड का अनुमान है कि आप० गृ० सू०, वै० गृ० सू०, कौथुम गृ० सू० तथा राणायनीय गृह्यसूत्र के समान ही काठ० गृ० सू० का भी एक पृथक् सस्वर मन्त्राध्याय था, जिसमें से काठ० गृ० सू० में प्रतीक रूप में मन्त्र उद्धृत किये गये हैं, जो काठ० सं० में उपलभ्य नहीं हैं[4]।

इसके पांच अध्यायों में विषयों का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

प्रथम अध्याय :—ब्रह्मचारी के व्रत, समावर्तन, उपाकर्म।

द्वितीय अध्याय :—पाकयज्ञ, विवाह (मधुपर्क आदि), गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन।

तृतीय अध्याय :—पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, आदित्यदर्शन, चन्द्रदर्शन, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म।

चतुर्थ अध्याय :—उपनयन, वेदाध्ययन, चातुर्होतृक, गोदान, अग्न्याधान, होम, पशुकल्प, शूलगव।

पञ्चम अध्याय :—स्वस्त्ययन, अष्टका, श्राद्ध।

काठक, मानव और वाराह गृह्यसूत्रों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। कई एक कर्मों के विषय में तो इनमें शब्दशः साम्य पाया जाता है, यथा—**ब्रह्मचारिव्रतानि, समावर्तन, उपाकर्म, उत्सर्जन, विवाह और गर्भाधान**। काठक और मानव गृह्यसूत्र तो **फाल्गुनी और ध्रुवाश्वकल्प** जैसे विषयों में भी परस्पर समानता रखते हैं, जो वाराह में उपलभ्य नहीं हैं। वाराह गृह्यसूत्र में तो अनेक सूत्र ऐसे हैं, जो काठक और मानव दोनों में पाये जाते हैं। **चूड़ाकरण और प्रवदन कर्म** में तो वाराह के कुछेक सूत्र काठक से बहुत मिलते हैं[5]। क्योंकि मानव और वाराह

---

१. काठ० गृ० सू०, प्रस्तावना, पृ० ५।

२. वै० वाङ्०, भाग-१, पृ० २८४-२९५; (द्र. चरणव्यूह सूत्र २, १)।

३. वही,

४. वही, पृ० ६, ७।

५. तु. काठ० गृ० सू० ४०, १-८ और वा० गृ० सू० ४, १८-१९; तथा काठ० गृ० सू० २७, २-३ और वाराह १३ खण्ड। काठ० गृ० सू० ४०, १७=वा० गृ० सू० ४, २२; काठ० गृ० सू० १०, १-२=वा० गृ० सू० ८, १२; काठ० गृ० सू० ३६, १३=वा० गृ० सू० ३, ७।

दोनों ही मै०सं० से सम्बद्ध हैं, अतः उन दोनों में तो इतनी घनिष्ठता स्वाभाविक है। किन्तु काठ० गृ० सू० में घनिष्ठता का कारण कठों और मैत्रायणीयों में समान परम्परा ही हो सकती है, क्योंकि दोनों ही शाखाएं चरकों के उपभेद मात्र हैं।

काठ० गृ० सू० और मा० गृ० सू० की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विषय और रचना-शैली की दृष्टि से मा० गृ० सू०, काठ० गृ० सू० से प्राचीन है। शां० गृ० सू० और काठ० गृ० सू० के **वृषोत्सर्ग** के वर्णन से शां० गृ० सू० प्राचीन प्रतीत होता है[1]। **विवाह** में मा० गृ० सू० में १७९ मन्त्रों का विनियोग किया गया है, तो काठ० गृ० सू० में २३३ मन्त्रों का। दूसरे **कन्यावरण** के समय मा० गृ० सू० में आश्व० गृ० सू० के समान भिन्न-भिन्न स्थानों की मिट्टी के आठ ढेलों से कन्या की परीक्षा का विधान किया गया है, जबकि काठ० गृ० सू० में गो० गृ० सू० के समान नौ ढेलों का। गो० गृ० सू० का रचना काल आश्व० गृ० सू० से अर्वाचीन है।

तीसरे **मधुपर्क** में मा० गृ० सू० तो चार ब्राह्मणों को गो-माँस खिलाने का विधान करता है[2], किन्तु काठ० गृ० सू० में इसका विधान करके कहा गया है—**एष आद्य उपायः। यद्युत्सृजेत् माता रुद्राणामसि**...[3], **नामांसो मधुपर्क इति ह विज्ञायते। अपि वा घृतौदनः स्यात्**[4]। इससे स्पष्ट है कि सूत्रकार स्वयं को कलियुग का मानता था, जबकि गोमांस-भक्षण का निषेध हो चुका था[5]। दोनों में श्रुति के अनुसार मांस के बिना **मधुपर्क** हो ही नहीं सकता था। किन्तु काठ० गृ० सू० ने **घृतौदन** का वैकल्पिक विधान करके श्रुति के बल को समाप्त कर दिया। इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक ब्राह्मणों ने मांस-भक्षण त्याग दिया था[6]।

चौथे, **उपनयन** के विधान में मा० गृ० सू० का पाठ अधिक प्राचीन और सुसंगत है, जबकि काठ० गृ० सू० का पाठ अनेकत्र असंगत और असमीचीन है[7], यद्यपि मानव० में भी संशोधन किया गया प्रतीत होता है[8]।

---

१. रामगोपाल, इण्डि० कल्पसू०, पृ० ३३; ७८।
२. मा० गृ० सू० १, ९, ११-२२।
३. काठ० गृ० सू० २, १२, १८-१९।
४. काठ० गृ०सू० २, १२, २०-२१।
५. काठ० गृ० सू० २, १२, १८ पर 'ब्राह्मखबल' टीका।
६. सूर्यकान्त, कौथुम गृ० सू०, पृ० ६५-६६।
७. वही, पृ० ६७।
८. वही, पृ० ६८।

ये सभी युक्तियां मिल कर काठ० गृ० सू० को मा० गृ० सू० से काफी पश्चाद्वर्ती सिद्ध करती है।

व्याख्याएं :—(१) आदित्यदर्शन-रचित 'विवरण', जिसमें प्रत्येक सूत्र की व्याख्या की गयी है और प्रत्येक कण्डिका की संख्या दी गयी है। यह विवरण ६५, ३ के उपरान्त त्रुटित होने के कारण मुद्रित नहीं हो सका। व्याख्या प्राचीन और सुन्दर है।

(२) ब्राह्मणबल-रचित 'गृह्यपद्धति', सूत्र-पाठ निर्धारित करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसमें सम्पूर्ण सूत्रपाठ तथा कृत्यों में विनियोज्य मन्त्रों को प्रतीकेन प्रस्तुत किया गया है। इसमें भी प्रत्येक कण्डिका की संख्या का निर्देश कर दिया गया है। ब्राह्मणबल के पिता का नाम माधवाध्वर्यु था। इनके समय के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। यह 'विवरण' से परिचित हैं।

(३) देवपाल-कृत 'भाष्य', जिसमें सूत्रों की व्याख्या की गयी है, किन्तु सूत्रों की लगातार व्याख्या के रूप में होने के कारण इसमें कण्डिकाओं का विभाजन नहीं किया गया। देवपाल आदित्यदर्शन को अत्यादर-पूर्वक उद्धृत करते हैं। देवपाल के पिता का नाम हरिपाल था।

संस्करण :—कैलैण्ड द्वारा उपर्युक्त तीनों व्याख्याओं के उद्धरणों सहित, दयानन्द कॉलेज, लाहौर, से प्रकाशित किया गया, सन् १९२२ ई०।

लौगाक्षि गृह्यसूत्र (काठक गृह्यसूत्र)

जैसा कि काठ० गृ० सू० के प्रकरण में कह आये हैं, कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध लौगाक्षि गृह्यसूत्र के विषय में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। डा० कैलैण्ड के मतानुसार तो काठ० गृ० सू० का ही नामान्तर 'लौगाक्षि गृह्यसूत्र' है, क्योंकि हेमाद्रि प्रभृति निबन्धकारों ने काठ० गृ० सू० को ही लौगाक्षि के नाम से उद्धृत किया है[1]। और इस विषय में लौगाक्षि गृह्यसूत्र के सम्पादक पं० मधुसूदन कौल ने भी इनके मत की पुष्टि की है। उनका कहना है कि लौगा० गृ० सू० के अनेक नाम थे—काठ० गृ० सू०, चरक गृ० सू० तथा चारायणीय गृ० सू०, क्योंकि कृष्णयजुर्वेद की यह शाखा इन तीनों नामों से विख्यात थी[2]। किन्तु

---

१. काठ० गृ सू०, प्रस्तावना, पृ० ८।

२. लौग० गृ० सू० प्रस्तावना, पृ० ५-६।

पं० भगवद्दत्त की मान्यता है कि ये दोनों शाखाएँ भिन्न-भिन्न थीं[1] और इस विषय में डा० सूर्यकान्त ने इनका समर्थन किया है और कहा है कि यद्यपि ये दोनों शाखाएं भिन्न-भिन्न थीं, तो भी बाद में अतिसाम्य के कारण इनमें अभेद माना जाने लगा[2]। यही पक्ष समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि पाणिनि ने भी सम्भवतः इसी कारण दोनों का पृथक्-पृथक् नामोल्लेख किया है—'कठचरकाल्लुक्'[3]। लौगाक्षि गृह्यसूत्र के विषय काठ० गृ० सू० के विषयों से भिन्न नहीं हैं।

व्याख्या :—देवपाल ने लौगा० गृ० सू० पर व्याख्या लिखी है।

संस्करण :—पं० मधुसूदन कौल द्वारा संपादित, काश्मीर सीरीज़ ऑफ टेक्स्ट्स एण्ड स्टडीज़, संख्या, ४९; ५५; श्रीनगर, सन् १९२८, १९३४।

आग्निवेश्य गृह्यसूत्र

तै० सं० की वाधूल शाखा के चार भागों में से एक आग्निवेश्य शाखा का उल्लेख वाधूल श्रौतसूत्र में किया गया है। **के ते चत्वारो वाधूलाः ? कौण्डिन्याग्निवेश्यगालवशाखानां कल्पाः**[4]। तै० प्रा० (९, ४) में भी यह शाखा स्मरण की गयी है। माधवाचार्य के काल तक इस शाखा को पर्याप्त मान्यता प्राप्त थी, क्योंकि उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य (२, ३, ३२) में एक 'आग्निवेश्य श्रुति' को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। बाद में यह शाखा अप्रसिद्ध हो गयी। वैद्यनाथ दीक्षित ने 'स्मृतिमुक्ताफल' (पृ० १३) में एक आग्निवेश्य सूत्र को उद्धृत किया है, जिसमें बौधायन आदि नौ 'पूर्व सूत्रों' का और वैखानस आदि नौ 'अपर सूत्रों' का उल्लेख किया है। नौ 'पूर्वसूत्रों' में शाण्डिल्य का भी उल्लेख है। बृहदारण्यकोपनिषद् (२, ६) में आग्निवेश्य को शाण्डिल्य तथा आनभिम्लात तथा आगे चल कर (बृ० उप० ४, ६) गार्ग्य का शिष्य कहा गया है। अतः सम्भव है कि आग्निवेश्य इनके शिष्य हों। इससे यह भी परिणाम निकल सकता है कि आग्निवेश्य शाखा शाण्डिल्य शाखा का ही एक उपभेद थी[5]। वैद्यनाथ के उपर्युक्त उद्धरण से यह भी विदित होता है कि आग्निवेश्य इन सभी अठारह आचार्यों से पश्चाद्वर्ती थे। इसी कारण इनको अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त स्वयं आग्निवेश्य ने भी (२, ६, ३) बोधायन, आपस्तम्ब, सूत्रकार (?), सत्याषाढ़,

---

१. वै० वाङ्०, भाग १, पृ० २८८।
२. कौथुम गृ० सू०, प्रस्तावना, पृ० ११७-११८।
३. पा० ४, ३, १०७।
४. आग्नि० गृ० सू० की भूमिका में रविवर्मा द्वारा उद्धृत, पृ० ३।
५. रविवर्मा, वही पृ० ४।

हिरण्यकेशी और व्यास का तर्पण किया है और इन्होंने बौधायन (३, ६, २), कौषीतकि (३, ६, ४) और काठक (३, ८, ३) के मतों का भी उल्लेख किया है। पुष्करसादि (पृ० ९) और कुशहारीत (पृ० १७७) का भी उल्लेख किया है। भाषा, शैली और प्रतिपादित विषयों की दृष्टि से भी यह पश्चात्कालिक रचना प्रतीत होती है।

विषय :—इस गृह्यसूत्र के प्रतिपाद्य विषयों का विवरण इस प्रकार है—

प्रश्न १ :—उपनयन, अध्यायोपाकर्म, अध्यायोत्सर्जन, अवान्तरदीक्षा, स्नातक व्रत, समावर्तन, विवाह, गृहप्रवेश, स्थागरालङ्कार, वैश्वदेवबलि, दर्शपूर्णमासस्थालीपाक, आग्रयणस्थालीपाक।

प्रश्न २ :—पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, क्षिप्रसुवन, मेधाजनन, नामकरण, नक्षत्रहोम, उपनिष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, नान्दीश्राद्ध, पुण्याह, शालानिर्माण, वास्तुहोम, तटाककल्प, कूष्माण्डहोम, गणहोम, वायसबलि, यज्ञोपवीतविधि, रविकल्प, ग्रहयज्ञ, अद्भुतशान्ति, आयुष्यहोम, अपमृत्युञ्जयकल्प, विष्णुबलि, शूलगव, पर्जन्यकल्प, भूतबलि, देवयज्ञ, मधुपर्क, भोजन-शयन-शौच-स्नानविधियां, पुनरुपनयन, पुनराधान, द्विभार्याग्निसंयोगविधि, अवकीर्णि-प्रायश्चित्त, ऋतुसंवेशन, ब्रह्मकूर्चोदक, नैमित्तिकप्रायश्चित्त, गृह्यप्रायश्चित्त, वानप्रस्थविधि, सन्न्यासविधि।

प्रश्न ३ :—अष्टका श्राद्ध, अन्त्येष्टि संस्कार (आहिताग्नि, नष्टाग्नि, समारूढाग्नि, परोक्षमृत, गर्भिणी तथा यति), भूतबलि, एकोद्दिष्ट श्राद्ध, सपिण्डीकरण, नारायणबलि, श्राद्धभुक्ति-प्रायश्चित्त, शकलहोम।

इन विषयों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट ही आभास हो जाता है कि इस सूत्र में बहुत से ऐसे विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जो अन्य गृह्यसूत्रों में उपलभ्य नहीं हैं, यथा—

(१) **स्थागरालङ्कार** (१, ७, १, पृ० ४०), जिसमें नववधू के मस्तक पर एक विशेष चिन्ह बनाया जाता है।

(२) **दर्शपूर्णमासस्थालीपाक** (१, ७, ३, पृ० ४२)।

(३) **कौतुक** (२, ३, ५, पृ० ५८) उपनीत ब्रह्मचारी की कलाई पर एक रक्षाकरण्डक बांधने की प्रक्रिया।

(४) **तटाककल्प** (२, ४, ३, पृ० ६२)।

(५) **कूष्माण्ड-होम** (२, ४, ४; पृ० ६२)।

(६) **शताभिषेक** (२, ४, ६; पृ० ६५)।

(७) **रविकल्प** (२, ४, ११; पृ० ७३-७४) सूर्य की १२ चित्रित मूर्तियों का पूजन, जिनके मध्य में सौवर्ण अथवा राजत कमल रखा जाता है।

(८) **प्रणव निरुक्त** (२, ४, १२; पृ० ७५) ओम् के तीन वर्णों अ, उ, म् का रहस्यात्मक अर्थ।

(९) **विष्णुबलि** (२, ५, ७; पृ० ८५)।

(१०) **नारायण-बलि** (३ प्रश्न) तथा **वायस-बलि** प्रभृति अनेक ऐसे कर्म हैं, जो या तो पौराणिक धार्मिक विचार-धारा से प्रभावित हैं या फिर आथर्वणिक अभिचार कर्मों के अन्तर्गत आते हैं, यथा **नक्षत्रहोम** तथा **अद्भुत-शान्ति**।

इनके अतिरिक्त भी इस गृह्यसूत्र की अपनी विशेषताएं हैं। इसमें नित्य-कर्मों के न करने के कारण जाति-बहिष्कृत व्यक्ति के लिए **पुनरुपनयन** का विधान किया गया है[1]।

गर्भिणी स्त्री की **अन्त्येष्टि-क्रिया** शल्य-क्रिया द्वारा गर्भ को निकाल कर करने का विधान भी यहीं किया गया है[2]। **ऋतुसंवेशन** के अन्तर्गत सन्तान के लिये अनुकूल तथा प्रतिकूल दिनों को ध्यान में रख कर सम्भोग का विधान किया गया है।

मूर्तिपूजा का विधान भी इस सूत्र की विशेषता है। स्नातक के लिए **समावर्तन** के समय विशेष शुभ नक्षत्रों का विधान भी इसी सूत्र में किया गया है[3]। शुभ अवसरों पर ताम्बूल के प्रयोग का विधान भी इस सूत्र की विशेषता है। कैलैण्ड के अनुसार भारत में ताम्बूल का प्रचलन चतुर्थ शती ई० के आसपास आरम्भ हुआ था[4]। इस सूत्र के बहुत से सूत्र हिर० गृ० सू० और बौ० गृ० सू० की प्रतिलिपि मात्र हैं और इसका अधिकांश बौ० गृ० शेष० बौ० पितृ० सू०, बौ० गृ० परि० सूत्रों की हूबहू नकल हैं। अनेक स्थलों पर इसके वाक्य अंशतः या पूर्णतः भार० गृ० सू० के समान हैं[5]। देवता-धर्म के प्रकरण में तान्त्रिक शब्दावली और तान्त्रिक यन्त्रों का उल्लेख किया गया है। इसके विवाह-प्रकरण की भी एक विशेषता है कि उसमें विनियोज्य सभी मन्त्र विवाह-विधि से पूर्व ही सङ्कलित कर लिये गये हैं। फिर विवाह-विधि में उनका प्रतीकों से निर्देश किया गया है। ऐसे ही मन्त्रसंग्रह आप० मन्त्रपाठ तथा गो० मन्त्र० ब्रा० में सङ्कलित किये गये हैं, जो स्वतन्त्र कृतियां हैं। यह मन्त्र-संग्रह भी दोष-

---

१. आग्नि० गृ० सू० २, ७, १; पृ० १०६।
२. वही, ३, १०, २।
३. वही, ३, १, १; द्र० जी० एम० पैसे० वि० आई० जे०, भाग-४, पृ० ४४-५०।
४. वै० गृ० सू०, आंग्लानु० भूमिका, पृ० २५-२६।
५. रविवर्मा, वही, पृ० ९।

पूर्ण हैं, क्योंकि अनेक स्थलों पर इस मन्त्र-संग्रह और विवाह-विधि में परस्पर सामञ्जस्य का अभाव पाया जाता है[1]। इसके अतिरिक्त इसके अनेक पाठ अत्यन्त भ्रष्ट हैं।

आग्नि० गृ० सू० में कुछ भाषागत प्रयोग बड़े विचित्र हैं, यथा—

अनङ्गवेष=केवल कौपीनधारी (पृ० १७२)।

आतुरव्यञ्जन=शोकसूचक वस्त्रधारी (पृ० १३८)।

पत्पूलन (पृ० ९५); **अन्नवेज** (पृ० १०७); **नाष्ट्य** (पृ० ८३)।

सहाञ्जगतः (पृ० १७०); **सूददोहस** (३, ८)।

सन्तिष्ठते (कर्म को ठीक सम्पन्न करता है)।

स्कन्दक्षीणान्त (पृ० १५०); **उपवाजन** (पृ० १४६)[2]।

कुछ प्रयोग सर्वथा अपाणिनीय हैं, यथा—**पापीन्**, **कुष्ठीन्**, **रोगीन्** (पृ० १४६) **आरभेत्** (पृ० ७०); **त्याज्य** (पृ० १७७) प्रभृति।

इन सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यह सूत्र 'सूत्रकाल' से बाह्यकाल की कृति है।

संस्करण :—एल० ए० रविवर्मा द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम्, १९४०।

हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र

आप० गृ० सू० और भार० गृ० सू० के समान ही हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र भी कृष्ण यजुर्वेद की खाण्डिकीय शाखाओं में से एक से संबद्ध है और हिरण्यकेशि-कल्प के (१९-२०) दो प्रश्नों में समाविष्ट है। प्रत्येक प्रश्न आठ पटलों में विभक्त है।

महादेव के अनुसार हिरण्यकेशी सम्प्रदाय आपस्तम्ब सम्प्रदाय से अर्वाचीन है। हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र के विषय में डा० बह्लर (एस० बी० ई० २, भूमिका, पृ० २५) ने लिखा है कि या तो स्वयं हिरण्यकेशी ने या उसके अनुयायियों में से किसी ने आप० ध० सू० में तनिक हेर-फेर करके अपना धर्मसूत्र बना लिया है।

किन्तु हिर० गृ० सू०, आप० गृ० सू० पर इतना आश्रित नहीं, जितना हिर० ध० सू०, आप० ध० सू० पर है। प्रो० हिल्लेब्राण्ट का यह विचार अमान्य

---

१. सूर्यकान्त, कौथुम० गृ० सू०, प्रस्तावना, पृ० १०५-१०६।

२. द्र. जी० एम० पैंसे, वि० आइ० जे०, भाग ४, पृ० ४४-५० 'आग्निवेश्यसूत्रम्', ऐन एनेलिटिकल स्टडी।

है कि हिर० गृ०सू०, आप० गृ०सू० पर एक टीका मात्र है[1]। क्योंकि अनेक ऐसे कर्म हैं, जिनका वर्णन हिर० गृ० सू० में आप० गृ० सू० से सर्वथा स्वतन्त्ररीति से किया गया है। यथा **समावर्तन, चतुर्थी-कर्म** और **पुंसवन**। कई ऐसे कर्म भी हैं जो आप० गृ० सू० में वर्णित हैं, किन्तु हिर० गृ० सू० में उनकी चर्चा नहीं की गयी, यथा, **दम्पतीप्रीतिकर्म** (आप० गृ० सू० ३, ९, ४) **पतिवश्यकरं कर्म** (आप० गृ० सू० ३, ९, ५-७), **सपत्नीबाधकर्म** (आप० गृ० सू० ३, ९, ८-९), **भार्याभयनिवृत्तिकर्म** (आप० गृ० सू० ३, ९, १०) तथा **जरायुपतन कर्म** (आप० गृ० सू० ६, १४, १५)। अतः यद्यपि हिर० गृ० सू० और आप० गृ० सू० में निकट का सम्बन्ध है, तो भी इनमें परस्पर भेद भी बहुत हैं। हिर० गृ० सू० की रचना-शैली सूत्रशैली का विकसित रूप प्रस्तुत करती है। इसमें आप० गृ० के अनेक सूत्रों को मिलाकर संक्षिप्त रूप प्रदान करने की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है[2]। यही प्रवृत्ति हमने भार०गृ० सू० से तुलना करने पर भी पायी है, जहां हिर० गृ० सू० के १५ सूत्रों को मिलाकर एक ही सूत्र में समाविष्ट करने का प्रयास किया गया है[3]। यही तथ्य गो० गृ० सू० और खादिर गृह्यसूत्र की तुलना करने पर भी प्रकट होता है। खादिर गृह्यसूत्र ने गो० गृ० सू० के अनेक सूत्रों को एक ही सूत्र में उपनिबद्ध करने का प्रयास किया है। इसके पीछे संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति लक्षित होती है, जो उत्तर-वर्ती काल को सूचित करती है।

अतः यह मान्यता[4] स्वीकार्य नहीं हो सकती कि हिर० गृ० सू० की रचना-शैली आप० गृ० सू० की रचना-शैली के समान संक्षिप्त नहीं है। अतः सिद्ध है कि हिर० गृ० सू० की रचना आप० गृ० सू० की रचना के पश्चात् हुई है। किन्तु दोनों के काल का अन्तराल अधिक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सामाजिक और धार्मिक विचारों के विषय में दोनों का दृष्टिकोण एक सा ही है। आप० गृ० सू० के समान ही हिर० गृ० सू० में भी रथकार के **उपनयन** का कोई उल्लेख नहीं किया गया और आप० गृ० सू० के समान ही हिर० गृ० सू० में भी **शूलगव** के अवसर पर **स्थालीपाक** का विधान किया गया है। किन्तु इस विषय में ध्यान रखना चाहिये कि धार्मिक और सामाजिक विचारों के ऐक्य के आधार पर हम काल-विषयक कोई सुदृढ़ निर्णय नहीं ले सकते, क्योंकि अधिकांश लोगों में परिवर्तन की प्रवृत्ति कम ही होती है। तो भी ऐसे तथ्य काल-निर्णय में सहायक अवश्य हो सकते हैं।

---

१. रिच्वल्लिट्०, पृ० ३०।

२. द्र० सूर्यकान्त, कौथुम गृह्यसूत्र, पृ० ९०-९१।

३. वही;

४. रामगोपाल, इण्डि० कल्पसू०, पृ० ७७।

हिर० गृ० सू० का भार० गृ० सू० से भी घनिष्ठ सम्बन्ध हैं[1]। यहां तक कि अनेक स्थलों पर दोनों में एक सा वचोविन्यास दृष्टिगोचर होता है। काणे के मतानुसार तो हिर० गृ० सू० का आधार भार० गृ० सू० ही है[2]।

विषय :—हिर० गृ० सू० के दो प्रश्नों में प्रतिपाद्य विषयों का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

प्रश्न १ :—उपनयन, समावर्तन, अर्घ्य, अमात्यान्तेवासिगुप्ति, दारगुप्ति, पण्यसिद्धि, क्रोधविनयन, प्रायश्चित्तानि, विवाह, शालाकर्म।

प्रश्न २ :—सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, मेधाजनन, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, श्वग्रहप्रायश्चित्त, शूलगव, बौढ्यविहार, मासिक श्राद्ध, अष्टका, श्रवणाकर्म, आग्रहायणी, उपाकरण, उत्सर्जन।

व्याख्या :—मातृदत्त ने इस पर व्याख्या लिखी है, जिसके उद्धरणों को जे० किर्स्ते (J. Kirste) ने अपने संस्करण के साथ प्रकाशित किया है।

संस्करण :—(१) जे० किर्स्ते (J. Kirste) द्वारा, वियेन, (Wien), १८८९।
(२) एच० ओल्डनबर्ग द्वारा आंग्लानुवाद, (एस० बी० ई० ३०)।
(३) हिर० केशीय स्मार्तसूत्र, आनन्दाश्रम, पूना, १८८९।

वाराह गृह्यसूत्र

वाराह गृह्यसूत्र मैत्रायणीय संहिता की वाराह शाखा से सम्बद्ध है। मै० सं० के सभी मन्त्रों को यहां प्रतीक रूप में उद्धृत किया गया है, किन्तु ऋग्वेद आदि अन्य संहिताओं के मन्त्र सकलपाठ में दिये गये हैं। साथ ही सभी प्रतीक मै० सं० की ओर ही सङ्केत नहीं करते। हेमाद्रि ने मानव-मैत्रायणीय और मैत्रायणीय सूत्रों में स्पष्ट अन्तर किया है। मैत्रायणीय के नाम से जितने उद्धरण दिये गये हैं, वे सब के सब या तो वा०श्रौ०सू० में उपलभ्य हैं या उसके परिशिष्टों में[3]। यह सूत्र सत्रहखण्डात्मक है और वाराह श्रौतपरिशिष्टों की गणना से आरम्भ होता है, जो किसी भी अन्य गृह्यसूत्र में नहीं पाया जाता। इस गणना का महत्त्व यह है कि इससे तीन ऐसे लुप्त परिशिष्टों पर प्रकाश पड़ता है, जिनके विषय में ज्ञान के अन्य सभी स्रोत अवरुद्ध हैं। ये हैं—**अनुग्राहिक, हौतृक** तथा **शौल्बिक**। दूसरे, उसमें वर्तमान वाराह श्रौतसूत्र के क्रम से कुछ भिन्न क्रम दिया गया है।

---

१. द्र. भार० गृ० सू० प्रकरण।

२. ध० शा० इ०, भाग १, पृ० ४६।

३. डा. रघुवीर, वाराह गृह्य-सूत्र, भूमिका, पृ० २-४।

कई प्रकरणों का पाठ तो इन परिशिष्टों से यथावत् ग्रहण किया गया है, यथा — **उपनिषदर्हाः** (८, १२-१३), **वैश्वदेवकर्म और प्रवर्ग्य** (७, १२-२०)।

विषय :—खण्ड (१) मैत्रायणीसूत्र-परिशिष्ट-संख्यानम्, पाकयज्ञ, (२) जातकर्म, (३) नामकरण, दन्तोद्गमन, अन्नप्राशन, (४) चूड़ाकरण, (५) उपनयन, (६) व्रतानि, (७) वेदव्रत, (८) उपाकरण, अनध्यायाः, उत्सर्जन, उपनिषदर्हाः, (९) गोदान, समावर्तन, स्नातकधर्म, (१०) कन्यावरण, (११) मधुपर्क, (१२) अलङ्करण, (१३) प्रवदनकर्म, (१४) विवाह, (१५) गृहप्रवेश, (१६) गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन तथा (१७) वैश्वदेवकर्म।

क्योंकि मानवगृह्यसूत्र और वाराह गृह्यसूत्र दोनों ही मै० सं० की ही शाखाओं से सम्बद्ध हैं, अतः इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध सर्वथा स्वाभाविक है। बहुत से सूत्र समान हैं, अनेक संस्कार सर्वथा एक से हैं[1]।

मानवों के बाद कठ-शाखा वाराह-शाखा के निकटस्थ है। **व्रतानि, उपाकरण, उत्सर्जन और अनध्यायाः**, इन प्रकरणों में तो वाराह की परम्परा मानवों से भी अधिक कठों के अनुकूल है[2]। इसमें मौलिकता का सर्वथा अभाव है। यद्यपि इस गृह्यसूत्र में अन्य गृह्यों की अपेक्षा आधे संस्कारों का विवरण दिया गया है, तो भी इसकी कुछ विशेषताएं हैं, यथा, आहिताग्नि को दक्षिणाग्नि में यज्ञ करने का आदेश (१, ६), नवजात शिशु को स्वर्ण घिस कर पिलाने का विधान, जिसे १२ वर्ष की आयु तक सम्पन्न किया जा सकता है (२, ८), भिन्न-भिन्न जातियों के ब्रह्मचारियों के लिए भिन्न-भिन्न आकार के कमण्डलुओं का विधान (५, २८), कन्यावरण के समय दोनों पक्षों के हाथों में गीले गोबर के दो-दो पिण्ड रखने का विधान (१०, १४)। इसकी एक विशेषता और भी है—**दन्तोद्गमन** संस्कार तथा **प्रवदनकर्म**, जिसमें विवाह के समय बाजे बजाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है और वाद्यवादन हर्षोल्लास का सूचक न होकर संस्कार का अंग बन गया है। यह संस्कार पूरे १३वें खण्ड में व्याप्त है। काठक गृह्यसूत्र में भी इस संस्कार की चर्चा की गयी है।

अन्य गृह्यसूत्रों के साथ भी इसकी समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं।

वा० गृ० सू० १, ३४-३६ = आश्व० गृ० सू० १, १०, २३-२५।

,, ३, १ = आप० गृ० सू० ६, १५, ८।

---

१. डा० रघुवीर, वा० गृ०, सू० भूमिका, पृ० १६।

२. वही, पृ० १७।

खादिर गृह्यसूत्र (२, ३, ९), गोभिल गृ० सू० (२, ९, २१), जैमि० गृ० सू० (१, ११) तथा वा० गृ० सू० (४, २०) सभी चूडाकर्म में शिर:रिग्रहण के समय त्र्यायुषं जमदग्नेः (वा० सं० ३, ६२ ; अथर्व० ५, २८, ७) मन्त्र के जप का विधान है।

अनेक स्थलों पर वाराह० ने मानव गृह्यसूत्र का ही संक्षेप करके रख दिया है, जिसके कारण इसमें अस्पष्टता और दुरूहता आ गयी है, क्योंकि संक्षेप सोच समझ कर किये प्रतीत नहीं होते[1]।

काल :—यद्यपि संस्कारों की समानता तथा सूत्रों की एकता अपने आप में कालगत पौर्वापर्य के निश्चित प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते, तो भी अन्य प्रमाणों की पुष्टि के लिए इनका अपना महत्त्व अवश्य है, और इन अन्य प्रमाणों से मिलकर एक बात स्पष्ट है, कि वा० गृ० सू० का रचनाकाल मानव और काठक गृह्यसूत्रों से अर्वाचीन है। जिन परिशिष्टों को आधार मानकर यह गृह्यसूत्र चलता है, उनमें **गुणविधि, चोदनाविधि, आदेशविधि** प्रभृति मीमांसा के पारिभषिक शब्दों की विशद व्याख्या की गयी है। स्वयं गृह्यसूत्र में मीमांसा और स्मृति के अध्ययन का विधान किया गया है[2]। वाराह श्रौतसूत्र में पतञ्जलि और बादरायण को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया है[3]। जाति-पांति पर भी इसमें अधिक बल दिया गया है और भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न सावित्री-मन्त्रों और कमण्डलुओं के आकार का विधान भी इस विषय में महत्त्वपूर्ण तथ्य है[4]। मधुपर्क में वैकल्पिक गवालम्भ के विधान[5] के कारण डा० शाम शास्त्री ने इसका रचनाकाल प्रथम या द्वितीय शती ईसवी निर्धारित किया है।

वा० गृ० सू० को किसी अन्य आचार्य ने उद्धृत नहीं किया,[6] यह भी कम महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है। अतः निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह अपेक्षाकृत अर्वाचीन गृह्यसूत्र है, और आग्नि० गृ० सू० के समान ही यह भी सूत्रकाल से बाहर की रचना है। इस पर कोई व्याख्या भी अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है।

---

१. सूर्यकान्त, कौथुम गृ० सू० पृ० ५३।

२. वा० गृ० सू० ६, ३२।

३. शाम शास्त्री, वा० गृ० सू० प्रस्तावना, पृ० १।

४. वा० गृ० सू० ५, २६, २८।

५. वा० गृ० सू० ११, २३।

६. डा० रघुवीर, वा० गृ० सू० पृ० २१।

इस पर दो पद्धतियां—एक गंगाधर की, दूसरी वसिष्ठ की—प्रसिद्ध हैं। लेखकों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है।

संस्करण :—(१) डा० आर० शाम शास्त्री द्वारा सम्पादित, गवर्नमेण्ट ओरि० सीरीज, मैसूर, सन् १९२०।

(२) डा० रघुवीर द्वारा सम्पादित, लाहौर, १९३२।

वैखानस गृह्यसूत्र (वैखानस स्मार्तसूत्र)

वैखानस गृह्यसूत्र कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। कहा जाता है, कि तैत्तिरीयों के दो भेद थे—ओखीय और खाण्डिकीय। ओखीयों के श्रौतसूत्र का रचयिता **विखनाः** कहा जाता है। आनन्दसंहिता के अनुसार ओखीयों और वैखानसों की दीक्षा का प्रकार एक ही था[1]। तै० प्रा० (१०, २०; १६, २३) में उख्य संहिता के नियम दिये गये हैं। बौ० गृ० सू० (३, ९, ६) में ऋषि-तर्पण के समय उख का स्मरण किया गया है। पाणिनि (४, ३, १०२) के अनुसार भी उख नामक शाखा-प्रवर्तक आचार्य के शिष्य औखीय कहलाते थे। चरणव्यूहों में वैखानसों के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है।

वैखानस गृह्यसूत्र में प्रतीकेन विनियुक्त मन्त्र 'मन्त्रसंहिता वैखानसीया' से संगृहीत हैं। डा० कैलेण्ड के अनुसार यह मन्त्रसंहिता या तो गृह्य के पश्चात् बनी या गृह्य की समकालिक है[2]। वै० गृ० सू० के व्याख्याकार वेङ्कटेश के अनुसार वैखानस (या विखनस्) किसी औखेय (ओखीय) सूत्र का कर्ता था,[3] किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि यहां सूत्र का आशय केवल श्रौतसूत्र से है या वैखानस के नाम से प्रसिद्ध समस्त सूत्र-समूह से है[4]।

विषय :—इस सूत्र के ७ प्रश्नों तथा १२० खण्डों में प्रतिपादित विषय इस प्रकार हैं—यहां १८ संस्कारों का विवरण दिया गया है, जिन्हें **शारीर** की संज्ञा दी गयी है। ये हैं—निषेक (ऋतुसंगमन), गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, विष्णुबलि, जातकर्म, उत्थान, नामकरण, अन्नप्राशन, प्रवासागमन, पिण्डवर्धन, चौडक, उपनयन, पारायण, व्रतबन्धविसर्ग, उपाकर्म, समावर्तन तथा पाणिग्रहण।

यज्ञ :—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ।

---

१. वै० वाङ्० भाग १, पृ० ३०२।

२. Translation of *Vaikhānasa Smarta Sutram*, Intro. P. XI-XII; ५, ४ पर टि० ४; २, ६, टि० २५; ३, ५, टि० ५।

३. मंगलश्लोक।

४. कैलैण्ड, वही, भूमिका, पृ० ९।

पाक यज्ञ :—स्थालीपाक, आग्रयण, अष्टका, पिण्डपितृयज्ञ, मासिश्राद्ध, चैत्री, आश्वयुजी।

हविर्यज्ञ :—अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमासौ, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य; निरूढ-पशुबन्ध, सौत्रामणी।

सोमयज्ञ :—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम। किन्तु यहां पाक यज्ञों का ही विवरण प्रस्तुत किया गया है।

इन्होंने पञ्चमहायज्ञों को एक ही संस्कार माना है, इस प्रकार कुल ४० संस्कार होते हैं। विष्णु-अर्चना, अन्त्येष्टि तथा प्रायश्चित्तों का विवरण विस्तार-पूर्वक दिया गया है।

स्नान-विधि का प्रतिपादन भी किया गया है, जो पांच प्रकार का कहा गया है—**अभिषेक, दिव्य**, वायव्य, आग्नेय, गुर्वनुज्ञ: (='**मन्त्रस्नान**'—भाष्य)। तदति-रिक्त निम्नोक्त विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

आचमन विधि; ब्रह्मयज्ञ; पुण्याह; अग्न्यायतन; आधार (प्रत्येक होम के आरम्भ में कर्तव्य); नान्दीमुख श्राद्ध (ऋतु-संगमन के सिवा सर्वत्र कर्तव्य); उपनयन; सावित्रव्रतबन्ध ; ब्रह्मचारी के कर्तव्य ; व्रतबन्धविसर्ग; प्राजापत्य व्रतबन्ध; सौम्यव्रतबन्ध; आग्नेयव्रतबन्ध; शुक्रियव्रत; आषाढोपाकर्म; श्रावणोपाकर्म; समावर्तन; प्राणाग्निहोम; विवाह; चतुर्थीवास; स्थालीपाक; वैश्वदेव।

इस सूत्र में विहित कुछ कर्मों की व्याख्या अपेक्षित है, जो इसकी विशेषता को प्रकट करते हैं। ब्रह्मचारी का प्राजापत्यव्रत उसे कहते हैं, जिसमें ब्रह्मचारी स्नातक होने के उपरान्त भी नित्यकर्म और ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ नारायण में लीन रहकर वेदवेदांगों के अर्थों पर विचार करके विवाह करता है। यह व्रत एक वर्ष तक कर्तव्य है।

शुक्रिय व्रत में आरण्यक भाग का अध्ययन करना होता है। **विवाह** की विशेषता यह है कि यहां **नग्निका** (=८, ९ वर्ष की) कन्या से विवाह करने का विधान किया गया है (तु. वै० गृ० सू० ६, १२)। विवाहयज्ञ के पश्चात् सम्पन्न पैशाच विवाह को ब्राह्मण के लिए भी मान्य घोषित किया गया है (६, १२)। इस विषय में एक रोचक बात यह है कि अवैदिक क्रिया-कलाप में स्त्रियों की सम्मति लेने का सूत्रकार ने विधान किया है (३, २१)।

इसी प्रकार जिसने **अग्निष्टोम** आदि वैदिकयज्ञों के लिए जिस नक्षत्र में अग्नि स्थापित की हो, उसे वर्षान्त में उसी नक्षत्र में ही नामकरणार्थ विहित कर्म करना चाहिये। जो व्यक्ति इस प्रकार सौरवर्षानुसार अस्सी वर्ष और आठ मास तक लगातार यज्ञ करता है और सहस्र चन्द्रमा देख लेता है, उस **पुण्यकृत्तम** व्यक्ति को **ब्रह्मशरीर** की संज्ञा दी गयी है (३, २१)।

प्रवासागमन (३, २२)—बच्चे को साथ लेकर पुष्प, अपूप, दक्षिणा आदि सहित पिता **कनिक्रदत्** (ऋग्० २, ४२, १-३; ४३, १-३) आदि **शकुनसूक्त**[1] का जप करता हुआ गुहपूजनार्थ जाता है। देवता पर चढ़ाने के उपरान्त शेष बचे पुष्पादि से बालक को अलङ्कृत करके वापस घर लौटता है, जहां बालक का समन्त्र प्रोक्षण किया जाता है, पिता उसे गोद में लेकर चूमता है और दीर्घायु होने का आशीर्वाद देता है और बालक से देवताओं को प्रणाम कराया जाता है।

पिण्डवर्धन (३, २२)—इसमें बालक को अपने सपिण्ड सम्बन्धियों तथा विद्वान् ब्राह्मणों के साथ मिलकर भोजन कराया जाता है। इस प्रकार की कोई क्रिया अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती।

पिण्डपितृयज्ञ (४, ५-६)—गो० गृ० सू० के अतिरिक्त अन्य सभी सूत्रों में इस कर्म का वर्णन श्रौतसूत्रों में ही किया गया है।

अन्त्येष्टि (५, १-१२)—इस कर्म में **पुनर्दहन** कर्म विशेष ध्यान देने योग्य है। दाहकर्म के अगले दिन अस्थियों को चिता पर ही एकत्र करके दूध और घी से धोकर उनका मानवाकार पुतला बना कर उसकी पुष्प आदि से अर्चना करके पुतले को जला दिया जाता है। इससे कुल का मंगल होता है और दिवंगत आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है (५, ६)। चौथे दिन **अस्थिसञ्चयन** करके (५, ७) सातवें दिन आटे के पुतले की पूजा का विधान है। मरने से दूसरे दिन से लेकर दसवें दिन तक एक समय भोजन, भूमि-शयन, तथा शोक मनाने का आदेश है (५, ७)। माता-पिता के शोक में पुत्र के लिए एक वर्ष पर्यन्त पुराना वस्त्र धारण करने और ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने का विधान है।

यतियों, योगियों और सन्न्यासियों की अन्त्येष्टि-क्रिया (५, ८), आपद्दाह्य (५, ९), बालकों की अन्त्येष्टि (५, १०), अदाह्य वर्णन (५, ११), जिसके अन्तर्गत पापरोग-युक्त, रज्जु-शस्त्र-विष-आत्महत्या द्वारा ब्राह्मण या हीन जाति वाले व्यक्ति के हाथों मारे गये, अग्निदाह, जल में डूबने, सर्पदंशन, हस्ति आदि के द्वारा तथा वज्रपात प्रभृति द्वारा मृत व्यक्ति आते हैं।

आकृति दहन (५, १२)—अन्य सूत्रों में शव के उपलब्ध न हो सकने पर मृत व्यक्ति की शर आदि से आकृति (पुतला) बनाकर दाहकर्म का विधान किया गया है, किन्तु वैखानस गृह्यसूत्र ने इस कर्म को सार्वत्रिक बना दिया है।

छठे और सातवें प्रश्नों में नाना प्रकार के पापों, अपराधों, कर्मगत दोषों से सम्बद्ध विविध प्रायश्चित्तों का सविस्तार वर्णन है।

---

१. ऋग् २, ४२, १-३ ; ४३, १-३ ; द्र० कैलण्ड, वै० स्मार्त सू०, आंग्लानु०, ३, २, टि० ७, पृ० ६८। द्र. प्रयोग, 'कनिक्रदादि शकुनसूक्तं जपन्' (वै० गृ० सू० ३, २ पर)।

इस प्रकार इस गृह्यसूत्र की अपनी विशेषताएं हैं। एक विशेषता यह भी है कि जहां अन्य गृह्यसूत्र श्रौतसूत्रों के बाद लिखे गये हैं, वहां वैखानस गृह्य तथा धर्मसूत्रों की रचना वैखानस श्रौतसूत्र से पूर्वकालिक सिद्ध होती है। इसी कारण **पिण्डपितृयज्ञ** का वर्णन गृह्यभाग में किया गया है, जबकि श्रौतसूत्र में इसका उल्लेख मात्र किया गया है (वै० श्रौ० ३, ६)।

डा० कैलैण्ड का मत है कि भाषा, रचना-शैली और विषय-विन्यास की दृष्टि से वै० गृ० सू० तैत्तिरीय शाखा के अर्वाचीनतम सूत्र-रचना-काल के अन्तर्गत आता है, कई एक स्थलों पर तो इस पर तमिल रचनाशैली का प्रभाव लक्षित होता है[1]। सामाजिक रीतिरिवाजों की दृष्टि से भी इस मत की पुष्टि होती है। इसमें ब्राह्मण के लिए अष्टवर्षीया कन्या ('नग्निका') से विवाह का विधान (तु० ६, १२), पूर्णरूपेण विकसित नारायणीय धर्म (३, १३, ४४=आग्नि० गृ० सू० २, ५, ७), गुह की प्रतिमा का पूजन (३, २२), सभी इसी ओर सङ्केत करते हैं। किन्तु कुछ ऐसे स्थल भी हैं, जो विषय और रचना-शैली की दृष्टि से आश्व०गृ०सू० से भी प्राचीन कहे जा सकते हैं। यथा—विवाह के विविध भेदों का आश्व० गृ० सू० का विवरण, वै०गृ० सू० के विवरण का परिमार्जित और परिष्कृत संस्करण प्रतीत होता है।

कैलैण्ड ने सूत्र में 'ताम्बूल' के प्रयोग (९, १३) तथा यूनानी ग्रहानुक्रम के आधार पर वै० गृ० सू० को चतुर्थ शताब्दी ईसवी से पूर्वकालिक नहीं माना[2]। तो भी इन युक्तियों को कालनिर्णायक तर्क नहीं माना जा सकता[3]। केवल इतना कहा जा सकता है कि यह गृह्यसूत्र अपने वर्तमान रूप में अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन है।

मनुस्मृति (६, २९) ने वानप्रस्थ के आहार का विधान करते हुए वैखानस के मत का उल्लेख किया है, जो वै० गृ० सू० (९, ५) में उपलभ्य है। अन्यत्र भी मनुस्मृति तथा वै० गृ० सू० के वचनों में परस्पर समानता पायी जाती है,[4] जिसके आधार पर वै० गृ० सू० को मनुस्मृति से कुछ ही प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास किया गया है,[5] किन्तु इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि दोनों ने किसी प्राचीनतर वैखानस रचना से सामग्री ग्रहण की हो। अथवा वै०

---

१. वै० गृ० सू०, प्रस्तावना, पृ० १३-१५।

२. वही, पृ० १५-१६।

३. कीथ, बी० एस० ओ० एस०; भाग-४, पृ० ६२४।

४. कैलैण्ड, वही, पृ० १६-१९।

५. वही, पृ० १९।

गृ० सू० मनु द्वारा उल्लिखित किसी प्राचीन कृति का नवीन संस्करण भी हो सकता है[1]। हमारे वै० शास्त्र का उल्लेख प्राचीन शास्त्रों, बौधायन ध० सू० आदि में भी हुआ है, अतः सम्भव है कि बौधायन के समय में वैखानस सन्न्यासियों के विषय में प्रचलित कुछ वचन ऐसे हों, जो परम्परा के माध्यम से वर्तमान वै० गृ० सू० में समाहित हो गये हों, अतः इस विषय में निर्णायक सम्मति देना कठिन है। इतना निश्चित है कि वर्तमान वै० गृ० सू० को सूत्रकाल के अन्तिम कांठे से सम्बद्ध किया जा सकता है। यही बात महादेव ने हिर० श्रौ० सू० की वैजयन्ती व्याख्या में कही है।

व्याख्या :—(१) नृसिंहाग्निचित् के पुत्र माधवाचार्य-विरचित भाष्य, तेलिगु अक्षरों में विद्यमान है (ग० ओर० मै० लाइ०, मद्रास, सूचीपत्र भाग २, खण्ड १, संस्कृत सी, संख्या १६०९, पृ० २२७१)। यह भाष्य स्मार्तसूत्र के प्रथम नौ प्रश्नों पर है। अन्तिम धर्म प्रश्न पर उपलब्ध नहीं हुआ।

(२) इस भाष्य के अतिरिक्त 'प्रयोगवृत्ति' तथा 'दर्पण' नामक दो रचनाएं भी उपलभ्य हैं। इनमें 'दर्पण' व्याख्या के रूप में है। इसके कर्ता का नाम माधवाचार्य का पुत्र नृसिंह वाजपेययाजी है। यह माधवाचार्य उपरिलिखित भाष्यकार ही है। यह व्याख्या सन् १८१५ में कुम्भकोण (धोण) से तेलिगु अक्षरों में प्रकाशित हुई थी।

(३) 'वैखानस गृह्य प्रयोगवृत्ति' का कर्ता सुन्दरराज है। यह भी तेलिगु अक्षरों में उपलभ्य है (ग० ओरि० मै० लाइ०, मद्रास, संख्या १६१०; टेरिनियल कैटालॉग आफ़ मैनस्क्रिप्ट्स, भाग २, खण्ड १, संस्कृत, सी०, पृ० २२७२ पर उल्लिखित)।

(४) जैसा कि हमने देखा है वै०गृ०सू०, गो० गृ० सू० तथा काठ० गृ० सू० के समान ही पृथक् मन्त्र संग्रह को मान कर चलता है, जिसके बिना ग्रन्थ के अर्थों का समझ में आना कठिन है। यह मन्त्र-संहिता भी **वैखानसमन्त्रप्रश्नः सस्वरः प्रश्नचतुष्टयात्मकः** नाम से सन् १९१० में ग्रन्थ अक्षरों में प्रकाशित हो चुकी है। इसका सम्पादन कृष्ण भट्टाचार्य तथा अन्य पण्डितों द्वारा किया गया है। इसका सस्वर पाठ केवल प्रथम चार प्रश्नों तक ही सीमित है, किन्तु मन्त्र गृह्यसूत्र के पांच प्रश्नों के लिए हैं।

---

१. द्र. रामगोपाल वही, पृ० ८० ; तथा द्र. 'वैखानस स्मार्त सूत्र' की समालोचना, H. N. Randle, जे० आर० ए० एस०, १९३३, पृ० ४३२ से।

(५) एक और अधिक विस्तृत 'वैखानसीय मन्त्रसंहिता' के नाम से ग० लाइ० मैसूर, सन् १९०० के संग्रह में पृ० ९, संख्या १३५९, सुरक्षित है। इसमें पञ्चम प्रश्न के २३ अध्याय, षष्ठ प्रश्न के १४ अध्याय, सप्तम प्रश्न के ११ अध्याय तथा अष्टम प्रश्न के २६ अध्याय हैं। ग्रन्थ की समाप्ति की सूचना नहीं दी गयी है।

संस्करण :—'वैखानस स्मार्तसूत्र' का उत्तम संस्करण डा० कैलैण्ड ने सन् १९२७ में कलकत्ता से प्रकाशित किया था। इसका आंग्लानुवाद कैलैण्ड द्वारा ही सन् १९२९ में कलकत्ता से प्रकाशित किया गया है।

चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय

कृष्ण यजुर्वेदियों के द्वादश चरकों की चारायणीय शाखा से सम्बद्ध यह मन्त्रार्षाध्याय उस शाखा के गृह्यकर्मों में प्रयोज्य मन्त्रों का संग्रह है, जो विविध कर्मों में इन मंत्रों का विनियोग प्रस्तुत करता है, तथा उनके ऋषि, देवता और छन्द बताता है। केवल एक ही हस्तलेख पर आधृत होने के कारण अनेक स्थलों पर भ्रष्ट, त्रुटित एवं अपरिष्कृत पाठ होने से प्रस्तुत मुद्रित पुस्तक अधिक लाभदायक नहीं है। काठक-मैत्रायणीय संहिताओं की सहायता से मन्त्र-प्रतीकों का शोधन किया गया है, तो भी अभी बहुत कुछ अपेक्षित है। इस रचना में ४९ स्थानक हैं। अन्त में 'आश्वमेधिकम्' प्रकरण है।

संस्करण :—पं० विश्वबन्धु द्वारा सम्पादित, लाहौर, १९३५।

पारस्कर गृह्यसूत्र

शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध केवल एक पारस्कर गृह्यसूत्र ही प्रसिद्ध है। इसे 'कातीय सूत्र' (जयराम की टीका) और 'वाजसनेय गृह्यसूत्र' भी कहते हैं[1]। परम्परा के अनुसार कात्यायन का ही नाम पारस्कर था। पारस्कर शब्द की व्युत्पत्ति पाणिनि ने एक सूत्र (६, १, ५७) में की है और कीथ का विचार है कि यह पारस्कर हमारा सूत्रकार हो सकता है[2]। किन्तु महाभाष्य और काशिका वृत्ति में 'पारस्कर' को देशवाची शब्द माना गया है। अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पाणिनि ने इस शब्द द्वारा हमारे सूत्रकार का ही स्मरण किया है, तो भी अधिक सम्भावना इसी बात की है, क्योंकि हम और किसी पारस्कर से परिचित नहीं हैं।

---

१. हिल्लेब्राण्ट, रिच्वल्लिट्० पृ० २७।

२. तै० सं०, आंग्लानु०, भूमिका, पृ० १६७।

पारस्कर गृह्यसूत्र के विषय प्रायः वही हैं, जो गृह्यसूत्रों में वर्णित हैं, केवल क्रम तथा व्यवस्था में अन्तर लक्षित होता है। इस गृह्यसूत्र में तीन काण्ड हैं, जो क्रमशः १९, १७ और १५ कण्डिकाओं में विभक्त हैं। इनमें प्रतिपादित विषयों का विवरण इस प्रकार है।

प्रथम काण्ड :—आवसथ्याधान, दारहरण, मधुपर्क, पाकयज्ञ, नैमित्तिक प्रायश्चित्त, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, मेधाजनन, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन।

द्वितीय काण्ड :—चूडाकरण, केशान्त (गोदान), उपनयन, स्नातक-व्रत, पञ्च-महायज्ञ, उपाकर्म, अनध्याय, अध्यायोत्सर्ग, लांगलयोजन, श्रवणाकर्म, इन्द्रयज्ञकर्म, पृषातकाकर्म, सीतायज्ञ।

तृतीय काण्ड :—नवान्नप्राशन कर्म, आग्रहायणी, तीन अष्टकाएं, शालाकर्म, मणिकावधान कर्म, शिरोरोगभेषज, दासवशीकरण-उपाय, शूलगव, वृषोत्सर्ग, उदककर्म (मृत संस्कार), पश्वालम्भ, अवकीर्णि-प्रायश्चित्त (ब्रह्मचर्यभङ्ग-प्रायश्चित्त), सभाप्रवेश, रथारोहण, हस्त्यारोहण, अश्वारोहण, उष्ट्रारासभारोहण, चतुष्पथ-नदी-नौकाद्याभिमन्त्रण।

इन विषयों पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि इस गृह्यसूत्र में श्राद्ध की चर्चा नहीं की गयी। कात्यायन के अष्टादश परिशिष्टों में 'श्राद्धकल्प' भी सम्मिलित है। अतः पारस्कर गृह्यसूत्र में इस प्रकरण का समावेश नहीं किया गया। अपितु कर्काचार्य और गदाधर दीक्षित के भाष्यों से मण्डित श्राद्धसूत्र पृथक् सम्पादित किया गया है। इस पर कृष्णमिश्र-कृत 'श्राद्धकाशिका' भी प्रकाशित हो चुकी है (रचनाकाल १४४८ ई०=१५०५ संवत्)।

इस सूत्र के परिशिष्टों के रूप में कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध एक 'शौच-सूत्र' तथा 'त्रिकण्डिका सूत्र' नामक नित्यस्नानविधि, तथा वापीकूपतडागादि की प्रतिष्ठा से सम्बद्ध विधान भी दिये गये हैं, किन्तु ये सभी परिशिष्ट कात्यायन-प्रणीत नहीं हो सकते।

इस गृह्यसूत्र का शां० गृ० सू० से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनेक स्थलों पर दोनों के सूत्रों में पूर्ण शब्द-साम्य पाया जाता है। शां० गृ० (१, ५, १-५) और पार० गृ० (१, ४ १-५) सूत्र सर्वथा समान हैं। इसी प्रकार पार० गृ० सू० १, ३, २९-३० और शां० गृ० सू० २, ५, २-३ एवं पार० गृ० सू० २, १२, ४ और शां० गृ० सू० ४, ५, १७ सर्वथा समान हैं। इन दोनों गृह्यसूत्रों के परस्पर समानान्तर सूत्रों की संख्या बहुत अधिक है[1]। सम्भवतः ये समान सूत्र किसी

१. द्र. एस० बी० ई० २९, पार० गृ० सू० के आंग्लानु० की टिप्पणियां।

प्राचीन गृह्यसूत्र से ग्रहण किये गये होंगे, जो अब लुप्त हो चुका है[१]। वृषोत्सर्ग के विषय में तो दोनों सूत्रों में आश्चर्यजनक साम्य लक्षित होता है[२]। इस विषय में ओल्डनबर्ग लिखते है—There can be no doubt that Pāraskara here borrowed from a Sūtra text belonging to the Ṛgveda ; a Pratīka, which when referred the Vājasaneya Saṁhitā results in nonsense.[3]

इस सन्दर्भ में प्रतीक **मयो भूः** (शां० गृ० सू० ३, ११, १५; पार०गृ० सू० ३, ९, ७) निश्चय ही ऋग्वेद (१०, ६९, १) की ओर सङ्केत करता है और **वृषोत्सर्ग**-सम्बन्धी शां० गृ० सू० का वर्णन ही पार० गृ० सू० का स्रोत प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त दोनों गृह्यसूत्रों में दो दर्जन से अधिक सूत्र समान हैं, जिनमें शां० गृ० सू० के मन्त्र ही मूल मन्त्र माने जा सकते हैं। यदि हम मधुपर्क-विषयक मन्त्रों पर ही दृष्टिपात करें[४], तो पता चलता है कि पार० गृ० सू० में इन मंत्रों का स्थान उतना उचित तथा युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता जितना कि शां० गृ० सू० में है। ऐसा प्रतीत होता है कि पार० गृ० सू० ने ये तीनों मन्त्र किसी अन्य ग्रन्थ से उठा कर कण्डिका के अन्त में मूल क्रम में ही रख लिए हों। इसी प्रकार शां० गृ० सू० (४, ७) और पा० गृ० सू० (२, ११) की तुलना से पता चलता है कि शां० गृ० सू० के छोटे-छोटे सूत्रों (४, ७, ८; २१-२३; २६; ३१, ३३; ३७; ३८) को मिलाकर पार० गृ० सू० ने एक ही दीर्घाकार सूत्र (२, ११, ६) में समाविष्ट कर लिया है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। अतः इस बात की बहुत सम्भावना है कि पार० गृ० सू० की रचना शां० गृ० सू० के पश्चात् हुई। इस मत की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि पार० गृ० सू० में शां० गृ० सू० से कहीं अधिक जाति-वाद पर बल दिया गया है। हम देख चुके हैं कि शां० गृ० सू० की रचना आश्व० गृ० सू० से कुछ पाश्चात्कालिक है, और फिर पार० गृ० सू० की रचना-शैली आश्व० गृ० सू० की रचना-शैली से अधिक संक्षिप्त है। यद्यपि शैली को काल-निर्णय का आधार मानना सर्वथा संगत नहीं कहा जा सकता, तो भी यह एक सहायक तर्क तो हो ही सकता है। इसलिए पार० गृ० सू० की रचना शां० गृ० सू० से उत्तरकालिक है। कात्यायन श्रौतसूत्र से पा० गृ०सू० का यदि घनिष्ठ सम्बन्ध हो, तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये, क्योंकि दोनों ही वाजसनेयसंहिता से सम्बद्ध हैं। इनके गहरे सम्बन्धों का एक प्रमाण यह भी है कि परम्परा ने पारस्कर और कात्यायन को एक ही व्यक्ति के दो नाम मान लिये

१. ओल्डनबर्ग, एस० बी० ई० ३०, भूमिका, पृ० ३९।

२. पा० गृ० ३, ९; शां० गृ० सू० ३, ११; काठ० गृ० सू० ५९।

३. एस० बी० ई० ३०, भूमिका; पृ० ३८।

४. द्र. शां० गृ० सू० २,१५,२-३; पार० गृ० सू० १,३,२९-३१।

हैं। पार० गृ० सू० ने का० श्रौ० सू० की ओर अनेक बार सङ्केत किया है[1]। इसके अनेक सूत्र का० श्रौ० सू० के सूत्रों के सर्वथा समान हैं, यथा—

पार० गृ० सू० २, १, १०=का० श्रौ० सू० ५, २, १५
" " " २, १५, ५= " " " १८, ४, २३
" " " २, १५, ९= " " " १८, ४, २५
" " " ३, १२, ४= " " " १, १, १६
" " " ३, १२, ५= " " " १, १, १५

अतः यह सुनिश्चित है कि पार० गृ० सू० की रचना का० श्रौ० सू० की रचना से उत्तरवर्ती है। कात्यायन का काल आश्वलायन से उत्तरवर्ती है, क्योंकि बृ० दे० (४, १३९) ने आश्वलायन (आश्व० गृ० २, ६, १८) के मत का स्पष्ट उल्लेख किया है, और बृ० दे० कात्यायन की सर्वानुक्रमणी का मुख्य स्रोत रहा है। कात्यायन का काल ६०० ई० पू० के लगभग आंका गया है। अतः पार० गृ० सू० का काल इससे अनतिदूर पश्चाद्वर्ती मानना उचित है।

पार० गृ० सू० वासिष्ठ धर्म सूत्र से प्राचीन है, क्योंकि वा० ध० सू० (१, १४-१५) और पार०गृ०सू० (१, ४, ८-११) में पर्याप्त साम्य पाया जाता है। और अगले सूत्रों वा० ध० सू० (१, २६-२७) में वसिष्ठ ने पारस्कर (१, ४, ११) के इस मत का तीव्र विरोध किया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का विवाह शूद्र कन्या से भी हो सकता है; चाहे वह बिना मन्त्र के ही क्यों न किया जाये। वा० ध० सू० (१, ३६) में पार० गृ० सू० (१, ८, १८) के इस मत का भी विरोध किया गया है कि अभ्रातृमती कन्या से विवाह करने के लिए वर अपने श्वशुर को एक रथ और एक सौ गौएं देवे।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वा० ध० सू० की रचना पार० गृ० सू० से पश्चात्कालिक है और कि दोनों सूत्रों के अन्तरालवर्ती काल में सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक पर्यावरण में पर्याप्त अन्तर हो गया था। प्राचीन पार० गृ० सू० का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक उदार और व्यापक था, जबकि वा० ध० सू० का अधिक सङ्कुचित और संकीर्ण हो गया था। वा० ध० सू० का रचनाकाल ३००-२०० ई० पू० में माना गया है[2], अतः वा० ध० सू० और पार०गृ०सू० के मध्य अपेक्षित सामाजिक परिवर्तनार्थ कम से कम दो ढाई सौ

---

१. पार० गृ० सू० १, १, ४→का० श्रौ० सू० २, ३, ३३; पार० गृ० सू० १, १८, १→ का० श्रौ० सू० ४,१२, २२; पार गृ० सू० २,५, ४→का० श्रौ० सू० २५,१,१२-१३; पार० गृ० सू० २, १३,५→का० श्रौ० सू० १७,२, १०-१२; पार० गृ० सू० ३, ११, २→का० श्रौ० सू० ६,३, १५।

२. काणे कृत धर्मशास्त्र का इतिहास; हिन्दी, भाग १, पृ० १३।

वर्षों का समय अपेक्षित है। अतः पार० गृ० सू० का रचना-काल ५५०-४५० ई०पू० के लगभग हो सकता है।

व्याख्याएं :—पार०गृ०सू० का महत्त्व और इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसकी एक से एक विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण पांच टीकाएं प्रकाश में आ चुकी हैं—

(१) पारस्कर गृह्यसूत्र पर सर्वप्राचीन व्याख्या भर्तृयज्ञ द्वारा विरचित है। यद्यपि कुछ समय पूर्व तक कर्काचार्य का भाष्य ही सर्वप्राचीन व्याख्यान माना जाता रहा है, किन्तु क्योंकि स्वयं कर्काचार्य ने निर्देश के बिना ही भर्तृयज्ञ के अनेकों विचारों का खुल कर प्रतिवाद किया है, अतः यह सिद्ध है कि कर्क से पूर्व ही भर्तृयज्ञ ने अपने भाष्य की रचना की थी। कर्क द्वारा भर्तृयज्ञ का ही निराकरण अनेक स्थलों पर किया गया है। इसका स्पष्ट प्रमाण हमें गदाधर के भाष्य से प्राप्त होता है, जिसने पारस्कर-भाष्य नामनिर्देश-पूर्वक 'भर्तृयज्ञ-भाष्य' की स्थान स्थान पर पचीस से भी अधिक बार चर्चा की है। दूसरे, रामकृष्ण ने भी पारस्कर की 'संस्कार गणपति' नामक व्याख्या में पांच छह बार भर्तृयज्ञ को उद्धृत किया है। भर्तृयज्ञ की व्याख्या में अनेक स्थलों पर न केवल पारस्कर की शाब्दिक व्याख्या तथा कर्क एवम् उसके पश्चाद्वर्ती व्याख्याकारों की व्याख्याओं से ही भेद पाया जाता है, अपि तु कर्मकाण्डविषयक पद्धति में भी वैमत्य परिलक्षित होता है। यथा, पार० गृ० (२, ३, १) में गायत्र्युपदेश के समय ब्रह्मचारी के स्थान के विषयों में भाष्यकारों में मत-भेद है। यथा—**पश्चादग्नेराचार्यस्योत्तरत उपविशति इति जयरामहरिहरौ। पश्चादग्नेरुपवेशनमिति भर्तृयज्ञकारिकाकारौ। आचार्यस्य इति गर्गपद्धतौ। आचार्यस्योत्तरत इति वासुदेवः**[1]। इसी प्रकार २, ३, ८-९ में विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न छन्दों की गायत्रियों का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु भर्तृयज्ञ ने वा० सं० की ऐसी गायत्रियों का विधान किया है, जो अन्यत्र कहीं प्रतिपादित नहीं हैं। राजन्यार्थ **तां सवितुः** (वा० सं० सू० ७, ७४) तथा वैश्य के लिए **युञ्जते मनः** (वा० सं० ४,१४) का विधान अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा एकदम नवीन सूचना है[2]।

---

१. गदाधर, पार० गृ० सू० २, ३, १।

२. विस्तरार्थ द्र. बलदेव उपाध्याय-रचित लेख "भर्तृयज्ञ……" इ० हि० क्वा०, १२, ३, पृ० ४९४-५०३।

भास्करमिश्र या त्रिकाण्डमण्डन (१२वीं शती का मध्य) ने भी भर्तृयज्ञ का उल्लेख किया है। मेधातिथि (नवीं शती का मध्य) ने मनु० ८, ३ पर इनका उल्लेख किया है। अतः यह अष्टम शती या इस से पूर्वकालिक माने जाने चाहियें[1]। अनन्तदेवयाज्ञिक के अनुसार इन्होंने का० श्रौ० सू० पर भी भाष्य लिखा था[2]।

(२) कर्काचार्य की व्याख्या संक्षेप किन्तु स्पष्टता के कारण विख्यात है। कर्क के मत का हेमाद्रि ने स्वरचित **श्राद्धनिर्णय** में खण्डन किया है। हेमाद्रि का काल १२५० ई० आंका गया है। त्रिकाण्ड-मण्डन ने भी कर्काचार्य को स्वरचित **आपस्तम्ब-ध्वनितार्थ-कारिका** में उद्धृत किया है। त्रिकाण्डमण्डन का काल ११५० ई० है। अतः कर्क का स्थिति-समय ग्यारहवीं शती का अन्त अथवा बाहरवीं का प्रारम्भ हो सकता है।

(३) हरिहर कृत व्याख्या **पद्धति** की शैली पर लिखी गयी है, जिसमें गृह्यकर्मकाण्ड की विशद व्याख्या की गयी है। इसमें इन्होंने प्राचीन धर्मशास्त्रियों, यथा—मनु, याज्ञवल्क्य, यम, अङ्गिराः, सुमन्तु, लौगाक्षि प्रभृति के मतों को उद्धृत किया है। इन्होंने मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर (सन् ११५० ई०) के मत को भी उद्धृत किया है। हेमाद्रि (१२५० ई०) ने स्वरचित **श्राद्धनिर्णय** में हरिहर को उद्धृत किया है। अतः हरिहर का काल १२०० ई० के आसपास मानना चाहिये।

(४) जयराम ने 'सज्जनवल्लभ' नामक भाष्य लिखा है, जिसमें मन्त्रों की व्याख्या पर अधिक बल दिया गया है, सूत्रों की व्याख्या या पद्धति पर नहीं। इन्होंने पाठ-संशोधन पर भी बड़ा परिश्रम किया है। मेवाड़वासी यह विद्वान् दामोदर भारद्वाज के पौत्र और बलभद्र के पुत्र थे।

(५) गदाधर का 'गृह्यभाष्य' भी प्राचीन आचार्यों—यथा—भर्तृयज्ञ, वासुदेव, गङ्गाधर, रेणु दीक्षित तथा हरिहर— के मतों को उद्धृत करता है। इन्होंने हरिहर का खण्डन भी किया है और मण्डन भी। एवं प्राचीन आचार्यों—मनु, हारीत, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, पराशर, वृद्धशातातप, हेमाद्रि प्रभृति को उद्धृत किया

---

१. आप० ध्वनितार्थकारिका १, ४१।

२. का० श्रौ० सू० भाष्य, भूमिका, बलदेव० द्वारा उद्धृत, वही, पृ० ५०२।

गया है। इनके अतिरिक्त गदाधर ने रेणुक तथा वासुदेव को भी व्याख्याकारों के रूप में अनेकत्र उद्धृत किया है। अतः इनका काल १२५० ई० के पश्चात् सम्भवतः चौदहवीं शती में रखा जा सकता है। इनके भाष्य में ज्योतिष-सम्बन्धी विषयों की विशद व्याख्या की गयी है। इन पर भर्तृयज्ञ और जयराम के भाष्यों का अधिक प्रभाव लक्षित होता है। इनके पिता का नाम वामन दीक्षित था।

(६) **विश्वनाथ**-रचित 'गृह्यसूत्र प्रकाशिका' भी विशद व्याख्या है। इसके अन्तिम भाग के लुप्त हो जाने के कारण अन्तिम पांच खण्डों की व्याख्या इनके पितृव्य अनन्त के प्रपौत्र लक्ष्मीधर ने १६३५ ई० में पुनः लिखी, अतः इनका काल सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में हो सकता है। यह काश्यप गोत्र के गुजराती नागर ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नरसिंह और माता का गङ्गादेवी था।

संस्करण—(१) जर्मन अनुवाद सहित-स्टैंज़लर ए० एफ०, १८७६-७८
(२) एस० बी० ई० (२९), आंग्लानुवाद, ओल्डनबर्ग, १८८६
(३) हरिहर व्याख्या सहित—बनारस, १८८८
(४) ,, ,, लाधाराम शर्मा, बम्बई, १८८९
(५) पांच व्याख्याओं सहित, महादेव गङ्गाधर बक्रे, १९१७
(६) पाँच भाष्यों सहित, गुजराती प्रेस, बम्बई, १९१७
(७) श्राद्ध शौचादि कल्पसहित, गोपाल शास्त्री, बनारस, १९२०
(८) पांच भाष्यों सहित, गोपाल शास्त्री नेने, बनारस, १९२५
(९) ,, ,, ,, वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९२७

बैजवाप गृह्यसूत्र

यद्यपि इस नाम का गृह्यसूत्र आजकल उपलब्ध नहीं है, तो भी शौनक-कृत चरणव्यूह द्वारा निर्दिष्ट शुक्ल यजुर्वेद की १५ शाखाओं में 'बैजवाप' शाखा का उल्लेख किया गया है। बैजवापायन नामक एक आचार्य का निर्देश बृहदारण्यकोपनिषद् में भी किया गया है[1]। **बैजवापयः** का उल्लेख मैत्रायणीय संहिता में किया गया है[2]। तथा बीजवापिन् पाणिनि के गणपाठ में निर्दिष्ट है[3]। बैजवाप-

१. बृ० आर० उप० २, ६, २।
२. मै० सं० १, ४, ७।
३. पा० ४, २, ८० का सुतंगमादिगण। ४, ३, १३१, तथा ५, ३, ११६ में बैजवापि।

कल्प का उल्लेख कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक[1] में किया है। बैजवाप श्रौतसूत्र को आचार्य पितृभूति ने उद्धृत किया है[2]—**एवञ्च बैजवापिनाचार्येण सूत्रितं, न सावित्रमाह इति।** तथा—**बैजवापेन तु सर्वाग्नीनां समारोहणं सूत्रितम्**[3]। कर्क ने उन्हें उद्धृत करके उनका खण्डन किया है[4]। बैजवाप को भट्ट गोपीनाथ ने भी सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है[5]।

बैजवाप संप्रदाय का क्षेत्र नारायण सरोवर (कच्छ-भुज) था। बैजवाप के गृह्यभाग को अनेकों आचार्यों ने उद्धृत किया है। यथा—हारलता (बाहरवीं शती), अपरार्क (१२वीं शती), स्मृतिचन्द्रिका (१२वीं शती), चतुर्वर्गचिन्तामणि (१३वीं शती) प्रभृति। इस प्रकार हम देखते हैं कि बैजवाप सम्प्रदाय बहुत प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाव रहा है।

इन सूचनाओं से पता चलता है कि इस गृह्यसूत्र में गर्भाधान में "श्वेतपुष्पा" को पानी में पीस कर नस्य देने का विधान है।

संस्करण :—पं० भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित, ओ० ए० आई० ओ० सी० चतुर्थ पृ० ५९ से—।

---

१. तन्त्र० वा० १, ३, १०।

२. का० श्रौ० सू० ८, ३।

३. का० श्रौ० सू० ९, २०।

४. का० श्रौ० सू० ८, ८१।

५. सत्या० श्रौ० सू० १०, १; पृ० १००६, पंक्ति ७, पूना संस्करण।

सप्तदश अध्याय

सामवेदीय गृह्यसूत्र

गोभिल गृह्यसूत्र

गोभिल गृह्यसूत्र सामवेद की कौथुमी शाखा का गृह्यसूत्र माना जाता है, किन्तु हेमाद्रि ने इसे राणायनीय शाखा का अनुयायी लिखा है[1]। ताण्ड्य-शाखा भी कौथुमों का ही एक भेद है। इसके चार प्रपाठक हैं, जिनमें विषयों का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

प्रथम प्रपाठक :—अग्न्याधान, वैश्वदेवबलि, दर्शपूर्णमास, महादेव्यसाम।

द्वितीय प्रपाठक :—विवाह, चतुर्थी कर्म, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तकरण, सोष्यन्ती-होम, जातकर्म, मेधाजनन, निष्क्रमण नामधेय, पौष्टिककर्म, मूर्धाभिघ्राण, चूडाकरण, उपनयन।

तृतीय प्रपाठक :—समावर्तन, गोदान, ब्रह्मचारिकृत्यवर्णन, महानाम्नीसाम, उपाकर्म, अनध्याय, अद्भुतविधि, स्नातकविधि, समावृत्तिविधि, श्रवणा-कर्म, आश्वयुजी, नवयज्ञकर्म, आग्रयणीकर्म, अष्टका (अपूपाष्टका)।

चतुर्थ प्रपाठक :—अन्वष्टक्य कर्म, पिण्डपितृयज्ञ, शाकाष्टका, वपाहोमं, ऋणहोम, हलाभियोग, ब्रह्मवर्चसादि काम्यकर्म, वास्तुनिर्माण, प्रसादकाम-कर्म, यश आदि के लिए कुछ काम्य कर्म, विषदोषनाश-काम्यकर्म, मधुपर्क, वद्धगोमोचनविधि।

इस विषय-तालिका से यह तथ्य प्रकट होता है कि वर्तमान गो० गृ० सू० अपेक्षाकृत नवीन रचना है, क्योंकि इसमें इस प्रकार के काम्य कर्मों का सयावेश किया गया है, जिनका गृह्यकर्मों से कोई महत्त्वपूर्ण सम्वन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता और जिनका उल्लेख प्रधान गृह्यसूत्रों में नहीं किया गया। विवाह के सात प्रमुख कृत्यों में जहां आश्व० गृ० सू० में २१ मन्त्रों का विनियोग किया गया है,

---

१. श्राद्धकल्प, पृ० १४२४, पृ० १४६०, पृ० १४६८; (द्र. भगवद्दत्त, वै० वाङ्०, पृ० ३२२-३२३)।

वहां गो० गृ० सू० में ५५ मन्त्रों को विनियुक्त करके तथा संस्कार में तनिक अधिक विस्तार करके अपने उत्तरकालिक होने का सङ्केत किया है।

इस गृह्यसूत्र की विशेषता यह है कि इसमें विहित कर्मों में विनियुक्त मन्त्र सामवेदसंहिता के अतिरिक्त एक 'मन्त्रब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध मन्त्र-संग्रह से लिये गये हैं। विनियुक्त ५५ मन्त्रों में से केवल एक मन्त्र सामवेदसंहिता में उपलभ्य है। ४८ मन्त्र 'मन्त्रब्राह्मण' में विद्यमान हैं। गो० गृ० सू० इन मन्त्रों के प्रतीकों को उसी प्रकार उद्धृत करता है जैसे सूत्रों में अपनी संहिता के मन्त्रों को उद्धृत करने की परम्परा पायी जाती है। जो मन्त्र इस संग्रह में नहीं पाये जाते, उन्हें सकलपाठ में उद्धृत किया गया है।

डा० ओल्डनबर्ग के मतानुसार, 'मन्त्रब्राह्मण' संग्रह तथा गो० गृ० सू० दोनों रचनाएं एक साथ एक ही योजना के अन्तर्गत लिखी गयी हैं। छोटे मन्त्रों को तो गृह्यसूत्र में सकलपाठ में पढ़ दिया गया, किन्तु दीर्घाकार मन्त्रों का इस कारण पृथक् संग्रह बना दिया गया कि सूत्र-विहित कर्म-विधान में बाधा न पड़े[1]। अनेक स्थलों पर 'मन्त्रब्राह्मण' और गृह्यसूत्र में परस्पर सामञ्जस्य के अभाव के विषय में प्राध्यापक महोदय का समाधान यह है कि विषय-विभाजन और मन्त्र-विधान में लापरवाही और अनवधान के कारण कुछ भूलें हो गयीं हैं[2]। किन्तु जब हम देखते हैं कि ३३ ऐसे छोटे मन्त्र "मन्त्रब्राह्मण" में विद्यमान हैं, जिनमें से २८ को गृह्यसूत्र में सकलपाठ में पढ़ा गया है और पांच को प्रतीक रूप में, तो प्राध्यापक महोदय का तर्क ध्वस्त हो जाता है। यदि दोनों रचनाओं का कर्ता एक ही व्यक्ति होता, तो ओल्डनवर्ग की कल्पना के अनुसार **को नामासि, असौ नामास्मि** जैसे ह्रस्वकाय मन्त्रों का 'मन्त्रब्राह्मण' में निश्चय ही कोई स्थान नहीं हो सकता था। किन्तु न केवल 'मन्त्र-ब्राह्मण' में अपितु आप० मन्त्रपाठ[3] में भी ये मन्त्र दिये गये हैं। इस विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि गृह्यसूत्रों में दिये गये सभी मन्त्र ह्रस्वाकार ही हैं, और न ही यह कि इन मन्त्र-संग्रहों में ह्रस्वाकार मन्त्रों का सर्वथा अभाव है[4]। अतः यही मन्तव्य युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि 'मन्त्रब्राह्मण' गो० गृ० सू० से पूर्व ही विद्यमान था[5] और कि गो० गृ० सू० की रचना उसके आधार पर की गयी है।

---

१. एस० बी० ई० ३०, पृ० ७।

२. वही, पृ० ८।

३. आप० मन्त्रपाठ २, ३, २७-३०।

४. द्र. विण्टरनिट्स्, आप० मन्त्रपाठ, भूमिका पृ० ३५।

५. डा० क्नावर (Knauer), गो. गृ० सु० का जर्मन अनुवाद, भूमिका, पृ० २४; ३१।

गो०गृ०सू० का ही संक्षिप्त संस्करण खादिर गृह्य सूत्र है। यह इस तथ्य को स्वीकार करता है कि अनेक स्थलों पर 'मन्त्रब्राह्मण' के मन्त्रपाठ के क्रम के कारण कर्मों की व्याख्या में भी व्यत्यास करना पड़ता है[१]। अतः 'मन्त्रब्राह्मण' के अनुरूप ही गो० गृ० सू० की रचना की गयी है। केवल एक स्थल में 'मन्त्रब्राह्मण' और गो० गृ० सू० में विरोध लक्षित होता है। म० ब्रा० (२, ५, १-७) में यद्यपि सात मन्त्र विहित हैं, तो भी गो० गृ० सू० (४, ६, ५-६) में छह मन्त्र ही गिनाये गये हैं।[२]

गो०गृ०सू० में विषय का प्रतिपादन विस्तारपूर्ण और सुव्यवस्थित ढंग से किया गया है और इसकी रचना-शैली स्पष्ट और तर्क-वितर्क पूर्ण है।[३] अतः यह सूत्र-रचना के आरम्भिक काल की कृति मानी जाती है। किन्तु सूर्यकान्त के मतानुसार मूल कौथुम गृह्यसूत्र और जैमिनीय गृह्यसूत्र दोनों ही गो० गृ० सू० से प्राचीन हैं। किन्तु खादिर (द्राह्यायण ?) तथा वर्तमान कौथुम गृह्यसूत्र इससे अर्वाचीन है, क्योंकि जैमिनीय गृह्यसूत्र में मन्त्रों और कर्म-कलाप को मिलाकर एकत्र पढ़ा गया है, और मन्त्रों में भी अधिकतर सकलपाठ में पठित हैं। अतः स्पष्ट है कि जै० गृ० सू० के सम्मुख 'मन्त्रब्राह्मण' जैसी कोई रचना नहीं रही होगी, अपितु उसे लोक-प्रचलित गृह्यकर्म-सम्बन्धी साहित्य का आश्रय लेना पड़ा होगा[४]। गो० गृ० सू० के अपेक्षाकृत अर्वाचीन होने का एक प्रमाण यह भी है कि मधुपर्क के समय बद्ध गौ की मुक्ति का अवैकल्पिक विधान किया गया है[५], किन्तु यज्ञ में गवालम्भ को आवश्यक माना गया है[६]। इस महत्त्वपूर्ण सूत्र का भी नाम 'स्मृतिमुक्ताफल' के कर्ता वैद्यनाथ दीक्षित ने सामगृह्य रचनाओं में नहीं गिनाया। यह विचित्र बात है।

व्याख्याएं—(१) एम० चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार कृत व्याख्या, कलकत्ता, १८७१-७९।

---

१. द्र. खा० गृ० सू० १, ३, ३-४।

२. ओल्डनबर्ग, एस० बी० ई० ३०, भूमिका (गो० गृ० सू० पृ० ११); यहां ओल्डनबर्ग का यह कथन असत्य है कि उपनयन में मन्त्र ब्रा० १,६, १४ में विहित **'अगन्त्रा समगन्महि'** का विनियोग गो० गृ० सू० में नहीं किया गया। गो० गृ० सू० (२,१०,२०) में शिष्य को देखते हुए आचार्य के लिए इस मन्त्र के जप का विधान है—**'प्रेक्षमाणो जपत्यगन्त्रा समगन्महि इति'**।

३. द्र. गो० गृ० सू० १,६, १-३।

४. कौथुम गृह्यसूत्र, भूमिका, पृ० ४०-४१।

५. गो० गृ० सू० ४, १०, १८।

६. वही. ४, २०, २०।

(२) एफ० क्नाबर, जर्मन अनुवादसहित, २ भाग, दोरेपत से प्रकाशित १८८४, ८६।

(३) एच० ओल्डनबर्ग कृत आंग्लानुवाद, एस० बी० ई०, ३०, ऑक्सफोर्ड, १८९२।

(४) एक आधुनिक 'व्याख्यान' सत्यव्रत सामश्रमी ने भी लिखा है, जिसे हिन्दी अनुवाद सहित डा० उदय नारायणसिंह ने मुजफ्फरपुर के अन्तर्गत मधुरपुर नामक स्थान से प्रकाशित कराया है (१९०६-८; द्वि० सं० १९३४)।

(५) भट्टनारायण की व्याख्या अत्यन्त विस्तृत तथा विशाल है। इनके पूर्वज श्रावस्ती से बंग देश में जा बसे थे। इनका गोत्र वत्स था और यह व्यास के प्रपौत्र, रामदेव के पौत्र, महाबल के पुत्र थे। इन्होंने इस व्याख्या (भाष्य) में अनेक ग्रन्थों और निबन्धों की सहायता ली थी। इन्होंने प्राचीन टीकाकारों वल्गुसोम[1] तथा अजातशत्रु[2] का उल्लेख किया है तथा ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मसिद्धान्त तथा खण्डखाद्य नामक दो रचनाओं का भी उल्लेख किया है। ब्रह्मगुप्त का काल ५५० शक संवत् (६२८ ई०) है, जबकि ब्रह्म-सिद्धान्त की रचना की गयी थी[3]। अतः भट्टनारायण का काल ६५० ई० के उत्तरवर्ती निश्चित है। इनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं हैं। यह टीका चिन्तामणि भट्टाचार्य ने कलकत्ता संस्कृत ग्रन्थ-माला में १९३६ में प्रकाशित की।

(६) मुकुन्द झा बख्शी कृत 'मृदुला', बनारस, १९३६

कौथुम गृह्यसूत्र

'गोभिल-गृह्यकर्म-प्रकाशिका' में सामवेदीय कौथुमीय शाखा के अनुयायियों के लिए ५२ ग्रन्थों के अध्ययन का विधान किया गया है, किन्तु इसमें कौथुम गृह्यसूत्र का उल्लेख नहीं है। तो भी हाल में ही 'कौथुमगृह्यसूत्र' नामक एक ग्रन्थ प्रकाश में आया है, जो गोभिल गृह्यसूत्र से बहुत भिन्न है[4]। किन्तु प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ मूल कौथुम गृह्यसूत्र न होकर उसके आधार पर रचित उसी का संक्षिप्त संस्करण है, क्योंकि एक ओर तो यह कौथुम गृह्यसूत्र के मार्ग पर चलने का

---

१. कलकत्ता सं०, पृ० ३४०।

२. वही, पृ० ३८५।

३. भारतीय ज्योतिष, बालकृष्ण दीक्षित, हिन्दी अनु० झाड़खण्डी-कृत, पृ० ३००।

४. सूर्यकान्त, कौथुम गृह्यसूत्र, भूमिका, पृ० २-९; बी० आई० १९५५।

दावा करता है[1], दूसरी ओर अनेक स्थलों पर इसके विधान अधूरे और पाठ त्रुटित हैं। यथा—**तत्र विशेषस्तु वरदानप्रयोग उच्यते** (५, १५)। किन्तु यह विशेष कहीं भी नहीं कहा गया है। **त्रिश्वेतया शलल्या तण्डुलान्** तिलमिश्रान् (१२, ९)। यह पाठ अधूरा है। प्रायः सभी गृह्यसूत्रों में **सीमन्तोन्नयन** में मांग काढ़ने के लिये किसी न किसी साधनभूतपदार्थ का विधान किया गया है, जो इसमें नहीं मिलता। गो० गृ० सू० में पूरा पाठ इस प्रकार है—**त्रिश्वेतया शलल्या यास्ते राके सुमतय इति** (२,७, ८)। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी उपलभ्य हैं[2]। इसी प्रकार अनेक गृह्यकर्मों का विधान गो०गृ०सू० में क्रमबद्ध और पूर्ण है, किन्तु कौथुमसूत्र में अस्पष्ट और अधूरे विधान पाये जाते हैं। गो०गृ०सू० में चूड़ाकर्म में आठ मन्त्रों का विनियोग किया गया है, किन्तु कौथुम में एक भी मन्त्र का विनियोग नहीं है। सर्वाधिक महत्त्पूर्ण बात **विवाहकर्म** जैसे महत्त्वपूर्ण संस्कार का कौथुम सूत्र में सर्वथा अभाव है। अन्य गृह्यसूत्रों में भी इस प्रकार की त्रुटियां पायी जाती हैं। स्वयं गो०गृ०सू० में **अन्न-प्राशन** तथा **कर्ण-वेध** जैसे संस्कारों की चर्चा नहीं की गयी। ऐसी अवस्थाओं में अपने वेद की अन्य शाखाओं से संस्कार ग्रहण कर लिये जाते हैं। और यदि किसी संस्कार के विषय में अपनी संहिता में विवेचन नहीं भी किया गया हो, तो अन्य संहिताओं से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों से भी संस्कार कराये जा सकते हैं। यह सब होते हुए भी वर्तमान कौथुमसूत्र इतना अधिक दूषित एवं त्रुटिपूर्ण है कि इसे गृह्यसूत्र का नाम देना भी भूल है।

जहां तक गो० गृ० सू० तथा कौ० गृ० सू० के क्रिया-कलापों में भेद का सम्बन्ध है, यह स्थान-भेद के कारण भी हो सकता है। आश्व० गृ० सू० में कहा भी है—

अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च, तान् विवाहे प्रतीयात्[3]

अर्थात् जनपदों तथा ग्रामों के विविध धर्मों को विवाह में मानना चाहिये।

गो०गृ०सू० पूर्वीय भारत में प्रचलित है, तो कौथुम का क्षेत्र दक्षिण भारत है। पूर्वीय कौथुमशाखीयों ने रीति-रिवाजों में भेदों को देखते हुए अपना गृह्यसूत्र

---

१. **कुथुमस्य मतादित्युक्त्या कौथुमः कुथुमस्य मार्गमाचरति** (५, १६)।

२. द्र. सूर्यकान्त, वही, पृ० ५-६।

३. आश्व० गृ० सू० १, ७, १; आप० गृ० सू० १, २, ५।

पृथक् बना लिया। अपनी व्यवस्थित रूपरेखा तथा विषय-विवेचन के कारण ही गो०गृ०सू० ने मूल कौथुम गृह्यसूत्र को अपने प्रदेश से उच्छिन्न कर दिया[1]।

इस गृह्यसूत्र में प्रतिपादित विषयों का ब्योरेवार वर्णन इस प्रकार है:—

मुद्रित ग्रन्थ में सूत्रों जैसी कोई वस्तु नहीं है। यहां तो २१ कण्डिकाओं में (कण्डिका शब्द का प्रयोग भी नहीं किया गया) विविध विषयों से सम्बद्ध वाक्यात्मक निर्देश दिये गये है।

प्रायश्चित्तों का विवरण, साठ प्रायश्चित्तीय देवता, द्विभार्याग्निसंयोग, अर्क-कन्यादान, ऋतुकालप्रोक्षण, **नियोग** (?), गर्भसंस्कार,तृतीयमास में उदर संस्कार, पुंसवन, पत्नी की दक्षिणनासिका में ओषधि-रसनिष्पीडन, चतुर्थमास में सीमन्तोन्नयन, सोष्यन्तीहोम, बच्चे का सिर निकलते ही नक्षत्र के अनुसार नामकरण, जातकर्म, दस दिन पश्चात् बालक द्वारा चन्द्रदर्शन, नामकरण, चन्द्रोपस्थान, षष्ठ मास में अन्नप्राशन, तृतीय वर्ष में चौलकर्म, अष्टम से दशम वर्ष के मध्य (वर्णानुसार) ब्रह्मचर्यव्रत, गोदान, ब्रह्मचर्यव्रतभङ्ग करने पर प्रायश्चित्त, सायं प्रातः उपासनविधि, पुनर्ब्रह्मचर्यविधि।

इस सूत्र में **नियोग** की ओर तनिक सा सङ्केत माना गया है[2] जो हमारी समझ में ठीक नहीं है।

अर्ककन्यादान भी इस सूत्र की विशेषता है, जो बौ० गृ० शेष-सूत्र के अतिरिक्त किसी अन्य गृह्यसूत्र में नहीं पाया जाता। इस अर्क-विवाह के द्वारा ब्राह्मण के तृतीय विवाह-जन्य कुप्रभावों की अभीष्ट निवृत्ति होती है। बौ० गृह्यशेषसूत्र बौ० गृह्यसूत्र से बहुत अर्वाचीन नहीं हो सकता। अतः यह प्रथा पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होती है।

दूसरे, इस कौथुम गृह्यसूत्र में अनेक प्रकार की व्याकरण-विषयक त्रुटियां दृष्टिगोचर होती हैं, जो अवश्य ही बौद्ध संस्कृत का प्रभाव सूचित करती हैं। यथा **निरीक्ष्यमाणोल्लेखनम्(-माणः उल्लेखः)।**

ततो कामजः (ततः कामजः)।
प्राक्शिरोर्ध्वमुखीम् (-शिराः ऊर्ध्वमुखीम्)।
माणवको उपविश्य (-क उपविश्य)।

---

१. सूर्यकान्त, वही, पृ० ८-९।

२. सूर्यकान्त, वही, पृ० २, ९; वहां पाठ यह है—**'पतिरलभ्यश्चेदन्यपुरुषो न ('अन्यपुरुषेण'**—सूर्यकान्त द्वारा कल्पित पाठ) **कर्तव्यं स्यात्** (कौथुम गृह्यसूत्र पृ० १३, पंक्ति **२**।

अत: यदि यह रचना मूल कौथुमगृह्यसूत्र के अनुसार ही लिखी गयी है तो सामवेदीय गृह्यसूत्रों में कौथुमगृह्यसूत्र सबसे अधिक अर्वाचीन रचना है[1]। किन्तु इसके सूत्रकालीन होने में ही हमें बहुत सन्देह है, क्योंकि इसकी रचना-शैली पद्धति जैसी है। भाषागत दोष लेखक के अज्ञान और प्रमाद से जन्य हैं।

संस्करण :—डा० सूर्यकान्त-सम्पादित, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता से १९५५ ई० में प्रकाशित।

खादिर गृह्यसूत्र

सामवेद की द्राह्यायण शाखा का गृह्यसूत्र 'खादिर गृह्यसूत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु कई हस्तलेखों में इसे शार्दूल शाखा का गृह्य माना गया है। हेमाद्रि ने भी इसे शार्दूल शाखीय सूत्र ही कहा है[2] 'द्राह्यायण गृह्यवृत्ति' के नाम से भी इसी गृह्यसूत्र का प्रकाशन आनन्दाश्रम, पूना, से हुआ है। गौतम गृह्यसूत्र के नाम से भी कई उद्धरण यहीं के हैं[3]। यह सूत्र गोभिल गृह्यसूत्र पर पूर्णरूपेण आधृत है, जो कौथुम शाखा का ग्रन्थ है। अत: यद्यपि हमें खादिर गृह्यसूत्र में किसी प्रकार की नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती, तो भी इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक पश्चात्कालिक सूत्रकार पूर्ववर्ती सूत्रकार की वृत्ति को किस दक्षता से नूतन कलेवर प्रदान कर सकता है[4]।

गोभिल गृह्यसूत्र के समान यह सूत्र मन्त्रों को सकल-पाठ में कदाचित् ही उद्धृत करता हैं और इन मन्त्रों को हम 'मन्त्रब्राह्मण' में सरलता से खोज सकते हैं, जिसमें गोभिल गृह्यसूत्र के प्रतिपाद्य गृह्यकर्मों से सम्बद्ध मन्त्र संगृहीत हैं। खादिर गृह्यसूत्र, संक्षिप्त संस्करण होने के कारण गो० गृ० सू० में विवृत विषयान्तरों को स्पर्श नहीं करता। यथा गो० गृ० सू० द्वारा की गयी पौर्णमासी और अमावस्या की व्याख्या (१, ५, ७ से), अथवा **शक्वर्यों** (३, ३) एवं श्लोकों (५, ७) की व्याख्याओं को अछूता छोड़ देता है। और किसी भी कर्म के विवरण में केवल प्रधान-प्रधान विषयों को ही प्रस्तुत करता है, गौण विषयों तथा अनावश्यक विस्तार का परित्याग कर देता है। किन्तु अनेक स्थलों पर सूत्रव्यवस्था में अधिक सौष्ठव लाने के प्रयास में वह सूत्रक्रम के परिवर्तन में बड़ी सूझबूझ का परिचय देता

१. सूर्यकान्त, वही, पृ० ४१।

२. भगवद्दत्त, वै० वाङ्०, भाग १, पृ० ३१९, हेमाद्रि, श्राद्धकल्प, पृ० १०७८।

३. द्र. गृह्यरत्न, 'कण्ठाभूषण' टीका सहित, मैसूर सन् १८८१।

४. ओल्डनबर्ग, एस० बी० ई०, २९, पृ० ३७२।

है। बहुत से ऐसे सूत्र, जो गोभिल में उपलभ्य नहीं हैं, लाटचायन (द्राह्यायण) श्रोतसूत्र में उपलब्ध हो जाते हैं। (खा० गृ०सू० १, १, १४=लाटचायन श्रौ० सू० १, १, ३; खादिर गृ० सू० १, १, २४=ला० श्रौ० सू० १, २, १५)।

इस सूत्र की संक्षिप्त रचना-शैली सिद्ध करती है कि यह अत्यन्त उत्तरवर्ती सूत्रकाल की रचना है, जबकि सूत्रशैली का पर्याप्त विकास हो चुका था। इसमें न केवल सर्वप्रचलित क्रिया-कलापों का ही उल्लेख नहीं किया गया, अपितु विहित कर्मों में मन्त्रों तक को उड़ा दिया गया है। यथा—विवाह-प्रकरण में से न केवल सर्वविदित **कन्या-परीक्षण** को निकाल दिया गया है अपितु **ध्रुवदर्शन** के समय विनियुक्त **ध्रुवमसि** और **रुद्धाहमस्म्येवमेव** इन दोनों मन्त्रों को हटा कर केवल एक मन्त्र **ध्रुवा द्यौः** को ही रखा गया है[1]। इस प्रकार संक्षेप करते समय कर्ता ने मूल गोभिल सूत्र के सौष्ठव और प्रवाह को हानि पहुंचा कर अनेक स्थलों पर अपनी कृति को अस्पष्ट और दुरूह कर दिया है[2]। किन्तु संक्षिप्त शैली ने गो० गृ० सू० के अनावश्यक विस्तार का परित्याग करके कहीं-कहीं सूत्ररचना में उत्कर्ष भी ला दिया है।

इस गृह्य में स्पष्ट कह दिया गया है कि इसके कर्म-क्रम को मन्त्रब्राह्मण के अनुकूल रखा गया है।

तयोराप्लवनं पूर्वम्। मन्त्राभिवादात्तु पाणिग्रहणस्य पूर्वं व्याख्यानम् (१, ३, ३-४)। अन्यत्र भी 'मन्त्रब्राह्मण' की ओर सङ्केत किया गया है। **स्वयं वा मन्त्राभिवादात्** (३, १, १०)। साथ ही सूत्रकार यह भी मानता है कि अनेक स्थलों पर मन्त्रपाठानुसारी क्रम के कारण कर्म की व्याख्या में व्यत्यास भी करना पड़ता है[3]। प्रतीत होता है इसी सूत्र को 'छन्दोगगृह्य' भी कहते थे[4]।

विषय :—इस सूत्र के चार पटल हैं जिनके विषय इस प्रकार हैं :—

पटल (१) :—सामान्य नियम, पाकयज्ञ, विवाह, गर्भाधान, औपासनहोम, वैश्वदेवबलि।

---

१. द्र. सूर्यकान्त, कौथुम गृह्यसूत्र, भूमिका पृ० ३७-३८।

२. वही, पृ० ३९-४०।

३. खा० गृ० सू० १, ३, ३-४।

४. चिन्तामणि भट्टाचार्य ने गो० गृ० सू० की टिप्पणियों में 'छन्दोगगृह्य' के नाम से जो वचन उद्धृत किये हैं वे सभी 'खादिरगृह्य' के वचन हैं। द्र. गो० गृ० सू० पृ० २१ टि० A=खादिर० १, ५, १-५; पृ० २७ से टि० B=खादिर १,५, ६-९; पृ० १३१, टि० E=खा० गृ० १, ५, १९-३९।

पटल (२) :—दर्शपूर्णमासेष्टि, आग्नेय स्थालीपाक, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, सोष्यन्ती-होम, जातकर्म, चन्द्रदर्शन, नामकरण, चौल, उपनयन, गोदान।

पटल (३) :—स्नान, समावर्तन, स्नातक-व्रत, उपाकर्म, उत्सर्ग, अनध्याय, आश्वयुजी कर्म, आग्रयणेष्टि, अष्टका, अन्वष्टक्य, पिण्डपितृयज्ञ, वपाहोम।

पटल (४) :—ब्रह्मवर्चसादि-कामार्थ कर्म, मधुपर्क, बद्धगोमोचन।

संस्करण :—(१) आंग्लानुवाद, एस० बी० ई० २९, १८८६।

(२) ए० महादेव शास्त्री तथा श्री निवासाचार्य, ग० ओरि० लाइब्रेरी ग्रन्थमाला, मैसूर १९१३।

द्राह्यायण गृह्यसूत्र

सामवेद से सम्बद्ध 'द्राह्यायण गृह्यसूत्र' शब्दशः खादिर गृह्यसूत्र से मिलता है। यहां तक कि रुद्रस्कन्द का भाष्य भी दोनों का एक सा है। ऐसा प्रतीत होता है कि काठक और लौगाक्षि गृह्यसूत्रों के द्राह्यायण और खादिर दोनों शाखाओं के अनुयायियों ने एक ही गृह्यसूत्र को भिन्न-भिन्न नामों से अपना लिया है।

इसके भी चार पटल हैं। और विषयों का क्रम तथा विवरण सभी कुछ खादिर गृह्यसूत्र के समान है।

विवाह प्रकरण में **कन्यापरीक्षण** का विधान नहीं किया गया। गो० गृ० सू० (१, ६, १) के समान ही यहां मानतन्तव्य आचार्य के मतानुसार उपवास के दिन (दर्शपूर्णमास में) नियमानुसार भोजन अनिवार्य कहा गया है (२, १, ५)। पुंसवन संस्कार के अन्तर्गत न्यग्रोध के रस को पत्नी के नासिका-रन्ध्रों में टपकाने का का विधान भी किया गया है (२, २, २२-२३)। **सीमन्तोन्नयन में कृसर-स्थालीपाक** का विधान भी खादिर के समान ही है (२, २, २६)। जातकर्म अत्यन्त सरल तथा सादा है (२, २, ३२-३५)। तृतीय वर्ष में **चौलकर्म** करना चाहिये (२, ३, १६)। ब्रह्मचारी के लिए **आदित्यव्रत, उपनिषद्-व्रत, ज्येष्ठसोमिकव्रत** का विधान करके पक्षान्तर में **आदित्यव्रत** का निषेध किया गया है (२, ५, १७)। **महानाम्नीव्रत** (२, ५, २३), **अनुप्रवचनीय होम** (२, ५, ३४), बछड़े का कर्णछेदन (३, २, ४६-४९), **अपूपाष्टका** (३, ३, २९) प्रभृति सभी कर्मों का विधान यहां किया गया है। अन्त में **पुष्टिकामार्थकर्म** तथा **मधुपर्क** विहित हैं। मधुपर्क में **बद्धगोमोचन**-कर्मान्तर्गत गौ को मुक्त करने का पक्ष स्वीकार किया गया है।

संस्करण :—(१) 'द्राह्यायणगृह्यसूत्रवृत्ति' के नाम से आनन्दाश्रम, पूना, से रुद्रस्कन्द भाष्य सहित सन् १९१४ में प्रकाशित।

(२) द्राह्यायण गृह्यसूत्र, हिन्दी अनुवाद सहित, डा० उदयनारायणसिंह द्वारा मुजफ़्फ़रपुर से सन् १९३४ में प्रकाशित।

जैमिनीय गृह्यसूत्र

जैमिनीय गृह्यसूत्र सामवेद की जैमिनीय शाखा से सम्बद्ध है। यह पूर्व और उत्तर दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्ध में २४ खण्ड हैं और उत्तरार्ध में ९ खण्ड। जै० गृ० सू० में जै० सं० के मन्त्रों को प्रतीकेन उद्धृत किया गया है।

इसके प्रतिपाद्य विषयों का विवरण इस प्रकार है—

पूर्वार्ध :—पाकयज्ञ, पुंसवन, नान्दीमुखश्राद्ध, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकर्म, प्राशनकर्म, चौड, उपनयन, सन्ध्योपासन, उपाकरण, उत्सर्ग, व्रतानि (गोदान), समावर्तन, विवाह, सायंप्रातर्होम, वैश्वदेव, नवयज्ञ।

उत्तरार्ध :—श्राद्ध, अष्टका, और्ध्वदेहिकम्, उपाकरण, अस्थिसञ्चयन, गृहविधि, अद्भुतशान्ति, अनशनत्संहिताकल्प, ग्रहशान्ति।

इस गृह्यसूत्र के बहुत से कर्मों का वर्णन कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यों के वर्णन से बहुत साम्य रखता है। गृह्यविधि (२, ६) शब्दशः बौ० गृ० परि० (१, १६) और बौ० गृ० सू० शेष (१, १८) से मिलती है। **अद्भुतशान्ति** का वर्णन (२, ७) बौध० गृ० सू० (३, ६) में तनिक लम्बा हो गया है। **अनशनत्संहिताकल्प** (२, ८) का समानान्तर और संभवतः मूलस्रोत बौ० ध० सू० (३, ९) में उपलब्ध होता है। और अन्त में ग्रहशान्ति का विवरण बौ० गृ० सू० (१, १५) तथा बौ० गृ० शेष (१, १६) से प्रायः शब्दशः समानता रखता है। डा० कैलैण्ड के मतानुसार जै० गृ० सू० ने बौ० गृ० सू० की नकल की है[1]। इसी कारण अनुमान किया जाता है कि उत्तरार्ध के चतुर्थ से नवें खण्ड का प्रक्षेप बाद में किया गया है। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि तृतीय खण्ड के अन्तिम शब्दों की इस प्रकार से आवृत्ति की गयी है, जैसे ग्रन्थ की समाप्ति पर की जाती है। जै० गृ० सू० के मूल भाग की रचना का काल भी सूत्रकाल के अन्तिम कांठों में रखा जाता है और रचना-प्रकार तथा विषय-निरूपण की दृष्टि से इसे गो० गृ० सू० से अर्वाचीन माना जाता है[2]। किन्तु डा० सूर्यकान्त के मत में जै० गृ० सू० निश्चय ही गो० गृ० सू० से प्राचीन है। गो० गृ० सू० और जै० गृ० सू० के विवाह-प्रकरण के सूक्ष्म निरीक्षण से विदित होता है कि गो० गृ० सू० ने जै० गृ० सू० द्वारा विनियुक्त कुछेक मन्त्रों को त्याग दिया है और कुछेक को बढ़ा लिया है। गो० गृ० सू० में विवाह-प्रकरण कन्या-परीक्षण से आरम्भ होता है

---

१. जै० गृ० सू० प्रस्तावना, पृ० ११।

२. रामगोपाल, इण्डि० कल्पसू०, पृ० ८१।

तो जै० गृ० सू० में दूत-प्रेषण से। अतः जै० गृ० सू० की प्राचीनता का साधक हेतु एक यह भी है कि इसमें कर्मतन्त्र तथा विनियोज्य मन्त्र दोनों साथ-साथ दिये गये हैं और मन्त्रों में भी अधिकांश सकलपाठेन पठित हैं। अतः स्पष्ट है कि जै० गृ० सू० के सम्मुख ब्राह्मण के रूप में एक ऐसा संग्रह विद्यमान था, जिसकी ओर मन्त्रप्रतीक सङ्केत करते हैं[1]। तो भी इन दोनों गृह्यसूत्रों के अनेकों सूत्र सर्वथा समान हैं। यथा—

जै० गृ० सू० १, ३-३ = गो० गृ० सू० १, १, ९
,, १, ९-१० = ,, १, १, १५
,, १, ११-१२ = ,, १, ५, १८
,, २, ३ = ,, ४, ५, ४
,, २, ४ = ,, ४, ५, ५

इनमें से कुछेक सूत्र खादिर गृह्यसूत्र से भी मिलते हैं, किन्तु उनकी शब्द-रचना कुछ भिन्न होती है। अतः जै० गृ० सू०, गो० गृ० सू० के निकटस्थ हैं। सम्भवतः दोनों ने एक ही स्रोत से वस्तुतन्त्र का ग्रहण किया है। तो भी जै० गृ० सू० ने गृह्यकर्म सम्बन्धी लोक प्रचलित साहित्य का आश्रय लेकर अपने सूत्रों का प्रणयन किया प्रतीत होता है और इस ग्रहण-क्रिया में 'दृषदारोहण' के मन्त्र **इममश्मानम्** (गो० गृ० सू० २, २, ४; मं० ब्रा० १, २, १) का भी विधान भूल गया है। और क्योंकि जै० गृ० सू० प्राचीन जैमिनीय परम्परा के अन्तर्गत है, अतः यह इस सम्प्रदाय का सर्वप्राचीन सूत्र है और गो० गृ० सू० से पूर्ववर्ती है[2]।

जै० गृ० सू० के कुछ मन्त्र काठ० गृ० सू० में भी पाये जा सकते हैं। विवाह में विनियुक्त ४५ मन्त्रों में से जै० सं० में एक भी नहीं पाया जाता, २३ 'मन्त्र ब्राह्मण' में मिलते हैं, १५ ऋग्वेद में से लिये गये हैं, और ८ अथर्ववेद में से[3]। ऋग्वेदीय तथा अथर्ववेदीय मन्त्रों के बहुत से पाठ वर्तमान संहिताओं से भिन्न हैं। इन ४५ मन्त्रों में से २७ सकल-पाठ में उद्धृत हैं, जो इस बात को सिद्ध करते हैं कि ये मन्त्र न तो जै० सं० से संगृहीत है और न ही जैमिनीय संप्रदाय से सम्बद्ध किसी विशिष्ट मन्त्र-संग्रह से लिये गये हैं। अपितु इनका स्रोत कोई और ही रहा होगा, जो इस समय उपलभ्य नहीं है।

संस्करण :—जै० गृ० सू० का उत्तम संस्करण, आंग्लानुवाद सहित डा० कैलैण्ड ने लाहौर से सन् १९२२ में प्रकाशित कराया है।

---

१. कौथुम गृह्यसूत्र, प्रस्तावना पृ० ४०
२. वही, पृ० ४०-४१।
३. सूर्यकान्त, वही, पृ० ४०, किन्तु यह संख्या ४६ होती है।

सामवेद के अप्रकाशित गृह्यसूत्र

सामवेद से सम्बद्ध दो ऐसे गृह्यसूत्रों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है, जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ सके। इनमें से एक तो 'गौतम गृह्यसूत्र' है, जिसका उल्लेख 'गृह्यरत्न' में किया गया है।

दूसरा छान्दोग्य (या छन्दोग) गृह्यसूत्र है। 'गोभिलश्राद्धकल्प' तथा हेमाद्रिकृत श्राद्धकल्प में इसको उद्धृत किया गया है। मानव गृह्यसूत्र के टीकाकार अष्टावक्र ने भी इसे उद्धृत किया है[1]।

चिन्तामणि भट्टाचार्य ने गो० गृ० सू० की टिप्पणियों में 'छन्दोगगृह्यसूत्र' के अनेक उद्धरण दिये हैं, किन्तु ये सभी खादिर गृह्य में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं[2]। अतः प्रतीत होता है कि भट्टाचार्य महोदय ने सामवेद से सम्बद्ध होने के कारण खादिर को 'छन्दोग' की संज्ञा दे दी है, या छन्दोग और खादिर गृह्यसूत्रों में अतिसाम्य रहा होगा।

गोपीनाथ भट्ट ने 'संस्काररत्न माला' में भी इस छन्दोगगृह्य के नाम से जो वचन उद्धृत किए हैं वे गो० गृ० सू० में उपलब्ध है[3]। अतः यह निश्चय करना कठिन है कि 'छन्दोगगृह्य' से किस का क्या अभिप्राय है।

---

१. मा० गृ० सू०, पृ० ८०।

२. गो० गृ० सू०, कलकत्ता से, पृ० २२=खा० गृ० सू० १, ५, १-५; पृ० २७=खा० गृ० सू० १, ५, ६-९; पृ० १३१=खा० गृ० सू० १, ५,१९-३९।

३. संस्काररत्नमाला, पृ० १८७; ६०७।

अष्टादश अध्याय

अथर्ववेदीय गृह्यसूत्र

कौशिकसूत्र

अथर्ववेद का गृह्यसूत्र एक ही है और उसका नाम कौशिकसूत्र है। कहने को तो यह गृह्यसूत्र है, किन्तु इसकी रचना अन्य गृह्यसूत्रों से भिन्न तथा विचित्र है। इसमें एक ओर तो **विवाह, गर्भाधान, मेधाजनन, जातकर्म** जैसे गृह्यकर्मों का प्रतिपादन किया गया है तो दूसरी ओर **श्रौत अग्नियों, अध्वर्यु** प्रभृति ऋत्विजों तथा **अग्निहोत्र** जैसे श्रौतकर्मों की चर्चा की गयी है, जो अन्य गृह्यसूत्रों में नहीं की जाती। यद्यपि ऐसे श्रौतकर्मों की चर्चा गौण रूप में ही की गयी हैं, तो भी यह विचित्रता यहीं उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनके कारण इसे शुद्ध गृह्यसूत्र नहीं कहा जा सकता। इसमें टोने-टोटकों, मन्त्र-तन्त्रों तथा विविध प्रकार के रोग-नाशक उपायों, पुष्टि-समृद्धि, अभयकर्मों, युद्ध में जय-पराजय के साधनों तथा माण्डलिक राजाभिषेक प्रभृति विभिन्न विषयों का सविस्तार वर्णन किया गया है।

वास्तव में यह आथर्वण क्रिया-कलापों, आभिचारिक कृत्यों तथा मन्त्र-तन्त्रों का प्रतिपादन अधिक करता है और गृह्यकर्मों का कम। सम्भवतः गृह्यकर्म इसकी मूल आभिचारिक रचना में उत्तरकाल में सम्मिलित करके गृह्यसूत्र की कमी को पूरा करने का प्रयास किया गया है[1]।

इन दो प्रकार के सूत्रों में परस्पर विषयगत ही नहीं, अपितु शैलीगत एवं रचना-प्रकार-विषयक विविध भेद भी इस सम्भावना की पुष्टि करते हैं[2]। केशवकृत पद्धति के अनुसार यह सूत्र अथर्ववेद की चारों शाखाओं के कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करता है। इस सूत्र की एक विशेषता यह भी है कि जहां अन्य गृह्यसूत्र अपनी शाखा के श्रौतसूत्रों को अपना उपजीव्य मान कर चलते हैं, वहां कौशिक सूत्र अपने श्रौत-सूत्र "वैतान सूत्र" का उपजीव्य माना जाता है और इसकी रचना भी वैतानसूत्र से पूर्वकालिक कही जाती है। किन्तु इनके मध्य कालगत अन्तराल का अनुमान करना कठिन है। न ही कौशिक सूत्र की सामग्री एक व्यक्ति के द्वारा एक काल

---

१. ब्लूमफील्ड, कौशिक सूत्र, भूमिका, पृ० २१।

२. वही, पृ० ३१।

में संगृहीत की गयी प्रतीत होती है। किसी ऐसी रचना की सूचना भी हमें नहीं है, जिसे इस सूत्र का आधार माना जा सके। इस विषय में ब्लूमफील्ड का यह विचार तथ्यपरक नहीं कहा जा सकता कि कौशिक सूत्र का आधार अधिकांशतया लोकधर्म पर आश्रित एक सर्वथा स्वतन्त्र लोक-परम्परा रही है, जिसके कर्मकाण्डीय ताने-बाने में आथर्वणिक सूक्तों तथा मन्त्रों को अवसरानुसार यथास्थान जड़ दिया गया[1]। वास्तव में कौशिक एक सुदृढ़ आथर्वणिक परम्परा का पोषक तथा प्रतिपादक है, जो सीधे अथर्ववेद-संहिता पर आधृत है और जो आथर्वणिक सूक्तों के उद्देश्यों तथा प्रतिपाद्यों से सुपरिचित है। ऐसे बहुत कम सूक्त हैं, जिनके मूल उद्देश्यों और अन्तर्हित भावों का उद्घाटन कौशिक सूत्र में कहीं न कहीं न किया गया हो[2]। इसमें बहुधा इन सूक्तों के गौण विनियोगों का भी निर्देश एक से अधिक, सर्वथा भिन्न कर्मों में कर दिया गया है, जिससे यह परिणाम निकलता है कि आथर्वणिक कर्मकाण्डियों ने उत्तरकाल में इन सूक्तों के विनियोगों में विस्तार कर दिया था। विस्तारशील कर्मकाण्ड में ऐसा करना सर्वथा स्वाभाविक भी था। सतत विस्तीर्यमाण कर्मकाण्ड के अनुसार मन्त्रों के उपलब्ध न हो सकने पर उन्हीं मन्त्रों को भिन्न-भिन्न कर्मों की सिद्धि के लिये परिस्थितियों के अनुरूप विनियोगों में लगाने का प्रयास सर्वत्र किया जाता रहा है। किन्तु इस का यह अर्थ भी नहीं है कि ऐसा कर्मकाण्ड परवर्ती है। ऐसा भी सम्भव है कि परम्परागत कर्म के साथ परवर्ती काल में मन्त्रों को सम्बद्ध करके उस कर्म-विशेष की महत्ता तथा उपयोगिता में लोगों की आस्था को सुदृढ़ करने का प्रयास किया गया हो।

इस सूत्र के १४ अध्याय हैं जिनका विषयवार विभाजन इस प्रकार किया गया है—

अध्याय १ :—पाकयज्ञ-परिभाषा:, दर्शपौर्णमास, शान्त्युदकम्।

अध्याय २ :—मेधाजनन, ब्रह्मचारी के व्रतों की सफलतार्थ कर्म, ग्रामसम्पद्, सर्वसम्पद् तथा साम्मनस्य-विषयक कर्म, वर्चस्यानि, सांग्रामिक कर्म, पदच्युत राजा के पुनरागमन, माण्डलिक राजाओं के अभिषेक, तथा परमेश्वराभिषेक विषयककर्म।

अध्याय ३ :—निर्ऋति निवारक कर्म, चित्राकर्म, समुद्रकर्म, अष्टका, हल चलाना, वपन कर्म, रस कर्म, नवशाला-निर्माण, यात्रा, वृषोत्सर्ग, आग्रहायणीय इष्टि, धन-ऐश्वर्य-प्राप्ति-कर्म।

---

१. अथर्ववेद, पृ० ५७।

२. फ्रैंक्लिन एड्जर्टन, एफ० डब्ल्यू० थॉमस अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ७८, सन १९३९।

अध्याय ४ :—भैषज्यानि— विविध रोगों के लिए मन्त्र-तन्त्र, विष-विनाशन। स्त्रीकर्माणि—सन्तानोत्पत्ति, पुंसवनानि, गर्भाधान, सीमन्तकर्म, वशीकरण, सपत्नीजयकर्म, स्वापन कर्म, जायापत्योरक्रोधकरण, दौर्भाग्यकरण, सौभाग्यकरण, ईर्ष्याविनाशन, मन्युविनाशन।

अध्याय ५ :— विज्ञानकर्माणि—लाभालाभजयसुखदुःखोत्कर्षापकर्षसुभिक्षदुर्भिक्षक्षेम-भयरोगारोग के पूर्वज्ञान के उपाय, दुर्दिन-विनाशन, अशनि-निवारण, विवाद में विजय, पौरुषशक्तिवर्द्धन, वर्षा कराना, अभि-चार-निवारण, नदीप्रवाहविधि, विविध पदार्थों में सौमनस्य-स्थापन, विविध प्रायश्चित्त, दुःस्वप्नदर्शने शान्तिकर्म, पापनक्षत्र में उत्पन्न की शान्ति, ज्येष्ठ भ्राता के अविवाहित रहते विवाह, आधान-दीक्षा करने पर शान्ति कर्म, काकोपविष्ट-दोषशान्ति, शकुनशान्ति प्रभृति।

अध्याय ६ :—अभिचार कर्म—जादू-टोने, मारणोच्चाटन प्रभृति।

अध्याय ७ :—स्वस्त्ययन कर्म, चलते-फिरते, सोते-जागते मंगलार्थ कर्म, व्याघ्र और वृक प्रभृति से भयमुक्ति के लिए, गौओं के कल्याणार्थ, पत्तन-ग्रामगृहशान्ति, अग्निदावरक्षार्थ, नाव को डूबने से बचाने के लिए कर्म, नष्टलाभ, आयुष्यकर्म, स्थालीपाक, वर्चस्यानि, गोदान, चूड़ाकरण, उपनयन, मेधाजनन, नामकरण, निर्णयन, अन्नप्राशन, काम्यकर्म।

अध्याय ८ :—सवयज्ञाः।

अध्याय ९ :—गृह्याग्नि का आधान, सायंप्रातः होम, बलिहरण, आग्रयण।

अध्याय १० :—विवाह।

अध्याय ११ :—अन्त्येष्टिकर्म, पिण्डपितृयज्ञ।

अध्याय १२ :—अतिथि के आने पर मधुपर्क, अर्घ्य प्रभृति।

अध्याय १३ :—अद्भुतकर्म—भूमिचलन, आदित्योपप्लव, देवताओं के नाचने, हंसने, गाने, गौ के दो वत्स होने, आकाशफेन, उल्कापात, धूमकेतु का सप्तर्षियों के समीप आ जाने पर कर्म।

अध्याय १४ :—आज्यतन्त्र, अष्टकातन्त्र, वेदारम्भ, इन्द्रमहोत्सव, अनध्याय।

इन चौदह अध्यायों में से तेरहवां अध्याय शकुनों तथा शुभाशुभलक्षणों से संबद्ध है। इसकी अपनी विशेषताएं हैं। अपनी विशिष्ट सूक्त-सामग्री है, जो अथर्ववेदीय विषयों से सर्वथा भिन्न विषयों का प्रतिपादन करती है। प्रतीक रूप में पठित मन्त्र प्रत्येक प्रकार के दुर्लक्षणों के कुप्रभावों को निरस्त करने में विशेष क्षमता रखते हैं। इसकी शैली भी सूत्रशैली से भिन्न परिशिष्टों की गद्य-प्रधान शैली से मेल खाती है; जिस में संक्षिप्त सूत्रों के स्थान पर वाक्यों का प्रयोग किया गया है।

यथा, १२७,४ में कहा गया है--'**इति चतसृभिः**' (**ऋग्भिः**)। हालांकि इस सूक्त में केवल चार ही मन्त्र हैं, अतः केवल प्रथम ऋचा का प्रतीक देना ही पर्याप्त था। शैली की शिथिलता भी दृष्टिगोचर होती है। कई वाक्यों को थोड़े बहुत हेरफेर से दोहराया गया है और मन्त्रों को अनावश्यक रूप में सकल-पाठ में उद्धृत किया गया है। इस अध्याय के आरम्भ में कण्डिका ९३ में दी गयी विषयानुक्रमणी सर्वथा अनावश्यक है और केवल इस अध्याय की स्वतन्त्र सत्ता की ओर ही सङ्केत करती है, जो इस रचना का अंग बनने के बाद भी छिपी नहीं रह सकी।[1] इसके स्वतन्त्र रूप में परिवर्तन किये विना ही इस भाग को मुख्य सूत्र में अन्तर्हित करने का विफल प्रयास किया गया है। तो भी इतना स्पष्ट है कि इस अध्याय के कर्ता को आथर्वणिक परिभाषिक शब्दावलि का पूर्ण परिचय था, यथा—'**मातृनामानि सूक्तानि**'[2], '**वास्तोष्पतीयानि सूक्तानि**'[3], '**चातनगण**'[4]। इस अध्याय में कभी-कभी मन्त्रों को प्रतीकरूपेण इसलिए दिया जाता है कि उन्हें इससे पूर्व सकल-पाठ में पढ़ दिया गया है, तो भी कहीं-कहीं पूर्व पठित मन्त्रों को भी सकल-पाठ में पढ़ा गया है[5]। १३७, ३० में तीन मन्त्रों को प्रतीकरूपेण उद्धृत किया गया है, जबकि २,४१ में इनमें से प्रथम को प्रतीक रूप में '**इति तिसृभिः**' कह कर समान स्थिति में ही उद्धृत किया गया है। इन सभी तथ्यों से इस अध्याय की मुख्य रचना से पृथक् स्वतन्त्रसत्ता प्रमाणित होती है।

यद्यपि चौदहवें अध्याय के विषय में इतने पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते, तो भी इस बात की सम्भावना हो सकती है कि यह भी उत्तरकालिक कृति हो। अथवा मूललेखक ने ही इसकी परस्पर विजातीय पांच कण्डिकाओं को स्वयं ही इस रचना के अन्त में जोड़ दिया हो। कण्डिका १४१ में वेदाध्ययन और अनध्याय संबन्धी नियमों का अत्यन्त भ्रष्ट विवरण मिश्रित गद्य-पद्य में दिया गया है, जो उत्तरकालिक स्मृतियों का स्मरण कराता है। यह भी स्पष्ट ही उत्तरचिन्ता को प्रस्तुत करता है, क्योंकि कण्डिका १३९ में वेदाध्ययन के नियम अधिक सुचारु रूप से सुन्दर सूत्रशैली में दिये जा चुके हैं, अतः यहां इसी विषय की पुनरुक्ति की आवश्यकता नहीं थी। और फिर दोनों के मध्य में **इन्द्रमहोत्सव** जैसे राजकीय

---

१. द्र. Weber, Zwei Vedische Texte Über Omina und Portenda, Trans. Royal Academy of Berlin, 1858, P. 345; 384.

२. कौ० सू० ८, २४ तथा ९४,१५।

३. कौ० सू० ८, २३; ११०,९।

४. कौ० सू० १३६, ९ (=कौ० सू० ८,१५)।

५. कौ० सू० ९७, ४ (=कौ० सू० ५, १३)।

धर्म का अन्तर्भाव सर्वथा असंगत है। विचित्र बात यह है कि कण्डिका १३९ में प्रस्तुत सामग्री का प्रतिपादन इस से पूर्व कण्डिका ५६, ८ में किया जा चुका है, जो इस का अधिक उचित स्थान है। अतः यह कण्डिका यहां व्यर्थ ही पुनरुक्त है। इसमें केवल अथर्ववेद के महत्त्व का उद्घाटन किया गया है।

इसी प्रकार कण्डिका १३८ में प्रतिपादित **अष्टका** का विवरण भी पूर्वगत कण्डिका १९, २८ से लेकर उत्तम सूत्रशैली में दिया जा चुका है। केशव ने अपनी पद्धति में इन दोनों कण्डिकाओं की व्याख्या १९वीं कण्डिका में एकत्र ही कर दी है और इस प्रकार कण्डिका १३८ को पुनरुक्त और व्यर्थ सिद्ध कर दिया है। कण्डिका १४० में वर्णित **इन्द्रमहोत्सव** की शैली भी इसे उत्तरकालिक ही सिद्ध करती है। यह भी एक प्रकार का परिशिष्ट ही है, जो अथर्व परिशिष्ट १९ में अधिक विस्तार से वर्णित है। कण्डिका १३७ में प्रतिपादित **आज्यतन्त्र, दर्शपूर्णमास** का ही उपबृंहण मात्र है। कौ० सू० ६,२९-३० में कहा गया है— **'इमौ दर्शपूर्णमासौ व्याख्यातौ, दर्शपूर्णमासाभ्यां पाकयज्ञाः।'** तो फिर १३७,४३ पर यह कथन सर्वथा अनावश्यक है—**'व्याख्यातं सर्वपाकयज्ञीयं 'तन्त्रम्'**।

सम्भवतः प्रथम छह कण्डिकाओं का वास्तविक स्थान वह नहीं है, जहां वे इस समय हैं। अपितु कण्डिका ५२-५३ के मध्य में वास्तव आथर्वणिक सूत्र के अनन्तर तथा गृह्य-कण्डिकाओं के आरम्भ में होना चाहिये[1]। वास्तविक अथर्वसूत्र कण्डिका ७ से कण्डिका ५३ तक फैला हुआ है। इसमें आथर्वण विशेषताओं के सर्वाधिक स्पष्ट रूप में दर्शन होते हैं। तदनन्तर १२ वें अध्याय के अन्त तक आथर्वण दृष्टिकोण के अनुरूप गृह्य कर्मों का विवरण दिया गया है, जो आथर्वण मन्त्रों पर आधृत है। ये सभी सूत्र वास्तव सूत्रशैली में निर्मित हैं। और इनमें नवीन मौलिक कृत्यों का प्रतिपादन किया गया है। इनकी भाषा भी अपनी पारिभाषिक विशेषताओं के कारण महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद के अर्थों पर प्रकाश डालने के लिए ये सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान् सिद्ध हुए हैं। किन्तु खेद है कि पाश्चात्य विद्वानों—ह्विटने तथा स्वयं ब्लूमफील्ड ने भी अथर्ववेद की अपनी व्याख्याओं में इस सूत्र की सहायता नहीं ली है।

कौशिकसूत्र और अथर्ववेद

कौशिक सूत्र से सिद्ध होता है कि यह अथर्ववेद की शौनकीय शाखा से सम्बद्ध है, जिसका समारम्भ **'ये त्रिषप्ताः'** से होता है[2] और जिससे कौ० सूत्र, वैतान सूत्र तथा अथर्व 'चतुरध्यायिका' तीनों सम्बद्ध हैं[3]। कौशिक सूत्र

---

१. ब्लूमफील्ड, वही, भूमिका, पृ० २८।

२. परिभाषा ७, ८ में कहा गया है— **'पूर्वं त्रिषप्तीयम्'**।

३. वर्तमान संहिता शौनकीय है या नहीं, इस विषय पर द्र. 'अथर्व प्रातिशाख्य' प्रकरण।

को चतुरध्यायिका (१, ८) के प्रगृह्य सम्बन्धी नियमों का ज्ञान था, क्योंकि यह उन नियमों का अनुसरण करता है। यथा—**'परं मृत्यो इति'** (७१, २२) **'मा रिषाम इन्दो इति'** (७४, २०)। संहिता-पाठ को सूत्र ने बड़ी सावधानी से उद्धृत किया है, यहां तक कि परम्परागत संहिता-पाठ में भाषागत त्रुटियों (आर्ष प्रयोगों) को भी ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। यथा—

वाङ् म आस्यन्निति (आसन्निति)[1],
अव्यसश्चेति (अव्यचसश्चेति)।[2]

१९वें काण्ड के सिवाय बहुत कम मन्त्रों को सकल-पाठ में उद्धृत किया गया है।[3] अथर्व-संहिता के १५वें तथा २०वें काण्ड को सर्वथा अछूता छोड़ दिया गया है। प्रथम को तो इसलिए कि व्रात्यकाण्ड होने के कारण इसमें कर्मकाण्डीय सामग्री का अभाव है, द्वितीय को इसलिये कि इसका सम्बन्ध मुख्य रूप से श्रौतयज्ञों से है। वैतानसूत्र ने इसका प्रयोग कुछ यज्ञों के शस्त्रों तथा स्तोत्रों के लिए किया है। उन्नीसवें काण्ड के भी बहुत कम मन्त्र प्रतीकरूप में उद्धृत किये गये हैं। सकल-पाठ में पठित मन्त्र शौनकीय संहिता से नहीं लिये गये। इस काण्ड के मन्त्र सम्पूर्ण पैप्पलादसंहिता में बिखरे पड़े हैं, जो सम्भवतः सभी शाखाओं में प्रसिद्ध थे। किन्तु ये मन्त्र किस शाखा से संगृहीत हैं, यह कहना कठिन है।

ह्विटने के अनुसार चतुरध्यायिका में उन्नीसवें काण्ड से कोई उदाहरण नहीं लिया गया[4]। कौशिक ने प्रसिद्ध मन्त्रों को तो प्रतीकरूप में पढ़ा है, शेष को सकल-पाठ में। वैसे तो सूत्र में उद्धृत सूक्त तथा मन्त्र संहिता-क्रम के अनुरूप ही रखे जाते हैं, किन्तु मिश्रित-विषयात्मक सूक्तों के मन्त्रों को तोड़ कर भी विषय के अनुसार यथास्थान विनियुक्त किया गया है। यथा—अथर्व० सं० ४, ३८ के मन्त्रों में विविध विषयों का निरूपण किया गया है। इनमें से ५-७ मन्त्रों को **पशुकर्म** में विनियुक्त किया गया है और इन्हें **'कर्करी प्रवादाः'** (ऋचः) नाम की विशेष संज्ञा दी गयी है।[5] इसी प्रकार अथर्व० सं० ७, ७४ मिश्रविषयात्मक

---

१. अथर्व० सं० १९, ६०, १ ; कौ० सू० ६६, १।

२. अथर्व सं० १९, ६८, १ ; कौ० सू० १३९, १०।

३. अथर्व० सं० ६, ८५, २→कौ० सू० ६, १७ ; अथर्व० सं० ७, ४८, २→कौ० सू० १०६, ७ ; अथर्व० सं० ८, २, ९→कौ० सू० ९६, ६।

४. जे० ए० ओ० एस, ७, पृ० ३३४ ; ५८१।

५. कौ० सू० २१, ११।

सूक्त है। प्रथम दो ऋचाओं का विनियोग **अपचित्** (गण्डमाला) नामक रोग के नाशार्थ किया गया है[1]। तृतीय ऋचा ईर्ष्या के विरुद्ध कर्म में विनियुक्त है[2]। चतुर्थी का विनियोग **दर्शपूर्णमास** के '**व्रतोपायन**' में किया गया है[3]। इस विषय में यह कहना कठिन है कि इन विभिन्न-विषयक सूक्तों का निर्माण किस उद्देश्य से किया गया था।

अथर्व० ७, ३९, १ एक ही ऋचा के भिन्न-भिन्न विनियोग द्रष्टव्य हैं। **प्रतिग्रह-दोष** की शान्ति के लिये प्रतिग्राह्य वस्तु का अभिमन्त्रण[4], नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों तथा **पाकयज्ञ** में न्यूनातिरेक-दोष की शान्ति के लिये अपना अनुमन्त्रण,[5] गोदान कर्म में वपनार्थ क्षुर के सम्मार्जन,[6] **सवयज्ञों** में इन्द्रियाभिमर्शन तथा अनुमन्त्रण,[7] ब्रह्मचारी के दण्ड के टूट जाने पर अन्य दण्ड के अभिमन्त्रण,[8] **अग्निष्टोम** के तृतीय सवन में धिष्णियों में विहृत अग्नियों के ब्रह्मा द्वारा अनुमन्त्रण[9] में इस का विनियोग किया गया है।

इस प्रकार के विविध विनियोगों की भरमार पायी जाती है। ब्लूमफील्ड के मतानुसार ऐसे सभी स्थलों में कर्मकाण्डीय परम्परा संहिता की परम्परा से अधिक श्रेष्ठ है[10]। किन्तु इस के पक्ष में उन्होंने कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। इस साक्ष्य से इतना अवश्य सिद्ध होता है कि बहुत सी अवस्थाओं में सूक्तों की रचना व्यावहारिक तथा कर्मकाण्डीय उद्देश्यों को सम्मुख रख कर की गयी है। अन्य अवस्थाओं में कर्मकाण्डीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मन्त्रों को विशेष-विशेष कर्मों के साथ बाद में सम्बद्ध कर दिया गया। अतः यह कथन भी असंगत है कि इनमें से प्रत्येक मन्त्र की रचना विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के हेतु किये गये जादू-टोनों

---

१. कौ० सू० ३२, ४।

२. कौ० सू० ३६, २५।

३. कौ० सू० १, ३३।

४. कौ० सू० ९, २।

५. कौ० सू० ४५, १७-१९।

६. कौ० सू० ५४, २।

७. कौ० सू० ६६, १; २।

८. कौ० सू० ५७, ७; ८।

९. वैता० सू० १८, ४।

१०. कौ० सू० भूमिका, पृ० ४२।

के साथ विनियोगार्थ ही की गयी थी[1]। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस विषय को आत्मसात् करने के लिए कौशिक सूत्र हमारा एकमात्र सहारा है[2]। यथा—अथर्ववेद १, ७, २ अग्निदेवता का मन्त्र है, किन्तु इसका विनियोग रक्षोगणों तथा दुरात्माओं के अपनोदनार्थ किया गया है।[3] इस **चातन कर्म** का वर्णन कौ० सू० २५, २२ में किया गया है। कौ० सू० की सहायता के बिना मन्त्रार्थ स्पष्ट नहीं होता। इस सूत्र की अवहेलना करके लोगों ने संहिता-पाठ में कैसे असंगत तथा कुविचारित परिवर्तन करने का दुःसाहस किया है, इसका एक उदाहरण यह है—

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनू विशन्
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् विलापय।[4]

इस मन्त्र के अर्थ को समझने में असमर्थ होने के कारण रॉथ और ह्विटने दोनों ने 'तौलस्य' पाठ के स्थान पर 'तैलास्य' कर दिया। कौ० सू० (२५, ३०) में इस के विषय में कहा है—

'वीरिणतूलमिश्रम् इङ्गिडं प्रपुटे जुहोति' अर्थात्—वीरिण पौधे की रूई (तूल) से मिश्रित इङ्गिड के तेल को प्रपुट में रख कर हवन करता है।

इससे 'आज्यस्य' का विशेषण **'तौलस्य'** सर्वथा सिद्ध हो जाता है।[5]

भाषा

हमने ऊपर देखा है कि इस सूत्र की भाषा में कई नवीन प्रयोग दृष्टि-गोचर होते हैं। **यथा—**

आखुकिरि— (कौ० ५, ११) चूहों द्वारा खोदी गयी मिट्टी का ढेर। ओदर ने कहा था कि यह शब्द केवल मै० सं० तथा काठ० सं० में प्रयुक्त हुआ है।

अन्तर्लोमि— जिसके बाल भीतर हों (कौ० सू० ८१, १)।

प्राश्— वाक्कलह। **प्रतिप्राश्**=प्रतिवादो (कौ० सू० ३८, २४) अथर्व० सं० २, २७।

शकधूम— **ऋतुज्ञ**—ज्योतिषी, कौ० सू० ८, १७; अथर्व० सं० ६, १२८, १।

अपचित्— गण्डमाला—कौ० सू० ३१, १७; अथर्व० सं० ६, २५।

---

१. एफ० एड्जर्टन, एफ० डब्ल्यू० थामस-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ७९, १९३९।

२. वही,

३. कौ० सू० ८, २५।

४. अथर्व० सं० १, ७, २।

५. तु० मै० सं० पाठ 'तूलास्य'; बैरेट ने यही पाठ स्वीकार किया है, (द्र. जे० ए० ओ० एस० ३५, पृ० ४८)।

ताजद्भंग—एरण्ड—कौ० सू० १६, ४ ; अथर्व० सं० ८, ८, ३।

सिलाञ्जला—सस्यभूमि की एक बेल (सस्य-मञ्जरी—सा०) कौ० सू० ५१, १६ ; अथर्व० सं० ६, १६, ४।

इषीकाञ्जि—नड के समान धारी वाला। कौ० सू० ३२, १७।

चिक्कश— जौ का आटा, कौ० सू० २१, १४।

स्रक्त्य— एक वृक्ष, कौ० सू० ८, १५, अथर्व० सं० २, ११, २।

स्राक्त्य— स्रक्त्य का बना गण्डा, (कौ० सू० ३९, १), अथर्व० सं० ८, ५, ४ (विस्तार के लिए द्रष्टव्य, ब्लूमफील्ड, कौ० सू०, भूमिका पृ० ४२-५८।

रचनाकाल

ब्लूमफील्ड ने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह सूत्र उत्तरवर्ती सूत्रकाल की रचना हैं,[1] किन्तु उन्होंने स्वयं ही अन्यत्र यह कहा है कि यास्क से भी प्राचीन गोपथब्राह्मण, कौशिकसूत्र और वैतानसूत्र दोनों से अर्वाचीन है। इस से तो यही सिद्ध होता है कि कौशिकसूत्र यास्क से पूर्वकालिक रचना है। यास्क पाणिनि से प्राचीन है[2]। औफ्रेख्त ने सिद्ध किया है कि गो० ब्रा० यास्क से प्राचीन है[3]। पाणिनि ने कौ० सू० का उल्लेख किया है (पा० ४, ३, १०३), जो प्रस्तुत रचना ही है, जो वस्तुतः प्राचीन है[4]। यद्यपि डा० गास्ट्रा ने ब्लूमफील्ड की इस स्थापना को अमान्य घोषित किया है कि वैतान सूत्र गो० ब्रा० से प्राचीन है, तो भी उन्होंने इस बात का खण्डन नहीं किया कि कौ० सू०, गो० ब्रा० से प्राचीन है। कीथ और कैलैण्ड ने गो० ब्रा० को कौशिक सूत्र से प्राचीन माना है और यही मत अधिकांश विद्वानों को स्वीकार्य भी है। इसमें सन्देह नहीं कि कौशिकसूत्र पाणिनि-पूर्वकालिक अतिप्राचीन सूत्रकाल में विरचित होने के कारण ७५० ई० पू० से प्राचीन यास्क से भी प्राचीन ठहरता है।

भाष्य :—(१) १४१ कण्डिका वाली इस रचना पर दारिल-कृत भाष्य प्रथम ४८ कण्डिकाओं पर उपलब्ध है। ब्लूमफील्ड का विचार था कि

---

१. वही, पृ० ३१।

२. कीथ, तै० सं०, आंग्लानुवाद, भूमिका, पृ० १७०।

३. कीथ, दि ब्राह्मणज़ आफ दि ऋग्वेद, भूमिका, पृष्ठ २५ से ; तै० सं० आंग्लानु० भूमिका, पृ० १७०।

४. कीथ, तै० सं०, वही, पृ० १६७।

दारिच ने सम्भवतः सम्पूर्ण सूत्र पर भाष्य लिखा था, जिससे केशव परिचित था।[1] किन्तु केशव के संकेत सदा उपलब्ध दारिल-भाष्य से मेल नहीं खाते[2]। अतः दारिल के विषय में केशव पर निर्भर करना ठीक नहीं। किन्तु दारिल का भाष्य स्पष्ट तथा ऋजु है, तथा कभी-कभी प्रश्नोत्तर की शैली भी अपनाता है। वह पाणिनि, जैमिनि प्रभृति आचार्यों को उद्धृत करता है। इसमें केवल शाब्दिक अर्थ ही स्पष्ट नहीं किये गये, अपितु कर्मकाण्डीय गुत्थियों को भी सुलझाया गया है। तथा उनके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है और इस प्रकार दारिलभाष्य 'पद्धति' का भी काम देता है।

दारिल के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। किन्तु इतना दारिल के ही लेख से प्रतीत होता है कि वह उपाध्याय वत्स शर्मा के प्रपौत्र थे, जिनके चरणों में बैठकर दारिल ने अध्ययन किया था, जिनके समान संसार में और कोई सुहृद् नहीं था, न कोई बन्धु ही था।

(२) केशव-कृत 'केशवी पद्धति' भी उपलभ्य है। ब्लूमफील्ड को यह पद्धति भी पूर्ण प्राप्त नहीं हुई थी, अपितु १२०वीं कण्डिका के बीच में समाप्त हो गयी थी। किन्तु १९६२ में श्री एच० आर० दिवेकर को इसकी सम्पूर्ण प्रति प्राप्त हो गयी थी, जिससे सूत्र पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ने की आशा है तथा केशव के जीवन के विषय में भी महत्त्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त हुई हैं। उनके अनुसार—

कौशिको वत्सशर्मा च तत्प्रपौत्रश्च दारिलः।
शास्त्रविज्ञाने येषां हि चतुर्थो नोपपद्यते॥

इससे दारिल के वैदुष्य का कितना सम्मान उनके मन में था, यह स्पष्ट हो जाता है। किन्तु ऊपर दिये गये उदाहरणों से प्रतीत होता है कि केशव के पास दारिल-भाष्य का अन्य कोई संस्करण रहा होगा। केशव की पद्धति की विशेषता यह है कि यह कर्मकाण्ड को स्पष्ट करती चलती हैं। कहीं-कहीं शब्दों की व्याख्या भी की गयी है। इन्होंने अपनी पद्धति में अनेक आचार्यों को उद्धृत किया है, यथा—उपवर्ष, मनु, गोभिलब्राह्मण, माहकि, वंश-ब्राह्मण, चारणविद्या के अनुयायी, दारिल, रुद्र, भद्र, पैठीनसि। इनमें

---

१. वही, पृ० १३।

२. द्र. कौ० सू० ३१, ७¹⁄₆; ४०, १०; पर केशव-दारिल।

दारिल, रुद्र और भद्र तो कौ० सू० के व्याख्याता ही हैं, जिनके विषय में हमें किसी भी अन्य स्रोत से कोई सूचना नहीं मिलती। रुद्र को सायण ने अवश्य उद्धृत किया है।

(३) केशवी पर आधृत एक और 'अथर्वणीय पद्धति' भी उपलभ्य है। जिसके कर्ता का पता नहीं है।

संस्करण :—(१) मॉरिस ब्लूमफील्ड द्वारा संपादित, दारिल तथा केशव की व्याख्याओं के उद्धरणों सहित, १८८९-९०, जे० ए० ओ० एस०, १४ में।

(२) इसी का द्वितीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, १९७२।

(३) तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना, से दिवेकर, वी० पी० लिमये प्रभृति द्वारा सम्पादित, १९७२। केशवी तथा दारिल भाष्य सहित, दो भाग।

(४) कैलैण्ड ने इस सूत्र पर अनेक लेख लिखे हैं जो WZKM VIII, p. 367, तथा ZDMG के अनेक संस्करणों में प्रकाशित हुए हैं (इनमें अथर्ववेदीय जादू-टोनों का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। Altindische Zauberrituel, 1903).

एकोनविंश अध्याय

विवाह और उसके प्रकार

वैसे तो विवाह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को एक महत्त्वपूर्ण घटना है, तो भी संस्कारों से ओत-प्रोत हिन्दू-जीवन का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। हिन्दुओं की दृष्टि में विवाह केवल सामाजिक, वैयक्तिक या जैविक आवश्यकता ही नहीं, अपितु धार्मिक तथा आध्यात्मिक कर्तव्य भी है। यह एक यज्ञ माना जाता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्यरूपेण करना चाहिये, अन्यथा जहां वह एक ओर अविवाहित, 'अयज्ञिय' एवं निन्दा का पात्र बनता था, वहां दूसरी ओर समाज का अविकसित एवं अधूरा अंग होने के कारण हेय समझा जाता था, क्योंकि इस से समाज की वृद्धि एवं समृद्धि के रुक जाने का भय था[1]।

प्रत्येक हिन्दू की मान्यता है कि वह तीन ऋणों को लेकर इस संसार में आविर्भूत हुआ है—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण। पितृ-ऋण को चुकाने के लिए वंश-परम्परा का अविच्छेद अत्यन्त आवश्यक है। सन्तानोत्पत्ति जीवन का अनिवार्य अंग है[2]। आश्रम-व्यवस्था के सुदृढ़ हो जाने पर गृहस्थाश्रम सर्व-श्रेष्ठ आश्रम माना जाने लगा, क्योंकि अन्य तीन की स्थिति इसी पर निर्भर करती है[3]। इसके अतिरिक्त धर्म, अर्थ तथा काम, इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि पत्नी के बिना असम्भव है, अतः विवाह अनिवार्य है[4]। इसलिये विवाह के तीन मुख्य प्रयोजन कहे गये हैं—धर्म का पालन, सन्तानोत्पत्ति तथा रति। आप० ध० सू० (२, ११,२) के अनुसार प्रधान प्रयोजन प्रथम दो ही हैं। इनके पूरा हो जाने पर दूसरा विवाह नहीं करना चाहिये। केवल कामुकता की शान्ति के लिए विवाह निन्दनीय माना जाता था और इसके लिए छह मास तक गधे की खाल ओढ़ कर भिक्षा मांगने के कठोर दण्ड की व्यवस्था की गयी है।[5]

---

१. अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः (तै० ब्रा० २, २, २, ६); न प्रजाः प्रजायेरन् (वही); अथो अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी (वही २, ९, ४, ७)।

२. जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः (तै० सं० ६, ३, १०, ५)।

३. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः। (मनु० ३, ७७)।

४. पत्नी धर्मार्थकामानां कारणं प्रवरं स्मृतम्। (अपरार्क० याज्ञ० स्मृ० १. ५१)।

५. आप० गृ० सू० १०, १०, २८, १९।

अन्य देशों तथा जातियों में भी विवाह अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा पवित्र संस्था मानी जाती थी[1]।

यद्यपि वैदिक साहित्य से लेकर विवाह-संस्कार तथा वैवाहिक संस्था की अविच्छिन्न परम्परा प्रमाणित होती है, तो भी महाभारत में ऐसा वचन है, जिस से ऐसे समय का पता चलता है जब स्त्रियां स्वतन्त्र तथा अनावृत घूमा करती थीं और किसी भी पुरुष के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकती थीं[2]। इस असभ्य तथा आदिम प्रथा का अन्त उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने किया था। इस आधार पर जॉली ने हिन्दू-विवाह का आदिम रूप कामचार को सिद्ध करने का प्रयास किया था[3]। किन्तु इस पक्ष को मान्यता प्रदान करने का कोई कारण नहीं है[4]। आप० ध० सू० (२, १०, २७, ३) के एक वचन के अनुसार कन्या कुल को दी जाती है[5]। इस आधार पर द्रौपदी के पांच पतियों की व्याख्या करने का प्रयास किया गया। किन्तु आप० ध० सू० के व्याख्याकार हरदत्त के अनुसार यह वचन नियोग के सम्बन्ध में कहा गया है। इसके अतिरिक्त इस वचन से व्यक्ति से अधिक कुल के महत्त्व पर बल दिया गया है[6]। प्राचीन काल में कामचार को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाणों को जुटाने का प्रयास किया गया है। यथा वेश्याओं का उल्लेख (ऋग्० १, १६७, ४; १, ६६, ४; १, ११७, १८ में जार का वर्णन), आप० ध० सू० (२, १३, ७) तथा बौ० ध० सू० में स्त्रियों के सतीत्व पर बहुत कम बल का देना, गूढज पुत्र का धर्म शास्त्रों[7] में उल्लेख, उस समय की अनैतिकता को सूचित करते माने गये हैं। किन्तु इक्के-दुक्के उदारहणों से वैदिक या सूत्रकाल में नारियों में व्यापक कामचार को सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अन्य प्रचुर प्रमाणों के बल पर उस समय की नारियों का चारित्रिक मान-दण्ड तथा आदर्श बहुत ऊँचा सिद्ध होता है[8]। तो भी यदि वेश्याओं या चरित्रहीन नारियों का उल्लेख किया गया है तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है। हर

---

१. द्र० बिलिस्टाइन गुडसेल, ए हिस्ट्री ऑफ़ दि फैमिली ऐज़ ए सोशल ऐण्ड एजुकेशनल इंस्टिट्यूशन, पृ० ५८ से।

२. महाभारत १, १२२, ३-२१।

३. हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम, पृ० १०२-७।

४. हरिदत्त, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ३-९।

५. **कुलाय हि स्त्री प्रदीयते इत्युपदिशन्ति।**

६. द्र० आश्व० गृ० सू० १, ५, १।

७. वासिष्ठ० ध० सू० १७, २४; मनु० ८, १७०; याज्ञ० २, १२९।

८. वैदिक इण्डेक्स १, ४७९; कै० हि० इण्डिया ५, १५९-६०; विष्णुस्मृति २५, २७; याज्ञ० १, १५।

समय में हर देश तथा समाज में इस प्रकार के व्यक्ति पाये ही जाते हैं। अन्यथा इस प्रकार के दुराचरणों के उदाहरण कहां मिलते और उन से बचने का उपदेश कैसे दिया जा सकता था। गूढज पुत्र न तो अवैध थे, न ही प्राचीन काल के वैदिक समाज की आचारहीनता को प्रमाणित करते हैं[1]। वैदिक काल के विवाह पति-पत्नी के स्थायी धार्मिक एवं आध्यात्मिक बन्धन को प्रमाणित करते हैं। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि पति, पत्नी का पाणिग्रहण वृद्धावस्था तक साथ-साथ रहने के लिए करता है[2]। इसी प्रकार पत्नी को बुढ़ापे तक पति का साथ देने का आदेश दिया गया है;[3] दोनों कभी पृथक् न हों;[4] सौ वर्ष तक साथ-साथ जीवित रहें[5]। अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि वह पत्नी को पति के लिए वृद्धावस्था तक पहुँचावे[6]। इन प्रमाणों से वैदिक युग में सुदृढ़ विवाह-बन्धन की पुष्टि तथा कामचार के संकेतों का प्रत्याख्यान होता है।

विवाह के समय वैदिक काल में दम्पती की आयु परस्पर सम्भोग के योग्य होती थी। वे एक दूसरे का चयन स्वयं करने की क्षमता रखते थे[7]।

इस विषय में गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित **चतुर्थी-कर्म** अकाट्य प्रमाण है, जिस का अनुष्ठान विवाह के चौथे दिन वर के घर में किया जाता है, तथा उस दिन वर-वधू के समागम का निर्देश दिया गया है[8]।

संहिताकाल में विवाह-सम्बन्धों पर गोत्र-प्रवर-आदि-विषयक किसी पाबन्दी का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु सूत्रों में सगोत्र, समान-प्रवर, तथा सपिण्ड विवाहों का स्पष्ट निषेध किया गया है[9]। शतपथब्राह्मण में तृतीय-चतुर्थ पीढ़ी

---

१. हरिदत्त, हिन्दूपरिवारमीमांसा, पृ० ४६९-७०।

२. ऋग्० १०, ८५, ३६; (तु. अथर्व० १४, १, ५०)।

३. ऋग्० १०, ८५, २७।

४. वही, १०, ८५, ४२।

५. अथर्व० १४, १, ५२; ६२।

६. वही, १४, १, १८; १४, १, ४९।

७. द्र० ऋग्० १० ८५; अथर्व० १४, १-२।

८. पार० गृ० सू० १, ११; गो०गृ०सू० २, २५; शां० गृ० सू० १, १८, १९ इत्यादि।

९. आप० ध० सू० २, ११, ५; २, ५१५, १६; गो० गृ० सू० ३, ४, ३-५; बौ० ध० सू० २, १, ३८ प्रभृति (द्र० पुरुषोत्तम-कृत गोत्र-प्रवर-मञ्जरी, जॉन ब्रौ (John Brough) द्वारा सम्पादित, पृ० ७९-१९४; वें० प्रेस; सं० ; गोत्र-प्रवर-निबन्धकदम्बकम् प्रभृति में गोत्र-प्रवर-लक्षणों तथा उनकी संख्या पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है, तो भी यह एक जटिल समस्या बनी हुई है।

में भाई-बहिनों के विवाह का सङ्केत पाया जाता है[1]। सौराष्ट्र में चौथी पीढ़ी में परस्पर विवाह अब भी होते हैं। सूत्रों में भी सभी सूत्र इस प्रकार के विवाह के विषय में व्यवस्था नहीं देते। आश्व० गृ० सू० (१, ५, ५), काठ० गृ० सू० (१४, ३, ४) तथा पार० गृ० सू० (१, ३) में सगोत्रता के विषय में कुछ भी नहीं कहा गया। वसिष्ठ, आपस्तम्ब, बौधायन तथा गौतम धर्म-सूत्रों में इस विषय में भिन्न-भिन्न विधान किये गये हैं। वसिष्ठ केवल भिन्न गोत्र की कन्या से विवाह का विधान करता है (८, १)। आप० ध० सू० (२, ५, १, १५) में भी सगोत्र-विवाह का निषेध तो किया गया है, किन्तु इस विषय में किसी प्रकार के दण्ड या प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया। बौधायन-प्रवराध्याय में तो सगोत्र तथा समान-प्रवर विवाह को पाप घोषित किया गया है, जिसके लिए चान्द्रायण व्रत की व्यवस्था दी गयी है, किन्तु पत्नी को त्यागने की बात नहीं कही गयी, जबकि बौ० ध० सू० (२, १, ३८) में सगोत्र पत्नी से सम्बन्ध-विच्छेद करके उसका मातृवत् पालन करने का विधान किया गया है तथा पुत्र हो जाने पर कृच्छ्र व्रत की व्यवस्था दी गयी है। किन्तु गौ० ध० सू० (४, २, २३, १२) में इस प्रकार के विवाह को गुरुतल्पारोहण के समान महापातक घोषित किया गया है। इस प्रकार कालक्रमानुसार गोत्र-सम्बन्धी यह नियम कठोरतर होता गया।[2]

सगोत्रता तथा समान-प्रवरता के सदृश ही सपिण्डता को भी विवाह में बाधक मानने की परिपाटी उत्तरकालिक साहित्य में ही दृष्टिगोचर होती है। इस बात के सङ्केत हैं कि पितृ-कुल से सम्बद्ध स्त्री-पुरुषों में वैदिक काल में भी विवाह नहीं होते थे। दक्षिण में मामा की कन्या के साथ विवाह विहित माना जाता है और इसके लिए ऋग् ७, ५५ के परिशिष्ट १५ की षष्ठी ऋचा को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है[3]। ममेरी बहिन से विवाह का एक उदाहरण अर्जुन और सुभद्रा का विवाह है। इसी प्रकार प्रद्युम्न तथा रुक्मी एवं अनिरुद्ध तथा रोचना के विवाह भी इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के विवाहों की कुमारिल ने भी निन्दा की है और सुभद्रा तथा अर्जुन के विवाह को अपने पाण्डित्य के सहारे

---

१. श० ब्रा० १, ८, ३, ६ तथा इस पर एग्लिंग की टि० ; Maxmüller, *H.A.I.S.L.* p. 387.

२. इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के ऊहापोहों एवं विचारों की आलोचना-प्रत्यालोचनार्थ द्र. हरिदत्त विद्यालङ्कार, हिन्दू-विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ० २८-७८।

३. **आयाहीन्द्र पथिभिरीळितेभिर्यज्ञमिमं··· । तृप्तां जहुर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव** (सातवलेकर सं०): किन्तु विपरीत विचारार्थ द्र० अपरार्क, पृ० ८३।

अन्य प्रकार से व्याख्या की है[1]। बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं[2]।

किन्तु धर्मसूत्रों में माता और पिता की कुछ पीढ़ियों को छोड़ने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। गौ० ध० सू० (१, ४, ३) माता की पांच तथा पिता की सात पीढ़ियों के बाद ही विवाह-सम्बन्ध जोड़ने की अनुमति देता है। बौ० ध० सू० सपण्डिता के विषय में मौन है। किन्तु दाक्षिणात्यों के ममेरी तथा फुफेरी बहिनों से विवाह के प्रचलन की निन्दा करते हुए इस रीति को उत्तरापथ वासियों के लिए निषिद्ध घोषित करता है[3]। आप० ध० सू० (२, ५, ११, १६) त्याज्य पीढ़ियों की चर्चा नहीं करता। वसिष्ठ (८, २) ने इस विषय में गौतम के समान ही व्यवस्था दी है, किन्तु वर्ज्य पीढ़ियों की संख्या एक-एक कम कर दी है। गौतम तो ऐसे वर्ज्य विवाहों के पापियों को जाति-भ्रष्ट तथा पतित घोषित करता है। अन्य किसी सूत्रकार ने ऐसी व्यवस्था नहीं दी। गौतम द्वारा व्यक्त विचारों ने उत्तरोत्तर बल पकड़ा और स्मृतिकारों ने इनका सबल समर्थन किया।

जहां बहिर्विवाह के सम्बन्ध में इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, वहां यह भी निर्देश दिये गये हैं कि वर-वधू को एक वर्ण और एक जाति का (सवर्ण तथा सजातीय) होना भी अनिवार्य है। किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में इस प्रकार के नियम का पालन सख्ती से नहीं किया जाता था। उस समय अनुलोम विवाह अर्थात् उच्च वर्ण के पुरुषों का निम्न वर्ण की स्त्रियों से विवाह की परिपाटी प्रचलित थी। प्रतिलोम विवाह या निम्न वर्ण के पुरुषों का उच्च वर्ण की स्त्रियों से विवाह के उदाहरण भी पाये जाते हैं। १२वीं शती तक अनुलोम विवाह होते रहे हैं। उत्तरकालिक निबन्धकारों ने असवर्ण विवाहों को कलि-वर्ज्य घोषित करके इन्हें प्रायः समाप्त कर दिया।

वैदिक काल में असवर्ण विवाह स्वयं ऋषियों तक ने किये थे। भृगुवंशी च्यवन ने मनु के वंशज क्षत्रिय शर्याति की कन्या सुकन्या से विवाह किया था[4]। राजा रथवीति दार्भ्य ने अपनी पुत्री अर्चनानस्, आत्रेय के पुत्र श्यावाश्व को प्रदान की थी[5]। ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता महिदास इतरा नामक शूद्रा की सन्तान

---

१. तन्त्रवार्तिक, पृ० २१०।

२. द्र. हरिदत्त, हिन्दूविवाह०, पृ० ८३-८४।

३. बौ० ध० सू० १, १, २१-२२।

४. श० ब्रा० ४, १, ५।

५. बृ० दे० ५, ५०-८० (ऋग्० ५, ६१, १७-१९)।

था। उसी के नाम पर ग्रन्थ का नाम ऐतरेय पड़ा। दीर्घतमस् की पत्नी उशिज् शूद्रा थी, जिसके गर्भ से कक्षीवान् औशिज की उत्पत्ति हुई[1]। ऋग्० १०, ३०-३४ का ऋषि कवष शूद्रा की सन्तान था[2]।

प्राचीन प्रतिलोम विवाहों में ब्रह्मर्षि कर्दम की सुपुत्री काम्या का राजा प्रियव्रत से[3], शुक की कन्या कृत्वी का राजा नीप से,[4] देवयानी का ययाति[5] से विवाह उल्लेखनीय हैं। इस विषय में देवयानी का यह वचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—'ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय और क्षत्रिय के साथ ब्राह्मण मिले हुए हैं। हे नाहुष ! आप भी उसके अनुसार ऋषि और ऋषिपुत्र हुए, अतः मेरे साथ विवाह करो'[6]।

यद्यपि शूद्रा स्त्री से द्विजों के विवाह का निषेध किया गया है, तो भी पार० गृ० सू० (१, ४, ८-११), बौ० ध० सू० (१, ८, २), विष्णु० ध० सू० (२४. १, ४), तथा वा० ध० सू० (१, २५) से प्रतीत होता है कि कुछ लोगों की सम्मति में शूद्रा स्त्री को ग्रहण किया जा सकता था। किन्तु उसके लिए धार्मिक संस्कार की आवश्यकता नहीं होती थी। अन्य लोग इस सम्बन्ध को अत्यन्त निकृष्ट तथा कुलपातक कहते हैं[7]।

विवाह से पूर्व वर तथा वधू के गुणों की परीक्षा की जाती है। वर की योग्यताओं (वर-सम्पत्) में सर्वप्रथम अखण्ड ब्रह्मचर्य गिनाया गया है[8]। द्वितीय श्रेष्ठकुल,[9] तृतीय बुद्धि[10], चतुर्थ गुण[11] आवश्यक तत्त्व माने गये हैं। इनके अतिरिक्त स्वास्थ्य,[12] पुंस्त्व[13] तथा शारीरिक लक्षणों[14] की परीक्षा पर भी बल दिया गया है।

---

१. ऐ० ब्रा० १४, १, १७; बृ० दे० ४, २४; २५।
२. ऐ० ब्रा० २, ८।
३. वायु० पु० अध्याय २८।
४. भाग० पु० ९. २१, २४।
५. वही १, ८१।
६. द्र. हरिदत्त, वही।
७. बा० ध० सू० १, २५; मनु० ३, १४-१९; पराशर० १२, ३३; विष्णु० (अध्याय २६); बौ० ध० सू० २, १, ११; वीर० सं० प्र० पृ० ७५०-५१।
८. बौ० ध० सू० ४, १, ११।
९. आश्व० गृ० सू० १, ५, १—कुलमग्रे परीक्षेत।
१०. आप० गृ० सू० १, ५, २।
११. बौ० ध० सू० ४, १, २०।
१२. आप० गृ० सू० १. ३, २०।
१३. याज्ञ० स्मृ० १, ५५।
१४. वीर० सं० प्र०, पृ० ७५२-५४।

ज्येष्ठ भ्राता के अविवाहित रहने पर छोटे भाई के विवाह या **परिवेदन** को महापाप माना जाता था[१], किन्तु इसमें कुछ अपवाद भी गिनाये गये है। यथा, बड़े भाई के विदेश से १२ वर्ष तक न लौटने पर छोटा भाई विवाह कर सकता है[२]। उत्तरवर्ती स्मृतिकारों ने बड़े भाई के नपुंसक, पतित, संन्यासी तथा योगाभ्यासी होने पर परिवेदन में कोई दोष नहीं माना[३]।

वर के समान ही वधू के गुणों की अपेक्षा सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु सभी गुण न पाये जायें तो धन की अपेक्षा रूप को वरीयता देनी चाहिये। किन्तु कुल और बुद्धि की वरीयता के विषय में मतभेद पाया जाता है[४]। वधू के लक्षणों की परीक्षा के दुरूह कार्य का समुचित उपाय न देखकर सूत्रकार विचित्र सुगम उपाय का आश्रय लेते प्रतीत होते हैं। विभिन्न स्थानों के मिट्टी के आठ पिण्डों पर **ऋतमग्रे** का मन्त्र पढ़ कर कन्या से किसी एक पिण्ड को उठाने को कहा जाता था। उसके द्वारा उठाये गये पिण्ड के आधार पर उसके लक्षणों की परीक्षा की जाती थी[५]। आप० गृ० सू० (३, २१) ने इन उपायों को ताक में रख कर एक अत्यन्त व्यावहारिक उपाय बतलाया है कि जिस पर दिल आ जाये और जिसे नयन पसन्द कर लें, वही सर्वोत्तम कन्या है—

यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबन्धस्तस्यामृद्धिर्नेतरदाद्रियेतेत्येके।

गौ० ध० सू० (४, १) ने सजातीय तथा अक्षतयोनि कन्या पर बल दिया है। प्राचीन काल से ही आर्यों में अनेक प्रतिबन्धों तथा नियमों के रहते भी अनेक प्रकार के विवाह प्रचलित थे, जिन्हें शास्त्रकारों ने मान्यता प्रदान की है। आश्व० गृ० सू० (१, ६), गौ० ध० सू० (४, ६, १३), बौ० ध० सू० (१, ११), वि० ध० सू० (१४, १८-१९) में निम्नलिखित आठ विवाहों का वर्णन किया गया है।

(१) ब्राह्म—जब कन्या का पिता वर को स्वयं बुला कर वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत करके उसे दान कर देता है, वह ब्राह्म कहलाता है।

---

१. तै० ब्रा० १, २, ९; ३, ४, ४ आप० ध० सू० २, ५, १२-२२; वा० ध० सू० १, १८; विष्णु० ध० सू० ३७, १५-१७।

२. गौ० ध० सू० १८, १८, १९ पर हरदत्त।

३. अत्रिसंहिता १०५-६।

४. भार० गृ० सू० १, ११; आश्व० गृ० सू० १, ५, ३; शां० गृ० सू० १, ५, ६; विष्णु ध० सू० २४, १२-१६।

५. आश्व० गृ० सू० १, ५, ४-६; न्यूनाधिक भेद से अन्य सूत्रकारों ने यही विधि अपनायी है। गो० गृ० सू० २, १, १; आप० गृ० सू० ३, १५-१८; वाराह गृ०सू० १०; भार० गृ० सू० १, ११; मा० गृ० सू० १,७, ९-१०।

(२) दैव— जब ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के अवसर पर पिता किसी योग्य ऋत्विक् को कन्या का दान देता है, तो उसे दैव विवाह कहते हैं।

(३) आर्ष—जब यज्ञादि के धर्म-कार्यों की सिद्धि के लिए वर से गौओं की एक जोड़ी लेकर कन्या का पिता कन्या-दान कर देता है, तो उसे आर्ष विवाह कहते हैं।

(४) प्राजापत्य—कन्या का पिता जब वर-वधू को 'तुम दोनों मिल कर धर्म का आचरण करो' यह कह कर वर की पूजा करके कन्या का दान कर देता है, उसे प्राजापत्य विवाह कहते हैं।

(५) आसुर—कन्या के पिता को कन्या के बदले में यथाशक्ति धन देकर जब कोई कन्या का वरण करता है, तो उसे आसुर विवाह कहा जाता है।

(६) गान्धर्व—जिस में कन्या तथा वर की अपनी इच्छा से एक दूसरे के साथ सम्भोग किया जाता है, उसे गान्धर्व विवाह की संज्ञा दी जाती है।

(७) राक्षस—जब कन्या-पक्ष के लोगों को मार-पीट कर रोती हुई कन्या का बलात् अपहरण कर लिया जाता है, उसे राक्षसविवाह के नाम से अभिहित किया जाता है।

(८) पैशाच—सुप्त, प्रमत्त या उन्मत्त कन्या के साथ एकान्त में बलात्कार करके सम्भोग करने को पैशाच विवाह कहा जाता है।

आप० ध० सू० (२, ५, ११, १७-२०) तथा वा० ध० सू० में यह संख्या छह ही है। आपस्तम्ब ने **पैशाच** तथा **प्राजापत्य** की चर्चा नहीं की। वा० ध० सू० अन्तिम दो को **मानुष** तथा **प्राजापत्य** को **क्षात्र** विवाह के नाम से अभिहित करता है। मानव तथा वाराह गृह्यसूत्रों में केवल **ब्राह्म** तथा **शौल्क** विवाहों को ही चर्चा की गयी है।[1]

धर्मशास्त्रों में प्रथम चार को प्रशस्त और अन्तिम चार को अप्रशस्त कहा गया है[2]। ब्राह्मणों के लिए प्रथम चार विवाह वैध माने गये हैं और क्षत्रियों के लिए गान्धर्व, आसुर तथा राक्षस। वैश्यों और शूद्रों के लिये आसुर, गान्धर्व और पैशाच वैध हैं[3]।

---

१. मा० गृ० सू० १, ७, १२।

२. बौ० ध० सू० १, ११, १० ; आप० ध० सू० २, ५, १२, १३, गौ० ध० सू० १, ४, १२।

३. बौ० ध० सू० १, ११, १२; १६।

कुछ विद्वानों का विचार है कि इन विवाहों का नामकरण प्रायः भारत में रहने वाली उन जातियों के नाम पर किया गया है, जिनमें ये विवाह प्रचलित थे। जायसवाल के अनुसार गान्धर्व विवाह का गन्धर्व जाति के नाम पर नामकरण किया गया, और इसी आधार पर अन्य जातियों के नाम पर अन्य विवाहों के नाम रखे गये[1]। ब्राह्मणों के लिये ब्राह्म, ऋषियों के लिये आर्ष प्रभृति नाम प्रचलित हो गये। राक्षस-पैशाच विवाहों को विवाह की संज्ञा केवल इस लिए प्राप्त हुई प्रतीत होती है कि इनमें कन्या का उद्-वहन या उठा ले जाने की क्रिया होती है, अन्यथा इन्हें किसी प्रकार भी एक सामाजिक संस्था के रूप में मान्यता देना कल्पनातीत प्रतीत होता है। इन्हें वैध इसलिए करना पड़ा कि एक सिद्ध तथ्य को नकारना असम्भव था, विशेषतः उस समाज में, जहां क्षतयोनि कन्या से विवाह हेय माना जाता था। आज ईसाई तथा मुस्लिम समाज में तलाक़-प्राप्त स्त्री के पुर्नविवाह की कोई समस्या नहीं, किन्तु हिन्दुओं में यह अत्यन्त जटिल समस्या है। पैशाच तथा राक्षस विवाहों को किसी जाति से सम्बद्ध करने की अपेक्षा राक्षस-पिशाच प्रवृत्तियों से सम्बद्ध करना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। इसीलिये राक्षस विवाह को 'क्षात्र' विवाह की संज्ञा भी दी गयी है, क्योंकि यह युद्ध-प्रिय क्षत्रियों में अधिक प्रचलित था, और महाभारत में इस प्रकार के विवाह को क्षत्रियों के लिए 'उत्तम मार्ग' कहा गया है[2]। इस दृष्टि से अपहरण या बलात् सम्भोग के बाद भी होम और सप्तपदी द्वारा संस्कार आवश्यक माना गया है[3]। वसिष्ठ ने यहां तक कह दिया कि संस्कार के अभाव में ऐसी अपहृत कन्या का विवाह अन्य किसी से किया जाना चाहिये[4]।

पैशाच विवाह में छल का तथा राक्षस विवाह में बल का प्रयोग किया जाता था। आश्वलायन के अतिरिक्त सभी शास्त्रकार पैशाच विवाह को निकृष्टतम विवाह मानते हैं और इसी लिए इसे सबके अन्त में गिनाते हैं।

राक्षस—विलोम क्रम से दूसरा विवाह राक्षस आता है। कुछ विद्वान् इसे विवाह का प्राचीनतम रूप मानते हैं और आधुनिक बारात को उस मूलभूत युद्ध का अवशेष समझते हैं। यह विचार कुछ सीमा तक समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि न केवल बारात ही अपितु वर का कमर से तलवार बांध कर घोड़ी पर चढ़ कर आगमन भी इसी ओर सङ्केत करते हैं। भीष्म पितामह द्वारा काशिराज की

---

१. मनु एण्ड याज्ञवल्क्य।

२. म० भार० १, १२१, २१-२३; वा० ध० सू० १, ३९, ३४; म० भार० १३, ४७, १०।

३. मनु० ८, ३३६-६९; याज्ञ० २, ८७-८८।

४. वा० ध० सू० १७, ७३; बौ० ध० सू० ४, १, १७।

कन्याओं का अपहरण, अर्जुन द्वारा सुभद्रा का अपहरण, दुर्योधन द्वारा कलिंग राजकुमारी का अपहरण इस प्रथा के प्रसिद्ध निदर्शन हैं। अपहरण प्रायः कन्याओं का किया जाता था। किन्तु कभी-कभी विवाहिता स्त्रियों का भी अपहरण कर लिया जाता था। जयद्रथ ने द्रौपदी के अपहरण की चेष्टा की, तो धौम्य ने उसे क्षात्र धर्म की परम्परा का स्मरण कराते हुए उसे पाण्डवों को जीते बिना द्रौपदी के अपहरण से रोक दिया था।

यह प्रथा भारत में ही नहीं, अन्य अनेक देशों तथा जातियों में भी प्रचलित है।

आसुर विवाह—इस विवाह में वर कन्या को धन के द्वारा खरीद लेता है। कतिपय शास्त्रकारों ने इसे **मानुष** विवाह की संज्ञा दी है। वैदिक काल में भी ऐसे विवाह के सङ्केत मिलते हैं। ऋग्० १, १०९, २ में कहा गया है—"हे इन्द्र और अग्नि! मैंने सुना है कि तुम दोनों कुछ दोष रखने वाले जामाता तथा साले से भी अधिक धन देने वाले हो।"

इससे प्रतीत होता है कि उस समय वर के रूप-रंग या अन्य किसी प्रकार का दोष होने पर उससे प्रचुर धन प्राप्त करके इस दोष को ढक दिया जाता था। प्रतीत होता है यह प्रथा दक्षिण में अधिक प्रचलित थी, क्योंकि यास्क ने स्पष्ट ही कहा है कि दाक्षिणात्य क्रीता स्त्री के पति को **विजामाता** (सदोष जामाता) कहते हैं[1]। स्त्रियों को सम्पत्ति (दाय) दिये जाने के विरोधियों की एक युक्ति यह भी थी कि इनका दान, विक्रय तथा त्याग किया जाता है[2]।

स्त्रियों के विक्रय का स्पष्ट उल्लेख मै० सं० (१, १०, ११) में किया है[3]। जैमिनि के सूत्र (६, १, १०) तथा शबर के भाष्य में भी इस बात को उठाया गया है[4]। यह प्रथा महाभारत-काल तक प्रचलित रही। इस परम्परा-प्राप्त प्रथा को समाप्त करने का साहस राजा शल्य को भी नहीं हो सका[5] तथा भीष्म ने शल्य की बहिन माद्री को प्रचुर धन प्रदान करके पाण्डु के लिए खरीदा था। दशरथ ने कैकेयी का पाणिग्रहण शुल्क देकर किया था। सिकन्दर के साथ आये यूनानियों ने भी भारत की इस प्रथा को तक्षशिला के बाजारों में कन्याओं को बिकते देख कर प्रमाणित किया है। किन्तु धर्मशास्त्रों में इस प्रथा की घोर निन्दा की गयी है तथा क्रीता पत्नी को वैधता प्रदान करने से इनकार कर दिया है,[6] तो

---

१. निरुक्त, ६, ९।

२. वही, ३, ४, ३—स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः'।

३. ऋतं वै सत्यमतोऽनृतं स्त्री, अनृतं वा एषा करोति या पत्युः क्रीता सत्यथान्यैश्चरति।

४. 'क्रयविक्रय-संयुक्ता हि स्त्रियः'।

५. म० भार० १, ११३, ८।

६. बौ० ध० सू० १, ११, २०-२१; २, १, ७९।

भी क्षत्रियों में प्रचलित होने के कारण इसे धर्मानुकूल मान लिया गया[1], अतः मानव गृह्यसूत्र (१, ७, ८) ने इसे **शौल्क** नाम से अभिहित किया है। इसकी निन्दा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी[2]।

यद्यपि इसके विपरीत वर के पिता को धन-प्रदान करने की प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता, तो भी कन्या को दहेज (वहतु) देने का उल्लेख ऋग्वेद १०, ८५, ३८ तक में किया गया है तथा अथर्व० में **शतवाही जाया** की चर्चा की गयी है[3]। साथ ही साथ ऐ० ब्रा० १, १३ में धन के आधार पर किये गये विवाह को **पशु-विवाह** की संज्ञा दी गयी है। आजकल तो वर-पक्ष के लोग ही कन्या-पक्ष से धन की अपेक्षा करते हैं।

गान्धर्व विवाह—यद्यपि आश्व० गृ० सू० में **गान्धर्व** को **आसुर** के पूर्व गिनाया गया है, तो भी अन्यत्र इसे आसुर के पश्चात् तथा उससे निकृष्टतर समझा गया है। ऋग्वेद १०, २७, १२ में तो स्वयं पति का वरण करने वाली कन्या को **भद्रा** कहा गया है[4]। अथर्ववेद के मन्त्र[5] से विदित होता है कि माता-पिता पुत्री को अपने प्रेमी को चुनने के लिए उत्सवों में आने-जाने की खुली छूट दे देते थे तथा इस विषय में उसे प्रोत्साहन प्रदान करते थे। प्रेमियों को अपनी प्रेमिकाओं से मिलने के लिए अथर्व० के अनेक सूक्तों का एतद्विषयक क्रिया-कलापों में विनियोग, प्रार्थनाएं आदि इस प्रकार के विवाहों की ओर सङ्केत करते हैं। **कामात्मा सूक्त**[6] तथा **कामिनी मनोभिमुखीकरण**[7] नामक सूक्तों के मन्त्रों की टेक ही यह है—मेरी प्रेमिका मुझे चाहने वाली हो, मुझ से दूर जाने वाली न हो। **अभिसौमनस्य**[8] तथा **स्मर-सूक्तों**[9] में भी प्रेमिका के प्रति प्रेमी ने अपनी विह्वलता एवम् आतुरता को व्यक्त किया है तथा प्रेमिका अपने प्रेमी को प्राप्त करने के लिए व्याकुल

---

१. वही, १,११,१२।

२. महानिर्वाण-तन्त्र ११, ८४; पद्मपुराण, ब्र० खं० २४, २६।

३. द्र. अथर्व० ५, १७, १२।

४. **भद्रा वधूर्भवति यत् सुपेशा स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।**

५. अथर्व० २, ३६, १—**जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै।**

६. अथर्व० ६-३, ८; **यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः।**

७. वही, २, ३०।

८. वही, ६, १०२।

९. वही ६, १३०-१३१ **'देवाः प्रहिणुत स्मरमसौ मामनुशोचतु''** तथा ३, २५; ३, २६।

होती है। इतना होने पर भी प्रायः माता-पिता ही विवाह का नियन्त्रण करते थे[1], किन्तु अनेक अवस्थाओं में अधिक हस्तक्षेप नहीं करते थे[2], तो भी धर्मशास्त्रों ने सामान्यतः इस प्रकार के विवाह का समर्थन नहीं किया, तथा इसे चार प्रशस्त विवाहों में परिगणित नहीं किया। इसे केवल क्षत्रियों के लिए उचित माना है। किन्तु बौ० ध० सू० (१, ११ १३) इसे वैश्यों तथा शूद्रों के लिए भी वैध मानता है, साथ ही कुछ लोगों की इस सम्मति को भी उद्धृत करता है कि परस्पर प्रेम पर आधृत होने के कारण यह सभी जातियों के लिए विहित है (१, ११, १६)।

किन्तु धर्मशास्त्रों में इस विबाह द्वारा परस्पर समागम होने के बाद भी विवाह-संस्कार का विधिपूर्वक अनुष्ठान अनिवार्य किया गया है। मनु० (३, २६) की नवीन व्याख्या करते हुए स्टर्नबख़ ने इस विवाह के दो भेद किये हैं—प्रथम राक्षसमिश्रितगान्धर्व विवाह, द्वितीय शुद्ध गान्धर्व[3]। रुक्मिणी का श्रीकृष्ण से विवाह प्रथम प्रकार है और शकुन्तला का दुष्यन्त से द्वितीय प्रकार का हैं।

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चारों प्रशस्त विवाहों में कन्या-दान किया जाता है। इनमें भी ब्राह्म सर्वश्रेष्ठ माना गया है[4]। इसमें कन्या-पक्ष द्वारा धन आदि ग्रहण नहीं किया जाता। अपि तु कन्या का पिता विद्वान्, शील-सम्पन्न वर को स्वयम् आमन्त्रित करके तथा उसका विधिवत् सत्कार करके दक्षिणा के साथ यथाशक्ति वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत कन्या का दान कर देता था। ऋग्वेद[5] में वर्णित सोम-सूर्या का विवाह ब्राह्म विवाह ही है। आजकल भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय यही विवाह है, किन्तु इसमें दहेज की निन्दनीय प्रथा प्रविष्ट हो गयी है।

दैव-विवाह में कन्या ऋत्विक् को दक्षिणा के रूप में दी जाती थी[6]। दैव-यज्ञ के अवसर पर दिये जाने के कारण इसका नाम दैव पड़ गया। प्राचीन-काल में यज्ञों में राजा लोग पुरोहितों को सेवार्थ कन्याओं अथवा दासियों का दान कर दिया करते थे, जो वधू कहलाती थीं। ब्राह्मणों, विशेषतः पुरोहितों को कन्यादान देने की प्रथा भारत के कई भागों तथा वर्गों में आज तक

१. वे० इण्ड०, खण्ड १।
२. रिसम्मर, वही।
३. ज्यूरिडिकल स्टडीज़ इन एन्शेण्ट इण्डिया, खण्ड २।
४. आश्व० गृ० सू० १, ६।
५. ऋग्० १०, ८५।
६. आश्व० गृ० सू० १, ६।

भी विद्यमान है। ये वास्तविक विवाह नहीं होते, अपि तु विवाहोपरान्त भी स्त्री अपने पितृगृह में रहती है और उस का पति वर्ष में सुविधानुसार एक दो बार वहीं आकर मिल जाता है।

आर्ष विवाह में कन्या का पिता एक या दो गोमिथुन के बदले में कन्यादान कर देता था। यद्यपि यह कन्या का मूल्य नहीं होता था, तो भी इसमें धन-प्राप्ति का भाव अवश्य था, चाहे वह धर्मकार्यार्थं ही होता था। इसे मनु ने **अर्हण** की संज्ञा प्रदान की है[1] और यह कन्या के साथ ही वर को दे दिया जाता था[2]। पहले यह विवाह-प्रकार प्रशस्त माना जाता था, किन्तु बाद में गोमिथुन के ग्रहण को भी कन्या के मूल्य के रूप में कन्यादान की भावना के विरुद्ध माना जाने लगा[3]।

प्राजापत्य विवाह में कन्या का पिता स्वयं विवाहार्थ प्राप्त वर से 'तुम दोनों धर्म का साथ-साथ पालन करो' यह आदेश देकर कन्यादान कर देता था। वास्तव में ब्राह्म विवाह से इसमें कोई भेद नहीं है। हिन्दू-विवाह का उद्देश्य ही धर्मपालन होने के कारण इस विवाह में **सह धर्मं चरतम्**[4] के उपदेश का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता, और फिर पति-पत्नी सभी धर्मकार्य परस्पर मिल कर ही करते हैं[5]।

ब्राह्म और **प्राजापत्य** का अन्तर स्पष्ट करते हुए टीकाकारों ने लिखा है कि जीवन-पर्यन्त एक विवाह का आदर्श पालन करने वाले के लिए ही **प्राजापत्य** विवाह का विधान किया गया है। आप० ध० सू० ने वहुभार्यता को निन्दनीय

---

१. **यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।**
अर्हणं तत् कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्॥ मनु० ३, ५४॥
आप० ध० सू० (२, ६, १३, ११) ने इस बात का समर्थन करते हुए कहा है कि इस प्रकार के गोमिथुन का ग्रहण कन्या का शुल्क नहीं कहा जा सकता। महाभारत (१३, ४५, २०-२१) ने इस प्रकार 'शुल्क-ग्रहण' की निन्दा की है। और स्टर्नवख ने महाभारत के उक्त सन्दर्भ से आसुर से आर्ष और आर्ष से दहेज-प्रथा के विकास की कल्पना की है (ज्युरिडिकल स्टडीज, १, पृ० २६७)।

२. **धर्मनिमित्तो ह्यसौ सम्बन्धी न लोभनिमित्तकः। गोमिथुन-ग्रहणञ्च स्वयं कन्योपकरण-दानासमर्थस्य तद्दानार्थं वेदितव्यम्"।** वी० मि० सं० प्र० पृ० ८२२।

३. किन्तु विचित्र बात यह है 'कि कन्या-विक्रय' के इतने विरोधी समाज में आज 'पुत्र-विक्रय' धड़ल्ले से हो रहा हैं और किसी धर्मध्वज का इसे धर्मविरुद्ध घोषित करने का साहस नहीं हुआ।

४. आश्व० गृ० सू० १,६।

५. आप० ध० सू० २, ६, १३, १६-१८।

माना है, क्योंकि उसके मत में विवाह का मुख्य उद्देश्य ही धर्म-पालन करना है। इसी लिए **ब्राह्म**-विवाह के बाद किसी व्यक्ति को दूसरा विवाह करने का अधिकार नहीं है। इसी कारण उसने **प्राजापत्य** विवाह का पृथक् उल्लेख नहीं किया। अन्य सूत्रकारों ने इस एकपत्नीत्व के आदर्श के पालनार्थ **प्राजापत्य** का प्रतिपादन करना आवश्यक समझा[1]। हरदत्त ने गौ० ध० सू० (१. ५, ४) की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि **प्राजापत्य**-विवाह में जीवन-पर्यन्त एक पत्नी के साथ धर्माचरण करने, अन्य सन्न्यास आदि आश्रम में प्रवेश न करने एवं अन्य स्त्री के साथ सम्पर्क न करने के प्रतिपादक मन्त्रों का विनियोग किया जाता है। अन्य विवाहों से यही इसकी विशेषता है।

स्वयंवर—

विवाह की इन विधाओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विवाह भी प्रचलित थे, यथा **स्वयंवर**, **विनिमय**, **सेवा**-विवाह तथा **सामयिक** विवाह। **स्वयंवर**-विवाह राक्षस-विवाह का प्रतिलोम था। **राक्षस**-विवाह में पति को अपनी पत्नी के चुनाव का अधिकार था, तो स्वयंवर में कन्या को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता थी। प्राचीनकाल में क्षत्रियों में इस प्रकार के विवाह का रिवाज बहुत अधिक था, किन्तु धीरे-धीरे इसे मर्यादित एवं सीमित कर दिया गया। **स्वयंवर** के नाम से प्रसिद्ध विवाह दो प्रकार के थे, एक तो वे जिनमें वर के लिए किसी प्रकार की परीक्षा या शर्त रखी जाती थी; जो उस परीक्षा से उत्तीर्ण हो जाता था, कन्या को उसके गले में जयमाला डालनी ही पड़ती थी। इसमें उसकी अपनी इच्छा या पसन्द का कोई प्रश्न नहीं होता था, यथा—सीता और द्रौपदी के स्वयंवर। इन्हें सच्चे अर्थों में स्वयंवर नहीं कहा जा सकता। इन्हें **'वीर्यशुल्क स्वयंवर'** की संज्ञा दी गयी है।

दूसरा वह, जिसमें कन्या को अपनी इच्छानुसार अपने पति के चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, यथा—नल-दमयन्ती या कुन्ती-पाण्डु का विवाह। वैदिक-काल में इस प्रकार के विवाह को उत्तम माना जाता था[2]। किन्तु इस प्रकार के ऐतिहासिक उदाहरण बहुत कम हम तक पहुँचे हैं। कभी-कभी कन्या के रजस्वला हो जाने पर भी पिता किसी मजबूरी के कारण विवाह का प्रबन्ध करने में असमर्थ होता था। उस अवस्था में कन्या को स्वयम् अपने पति का चयन करने

---

१. बालम्भट्टी (याज्ञ० १, ६०) ने स्पष्ट ही इसी उद्देश्य के लिए इस विवाह की आवश्यकता मानी है।

२. द्र. ऋग० १०, २७, १२ **'भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्'**।

का अधिकार था। सावित्री के पिता जब वृद्ध हो गये और अपनी पुत्री के के लिए समुचित वर की तलाश न कर सके, तो उन्होंने उसे अपना वर खोजने की आज्ञा दे दी। इस पर सावित्री ने देश-विदेश घूम कर अपने पति सत्यवान् को चुन लिया। गौ० ध० सू० (१८, २०) तथा वि० ध० सू० (२५, ४०) रजोदर्शन के तीन मास पश्चात् कन्या को अपना पति चुनने का अधिकार देते हैं, किन्तु वा० ध० सू० (१७, ६७-६८), बौ० ध० सू० (४, १, १३) तथा मनु (९,९०) ने इस अवधि को तीन वर्ष तक बढ़ा दिया है।

रामायण (१, ३२) तथा स्वयं महाभारत (१३, ४५, ४) में इस प्रकार के विवाह की निन्दा की गयी है, क्योंकि यह शिष्ट-सम्मत आचरण नहीं है। दूसरा कारण यह बताया गया है कि 'स्त्रियों को स्वाधीनता देना आसुर धर्म है'। समय के साथ नारी-स्वतन्त्रता पर अङ्कुश लगाने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति महाभारत के इस वचन से सिद्ध होती है कि 'कन्याओं द्वारा पति-वरण की प्रथा प्रलय का पूर्वलक्षण है',[1] 'स्वतन्त्रतापूर्वक पति वरण करने वाली स्त्रियां अधोगति को प्राप्त करती है'।[2]

यद्यपि हिन्दू-धर्म में विवाह को एक अविच्छेद्य धार्मिक बन्धन माना गया है, तो भी प्राचीन भारत के ऐसे उदाहरण भी हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि सामयिक या सांविदिक (Contractual) विवाह भी होते थे। उर्वशी तथा पुरूरवस् का विवाह सांविदिक या सशर्त विवाह था, जिसमें राजा को नग्न देखने तथा उर्वशी की इच्छा के विरुद्ध सहवास करने पर सम्बन्ध-विच्छेद की शर्त थी[3]। इसी प्रकार जरत्कारु ने नागराज वासुकि की बहिन से भी सशर्त विवाह किया था और कई शर्तों में से एक के भी भंग होने पर उसे त्याग कर चल दिया था[4]।

विनिमय-विवाहों की प्रथा भी भारत में प्रचलित है, किन्तु धर्मशास्त्रों में ऐसे विवाहों का उल्लेख नहीं है। इनमें कन्या देकर कन्या लेने की रीति प्रचलित

---

१. ३, १९०, ३६; इस विषय में द्र० अग्निपुराण २२६।

२. ब्रह्मपुराण २, १९।

३. श० ब्रा० ११, ५, १; ऋग्० १०, ९५; इस विषय में द्र० मैक्समूलर, एसेज, चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप, खण्ड २, पृ० १०२ से; वैबर, इण्डिशे स्ट्राइफेन, भाग १, पृ० १६ से; गैल्डनर, वे० स्ड०, १, पृ० २४४ से।

४. म० भार० १, ४७, ४-१३; २५-४४। मध्य प्रदेश के अनेक आदिवासियों में कुछ समय के लिए अस्थायी विवाह करने की प्रथा अब भी प्रचलित है। कुमाओं की पर्वतमाला के निवासी एक समय में अनेक भाई एक ही पत्नी से विवाह करते हैं। जौनसार बावर में स्त्री जब चाहे अपने विवाहित पति को छोड़ कर कुछ समय के लिए अन्य के साथ रमण करने में कोई दोष नहीं मानती। अब यह प्रथा बदल रही है।

है। पञ्जाब की कई जातियों तथा प्रदेशों में यह प्रथा आज तक भी उन वरों के विवाहार्थ अपनायी जाती है, जिनका विवाह निर्धनता, अथवा वर में कोई छोटा मोटा दोष होने के कारण, सम्पन्न नहीं हो पाता। इसे 'आमने-सामने' या 'बट्टा' (विनिमय) की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

हिन्दू-विवाह से सम्बद्ध कुछ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जुड़े हुए हैं, जिन पर संक्षेप में विचार करना उचित प्रतीत होता है।

बाल-विवाह—

जैसा कि हमने देखा है वैदिक युग में बाल-विवाह का कोई सङ्केत नहीं मिलता। विश्ववारा (ऋग्० ५, २८), अपाला (ऋग्० ८, ९१), तथा घोषा कक्षीमती (ऋग्० १०, ३९) जैसी विदुषी नारियों ने ऋषित्व प्राप्त किया। अथर्व० में कहा गया है—**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**' (११, ५, १८)। गृह्यसूत्रों[1] में प्रतिपादित **त्रिरात्रव्रत** तथा **चतुर्थीकर्म** से भी प्रमाणित होता है कि उस समय तक बाल-विवाह का प्रचलन नहीं हुआ था। तो भी बाल-विवाह की प्रवृत्ति किसी-किसी सम्प्रदाय में उदीयमान होती देखी जा सकती है। गो० गृ० सू० (३,४,६) तथा हि० गृ० सू० (१,१९,२) में '**नग्निका**' से विवाह का विधान किया गया हैं। '**नग्निका**' का अर्थ '**अ-ऋतुमती**' किया जाता है और इस आधार पर बाल-विवाह का समर्थन किया जाता है।[2] किन्तु हि० गृ० सू० (१, १९, २) में मातृदत्त ने '**नग्निका**' का अर्थ '**मैथुनार्हा**' करके भिन्न मत व्यक्त किया है। भविष्य-पुराण के अनुसार यह दश-वर्षीया कन्या होती थी[3]।

आगे चलकर धर्मसूत्रों में बाल-विवाह की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई दृष्टिगोचर होती है, और ऋतुदर्शन से पूर्व ही कन्या का विवाह कर देने की व्यवस्था दी जाने लगी। गौ० ध० सू० (१८, २०-२३) के मत में तीन ऋतुकाल बीत जाने पर भी पिता द्वारा विवाह न करने पर कन्या को स्वयम् अनिन्दित पुरुष के साथ विवाह कर लेना चाहिये और पिता के द्वारा प्रदत्त आभूषण आदि का परित्याग कर देना चाहिये। बौ० ध० सू० (४, १, १२-१४) तथा वा० ध० सू० (१०,७०-७१) के अनुसार तो जब तक ऋतुमती कन्या पितृ-गृह में अविवाहित रहती है, तब तक प्रत्येक ऋतुकाल में भ्रूण-हत्या का दोष उसके माता-पिता को लगता है। यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी।

---

१ शां० गृ० सू० (१, १७, ४-५); पा० गृ० सू० १, ८, २१; बौ० गृ० सू० ४, १, १६; में रजोदर्शन के उपरान्त कन्या के विवाह का निर्देश है।

२. गो० गृ० सू० ३, ४, ६ पर भट्ट नारायण; किन्तु सत्यव्रत सामश्रमी की टीका (हिन्दी अनु०) में पाठ '**अनग्निका**' स्वीकार किया गया है।

३. द्र० एल० स्टर्नबख—'ज्युरिडिकल स्टडीज़ इन एन्शेण्ट इण्डियन लॉ', भाग २, पृ० ३६।

विधवा-विवाह—

अन्त्येष्टि संस्कार के विवरण में हमने देखा है कि पत्नी दिवंगत पति के शव के साथ चिता पर लेटती थी, किन्तु उसे उठा लिया जाता था[1]। सम्भवतः प्राचीन काल में कभी पति के साथ अन्वारोहण की प्रथा प्रचलित थी। इसका सङ्केत अथर्व० में ही प्राप्त होता है, जबकि उसके विषय में कहा गया है कि 'पुरातन-धर्म' ('धर्म पुराणम्') का अनुपालन करती हुई यह नारी पति-लोक का वरण करती हुई 'प्रेत' के पास लेटी हुई है"[2]। किन्तु वैदिक काल तक आते-आते सती की प्रथा समाप्त करके पुर्नविवाह की प्रथा चला दी गयी थी[3]। अथर्व० (९, ५, २७-२८) में कहा गया है कि 'जो स्त्री पहले पति को प्राप्त कर उसके बाद दूसरे (अपरं) को प्राप्त करती है और वे पञ्चौदन तथा अज का दान करते हैं, वे दोनों कभी पृथक् नहीं होंगे। उसका दूसरा पति जो दक्षिणा की ज्योति के साथ पञ्चौदन तथा अज का दान करता है, अपनी पुर्वविवाहिता पत्नी के साथ एक ही लोक को प्राप्त होता है[4]। पश्चात्कालिक स्मृतियों की परम्परा में 'अन्यपूर्विका' तथा 'अनन्यपूर्विका'—दो प्रकार की स्त्रियों को स्मरण किया गया है।[5] 'अन्यपूर्विका' दो प्रकार की होती थी—'पुनर्भू' तथा 'स्वैरिणी'। 'पुनर्भू' उसे कहते हैं, जिसका विवाह-संस्कार दूसरी बार किया जाये। स्मृतिकार ने 'अनन्यपूर्विका' से विवाह करने की व्यवस्था दी है। इसी से स्पष्ट है कि 'अन्यपूर्विका' से भी विवाह होते थे। धर्मसूत्रों में **'पौनर्भव'** पुत्र की चर्चा की गयी है। यह उस स्त्री का पुत्र कहा गया है, जो अपने **विवाहित (कौमार) पति को छोड़ कर अन्य के साथ रमण करे**[6]। वाग्दान के पश्चात्, किन्तु विवाह से पूर्व ही वर की मृत्यु हो जाने पर भी पुर्नविवाह की व्यवस्था है। अक्षतयोनि विवाहिता विधवा के पुर्नविवाह की भी

---

१. ऋग्० १०, १८, ८; अथर्व० १८, ३, २।

२. अथर्व० १८, ३, १—**इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि।'** किन्तु द्र० सायण-भाष्य।

३. तु० ऋग्० १०, १८, ८। डा० अल्तेकर ने इस मन्त्र में विधवा-विवाह की खोज को 'बेहूदा' कहा है (वि० ए० इण्डिया, द्वि० सं० पृ० १५०; किन्तु द्र. आश्व० गृ० सू० ४, २, १८— **'देवरः पतिस्थानीयः.........'** तथा **''''देवरो द्वितीयो वर उच्यते** (निरु० ३, १५, १)।

४. अथर्व० ५,१७, ८-९।

५. याज्ञ० स्मृ० १, ५२।

६. वासिष्ठ ध० सू० १७,१८-२० सप्तविध पौनर्भव गिनाये गये हैं **(स्मृ० चं० १,७५)**।

प्रथा थी[1]। कौटिल्य अर्थशास्त्र (३, ४) में पति की मृत्यु हो जाने के बाद सात मास तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है।

अक्षतयोनि विधवाओं के लिए उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य अवस्थाओं में भी पुनर्विवाह की व्यवस्था की गयी है। जब पति विदेश चला जाये और उसके विषय में पांच वर्ष तक कोई सूचना प्राप्त न हो, तो पत्नी को दूसरा विवाह करने का अधिकार दिया गया है। इस विषय में वर्ण तथा सन्तान सम्बन्धी कुछ नियमों के अनुसार प्रतीक्षाकाल में भेद किया गया है[2]। पति के नपुंसक होने, जाति-च्युत होने या उन्मत्त होने की अवस्था में भी पुनर्विवाह का अधिकार पत्नी, को दिया गया है[3]। बौ० ध० सू० (८,२, २६) में केवल नपुँसकता और जाति-भ्रंश को स्त्री के पुनर्विवाह का कारण माना गया है। विवाह-संस्कार के समय पति के मर जाने पर भी स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार दिया गया है।[4]

नियोग—विवाह के अतिरिक्त सन्तानोत्पत्ति का एक अन्य वैध उपाय नियोग था। पुत्रहीना नारी यदि पुत्रोत्पत्ति की इच्छुक हो, तो वह गुरुजनों की आज्ञा लेकर देवर से पुत्र प्राप्त कर सकती थी। देवर के अभाव में सपिण्ड, सगोत्र, तथा समान प्रवर व्यक्ति से पुत्र प्राप्त कर सकती थी। किन्तु गौ० ध० सू० (१८, ४-१४) के अनुसार दो या तीन पुत्र ही नियोग से उत्पन्न किये जा सकते थे, यद्यपि म० भारत (१, १२७, १११) के अनुसार बलि ने १७ पुत्र इस विधि से प्राप्त किये थे।

विधवा-विवाह के समान ही नियोग की चर्चा भी गृह्यसूत्रों में नहीं की गयी, अपितु धर्मसूत्रों में ही की गयी है। इसके लिए भी विशेष अवस्थाओं में ही आज्ञा दी जाती थी। सामान्यतः पुत्रहीनता या पति की नपुंसकता ही इस विधान के हेतु होते थे। फिर नियोग देवर, सपिण्ड, सगोत्र तथा समान-प्रवर से ही हो सकता था। इसमें कामवासना का अभाव भी आवश्यक था। नियोग करने वाला पुरुष शरीर पर घृत या तैल का लेप करता था। सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् दोनों को परस्पर श्वशुर-बहू का सा व्यवहार करना होता था[5]। इसी प्रकार अन्य भी कुछ कठोर नियमों का पालन करना होता था। इस विषय में ध्यातव्य है कि नियोग-प्रथा केवल हिन्दुओं में ही नहीं, अपितु अन्य अनेक जातियों में भी प्रचलित थी[6]। अन्य अवाञ्छित प्रथाओं के समान ही नियोग को भी कलिवर्ज्य घोषित कर दिया गया है।

---

१. बौ० ध० सू० ४,३,१८।
२. वासिष्ठ धर्मसूत्र १७,७५-८०।
३. वही १६, १९-२०।
४. बौ० ध० सू० ४, १, १८, वासिष्ठ ध० स० १७, ६२, ६४।
५. विस्तारार्थ द्र० काणे, ध० शा० इ०, भाग १, पृ० ३३९।
६. वैस्टरमार्क, हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज, खण्ड ३, पृ० २०७-२२०, सन् १९२१।

विंश अध्याय

संस्कार

विवाह

यद्यपि हिन्दू-विवाह शास्त्रानुसार सम्पन्न किये जाने का दावा किया जाता है, तो भी समाज के प्रत्येक वर्ग, समुदाय, जाति, प्रदेश में विवाह-संस्कार का भिन्न-भिन्न रूप पाया जाता है, और यह विविधता प्राचीनकाल से चली आ रही है। स्वयं सूत्रकारों ने इन विभिन्नताओं को मान्यता प्रदान की है[1]।

वैदिक युग की विधियों का ज्ञान ऋग्०, सूर्या सूक्त (१०, ८५) तथा अथर्व० के चौदहवें काण्ड से होता है। इनमें वर (सोम) का आलङ्कारिक वर्णन[2], करने के उपरान्त कन्या (सूर्या) के आलङ्कारिक दहेज का वर्णन[3], ऋग्० में **पाणि-ग्रहण**[4], **केश-विमोचन**[5], वधू की विदाई[6], **गृह-प्रवेश**[7], **कन्यादान**[8] की विधियों का उल्लेख है। किन्तु **अश्मारोहण**, **सूर्य-दर्शन**, **ध्रुव-दर्शन** आदि की चर्चा नहीं की गयी। अथर्व० में पाणि-ग्रहण का अधिक विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है[9]। यहां **अश्मारोहण** का भी प्रतिपादन है[10], किन्तु **ध्रुव-दर्शन** तथा **लाजाहोम** का यहां

---

१. 'अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च, तान् विवाहे प्रतीयात्, यत्तु समानं तद् वक्ष्यामः।' आश्व० गृ० १, ७, १-२; इसी प्रकार आप० गृ० स० २, १५; काठ० गृ० सू० २५, ७; पार० गृ० सू० १, ८, ११-१३।

२. ऋग्० १०, ८५, १-५; अथर्व० १४, १, १-५।

३. ऋग्० १०, ८५, ६-८; १०-१३; अथर्व १४, १, ६-१०।

४. ऋग्० १०, ८५, ३६।

५. वही, १०, ८५, २४।

६. वही, १०, ८५, २६-३२; ३३।

७. वही, १०, ८५, २७, ४१-४६।

८. वही, १०, ८५, ३९-४१।

९. अथर्व० १४, १, ४८-५२।

१०. वही, १४, १, ४७।

कसू० ४५

भी उल्लेख नहीं है। ये विधियां गृह्यसूत्रों में पायी जाती हैं। इन में विधियों की संख्या तथा स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद विद्यमान है। इस विभिन्नता का कारण यह है कि वैदिक युग में प्रत्येक कुल का अपना-अपना सूत्र होता था, जिस कारण प्रादेशिक भेद के साथ-साथ परम्परागत साम्प्रदायिक भेदों का होना स्वाभाविक था। किन्तु ये कोई तात्त्विक भेद नहीं है, क्योंकि आर्यों की धार्मिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि एक ही थी। सूत्रों में प्रायः एक सी ऋचाओं का कर्मकाण्ड में विनियोग किया गया है। उत्तर वैदिक काल में विकसित विधि-विधानों तथा नवीन विशेषताओं के समावेश के कारण भी मतमतान्तर उभर आये हैं।

बौधायन तथा पारस्कर गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित वैवाहिक विधिक्रम के अध्ययन से न केवल कालगत भेद ही स्पष्ट हो जायेगा, अपितु सम्प्रदायगत भेद पर भी प्रकाश पड़ेगा।

पारस्कर गृह्यसूत्र	बौधायन गृह्यसूत्र
१. अर्घ्य तथा मधुपर्क	१. वर-प्रेक्षण
२. वस्त्र परिधान	२. ब्राह्मण-भोजन
३. समञ्जन	३. नान्दीमुख, विवाह-होम
४. वधू के साथ निष्क्रमण	४. वर का वधू के घर आगमन
५. समीक्षण	५. समीक्षण
६. अग्नि-प्रदक्षिणा	६. पाणि-ग्रहण
७. वैवाहिक होम, आज्याहुति, राष्ट्रभृत् जया तथा अभ्यातान होम	७. सप्तपदी
८. लाजा-होम	८. अर्घ्य तथा मधुपर्क
९. पाणिग्रहण	९. अलङ्करण
१०. अश्मारोहण	१०. अदिति, अनुमति, सरस्वती सविता तथा प्रजापति के लिए होम
११. गाथागान	११ हृदय-स्पर्श
१२. अग्नि-परिक्रमण	१२. कर्णजप
१३. शेष लाजाहोम	१३. पाणि-ग्रहण
१४. सप्तपदी	१४. अग्नि-प्रदक्षिणा
१५. मूर्धाभिषेक	१५. अश्मारोहण
१६. सूर्य-दर्शन	१६. पुनः अग्नि-प्रदक्षिणा
१७. हृदय-स्पर्श	१७. प्राजापत्य तथा अन्य आहुतियां

१८. अभिमन्त्रण	१८. उद्वाह या विदा
१९. वृषभ-चर्मारोहण	१९. गृह-प्रवेश
२०. ग्राम-वचन	२०. वृषचर्मारोहण
२१. आचार्य को दक्षिणा	२१. ध्रुव-दर्शन, अरुन्धती तथा सप्तर्षि का दर्शन
२२. ध्रुव-दर्शन	२२. त्रिरात्र-व्रत
२३. त्रिरात्र-व्रत	२३. चतुर्थी-कर्म
२४. आवसथ्य-होम	२४. उपसंवेशन
२५. उद्वाहन	
२६. चतुर्थी-कर्म	
२७. मूर्धाभिषिञ्चन	
२८. स्थालीपाक-प्रेक्षण	
२९. पातिव्रत्य का उपदेश	
३०. गर्भाधान	

इस तालिका से एक ओर दो सूत्रों की विभिन्न परम्पराओं का स्पष्टीकरण होता है, तो दूसरी ओर वैदिक काल से लेकर सूत्रकाल तक सन्निविष्ट नवीन क्रिया-कलाप पर भी प्रकाश पड़ता है। **मधुपर्क, लाजाहोम, अश्मारोहण, गाथागान, मूर्धाभिषेक, हृदयस्पर्श, सूर्यदर्शन, ध्रुवदर्शन** तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्म **सप्तपदी** वैदिक काल के उपरान्त ही विकसित हुए प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त स्थानीय रीति-रिवाजों का भी इन विभिन्नताओं में बहुत बड़ा हाथ रहा है। उत्तरवर्ती प्रयोगों तथा पद्धतियों में और भी अनेक क्रियाओं का समावेश कर दिया गया है, यथा—**वाग्दान, हरिद्रालेपन, गणपति पूजन, अक्षतारोपण, लक्ष्मी-पार्वती-शची-पूजन, सिन्दूरदान** प्रभृति।

कन्या-वरण के लिए प्राचीनकाल में वरपक्ष के सगे-सम्बन्धी वधू के पिता के पास जाकर औपचारिक रूप से विवाह का प्रस्ताव रखते थे, जैसा कि सूर्या के विवाह में सोम की ओर से अश्विनों ने किया था[1]। वधू का पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षण होने के उपरान्त दोनों पक्षों की सहमति हो जाने पर चरण-कर्ताओं को पुष्प, अक्षत, जौ और सुवर्ण से मिश्रित जल से पूर्ण कलश का स्पर्श करना होता था[2] तथा चार[3] या पांच[4] आज्याहुतियां दी जाती

---

१. ऋग्० १०, ८५, ९; १५; ३३।

२. शां० गृ० सू० १, ६; ५।

३. आश्व० गृ० सू० १, ४, ४।

४. आप० गृ० सू० २, ५, ९।

थीं। भार० गृ० सू०[1] तथा आग्नि० गृ० सू०[2] के अनुसार वर के माता-पिता द्वारा शुल्क-देया कन्या की औपचारिक स्वीकृति के पश्चात् वधू का चार मन्त्रों से जलाभिषिञ्चन करना चाहिये। वधू के स्नान तथा अलङ्करण के बाद पुरोहित कुछ विशेष देवताओं को स्थालीपाक की आहुतियां अर्पित करता था[3]। तदनन्तर वधू मन्त्रोच्चारण-पूर्वक विभिन्न वाद्यों को बजाती थी।[4]

विवाह के शुभ मुहूर्त्त के विषय में भिन्न-भिन्न फलों की प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न मुहूर्त्तों का निर्देश किया गया है। सामान्यतः उत्तरायण, शुक्ल-पक्ष, तथा कल्याणकारक नक्षत्र का विधान किया गया है[5]। गो० गृ० सू० पुष्य-नक्षत्र को उत्तम मानता है[6]। पति की प्रियतमा बनने के लिए स्वाति-नक्षत्र[7], रोहिणी, मृगशिराः, उत्तरा फाल्गुनी भी उत्तम माने जाते हैं[8]। अन्यत्र काल का निश्चित निर्देश भी दिया गया है[9]।

विवाह की पूर्व-रात्रि को कुमारियों अथवा सुहागिन नारियों को वेद-मन्त्र के गायन का आदेश है[10]।

जब बरयात्रा आरम्भ होती है, तो मार्ग में तालाब पर पहुंच कर सबको अपने सिर पर जल का छींटा लगाना चाहिये।[11]

वधू के घर पहुँचने पर वर यात्रियों का स्वागत किया जाता था। उन्हें बैठने के लिए आसन, पांव धोने तथा आचमन के लिए जल तथा मधुपर्क दिया जाता था।

---

१. भार० गृ० सू० १, १८।

२. आग्नि० गृ० सू० १, ६, १। काठ० गृ० सू० १६, ५ के अनुसार शुल्क के रूप में प्राप्त तथा जल से पूर्ण कांस्यपात्र में निहित स्वर्ण का स्पर्श कन्या के बान्धवों को करना चाहिये।

३. काठ० गृ० सू० १७, १; मा० गृ० सू० २, १३, ६।

४. काठ० गृ० सू० १७, २।

५. आश्व० गृ० सू० १, ४, १-२।

६. गो० गृ० सू० २,१,१।

७. आप० गृ० सू० ३, ३।

८. मा० गृ० सू० १, ७, ५।

९. बौ० गृ० सू० १, १, १८-२१; आप० गृ० सू० २, १२, १३।

१०. काठ० गृ० सू० २२, १।

११. काठ० गृ० सू० २३, १-४।

मधुपर्क में मधु के अतिरिक्त अन्य क्या पदार्थ होने चाहियें, इस विषय में गृह्यसूत्रों में परस्पर मतभेद है, तो भी प्राय: दधि, घृत तथा जौ का सम्मिश्रण किया जाता था[1]। मा० गृ० सू०[2], हि० गृ० सू०[3] तथा बौ० गृ० सू०[4] के अनुसार **मधुपर्क** के साथ गौ या बकरी के मांस का परोसना भी आवश्यक है। **मधुपर्क** ऋत्विक्, स्नातक, राजा, आचार्य, श्वशुर, चाचा, मामा के घर पर आने पर दिया जाता है।[5] बौ० गृ० सू० ने इस सूची में अतिथि को भी जोड़ दिया है।[6] कौशिक सूत्र (९२) में ९ प्रकार के मधुपर्कों के मिश्रण का वर्णन है। विष्टर, मधुपर्क तथा गौ तीन-तीन समर्पण किये जाते हैं। और कई सूत्रकारों के मत में तो **मधुपर्क** विवाह से पूर्व देना चाहिये[7]। शां० गृ० सू० (१, १२, १०) विवाह से पूर्व तथा वधू के गृह-प्रवेश के समय तथा काठ० गृ० सू० (२४, १) के टीकाकार आदित्य-दर्शन विवाह के अन्त में **मधुपर्क** देने को कहते हैं। किन्तु **मधुपर्क** दिया विवाह से पूर्व ही जाता है। **मधुपर्क** के पात्र को बाएं हाथ में लेकर वर मन्त्रोच्चारण-पूर्वक दाहिने हाथ की अनामिका द्वारा तीन बार **मधुपर्क** का आलोडन करता है, तथा अंगुली से चारों दिशाओं में चार बार मार्जन करता है[8]। तदनन्तर उसका तीन या चार बार प्राशन करता है[9]। तदनन्तर जल का आचमन करके मन्त्रोच्चारण-पूर्वक अपने अंगों का स्पर्श करता है[10]।

---

१. आप० गृ० सू० १३, ११, १२।

२. मा० गृ० सू० १, ९, २२।

३. हि० गृ० सू० १, १३, १४।

४. बौ०गृ०सू० १,२, ५१-५४; आश्व० गृ० सू० १,२४, २६—**'नामांसो मधुपर्को भवति।'**

५. आश्व० गृ० सू० १, २४, १-४।

६. बौ० गृ० सू० १, २, ६५।

७. आप० गृ० सू० ३, ८; बौ० गृ० सू० १, २, १; मा० गृ० सू० १, ९; काठ० गृ० सू० २४, १-३।

८. मा० गृ० सू० १, ९, १४, काठ० गृ० सू० २४, ११-१२, वा० गृ० सू० ११, १६; पा० गृ० सू० १, ३, १८; आश्व० गृ० सू० १, २४, १५-१८; बौ० गृ० सू० १,२, ३४; आप० गृ० सू० ५, १३,१३; आग्नि० गृ० सू० २, ६, ६।

९. बौ० गृ० सू० १,२, ३७; पा० गृ० सू० १, ३, २०; आप० गृ० सू० ५, १३, १३; वै० गृ० सू० २, १६; गो० गृ० सू० ४, १०, १५; खा० गृ० सू० ४,४,१८।

१०. पा० गृ० सू० १, ३, २५।

अन्त में अतिथि को गौ प्रदान की जाती है। उसके वध की अनुमति देना या उसे मुक्त कर देना अतिथि की इच्छा पर निर्भर है। यदि वह उसके वध की इच्छा व्यक्त करे, तो उसे **'हतो मे पाप्मा पाप्मा मे हतः कुरुत'** इस वाक्य का[1] या **'माता रुद्राणाम्'** आदि मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये[2]। यदि उसे मुक्त करना चाहे तो **'ओमुत्सृजत तृणान्यत्तु'** इस वाक्य का उच्चारण विहित है[3]। साथ ही यह भी निर्देश कर दिया गया है कि यज्ञ तथा विवाह में अतिथि को **'कुरुत'** ही कहना चाहिये, क्योंकि विवाह और यज्ञ में **मधुपर्क** मांस के विना नहीं होता[4]। इस विषय में आश्चर्य की बात यह है पा० गृ० सू० के अतिरिक्त अन्य सभी गृह्यसूत्रों में गौ को मुक्त करने की अवस्था में **'माता रुद्राणाम्'**[5] आदि मन्त्र के उच्चारण का विधान किया गया है, जबकि पा० गृ० सू० (१, ३, २७) में इसी मन्त्र का विनियोग गो-वध करने के लिए किया गया है। तै० आ० (६, १२, १) में भी राजगवी को मुक्त करने के लिए ही इस मन्त्र का विनियोग विहित है। आजकल गो-वध कलिवर्ज्य होने के कारण निषिद्ध है। इसके वाद वर वधू को वस्त्र पहनाता है (परिधापयति)। फिर दोनों को एक दूसरे के सम्मुख किया जाता है; इसे समञ्जन कहते हैं। भार० गृ० सू० तथा आग्नि० गृ० सू० के अनुसार वस्त्र परिधापन के पश्चात् वर को वधू का अभिमन्त्रण करना चाहिये[6]। कौ० गृ० सू० के अनुसार वर को भी वस्त्रों का उपहार दिया जाना चाहिये[7]।

कन्यादान—

कन्यादान का पा० गृ० सू०[8] में केवल उल्लेखमात्र किया गया है। किन्तु काठ० गृ० सू०[9], मा० गृ० सू०[10], तथा वै० गृ० सू०[11] में इसका विस्तृत वर्णन

---

१. आश्व० गृ० सू० १, २४,३१। बौ० गृ० सू० १, २, ४४; मा० गृ० सू० १, ९, २०; आप० गृ० सू० ५,१३.१६, भार० गृ० सू० २,२४ प्रभृति।
२. पा० गृ० सू० १,३,२७।
३. पा० गृ० सू० १,३,२८।
४. वही १, ३, २९-३०।
५. ऋग्० ८, १०१, १५।
६. भार० गृ० सू० १, १३; आग्नि० गृ० सू० १,६,२।
७. कौ० गृ० सू० १,८,३।
८. पा० गृ० सू० १, ४, १३।
९. का० गृ० सू० १५, १६।
१०. मा० गृ० सू० १, ८, १-११।
११. वै० गृ० सू० १०,१६।

किया गया है। प्रथम दो में ब्राह्म-देया तथा शुल्क-देया कन्याओं के लिए पृथक्-पृथक् विधियां दी गयी हैं।

ब्राह्म-देया कन्या के विवाह में दोनों पक्षों के सम्बन्धियों के समक्ष कन्या का पिता वर के पिता को तीन बार कहता है **'ददामि'**। इस पर वर का पिता उत्तर देता है, **'प्रतिगृह्णामि'**। इस पर पुरोहित **'एतद् वः सत्यम्'** शब्दों से आशीर्वाद देकर दाता और प्रतिग्रहीता की ओर देखता हुआ कुछ मन्त्र पढ़ता है।

शुल्क-देया कन्या के विवाह में सर्वप्रथम दोनों पक्षों के सम्बन्धी शुल्क निर्धारण करते हैं। वर का पिता (धन-दाता) कहता है, **'प्रजाभ्यस्त्वा'** और शुल्क अर्पित कर देता है। कन्या का पिता (प्राप्तकर्ता) **'रायस्पोषाय त्वा'** कहकर शुल्क स्वीकार कर लेता है। धन को जल से पूर्ण कांस्य-पात्र में रखकर कन्यापक्ष के लोग मन्त्रोच्चारण-पूर्वक जल का स्पर्श करते हैं।

वै० गृ० सू० में यह कर्म केवल ब्राह्म-देया के प्रसंग में विहित है। वहां कन्या का पिता वर की अञ्जलि में इन शब्दों के साथ जल-सेचन करके कन्यादान करता है—

> **धर्म-प्रजा-सम्पत्त्यर्थं यज्ञाप्त्यर्थं ब्रह्मदेवर्षि-तृप्त्यर्थं प्रजासहत्वकर्मभ्यो ददामि।**

'धर्म तथा सन्तान की सम्पत्ति के लिए, यज्ञ (-फल) की प्राप्ति के लिए, ब्रह्मा देवताओं तथा ऋषियों की तृप्ति के लिए, सन्तान के साथ रहकर किये जाने वाले सभी कर्मों के लिए तुम्हें (कन्या) देता हूँ।'

वर **'प्रजापतिः स्त्रियं यशः'**[1] इत्यादि छह मन्त्रों से जल-सेचन करता हुआ कन्या को स्वीकार करता है।

शां० गृ० सू०[2] में इस अवसर पर वर वधू को वस्त्रोपहार प्रदान करता है, जिनमें अञ्जन-कोश, तीन बल वाला धागा, दर्पण तथा तीन मणियों से युक्त लाल और काला कण्ठ-सूत्र सम्मिलित हैं, जबकि अन्य गृह्यसूत्रों में केवल वस्त्रोपहार का उल्लेख किया गया है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। वै० गृ० सू० के अनुसार कुछ आचार्यों के मत में वधू को उपहार देने की भिन्न विधि है[3]।

---

१. तै० ब्रा० २, ४, ६ ५-७; मा० गृ० सू० १, ८, ९ तथा कौ० सू० ४५, १७ में। इस प्रसंग में अथर्व० ३, २९, १७; मै० सं० १, ९, ४ आंशिक; तथा काठ० सं० ९, १२ का विनियोग विहित है।

२. शां० गृ० सू० १, २, ३; १, १२, ४-८।

३. वै० गृ० सू० ३, २।

तदनन्तर वर तथा वधू को एक अन्य कमरे में ले जाकर वर को पूर्वाभिमुख तथा वधू को पश्चिमाभिमुख करके दोनों के मध्य में एक परदा (स्वस्तिक', तिरस्करिणी) डाला जाता है और एक ब्राह्मण द्वारा 'सूर्यासूक्त' के पाठ तथा स्त्रियों द्वारा मंगल-गान के साथ एक ज्योतिर्विद् के द्वारा उस पर्दे को शुभ मुहूर्त में उठा दिया जाता है। तदनन्तर वर-वधू[१] एक दूसरे पर गुड तथा जीरे को फेंकते हुए तथा 'सूर्यासूक्त' का पाठ करते हुए एक दूसरे का समीक्षण करते हैं। इस विधि का आश्व० गृ० परि०[२], आप० गृ० सू०[३] तथा वै० गृ० सू०[४] में विधान किया गया है।

पा० गृ० सू०[५] के अनुसार वर एक मन्त्र के द्वारा वधू से अपने मन को उसके मन में केन्द्रित कर देने को कहता है तथा तदनन्तर समीक्षण करता है[६]।

विवाह-होम—

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों के अनुसार **जय**, **अभ्यातान** तथा **राष्ट्रभृत्** मन्त्र-समूह से डाली गयी आहुतियों को ही **'विवाह होम'** की संज्ञा दी गयी है। काठ० गृ० सू० (२५, १५) में **'अभ्यातान'** मन्त्रों को **'आधिपत्य'** मन्त्रों की संज्ञा दी गयी है।

जय मन्त्रों की संख्या १३ है। **अभ्यातानों** की १८ तथा **राष्ट्रभृत्** मन्त्रों की १२। आग्नि० गृ० सू० में **राष्ट्रभृत्** मन्त्रों की संख्या ६ कही गयी है। इन तीन मन्त्र-समूहों के आद्य मन्त्रों का आरम्भ इस प्रकार होता है—

१. **'चित्तञ्च चित्तिश्चाकूतञ्चाकूतिश्च** (जय)
२. **'अग्निर्भूतानामधिपतिः** (अभ्यातान)
३. **ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वः** (राष्ट्रभृत्)

मा० गृ० सू० (१, १०, ११) तथा वा० गृ० सू० (१४, १२) में केवल **जया** मन्त्रों का विधान किया गया है। पा० गृ० (१, ५, ७-८) में इन आहुतियों को फलाभिलाषा के अनुसार वैकल्पिक माना गया है। अन्य सूत्रों में कुछ-कुछ

---

१. वै० गृ० सू० १, ३३।
२. वै० गृ० सू० ४, ४।
३. वै० गृ० सू० १, २४-२५।
४. पा० गृ० सू० १, ४, १६।
५. वही १, ४, १७।
६. बौ० गृ०सू० १, ४, ३२-३४; पा०गृ०सू० १, ५, ७; ८; १०; काठ० गृ० सू० २५,१३; मा० गृ० सू० १, ११, १५; भार० गृ० सू० १, १३; हि० गृ० सू० १, २०, ८; आग्नि० गृ० सू० १, ६, २; आप० गृ० सू० १, २, ७।

भेद पाया जाता है। वधू का भाई उस की अञ्जलि में शमी पत्रों सहित कुछ अन्न डालता है। वधू उनका होम करती है[1]।

पाणिग्रहण—

होम के बाद 'पाणिग्रहण' कर्म किया जाता है जिसके नाम पर विवाह का नाम भी **'पाणिग्रहण'** पड़ गया है। वधू का दाहिना हाथ ग्रहण करता हुआ वर ऋग् ० १०, ८५, ३६ का उच्चारण करता है[2]—**"गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ·· ···· "**। जिसमें जीवन भर साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा की जाती है।. आश्व० गृ० सू० में पुत्र तथा पुत्री प्राप्त करने के लिए पाणिग्रहण के विभिन्न प्रकारों का विधान किया गया है[3]। पाणिग्रहण के इन मन्त्रों से प्रकट होता है कि विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति था, भोगविलास नहीं। दूसरे यह कि हिन्दू-विवाह सामान्यतः अविच्छेद्य था[4]। तथा पति का कर्तव्य था कि वह पत्नी तथा बाल-बच्चों का भरण-पोषण करे। पत्नी को अपने ससुराल में सम्राज्ञी की पदवी प्राप्त करने का आशीर्वाद मन्त्र में दिया गया है[5]। पाणिग्रहण के छह मन्त्रों का नाम ही 'पाणिग्रहणीया' पड़ गया है।[6] कुछ गृह्यसूत्रों में पाणिग्रहण के पश्चात् अथर्व० १४, २, ७१ के उच्चारण का भी विधान किया गया है।[7]

---

१. द्र, तै० सं० ३, ४, ४; ३, ४, ५; तथा ३,४, ७।

२. आश्व० गृ० सू० १, ७, ३; शां० गृ० सू० १, १३, २; पा० गृ० सू० १, ६, ३; हि० गृ० सू० २०, १; आप० गृ० सू० २, ४, १५; आग्नि० गृ० सू० १, ६, २; बौ० गृ० सू० १, ४, १०; भार० गृ० सू० १, १५; वा० गृ० सू० १४, १३; मा० गृ० सू० १, १०, १५; काठ० गृ० सू० २५, २२; वै० गृ० सू० ३, ३; गो० गृ० सू० २,२,१५; खा० गृ० सू० १, ३, ३१।

३. आश्व० गृ० सू० १, ७, ३-५।

४. पा० गृ० सू० १, ६, १-२।

५. **'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।'** (ऋग्० १०, ८५, ४६)।

६. गो० गृ० सू० २, २, १६।

७. पा० गृ० सू० १, ६, ३; आश्व० गृ० सू० १, ७, ६; शां० गृ० सू० १, १३, ४; वा० गृ० सू० १४, १३; हि० गृ० सू० १, २०, २; मा० गृ० सू० १, १०, १५।

कुछेक गृह्यसूत्रों में **पाणिग्रहण** के पश्चात् वर द्वारा **'सरस्वति प्रेदम्'** इत्यादि अनुवाक के उच्चारण का विधान किया गया है[१]।

अश्मारोहण—

इसके पश्चात् वर वधू को अग्नि के उत्तर की ओर रखी एक शिला पर आरोहण करने को कहता है। इसका आशय मन्त्र में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि 'तू शिला के समान स्थिर हो जा— **अश्मेव त्वं स्थिरा भव,** तथा शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर'।

लाजाहोम—

आश्वलायन के मतानुसार वधू का भ्राता या भ्रातृस्थानीय कोई अन्य व्यक्ति खीलों को वधू की अञ्जलि में दो बार डालता है। यदि वर का गोत्र जमदग्नि हो तो तीन बार। वधू उनकी आहुति अग्नि में देती है। इसका अभिप्राय धान के समान कन्या का पितृ-गृह से पति-गृह में आरोपण है। मन्त्र में यह बात स्पष्ट कर भी दी गयी है कि **'अर्यमा'** इस कन्या को यहां से (पितृ-गृह से) मुक्त करावे, वहां (पति-गृह) से नहीं। चतुर्थ वार शूर्प के कोने से शेष खीलों का होम कर देती है।

अग्नि-प्रदक्षिणा—

वर अग्नि तथा जल के घड़े को अपनी दाहिनी ओर रखकर वधू से अग्नि की प्रदक्षिणा करवाता है[२]। यह **लाजाहोम** के साथ भी तथा उसके पश्चात् भी की जा सकती है। यह चार बार की जाती है। इस समय वधू का भ्राता जलकलश लेकर उनके पीछे चलता है।[३]

केशविमोचन—

वर तदनन्तर वधू के केशों की लटों को खोलता है। यदि वधू की दो वेणियां हों, तो दो मन्त्रों का प्रयोग होता है[४]। यह कर्म भी माता-पिता से वधू के सम्बन्ध-विमोचन का प्रतीक है।

---

१. काठ० गृ० सू० २५, २३; पा० गृ० सू० १, ७, २।

२. आश्व० गृ० सू० १, ७, ६।

३. **अग्निपरिणयन** तथा **लाजाहोम** के समान कर्म प्राचीन यूनान में भी प्रचलित था। जब वधू वर के घर में प्रविष्ट होती थी उस समय अग्नि की प्रदक्षिणा करती थी। उस समय उस पर खजूर, अञ्जीर आदि फल बरसाये जाते थे। रोमनों तथा स्लावों में में भी यह प्रथा थी। फ्रांस में गेहूँ बरसाया जाता था। इंग्लैण्ड में चावल के अतिरिक्त अन्य अन्नों का प्रक्षेपण किया जाता था (हरिदत्त, वही, पृ० २४३ टि० ३)।

४. आश्व० गृ० सू० १, ७, १६-१८। द्र. नारायण, **"वरस्य तु शिखे तूष्णीं विमुञ्चति"** (१८)।

सप्तपदी—

इसके पश्चात् विवाह के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्म सप्तपदी का विधान है। आगे चलकर स्मृतिकारों ने तो सप्तपदी के बिना विवाह की पूर्णता ही स्वीकार नहीं की[1]। वर वधू को पूर्वोत्तर दिशा (अपराजिता दिक्) में सात कदम ले जाता है और प्रत्येक कदम के साथ एक वचन कहता है। यथा—अन्न के लिए एक एक कदम उठाने वाली हो, बल के लिये दूसरा कदम, सम्पत्ति के लिये तीसरा कदम, आनन्दमय (जीवन) के लिये चौथा कदम, सन्तान के लिए पांचवां कदम, ऋतुओं (दीर्घजीवन) के लिए छठा कदम, मेरी मित्रता के लिये सातवां कदम उठा। तू मेरे अनुकूल व्रत रखने वाली या मेरा अनुसरण करने वाली हो[2]। इस महत्त्वपूर्ण कर्म के द्वारा वधू को उसके गार्हस्थ्य धर्म के आवश्यक नियम समझाने का प्रयास किया गया है। इस में प्रयुक्त मन्त्र संहिताओं में उपलब्ध नहीं होते। इनका मुख्य स्रोत तै० ब्रा० (३, ७, ७, ११-१२) में उपलब्ध होता है।[3] विभिन्न गृह्यसूत्रों में इस कर्म में प्रयुज्यमान मन्त्रों में भेद पाया जाता है। ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों के मन्त्रों में कुछ विशेषता है। कौ० सू० (७६, २१) की परम्परा इन सबसे भिन्न है। उसके अनुसार इस कर्म से पूर्व भूमि पर सात रेखाएँ खींचनी चाहियें। तथा वधू को उन पर चलाना चाहिये। और प्रत्येक रेखा पर पांव रखने पर मन्त्रोच्चारण करना चाहिए।

मूर्धाभिषेक—

कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार सप्तपदी के पश्चात् वर-वधू दोनों के सिर मिला कर आचार्य उन पर जल-घट से जल-सेचन करता है[4]। इस अवसर पर विनियोज्य मन्त्र यद्यपि ऋग्वेद के हैं (१०. ९, १-३), तो भी आश्व० गृ० सू० (१, ७, २०) में इन में से किसी मन्त्र का भी विनियोग न किया जाना आश्चर्यजनक है, जब कि शां० गृ० सू० (१, १४, ६) में इसी कर्म में इन मन्त्रों का विनियोग किया गया है। पा० गृ० सू० (१, ८, ५) में इस अवसर पर अभिषेक से पूर्व एक अन्य मन्त्र[5] के उच्चारण का भी विधान है, जो अन्यत्र अप्राप्य है।

---

१. मनु० ८. २२७।

२. गो० गृ० सू० २, २, १२-१३ के अनुसार वधू को पहले दायां पग उठाना चाहिये, फिर बायां।

३. द्र. बौ० गृ० सू० १, १, २८; हि० गृ० सू० १, २१, १; आग्नि० गृ० सू० १, ६, १; भार० गृ० सू० १, १७; आप० गृ० सू० २, ४, १६-१७; खा० गृ० सू० १, ३, २४।

४. पा० गृ० सू० १, ८, ६; भार० गृ० सू० १, १८; जै० गृ० सू० २२, १०, वै० गृ० सू० ३, ४; मा० गृ० सू० १, ११, ६; हि० गृ० सू० १, २१, ५।

५. 'आप: शिवा: शिवतमा: शान्ता: शान्ततमास्ते कृण्वन्तु भेषजम्'।

हृदयालम्भन—

मूर्धाभिषेक के पश्चात् वर को अपना दाहिना हाथ वधू के दक्षिण स्कन्ध पर से ले जाकर वधू के हृदयदेश का स्पर्श करना चाहिये[१]। इस समय विनियोज्य मन्त्र के अर्थ से स्पष्ट होता है, कि इस कर्म का मुख्य अभिप्राय वर वधू के हृदयों को परस्पर संयुक्त करना है। केवल शारीरिक संयोग ही पर्याप्त नहीं है।

मम हृदये हृदयं ते अस्तु मम चित्तं चित्तेनान्वेहि ··· ··· ।

मेरे हृदय में तुम्हारा हृदय हो, अपने मन के साथ मेरे मन को संयुक्त करो।

सूर्योद्वीक्षण[२]—

इस कर्म में वर **तच्चक्षुर्देवहितम्** (वा० सं० ३६, २४) का उच्चारण करते हुए वधू को सूर्य का दर्शन कराता है[३]।

प्रेक्षकानुमन्त्रण—

बहुत से गृह्यसूत्रों के अनुसार हृदय-स्पर्श या सूर्य-दर्शन के पश्चात् प्रेक्षकानुमन्त्रण या वधू के सिर पर हाथ रख कर वर द्वारा लोगों को वधू के देखने का निमन्त्रण देने का विधान है, जिसमें **सुमंगलीरियं वधूः** का उच्चारण करना चाहिये,[४] जिसमें लोगों से वधू को आशीर्वाद दे कर घर लौट जाने की प्रार्थना की गयी है। किन्तु आश्व०गृ० सू० (१, ८, ७) ने इस विधि का विधान **ध्रुवदर्शन** के पश्चात् किया है, जबकि इस कर्म का अनुष्ठान पहले होना चाहिये। इसके बाद पा० गृ० सू० के अनुसार वधू को सुरक्षित घर में बैठाने तथा अपनी जाति की प्रथा तथा ग्राम के वृद्धों तथा स्त्रियों द्वारा कही गयी रीतियों को करने का निर्देश किया गया है[५]।

गमनार्थ रथारोहण—

विवाह के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् वर-वधू को विदा किया जाता है। वधू को ले जाने के लिए पालकी अथवा रथ का प्रयोग किया जा सकता है। यदि

---

१. पा० गृ० सू० १, ८, ८; भार० गृ० सू० १, १७; बौ० गृ० सू० १, ४, १; हि० गृ० सू० १, २१, ३; वै० गृ० सू० ३, ४; गो० गृ० सू० २, २, १५; खा० गृ० सू० १, ३, ३१; आग्नि० गृ० सू० १, ६, ३।

२. हि० गृ० सू० में इससे पूर्व **'नाभि-स्पर्श'** का भी विधान है (१, २१, ४)।

३. पा० गृ० सू० १, ८, ७; इस सूत्र में इस कर्म को हृदय-स्पर्श से पूर्व करने का विधान है।

४. गो० गृ० सू० २, २, १३; आश्व० गृ० सू० १, ८, ७; जै० गृ० सू० २२, १०; बौ० गृ० सू० १, ५,३०; मा० गृ० सू० १, १२, १; कौ० सू० ७७, १०; वा० गृ० सू० १४, २५: खा० गृ० सू० १, ३, २७, पा० गृ० सू० १, ८, ९।

५. पा० गृ० सू० १, ८, ११।

रथ का प्रयोग किया जाये, तो सर्वप्रथम रथ को गन्तव्य दिशा की ओर स्थापित किया जाता है[1] तथा रथ के अक्ष तथा चक्रों का अनुलेपन किया जाता है[2]। तदनन्तर उसमें घोड़े अथवा वृषभ जोते जाते हैं[3]। तदनन्तर वर-वधू रथ में बैठते हैं[4]। मा० गृ० सू० (१, १३, ५) के अनुसार रथासन का भी अभिमन्त्रण किया जाता है तथा रथ को अभीष्ट दिशा में चलाया जाता है[5]। कुछ गृह्यसूत्रों के अनुसार यदि वर-वधू की यात्रा का साधन नौका हो, तो नौकारोहण तथा नदी पार करने के लिए भिन्न मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये[6]। आप० गृ० सू० (२, ६, १, ३); बौ० गृ० सू० (४, ३, ६); काठ० गृ० सू० (२६, १२) में वर द्वारा नौका के अभिमन्त्रण का भी विधान किया गया है।

मार्ग में शुभ स्थान, वृक्ष, चतुष्पथ, ग्राम, श्मशान, भूमि आदि आवें, तो विभिन्न मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है[7]। जलाशय पार करने के लिए समन्त्रक जलाञ्जलियां अर्पित करनी चाहियें,[8] तथा तीन वार आचमन करना चाहिये[9]।

यदि मार्ग में रथ भग्न हो जाये, तो होम करके रथ की मरम्मत करनी चाहिये तथा वैवाहय अग्नि का पुनराधान करना चाहिये। इस अवसर पर वधू वर का स्पर्श करती है तथा वह आहुतियां अर्पित करता है[10] या केवल मन्त्रोच्चारण करना चाहिये[11]।

---

१. आप० गृ० सू० २, ५, १९।

२. शां० गृ० सू० १, १५, ३-४।

३. आप० गृ० सू० २, ५, २०; मा० गृ० सू० १, १३, २; शां० गृ० सू० १, १५, ८।

४. आप० गृ० सू० २, ५, २२; काठ० गृ० सू० २६, ४; मा० गृ० सू० १, १३,६; वा० गृ० सू० १५, २; गो० गृ० सू० २, ४, १; कौ० सू० ७७, १; आश्व० गृ० सू० १, ८, १।

५. मा० गृ० सू० १,१३, ७-९; वा० गृ० सू० १५, ३, ४।

६. शां० गृ० सू० १, १५, १७; आश्व० गृ० सू० २, ६, ८; मा० गृ० सू० १, १३, १६; कौ० सू० ७१, २३।

७. आप० गृ० सू० १. ८. ६; गो० गृ० सू० २, ४, २; कौ० सू० ७७, ३; शां० गृ० सू० १, १५, १४ (केवल चतुष्पथों पर); मा० गृ० सू० १, १३, १०-१४; वा० गृ० सू० १५, ५-९।

८. शां० गृ० सू० ४, १२, २; मा० गृ० सू० १,१३,१५; वा० गृ० सू० १५, १०।

९. मा० गृ० सू० १, १३, १६; वा० गृ० सू० १५, ११।

१०. पा० गृ० सू० १,१०,१; आप० गृ० सू० २, ६, ४।

११. काठ० गृ० सू० २७, २; गो० गृ० सू० २, ४, ३।

गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर गृह-प्रवेश से पूर्व वर रथ में जुते हुए दोनों पशुओं को बारी-बारी बन्धन-मुक्त करता है[1] तथा तदनन्तर वधू को अपना घर दिखाता है[2]। गृहप्रवेश के अनन्तर पूर्वाभिमुख ग्रीवा वाला ऋषभ-चर्म भूमि पर ऐसे बिछाया जाता है कि उसके बाल ऊपर को होते हैं[3]। उस पर नव-दम्पती बैठते हैं[4] तथा वर चार आहुतियां प्रदान करता है[5]। इनमें प्रयुक्त मन्त्रों में[6] दस वीर पुत्रों की उत्पत्ति की प्रार्थना की गयी है। आप० गृ० सू० में तेरह तथा काठ० गृ० सू० (२८, ४) में १५ आहुतियों का विधान है।

वधू की गोद में किसी बालक को बिठाया जाता है। तथा वर-वधू साथ-साथ दधि-भक्षण करते हैं। एक मतानुसार शेष दधि को वर वधू के हृदय पर लगाता है।

वर रात्रि को वधू को ध्रुव तथा अरुन्धती के दर्शन कराता है। आश्व० गृ० सू० (१, ७, २२) तथा गो० गृ० सू० (२, ३, ७-९) में ध्रुवादि-दर्शन पितृ-गृह में ही कराया जाता है। इसका आशय पति-पत्नी को ध्रुव के समान स्थिर रहने का आदर्श प्रस्तुत करने का निर्देश है (द्र० शां० ब्रा० (कौषी० ब्रा०) १, ३, ७)[7]।

मा० गृ० सू० (१, ४, १०) तथा वा० गृ० सू० (१५, २१) में ध्रुव, अरुन्धती, जीवन्ती तथा सप्तर्षि नक्षत्रों के दिखाने का विधान किया गया है। हि० गृ० सू० (१, २२, ११-१३) के अनुसार दिशाओं, नक्षत्रों तथा चन्द्रमा की भी उपासना का विधान है।

---

१. आप० गृ० सू० २,६,७।

२. आप० गृ० सू० २, ६,६; काठ० गृ० सू० २७, ३; मा० गृ० सू० १, १४, ५-६; वा० गृ० सू० १५, १७; बौ० गृ० सू० १, ५, ७।

३. आप० गृ० सू० २, ६, ८।

४. आप० गृ० सू० २, ६, १०; भार० गृ० सू० १, १८; जै० गृ० सू० २२, २; हि० गृ० सू० १, २२, ९; आग्नि० गृ० सू० १, ४, ५; वै० गृ० सू० ३, ५।

५. आश्व० गृ० सू० २, ८-९।

६. आप० गृ० सू० २, ६, १० (ऋग्० १०, ८५, ४३-४६)।

७. ध्रुवदर्शन के स्थल निर्देश—पा० गृ० सू० १, ८, १९; शां० गृ० सू० १, १७, ३; जै० गृ० सू० २२, १३; आप० गृ० सू० २, ६, १२; हि० गृ० सू० १; २२, १४; भार० गृ० सू० १, १८; बौ० गृ० सू० १, ५, १३; वै० गृ० सू० ३, ५।

स्थालीपाक होम—

नक्षत्र आदि के अवलोकन के पश्चात् वर अग्नि में स्थालीपाक की आहुतियां अर्पित करता है। तत्पश्चात् उस के अवशेष का वर-वधू मिल कर भक्षण करते, हैं जिसे **समशन** की संज्ञा दी गयी है[1]।

विवाहोत्तर संस्कार

चतुर्थी-कर्म या त्रिरात्रव्रत—

आश्व० गृ० सू० (१, ८, १०-१५) के अनुसार वर-वधू को तीन रात्रि-पर्यन्त क्षार (राजमाष मसूर प्रभृति—नारायण; गुड़ आदि—मातृदत्त, हि० गृ० सू० १, ८, १) तथा लवण का प्रयोग नहीं करना चाहिये[2]। चतुर्थ रात्रि को पांच आज्याहुतियां अग्नि में प्रदान की जाती हैं, जिनके द्वारा पति, सन्तति, पशु, लक्ष्मी (या गृह) तथा यश के नाशक शरीरों को नष्ट करने की प्रार्थना अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र तथा गन्धर्व या कुछ भिन्न देवताओं से की जाती है[3]। बौ० गृ० सू० के अनुसार आज्याहुतियों के पश्चात् तीन रात्रि पर्यन्त दम्पती के मध्य एक शाखा स्थापित की जाती है, जो उनके ब्रह्मचर्य की साक्षी मानी जाती है। चतुर्थ रात्रि को पति उसे अपहरण करके पत्नी को दे देता है, पत्नी पुनः उसे पति के पास ले जाती है, जिसे वह स्वीकार कर लेता है[4]।

आप० गृ० सू० (३, ८, १०) के अनुसार आज्याहुतियों के पश्चात् पत्नी पति का और पति पत्नी का अवलोकन करता है तथा यज्ञावशिष्ट आज्य द्वारा पति **समञ्जन्तु** (ऋग्० १०, ८५, ४७) का उच्चारण करता हुआ अपने तथा पत्नी के हृदयस्थल का सम्मार्जन करता है।

बौ० गृ० सू० (१, ५, १७-१८) के अनुसार त्रिरात्रव्रत के पश्चात् एक विचित्र तथा मनोरञ्जक प्रथा प्रचलित थी। नव-दम्पती आभूषण आदि धारण करके एक ही शय्या पर लेट जाते थे और उनके मध्य में चन्दन-लेप से लिप्त तथा वस्त्र से आवृत उदुम्बर वृक्ष की लकड़ी से निर्मित **'विश्वावसु'** नामक गन्धर्व

---

१. गो० गृ० सू० २, ३, २१; खा० गृ० सू० १, ४, १०; काठ० गृ० सू० २९, १; कौ० सू० ८९, १०।

२. आश्व० गृ० सू० (१, ८, ११) के अनुसार बारह रात्रि पर्यन्त और यदि ऋषि-सन्तान की अभिलाषा हो तो वर्ष पर्यन्त (१२) व्रत करना चाहिये।

३. पा० गृ० सू० १, ११, २; गो० गृ० सू० २, ५, २; खा० गृ० सू० १, ४, २; बौ० गृ० सू० १, ६, १२-१५; आप० गृ० सू० ३, ८, १०; भार० गृ० सू० १, १९; शाँ० गृ० सू० १, ८, ३; वै० गृ० सू० ३, ४।

४. बौ० गृ० सू० १, ५, १८-२२।

का प्रतीक दण्ड रहता था। पक्व-होम के पश्चात् वर-वधू मन्त्रोच्चारण-पूर्वक उस दण्ड को उठा कर फेंक देते थे। डा० अविनाशचन्द्र दास के अनुसार इस दण्ड में **विश्वावसु** नामक गन्धर्व के निवास का विश्वास था, जो उनके ब्रह्मचर्य का साक्षी था[१]। ओल्डनबर्ग के मतानुसार कीथ का कथन है कि इसका सम्भव कारण अमंगलकारी भूत-प्रेतों को भ्रम में डालना और उन्हें दूर करने का प्रयास हो सकता है। गन्धर्व होने के कारण **विश्वावसु** विवाह के पश्चात् भी स्त्री के साथ सम्बन्ध का दावा कर सकता है। अतः पहले उससे विनति करना तथा बाद में उसे हटा देना आवश्यक है। 'किन्तु सम्पूर्ण संसार में प्रचलित अन्य समान क्रियाओं के साथ इसका सम्बन्ध इस प्रथा की व्याख्या के विषय में सुरक्षा की भावना के विरुद्ध चेतावनी है'[२]। यह विचार इस वैदिक विश्वास से मेल खाता हैं कि कन्या का उपभोग क्रमशः सोम, गन्धर्व और अग्नि करते हैं, और अन्त में वह पुरुष को दी जाती है, जो उसका चतुर्थ पति है[३]। गृह्यसूत्रों में भी इस विचार को व्यक्त किया गया है[४]।

त्रिरात्र-व्रत तथा **चतुर्थी-कर्म** से प्रमाणित होता है कि उस समय विवाह यौवनावस्था में पदार्पण करने पर ही होता था।

आप० गृ० सू०, बौ० गृ० सू० तथा हि० गृ० सू० में पत्नी के ऋतु-स्नान के पश्चात् समावेशन के अवसर पर पति द्वारा कुछ मन्त्रों के उच्चारण का विधान किया गया है[५]। समावेशन के समय भी कुछ मन्त्रों के उच्चारण का विधान है, यथा 'करत्', 'भसत्', 'जननी', 'जनत्', 'बृहत्' जैसे लघु मन्त्रों के अतिरिक्त कुछ दीर्घाकार मन्त्र भी विहित हैं। ये मन्त्र विभिन्न सूत्रों में विभिन्न-विभिन्न हैं। कुछ मन्त्र समावेशन के पश्चात् भी पढ़े जाते थे[६]।

यद्यपि आरम्भ में **चतुर्थी-कर्म** विवाह के पश्चात् चतुर्थ रात्रि में सम्पन्न किया जाता था, किन्तु बाद में जब कन्या की आयु घटा कर ८, ९ वर्षीया **नग्निका** से विवाह करने की व्यवस्था दी गयी, तो **चतुर्थी-कर्म** का अनुष्ठान भी विवाह के बहुत पश्चात् किया जाने लगा और इसी का नामान्तर **गर्भाधान** रख दिया गया। अतः अनेक सूत्रों में **चतुर्थी-कर्म** के अतिरिक्त **गर्भाधान** का विधान पृथक्

---

१. ऋग्वेदिक कल्चर, पृ० ३८१।

२. राजबली पाण्डेय, हिन्दूसंस्कार, पृ० २८२। कीथ, रिफिलावे० पृ० ३७; तु. ओल्डनबर्ग, रिलिडेसवे, पृ० ८८; २४९।

३. ऋग्० १०, ८५, ४१,

४. पा० गृ० सू० १, ४, १७; अथर्व० १४, २, ३३; आप० गृ० सू० ३, ८, १०।

५. बौ० गृ० सू० ४,६,१; काठ० गृ० सू० ३०, १।

६. हि० गृ० सू० १, २४, ५; पा० गृ० सू० १, ११, ४; काठ० गृ० सू० २५, २०; शां० गृ० सू० १, १९, ४, जहां १२ मन्त्र विहित हैं। आग्नि० गृ० सू० १६, ३; द्र. कृष्णलाल, गृ० विनि०, पृ० १८१-८६।

संस्कार के रूप में नहीं किया गया, किन्तु अन्यत्र बौ० गृ० सू० तथा काठ० गृ० सू० में गर्भाधान का पृथक् उल्लेख किया गया है, किन्तु इस का **चतुर्थी-कर्म** से पृथक् वर्णन नहीं किया गया। वै० गृ० सू० में **ऋतु-संगमन** तथा **गर्भाधान** दो भिन्न-भिन्न संस्कारों का उल्लेख किया गया है[1]। इसी को **निषेक** की संज्ञा भी दी गयी हैं, जिसे **गर्भाधान** से पृथक् माना गया है। सम्भव है कि यह किसी ऐसे संस्कार की संज्ञा हो, जिसमें मासिक धर्म के आरम्भ के समय या उससे पूर्व कन्या से समागम किया जाता हो।

इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि **चतुर्थी कर्म** में सम्भोग से पूर्व पति को बृ० आर० उप० के मन्त्रों का उच्चारण करना होता था, जिन में स्त्री-पुरुष समागम का यज्ञ के साथ समीकरण किया गया है[2]। आश्व० गृ० सू० (१, १३, १) में बृ० आर० उप० के इन मन्त्रों को **गर्भाधान**, **पुंसवन** तथा **अनवलोभन** (भ्रूण की रक्षा) से सम्बद्ध माना गया है।

शां० गृ० सू० (१, १८-१९) में **चतुर्थी-कर्म** का वर्णन इस प्रकार किया गया है। विवाह के तीन रात उपरान्त चतुर्थ रात्रि को पति अग्नि में पकाये गये भोजन की आठ आहुतियां—अग्नि, वायु, सूर्य—(तीनों के लिए एक ही मन्त्र) अर्यमा, वरुण, पूषा (तीनों के लिये एक ही मन्त्र), प्रजापति एवं स्विष्टकृत् अग्नि को प्रदान करता है। तदनन्तर 'अध्यण्डा' की जड़ को कूट कर उसके रस को पत्नी की नासिका में डालता है[3]। तदुपरान्त मन्त्रोच्चारण पूर्वक पत्नी से सम्भोग करता है, जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि जिस प्रकार तरकश में बाण घुसता है, उसी प्रकार तेरी योनि में भ्रूण प्रवेश करे तथा दश मास के उपरान्त एक वीर पुत्र उत्पन्न होवे[4]। यद्यपि बादरायण के मतानुसार यह मन्त्रोच्चार केवल प्रथम सम्भोग के समय ही विहित हैं, तो भी आत्रेय के अनुसार प्रत्येक सम्भोग के समय मन्त्रों का उच्चारण होना आवश्यक है[5]। वै० गृ० सू० में इस कृत्य को **ऋतु-संगमन** की संज्ञा से अभिहित किया गया है[6]। तथा यह विचार व्यक्त किया गया है कि पुत्रोत्पत्ति के

---

१. वै० गृ० सू० ६, २।

२. बृ० आर० उप० ६, ४, १३; १९-२२; अथर्व० ५, २५, ३; ५।

३. ऋग्० १०, ८५, १-२२ मन्त्रों के साथ।

४. अथर्व० ३, २३, २; शां० गृ० सू० १, १८-१९; हि० गृ० सू० १, ७,२५,१; पा० गृ० सू० १,११; आप० गृ० सू० ८, १०-११; गो० गृ० सू० २,५।

५. हि० गृ० सू० १, ७, २५, ३।

६. वै० गृ० सू० ३,९।

कसु० ४७

लिए ऋतु-दर्शन की चतुर्थ रात्रि में समागम सर्वोत्तम है। यही बात आपस्तम्ब, भारद्वाज प्रभृति ने भी कही है[1]।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया गया है कि **गर्भाधान** गर्भ का संस्कार है या स्त्री का। गौतम (८, २४), मनु (२, १६), याज्ञ० (१, १०) सभी एकमत हैं कि यह संस्कार गर्भ का होता है, स्त्री का नहीं। मेधातिथि (मनु० २, १६) के अनुसार कुछ आचार्य इसे स्त्री का संस्कार मानकर केवल एक बार ही करते हैं, अन्य गर्भ का संस्कार मान कर प्रत्येक गर्भ के आधान के समय इसका विधान करते हैं।

इस प्रसंग में प्राचीन आर्यों के अनुसार विवाह से पूर्व कन्या को क्रमशः सोम, अग्नि तथा गन्धर्व भोगते हैं। तदनन्तर पति भोगता है। इसी कारण विवाह के पश्चात् तीन रात्रि पर्यन्त पति-पत्नी के बीच **विश्वावसु** गन्धर्व का प्रतिनिधि काष्ठ दण्ड रखा जाता था, जो पति-पत्नी के ब्रह्मचर्य-पालन का साक्षी माना जाता था। **चतुर्थी-कर्म** हो चुकने पर अभिगमन के समय पत्नी के तल्प पर पांव रखते हुए पति उस दण्ड को सम्बोधित करते हुए कहता था—

हे विश्वावसो! यहां से उठ जा, यह स्त्री पति-युक्त हो गयी। पिता के घर में बैठी दूसरी किसी अप्रौढ़ा की इच्छा करो! उसे ही अपना जन्म-सिद्ध भाग समझो[2]। हे विश्वावसो! हम आपकी नमस्कारपूर्वक स्तुति करते हैं, किसी अन्य अल्पायु कन्या की इच्छा करो। इस पत्नी को पति से मिला दो[3]।

इस से प्रकट होता है कि ऋग्वैदिक काल में विवाह के समय कन्या प्रौढ़ावस्था की होती थी। किन्तु इससे यह परिणाम निकालना सर्वथा अनुचित है कि इससे कन्या के तीन व्यक्तियों द्वारा शील-भंग करने का पौराणिक निर्देश स्पष्ट प्रतीत होता है[4]।

पुंसवन—

गर्भाधान के तृतीय मास में तिष्य (पुष्य) या अन्य पुल्लिङ्ग नाम वाले नक्षत्रों—यथा श्रवण, पुनर्वसु, हस्त प्रभृति— में से किसी नक्षत्र में पुत्रोत्पत्ति की कामना से पुंसवन संस्कार किया जाता है।

---

१. आप० गृ० सू० ९,१; भार० गृ० सू० १, २०; मनु० ३, ४८; याज्ञ० १,७९.

२. **उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीडे।**
अन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि।। (ऋग्० १०, ८५, २१)

३. **उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा।**
अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं सं जायां पत्या सृज।। (ऋग्० १०, ८५, २२)

४. नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्यः एन्श्येण्ट् इण्डियन रिच्वल्स्, पृ० ९५।

यह संस्कार गर्भ के द्वितीय (पा० गृ० सू० १, १४, १-३) या चतुर्थ मास (भार० गृ० सू० १, २२; २२, ५) में भी किया जा सकता था। काठ० गृ० सू० के व्याख्याकार देवपाल ने तो कहा है कि शिष्टों के अनुसार इसे अष्टम मास में करना चाहिये[1]। विभिन्न गृह्यसूत्रों ने इसकी पृथक्-पृथक् विधियों का विधान किया है। आश्व० गृ० सू० में सर्वाधिक सरल प्रक्रिया प्रतिपादित है। पति सरसों के दो दाने और एक जौ पत्नी के दाहिने हाथ में रख कर दही के साथ तीन बार समन्त्रक भक्षण करने को देता है[2]। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी गृह्यसूत्रों में पति द्वारा पत्नी के नासारन्ध्रों में विभिन्न जड़ी-बूटियों के रस के अनुसेचन का विधान किया गया है। ये औषधियां सोम, कुश, तथा न्यग्रोध की शाखा का रस, यूप का अग्नि-दग्ध भाग, जुहू में लगे होम-शेष में से कुछ भी हो सकती है[3]। पत्नी के उदर अथवा नाभि स्थल का समन्त्रक स्पर्श करके पति पुत्रोत्पत्ति की कामना को व्यक्त करता है। शां० गृ० सू० (१, २१) में एक **गर्भरक्षण** संस्कार का भी उल्लेख है जो **गर्भधारण** के चतुर्थ मास में पति द्वारा स्थालीपाक की छः आहुतियां देकर संपन्न किया जाता है।

सीमन्तोन्नयन—

पुंसवन से पूर्व अथवा पश्चात् गर्भ से तृतीय,[4] चतुर्थ,[5] षष्ठ,[6] सप्तम[7] अथवा अष्टम[8] मास में **सीमन्तोन्नयन** नामक संस्कार किया जाता है। इसमें मूंग, तिलों तथा तण्डुलों को आज्य में पका कर, गृह्याग्नि में प्राजापत्य आहुति प्रदान करके, स्विष्टकृत् आहुति देकर, महाव्याहृतियों सहित नौ आहुतियों के अनन्तर पति अग्नि के पश्चिम में आसन विछा कर, पत्नी को स्नान कराके, उस पर बैठा

---

१. काठ० गृ० सू० ३२, १-८।

२. आश्व० गृ० सू० १, १३, २-४; तथा जै० गृ० सू० १, ५; तु. हि० गृ० सू० २, २, २-४।

३. शां० गृ० सू० १,२०, ३-५; हि० गृ० सू० २,२,६; पा० गृ० सू० १,१४,२-४; गो०गृ० सू० २,६,२-११; में इसका विस्तृत वर्णन।

४. काठ० गृ० सू० ३१,१।

५. आश्व० गृ० सू० १, ४, १-२; हि० गृ० सू० २, १, १-२; भार० गृ० सू० १, २१; २१, ७; आप० गृ० सू० ६,१४,१; बौ० गृ० सू० १, १०, १; जै० गृ० सू० १, ७; ६,२०; गो० गृ० सू० २, ७, १-२।

६. पा० गृ० सू० १,५,३; मा० गृ० सू० १,१५,१।

७. शां० गृ० सू० १,२२,८।

८. जै०, गो०, खा०, तथा वै० गृ० सू० ३, १२; मा० गृ० सू० वही।

कर दो औदुम्बर फलों के एक गुच्छे, तीन दर्भ के गुच्छों, तीन श्वेत बिन्दुओं से युक्त साही के एक कांटे, वीरतर पौधे की एक शाखा ('शरेषीका') तथा सूत से भरे एक तकवे (तर्कु) को मिला कर, या पृथक्-पृथक्, महाव्याहृतियों का उच्चारण करते हुए, तीन या चार बार पत्नी की मांग को आगे से पीछे की ओर निकालता है[1]। तथा इन सभी वस्तुओं को उसकी वेणी में बांध देता है[2]। इस समय वीणा-वादक सामयिक राजा अथवा सोम की प्रशंसा में गान गाते हैं तथा समीपस्थ नदी की प्रशंसा में गाथा भी गायी जाती है। ऐसा पा० गृ० सू० (१, १५) का विधान है।

किन्तु इस संस्कार के विषय में सूत्रकारों के मध्य इतना अधिक वैमत्य पाया जाता है कि इसकी परम्परा भंग हो जाने का सन्देह किया जाने लगा है[3]। कुछ सूत्रकार इसे **पुंसवन** से पूर्व सम्पन्न करने का निर्देश देते हैं तो कुछ पश्चात्। आप० गृ० सू० (६. १४), भार० गृ० सू० (१, २१), हि० गृ० सू० (२, २), काठ० गृ० सू० (३१, २) प्रभृति तो इसे **पुंसवन से पूर्व** सम्पन्न करने के पक्ष में हैं, जबकि आश्व० गृ० सू० (१, १४), बौ० गृ० सू० (1, १०), तथा पा० गृ० सू० (1, १५, ३) इसका पुंसवन के पश्चात् निर्देश करते हैं। मा० गृ० सू० में इस कृत्य का दो बार विधान किया गया है—एक तो विवाह के अन्तिम कृत्य के रूप में कन्या के घर पर (१, १२, २) तथा दूसरे **स्त्री-कर्म (=पुंसवन)** से पूर्व। एक ही वेद से सम्बद्ध सूत्रों में आहुतियों तथा विनियोज्य मन्त्रों के विषय में ऐकमत्य नहीं पाया जाता। आश्व० गृ० सू० आठ मन्त्रों से आठ आहुतियों का विधान करता है, तो शां० गृ० सू० में छह ही आहुतियों का निर्देश किया गया है। आश्व० गृ० सू० में तीन बार मांग निकालने की बात कही गयी है (१, १४, ४), तो गो० गृ० सू० (२, ७) में छह मन्त्रों से छह क्रियाओं का विधान किया गया है। इसी प्रकार अन्य भी बहुत से मत-भेद दृष्टिगोचर होते हैं।

इस संस्कार का मुख्य सम्बन्ध नारी से है या होने वाले शिशु से, इस विषय में भी आचार्यों में मतैक्य नहीं पाया जाता। विश्वरूप[4] अपरार्क,[5] लघु आश्वलायन[6] देवल[7] तथा हारीत ने इसे स्त्री-संस्कार मान कर इसे केवल प्रथम गर्भ के समय ही

---

१. शां० गृ० सू० १, २२, ८; आश्व० गृ० सू० १, १४, ४।

२. जै० गृ० सू० १, ७ में पुष्प लगाने का निर्देश है।

३. जे० गोण्डा, सीमन्तोन्नयन, ईस्ट एण्ड वेस्ट, ७(१), पृ० २३।

४. याज्ञ० स्मृ० १, ११।

५. पृ० १४४।

६. ४, ८।

७. गदाधर द्वारा पा० गृ० सू० १, १५, १ पर भाष्य में उद्धृत।

कर्तव्य घोषित किया है, क्योंकि एक बार संस्कृत स्त्री का गर्भ सदा के लिए संस्कृत हो जाता है[1]। दूसरी ओर विष्णु,[2] मेधातिथि,[3] देवणभट्ट[4] एवं कर्काचार्य[5] प्रभृति ने इसे शिशु-संस्कार मान कर इसे प्रत्येक गर्भ के समय आवश्यक माना है। कौ० सू० (७९, १४) में इस कर्म में अथर्व० १४, १, ५५ का विनियोग किया गया है, जिसका सीधा सम्बन्ध विवाह से है, न कि गर्भ या शिशु से। अतः प्रतीत होता है कि संस्कार का सम्बन्ध भी स्त्री से है, न कि शिशु से[6]।

इसके उद्देश्यों के विषय में भी विद्वानों में ऐकमत्य का अभाव है। विण्टर-निट्स[7] इसे पुत्रोत्पत्ति के हेतु धार्मिक जादू-टोने की कोटि में रखते हैं। वी० हेनरी[8] के अनुसार इसका उद्देश्य मातृगर्भ में प्रवेश या पुत्र की आत्मा के मार्ग का प्रशस्ती-करण है। ओल्डनवर्ग[9] तथा कीथ[10] के विचार में यह भूत-प्रेतों को धोखा देने के लिए है। किन्तु मांग संवारने का कृत्य अन्यत्र भी किया जाता है, जहां इसकी अन्य व्याख्या की जाती है, अतः यह मत समीचीन नहीं कहा जा सकता। वैसे भूत भगाने की बात संस्कारप्रकाश में[11] भी कही गयी है, इसी कारण काणे[12] इसे गृह्यकाल में बहुत प्राचीन नहीं समझते।

---

१. गदाधर, वही, सकृतसंस्कृतसंस्कारा सीमन्तेन द्विजस्त्रियः। थं यं गर्भं प्रसूयन्ते स सर्वः संस्कृतो भवेत्' (हारीत)।

२. हेमाद्रि द्वारा उद्धृत, गदाधरर द्वारा निर्दिष्ट।

३. मनु० २, १६।

४. काणे, हि० ध० शा०, पृ० २२६।

५. पा० गृ० सू० १, १५, १।

६. जे० गोण्डा, जे० ए० ओ० एस० १८८९, पृ० २०९, टि० १४।

७. जे० आर० ए० एस०, १८९५, पृ० १५१।

८. ल मैंजी दांस् ल् इन्दे अन्तीक, पृ० १५१।

९. रिलि० देस वे०, पृ० ४६३, टि० ३।

१०. रिफिलावे०, पृ० ३७८।

११. पृ० १७२।

१२. हि० ध० शा० पृ० २२३; २२६।

एकविंश अध्याय

शिशु-संस्कार

जातकर्म

जातकर्म शिशु के जन्म के अवसर पर किये जाने वाले संस्कार को कहते हैं। इसके अन्तर्गत अनेक छोटे-छोटे संस्कार होते हैं, जिनमें सर्वप्रथम **क्षिप्रप्रसवन** तथा **सोष्यन्ती**-होम नामक कर्मों का विधान किया गया है, शिशु के जन्म-काल में बाधा या विलम्ब को दूर करने के उद्देश्य से किये जाते हैं।

किन्तु इनसे पूर्व जननी को अरिष्टागार में भेजने से पूर्व उस अरिष्टागार या सूतिकागृह से भूतप्रेतों तथा अन्य दुरात्माओं के निरसनार्थ वहां 'काकातनी' **'मचकचातनी' 'कोषातकी'**, 'बृहती', तथा 'कालकलीतक' नामक ओषधियों को पीस कर उसमें लेप किया जाता है[1]। वै० गृ० सू०[2] के अनुसार वहां 'वृषभ' नामक ओषधि को जलाया जाता है। तथा सरसों एवं तिलों से धूपित किया जाता है। वाराह गृ० सू०[3] के अनुसार सूतिकालय का द्वार पूर्व या उत्तर दिशा में होना चाहिये तथा प्रसूतिका को उसमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक प्रवेश करना चाहिये।

तदनन्तर **क्षिप्रप्रसवन** तथा अन्य संस्कार किये जाते हैं :—

सोष्यन्ती-होम (क्षिप्रप्रवस=क्षिप्रसुवन)— पुंसवन के पश्चात् प्रजनन-काल में क्षिप्रसवनार्थ **सोष्यन्ती-होम** का विधान करने वाले संस्कार को **क्षिप्र-प्रवसन** की संज्ञा दी गयी है तथा होम का विधान नहीं किया गया।

काठ० गृ० सू० (३३, १-३) में कहा गया है कि शिशु-जन्म के समय **क्षिप्रप्रसवनार्थ** जल से गीले किये गये पत्नी के हाथ को उसी के सिर पर रख कर पति को अपने गीले हाथ से उसके शरीर को सिर से हृदय-प्रदेश तक स्पर्श करना चाहिये। इससे शिशु शीघ्र गर्भ से बाहर आ जाता है।

भार० गृ० सू०, आप० गृ० सू० तथा हि० गृ० सू० में **क्षिप्रप्रसवन** का वर्णन इस प्रकार किया गया है। एक कोरे (नवीन) पात्र में नदी के बहाव की ओर से जल भर कर 'तूर्यन्ती' ओषधि को पत्नी के नीचे तथा 'सोष्यन्ती'

---

१. शां० गृ० सू० १,२३, १।

२. वै० गृ० सू० ३,१४।

३. वा० गृ० सू० २, १।

ओषधि को उस के सिर पर रख कर पति दोनों हाथों से पत्नी को स्पर्श करके नदी के जल से उसका मार्जन करे[1]। यदि जरायु के बाहर निकलने में विलम्ब हो रहा हो, तो पति को पत्नी के सिर पर दो बार मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल छिड़कना चाहिये। ऐसी ही अवस्था में पा० गृ० सू० (१, १६, १-२) में भी दो मन्त्रों का विधान किया गया है[2]।

गो० गृ० सू० (२, ७, १३-१५) में इस अवसर पर पति द्वारा अग्नि का दर्भों से परिस्तरण करके उस में दो आज्याहुतियां देने का विधान किया गया है[3]। अतः इस संस्कार की **सोष्यन्ती-होम** संज्ञा सार्थक है।

वै० गृ० सू० (३, १४) में इस संस्कार का परिष्कृत वर्णन किया गया है। इस के अनुसार गर्भ-पात में विलम्ब होने पर 'विशल्या' या 'सुवर्चला' ओषधि का रस योनि पर निचोड़ना चाहिये तथा 'पिण्डीतक' अथवा सर्प की केंचुली से धूपित करना चाहिये, तथा 'हिरण्यपुष्पी' नामक ओषधि की जड़ को उसके हाथों तथा पाँवों पर रखना चाहिये। शिशु के बाहर आते समय माता के सिर की दाहिनी ओर एक घड़ा जल का रखना चाहिये तथा 'तूर्यन्ती' नामक ओषधि को उसके पैरों के नीचे रख कर उसके पेट को समन्त्रक थपथपाना चाहिये।

जातकर्म के अन्तर्गत **होम, आयुष्य, प्राशन, अश्माभिमर्शन, मेधाजनन** तथा **स्तन-प्रदान** मुख्य कर्म हैं।

कुछ एक गृह्यसूत्रों में जननी के उच्चारणार्थ कुछ मन्त्रों का विधान किया गया है।

आयुष्य कर्म—मा० गृ० सू० (१, १७, १-७) में इस कर्म का विधान इस प्रकार किया गया है— पिता को मथित अग्नि में शिशु की दीर्घायु के लिए आज्य की इक्कीस आहुतियां प्रदान करनी चाहियें, जिनके लिए मन्त्रों का विधान किया गया है[4]। शेष आज्य में दधि, मधु तथा जल का मिश्रण करके, सुवर्ण-शकल से आलोडन करके, शिशु को तीन बार पिलाना चाहिये। पा० गृ० सू० (१, १६, ६) के अनुसार शिशु के कान में कुछ मन्त्रों का उच्चारण करने का विधान है[5]। अथवा

---

१. भार० गृ० सू० १, २२-२३; आप० गृ० सू० ६, ४, १५; हि० गृ० सू० २, २, ८ : २ ३, १; हरदत्त ने यहां '**सोष्यन्ती**' का अर्थ 'ओषधि-विशेष' किया है, जबकि सुदर्शनाचार्य ने इसे जननी का द्योतक माना हैं।

२. वा० सं० ८, २८-२९।

३. मन्त्रब्रा० १, ५, ६-७।

४. मै० सं० २,३-४।

५. द्र. भार० गृ० सू० १, २४।

बालक का हाथ अपने हाथ में लेकर पिता कुछ मन्त्रों का उच्चारण करता है[१]। इस कर्म से शिशु की आयु दीर्घ होती है।

यदि पिता पुत्र की सम्पूर्ण (शत वर्ष) आयु की कामना करे तो उसे **वात्सप्र** अनुवाक[२] का उच्चारण करते हुए शिशु का स्पर्श करना चाहिये। इस अवस्था में इस अनुवाक के अन्तिम मन्त्र का उच्चारण वर्जित है[३]।

कुमाराभिमन्त्रण में शिशु के कानों में पिता को **अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमस्तृतं भव** प्रभृति मन्त्रों का उच्चारण पलाश के लिपटे हुए पत्ते में से करना चाहिये[४]। अथवा केवल कन्धे को स्पर्श करना चाहिये[५]। प्रवास से लौट कर भी पिता इसी प्रकार अभिमन्त्रण करता है[६], अथवा शिशु के सिर का स्पर्श करता है[७], अथवा सिर को सूंघता है[८]। एक और मत के अनुसार अभिमन्त्रण भिन्न प्रकार से किया जाता है,[९] भूमि पर रखी एक शिला पर परशु तथा परशु पर स्वर्णकशल रख कर, पिता **अश्मा भव** प्रभृति मन्त्रों का उच्चारण करता है, जो वास्तविकता के अधिक समीप प्रतीत होता है। ये पदार्थ क्रमशः दृढ़ता, शत्रु-उच्छेदन की क्षमता, तथा सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य के प्रतीक हैं। वा० गृ० सू० (२, ६) में **अंगादंगात्सम्भवसि** मन्त्र से अभिमन्त्रण का विधान है[१०]। अथवा पिता पुत्र के जन्म-स्थल की भूमि को **वेद ते भूमि हृदयं दिवि**[११] से स्पर्श करता है। पा० गृ० सू० (१, ११, ९) में कुछ परिवर्तन से इसी मन्त्र का विनियोग **चतुर्थी कर्म** में भी किया गया है।

---

१. आप० गृ० सू० ६, ५, १२; आग्नि० गृ० सू० २, १,५।

२. वा० सं० १२, १८-२९।

३. पा० गृ० सू० १, १६, ८-९।

४, मा० गृ० सू० १, १७. १-७; वा० गृ० सू० २,६; भार० गृ० सू० १, २४।

५. आश्व० गृ० सू० १, १५, ३।

६. वा० गृ० सू० ३, ११।

७. गो० गृ० सू० २, ८, २१; खा० गृ० सू० २. ३, १३; जै० गृ० सू० ८, १८।

८. बौ० गृ० सू० २१, १५; ६, १५, १-४।

९. हि० गृ० सू० ३,३,२; आग्नि० गृ० सू० २,३,१।

१०. तथा हि० गृ० सू० २,३,२; खा० गृ० सू० २, ३, १३; भार० गृ० सू० १, २५।

११. पा० गृ० सू० १,१६,१७; हि० गृ० सू० २,३,८।

प्राशन—प्राशन की भी अनेक विधियां है। स्वर्ण के चम्मच से दधि, मधु, तथा घृत शिशु को खिलाया जाता है[1]। एक अन्य विधि के अनुसार नवजात शिशु का नाल-छेदन तथा स्तन्य-पान कराने से पूर्व ही सर्वप्रथम पिता द्वारा जौ और चावल पीस कर शिशु की जिह्वा पर लगाने की परिपाटी है[2]।

मेधाजनन—पा० गृ० सू०[3] में जन्मते ही शिशु को पिता द्वारा मधु या घृत समन्त्रक खिलाने का विधान है, अथवा मधु तथा घृत मिला कर खिलाने का[4]। शां० गृ० सू० (१, २४, ७-८) में माण्डुकेय का मत उद्धृत किया गया है, जिसके अनुसार घृत, मधु, दधि तथा जल के मिश्रण में काले बैल के रोमों को घोल कर, **भूर्ऋग्वेदं त्वयि दधामि०** प्रभृति मन्त्र से शिशु को खिलाया जाता है, या शिशु के कानों में **मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती०** प्रभृति मन्त्र के उच्चारण का विधान है[5]। शां० गृ० सू० (१, २४, ९-१०) में शिशु के कान में तीन बार केवल **वाक्** शब्द का उच्चारण ही पर्याप्त समझा गया है। अन्य सूत्रों में न्यूनाधिक भेद से इस संस्कार का विधान पाया जाता है। इससे शिशु में मेधा की उत्पत्ति होती है और वह बड़ा हो कर मेधावी बनता है, ऐसा विश्वास किया जाता है।

स्तन-प्रदान—कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में प्राशन-कर्म के पश्चात् शिशु को स्नान करा के उसे माता का स्तन्य समन्त्रक पिलाया जाता है। काठ० गृ० सू० (३४, ५) के अनुसार स्तन-पान कराने से पूर्व **मधु वाता ऋतायते** (तै० सं० ४, २, ९, ३ तथा अन्यत्र) से स्तन को धो कर हविःशेष अथवा मधु मिश्रित हविःशेष में स्वर्ण को घिस कर शिशु के मुख में रख कर निम्नोद्धृत मन्त्र से पिता स्तन्यपानार्थ शिशु को माता का स्तन प्रदान करे :—

आयुर्धय जरां धय सत्यं धय श्रियं धयोर्जं धय रायस्पोषं धय ब्रह्मवर्चसं धय[6]।

---

१. आश्व० गृ० सू० १, १५, १; शां० गृ० सू० १, २४, २-४।

२. गो० गृ० सू० २, ७, १६-१८; भिन्न विधि के लिए द्र. पा० गृ० सू० १, १६, ४; आप० गृ० सू० ६, १५, १-४।

३. १, १६, ३-४।

४. हि० गृ० सू० २, ३, ९; आग्नि० गृ० सू० २, १, ४।

५. आश्व० गृ० सू० १, १५, २।

६. का० गृ० सू० ३४, ६; यह मन्त्र ब्लू० कं० में उल्लिखित नहीं है।

इस प्रसंग में पा० गृ० सू० (१, १६, २०-२१) में दो पृथक् पृथक् मन्त्रों से दोनों स्तनों को पृथक्-पृथक् देने का निर्देश किया गया है। दक्षिण स्तन के प्रदानार्थ वा० सं० १७, ८७ का तथा वाम स्तन के प्रदानार्थ वा० सं० ३५, ५ का विनियोग विहित है। अन्य सूत्र अन्य मन्त्रों का विधान करते हैं।

नामकरण

गृह्यसूत्रों के अनुसार शिशु का एक नाम तो जन्मते ही रख लिया जाता है, जो प्रायः माता-पिता को ही विदित होता है[1]। प्रसिद्ध नाम बाद में दसवें, एकादशवें या द्वादशवें दिन रखा जाता है[2]। गो० गृ० सू० (२, ८, ८) तथा खा० गृ० सू० (२, ६, ६) के अनुसार जन्म से दसवीं या सौवीं रात्रि में या एक वर्ष के उपरान्त यह नाम रखना चाहिये। इस अवसर पर पुत्र को गोद में लेकर पिता तीन आहुतियां (प्रजापति, जन्मतिथि तथा जन्म नक्षत्र के लिये)[3] अथवा तेरह आहुतियां (धातृ-देवता, राका, अनुमति, सिनीवाली तथा कुहू के लिये) अग्नि में प्रदान करता है[4]। आग्नि० गृ० सू० (२, २, ५) में इन आहुतियों के देवता गौण हैं, किन्तु सन्तान के इच्छुक व्यक्ति को इन्हें प्रसन्न करना चाहिये।

नाम रखने के सम्बन्ध में भी विशेष नियम हैं। नाम दो अक्षरों या चार अक्षरों वाला होना चाहिये। जिसका आदि अक्षर घोषवद्, मध्याक्षर अन्तःस्थ तथा अन्त्याक्षर दीर्घ होना चाहिये। नाम कृत्-प्रत्ययान्त होता है, तद्धितान्त नहीं। पितामह प्रभृति का नाम पौत्र प्रभृति रख सकते हैं[5]। कन्या का नाम तीन या पांच अयुग्म अक्षरों वाला, आकारान्त एवं तद्धितान्त होना चाहिये। नाम के अन्त में जाति के अनुरूप शर्मा, वर्मा अथवा गुप्त लगाना चाहिये[6]।

आदित्य-दर्शन या **निष्क्रमण**—मानव गृह्यसूत्र (१, १९, १-४) के निर्देशानुसार यह संस्कार जन्म से चतुर्थ मास में सम्पन्न किया जाता है। इस में तीन आहुतियां आदित्य को अर्पण की जाती हैं। तदनन्तर शिशु को सूर्य के दर्शन

---

१. गो० गृ० सू० २, ७, १५; तु. खा० गृ० सू० २, ३१-३२; काठ० गृ० सू० ३४, ५; शां० गृ० सू० १,२४,२-६।

२. पा० गृ० सू० १, १७, १।

३. गो० गृ० सू० २, ८, ९-१८।

४. तै० सं० ३,३,११,७ से उपान्त्य मन्त्र तक के मन्त्रों से ये आहुतियां दी जाती हैं।

५. पा० गृ० सू० १,१७,२; गो० गृ० सू० २,८,१४-१५।

६. पा० गृ० सू० १,१७, ३-४।

कराये जाते हैं। काठ० गृ० सू० (३७, २-३) के अनुसार विशेष मन्त्रों के साथ चार **आज्याहुतियों** तथा दो **स्थालीपाक** आहुतियों का विधान किया गया है। तदनन्तर पिता पुत्र को गोद में लेकर **द्रष्ट्रे नमः उपद्रष्ट्रे नमः** ... ... प्रभृति मन्त्रों[1] का उच्चारण करके सूर्य दिखाता है। पा० गृ० सू० (१, १६, ६) में इसे ही **निष्क्रमणिका संस्कार** की संज्ञा दी गयी है। तदनुसार पिता वा० सं० ३६, २४ का उच्चारण करता हुआ पुत्र को सूर्य-दर्शन कराता है।

कौ० सू० (५८, १८) में शिशु के प्रथम बार बहिर्निष्क्रमण के अवसर पर पिता द्वारा अथर्व० ८, २, १४-१५ के उच्चारण का विधान है, जिनमें प्रकृति की सभी शक्तियों से शिशु के कल्याण की प्रार्थना की गयी है। यही इन मन्त्रों की विशेषता है।

अन्न-प्राशन—यह संस्कार शिशु के जन्म से षष्ठ मास में सम्पन्न किया जाता है, जबकि उसे प्रथम बार अन्न खिलाया जाता है[2]। विविध प्रकार के फलों की प्राप्ति के हेतु विविध प्रकार के अन्नों तथा मांसों का इस संस्कार में प्रयोग का विधान है। **स्थालीपाक** तथा **आज्यभागों** का भी विधान किया गया है। काठ० गृ० सू० (३९, २) के अनुसार सभी प्रकार के भक्ष्य अन्नों का मिश्रण करके अग्नि में होम के उपरान्त शिशु को अन्नप्राशन कराना उचित है।

भार० गृ० सू० (१, २७) तथा शां० गृ० सू० (१, २७, १०) के अनुसार **भूर्भुवः स्वः** इन तीन महाव्याहृतियों के साथ अन्नप्राशन कराना चाहिये। हि० गृ० सू० (२, ५, २) में प्रत्येक महाव्याहृति के अनन्तर **त्वयि दधामि** शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। कुछ अन्य गृह्यसूत्रों (आश्व० गृ० सू० १, १६, ५; जै० गृ० सू० १,१०; काठ० गृ० सू० ३९, २) में अधोलिखित मन्त्र का विनियोग विहित है—**अन्नपते अन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः** (तै० सं० ४, २,३,१), जबकि शां० गृ० सू० (१, २७, ७) तथा मा० गृ० सू० (१, २०, २) में इसी मन्त्र का विनियोग प्राशन से पूर्व अर्पित की जाने वाली आहुति के लिये किया गया है।

कुछ अन्य गृह्यसूत्रों में अन्नप्राशन के लिये कुछ-कुछ अन्तर के साथ निम्नलिखित मन्त्र का विनियोग किया गया है—

---

१. काठ० सं० २६,१२।

२. शां० गृ० सू०, आश्व० गृ० सू०, बौ० गृ० सू०, भार० गृ० सू०, प्रभृति षष्ठ मास के पक्ष में हैं। जबकि काठ० गृ० सू० दांत निकालने के उपरान्त तथा मानव गृह्यसूत्र पञ्चम या षष्ठ मास के पक्ष में हैं। गो० गृ० सू० तथा खा० गृ० सू० इस संस्कार की चर्चा नहीं करते।

अपां त्वौषधीनां रसं प्राशयामि ··· ···[१]

यह मन्त्र विभिन्न स्रोतों के विभिन्न अंशों को परस्पर जोड़ कर बनाया गया है।[२]

कौ० सू० (५८, १९) के अनुसार पिता को अन्य मन्त्रों[३] से शिशु को जौ तथा चावल खिलाने चाहियें।

पा० गृ० सू० (१, १९, ६) में अन्नप्राशन के लिये किसी मन्त्र के विनियोग का विधान नहीं किया गया। वहां केवल मौन-भाव या 'हन्त' का उच्चारण विहित है।

चूड़ाकरण या चौलकर्म—प्रथम[४] अथवा तृतीय[५] वर्ष में करने का विधान है। इस प्रसंग में कई-कई शिखाएं रखने का चलन था[६]। यह संख्या गोत्र, प्रवर, ऋषि अथवा कुल-धर्म के अनुसार निश्चित की जाती थी[७]। इस कर्म में ब्राह्मण-भोजन तथा आज्यहोम के बाद नापित द्वारा उस्तरे से बाल काट कर बैल के गोबर पर रखे कुशों की तह पर डाले जाते हैं[८]। इससे पूर्व शिशु के बालों को पिता गरम जल, दधि या नवनीत से गीला करता है[९]। और उसके बालों में साही के कांटे, तीन दर्भ के तिनकों और गूलर के कच्चे फलों के गुच्छों से कंघी करता है[१०]। बालों

---

१. बौ० गृ० सू० २, ३, ६; आप० गृ० सू० ६,१६,१, वै० गृ० सू० ३, २२; हिर० गृ० सू० २,५,३; आग्नि० गृ० सू० २,२,४।

२. अथर्व० ८,२,५; तै० ब्रा० २,५,३,३; द्र. कृष्णलाल, गृ० विनि०, पृ० २६६।

३. ये मन्त्र अथर्व० ८, २, १८-१९ हैं।

४. भार० गृ० १, २८।

५. गो० गृ० सू० २, ९, १; खा० गृ० सू० २,३, १६; आप० गृ० सू० ६,१६,३; हि० गृ० सू० २,६,१; मा० गृ० सू० १,२१,१; काठ० गृ० सू० ४०,१; जै० गृ० सू० १,११; ८, १६; इस प्रसंग में बौ० गृ० सू० २,४,१; पार० गृ० सू० २,१,१-२; वै० गृ० सू० ३,१३ दोनों में विकल्प मानते हैं। शां० गृ० सू० (१, २८,१-४) क्षत्रिय के लिए पांचवें तथा वैश्यार्थ सातवें वर्ष का विधान करता है।

६. वै० गृ०सू० ३,२३ में एक से सात चोटियों तक का विधान है (द्र. बौ० गृ० सू०२,४, १७-१८)।

७. काठ० गृ० सू० ४०, २-८।

८. शां० गृ० सू० १, २८, ७।

९. आश्व० गृ० सू० १, १७, ७; शां० गृ० सू० १, २८, ९।

१०. आप० गृ० सू० ६,१६,६-७; शां० गृ० सू० १, २८, १०-११; पा० गृ० सू० २,१,१०।

की एक लट को दाहिनी ओर करके दर्भ के तिनकों को उसमें रख कर **ओषधे त्रायस्वैनम्** यह मन्त्र पढ़ता है। ताम्रमय उस्तरे से बालों को मूंडने से पूर्व उस्तरे को सम्बोधित करता है—**स्वधिते मैनं हिंसीः** (आश्व० गृ० सू० १, १७, ९)। इस प्रक्रिया में सम्प्रदायों में विभेद पाये जाते हैं। काटे हुए बालों को माता या अन्य किसी प्रिय व्यक्ति द्वारा बैल के गोबर में रखा जाता है[1] और बाद में उन्हें गोष्ठ या तालाब में दबा दिया जाता है[2]।

गोदान या केशान्त—यह मुख्य रूप से प्रथम बार दाढ़ी बनाने के अवसर पर किया जाता है तथा चूड़ाकरण से कुछ ही अंशों में भिन्न है। अधिकांश गृ० सू० इसका विधान सोलहवें वर्ष में करते हैं। आप० गृ० सू० (६, १६, १५) में तो चूड़ाकरण और गोदान में इतना ही अन्तर बताया गया है, कि गोदान में दाढ़ी और सिर तथा कक्ष आदि के सभी बाल मूँडे जाते हैं। गोदान के अनन्तर युवक को निश्चित समय के लिए ब्रह्मचर्य, मांसाभक्षण प्रभृति व्रत ग्रहण करने होते हैं[3]।

उपनयन

उपनयन संस्कार व्यक्ति को सामाजिक दायित्व सम्भालने एवं सांस्कृतिक तथा जीवन की विभिन्न ज़िम्मेदारियों को वहन करने की क्षमता के उपार्जन तथा अपने सर्व प्रकार के अधिकारों को प्राप्त करने की योग्यता के मार्ग पर पदार्पण कराने का प्रथम चरण है। इसके द्वारा दीक्षित व्यक्ति की गणना द्विजों में होने लगती है और उसके सामाजिक गौरव में वृद्धि होती है। दक्षिणपूर्वीय आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों में अदीक्षित व्यक्ति को निपट मूढ, बुद्धू माना जाता है तथा उसे किसी भी प्रकार के सामाजिक सत्कार के योग्य नहीं माना जाता एवं वृद्ध होने पर भी उसे 'छोकरा' कहा जाता है[4]। ईसाइयों में भी इसी आशय का संस्कार 'बैप्टिज़्म' के नाम से प्रसिद्ध है।

उपनयन संस्कार की प्राचीनता के विषय में कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सका, तो भी वैदिक युग में ऐसे छात्र का उल्लेख है, जिसका उपनयन

---

१. मा० गृ० सू० १, २१, ६; आश्व० गृ० सू० १, १७, ११; काठ० गृ० सू० ४०, १४।

२. पा० गृ० सू० २, १, २३; गो० गृ० सू० २, ९, २४-२५; शां० गृ० सू० १, २८,२३; बौ० गृ० सू० २, ४, १५।

३. पा० गृ० सू० २, १, २४; आश्व० गृ० सू० १, १८, ९; गो० गृ० सू० ३,१,१२-२५; खा० गृ० सू० २,५,१०-१६।

४. A. W. Howit, *Native Tribes of South East Australia*, London, 1904, p. 530,)

अभी-अभी हुआ है[1]। अथर्व०[2] के दो मन्त्रों में ब्रह्मचारी की प्रशंसा की गयी है, जिनमें इस संस्कार की अनेक विधियों का पूर्वाभास होता है। "आचार्य उपनयन करता हुआ ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है तथा तीन रात्रि पर्यन्त उसे उदर में स्थापित किये रहता है। उसके उपरान्त जब वह 'द्वितीय' जन्म ग्रहण करता है, तो देवता भी उसके दर्शनार्थ एकत्र होते हैं[3]। वह पवित्र मेखला धारण करता है, कृष्णमृग-चर्म पहनता है, लम्बी-लम्बी दाढ़ी मूँछ रखता हैं, समिधाएं एकत्र करता और यज्ञिय अग्नि में उनका होम करता है[4]। ब्रह्मचारी को यह विशाल पृथिवी और आकाश भिक्षा में प्राप्त हुए हैं[5]"। अथर्व० ने तो ब्रह्मचारी के वर्णन में एक ही सूक्त में छब्बीस ऋचाओं का गान किया है, जिनमें उत्तर-कालिक साहित्य में वर्णित सभी विशेषताओं का समावेश कर दिया गया है।

ब्राह्मण-काल में इसे पूर्ण कर्मकाण्डीय रूप प्राप्त हुआ। यहां इसके अनुष्ठान की विधि सुनिश्चित तथा सुस्थिर होती जा रही है। यहां समित्पाणि ब्रह्मचारी स्वयं आचार्य के पास शिष्यत्व-ग्रहण करने की प्रार्थना लेकर जाता था। नाम आदि पूछने के बाद आचार्य उस का हाथ पकड़ कर अनेक ऋचाओं का उच्चारण करता हुआ उसकी रक्षा के लिये देवताओं से प्रार्थना करता था, तथा उसके आचार-व्यवहार में मार्गदर्शनार्थ पांच यमों के पालन का आदेश देता था। तदनन्तर गायत्री के उपदेश के पश्चात् आचार्य तीन दिन तक यम-नियमों का पूर्ण पालन करता था। इस प्रकार ब्रह्मचारी को शिष्यत्व प्राप्त हो जाता था।

वास्तव में उपनयन शिष्य का आचार्य के निकट आने तथा ब्रह्मचर्य-जीवन में प्रवेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। किन्तु शिष्यत्व सब किसी को प्राप्त नहीं हो सकता था। इसके लिये अनेक परीक्षाओं को पार तथा शर्तों को पूरा करना होता था। ब्रह्मविद्या के विषय में तो कहा भी गया है—यह गुह्य विद्या सन्देहशील अशिष्ट विद्यार्थी को नहीं देनी चाहिये। अनन्य भक्त तथा सर्वगुण-सम्पन्न छात्र ही इसका अधिकारी है[6]।

---

१. ऋग्० ३, ८, ४-५।

२. अथर्व० ११, ५, ३।

३. वही, ११, ५, ६।

४. वही, ११,५,९।

५. श० ब्रा० १, २, १-८।

६. 'एतद् गुह्यतमं नापुत्राय नाशिष्याय कीर्तयेदनन्यभक्ताय सर्वगुणसम्पन्नाय दद्यात्' (मैत्रि० उप० ६,२९)।

ब्रह्मचारी आचार्यकुल में ही निवास करते थे,[1] तथा विद्याध्ययन और गुरुसेवा में लगे रहते थे[2]। ब्रह्मचारी अपने तथा गुरु के भोजनार्थ भिक्षाटन किया करते थे। ब्रह्मचर्य-काल सामान्यत: बारह से चौबीस वर्ष तक होता था, किन्तु विशेष अवस्थाओं में अधिक भी हो सकता था।

इस विषय में एक रोचक बात यह है कि नये गुरु के पास जाने पर उपनयन संस्कार भी नये सिरे से होता था। वृद्ध व्यक्ति भी कुछ समय के लिये छात्र बन सकते थे।

गृह्यसूत्र-काल में उपनयन संस्कार पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो चुका था। तथा प्रत्येक द्विज के लिये अनिवार्य माना जाने लगा था तथा इस समय कर्मकाण्डीय पद्धति के अनुरूप संस्कार के लिए बालक संस्कार के अधिकारी, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य तथा व्यवहार के विषय में सुविस्तर विवेचन करके नियम बना दिये गये थे।

इस समय उपनयन शब्द के पुराने अर्थ में भी परिवर्तन हो चुका था। इसका रहस्यात्मक पक्ष उभरने पर इस में गायत्री मन्त्र द्वारा बालक के द्वितीय जन्म की धारणा ने बल पकड़ लिया और विद्या में दीक्षित होने की भावना गौण हो गयी[3]। आजकल तो इसे ही 'जनेऊ' या 'यज्ञोपवीत' का पर्याय माना जाने लगा है यद्यपि उपवीत सूत्र का उल्लेख गृह्यसूत्रों में नहीं है। यह प्राचीन काल में यज्ञ के समय धारण किये जाने वाले उत्तरीय का स्थानापन्न है[4]। इस प्रकार समय के साथ-साथ उपनयन शब्द के अर्थों का विकास इस प्रकार होता गया— छात्र को गुरु के समीप ले जाना[5] तथा किसी वैदिक शाखा का अध्ययन, गायत्री मन्त्र द्वारा द्वितीय जन्म-ग्रहण, द्विजत्व की प्राप्ति, यम-नियम के व्रत, एवं देवता का सामीप्य इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विशेष कर्मकाण्डीय प्रक्रिया का संस्कार। पहले

---

१. अन्तेवासिन् (छां० उप० ३,२,५; ४,४,१०,१)।

२. छां० उप० ४,३,५।

३. इस मत के प्रतिपादक गौतम थे (द्र. गौ० ध० सू० ८, १४,२४)।
आगे चलकर इस शब्द का अर्थ और भी व्यापक हो गया। द्र. वी० मि० सं० भा० १, ३३४ पर उद्धृत—'गुरोर्व्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च। देवतानां समीपं वा येनासौ नीयतेऽसौ'।

४. द्र. गो० गृ० सू० २, १०—'यज्ञोपवीतं कुरुते सूत्रं वस्त्रं कुशरज्जुं वेति'। हिं० सं० पृ० १५०।

५. तु. गदाधर पा० गृ० २,२,१—'अग्निसमीपनयनं वा'। इससे विद्याग्रहण गौण तथा संस्कार मुख्य हो गया है।

यह संस्कार, अन्धे, बहरे, गूँगे व्यक्तियों के लिये वर्जित था, किन्तु बाद में इनके लिये भी यह संस्कार आवश्यक माना जाने लगा[१]।

सामान्य नियम के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन-संस्कार गर्भ से आठवें, क्षत्रिय का ग्यारहवें, वैश्य का बारहवें वर्ष में करना चाहिये[२]। कुछ विशेष गुणों या कामनाओं की प्राप्ति के लिये वैकल्पिक अवस्थाओं का भी विधान किया गया है। यथा ब्रह्मवर्चस के लिये सातवें, दीर्घायुष्य के लिये आठवें, ऐश्वर्य के लिये नवें वर्षों आदि का विधान है[३]। किन्तु मा० गृ० सू० में जाति-विशेष का विचार किये बिना उपनयन की आयु सात या नौ वर्ष निश्चित की गयी है (मा० गृ० सू० १, २२, १)। इस विषय में कौ० सू० सर्वथा मौन है। गृह्यसूत्रों में जाति के अनुसार इस संस्कार के लिये ऋतुएं भी निश्चित कर दी गयी हैं। ब्राह्मण के लिये वसन्त, क्षत्रिय के लिये ग्रीष्म या हेमन्त (भार० गृ० सू० १, १), वैश्य के लिये शरद् तथा रथकार के लिये वर्षा। अथवा सभी लोग वसन्त (बौ० गृ० सू० २, ५, ६) या शिशिर (भार० गृ० सू० १, ११) में उपनयन कर सकते थे।

उपनयन की अन्तिम सीमा ब्राह्मण के लिये सोलह, क्षत्रिय के लिये बाईस तथा वैश्य के लिये चौबीस वर्ष की आयु थी[४]। इससे प्रकट होता है कि इस समय उपनयन केवल शारीरिक संस्कार बन कर रह गया था। उपनयन संस्कारार्थ निर्धारित इन सीमाओं के उल्लङ्घन के पश्चात् ये **पतित-सावित्रीक** कहलाते थे और इनका अध्यापन, भोजन तथा विवाह आदि का व्यवहार वर्जित घोषित कर दिया गया था[५]। इन्हें 'व्रात्य' कहा जाता था और समाज में विगर्हित माना जाता था[६]। किन्तु पा० गृ० सू० के अनुसार **व्रात्यस्तोम** से यज्ञ के द्वारा इन्हें वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त हो जाता था[७]।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि सूत्रकाल से पूर्व उपनयन संस्कार अनिवार्य न होकर ऐच्छिक था तथा केवल कुछ एक सुसंस्कृत एवं पुरोहित परिवारों तक ही सीमित था, जो अध्ययन के लिये विशेष उत्सुक होते थे, शेष अनुपनीत ही रहते थे[८]।

---

१. द्र. ब्रह्मपुराण, वी० मि०, सं० भा० १, पृ० ३९९ पर उद्धृत।
२. पा० गृ० सू० २,२,२; आश्व० गृ० सू० १,१९, १-५; गो० गृ० सू० २,१०१-४।
३. बौ० गृ० सू० २,५,५।
४. पा० गृ० सू० २,५,३६-३८।
५. पा० गृ० सू० २,५,४०; गो० गृ० सू० २,१०, ५-६।
६. मनु० स्मृ० २,३९।
७. पा० गृ० सू० २,५,४२; 'व्रात्य' शब्द के अर्थ के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है।
८. राजबलि पाण्डेय, हिं० सं० पृ० १५७;

धीरे-धीरे इसका महत्त्व इतना बढ़ गया कि सर्वथा अयोग्य तथा अनपढ़ व्यक्तियों को भी उच्च वर्ण के इस चिह्न के द्वारा विवाह आदि की अनुमति दिलाने के उद्देश्य से इसकी अनिवार्यता पर बल दिया जाने लगा। तथा अभक्ष्य-भक्षण से अपवित्र हुए व्यक्ति की पुनः शुद्धि के लिए उपनयन संस्कार का आश्रय लिया जाने लगा[1]। इस विचाराधारा के दुष्परिणाम की पराकाष्ठा चौदहवीं शती के एक कन्नड अभिलेख में अभिव्यक्त होती है, जिसमें एक ब्राह्मण द्वारा पीपल के चार वृक्षों के उपनयन का उल्लेख किया गया है।[2]

उपनयन की विधि

वालक का पिता, पितामह, पितृव्य, या ज्येष्ठ भ्राता उसे आचार्य के समीप ले जाने के अधिकारी माने गये हैं। इनके अभाव में समान वर्ण का कोई भी ज्येष्ठ व्यक्ति इस कार्य को सम्पन्न कर सकता है। इन सब के अभाव में वालक स्वयं आचार्य के समीप जा सकता है। आचार्य जिस बालक को शिष्य के रूप में स्वीकार करते हैं, उसे नवीन वस्त्र पहनाते हैं[3]।

काठ०गृ०सू०[4] के विधान के अनुसार वस्त्र-परिधान के पश्चात् आचार्य बालक का अभिमन्त्रण करते हैं, तथा शिष्य को यज्ञोपवीत प्रदान करते हैं[5]।

---

१. वी० मि० सं० भा० १, पृ० ५४५ पर उद्धृत यम और शातातप।

२. एपिग्राफिका कर्णाटिका, ३, मलवल्ली अभिलेख, संख्या २३, हिं० सं० पृ० १६०, टि० ३ में निर्दिष्ट।

३. पा० गृ० सू० २,२,७; बौ० गृ० सू० २, ५; ११, १२; आप० गृ० सू० ४, १०, १०; हि० गृ० सू० १, ४, २; भार० गृ० सू० १, ५; आग्नि० गृ० सू० १, १, २; वा० गृ० सू० ५, ९; मा० गृ० सू० १, २२, ३; गो० गृ० सू० २, १०; १२-१४; काठ० गृ० सू० ४१, ६।

४. ४१, ७।

५. बौ० गृ० सू० २, ५, ७; पा० गृ० सू० २, २, १०; वै० गृ० सू० २, ५; शां० गृ० सू० २, २, ३; वा० गृ० सू० ५, ८; कौ० गृ० सू० २, १, ३१; आग्नि० गृ० सू० २,४,९।

तदनन्तर मेखला,[1] अजिन[2] तथा दण्ड[3] प्रदान किया जाता है, जो भिन्न-भिन्न गृह्यसूत्रों में भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के निश्चित किये गये हैं। किन्तु चर्म के विषय में भी मा० गृ० सू० (१, २२, ११) जाति-पांति से ऊपर उठ कर सभी वर्णों के लिए कृष्णमृग-चर्म का विधान करता है। यह सूत्र सावित्री-वाचन तथा भिक्षा के समय सम्बोधन के प्रकार के विषय में भी वर्ण-व्यवस्था को कोई महत्त्व नहीं देता। कौ० सू० भी इस विषय में उदार है। श० ब्रा० (११, ५, ४, १-१७) में उपनयन के विषय में वर्ण-भेद का संकेत नहीं किया गया। लगता है यह भेद-भाव पश्चात्कालिक उपज है, क्योंकि सभी गृह्यसूत्रों में भी यह भेदभाव नहीं है।

शिष्य का दक्षिण हस्त अपने दक्षिण हस्त में ग्रहण करने के पश्चात् आचार्य शिष्य को सूर्यदर्शन कराते हैं तथा शिष्य के हृदय-देश का स्पर्श करते हैं। इसे **हृदयालम्भन** कहा जाता है। कई गृह्यसूत्रों में[4] नाभि-स्पर्श को भी विधान है। विभिन्न देवताओं को सम्बोधित करते हुए आचार्य शिष्य को उन्हें समर्पित करते हैं[5]। तदनन्तर अग्नि में समिदाधान के पश्चात् शिष्य मुख धोता है तथा आचार्य उसे शिष्य के रूप में स्वीकार करते हैं[6]। तथा उसे यथायोग्य हवनादि करने तथा दिन में न सोने का आदेश देते हैं (पा० गृ० सू० २, ३, २)। तदनन्तर आचार्य शिष्य को सावित्रीमन्त्र का अनुवाचन कराते हैं (पा० गृ० सू० २, ३, ३)। यह उपनयन का मुख्य अंग है। इसके बिना यह कर्म पूर्ण नहीं माना जाता, तथा सावित्री मन्त्र[7] की शिक्षा-ग्रहण किये बिना कोई द्विज समाज का सभ्य सदस्य नहीं समझा जाता, न ही उसे सामाजिक अधिकार ही प्राप्त हो सकते थे। ऐसे व्यक्ति **पतित-सावित्रीक** कहे जाते थे, और इन्हें

---

१. गो० गृ० सू० २, १०, ३३; खा० गृ० सू० २, ४, २०; आप० गृ० सू० ४, १०, ११; हि० गृ० सू० १, ४, ४; आग्नि० गृ० सू० १, १, २; भार० गृ० सू० १, ६; बौ० गृ० सू० २, ५, ३; वै० गृ० सू० २,५; पा० गृ० सू० २, २, ८; मा० गृ० सू० १, २२, १०; काठ० गृ० सू० ४१, ११; वा० गृ० सू० ५, ७।

२. पा० गृ० सू० २, २, १०; बौ० गृ० सू० २, ५, १६; काठ० गृ० सू० ४१, १३; वा० गृ० सू० ५,९; शां० गृ० २, १, ३०।

३. पा० गृ० सू० २,२,११, शां० गृ० सू० २,६,२।

४. हि० गृ० सू० १,५, २२; आग्नि० गृ० सू० १, १, ३; वा० गृ० सू० ५, २१।

५. आप० गृ० सू० ४, १०, १२; हि० गृ० सू० १,६,५; आग्नि० गृ० सू० १, १,३; वै० गृ० सू० २,६; कौ० सू० ५६, १३।

६. आश्व० गृ० सू० १, २१, १; शां० गृ० २, १०, ४; आप० गृ० सू० ४, ११, २२; भार० गृ० सू० १,८; पा० गृ० सू० २, ४, ३; गो० गृ० सू० २, १०, ३३।

७. ऋग्० ३, ६२, १०।

अध्ययन, यजन तथा विवाह आदि के अधिकार से वञ्चित कर दिया जाता था। अतः सभी गृह्यसूत्रों में इसके अनुवाचन का विधान किया गया है[1]। कई गृह्यसूत्रों में वर्णानुसार सवितृ-देवता के भिन्न-भिन्न मन्त्रों के अनुवाचन का विधान किया गया है[2]।

आचार्य को बालक का पितृ-स्थानीय तथा सावित्री को मातृ-स्थानीय माना जाता था और दोनों मिल कर बालक को नवीन जन्म देने वाले माने जाते थे। प्राचीन काल में यह मान्यता थी कि स्वयं आचार्य ही बालक को गर्भ में धारण करके तृतीय रात्रि में उसे जन्म देते हैं[3]।

इसके पश्चात् छात्र को भिक्षा मांगने का आदेश होता था[4]। उपनयन के दिन तो वह माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों से भिक्षा मांगता था, जो उसे अवश्य भिक्षा प्रदान करते थे। तदनन्तर विद्यार्थी-जीवन-पर्यन्त यही उसके जीवन-निर्वाह का प्रमुख साधन रहता था[5]।

उपनयन के कर्म की समाप्ति पर ब्रह्मचारी तीन दिन तक कठोर संयम के व्रत का पालन करता था, जिसे 'त्रिरात्रव्रत' की संज्ञा दी गयी थी। यह व्रत बारह दिन अथवा वर्ष भर का भी हो सकता था[6]। यह विद्यार्थी-जीवन के कठोर संयम का आरम्भ होता था, जिसका निर्वाह उसे ब्रह्मचारी-जीवन के अन्त तक करना पड़ता था। उन दिनों ब्रह्मचारी को अनुशासन में रहने का उपदेश प्रायः इस प्रकार होता था—

ब्रह्मचार्यस्यपोऽशान, कर्म कुरु, मा दिवा सुषुप्थाः, समिधमाधेहि, भिक्षाचर्यं चर, सदारण्यात्समिध आहरोदकुम्भञ्चाहराचार्याधीनो भव, वेदमधीष्व[7]।

---

१. आश्व० गृ० सू० १, २४, ४; ५; शां० गृ० सू० २, ५, १२; गो० गृ० सू० २, १०; ३९; बौ० गृ० सू० २, ५, ४०; आप० गृ० सू० ४, ११, ९; भार० गृ० सू० १, ९; पा० गृ० सू० ३,३,३;५; काठ० गृ० सू० ४१,२०; वा० गृ० सू० ५, २५; २६; कौ० सू० ५६, ८-११; हि० गृ० सू० १, ६, ६; ११; आग्नि० गृ० सू० १, १, ३।

२. शां० गृ० सू० २, ५, ४-६; पा० गृ० सू० २, ३, ७-१०; मा० गृ० सू० १,२२,१३; वा० गृ० सू० ५, २६।

३. श० ब्रा० ११,५,४,१२।

४. **'तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते'**—मनु० २,७०।

५. पा० गृ० सू० २,५, १-८।

६. आश्व० गृ० सू० १, २२, १७। खा० न० गृ० सू० II. ४, ४३ ; हि० गृ० सू० १, ८, ९।

७. बौ० गृ० सू० २, ५, ४५।

उपनयन के सम्बन्ध में कुछ बातें ऐसी हैं, जो मासिक धर्म के समय स्त्रियों के लिए भी विहित है, यथा—

(क) दोनों में लड़के लड़कियों को कम से कम तीन दिन के लिए एकान्तवास का निर्देश किया गया है।

(ख) सूर्यदर्शन का निषेध है[1]।

(ग) तीन दिनों तक क्षार तथा लवण के सेवन का निषेध है[2]।

(घ) उपनयन के पश्चात् बालक एक वर्ष तक भोजन करते समय मौन रहता है। इस प्रकार का मौन-व्रत मध्य ऑस्ट्रेलिया के आदिवासियों में भी प्रचलित है[3]। इससे आध्यात्मिक उन्नति की प्राप्ति मानी जाती है।

(ङ) मुण्डन संस्कार उपनयन का अंग है, जिसमें बालक के सिर के बाल मूण्ड दिये जाते हैं। यह रीति भी प्राय: बहुत से आदिवासियों में प्रचलित है, यथा—ओमाहा, दकोता तथा पैनब्लो प्रभृति जातियों में[4]। **चौल कर्म** या **चूडाकरण** संस्कार में भी इसी प्रकार मुण्डन किया जाता है। इस प्रकार का मुण्डन संस्कार सभी प्रकार की दीक्षा में विहित है (श० ब्रा० ३, १, २)। आश्व० गृ० सू० (१, १७, १८) तथा संस्कारप्रकाश (३,७) में **गोदान** या **चूड़ाकरण** का विधान कन्याओं के लिए भी किया गया है। **केशान्त** संस्कार में उतारे गये केशों को एक गढ़े में दवा देने का रिवाज प्रचलित हो गया। दक्षिण भारत में शत्रु के बालों को जलाना जादू का एक विशेष प्रकार हैं।[5]

---

१. J. *Anthro. Inst.* Vol. XX. P. 209.

२. आश्व० गृ० सू० १, २, २७; बौ० गृ० सू० २, ५, ५५; भार० गृ० सू० १, १०; पा० गृ० सू० २, ५; खा० गृ० सू० २, ४, ४३; हि० गृ० सू० १, ८, ९; अफ्रीका के मूल निवासियों में भी मासिक धर्म के अवसर पर इस प्रकार का नियम है। (Cole. J. *Anthro. Inst.* Vol. XXXII. P. 309 ff.).

३. B. Spencer and P. Gillen, *Northern Tribes of Central Australia.* P. 434 ff. London, 1904.

४. *ERE.* Vol. VI. P.447.

५. Vide, *Omens and Supperstitions in South India* by E. Thurston, P. 53; 115; London, 1912.

मेधाजनन—कुछ एक गृह्यसूत्रों में उपनयन के अंग के रूप में **मेधाजनन** का भी विधान किया गया है, जिसमें पलाश वृक्ष[1] या कुश-पूलि[2] को धृत[3] या नवनीत[4] से स्निग्ध करके उसे समन्त्रक स्पर्श करने का विधान है।

उपाकर्म अथवा **उपाकरण**—वेदारम्भ के समय किया जाता था, जो श्रावण या प्रोष्ठपद में विहित है। आज्यभाग की आहुतियां करके सवितृ, ब्रह्मन्, श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धारणा, सदस्पति, अनुमति, छन्दों और ऋषियों को आज्य आहुतियां समर्पित करके दधि-मिश्रित व्रीहि या जौ को आहुतियां यजुर्वेद के प्रथम तीन अनुवाकों से या प्रत्येक काण्ड के आरम्भिक मन्त्रों से[5], ऋग्वेद के सूक्तों अनुवाकों या अध्यायों के प्रथम मन्त्रों से या प्रत्येक मण्डल की प्रथम और अन्तिम ऋचा से हवन करने[6] का विधान है[7] और यज्ञशेष को आचार्य तथा शिष्य दोनों भक्षण करते हैं।

उत्सर्ग—वेदाध्ययन की समाप्ति पर **उत्सर्ग** या **उत्सर्जन** संस्कार किया जाता है, जो प्रायः माघ[8] या पौष[9] की पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता है। इसमें जल से देवताओं, ऋषियों, छन्दों, वेदों, पुराणाचार्यों, गन्धर्वों, पितर प्रभृतियों का तर्पण करके सावित्री का चार बार उच्चारण करके 'हम विरत हो गए' (**'विरताः स्म'**) कहना होता है[10]। बौ० गृ०सू०, भार० गृ० सू०, हि० गृ० सू० के अनुसार उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त सूत्रकारों, वानप्रस्थों, पवित्र व्यक्तियों तथा एकपत्नीकों के तर्पण का भी विधान है और अन्त में वेद के प्रथम तीन अनुवाकों अथवा सभी काण्डों के प्रथम मन्त्रों का पाठ किया जाता है[11]। ब्रह्मचारी के लिए अनेक व्रतों का भी विधान किया गया है। **उपनयन** तथा **गोदान** के अतिरिक्त

---

१. भार० गृ० सू० १, १०; मा० गृ० सू० १, २२, १७; काठ० गृ० सू० ४१, २०-२१।

२. आश्व० गृ० सू० १, २२, १८-१९।

३. भार० गृ० सू० १, १०।

४. मा० गृ० सू० १,२२,१७; काठ० गृ० सू० ४१, २०-२१।

५. बौ० गृ० सू० ३, १, ४-९; हि० गृ० सू० २, १८, ३-५; भार० गृ० सू० ३,८।

६. शाँ० गृ० सू० ४,५,३-१३; आश्व० गृ० सू० ३, ५, ३-१२।

७. तु. पा० गृ० सू० २,१०, ३-२५।

८. शां० गृ० सू० ४, ६, १।

९. पा० गृ० सू० २,१२,१: बौ० गृ० सू० ३,९,२।

१०. पा० गृ० सू० २,१२,२-३; गो० गृ० सू० ३,३,१५।

११. अन्य विशेषताओं के लिए द्र. बौ० गृ० सू० ३, ९,२-१६; भार० गृ० सू० ३,११; हि० गृ० सू० २, १८, ८-१०।

व्रातिक, आदित्य, औपनिषद, ज्यैष्ठसामिक[1], शुक्रिय, शाक्वर[2], अष्टाचत्वारिंशत् सम्मित या सम्मित[3], त्रैविद्यक, चातुर्होत्रिक[4], आग्निकी एवं आश्वमेधिकी[5], दीक्षा प्रभृति अनेक व्रतों का प्रतिपादन किया गया है, जिनका पालन विशेष कालावधि तक किया जाता था।

समावर्तन—यह संस्कार विद्याध्ययन की समाप्ति पर किया जाता था। इसमें विशेष स्नान के विधान के कारण ब्रह्मचारी **स्नातक** कहलाता था, किन्तु यह स्नान केवल उन छात्रों को ही कराया जाता था, जो अपनी विशेष योग्यता के कारण गुरु को सन्तुष्ट कर सकते थे[6], इनके भी तीन वर्ग किये गये थे—**विद्यास्नातक**—जो व्रत-समाप्ति से पूर्व विद्या समाप्त कर लेते थे, **व्रत-स्नातक**—जो व्रतों की समाप्ति पर ही स्नातक होना चाहते थे तथा **विद्याव्रतस्नातक**— जो दोनों को समाप्त करके स्नातक बन जाते थे। स्वभावतः अन्तिम श्रेणी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी[7]। यह संस्कार विभिन्न गृह्यसूत्रों में विभिन्न प्रकार से प्रतिपादित है। विविध प्रकार की ओषधियों से युक्त जल से स्नान करके (या इससे पूर्व) ब्रह्मचारी केश, दाढ़ी, नख आदि का निकृन्तन करके दो नवीन वस्त्र धारण करके, जूता पहन कर, वंश, दण्ड तथा आतपत्र, पगड़ी एवं कर्णाभरण धारण करता है[8]। भार० गृ० सू०, आप० गृ० सू० तथा हि० गृ० सू० के अनुसार यह संस्कार गोष्ठ में होना चाहिये[9]।

उस समय के आचार्य स्नातक को समाज का एक अत्यन्त श्रेष्ठ अंग मानते थे।[10] अतः उसे उस श्रेष्ठता के अनुरूप आचरण का उपदेश देते थे। जिसे तत्कालीन **'दीक्षान्त भाषण'** कहा जा सकता है। इसमें स्नातक को समाज में समुचित व्यवहार करने तथा श्रेष्ठ आचरण के आदर्शों का निर्देश किया जाता था। उसके कर्तव्यों पर प्रकाश डाला जाता था[11]। इस विषय में तै० उप० (१, ११) का उपदेश संक्षिप्त, सारगर्भित तथा आदर्श कहा जा सकता है।

---

१. गो० गृ० सू० ३,१,२६।
२. शां० गृ० सू० २, ११, ९-१२।
३. बौ० गृ० सू० ३,२,४।
४. काठ० गृ० सू० ४२,१-४; ४३,१-११।
५. मा० गृ० सू० १, २३, १-२६।
६. पा० गृ० सू० २, ६, ४।
७. पा० गृ० सू० २, ५, ३२-३५; गो० गृ० सू० ३,५,२१-२३; (तु. जै० गृ० सू० १,१९)।
८. पा० गृ० सू० २, ६, ९-३२।
९. भार० गृ० सू० २, २२; आप० गृ० सू० ५,१३,१; हिर० गृ० सू० १,९,९।
१०. **'महद् वै भूतं स्नातको भवतीति विज्ञायते'** (आश्व० गृ० सू० ३,९,८)।
११. पा० गृ० सू० २,७,६; गो० गृ० सू० ३, ५, २-२०; आश्व० गृ० सू० ३,९,५-७; मा० गृ० सू० १,२,१९।

द्वाविंश अध्याय

आह्निक कृत्य

बहुत प्राचीन काल से आर्यों ने गृहस्थों की दिनचर्या को निश्चित भागों में विभक्त कर दिया था, और उनके दिन भर के कार्यों का व्योरे वार वर्णन कर दिया था। इस दिनचर्या के अनुसार क्रियमाण धार्मिक कृत्यों को **आह्निक** की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इस **आह्निक** के अन्तर्गत प्रमुख विषय इस प्रकार गिनाये गये है—

शय्यापरित्याग, शौच, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, पञ्चमहायज्ञ, होम, भोजन, धनावाप्ति, अध्ययनाध्यापन तथा सायं सन्ध्या।

जो व्यक्ति सूर्योदय के समय तक सोता रहता था उसे **अभिनिर्मुक्त** या **अभिनिम्रुक्त** की संज्ञा दी जाती थी। ऋग्विधान के अनुसार सो कर उठने के उपरान्त जल से आंखों को धो लेना चाहिये, किन्तु उसके पूर्व ऋग्० १०, ७३, ११ का पाठ कर लेना चाहिये।

गृह्यसूत्रों में तो शय्यात्याग तथा शौच आदि के विषय में अधिक चर्चा नहीं की गयी, तो भी गृह्य-परिशिष्टों में इन पर प्रकाश डाला गया है या फिर धर्मसूत्रों में इन पर विचार किया गया है। पश्चात्कालिक स्मृतियों में और उनसे भी अधिक निवन्धों में इसका विस्तृत विवरण दिया गया है। वहां शौच के भी वाह्य तथा आभ्यन्तर भेदों के अनेक अवान्तर भेद-प्रभेद किये गये हैं[1]।

शौच कृत्य की समाप्ति के उपरान्त आचमन का विधान है। तदनन्तर **दन्तधावन** करना चाहिये, जिसके लिए काष्ठ, उसकी लम्बाई, मोटाई प्रभृति का विस्तृत विवरण दिया गया है।

तदनन्तर **स्नान-विधि** का प्रतिपादन तो अत्यन्त सूक्ष्मता से किया गया है। पा० गृ० सू० तथा गो० परिशिष्ट तथा कर्म-प्रदीप प्रभृति ग्रन्थों में तो **स्नानकल्प** तथा **स्नानसूत्र** नामक पृथक् प्रकरणों का निर्माण किया गया है, जिनमें नित्य-नैमित्तिक तथा काम्य स्नानों के भेदों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। नित्य स्नान वैदिक-मन्त्रों के साथ विशेष प्रकार के जलाशयों में विशेष विधि से किया जाता है[2]। स्नानांग-भूत सन्ध्योपासना का विधान है। जो ब्राह्मण सन्ध्योपासना की जानबूझ कर अवहेलना करता था, उसे राजा शूद्र घोषित कर सकता था।

---

१. बौ० ध० सू० ३,१,३६ ; स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० ९३।

२. द्र. गो० परि०, 'स्नानविधि'।

नैमित्तिक स्नान विशिष्ट अवसरों पर था विशेष व्यक्तियों अथवा पदार्थों से छू जाने पर किया जाता है। यहां तक कि बौद्धों, पाशुपतों, जैनों, लोकायतों नास्तिकों, घृणित कार्य करने वाले द्विजातियों एवं शूद्रों से छू जाने पर स्नान का विधान किया गया है। नैमित्तिक स्नान को कुछ लोगों ने छह श्रेणियों में विभक्त किया है, जिनमें **मलापकर्षक स्नान**, **क्रियांग-स्नान** भी सम्मिलित हैं। इनमें क्रमशः शरीर को स्वच्छ करने के लिए आंवले आदि लगाकर तथा पर्वों के अवसरों पर विशेष प्रकार से नहाने का विधान है।

तर्पण-स्नान के अनन्तर नदी या जलाशय में खड़े होकर ही देवताओं, ऋषियों तथा पितरों को जलाञ्जलि देकर तर्पण किया जाता है। यह कर्म भी स्नान का अंग ही है। वैसे इसे ब्रह्मयज्ञ का भी अंग माना गया है।

यद्यपि विभिन्न गृह्यसूत्रों में विभिन्न विधियां प्रतिपादित हैं, तो भी प्राचीन गृह्यसूत्रों में से आश्व० गृ० सू० (३, ४, १-५) के अनुसार देव तर्पण में प्रजापति, ब्रह्मा, वेद, देव, ऋषि, सभी छन्द, ओंकार, वषट्कार, सांख्य, समुद्र, नदियां, पर्वत, प्रभृति ३१ देवता 'तृप्यतु' या 'तृप्यन्ताम्' उच्चारण पूर्वक तृप्त किये जाते हैं। ऋषियों को दो दलों में बांटा गया है। प्रथम दल में १२ ऋषि हैं। जिनके तर्पण में कर्ता को 'निवीती' होकर जल देना होता है। **शर्तचिनः** या जिन्होंने सौ ऋचाओं के दर्शन किये हैं, मध्यम ऋषि, तथा ग्रत्समद, विश्वामित्र, अत्रि प्रभृति ऋग्वेद के द्वितीय से सप्तम मण्डल तक के छह ऋषि, अष्टम मण्डल के प्रगाथ ऋषि, नवें मण्डल के पावमानी ऋचाओं के ऋषि, क्षुद्र सूक्तों तथा महासूक्तों के ऋषि—इन बारह ऋषियों का तर्पण किया जाता है।

द्वितीय दल के अन्तर्गत दशम मण्डल के ऋषि आते हैं। ऋषियों का तर्पण दाहिने हाथ के देवतीर्थ से किया जाता है। दूसरे दल के ऋषियों का तर्पण 'प्राचीनावीती' होकर करना होता है। इस दल के दो उपदल हैं। प्रथम उपदल में समन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल, सूत्र—भारत-महाभारत, धर्माचार्य प्रभृति परिगणित हैं, जिनमें महाभारत में उल्लिखित व्यास के चार शिष्य तथा गार्गी, वडवा, एवं सुलभा नामक तीन नारियां भी सम्मिलित हैं।

द्वितीय उपदल में दस ऋषि तथा कहोल (कहोड़), कौषीतक, महाकौषीतक, पैंग्य, सुयज्ञ, शांखायन प्रभृति १८ आचार्य गिनाये गये हैं।

ब्रह्मयज्ञ के अंगभूत **पितृयज्ञ** में पिता, पितामह, प्रपितामह, माता मातामही, प्रमातामही, मातामह प्रभृति पितरों के अतिरिक्त अपनी पत्नी एवं पुत्र, गुरु, शिष्य प्रभृति को तीन बार पितृतीर्थ से जल दिया जाता है तथा **स्वधानमस्तर्पयामि** का उच्चारण किया जाता है।

किन्तु इस तर्पण के विषय में अनेक सूत्रों में बहुत से मतभेद पाये जाते हैं, यथा अनेकत्र तर्पण के देवता परस्पर भिन्न हैं। बहुत से सूत्रों में **स्वधा नमः** का विधान ही नहीं किया गया। कुछ सूत्रों में तर्पण करते समय पितरों के कर्ता से सम्बन्ध, नाम एवं गोत्र के उच्चारण का विधान किया गया है, अन्यत्र प्रतिदिन के तर्पण में गोत्र नामोच्चारण का स्पष्ट निषेध किया गया है। बौ० गृ० सू० (३, ९), भार० गृ० सू० (३, ९-११) तथा हि० गृ० सू० (२, १९, २०) में देवताओं और विशेषतः ऋषियों के बहुत से नाम गिनाये गये हैं, जिनमें बहुत से परस्पर भिन्न हैं। पा० गृ० सू० में संलग्न स्नानसूत्र (तृतीया कण्डिका) में तर्पण के प्रकरण में यद्यपि बौधायन० के समान ही प्रत्येक देवता के साथ 'ओम्' लगाने की परिपाटी कही गयी है, तो भी इसमें ३१ के स्थान पर केवल २८ देवता हैं, जो आश्वलायन० की सूची से कुछ भिन्न हैं। ऋषियों में केवल सनक, सनातन, सनन्दन, कपिल, आसुरि, वोढु तथा पञ्चशिख के नाम गिनाये गये हैं।

ऋषितर्पण के उपरान्त जल में तिलों को मिला कर तथा यज्ञोपवीत को दाएं कन्धे पर लटका कर गृहस्थ को अग्नि काव्यवाट्, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्तों, सोमपाओं तथा बर्हिषदों को जल देना चाहिये। किन्तु तर्पण का शेषांश केवल पितृहीन को ही करना चाहिये। इसी प्रकार के मतभेद पश्चात्कालिक स्मृतियों तथा निबन्धों में अधिक उभर कर सम्मुख आते हैं।

होम

आश्व० गृ० सू० (१, ९, १-३) के अनुसार तो **पाणिग्रहण** के उपरान्त गृहस्थ, या उस की पत्नी, या पुत्र, पुत्री, या शिष्य को **गृह्याग्नि** की पूजा करनी ही चाहिये। यह गृह्याग्नि वैवाहिक अग्नि ही होती थी, जिसे वर अपने साथ अपने घर ले आता था। इसे ही **औपासन, आवसथ्य, औपसद, वैवाहिक, स्मार्त** या **गृह्य** नामों से पुकारा जाता था। **लौकिक, गृह्य, सभ्य** तथा **त्रेता** (तीन श्रौत अग्नियां) मिल कर छह अग्नियां होती हैं। इन अग्नियों को प्रज्वलित रखने वाले **षडग्नि** कहलाते थे तथा अग्नियों के संख्या के अनुसार **पञ्चाग्नि, चतुरग्नि**, त्र्यग्नि **द्व्यग्नि** तथा **एकाग्नि** उपासकों की संज्ञाएं रखी गयी हैं[1]।

अन्य अग्नियों के पूजन के नियम तो श्रौतसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में विहित हैं, किन्तु **गृह्याग्नि** के सम्बन्ध में गृह्यसूत्रों में अपनी-अपनी शाखा के अनुसार नियमों का विधान किया गया है। पा० गृ० सू० (१, २) के अनुसार तो **गृह्याग्नि** कुटुम्ब से बाहर भी रखी जा सकती है। शां० गृ० सू० (१, १, २-५) ने इस विषय में चार विकल्पों का प्रतिपादन किया है।

---

१. द्र. स्मृत्यर्थसार, पृ० १४।

इस सूत्र के अनुसार शिष्य गुरुकुल से विदा लेते समय जिस अग्नि में अन्तिम समिधा डालता है, उसमें से अग्नि लेकर घर जा सकता है। संयुक्त परिवार में पिता की मृत्यु पर ज्येष्ठ पुत्र या ज्येष्ठ भ्राता अग्नि प्रज्वलित कर सकता है। बौ० गृ० सू० (२, ६, १७) के अनुसार वही गृह्याग्नि है, जिसके द्वारा **उपनयन** संस्कार किया गया हो। उपनयन **से** समावर्तन तक होम केवल व्याहृतियों का उच्चारण करके समिधाओं से किया जाता है, समावर्तन से विवाह तक घृत तथा व्याहृतियों से, विवाह के पश्चात् पके चावल या जौ की आहुतियों से सम्पन्न किया जाता है। ये आहुतियां अग्नि तथा प्रजापति अथवा प्रातःकाल सूर्य एवं प्रजापति को प्रदान की जाती है[1]। पश्चात् कालिक व्याख्याकारों ने इन आहुतियों तथा हविष्यों में इतना विस्तार कर दिया कि आश्व० गृ० सू० (१,९, ६) की व्याख्या में दस प्रकार के हविष्यों के नाम गिनाये गये हैं।

होम की सामान्य प्रक्रिया के अनुसार **स्थण्डिल** का निर्माण करके **परिसमूहन, उपलेपन, उल्लेखन, उद्धरण, अभ्युक्षण** करके उसमें अग्नि की स्थापना करके दक्षिण की ओर ब्रह्मा का आसन बिछा कर, जल रख कर, अग्नि के चारों ओर दर्भ बिछा कर, सभी उपकरणों को यथास्थान स्थापित करके, कुशा के दो पवित्र बना कर, प्रोक्षणी पात्र में जल डाल कर, पवित्रों से पवित्र करके, उस जल से सभी पात्रों को पवित्र करके, आज्य को स्थाली में डालकर, गरम करके, अग्नि से गृहीत उल्मुक से आज्य तथा स्थालीपाक के चारों ओर घुमा कर, स्रुव को गरम करके, दर्भों से पोंछ कर, प्रणीतोदक से अभ्युक्षण करके, पुनः तपा कर रख देवें। आज्य को अग्नि से हटा कर इसके उत्तर में **उद्वासन** करके, पवित्रों से **उत्पवन** करके, उस आज्य का अवलोकन करके **पवित्रों से प्रोक्षणी** जल को पवित्र करके उसमें ही **पवित्रों** को रख देवें। **उपयमन** संज्ञक कुशों को दक्षिण हस्त से सव्य में ग्रहण करके खड़ा होकर यजमान प्रादेश परिमित सत्रह या पन्द्रह समिधाओं को अग्नि में डाल कर पवित्रसहित **प्रोक्षणी** जल से अग्नि का प्रोक्षण करके, एक **आघार** तथा दो **आज्यभाग** आदि आहुतियां देवें। यह सर्वसामान्य होम की प्रक्रिया है[2]। आप० गृ० सू० (१, २, २) के अनुसार अग्नि के पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर की ओर पलाश की तीन **परिधियां** भी रखनी चाहियें। यजमान अग्नि के पश्चिम की ओर पूर्वमुख होकर बैठता है।

आघार और आज्यभाग के अनन्तर ही विशेष यज्ञों की विशिष्ट आहुतियां दी जाती हैं। पा० गृ० सू० (१, ५, ३-५) में **महाव्याहृतियां, सर्वप्रायश्चित्त आहुतियां, प्राजापत्य आहुतियां** तथा **स्विष्टकृत् आहुति** सभी यज्ञों के लिए विहित

---

१. बौ० गृ० सू० २, ७, २१; हि० गृ० सू० (२, २६, ९); भार० गृ० सू० ३, ३ तथा आप० गृ० सू० ७, २१।

२. पा० गृ० सू० १, १, १-५, भार० गृ० सू० १, ३ तथा बौ० गृ० सू० १, ३, १३, हि० गृ० सू० १, २, १-४।

हैं। गो० गृ० सू० (१, ८, १६) के अनुसार **स्विष्टकृत्** आहुति से पूर्व **आवाप** अर्थात् दर्शपौर्णमास या विवाह आदि का **प्रकृतहोम** करना चाहिये, जबकि पा० गृ० सू० (१, ५, ६) के मत में **आवाप** को सर्वप्रायश्चित्त तथा प्राजापत्य आहुतियों के पश्चात् करना चाहिये। काठ० गृ० सू० (४७, १०) के अनुसार **आवाप** का स्थान **आज्यभाग** और **स्विष्टकृत्** के मध्य में है[1]।

यजुर्वेदीय गृह्यसूत्रों में **स्विष्टकृत्** से पूर्व **जय, अभ्यातान** तथा **राष्ट्रभृत्** आहुतियों का विधान किया गया है[2]। पा० गृ० सू० (१, ५ ७-१०) में इन आहुतियां को वैकल्पिक कहा गया है।

पञ्चमहायज्ञ

पञ्चमहायज्ञ उन पांच दैनिक यज्ञों को कहते हैं, जो प्रत्येक गृहस्थ को करने चाहियें। इनका सर्वप्राचीन उल्लेख श० ब्रा० में किया गया है। ये हैं—**भूतयज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ** तथा **ब्रह्मयज्ञ**[3]। उत्तरकाल में मनुस्मृति में इन्हें ही क्रमशः **प्रहुत, ब्राह्म्यहुत, प्राशित, हुत** तथा **अहुत** संज्ञाएं दी गयी हैं[4]। शां० गृ० सू० ने इन संज्ञाओं को अन्य अर्थों में प्रयुक्त किया है। उसके अनुसार **पाकयज्ञ** चार प्रकार के होते हैं—**हुत, अहुत, प्रहुत,** तथा **प्राशित**[5], जिनकी व्याख्या में कहा गया है—**हुतं** तो **अग्निहोत्र** प्रभृति यज्ञ हैं, **बलिहरण अहुत** है, **प्रहुत पितृयज्ञ** है तथा **प्राशित** ब्राह्मण-भोजन को कहते हैं[6]। आश्व० गृ० सू० (१, १, २-३) में कहा गया है कि **पाकयज्ञ** तीन प्रकार के हैं, हुत—अग्नि में किए गये यज्ञ, **प्रहुत** वे यज्ञ हैं जो अग्नि में नहीं किए जाते यथा, **बलिहरण** प्रभृति, तथा **ब्रह्मणिहुत**—ब्राह्मण भोजन को कहते हैं।

१. देवयज्ञ :—

गृहपति सायंप्रातः यज्ञिय पक्वान्न अग्नि में विभिन्न देवताओं को **स्वाहा** शब्द से समर्पित करता है, यथा—**अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा,** प्रभृति। इन देवताओं के नामों के विषय में गृह्यसूत्रों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है, तो भी ये देवता बहुत्र उल्लिखित हैं—अग्नि, सोम, प्रजापति, धन्वन्तरि, विश्वेदेवाः, अग्नि स्विष्टकृत्, अनुमति तथा

---

१. द्र. शां० गृ० सू० १, १६, ३-४।

२. आप० गृ० सू० १, २, ७; बौ० गृ० सू० १, ४, ३२-३४; भार० गृ० सू० १, ६, हि० गृ० सू० १, ३, ८-१४।

३. श० ब्रा० ११, ५; ६, १ से; तु. तै० आर० २, १०।

४. मनु० ३, ७३-७४।

५. शां० गृ० सू० १, ५, १।

६. शां० गृ० सू० १,१०,७।

ब्रह्मा[१]। प्रातःकाल में सूर्य के साथ प्रजापति को भी आहुति देने का विधान है, तथा सायंकाल में अग्नि के साथ भी प्रजापति को[२] आहुति दी जाती है। आश्व०गृ०सू० में 'प्रजापति' के नाम के स्थान पर तूष्णीं आहुति देने का निर्देश है[३]। ये आहुतियां धान, यव अथवा तिलों की भी हो सकती हैं[४] और दधि, दुग्ध अथवा यवागू की भी[५]। अग्नि में एक समिधा बिना मन्त्र के डाल कर **अनुपर्युक्षण** करके अग्नि की प्रदक्षिणा करके जल को चारों ओर छिड़क कर जलपात्र को पुनः भर लिया जाता है[६]। यह कर्म जीवन पर्यन्त अथवा अश्वमेधादि महायाग में अवभृथ स्नानपर्यन्त प्रतिदिन करने का निर्देश है,[७] यदि चाहे तो पत्नी भी इस कर्म को कर सकती है[८]।

२. बलिहरण :—

बलिहरण या भूतयज्ञ अग्न्यागार के भीतर या बाहर किसी भी स्थान में भूमि को शुद्ध करके उस पर एक बार जल छिड़क कर बलि के चार भाग पृथक्-पृथक् रख कर उन पर जल छिड़कें। इनमें से प्रथम बलि पृथिवी देवता की, द्वितीय वायु की, तृतीय विश्वेदेवा देवता की और चतुर्थ प्रजापति की होती है। तदनन्तर **परिचरणीय** जल को रखने के बाद प्रकोष्ठ के द्वार पर तीन बलि रखे—प्रथम जल देवता की, द्वितीय ओषधि वनस्पति की, तृतीय आकाश की होती है। तदुपरान्त शयन-कक्ष अथवा शौचालय में 'काम-देव' के लिए तथा कूड़ा आदि फेंकने के स्थान में राक्षसों के लिए बलि प्रदान करे। अन्त में पात्र के शेष अन्न को धोकर पितृतीर्थ से दक्षिण दिशा में फेंक देवे। यह पितृगण के लिए है[९]। विविध देवताओं के लिए बलि अर्पित करते समय अन्त में 'नमः' शब्द का उच्चारण करना चाहिये, यथा, **प्रजापतये नमः, कामाय नमः।**

---

१. शां० गृ० सू० २,१४,१-४; आश्व० गृ० सू० १, २, १-३; पा० गृ० सू० २, ९, १-२; बौ० गृ० सू० २,८,९; गो० गृ० सू० १,४,४; प्रभृति।

२. भार० गृ० सू० १, १८; मा० गृ० सू० २, ३,१-८; आप० गृ० सू० ३,७,१९-२१; हि० गृ० सू० १,२३,८-९; पा० गृ० सू० १,९,१-४।

३. आश्व० गृ० सू० १,९,५-८; शां० गृ० सू० १,३,१४-१५।

४. आश्व० गृ० सू० वही।

५. गो० गृ० १,३,८।

६. गो० गृ० सू० १,३,१२।

७. वही १,३,१३।

८. वही १,३,१५।

९. वही १,४,५-११।

शां० गृ० सू० में **बलिहरण** का प्रकार इससे सर्वथा भिन्न है। जिन देवताओं को अग्नि में आहुतियां दी गयी हैं (२, १४, ४), उन्हीं को गृह्य द्वार के मध्य में बलि देकर **ब्रह्मणे नमः, ब्राह्मणेभ्यो नमः** से एक बलि और देनी चाहिये। एक और बलि वहीं वास्तोष्पति को भी विहित है। दिग्देवताओं के लिए क्रमशः पांच बलियां—इन्द्र को पूर्व में, यम को दक्षिण में, वरुण को पश्चिम में, सोम को उत्तर में, बृहस्पति को ईशान कोण में—देनी चाहियें। आदित्य मण्डल को ('सूर्याकार बने गोबर के वृत्त में', शां० गृ० सू० संग्रह, पृ० ४२), एक घर की देहली पर पूषन्, धातृ, विधातृ, तथा मरुद्गण को, चक्की पर विष्णु को, ऊखल में वनस्पति को, धान्यागार में ओषधियों को, जलपात्र के पास पर्जन्य को, शयन के शिरोभाग में श्री को, पादभाग में भद्रकाली को, शौचालय में सर्वान्नभूति को, सायं को वायु में निशाचरों को तथा प्रातःकाल में दिवाचरों को, उत्तर दिशा में धनपति प्रभृति अज्ञात देवताओं को बलि देने का विधान है[1]। मा० गृ० सू० (२, १२, १७) में तो आपातिकों, सम्पातिकों, ऋक्षों, यक्षों, पिपीलिकाओं, पिशाचों, अप्सराओं, गन्धर्वों, गुह्यकों, शैलों तथा पन्नगों को भी पूर्व में बलियां देने को कहा गया है। कौशिकसूत्र (७४, ८-१०) के अनुसार वासुकि, चित्रसेन, चित्ररथ, तक्ष, उपतक्ष को गृह्यकोणों में बलि प्रदान करने का निर्देश है। आशा, श्रद्धा, मेधा, श्री, ह्री और विद्या को अग्नि के चारों ओर, कुलदेवों तथा देवपत्नियों को अग्नि के पूर्व में बलि देने को कहा गया है[2]।

(३) पितृ-यज्ञ—

वैश्वदेव अन्न के शेष का दक्षिण दिशा में प्रक्षेपण ही **पितृयज्ञ** है[3]।

(४) नृयज्ञ अथवा मनुष्ययज्ञ—

अतिथि[4] अथवा ब्राह्मण[5] को भोजन कराना ही **मनुष्ययज्ञ** है। शां० गृ० सू० में स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ को कुछ अन्न दूसरों के लिए निकाले विना कभी नहीं खाना चाहिये। न ही अकेले खाना चाहिये, न ही दूसरों से पूर्व, क्योंकि श्रुति का वचन **है—केवलाघो भवति केवलादी**[6]। अतिथि-सेवा का यह आदर्श

---

१. शां० गृ० सू० २,१४,५-१७; तु. मनु० ३,८७-९१; गौ० ध० सू० ५,१२-१८।

२. इस विषय पर गो० गृ० सू० १,४, ५-१५, पा० गृ० सू० २, ९, आप० ध० सू० २,२,३-१५; २,२,४,९ आदि में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है।

३. शां० गृ० सू० २, १४,१८; आश्व० गृ० सू० १, २, ११; पा० गृ० सू० २,९,९; गो० गृ० सू० १,४,१२; प्रभृति।

४. बौ० गृ० सू० २,९,१-३; भार० गृ० सू० ३,१४।

५. पा० गृ० सू० २,९,११-१३; शां० गृ० सू० २,१४,९-२६।

६. ऋग्० १०,११७,६।

भारतवर्ष की और विशेषतः हिन्दुओं की विशेषता रही है। उपनिषत्कार ने यह उपदेश किया है—**अतिथिदेवो भव**।

(५) ब्रह्म-यज्ञ—

वेदाध्ययन या स्वाध्याय को ही **ब्रह्मयज्ञ** की संज्ञा दी गयी है। बौ० गृ० सू० के अनुसार **गार्हपत्य** या **औपासन** अग्नि के पश्चिम में बैठकर तीन प्राणायाम करके सावित्री का कम से कम दस बार जप करे। तदनन्तर प्रत्येक वेद के प्रथम मन्त्रों, कुछ अन्य मन्त्रों[1] तथा **कूष्माण्ड** मन्त्रों का पाठ करे[2]। आश्व० गृ० सू० (३, २-३) के अनुसार ग्राम से बाहर पूर्व अथवा उत्तर दिशा में जाकर स्नानादि करके पद्मासन लगाकर व्याहृतियों, सावित्री, ऋचाओं, यजुषों, साम मन्त्रों, आथर्वण मन्त्रों, ब्राह्मणों, कल्पों, गाथाओं, नाराशंसियों, इतिहासों तथा पुराणों का स्वाध्याय करे।

दर्शपूर्णमासयाग

गृह्यसूत्रों का **दर्शपूर्णमासयाग** श्रौत सूत्रों की **दर्शपूर्णमासेष्टि** के समानान्तर कर्म है। श्रौत इष्टि में पुरोडाश का हवन किया जाता है। गृह्ययाग में विवाह के अनन्तर प्रत्येक पति-पत्नी के लिए प्रत्येक अमावस्या तथा पूर्णिमा के दिन स्थालीपाक से यज्ञ करने का विधान किया गया है। अग्नि[3] को अथवा पूर्णिमा को अग्नि-सोम एवं अमावस्या को इन्द्र-अग्नि[4] देवों को **स्थालीपाक** अर्पित किया जाना चाहिये। पा० गृ० सू० के अनुसार इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, प्रजापति विश्वेदेवाः, द्यावापृथिवी के निमित्त भी **स्थालीपाक** का होम करना चाहिये। इस विषय में कुछ मतभेद पाया जाता है।[5]

यज्ञ आरम्भ करने से पूर्व पति-पत्नी को पूर्णिमा के दिन उपवास करना चाहिये[6]। उपवास के दिन प्रातःकाल में **अग्निहोत्र** के पश्चात् खदिर अथवा पलाश की समिधाएँ, कुश का बर्हि, आज्य, धान्य या जौ तथा यज्ञार्थ अन्य उपकरणों तथा सामग्री का संग्रह करके उपवास के नियमों का पालन करके अगले

---

१. तै० आर० १०,३-५; वा० सं० २०, १४-१६।
२. बौ० गृ० सू० २,९,४५।
३. हि० गृ० सू० १,२३,७।
४. मा० गृ० सू० २,३,३।
५. गो० गृ० सू० १,८,२१-२४।
६. उपवास के समय के विषय में गो० गृ० सू० में विस्तार से विचार किया गया है। द्र० गो० गृ० सू० १,५,१-१३।

दिन **प्रातर्होम** के अनन्तर **स्थालीपाक** तय्यार करके उस पर आज्य से **उपस्तीर्णाभिघारित होम** चार बार स्रुव से आज्य लेकर अग्नि में **अग्नये स्वाहा** और **सोमाय स्वाहा** से करने का विधान है। तदनन्तर **स्विष्टकृत् होम** करना चाहिये। **स्विष्टकृत्** से पूर्व **आवाप** अथवा विवाह के प्रकृत होम का विधान है। **स्विष्टकृत्** के पश्चात् **'यज्ञवास्तु'** कर्म विहित है, जिसमें बर्हि में से मुट्ठी भर कुश लेकर आज्य या हवि में अग्र, मध्य, मूल क्रम से डुबो कर, तीन बार जल सींच कर अग्नि में छोड़ देने का विधान है। यहां **पूर्णपात्र** दक्षिणा के रूप में विहित है[1]। अधिक दक्षिणा यथेच्छ दी जा सकती है। आश्व० गृ० सू० तथा खा० गृ० सू० के अनुसार तो यज्ञशेष ही दक्षिणा होती है[2]।

मधुपर्क

जहां गृह्यसूत्रों में **नृयज्ञ** का प्रतिपादन करके अतिथि-सेवा का महत्त्व व्यक्त किया गया है, वहां अतिथि की सेवा के प्रधान अंगभूत **मधुपर्क** का भी इतना अधिक महत्त्व है कि सभी गृह्यसूत्रों में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। ऋत्विक्, स्नातक, राजा, आचार्य, मित्र, मामा, चचा, श्वशुर के घर आने पर मधुपर्क देने का विधान है। किन्तु यह तभी दिया जाना चाहिये जबकि इनके पूर्वाभिगमन को एक वर्ष व्यतीत हो गया हो। जामाता को विवाह के समय मधुपर्क दिया जाता है। अभ्यागत के इस प्रकार के सत्कार को अर्घ या अर्घ्य कहते हैं[3]।

प्रायेण **मधुपर्क** तीन पदार्थों से बनाया जाता था—मधु, दधि तथा घृत। किन्तु पाञ्च पदार्थों से निर्मित मधुपर्क की भी चर्चा की गयी है—ये हैं—मधु, दधि, घृत, जल तथा सक्तु[4]। कौशिक०[5] ने तो नौ प्रकार के मधुपर्क गिनाये हैं— (१) ब्राह्म=मधु+दधि; (२) ऐन्द्र=पायस; (३) सौम्य०=मधु+घृत; (४) पौष्ण०=मन्थ (क्षीर संयुक्त धाना सक्तु)+आज्य; (५) सारस्वत=दुग्ध+घृत; (६) मौसल०=सुरा+आज्य; (७) वारुण०=जल+आज्य; (८) श्रावण०=तिलों का तेल+आज्य; (९) पारिव्राजक०=तिलों का तेल+पिण्ड (भात का पिण्ड)।

---

१. गो० गृ० सू० १,९,६।

२. आश्व० गृ० सू० १,१०,२६; खा० गृ० सू० २,१,२९।

३. पा० गृ० सू० १,३,१-३; आश्व० गृ० सू० १, २४,१-३; गो० गृ० सू० ४, १०, २३-२६; बौ० गृ० सू० १,२,६५-६७; कौशिक सूत्र ९२,३२ इत्यादि।

४. हि० गृ० सू० १,१२,१०,१३; आप० गृ० सू० ५,१३,१०-१३।

५. कौ० सू० ९२,१-११।

कुश का आसन, पाद्य, अर्घ्य जल, आचमनीय जल, मधुपर्क तथा गौ, ये सभी पदार्थ तीन बार अतिथि के समक्ष घोषित किये जाते हैं, जो इन्हें समन्त्र स्वीकार करता है। आसन पर बैठा कर उसके चरण गृहस्वामी या गृह-पत्नी अथवा शूद्र सेवक द्वारा धुलाकर उसे **अर्घ्य** तथा **आचमनीय** दिया जाता है। तदनन्तर गृहस्वामी **मधुपर्क** प्रस्तुत करता है। अतिथि उसे दोनों हाथों से स्वीकार करता है।

तीन मन्त्रों सहित अनामिका तथा अंगुष्ठ से तीन बार उसे आलोडित करता है तथा कुछ अंश चारों दिशाओं में छिटका देता है। तीन बार **मधुपर्क** पीकर शेष किसी प्रियजन को प्रदान कर देता है। गौ का आलम्भन ऐच्छिक है। यदि अतिथि को अभीष्ट हो, तो '**माता रुद्राणाम्**.........' प्रभृति मन्त्र से उसका उत्सर्जन कर देता है। इस अवस्था में किसी अन्य पशु के मांस का विधान है। ब्राह्मणों को भोजन कराने के अनन्तर अतिथि भोजन करता है[1]।

यह बड़ी विचित्र बात है कि पा० गृ० सू०[2] में अपनी परम्परा के विरुद्ध गौ के वध करने के समय इस मन्त्र का विनियोग किया गया है। उस परम्परा में गोवध का निषेध किया गया है—

'**मा गामनागामदितिं वधिष्ट**[3]। गृह्यसूत्रों में इस प्रकार के मन्त्रार्थ-प्रतिकूल या मन्त्रार्थानुदित प्रयोग बहुलता से पाये जाते हैं[4]।

श्रवणा या सर्पबलि—

श्रावण की पूर्णिमा को किये जाने के कारण इस कर्म का नाम **श्रवणा** प्रसिद्ध हो गया। इसके मूल में सर्पों से भय की भावना निहित है। इसमें मा० गृ० सू० का यह वचन प्रमाण है—**सर्पेभ्यो बिभ्यत् श्रावण्यां तूर्णीं भौममेककपालं श्रपयित्वाऽक्षतसक्तून् पिष्ट्वा** ...... **जुहोति**[5]। अन्य आहुतियों के लिए विनियुक्त मन्त्र भी ऐसे हैं; जिनमें सर्पराट् की स्तुति की गयी है तथा सर्पों से प्रार्थना

---

१. आश्व० गृ० सू० १,२४ ; पा० गृ० सू० १,३; शां० गृ० २,१५; गो० गृ० सू० ४, १०; जै० गृ० सू० १,१९; बौ० गृ० सू० १,२; भार० गृ० सू० २, २३-२६ ; हि० गृ० सू० १,१२.७-१९ इत्यादि।

२. १,३,२७।

३. ऋग्० ८,१०१,१५।

४. द्र. 'गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग', कृष्णलाल कृत, नैशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, १९७०।

५. मा० गृ० सू० २,१६,१।

की गयी है कि वे सर्पदंश से मनुष्यों की रक्षा करें। बौ० गृ० सू० (३, १०, १) में इसको **सर्पबलि** की संज्ञा ही दी गयी है। पा० गृ० सू० (२, १४) में इसका सविस्तर वर्णन किया गया है। गृहस्वामी **स्थालीपाक** तय्यार करके, अक्षतधान को भूनकर एककपाल **पुरोडाश** पकाकर, धानों का अधिकांश पीस कर, आज्यभाग आहुतियां देकर, आज्याहुतियां देता है। तत्पाश्चात् विष्णु, श्रवण नक्षत्र, श्रावणी पौर्णमासी तथा वर्षाऋतु को **स्थालीपाक** की आहुतियां दी जाती हैं। सर्पों के लिए घृतावत सक्तुओं की आहुति दी जाती है और एककपाल **पुरोडाश** का **ध्रुवभौम** के लिए होम किया जाता है। यज्ञशेष खाकर यजमान सर्पों को सत्तुओं की बलि प्रदान करता है। सर्पों को स्नान कराके उन को कंघी, अञ्जन, अनुलेपन तथा मालाएं अर्पित करता है।[1] और शेष सत्तुओं को स्थण्डिल पर बिखेर देता है। जल प्रदान करके सर्पों की अर्चना करता है। इस दिन से लेकर **आग्रहायणी**-पर्यन्त प्रतिदिन सूर्यास्त के पश्चात् अग्नि-परिचर्या करके दर्वी से सर्प-बलि देने का विधान है।

आश्वयुजी कर्म—

यह कर्म आश्विन मास की पूर्णिमा को किया जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य पालतू पशुओं का कल्याण है, जिसमें शिव, पशुपति, शङ्कर तथा पृषातक प्रभृति[2] के निमित्त **स्थालीपाक** का होम किया जाता है। काठ० गृ० सू० (५७, १-९) के अनुसार तो इसमें अश्व तथा अन्य वाहनों की परिचर्या की जाती है। इसमें सर्वविध रसों को चारों ओर चार दिशाओं में और सर्वविध अन्नों को विदिशाओं में रखकर वरुण, अग्नि, अश्विनों तथा **आश्वयुजी** (आश्विन मास के पूर्ण चन्द्रमा) के लिए आहुतियां दी जाती हैं। वाहनों को जोता जाता है। कवच प्रभृति पहन कर कुछ व्यक्ति वाहनों पर चढ़कर तीन बार वेदि की परिक्रमा करते हैं। अन्त में आज्याहुतियां रुद्र के लिए प्रदान करके **पृषातक-भक्षण** का विधान है।

---

१. शां० गृ० सू० (४, १५, १२-२२) में तो सर्पों को दर्पण दर्शाने का भी विधान है और हि० गृ० सू० (२, १६, ५) किंशुक पुष्प अर्पण करते का निर्देश करता है। आप० गृ० सू० (७, १८,६; ७; ११) इसके अतिरिक्त आरग्वध (अमलतास), स्थगर (तगर), तथा उशीर (खस) भी सर्पों को अर्पण करने को कहता है।

२. तु. आश्व० गृ० सू० २,२,२-३—'**पशुपतये शिवाय शङ्कराय पृषातकाय स्वाहेति पृषातकमञ्जलिना जुहुयात्**'। पृषातकम्=दधिमिश्रितं धृतम्, दुग्धमिश्रितं घृतं वा। तथा मा० गृ० सू० २,३,४-८; गो० गृ० सू० ३,८,१-८।

आग्रहायणी—

आग्रहायणी वर्षारम्भ की पौर्णमासी को कहते हैं। उस दिन क्रियमाण कर्म को **आग्रहायणी-कर्म** की संज्ञा दी गयी है। यह सम्भवतः मार्गशीर्ष मास में 'नववर्षोत्सव' के रूप में प्रचलित हुआ था[1]। इसे **प्रत्यवहरोण** से सम्बद्ध किया जाता है, जबकि लोग खाटों से उतर कर भूमि पर सोना आरम्भ करते थे। सर्पभय के कारण श्रवणा के दिन खाटों पर सोना आरम्भ किया जाता था[2]। पा० गृ० सू० (३, २,२-१६) के अनुसार यजमान इस दिन **स्थालीपाक** की आहुतियां सोम, मार्गशीर्ष नक्षत्र, मार्गशीर्ष के चन्द्रमा, तथा हेमन्त ऋतु के लिए देता है। **श्रवणा** के अवसर पर तय्यार किए गए सत्तुओं में से कुछ का भक्षण करके शेष को शूर्प में रख कर **श्रवणा** में निर्दिष्ट कर्म के अनुसार प्रोक्षण करके **प्रत्यवरोहण** (भूमिशयन) आरम्भ कर देता है। यह कर्म अग्नि के पश्चिम में बिछाये गए कुशों पर से उतर कर भूमि पर शयन करके सम्पन्न किया जाता है। **आग्रहायणी** कर्म के विषय में विभिन्न गृह्यसूत्रों में परस्पर विभेद पाया जाता है[3]। बौ० गृ० सू० के अनुसार तो प्रत्येक ऋतु के आरम्भ में **प्रत्यवरोहण** करना चाहिये[4]।

कृषिकर्म—

हल जोतने के समय किये जाने वाले कर्म का नाम कृषिकर्म या **लांगल-योजन** या **हलाभियोग** है। इसके भी विविध प्रकार बतलाये गये हैं, और देवताओं की अर्चना का विधान किया गया है। गो० गृ० सू० के अनुसार शुभ नक्षत्र में इन्द्र, मरुद्गण, पर्जन्य, अशनि और भग के लिए **स्थालीपाक** का होम तथा सीता, आशा, अरडा तथा अनघा के लिए आज्याहुतियां विहित हैं। आखुराज के लिए भी उत्कर में अन्न की एक आहुति देने का विधान है[5]।

आश्व० गृ० सू० (२, १० ४) के अनुसार यह कर्म उत्तर प्रौष्ठपदा, उत्तरफाल्गुनी, अथवा रोहिणी नक्षत्र में करना चाहिये और खेत में ही ऋग्० (४, १७) से आहुतियां देनी चाहियें अथवा इस सूक्त का जप ही पर्याप्त माना गया है[6]।

---

१. वेवर, 'नक्षत्र', भाग २, पृ० ३३२; तिलक, 'ओरियन', (१९३५ सं०) पृ० ७६ से।
२. तु. शां० गृ० सू० ४,१५,२२।
३. हि० गृ० सू० २,१७,१-१३; भार० गृ० सू० २,२; मा० गृ० सू० २,७,१-१८; गो० गृ० सू० ३, ९,१-२१; खा० गृ० सू० ३,३,१दे-२६, शां० गृ० सू० ४,१७,१-१६।
४. बौ० गृ० सू० २, १०, १-१०।
५. गो० गृ० सू० ४,४,२६-३०।
६. आश्व० गृ० सू० २,१०,३-४।

शां० गृ० सू० के अनुसार द्यावापृथिवी की अर्चना ही पर्याप्त है। यहां हल जोतने से पूर्व ब्राह्मण द्वारा ऋग्० ४,५७,८ से स्पर्श का विधान किया गया है। अन्त में इसी सूक्त से ही सभी दिशाओं में अर्चना करनी चाहिये[1]। पा० गृ० सू० के अनुसार इस कर्म के लिए ज्येष्ठा नक्षत्र उत्तम है। इसमें इन्द्र, पर्जन्य, अश्विदेवता, मरुद्गण, उदलाकाश्यप, स्वातिकारी, सीता और अनुमति का दधि, अक्षत, गन्ध तथा धान्य से यजन करना चाहिये। तदनन्तर बैलों को घृत तथा मधु खिलाकर जोतना चाहिये और चावल और जौ वोते समय **स्थालीपाक** से उपर्युक्त देवों का यजन करना उचित है[2]। कौ० सू० में हल के फाल पर अपूप रखने का विधान है। तीन हल रेखाएं पूर्व की ओर बना कर उत्तरी रेखा पर इन्द्र के लिए पुरोडाश तथा दोनों अश्विनों के लिए **स्थालीपाक** समर्पित किया जाता है। शेष अन्न एक रेखा पर डाल दिया जाता है। यजमान-पत्नी इस रेखा में से एक ढेला उठा कर मध्यम रेखा में उत्तर की ओर रखती है। हल पर आज्य, अंकुरों एवं जल का लेप किया जाता है। प्रत्येक रेखा के सिरे पर दर्भ बिछा कर उन पर प्लक्षोदुम्बर के बने तीन-तीन चमस रखे जाते हैं, जिनमें प्रत्येक के दक्षिण चमस से इस मध्यम रेखा में अंकुर और वाम में पुरोडाश डाल कर दर्भों से ढक दिया जाता है[3]।

आग्रयण या **नवप्राशन** या **नवयज्ञ** नवीन अन्न के घर में आने पर किया जाता है। नवान्न से देवताओं का यजन तै० सं० (५, ६, २) में भी विहित है। कौषीतकि ब्राह्मण में आग्रयण, श्यामाक, जौ तथा वेणुयव से यजन करने का विधान है[4]। यह वास्तव में एक श्रौतकर्म है। गृह्यसूत्रों में इसका विधान मुख्यरूप से अनाहिताग्नि के लिए किया गया है[5], यद्यपि आश्व० गृ० सू० (२, २ ४-५) में इस का आहिताग्नि तथा अनाहिताग्नि दोनों के लिए विधान किया गया है।

इसमें यजमान नवान्न से **स्थालीपाक** तय्यार करके दो **आज्यभाग** प्रदान करके दो आज्याहुतियां प्रदान करता है। **आग्रयण** देवताओं (इन्द्र, अग्नि, विश्वेदेव, तथा द्यावापृथिवी) को **स्थालीपाक** प्रदान करके अग्निस्विष्टकृत् को एक आहुति दी जाती है। तदनन्तर मन्त्रसहित नवान्न भक्षण किया जाता है। जै० गृ० सू० में नवान्नयाग से पूर्व पुराने अन्न से अग्नि, धन्वन्तरि, प्रजापति तथा इन्द्र के यजन का विधान किया गया है[6]।

---

१. शां० गृ० सू० ४,१३,१-५; कौ० गृ० सू० ३,१३,१-१०।

२. पा० गृ० सू० २,१३,१-७।

३. कौ० सू० २०,१-२४।

४. कौ० ब्रा० ४, १२।

५. शां० गृ० सू० ३,८,१; पा० गृ० सू० ३,१,१; आप० गृ० सू० ७,१९,६।

६. जै० गृ० सू० १, २४।

शूलगव ऐसा कर्म है, जिसका उद्देश्य स्वर्ग, पशु, पुत्र, धन, यश और आयु की प्राप्ति है[1]। काठ० गृ० सू० के व्याख्याता देवपाल के अनुसार इस संज्ञा का कारण इसमें प्रयोज्य सामग्री शूल पर पकाए गए गौ के अंग होते हैं। किन्तु आश्व० गृ० सू० के व्याख्याता नारायण के मत में इस कर्म के रुद्र से सम्बद्ध होने के कारण इसे शूलगव कहते हैं। बौ० गृ० सू० के अनुसार इस कर्म का समय मार्गशीर्ष अथवा आर्द्रा नक्षत्र कहा गया है[2]। शां० गृ० सू० के अनुसार इसे कृष्ण पक्ष के किसी शुभ नक्षत्र में करना चाहिये[3]।

इसमें ग्राम से दूर एकान्त में अर्धरात्रि को सद्यःछिन्न शाखा के यूप में कुशा की एक रस्सी तथा साण्ड के सींग में दूसरी बांध कर साण्ड का संज्ञपन करके रुद्र के लिए यजन किया जाता है। तत्पश्चात् चारों दिशाओं में कुशा के कूर्चों पर ही बलि प्रदान की जाती है। धान्य के तुष तथा पशु की पूंछ, खाल, सिर तथा पाद अग्नि में होम किये जाते हैं। अग्नि के उत्तर में दर्भ अथवा कुशकूर्चों पर पशु के रक्त को सर्पों के निमित्त अर्पित किया जाता है। इस यज्ञ की कोई वस्तु न ही भक्ष्य होती है और न ही ग्राम में लायी जाती हैं। इसके अनन्तर एक और बछड़े को भावी शूलगव के लिए छोड़ दिया जाता है[4]। पा० गृ० सू० के अनुसार **औपासानाग्नि** को अरण्य में ले जाकर उसमें पशु की वपा को रुद्र के निमित्त, वसा (चरबी) को अन्तरिक्ष के निमित्त और इन के खण्डों ('अवदानानि') को **स्थालीपाक** में मिश्रित करके अग्नि, रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव और ईशान को अर्पित किया जाता है। **पृषदाज्य** वनस्पति को तथा **स्थालीपाक** मिश्रित पशु के अंगों को **अग्निस्विष्टकृत्** को अर्पण करने का विधान है[5]।

बौ० गृ० सू० के अनुसार अरण्य में स्थापित अग्नि में गौ की वपा और मांसखण्डों को शूलों पर भून कर एक छोटे पात्र में पकाया जाता है। तथा अग्नि के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के निमित्त आहुतियां दी जाती हैं। तथा यज्ञशेष को अग्नि के आगे अर्कपत्रों पर स्थापित किया जाता है। और पात्रों की धोवन, आज्य तथा जल को एक पात्री में रख कर गौ की प्रदक्षिणा की जाती है। और बांस की शाखा से चारों ओर जल छिड़का जाता है। अन्त में बौधायन ने गौ के स्थान पर अजा अथवा अवि का वैकल्पिक विधान भी किया है;। अथवा

---

१. पा० गृ० सू० ३,८,२; आश्व० गृ० सू० ४,९,३६।

२. आश्व० गृ० सू० ४,९,२; बौ० गृ० सू० २,७,१-३।

३. शां० गृ० सू० ४,१७,३।

४. आश्व० गृ० सू० ४,८,१-४०।

५. पा० गृ० सू० ३,८,१-१४।

ईशान के निमित्त केवल **स्थालीपाक** से ही यज्ञ किया जा सकता है[1]। भार० गृ० सू०, हि० गृ० सू० तथा आप० गृ० सू० ने गोवध का विधान न करके पायस का **स्थालीपाक** पका कर अग्नि के पश्चिम में दो कुटिया बना कर दक्षिण में स्थित कुटिया में शूलगव का समन्त्रक तथा उत्तरीय कुटिया में उसकी पत्नी मीढुषी का सामान्य भाषा में आवाहन करके उनके पुत्र जयन्त को दोनों कुटीरों के मध्य में आवाहन किया जाता है और उन्हें इसी क्रम से जल प्रदान किया जाता है। तत्पश्चात् स्थालीपाक के तीन भागों के नीचे ऊपर आज्य डाल कर इन देवताओं से स्पर्श करा के व्याहृति होम-पर्यन्त करके स्थालीपाक में से भव, भवानी तथा जयन्त के निमित्त समन्त्र आहुतियां प्रदान की जाती हैं। स्विष्टकृत् आहुतियों तक कर्म करके यजमान की गौओं को अग्नि के पास चारों ओर खड़ा किया जाता है। अन्त में यजमान इन सभी पदार्थों की तीन बार प्रदक्षिणा करता है[2]।

बौढ्य-विहार या पर्ण-विहार तथा **क्षेत्रपति-यज्ञ** शूलगव के अंग ही हैं। दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए यजमान पलाश के चार, दस और पुनः दस पत्तों को भूमि पर फेंक कर इनकी टोकरी सी वनाकर उसमें भात रख कर गोष्ठ से दूर एक वृक्ष पर लटका देता है और इसके सामने ही पिनाक, पिनाकी और चौरपति की अर्चना करता है। वहां से लौट कर अपनी गौओं पर चन्दन, वर्षा के जल (सुरोदक) खीलों तथा गोवर को दूर्वा तथा उदुम्वर प्रभृति वृक्षों की शाखाओं से छिड़कता है। क्षेत्रपति के लिए स्थालीपाक गौओं के आने-जाने के मार्ग पर पलाश के चार या सात पत्तों पर भूमि पर ही दिया जाता है।

वृषोत्सर्ग—

यह गोसन्तति की वृद्धि के लिए साण्ड को खुला छोड़ देने के लिए क्रियमाण कर्म का नाम है। यह कार्तिक या रेवती नक्षत्र में पड़ने वाली आश्वयुजीक पूर्णिमा को किया जाता है। इसमें गौओं के मध्य में अग्नि प्रज्वलित करके उसमें पायस-स्थालीपाक पका कर पूषन् को अर्पित किया जाता है। रुद्रसम्वन्धी मन्त्रों का उच्चारण करके अतिवलिष्ठ तथा सुन्दर साण्ड तथा चार श्रेष्ठ अल्पायु गौओं का पूजन करके उनका समन्त्र उत्सर्जन किया जाता है। गौओं के मध्य में स्थित साण्ड को ऋग्० (१०, १६९, १-४) के मन्त्रों से सम्वोधित किया जाता है[3]।

१. बौ० गृ० सू० २,७,४-२८; तु. आग्नि० गृ० सू० २,५,८।

२. भार० गृ० सू० २,८-९; आप० गृ० सू० ७,१९,१३-१४; हि० गृ०सू० २,८,१-११।

३. शां० गृ० सू० ३,११; पा० गृ० सू० ३,९; काठ० गृ० सू० ५९,१-५।

त्रयोविंश अध्याय

अन्त्येष्टिकर्म

यद्यपि यह विवादास्पद है कि ऋग्वेद में आत्मा का स्वरूप ठीक वही माना जाता था, जो हम लोग उपनिषदों के माध्यम से आज मानते हैं, तो भी इतना स्पष्ट है कि मृत्यु के उपरान्त इस शरीर से पृथक् होने वाले तत्त्व 'असु', जीवन अथवा प्राण तत्त्व, को जड़ तत्त्व से भिन्न चेतन तत्त्व माना जाता था[1]। ऋग्वेद में आत्मा का अर्थ शरीर भी है। बाद में यही शब्द अन्तश्चेतनतत्त्व के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्द के रूप में प्रयुक्त होने लगा। प्राण और असु की एकरूपता श० ब्रा०[2] में ही उभर कर हमारे सम्मुख आ गयी है।

उपनिषदों में अनेक बार दोहराई गयी यह धारणा श० ब्रा० में स्पष्ट लक्षित होती है कि स्वप्नावस्था में आत्मा शरीर से निकल कर इच्छानुसार घूम कर फिर लौट आता है[3]। यह विचार भी व्यक्त किया गया है कि हमारे मृतक पूर्वज या पितर लोग सर्वविध बौद्धिक क्रियाकलाप से युक्त होते हैं—वे जानते, प्रत्यक्ष करते, वस्तुओं का उपभोग करते तथा सर्वविध इच्छाओं से युक्त होते हैं, अर्थात् मृत्यु के उपरान्त भी किसी न किसी रूप में इन्द्रियों के कार्य सर्वथा सम्भव हैं। तो भी आत्मा के स्वरूप के विषय में स्पष्ट वर्णन ऋग्वैदिक काल में दृष्टिगोचर नहीं होता। और यह सर्वथा स्वाभाविक भी है। स्वयं उपनिषदों में भी इसके विषय में विविध नाम-रूप तथा विचारविमर्श देखने को मिलते हैं। वे भी इसकी खोजबीन में अत्यन्त आतुरता-पूर्वक व्यग्र प्रतीत होते हैं।

मरणोपरान्त दह्यमान व्यक्ति के शरीर को घातक पक्षियों तथा हिंस्र पशुओं से रक्षा करने के लिए परलोक में स्वयं को अपने शरीर से संयुक्त करने के निर्देश[4] से प्रतीत होता है कि शरीर तथा आत्मा का सम्बन्ध-विच्छेद सदा के लिए माना जाता था। अथर्ववेद[5] में भी यही मत व्यक्त किया गया है।

---

१. ऋग्० १,११३,१६;१४०,८; ओल्डनवर्ग, रिलि० देस्वे०, पृ० ५२५-५२६।

२. श० ब्रा० ६,६,२,६; २,४,२,२१।

३. श० ब्रा० १४,७,१,१२।

४. ऋग्० १०,१६,६; १४,८; १६,५।

५. अथर्व० १४,२,२४।

ऋग्वेद[१] में एक मत और व्यक्त किया गया है, जिसके अनुसार मृत व्यक्ति का चक्षु सूर्य में जाता है, तथा आत्मा वात या द्युलोक या पृथ्वी लोक में भी जा सकता है, या जलों में समा जाये या पौधों में शरीरावयवों सहित अवस्थित हो जाये। चक्षु का सूर्य से सम्बन्ध तो पुरुष-सूक्त में ही व्यक्त किया गया है, जहां विराट् के विविध शरीरावयवों का सम्बन्ध प्राकृतिक शक्तियों से जोड़ा गया है।

ऋग्वेद के अनुसार मरणोपरान्त आत्मा पितरों के मार्ग से स्वर्ग को जाता है,[२] जहां देवताओं जैसे तेज से युक्त अखण्ड ज्योति झिलमिलाती रहती हैं[३]। वहां जाने के साधन रथ अथवा पंख कहे गये हैं[४], या मरुद्देवता उसे ले जाते हैं[५], जहां वह अपने पूर्ण शरीर को पुनः प्राप्त कर लेता है तथा पितरों एवं यम के साथ निवास करता है। अन्यत्र[६] उसे चार चक्षुओं वाले दो शबल कुत्तों से बच कर निकल जाने का निर्देश भी है, ताकि वह शीघ्र ही पितरों से बेरोकटोक मिल सके। रॉथ तथा ऑफ्रेख्त का यह मत समीचीन नहीं कि ये कुत्ते आत्माओं की अच्छाई-बुराई का निर्णय करके उन्हें भिन्न-भिन्न स्थानों में भेजने का कार्य करते हैं[७]।

आत्माओं द्वारा प्राप्य स्वर्ग के स्वरूप का चित्रण ऋग्वेद तथा पश्चात्कालिक संहिताओं ने अनेक बार आया है[८]। वहां सभी प्रकार के भौतिक सुख एवं भोग्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं। स्वर्ग में सर्वप्रथम यम के दर्शन होते हैं, यह तृतीय स्वर्ग है, दो अन्य स्वर्ग सविताओं के हैं। यम का स्वर्ग सर्वोच्च कहा गया है। यह उस सूर्य का आवास है, जिसे यम मनुष्यों को प्रदान करता है[९], तथा जहां वह देवताओं के साथ खाता-पीता तथा मौज करता है।

---

१. ऋग्० १०,१६,३।

२. ऋग्० ९,११३,७।

३. अथर्व० ११,१,३७।

४. अथर्व० ४,३४,४; वा० सं० १८,५२।

५. अथर्व० १८,२,२१-२६।

६. ऋग्० १०,१४,१०-१२; अथर्व० १८,२, १२; ८,१,९; जै० ब्रा० १,६।

७. ऑफ्रेख्त, इण्डिस्टु ४, पृ० ३४१; वेबर, वही, १८,२०; ओल्डनवर्ग, ऋग्० नो० द्वितीय, पृ० ४२; ब्लूमफ़ील्ड, अथर्व० ४,५।

८. ऋग्० १०,१४-१६; २७, २१; ५६,१; १५४,५ आदि; मै० सं० १,१०, १८; २, ३,९; श० ब्रा० ११,५,६,४; अथर्व० ११,४,११; ९,५,१,८; 'सूर्य', ऋग्० १०,१०७,२।

९. ऋग्० १०,१३५,१; तु. अथर्व० ५,४,३; कौषी० उप० १,३; जहां **इल्य वृक्ष, विजरा नदी, सालज्य नगर, अपराजित प्रासाद** की चर्चा की गयी है। छां० उप० ८,५,३।

यम ही मर्त्यों में से सर्वप्रथम है, जिसने सर्वप्रथम स्वर्ग में जाकर अन्य मरने वालों के लिए स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त किया तथा उन के प्रवास तथा आवास का प्रबन्ध किया। अब वही स्वर्ग का राजा है, सम्राट् है[1]। ऋग्वेद में तो मृत्यु के मार्ग से वह स्वयं स्वर्ग पहुँचा। मृत्यु के साथ उसका तादात्म्य भी माना जा सकता है। किन्तु बाद की संहिताओं में इसे मृत्यु से भिन्न माना गया है[2]। तो भी तै०आर० से पूर्व यम ,मृतकों का नियमन तथा उनके विषय में निर्णय करता हुआ नहीं दिखाया गया। वहीं पर ऋतयुक्त तथा अनृतयुक्त व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् करने के कार्य की चर्चा तो है, किन्तु इसमें यम का क्या हाथ है, यह स्पष्ट नहीं है। श० ब्रा० में उनकी इष्टापूर्ति का फल, यज्ञ का फल तथा दक्षिणा का फल प्राप्त होने की बात कही गयी है[3]।

किन्तु साथ ही साथ यद्यपि नरक का नाम ऋग्वेद में नहीं आया, तो भी वहां दण्ड के स्थान की ओर संकेत पाये जाते हैं, जहां इन्द्र तथा सोम दुष्कर्मियों को बलपूर्वक धकेल देते हैं। तीन लोकों के नीचे शत्रुओं तथा लुटेरों का स्थान है[4]। कहीं-कहीं पाप के लिए गाढ अन्धकार वाले पाताल में अनन्त दण्ड का संकेत भी आया है[5]। नरक के विषय में अथर्व० ने स्पष्ट ही चर्चा की है[6]। ऋग्वेद में भी बीजरूप में नरक का विचार विद्यमान है। अथर्ववेद में तो ब्राह्मण को क्षति पहुंचाने वाले पापी को रक्त-भरी नदियों में बाल खाकर जीवन व्यतीत करने तक की बात कह दी गयी है[7], जो पश्चात्कालिक पौराणिक धारणाओं का प्राचीनतम स्रोत प्रतीत होता है।

श० ब्रा०[8] तथा जै०ब्रा०[9] में अनेक प्रकार की भयानक यातनाओं की चर्चा की गयी है। यज्ञ में हवन की गयी विविध वस्तुएं परलोक में पुरुष से बदला लेती

---

१. ऋग्० १,३५,६;१०,१३५,७; वा० सं० १२,६३।

२. मै० सं० २,५,६; वा० सं० ३९, १३; अथर्व० ५,३०१२; १८,२,२७; ५,२४,१३ (भूत प्रेतों के स्वामी)।

३. श० ब्रा० ११,२,७,३३; तु. वही, १२,९,१,१।

४. द्र. रॉथ, जे० ए० ओ० एस० ३, पृ० ३२९-४७, वेबर Z. D. M. G. ९, पृ० २३४; उन्होंने दण्ड को अस्वीकार किया है। किन्तु द्र. हाप्किन्स, रिलि० इण्डि० पृ० १४७।

५. ऋग्० ७,१०४,३; १७,११; ९,७३, ८-९।

६. अथर्व० १२,४,३६।

७. वही १२,५,१९।

८. श० ब्रा० ११,६,१।

९. जै० ब्रा० १,४२-४४; जे० ए० ओ० एस० १५, पृ० २३४-३८।

हैं। अन्यत्र पापी को परलोक में पशुओं द्वारा भक्षण किये जाते हुए चित्रित किया गया है[1]। अपने कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करने की बात श० ब्रा०[2] में अनेक बार कही गयी है। ज्वालाओं से जलाने[3] तथा तुला में तोलने की बात[4] स्पष्ट ही पापों तथा पुण्यों को जांचने तथा तदनुसार फल देने की मूर्त कल्पना है। इसे 'लोक-प्रचलित विश्वास' न मान कर 'दार्शनिक सिद्धान्त' कह देने से[5] कुछ अन्तर नहीं पड़ता। दार्शनिक सिद्धान्त ही लोक-विश्वास के रूप में अंकुरित होते हैं।

मृतक के आत्मा को स्वर्ग या किसी अन्य स्थान पर ले जाने में अग्नि का हाथ माना जाता था। आश्व० गृ० सू०[6] के अनुसार आत्मा का गन्तव्य स्थान उस अग्नि के स्वरूप पर निर्भर करता है, जो चिता पर रखे हुए शव को सर्वप्रथम स्पर्श करती है। किन्तु यह एकांगी विचार-मात्र है, क्योंकि वहीं यह भी कहा गया है कि आहवनीय के उत्तर-पूर्व में घुटनों तक गहरा गड्ढा खोदा जाता है, जलीय पौधे **शीपाल** को वहां रखा जाता है और धुएँ के साथ आत्मा वहां से स्वर्ग को चली जाती है। परलोक की ओर जाने वाली एक नदी का संकेत अथर्व०[7] में तथा नौका का उल्लेख ऋग्०[8] में किया गया है। किन्तु यह न तो बाद की वैतरणी है, न सरस्वती।

इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण विचार यह भी है कि मृतक व्यक्ति तुरन्त पितरों में नहीं जा मिलता[9]। क्योंकि एक वर्ष तक तो वह आस-पास ही रहता है। अतः तब तक उसे मासिक श्राद्ध में न बुलाया जाता है और न बलि ही दी

---

१. कौषी० ब्रा० ११,३।

२. श० ब्रा० ६,२,२,२७; वेबर, ZDMG. ९, २३७ से।

३. श० ब्रा० १,९,३,२।

४. श० ब्रा० ११,२,७,३३।

५. कीथ, वै० ध० द० २, पृ० ५१०।

६. आश्व० गृ० सू० ४,५।

७. अथर्व० १८,४,७—**तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति।**

८. ऋग्० १०, ६३, १०—**दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेम** ... ... (तु. तै० आर० ६,७,२)।

९. यद्यपि ऋग्० १०,१४,७ में मृतक के तुरन्त पूर्व पितरों के पास जाने की बात कही गयी है—**प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्वेभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः**। द्र. ओल्डनबर्ग रिलि० देस्० वे०, पृ० ५३४।

जाती है[1]। मृतक की आत्मा का आकाश में व्यपगमन-सम्बन्धी विचार तथा मृत शरीर के आस-पास रहने की धारणा में पौर्वापर्य का निर्धारण सरल नहीं है। तो भी यह सम्भव है कि द्वितीय धारणा अधिक प्राचीन हो और प्रथम धारणा का विकास धीरे-धीरे हुआ हो, यद्यपि ऋग्० में प्रथम धारणा का ही उल्लेख उभर कर सामने आया है।

ऋग्० में स्पष्ट ही ऐसे पितरों की ओर संकेत पाये जाते हैं, जो पृथ्वी के विविध स्थानों पर या मनुष्यों के आवासों पर आकर बैठ जाते हैं[2]। तै० सं०[3] में कहा गया है कि ब्राह्मण के शरीर में से रक्त निकालने वाला व्यक्ति उतने वर्षों तक पितृलोक में नहीं जा सकता, जितने बालू के कण उस रक्त से सिक्त हो सकते हैं।

इसी प्रसंग में एक विचार यह भी पाया जाता है कि दुष्टात्माओं की उत्पत्ति उन व्यक्तियों से होती है, जिनका अन्त्येष्टि संस्कार समुचित रूप से नहीं हो पाता। साथ ही साथ यह विश्वास भी प्रचलित है कि प्रेत हर स्थान पर रहते हैं और वे नाना प्रकार के रोगों तथा व्याधियों को भेजा करते हैं। किन्तु ये धारणाएं अथर्ववेद में उपलब्ध नहीं होतीं, यद्यपि वहां दैत्यों, राक्षसों, पिशाचों के अनेकानेक सङ्केत तथा उल्लेख मिलते हैं। किन्तु बौद्ध ग्रन्थों तथा विश्वासों के अनुसार ये योनियां न केवल वास्तविक रूप में संसार में विचरती हैं, अपितु ये सम्पत्ति की चोरी भी कर लेती हैं और मानवों के साथ यौन सम्बन्ध भी स्थापित कर लेती हैं। ये प्रेत घने निर्जन वनों में, नदियों के तीरों पर तथा ईख के सघन खेतों में, तथा टूटे-फूटे खण्डहरों में निवास करते हैं। ये चौराहों पर आते हैं तथा अपने घरों में भोजन की खोज में चक्कर काटते रहते हैं। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि ये दण्ड भोगने वाली अपराधी आत्माएं होती हैं, जो नग्न रहती हैं या अपने रोमों से शरीर को ढके रहती हैं[4]।

बौद्ध ग्रन्थों[5] में प्रेतों के नगर का उल्लेख है, तथा उन द्वारा बसाये गये द्वीप की चर्चा है[6]। ये श्मशानों में निवास करते हैं। किन्तु वैदिक युग में इस

---

१. द्र. शां० गृ० सू० ४,२,७; ३,५,६ जहां मृतक-आत्मा को पितरों से पृथक् माना जाता है। तु. पार० गृ० सू० ३, १०,५२—**संवत्सरं पृथगेके**। बौ० गृ० सू० ३,१२,४ में प्रेत के एक वर्ष में पितर बन जाने का उल्लेख है (तु. भार० गृ० सू० ३, १७)।

२. ऋग्० १०,१५,२; (तु. अ० वे० १२,३,९; तै० आर० ६,४,२)।

३. तै० सं० २,६,१०,२ (तु. मनु० ४,१६८; ११,२०७)।

४. द्र. पेतवत्थु तथा बी० सी० ला०, 'दि बुद्धिस्ट कन्सेप्शन ऑफ स्पिरिट्स'।

५. दिव्यावदान, कॉवेल सम्पा०, पृ० ७।

६. वही, ४,२।

सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय साक्ष्य नहीं मिलता[1]। तो भी मृतकों के रूपान्तर ग्रहण करने की कल्पना ने वैदिक साहित्य में घर कर लिया था। बौ० ध० सू०[2] ने मृतक को श्राद्ध-प्रदान करते समय पितरों के समान पक्षियों को भी भोज्य पिण्ड प्रदान करने का विधान किया है, क्योंकि पितर लोग पक्षियों का रूप धारण करके भोजन ग्रहण करने आया करते हैं। सर्पबलि का आधार भी यही माना जाता है कि पितर लोग सर्पों के रूप में उपस्थित हो सकते थे[3]। इससे भी रोचक कृत्य यह है कि यदि मृतक की अस्थियां न मिलें, तो कृत्य में आगन्तुक किसी भी जन्तु को उन अस्थियों का प्रतीक मान लिया जा सकता है[4]। किन्तु यह प्रयोग बहुत बाद का है। यद्यपि मृतक के शरीर के अवयवों को पौधों में चले जाने को ऋग्वेद में ही कहा गया है[5], तो भी आत्मा का पौधे के रूप में परिवर्तित हो जाने का विचार प्राचीन नहीं है।

पुण्यशाली मृतक व्यक्तियों को नक्षत्रों के रूप में परिवर्तित हो जाने की धारणा शतपथ ब्राह्मण[6] के समकालिक तो है ही, तो भी ऋग्०[7] में ही सूर्य की निगरानी करने वाले ऋषियों की ओर सङ्केत किया गया है। आप० ध० सू० में भी पितरों का नक्षत्रों से सम्बन्ध का उल्लेख है[8]। उत्तरी ध्रुव के आसपास घूमने वाले तारों को सप्तर्षि की संज्ञा[9], कृत्तिकाओं में से एक का नाम अरुन्धती तथा कृत्तिकाओं को सप्तर्षियों की पत्नियां मानना सभी इसी धारणा को पुष्ट करते हैं।

---

१. ओल्डनबर्ग, रिलि० देस् वे०, पृ० ५५९ आदि।

२. बौ० ध० सू० २,१४,९,१०।

३. विण्टरनिट्स, देर सर्पबलि, पृ० ३७; अन्य मत के लिए द्र. पैटन, स्पिरिटिज़्म, पृ० ९६ आदि।

४. कौ० सू०, ८३,२२।

५. ऋग्० १०,१६,३।

६. श० ब्रा० ६, ५, ४, ८; तु. हिल्लेब्राण्ट, वै० मि० भाग ३, ४२०-२३, जो असम्भव कल्पनाएं करते हैं।

७. ऋग्० १०,१०७,२; १५४,५; अथर्व० १८,२,४७।

८. आप० ध० सू० २,९,२४,१४।

९. श० ब्रा० २,१, २,४; १३,८, १,९ आदि; (तु. ऋग्० ४,४२,८; द्र. हिल्लेब्राण्ट, वै० मि० १,२७६;३९४ आदि)।

शवव्यवस्थापन

संसार में शवव्यवस्थापन के अनेक प्रकार प्रचलित रहे हैं, जिनमें गुफाओं में संस्थापन, भूमि पर खुला छोड़ देना, जल-प्रवाह, भूमि में गाड़ना तथा अग्निदाह प्रमुख हैं। गुहाओं में शव के संस्थापन की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है तथा दूर-दूर तक प्रचलित रही है। मिश्र में विशाल भव्य समाधियों के निर्माण के पीछे यही प्रथा रही है। रोम में लगभग ८००० संन्यासियों की अस्थियां **पिआजा बारबेरिनि** के निकट कैपुचिन चर्च की दीवार में सुरक्षित मिली हैं[१]। सिसली, क्रीट तथा भूमध्य सागर के आसपास इस प्रकार की अनेक समाधियां उपलब्ध हुई हैं।

पारसियों में शव को गाड़ना अपराध माना जाता है, अतः वे शव को पर्वतों की चोटियों या ऊँचे बुर्जों पर छोड़ देते हैं[२]। अथर्ववेद में **उद्धिताः**[३] शब्द के प्रयोग से कुछ विद्वानों ने 'वृक्षों पर लटकाए हुए पितर' अर्थ ग्रहण किया है।

तिब्बत में कोढ़ी, प्रसूतिका, वांझ आदि के शव को जाल में लपेट कर नदी में बहा देने का रिवाज है[४]। भारत में भी बच्चों, चेचक रोग से मृतों, सर्पदष्ट व्यक्तियों के शवों को जल में प्रवाहित करने की प्रथा है।

शव को भूमि में गाड़ने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन तथा व्यापक है। वर्तमान समय में ईसाई तथा मुसलमान शव को कब्र खोद कर गाड़ देते हैं। गाड़ने के स्थान अलग-अलग निश्चित किये जाते हैं[५]।

ऋग्वेद में भी दग्ध तथा अदग्ध दोनों प्रकार के पितरों का आह्वान किया गया है[६]। कुछ मन्त्रों में शव को गाड़ने के स्पष्ट सङ्केत मिलते हैं। अथर्ववेद में तो स्पष्ट ही इस प्रथा के उल्लेख हैं[७]। इसके अतिरिक्त दाहक्रिया के पश्चात्

---

१. Puckle, *Funeral Customs*, P. 1386.

२. S. B. E. Vol. IV, *India*. P. 45.

३. ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वास्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ (अथर्व० १८, २, ३४)

४. Hartland, E. in *ERE*, Vol. IV P. 422.

५. Hartland, E., वही,

६. ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते । (ऋग्० १०,१५,१४)

७. ये निखाता० (१८,२,३४) ; मा नु भूमिगृहो भवत् (५,३०,१४)।

अस्थियों का सञ्चयन करके उन्हें भूमि में गाड़ कर उन पर समाधि का निर्माण[1] भी इसी प्रथा का अवशेष ही प्रतीत होता है। ईरानियों, सीथियन राजाओं[2], प्राचीन यूनानियों, स्लावों तथा कैल्टों के प्रदेशों में प्राप्त समाधियों से इस प्रथा के प्रचलन के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं[3]।

इस प्रथा के पीछे दो भावनाएं निहित प्रतीत होती हैं। एक तो शव को सुरक्षित रख कर, समय-समय पर उससे सहायता प्राप्त करने की भावना है[4]। मुसलमानों में कयामत के दिन कब्रों में से मृतकों के जाग उठने की भावना व्याप्त है। उस समय उन्हें अपने-अपने कर्मों के फलों के अनुसार भावी भोगों का निर्णय सुनाया जाता है। दाहक्रिया का प्रचलन भारत तथा भारत से प्रभावित जावा, सुमात्रा प्रभृति द्वीपों में पाया जाता है। साइबेरिया, प्रशान्तसागर के तट पर स्थित उत्तरी अमेरिका तथा प्राचीन रोमनों में इस प्रथा के प्रचलन के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं।

अपनी-अपनी प्रथा के अनुरूप शव-व्यवस्थापन के अभाव में समझा जाता है कि जीवात्मा की गति न हो सकने के कारण वह इधर-उधर भटकता रहता है तथा प्रेत नाना प्रकार की प्रेत-योनियों को प्राप्त करता है।

मृतक के विषय में उपर्युक्त समस्त धारणाओं को अपने समक्ष रख कर ही वैदिक आर्यों ने उसकी अन्त्येष्टि क्रिया के स्वरूप का निर्धारण किया प्रतीत होता है। आजकल शव-दहन को ही शव-व्यवस्थापन का मुख्य स्वरूप मान कर इसे ही हिन्दुओं की एतद्विषयक विशेषता मान लिया गया है। किन्तु ऋग्वेद[5] तथा उसके पश्चात् दीर्घकाल तक शव को गाड़ने तथा दग्ध शव की अस्थियों को भूमि में गाड़ने की प्रथा के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद[6] में तो स्पष्ट कह दिया गया है कि :—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥

'वे जो गाड़ दिये गये हैं, वे जो खुले में त्याग दिये गये हैं, वे जो जला दिये गये हैं तथा वे जो वृक्ष आदि पर रख दिये गये हैं, हे अग्ने! उन सभी पितरों को

---

१. श० ब्रा० १३,८,१; आश्व० श्रौ० सू० ६,१०; पा० गृ० सू० ३,१०।

२. कीथ, रिफिलावे० भाग २, पृ० ६२६।

३. Mac Bain, *Celtic Mythology and Religion*, P. 235.

४. Schrader, S., *Aryan Religion ERE* II, P. 19-20.

५. ऋग्० १०,१५,४।

६. अथर्व० १८,२,३४।

हविष् खाने के लिये ले आओ'। यहां बौद्ध जातकों में निर्दिष्ट मृत शरीरों को समाधिस्थ करने का रिवाज प्रमाणित होता है[1]। तथा पारसी लोगों के मृत व्यक्तियों को खुले में उन्नत स्थल पर खुला छोड़ देने के रिवाज की ओर सङ्केत मिलता है। श० ब्रा०[2] में शवों को वृक्षों पर रख देने[3] के रिवाज का उल्लेख है। 'यह प्रथा निश्चित रूप से उन गृह-हीन संन्यासियों और भिक्षुओं के विषय में अपनायी जाती थी, जो अपने पीछे दाह-क्रिया करने के लिये कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ जाते थे।"[4] तै० आ०[5] में ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण की मृत्यु होने पर 'ब्रह्ममेध' किये जाने का उल्लेख मिलता है। भूमिखात के विषय में तो ऋग्वेद में ही सङ्केत किया गया है। मृतक को पृथ्वी माता के पास जाने को कहा गया है, जो उसे शिशु के समान अपनी गोद में ढक कर रख लेगी[6]। कर्मकाण्डीय ग्रन्थों में तो इस मन्त्र का विनियोग दाह के पश्चात् मृतक के फूलों (अस्थियों) को एक पात्र में रख कर भूमि में गाड़ने के लिये किया गया है[7]। तो भी कीथ ने इसे शवाधान मन्त्र ही स्वीकार किया है[8]। एक अन्य मन्त्र का इस अस्थि-कलश को किसी ढक्कन से ढकने के लिये विनियोग किया गया है, जिसके ऊपर स्थूणा स्थापित करने की वात कही गयी है। मन्त्र यह है—

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥

---

१. 'बुद्धिस्ट इण्डिया', पृ० ७८ तथा आगे।

२. ४,५,२,१३।

३. 'उद्दध्युः, उद्धास्यन्ति' (तु. "उद्धिताः" मन्त्र में)।

४. राजबलि पाण्डेय, 'हिन्दू संस्कार', पृ० ३३८; किन्तु द्र. कीथ, "किन्तु ये विचार साधारण रूप से वैदिक भारत के लिए महत्त्व के नहीं हैं" (वै० ध० द० पृ० ५२०)। तु. पार० गृ० सू० ३,१०,२ पर जयराम द्वारा उद्धृत स्मृतिवचन—

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः……नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो नापि कार्योदक-क्रिया। अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव तु।

५. तै० आर० ६,६,२,३।

६. ऋग्० १०,१८,१०-११; (तु. अथर्व० १८,२,५०-५२)।

७. आश्व० गृ० सू० (४,५,७); ओल्डनबर्ग, रिलि० देस् वेद, पृ० ५७२; ऋग्वेद नोतेन, २, पृ० २१९ आदि; कैलैण्ड, तोयदतनगे ब्राडखे, पृ० १६५; कौ० सू० ८३,१०; ८६, १०। (अथर्व० १८,३,४९ तथा १८,४, ६६ पर), तथा कौ० सू० ८२, ३३ (अथर्व० १८, २, १९ पर)।

८. वै० ध० द० पृ० ५२०।

'मैं तुम्हारे ऊपर की पृथिवी को सुदृढ़ करता हूँ ('तुम से परे रोके रखता हूँ'—ग्रिफिथ)। तुम्हारे चारों ओर इस ढेले को रखता हुआ मैं किसी द्वारा हिंसित न होऊँ। तुम्हारे पितर लोग इस स्थूणा को धारण किये रहें। यहीं यम तुम्हारा घर बना दे'[1]। यहां 'स्थूणा' शब्द से उस अस्थि-कलश पर किसी 'स्थूणा' के गाड़ने का सङ्केत ग्रहण किया गया है[2]। कई विद्वानों के मत में गाड़ने तथा जलाने की प्रथाएं साथ-साथ चल रही थीं[3] किन्तु हमारे विचार में तो यह प्रथा 'व्यवस्थित विकल्प' के रूप में प्रचलित थी। सिद्धों, योगियों, यतियों तथा दो वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिये 'भू-निखात' का आदेश (पा० गृ० सू० ३, १०,२-५) में ही दिया गया है। शेष को जलाने या 'जलनिखात'-प्रक्रिया द्वारा शव का व्यवस्थापन किये जाने का प्रचलन आज तक विद्यमान है। 'जलनिखात' की प्रथा भी विशेष अवस्थाओं के लिए ही व्यवस्थित कर दी गयी थी। सिद्धों, महात्माओं तथा विशेष रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को जलनिखात किया जाता है।

शव-व्यवस्थापन के इन अनेक प्रकार के उपायों के रहते भी सर्वाधिक प्रचलित प्रथा दहन-क्रिया की थी, क्योंकि इससे शव के शत्रु द्वारा अपवित्रीकरण की सम्भावना से मुक्ति, मृत व्यक्ति के प्रेत-भाव से मुक्त होकर अग्नि द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति, तथा इस प्रकार अपने पूर्वजों से सम्मिलन एवं यम-लोक में नवीन देह की प्राप्ति प्रभृति अनेक प्रयोजनों की सिद्धि की धारणाएं आर्यों की भावनाओं का अंग बन चुकी थीं।

अन्त्येष्टि-कर्म के सम्बन्ध में इस सामान्य भूमिका के अनन्तर क्रियाओं का संक्षिप्त सा विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

जब किसी की जीवन-लीला समाप्त होने वाली होती थी, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसे मृत्यु से बचाने तथा उसके प्राणों को लौटाने की चेष्टा की जाती थी। यद्यपि प्रयोगों अथवा पद्धतियों एवं सूत्रों में इस प्रकार के विनियोग का

---

१. ऋग्० १०,१८,१३; आश्व० गृ० सू० ४,५,१०; कौ० सू० ८६,८ (अथर्व० १८,३, ५२ पर); द्र. तै० आर० ४,२,२।

२. लौरिया नन्दन गढ़ से प्राप्त 'श्मशान' से इसी प्रकार की स्थूणा से उसे वेदकालिक मान लिया गया था। किन्तु अब उसे स्तूप माना जाता है। Archaeological Remains, Delhi, 1963, P. 88-89.

३. फॉन श्रोदर, वि० ओ० जे० ९, पृ० ११२ आदि; हाप्किन्स, जे० ए० ओ० एस० १६, पृ० १५३।

उल्लेख नहीं किया गया, तो भी ऐसे मन्त्र अथर्ववेद में विद्यमान हैं, जिनसे इस प्रकार का सङ्केत ग्रहण किया जा सकता है[१]।

प्रविशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्ण: शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ।। (७, ५३, ५)

'हे प्राण तथा अपान ! बाड़े में दो बैलों के समान, तुम दोनों इसमें प्रवेश करो। यह बुढ़ापे का निधि इस संसार में अहिंसित होकर वृद्धि को प्राप्त करे'।

इस प्रकार के मन्त्रोपचार से जब सफलता नहीं होती थी, तो स्वभावत: अन्त्येष्टि क्रियाएं आरम्भ की जाती होंगी[२]।

अन्त्येष्टि का विस्तृत विवरण केवल आश्व० गृ० सू०, कौ० गृ० सू०, आग्नि० गृ० सू० तथा वै० गृ० सू० में पाया जाता है। पा० गृ० सू० में इसका संक्षिप्त सा वर्णन है। मरणोपरान्त शव को दर्भाच्छादित भूमि पर लिटा दिया जाता था, जिस पर गोबर का लेप किया होता था[३]। शव के बाल, दाढ़ी तथा नाखूनों को साफ करके स्नान कराया जाता था[४] तथा उस पर तेल मला जाता था। शव को बाहर भेजने पर मृत्यु के घर में लौट आने के भय से उसके पञ्जे सुतलियों के गुच्छे से एक साथ बाँध दिये जाते थे[५] तथा उसे सिर से पांव तक कोरे कफ़न से ढक दिया जाता था[६]। सम्बन्धी स्त्रियां शव के चारों ओर केश खोल कर छाती एवं जंघाओं को दोहत्थड़ पीटती हुई स्यापा करती थीं[७]। शरीर को अर्थी पर अथवा दो बैलों की गाड़ी पर श्मशान को ले जाया जाता था[८]। मृतक के

१. अथर्व० ७,५३; स्पेन में किसी समय विद्यमान इस प्रकार की प्रथा के लिए द्र. ई० एस० हार्टलैण्ड, इ० आर० इ० भाग ४, पृ० ४११।

२. राजबली पाण्डेय, 'हिन्दूसंस्कार', पृ० ३०८।

३. कौ० सू० ८०, ३; अथर्व० १८, २, १९; आग्नि० गृ० सू० (३, ४, १; काठ० सं० ३९, ७)।

४. अथर्व० ५,१९,१४; आश्व० गृ० सू० ४, १,१५।

५. अथर्व० ५,१९,१२; द्र. ब्लूमफील्ड ए० जे० पी० १२ पृ० ४१६; रॉथ, फेस्ट० बोहूत०, पृ० ९८; कहीं-कहीं दो टहनियां बांधने की प्रथा भी थी ; वै० गृ० सू० ५,२।

६. वै० गृ० सू० ५, २; कौ० सू० ८०, १७ ; अथर्व० १८,४,३१; २,५७।

७. ब्लूमफील्ड, ए० जे० पी० ११, पृ० ३३३ आदि।

८. अथर्व० १८,२,५६; कौ० सू० ८०, ३४; आग्नि० गृ० सू० ३, ५, ३; आश्व० गृ० सू० ४, २, ३।

लौट आने के भय से पदलोपनी द्वारा उसके पदचिह्नों को मिटा दिया जाता था। शवयात्रा से पूर्व **गार्हपत्य**[1] या **आहवनीय** का विधान है[2]। शवयात्रा का नेतृत्त्व प्रायः मृतक का ज्येष्ठ पुत्र या कोई प्रमुख व्यक्ति करता था[3]। प्राचीन सूत्रों में वृद्ध दास भी शव को वहन करते थे। शव-यात्रा के नेता के हाथ में गार्हपत्य से प्रदीप्त जलती हुई लकड़ी रहती थी, तथा मार्ग में यम-सूक्त, यम-गाथा[4] अथवा हरिणी[5] नामक मन्त्रों आदि का उच्चारण किया जाता था। शवयात्रा का एक महत्त्वपूर्ण अंग एकवर्ण या कृष्णवर्ण की **अनुस्तरणी** या **राजगवी**[6] नामक गौ या बकरी होती थी, जिस के अगले वाम पांव में रज्जु बांध देते थे। वै० गृ० सू० के अनुसार शव-वाहक व्यक्ति दर्भ-रज्जु-निर्मित अधोवस्त्र तथा दर्भमय ही उत्तरीय धारण करते थे[7] तथा ये सभी सगे-सम्बन्धी इस गौ या बकरी के पीछे चलते थे[8] तथा इन सब के पीछे स्त्री पानी का घड़ा लेकर चलती थी।

कुछ दूर चल कर शव को पृथ्वी पर रख कर सभी स्त्रियां और पुरुष तीन वार अपनी वाम जंघाओं को पीटते हुए उस की उल्टी परिक्रमा करते थे, फिर मिट्टी के तीन दीपकों को शव के दक्षिण में फोड़ कर उन पर पके हुए अन्न की तीन आहुतियां देकर अन्न के पात्र का चूरा कर देने की प्रथा थी[9]।

शव के श्मशान में पहुंच जाने पर कर्ता को दाह-स्थल पर जल का अभिषेचन करना चाहिये[10]। तै० आर० (६, ६, १) तथा शां० श्रौ० सू० (४, १४, ७) के अनुसार आहिताग्नि की अन्त्येष्टि में इसी मन्त्र (ऋग्० १०,१४,९) से पलाश शाखा से चिता-स्थान का परिमार्जन करना चाहिये। इस मन्त्र का मुख्य उद्देश्य दुष्ट आत्माओं तथा भूत-प्रेतों को वहां से हटा देना है। शव को वहां

---

१. बौ० पि० सू० १।

२. आग्नि० गृ० सू० ३, ४११ (द्र. आश्व० गृ० सू० ४, १)।

३. पा० गृ० (जयराम) ३,१०; बौ० पि० सू० १, ४, ३।

४. पा० गृ० ३,१०,९।

५. कौ० सू० ८० ३५; अथर्व० १८, ३, ८; ९ आदि तथा हरिणी— अथर्व० १८, २, ११-१८।

६. बौ० गृ० सू० १, ४,१।

७. वै० गृ० सू० ५, २।

८. आश्व० गृ० सू० ४,२,४-९; तु. कौ० गृ० सू० ५,२,१-८।

९. कौ० गृ० सू० ५.२,१-१२।

१०. आश्व० गृ० सू० ४,२,१०; कौशिक सूत्र, ८०, ४२; आग्नि० गृ० सू० ३,४,१।

रख कर मृतक के सम्बन्धियों को चाहिये कि वे अपने वस्त्रों के किनारों से शव को मन्त्रोच्चारणपूर्वक हवा करें[1]। चिता पर रखने से पूर्व शव का जल से अभिषेचन का विधान है[2]। कुछ एक लेखकों के अनुसार चिता पर रखने से पूर्व शव की कुक्षि को तोड़ कर उसकी अन्तड़ियों को घी से भर कर उसे कुश से सी देना चाहिये[3]। यह प्रथा शव की शुद्धि तथा दाह को सुविधाजनक बनाने के लिए थी।

शव को चिता पर रखने के पश्चात् कर्ता को निम्नलिखित मन्त्र से मृतक की पत्नी को चिता पर शव के पास लिटाना चाहिये[4]।

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि[5]॥

हे मर्त्य! पुरातन धर्म का पालन करती हुई यह नारी पति-लोक का वरण करती हुई, तुझ मृतक के पास आयी है। तुम इसे यहां (इस लोक में) प्रजा और धन प्रदान करो।

आश्व० गृ० सू० (४, २, १८) तथा कौ० सू० (८०, ४५) के निर्देशानुसार मृतक के अनुज अथवा शिष्य अथवा किसी वृद्ध सेवक द्वारा निम्नलिखित मन्त्र से उसकी पत्नी को चिता पर से उठा लेना चाहिये—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूब[6]॥

हे नारी! जो तुम अपने इस प्राणहीन पति के संग लेटी हो, वह तुम उठो और इस जीव-लोक की ओर आओ। तुम्हारा पाणिग्रहण करने वाले तथा तुम में गर्भाधान करने वाले तुम्हारे पति का यह एक प्रकार से जन्म ही है।

इस कर्म से यह स्पष्ट है कि यद्यपि अथर्ववेद में पत्नी के चिता पर चढ़ने के कर्म को 'पुरातन धर्म का अनुपालन' कहा गया है[7] तो भी अगले ही मन्त्र में उसे

---

१. आग्नि० गृ० ३,४,२; वै० गृ० ५,३; बौ० पि० सू० ३,२।

२. वै० गृ० सू० ५,३।

३. बौ० पि० सू० २, ६।

४. कौ० सू० ८०, ४४; आग्नि० गृ० सू० ३, ५, ६। बौधायन के अनुसार पत्नी को शव के वामपार्श्व में लेटना चाहिये। आश्वलायन के अनुसार उसे उत्तर की ओर लिटाना चाहिये।

५. अथर्व० १८,३,१।

६. ऋग्० १०,१८,८; अथर्व० १८, ३, २; विनियोगार्थ द्र. तै० आर० ६, १, ३; शां० श्रौ० सू० १६,१३,१३।

७. अथर्व० १८,३,१।

चिता से उठा कर पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके धनसम्पत्ति को भोगने की प्रेरणा दी गयी है। अतः सती की प्रथा 'पुराने' समय में चाहे प्रचलित रही हो, वैदिक काल में देवर के साथ पुनर्विवाह का प्रचलन हो चुका था, जो पश्चाद्वर्ती युग में पुनः समाप्त कर दिया गया।

श्रेडर के अनुसार प्राचीनकाल में मृत व्यक्ति को प्राप्त उपहार शव के साथ गाड़ या जला दिये जाते थे, जिनमें भोजन, शस्त्र, वस्त्र, घरेलू पशु आदि होते थे। कभी-कभी दास-दासियां भी मृतक के साथ ही जला या गाड़ दी जाती थीं। इसे ही अथर्व० में 'पुराण धर्म' कहा गया है[1]।

शव के चिता पर रखने के उपरान्त ब्राह्मण के शव के हाथ में स्वर्ण-पिण्ड, क्षत्रिय के हाथ में धनुष तथा वैश्य के हाथ में मणि रखनी चाहिये[2]। या धनुष क्षत्रिय के उत्तर की ओर रखने की प्रथा थी[3], जो दाह से पूर्व उसके पास से लेकर ज्येष्ठ पुत्र को दे दिये जाते थे। धनुष को तोड़कर फेंक देने की प्रथा का भी उल्लेख है[4]। स्वर्ण-पिण्ड पत्नी को भी दिया जा सकता था। मृतक की ज्ञानेन्द्रियों पर स्वर्ण-शकल रखने की प्रथा भी थी[5]। कर्ता द्वारा जलपूर्ण कुम्भ को तीन बार धीरे-धीरे ठोकने तथा प्रत्येक बार उसमें से बहने वाली जल की धारा के अभिमन्त्रण का विधान भी किया गया है[6]। खप्परों के अवशिष्ट जल को मृतक की ज्ञानेन्द्रियों के विवरों में डाला जाता था[7]। कर्ता द्वारा मृतक के मुख में दही, चावल और तिल की आहुति डाली जाती थी[8]। मृतक के शरीर के विभिन्न

---

१. आर्यन रिलिजन, एन्साईक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, भाग २, पृ० ११-५७; इण्डोजर्मन १४६; कीथ ने अथर्व० १८, ४, ३१ में मृतक को परलोकार्थ वस्त्र-प्रदान करने का सङ्केत ग्रहण किया हैं (वै० ध० द० पृ० ५२७)। यद्यपि इसका विनियोग शव को कफन पहनाने के लिए माना गया है। किन्तु आज भी मृतक को पहुँचाने के विचार से ही अन्त्य कर्म में वस्त्रादि अनेक उपयोगी वस्तुएँ दान दी जाती हैं। इस विषय में द्र. वेदिक इण्डैक्स, १, ४८८-८९; फाइस्त, कुल्तूर देर इन्दो जर्मानन पृ० ३११।

२. बौ० पि० सू० १, ८, ३-५।

३. आश्व० गृ० सू० ४,२,१७।

४. आश्व० गृ० सू० ४,२,२२।

५. वै० गृ० सू० ५, ३।

६. आग्नि० गृ० सू० ३,४,३; वै० गृ० सू० ५, ५।

७. वै० गृ० सू० ५, ५; आग्नि० गृ० सू० ३,४,३।

८. आग्नि० गृ० सू० ३,४,१।

अंगों, मुख, वृक्काओं, कानों, नासारन्ध्रों आदि तथा अस्थियों को विभिन्न मन्त्रों से अभिमन्त्रण का विधान किया गया है[1]।

आहिताग्नि ब्राह्मण के विविध अंगों पर विविध यज्ञोपकरणों को स्थापित किया जाता था[2]। तदनन्तर **अनुस्तरणी** (गौ या बकरी) के शरीर के विभिन्न अंगों को शव के विभिन्न अंगों पर स्थापित किया जाता था। वपा को मृतक के सिर तथा मुख पर[3], वृक्काओं को दोनों हाथों में तथा अनुस्तरणी के विभिन्न अंगों को शव के विभिन्न अनुरूप अंगों पर रखने का विधान है[4]। सभी अंगों को चर्म से आच्छादित किया जाता था[5]। यदि कोई विशेष घटना घट जाए तो तीन वार चिता की प्रदक्षिणा कराके मन्त्रपूत[6] करके **अनुस्तरणी** मुक्त कर दी जाती थी। ओल्डनवर्ग के मतानुसार दाह के समय गौ या वकरी की वलि देने के पीछे स्थानापन्नता का भाव निहित है। अग्नि गोचर्म या अजाचर्म को भस्म कर डालता है तथा आच्छन्न शव को बचा लेता है[7]।

ऋग्वेद के समय में सम्भव है कि यह विचार किसी प्रकार संगत सिद्ध किये भी जा सकते हों, किन्तु सूत्रकाल में उपर्युक्त वलि भावी लोक में मृतक की सहायता एवं मार्गदर्शन के उद्देश्य से दी जाती थी, जैसा कि **अनुस्तरणी** तथा **वैतरणी** शब्दों से द्योतित होता है, जो क्रमशः 'ढकने वाली' तथा 'तारने वाली' अर्थों के द्योतक हैं, तथा 'गौ' एवं 'नदी' के बोधक हैं। मर्त्यलोक तथा यमलोक के मध्य में बहती हुई तथाकथित नदी का नाम **वैतरणी** है। उसे पार करने में सहायक गौ **अनुस्तरणी** कहलाने लगी[8]। गौ के अतिरिक्त 'अग्नि के भाग' बकरे को भी चिता के दक्षिण में इस प्रकार बांधने का निर्देश है कि वह जल जाए[9]। कीथ

---

१. आग्नि० गृ० सू० ३,४,१; वै० गृ० सू० ५,५।

२. आश्व० गृ० सू० ४,३,१-१८।

३. सात छिद्रों वाली वपा होनी चाहिये कौ० सू० ८१,२५; तै० आर० (६, १, ४) के अनुसार वपा को समस्त शरीर पर रखना चाहिये; शां० श्रौ० सू० ४,१४,१७।

४. आश्व० गृ० सू० ४,३,१९-२४।

५. वही, २४।

६. ऋग्० ८,१०१,१५।

७. 'रिलि० देस् वे०, ५८७-८८; यह धारणा ऋग्० १०,१६,४ पर आधृत हैं।

८. **अनुतीर्यते वैतरणी नदी अनया,** ✓तृ+करणे ल्युट्, पृषो० सुट् (वाचस्पत्यम्)। 'वैतरणी' का प्रयोग 'अनुस्तरणी' के अर्थ में कभी नहीं किया गया, किन्तु द्र. राजवली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ० ३११।

९. **यथा दह्यते तथा बन्धनं कार्यं, मोचनं न कर्तव्यम्। तथा च माहाकिराचार्यः—'अजो हन्यते दह्यते एकाग्नि-प्रेतशरीर-वहने',** इति (सा०, अथर्व० १८,२, भूमिका)।

का यह कथन कहां तक प्रामाणिक है कि 'वकरे को चिता के साथ इतनी ढील देकर बांधा जाता था कि वह आसानी से रस्सी तोड़ सके'[1] ? अश्वमेधीय वकरे के समान ही यह भी संभवत: मार्ग-दर्शनार्थ ही मृतक के शव के साथ जलाया जाता था। कौ० सू० (८१, १९) में अथर्व० १८, २, ८ तथा १८, २, २२ का यही विनियोग दिया गया है।

तदनन्तर **दक्षिणाग्नि** में अग्नि, काम, लोक तथा अनुमति को चार आहुतियां तथा पांचवीं मृतक के वक्ष:स्थल पर देने का विधान है[2], तदनन्तर चिता में आग देने के लिए **आहवनीय, दक्षिण** तथा **गार्हपत्य** अग्नियों का प्रयोग आहिताग्नि के लिए किया जाता था। **सभ्य** तथा **आवसथ्य** अग्नियों के द्वारा एक साथ चिता प्रज्वलित की जाती थी[3] या पांचों अग्नियों को एक साथ प्रज्वलित किया जाता था। इनमें से शव तक प्रथम पहुँचने वाली अग्नि के अनुसार मृतक की भावी गति का अनुमान लगाया जाता था[4]। चिता के प्रदीप्त हो जाने पर यम-सूक्तों के मन्त्रसमूह के उच्चारण का विधान है[5]। कौ० सू० (८१, ३४-३९) में **यम-आहुतियां** अर्पित करने का निर्देश है। इनके अतिरिक्त अनेक मन्त्रों के उच्चारण का भी विधान है[6]। तदनन्तर **सारस्वत**[7] **आहुतियां** तथा मृतक के सम्बन्धियों द्वारा **अनुस्थानी**[8] मन्त्रों से मृतक की उपासना करने की प्रथा थी। आहिताग्नि को उपासना अथर्व० १८, ४, १-१५ से करनी चाहिये[9]। वै० गृ० सू० (५, ५) के अनुसार चिता प्रज्वलित होने के पश्चात् **हृदय-मन्त्रों**[10] का पाठ करना चाहिये। तथा किसी यज्ञोपवीती को तै० सं० (१, ६, ११) से तर्पण करना चाहिये[11]। एक प्रथा के

---

१. वै० ध० द०, पृ० ५२२ ; तु. वही पृ० ५२८ ; टि० ३।

२. आश्व० गृ० सू० ४, ३, २५-२६ ; कौ० सू० ८१,३०।

३. आग्नि० गृ० सू० ३, ४, ४; वै० गृ० सू० ५, ५।

४. आश्व० गृ० सू० ४, ४, १-५।

५. आश्व० गृ० सू० ४, ४, ६।

६. अथर्व० १८, १, ४९-५१ ; ५८-६१ ; १८,३,१३; २, ४९-५९।

७. अथर्व० १८, १, ४१-४३; ७,६८,१-२; १८,३, २५।

८. अथर्व० १८, २, ४-१८ (१०म के अतिरिक्त) ; द्र. तै० आर० ६, ३, १-२; कौ० सू० ८१, ४४।

९. कौ० सू० ८१, ४५।

१०. तै० आर० ३, ११ में निर्दिष्ट।

११. वै० गृ० सू० ५, ५; आग्नि० गृ० सू० ३,४,४।

अनुसार कर्ता चिता के उत्तर में तीन गढ़े खोदता था तथा उन्हें कंकड़ों तथा बालू से चिह्नित करके विषम-संख्यक घड़ों में लाये हुए पानी से भर देता था। शव-यात्रा में सम्मिलित व्यक्तियों की शुद्धि के लिए इन में स्नान किया जाता था।

आश्व० गृ० सू० (४, ४, ८) के अनुसार **आहवनीय** अग्नि से उत्तर-पूर्व की ओर एक गढ़ा जानुमात्र गहरा खोदा जाता था। उसी में से निकल कर धुएं के साथ वह मृतक स्वर्ग लोक को जाता है। ए० हिल्लेब्राण्ट के अनुसार 'यह एक प्राचीन अन्धविश्वास है, जिसका वास्तविक उद्देश्य अग्नि के ताप को शीतल करना था'[1]। वै० गृ० सू० (५, ६) तथा आग्नि० गृ० सू० (३, ४, ४) के अनुसार दाह-क्रिया के पश्चात् तीन मन्त्रों (ऋग्० १०, ५०, १; १०; ११५, १) से सूर्योपासना करनी चाहिये, तथा श्मशान से विदा लेनी चाहिये[2]। विदाई का मन्त्र अर्थपूर्ण है—

......प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः[3] ॥

'हम पूर्व की ओर नाचने-हंसने के लिये अतिदीर्घ आयु को धारण करते हुए जा रहे हैं'। तदनन्तर बाएं घूम कर पीछे देखे बिना श्मशान से सभी चल देते हैं। आश्व० गृ० सू० (४, ४, १०) के अनुसार सभी लोग स्थिर जल वाले स्थान में एक बार स्नान करते हैं। तथा दक्षिणाभिमुख होकर मृतक को जलाञ्जलि प्रदान करते हैं। अन्य वस्त्र-धारण करके गीले वस्त्रों को केवल एक बार निचोड़ कर उदगग्र करके सूखने के लिये फैला कर नक्षत्र-दर्शन पर्यन्त वहीं बैठे रहते हैं[4]। तथा शोकार्तों को सान्त्वना देने एवं उत्तम कथाएं कहने में समय व्यतीत करते हैं। घर लौट कर पत्थर, अग्नि, गोबर, अक्षत, श्वेत सरसों तथा तेल को स्पर्श करके घर में प्रवेश करते हैं[5]। रात्रि को अन्न नहीं पकाना चाहिये[6] तीन रात्रि पर्यन्त सभी निकट-सम्बन्धी क्षार-लवण रहित भोजन करें, तथा दस दिन पर्यन्त दान तथा अध्ययन नहीं करना चाहिये[7]। भूमि पर सोना चाहिये। ब्रह्मचर्य का पालन

---

१. इ० आर० इ० पृ० ४७५ तथा आगे।
२. आश्व० गृ० सू० ४, ४, ९।
३. ऋग्० १०,१८, ३; द्र. कौ० सू० ८६, २१।
४. इस विषय में अनेक मतमतान्तर हैं। द्र. आग्नि० गृ० सू० ३,४, ४; पा० गृ० सू० ३, १०, १३; ३५।
५. आश्व० गृ० सू० वही, १३; अन्य विधि के लिये द्र. पा० गृ० सू० ३,१०, २४।
६. आश्व० गृ० सू० ४,४, १४।
७. वही, ४, ४, १६-१८।

करना चाहिये। कीथ[1] तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार[2] इन कर्मों का 'उद्देश्य किसी न किसी प्रकार से उस संकट को हटा देना है, जिसे मृत्यु सगे-सम्बन्धियों के पास लायी है, और यह भावना कि मृतक का प्रेत समीप ही विद्यमान है, सुव्यक्त है'। किन्तु यह सर्वथा भ्रान्त विचार है। यह तो प्राचीन आर्यों के व्रतों की सामान्य प्रक्रिया है। मृतक की अन्त्येष्टि के समय इस व्रत की कोई विशेषता नहीं है जिसके विशेष अर्थ लगाए जायें।

अशौच :—

अन्त्येष्टि कर्म से लौटे हुए सम्बन्धी ही नहीं, अन्य लोग – यथा सम्पूर्ण परिवार, सम्पूर्ण कुल, सम्पूर्ण जन, सम्पूर्ण ग्राम ही नहीं, उनके खेत, यदा कदा आकाश और स्वर्ग तक अशुद्ध तथा अपवित्र माने जाते थे[3]। अशौच का काल और क्षेत्र मृतक की जाति, आयु और लिंग भेद से भिन्न-भिन्न होती है। किन्तु गृह्यसूत्रों के अनुसार साधारण अवधि दस दिन की होती है[4], किन्तु वैश्यों के विषय में १५ दिन तथा शूद्रों के लिये ३० दिन तक अशौच माना जाता है[5]।

जयराम ने अपनी व्याख्या में एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार अग्निहोत्री वेदाध्यायी ब्राह्मण एक दिन में शुद्ध हो जाता है। केवल वेदाध्यायी तीन दिन में तथा दोनों से वञ्चित व्यक्ति दस दिन में शुद्ध होता है।

परवर्ती स्मृतियों में ऋत्विक्, यज्ञ में दीक्षित, दीर्घसत्र के अनुष्ठान करने वाले, ब्रह्मचारी, ब्रह्मवेत्ता, वैद्य, शिल्पी, दासी-दास, नापित, राजा तथा श्रोत्रिय ये सभी तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं[6]।

गृह्यसूत्रों के अनुसार भी दो वर्ष से कम आयु के शिशु की मृत्यु पर केवल उसके माता-पिता को ही एक या तीन रात्रि पर्यन्त अशौच लगता है, कुल या परिवार के अन्य सदस्यों को नहीं[7]। पश्चात्कालिक स्मृतियों में अशौच को बहुत

---

१. वै० ध० द० पृ० ५२३।

२. वही, टि० ६।

३. तु. ई० एस०, हार्टलैण्ड, इ० आर० इ० भाग ४, पृ० ४१८।

४. पा० गृ० सू० ३,१०, २९-३०।

५. पा० गृ० सू० ३,१०, ३८; वै० गृ० सू० (५, ७) के अनुसार माता पिता के मरण पर पुत्र को एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने तथा पुराने वस्त्र पहनने का निर्देश है।

६. परा० स्मृ० ३, २१-२२; २८।

७. पा० गृ० सू० ३, १०, २-३।

अधिक विस्तृत तथा व्यापक बना दिया गया है[1]। गृह्यसूत्रों में लिंग-भेद से अशौच-अवधि-भेद की चर्चा नहीं की गयी, किन्तु स्मृतियों में यह भेद भी किया गया है[2]। गृह्यसूत्रों में तो मित्रों तथा सम्बन्धियों के लिए अशौच के नियम ऐच्छिक हैं[3]। किन्तु धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में इन्हें इनके लिए अनिवार्य कर दिया गया है[4]।

श्मशान से लौट कर रात्रि को किसी मृत्पात्र में मृतक के लिए खुले आकाश में दूध तथा जल रखने का विधान है[5], जिससे मृतक की आत्मा के समीपस्थ ही होने का विश्वास प्रकट होता है।

कृष्ण पक्ष की एकादशी, त्रयोदशी अथवा पञ्चदशी को अस्थिचयन करना चाहिये[6]। बौधायन के मतानुसार दाह के तृतीय, पञ्चम अथवा सप्तम दिन अस्थिचयन करना चाहिये[7]। वै० गृ० सू० चतुर्थ दिन सञ्चयन का निर्देश करता है[8]। आश्व० गृ० सू० (४, ५, ४) के अनुसार सर्वप्रथम दुग्ध-मिश्रित जल से शमी-शाखा के द्वारा शवदाह स्थल पर अभिषिञ्चन करना चाहिये। तथा ऋग्० १०, १६ १४ का पाठ करते हुए दाहस्थल की परिक्रमा करनी चाहिये। इस मन्त्र में मेंढ़की से मृतक के संयुक्त होने की बात कही गयी है। सम्भवतः मेंढ़की का भी इस कार्य के लिए प्रयोग होता था[9]। तथा अस्थियों को पृथक् करने के लिए उदुम्बर के दण्ड से उन्हें हटाना चाहिये तथा राख को एकत्र करके दक्षिण दिशा में फेंक देना चाहिये। तैत्तिरीयों के अनुसार अस्थिसञ्चय मुख्य रूप से मृतक की प्रधान पत्नी करती थी। स्त्रियों को अपने बाएं हाथ में बृहती पौधे का फल, एक

---

१. जयराम, पा० गृ० सू० ३, १०, २-५ पर व्याख्या में उद्धृत श्लोक; किन्तु द्र. मनु० ५, ७०।

२. या० स्मृ० ३, २३; तथा ३, २० पर विज्ञानेश्वर।

३. पा० गृ० सू० ३, १०, ४६-४७।

४. आप० ध० सू० १, ६; यह भेद कालभेद पर आश्रित न होकर परम्पराभेद पर आधृत मानना होगा, क्योंकि आप ध० सू०, पा० गृ० सू० से कालक्रम में प्राचीनतर है।

५. पा० गृ० सू० ३, १०, २८।

६. आश्व० गृ० सू० ४,५,१।

७. बौ० पि० सू० १, १४, १।

८. इस विषय में मतभेद होते हुए भी प्रायः दसवें दिन का विधान है। द्र. कैलण्ड, तोयद्तेन्गेब्राउखे, पृ० ८१-८४।

९. ऋग्० १०, १६, १४; द्र. सायण, अथर्व० १८, ३, ६० **'मण्डूकस्य स्त्री मण्डूकी, यद्वा मण्डूकपर्णाख्यया ओषध्या'** द्र. कौ० सू० ८२, २६, किन्तु ऋग्० १०, १६, १४ पर सा० **'मण्डूक्या मण्डूकस्त्रिया वृष्टिप्रियया'**।

काले, नीले और लाल रंग के धागे से बांध कर, पत्थर पर बैठ कर, हाथों को अपामार्गादिक से एक बार धोकर, तथा नेत्रों को मूंद कर, बाएं हाथ से अस्थि-सञ्चय करना चाहिये[1]।

कौ० सू० (८२, ३२) से प्रतीत होता है कि अस्थियों का सञ्चय एक कलश में किया जाता था, जिसे वृक्ष के मूल में गाड़ दिया जाता था। इस अवसर पर विनियुक्त मन्त्र मृतक को पितृलोक को सिधारने को कहता है—

मा त्वा वृक्षः सम्बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु[2]॥

'न तो यह वृक्ष, न ही यह विशाल पृथ्वी देवी तुम्हें बाधित करे। जिनका राजा यम है ऐसे पितरों के लोक को प्राप्त करके तुम फलो-फूलो' (एधस्व)। एक ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि पुरुष की अस्थियां पुरुष-जातीय पात्र में, जिसे **अलक्षण** ('स्तन रहित'—गार्ग्य नारायण) कहा गया है, तथा स्त्री की अस्थियां स्त्री-जातीय पात्र में रखनी चाहियें[3]। अस्थिचयन विषमसंख्यक वयोवृद्ध व्यक्तियों द्वारा, जिनमें स्त्री तथा पुरुष एक साथ न हों, अंगूठे तथा अनामिका से चुपचाप करने की प्रथा का भी उल्लेख है तथा पैरों से आरम्भ करके सिर की अस्थियां अन्त में चुनने का निर्देश है[4]। इन्हें छलनी में छान कर, पात्र में रख कर, उस पात्र को एक ऐसे गढ़े में गाड़ने का निर्देश भी किया गया है, जहां वर्षा के जल के सिवा और जल न आता हो[5]।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मृतक के लिए एक स्मारक खड़ा किया जाता था। यह मृत्यु के पश्चात् तब किया जाता था, जबकि उसकी मृत्यु का वर्ष भी विस्मृत हो चुका हो[6]। अस्थियों को गढ़े या वृक्ष की जड़ में से निकाला जाता था। इस समय अथर्व० (१८, ३, ७०) पढ़ा जाता था—

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि। यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन्[7]।

---

१. बौ० पि० सू० १,१४,६।
२. अथर्व० १८, २, २५; द्र. आश्व० गृ० सू० ४,५,७ तथा विनियुक्त मन्त्र ऋग्० १०, १८, १०।
३. आश्व० गृ० सू० ४, ५, २।
४. वही, ४, ५, ४।
५. वही ४,५,५।
६. द्र. एगिलग, श० ब्रा० १३, ८, १, २; टि० २; का० श्रौ० सू० २१, ३, १।
७. कौ० सू० ८३, १९।

'हे वनस्पते (वृक्ष) यह जो तुझ में (तेरे पास) रखा हुआ है, इसे लौटा दे ताकि यह यमलोक में स्तुतियां करता हुआ (अथवा कर्मों के विषय में बताता हुआ) बैठ सके'।

कीथ[१] तथा ह्विट्ने[२] का सुझाव यह है कि यह मन्त्र वस्तुतः मौलिक शवाधान का द्योतक है, दाह के अनन्तर गाड़ी गयी अस्थियों की ओर सङ्केत नहीं करता। मन्त्र के शब्दों से दोनों प्रकार के अर्थ लगाये जा सकते हैं, तो भी कर्मकाण्डीय परम्परा के अनुसार इसका विनियोग दाह के अनन्तर गाड़े गये फूलों के निकालने में ही होता है। यदि अस्थियां न भी मिलें तो भी कृत्य किया जाता है। जल के किनारे एक वस्त्र बिछाया जाता है; उस वस्त्र पर आकर बैठ जाने वाले किसी भी जन्तु को मृतक का प्रतिनिधि मान लिया जाता है[३]। अन्यथा उस स्थान की धूलि से ही काम निकाल लिया जाता है। इस रात्रि को अनेक कृत्य किये जाते हैं। स्त्रियां रोती तथा बाल खोल कर छाती पीटती रहती हैं, तथा रात्रि में तीन बार अस्थियों के चारों ओर स्यापा करती हैं। वीणा-वादन तथा पुराने जूते को खाली पात्र पर पीट कर या अन्य प्रकार से शब्द करके (जो भूत भगाने के लिए किया जाता है), प्रातः अस्थियों को छत्री (श्मशान) के स्थान पर ले जाया जाता है, जो ग्राम से ओझल सघन पेड़ों में स्थित होता है, जहां मान्यता के अनुसार पेड़ों की जड़ों में पितर सरक कर आ जाते हैं,[४] एक गढ़ा खोदा जाता है, अथवा हल चला कर उसमें सब प्रकार के बीज बोये जाते हैं। अस्थियों को वहां एकत्र करके गढ़े को पत्थरों तथा मिट्टी से ढक दिया जाता है। इस में मृतक के खाने के लिये बीज बो दिये जाते हैं।

यदि छत्री न बनायी जाये, तो अस्थिकलश को किसी ढक्कन से ढक देना चाहिये[५]। अस्थिसञ्चय की तृतीय रात्रि में कर्ता को यम के लिए स्थालीपाक आहुतियों देनी चाहियें[६]।

---

१. वै० ध० द० पृ० ५२५।

२. अथर्व० अनुवाद, टि० ; इसके अनुसार तो यह मन्त्र वृक्ष की खोह में स्थापित शव की ओर संकेत करता है।

३. कौ० सू० ८३,२२; यूनानी धर्म में सामान्यतः इस प्रकार के कीटाणु को मृतक की आत्मा का वाहन माना जाता था (कुक, जीयस, भाग १, ५३२)।

४. कौ० सू० ८४, ९ ; का० श्रौ० सू० २१,३, ७।

५. आश्व० गृ० सू० ४, ५, १० ; ऋग्० १०,१८,१३ ; अथर्व० १८,३,५२।

६. कौ० सू० ८२, ३६ ; ३७ ; अथर्व० १८,३,६१,६२।

सूत्र-युग के पश्चात् अस्थियों के इस प्रकार गाड़ने की प्रथा समाप्त हो गयी। अस्थियों का प्रवाह समीपस्थ नदियों में होने लगा[1]। तदनन्तर किया जाने वाला महत्त्वपूर्ण कृत्य **शान्तिकर्म** कहा जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य मृत्युञ्जय, दुष्प्रभावों का निवारण तथा सामान्य जीवन में लौट आने के प्रभावशाली उपाय करना है। इसके लिए क्रव्याद् (पुरातन) अग्नि का निष्कासन तथा नवीन अग्नि का आधान किया जाता है। यह कर्म पिता के मरण पर ज्येष्ठ पुत्र को करना चाहिये[2]। सूर्योदय से पूर्व ही पात्र तथा भस्म-सहित अग्नि को निम्नलिखित मन्त्रार्ध से दक्षिण दिशा की ओर ले जाना चाहिये[3]।

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः। (ऋग्० १०,१६,९)

'शव-मांस को खाने वाले अग्नि को मैं दूर भेजता हूँ। अमेध्य शरीर का वाहक वह अग्नि, राजा यम के लोक को चला जावे'[4]।

उस अग्नि को चतुष्पथ पर रख कर विना पीछे देखे घर लौट आना चाहिये तथा नवीन अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिये[5], इसके लिए बड़े सार्थक मन्त्र का विनियोग किया गया है—

इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्।

'इसी स्थल पर यह सब जानता हुआ दूसरा अग्नि देवताओं के लिए हव्य ले जावे[6]'।

इस मन्त्र से स्पष्ट है कि यह कर्म ऋग्वेद काल में भी प्रचलित था। कौ० सू०, मा० गृ० सू० तथा काठ० गृ० सू० में इस सम्पूर्ण मन्त्र का विनियोग पुराने अग्नि को ले जाने के लिए किया गया है[7]। अथर्व० (१२, २, १०) में क्रव्याद् अग्नि से पितृयाण से पितरों के पास जाने तथा देवयान से वापस न लौटने के लिए प्रार्थना की गयी है।

---

१. द्र० हरिहर कृत अन्त्येष्टि पद्धति, पा० गृ० सू० ३,१०; तथा जयराम-कृत व्याख्या।

२. आश्व० गृ० सू० ४, ६, २।

३. वही, २।

४. अथर्व० १२,२,८; कौ० सू० ७१, १२; तथा अथर्व० १२,२,४ (कौ० सू० ७१,६)।

५. आश्व० गृ० सू० ४,६,५।

६. ऋग्० १०,१६, ९; द्र० अथर्व० १२, २, ८ तथा वा० सं० ३५, १९।

७. कौ० सू० ७१, १२; मा० गृ० सू० २,१,८; काठ० गृ०सू० ४५,६ ; तु० अथर्व० १२, २, ९-१०, **मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम्।**

सन्ध्या के समय सब के सो जाने तथा वातावरण के निश्शब्द हो जाने पर मन्त्रोच्चारण पूर्वक दक्षिण कपाट से जल की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित करने का निर्देश है[1]।

तदनन्तर कर्ता को परिवार के सभी लोगों को एक ऋषभ-चर्म पर मन्त्रपूर्वक चढ़ाना चाहिये[2] तथा अग्नि के चारों ओर परिधि-समिदाधान करके अग्नि के उत्तर की ओर एक शिला रखनी चाहिये[3]। तदनन्तर चार मन्त्रों से (ऋग्० १०, १८, १-४) चार आहुतियां देने का निर्देश है[4]। जिनमें मृत्यु को अन्यत्र जाने तथा अपने परिवार से मृत्यु के चरण-चिह्नों को मिटाते हुए सन्तति, समृद्धि-संयुक्त तथा शुद्ध-पवित्र जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी गयी है[5]।

अब महिलायें नेत्रों में अञ्जन लगाती हैं[6]। कर्ता अग्नि के निकट स्थापित शिला का स्पर्श करता है। इस अवसर पर उच्चार्य मन्त्र (ऋग्० १०, ५३, ८) से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका विनियोग इस अवसर पर प्राग्-गृह्यकाल से चला आ रहा था।

तदनन्तर परिवार के सभी सदस्यों को अपने हाथ में अग्नि तथा बैल का गोबर लेकर प्रज्वलित अग्नि की परिक्रमा करते हुए जल की अविच्छिन्न धारा को **आपोहिष्ठीय** (ऋग्० १०, ९, १-३) मन्त्रों से **प्रवाहित** करना चाहिये[7]। सूर्योदय

---

१. आश्व० गृ० सू० ४,६,७; ऋग्० १०, ५३,६; तै० सं० ३, ४,२,२; ३,६; काठ० सं० १३, ११।

२. आश्व० गृ० सू० ४,६,८।

३. आश्व० गृ० सू० ४,६,९।

४. वही, ४,६,१०।

५. मा० गृ० सू० (२,१,१३) तथा काठ० गृ० सू० (४५,८) के अनुसार पुरानी अग्नि को त्याग कर आते हुए सम्बन्धियों को शमीशाखा से अपने पदचिन्हों को मिटा देना चाहिये। जो प्रतीक रूप में मृत्यु के पदचिन्हों का मिटाना (**योपयन्त: या लोपयन्त:**) है।

६. कौ० सू० ७२, ११।

७. आश्व० गृ० सू० ४, ६, १४।

के पश्चात् उन्हें सौर्य[1] तथा **स्वस्त्ययन**[2] सूक्तों का पाठ करना चाहिये। तथा ऋग्० १, ९७ से अग्नि में अन्न की आहुतियां देनी चाहियें। तथा उसी अन्न को ब्रह्मभोज में प्रयुक्त करना चाहिये तथा ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर विदा करना चाहिये[3]।

इस शान्तिकर्म के पश्चात् **एकोद्दिष्ट** श्राद्ध का विधान है। अनेक प्रकार के उद्देश्यों से अनेक प्रकार के श्राद्धों का विस्तृत वर्णन सूत्रों में किया गया है। इनका विवरण आगे दिया जायेगा।

---

१. ऋग्० १०,१५८; १,५०, १-९; १,११५; तथा १०, ३७।

२. ऋग्० १, ८९; ५,५१, ११-१५; १०,६३ (नारायण)। आप्टे के अनुसार परम्परा में इन्हें स्वस्त्ययन मन्त्र मानने में कोई प्रमाण नहीं। बृ० दे० ७,९०; ८, ७७; ८७ तथा सर्वानु० में ऋग्० १, १८५; १७८, तथा ५७ को स्वस्त्ययन सूक्त माना गया है। ऋग्-विधान में (४,२३, २-३) में यह संज्ञा इन में से प्रथम दो सूक्तों को दी गई है। ऐ० ब्रा० (४,२९) में केवल द्वितीय सूक्त को ही स्वस्त्ययन का नाम दिया गया है। नारायण का मत इस से भिन्न है (द्र. कृष्णलाल, गृह्य मन्त्र और उनका विनियोग, पृ० ४६१ तथा वी. एम. आप्टे, ऋग्० मन्त्रज इन दि आश्व० गृ० पृ० २७)।

३. आश्व० गृ० सू० ४,६, १८।

चतुर्विंश अध्याय

श्राद्ध

भारोपीय जातियों में पितृपूजा की प्रथा अत्यन्त प्राचीनकाल में प्रचलित थी। किन्तु इस पूजा के प्रकार में अवश्य भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पूर्व इसके कि हम इस पूजा-पद्धति पर दृष्टिपात करें, यह जान लेना उपयोगी होगा कि मरणोपरान्त पितर लोग कहां जाते हैं, जीवित लोग उन्हें किस रूप में कल्पित करते हैं, अन्त्येष्टि-क्रिया के उपरान्त किस प्रकार की पूजा का कहां विधान किया गया है।

मरणोपरान्त जीवात्मा कहां जाते हैं, इस विषय में भारोपीय लोगों में अनेक वैमत्य पाये जाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार तो वे एक विशेष स्थान, पितृलोक, में चले जाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार वे यहीं पृथ्वीलोक में विहित कर्मों के अनुरूप स्वर्ग या नरक में पहुंचा दिये जाते हैं। तृतीय के मन्तव्य के अनुसार वे अपने अच्छे बुरे कर्मों के अनुरूप नवीन योनि में जन्म ग्रहण कर लेते हैं[१]।

पितरों के पृथ्वी पर ही निवास की धारणा सर्वप्राचीन प्रतीत होती है[२]। भारतीय यमलोक, ईरानी यिम-लोक यूनानी एइडेइस का संसार, रोमन ओर्कस (Orcus), गॉथिक हल्जा (Halja), प्राचीन नॉर्स (Norse) हेॅल (Hel), एंग्लो सेक्सन हेॅल (Hell), प्राचीन उच्च जर्मन हेॅल्ला (Hella) सभी अपने अपने पर्यावरण के अनुसार विकसित हुए हैं।

श्वेत रूस निवासी मानते थे कि प्रेतात्मा तुरन्त अपने लौक को न जाकर ४० दिनों तक अपने घर के ही आस-पास चक्कर काटता रहता है। तथा उसके लिए दिये अन्न-जल का भोग करता रहता है[३]। भारत में भी नव श्राद्ध, पिण्डदान, उदकदान के पीछे यही मान्यता काम करती प्रतीत होती है। पितरों की पंक्ति में सम्मिलित होने के लिए १२ दिन या तीन पक्ष (४५ दिन) या एक वर्ष का समय निश्चित किया गया है। दोनों मन्तव्यों का साम्य ध्यान देने योग्य है।

---

१. Vulliamy, C. E., *Immortal Man*, P. 11.

२. Schrader, O., *Aryan Religion* in ERE, Vol. II, P. 30.

३. P. V. Sejn., *Materials, for.., Russian Population*, P. 534.

श्वेतरूस में विशेष अवसरों पर पितरों का सम्मान-पूर्वक स्मरण किया जाता था तथा अपनी सुख-समृद्धि के लिए प्रार्थना की जाती थी[१]। भारतीय पिण्डपितृयज्ञ में भी इसी प्रकार की प्रार्थनाएं विहित हैं[२]। तथा पुत्र-प्राप्ति की इच्छा व्यक्त की जाती है[३]।

यद्यपि सामान्यतः पितरों को सहायक तथा दयालु माना जाता था, तो भी उपहार आदि देने में किसी प्रकार की त्रुटि की अवस्था में उनके क्रुद्ध हो जाने का भय भी व्याप्त रहता था। ऋग्वेद में पितरों से क्षमा-याचना करते हुए कहा गया है—

मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम।

(१०, १५, ६)

हे पितरो ! यदि मनुष्य-स्वभाव के कारण हमने आपके प्रति कोई अपराध किया हो तो हमारी हिंसा न कीजिए।'

श्राद्ध के अवसर पर यजमान प्रार्थना करता है, 'हे पितरो ! आप मेरे प्रति कठोर मत हों'। श्वेत रूस में भी पितृ-भोज के अवसर पर ऐसी ही भय की भावना के कारण पितरों से क्षमा याचना की जाती थी[४]। यूनानियों में भी इसी प्रकार की भावना विद्यमान थी।

इस प्रकार पितरों के निमित्त प्रदीयमान भोजन, वस्त्र आदि की समस्त प्रक्रिया का व्यवहार 'श्राद्ध' शब्द से किया जाने लगा। यद्यपि ऋग्वेद में पितृ-पूजा सम्बन्धी-अनेक सङ्केत पाये जाते हैं, तो भी 'श्राद्ध' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया।

ब्राह्मणग्रन्थों में 'पिण्डपितृयज्ञ' तथा 'महापितृयज्ञ' शब्दों से पितरों के निमित्त किये गये सम्मान तथा भोजन आदि खिलाने का स्पष्ट विधान किया गया है, वहां भी पश्चात्कालिक प्रक्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती। वस्तुतः आरम्भ में 'श्राद्ध' पद से 'दिव्य पितरों, देवताओं, ऋषियों, अपने पितरों तथा मनुष्यों को श्रद्धा पूर्वक दिये सम्मान, भोजन आदि, का अभिप्राय व्यक्त होता था। किन्तु बाद में केवल पितरों के निमित्त दिये गए पदार्थों के लिए ही इस पद का प्रयोग होने लगा[५]।

---

१. P.V. Sejn, loc cit, P. 593.

२. मै० सं० १,१०, ३,१३-१४।

३. **मध्यमं पिण्डं पुत्रकामा प्राशयेदाधत्तेति।** (गो० गृ० सू० ४,३,३७)।

४. Schrader, O : '*Aryan Religion*', in ERE, Vol. II, P. 24.

५. वीरमित्रोदय, श्राद्धप्रकाश, पृ० ४।

जैसा कि हमने देखा है—पितरों के उद्देश्य से श्रद्धापूर्वक किसी वस्तु या उनसे सम्बद्ध किसी द्रव्य का त्याग 'श्राद्ध' शब्द से अभिहित होता है[1] (याज्ञ० स्मृ० १, २१७ तथा इस पर विज्ञानेश्वर)। इस परिभाषा की व्याख्या करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि 'पितर' या 'पितृ' शब्द का इस सन्दर्भ में क्या अर्थ है।

'पितृ' शब्द का सर्व-विदित अर्थ 'पिता' है, किन्तु 'पितरः' शब्द दो अर्थों का वाचक है—(१) व्यक्ति से पूर्वगत तीन मृत पूर्वज। तथा (२) मानव जाति के आरम्भिक या प्राचीनतम पूर्वज, जिनका अधिष्ठान एक पृथक् लोक माना जाता है। इस द्वितीय अर्थ का आभास ऋग्० (१०, १४, २; ७; १०,१५,२; तथा ९,९७,३९) में मिलता है। ऋग्० १०, ५, १ में पितरों की निम्न, मध्यम एवं उच्च तीन श्रेणियों का उल्लेख किया गया है, तथा उन्हें प्राचीन, पश्चात्-कालीन तथा उच्चतर कहा गया है (ऋग्० १०, १५, २)। वे सभी पितर अग्नि को ज्ञात हैं, यद्यपि अपने वंशजों को ज्ञात नहीं हैं (ऋग्० १० १५, १३)। उन्हें कई श्रेणियों में विभक्त किया गया है—अंगिरस्, वैरूप, अथर्वन्, भृगु, नवग्व एवं दशग्व। ये अन्तिम दो श्रेणियां अंगिरसों की ही हैं[2]। कभी कभी पितर लोग सप्त ऋषियों जैसे माने गये हैं[3]। पितर लोग प्रायः देवों, विशेषतः यम के साथ आनन्द मनाते हैं[4]। वे सोम प्रेमी-होते हैं[5]। कुश पर आसन जमाते हैं[6]। इन्द्र तथा अग्नि के साथ आहुतियां लेने यहां आते हैं[7] या फिर अग्नि उनके पास आहुतियां पहुंचा देता देता है[8]।

शरीर के दाह के पश्चात् मृतात्मा वायव्य शरीर के द्वारा यम तथा पितरों के पास चला जाता है[9]। अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वह उसे पितृलोक

---

१. तु. '**श्रद्धा प्रयोजनमस्येति श्राद्धम् अथवा श्रद्धया यत्क्रियते तच्छ्राद्धम्**' सि० कौ० (पा० ५, १, १०९); '**श्रद्धान्वितः श्राद्धं कुर्वीत शोकेनापि**'। कात्यायन, श्राद्धसूत्र, हेमाद्रि, पृ० १५२।

२. ऋग्० १,६२, ४; ५,३९,१२; १०,६२, ६।

३. ऋग्० १, ६२, ४।

४. ऋग्० ७,७६, ४; १०, १४,१० तथा १०,१५,८-१०।

५. ऋग्० १०, १५, १; ५; तथा ९, ९७,३९।

६. ऋग्० १०, १५, ५।

७. ऋग्० १०, १५, १०; १०,१६, १२।

८. ऋग्० १०,१६, १-२ ; ५=अथर्व० १८,२,१०; ऋग्० १०,१७,३।

९. ऋग्० १०; १४,१; १०,१६,५।

में सत्कर्म वाले पितरों तथा विष्णु के पाद-न्यास पर ले जाए[1]। पितृ-लोक की स्थिति के विषय में वैमत्य पाया जाता है। कहीं तो (ऋग्० १०,६४,३) यमलोक (=पितृलोक) की स्थिति 'द्युलोक में' ('दिवि') कही गयी है, तो कहीं मध्यम-लोक में[2]। तै० ब्रा० (१, ३, १०, ५) में इसे 'तृतीय-लोक' कहा गया है।

एक अन्य दृष्टि से पितरों को अन्य श्रेणियों में भी विभक्त किया गया है, यथा **पितरः सोमवन्तः, बर्हिषदः** तथा **अग्निष्वात्ताः**। अन्तिम दो नाम ऋग्० में आये हैं[3]। श० ब्रा० (५, ५,४, २८) में इन की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—'जिन्होंने एक सोमयाग किया है वे **पितरः सोमवन्तः** कहलाते हैं, जो पक्व आहुतियां देकर एक लोक प्राप्त करते हैं, वे **पितरो बर्हिषदः** कहे जाते हैं। जिन्होंने ऐसा कोई कर्म नहीं किया और जो केवल अग्नि में जला दिये गये हैं, वे **पितरः अग्निष्वात्ताः** कहलाते हैं[4]। पश्चात्कालिक लेखकों ने पितरों की इन परिभाषाओं में परिवर्तन कर दिये हैं[5]। शातातप-स्मृति ने तो पितरों को १२ श्रेणियों में विभक्त कर दिया है (६, ५-६)।

पितर लोग देवों से भिन्न हैं[6]। ऋग्० (१०, ५३, ४) के **पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्** में प्रयुक्त **पञ्चजनाः** की व्याख्या करते हुए ऐ० ब्रा० (३, ३१) ने कहा है, ये पांच जन गन्धर्व, पितृ, देव, सर्प तथा राक्षस हैं। अथर्ववेद (१०, ६, ३२) में भी देव, पितृ तथा मनुष्य गिनाये गये हैं। तै० सं० (६, १, १, १) में भी देवों, पितरों तथा मनुष्यों में भेद किया गया है। तै० ब्रा० (१, ३, ४, १०) ने तो देव-स्वभाव तथा मनुष्य-स्वभाव वाले पितरों में अन्तर किया प्रतीत होता है। श० ब्रा० (२, ४, २, २) ने पितरों को दाहिने कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करके प्रजापति के पास भेजा है।

कौ० सू० (१, ९-२३) ने देव-कृत्यों तथा पितृ-कृत्यों में अन्तर किया है। देव-कृत्य में यज्ञोपवीत बायें कन्धे पर तथा दाहिने कक्ष के नीचे रखा जाता है, जबकि पितृकृत्य में इससे उल्टा दाहिने कन्धे पर बायें कक्ष के नीचे। देवकृत्य उत्तर की ओर मुख करके किया जाता है तथा पितृकार्य दक्षिण की ओर। देवकृत्य का अन्त

---

१. ऋग्० १०, १४,९ ; १०,१६, ४।

२. अथर्व० १८,२,४९ ; ऋग्० १०, ३५,६।

३. ऋग्० १०,१५, ४ तथा ११=तै० सं० २,६,१२,२ में आये हैं।

४. द्र. तै० ब्रा० १,६,९,५ तथा काठ० सं० ९, ३,१७।

५. द्र. मनु० ३,१९३-१९९; मत्स्यपुराण १४१,४ ; १५-१८।

६. Vide I. J. Frazer, *Golden Bough*, Vol. IV Pt. I, p. 316।

उत्तरपूर्व, उत्तर या पूर्व में होता है, जबकि पितृ-कार्य का दक्षिणपश्चिम या दक्षिण में। देवकार्य का एक कर्म कम से कम तीन बार दोहराया जाता है, जबकि पितृकार्य एक ही बार किया जाता है। परिक्रमा करते समय देवता को दाहिने हाथ रखा जाता है, पितरों को बायें हाथ। देवों को आहुति देते समय 'स्वाहा' या 'वषट्' कहा जाता है, पितरों के लिए 'स्वधा' या 'नमः' का प्रयोग विहित है। देवों के लिए दर्भ जड़ से ऊपर काट कर प्रयोग किये जाते हैं, पितरों के लिए जड़ समेत उखाड़ कर। बौ० श्रौ० सू० (२. २) में इनमें से कुछ का वर्णन किया गया है। स्वयं ऋग्वेद (१०,१४, ३) में 'स्वाहा' तथा 'स्वधा' शब्दों को दोनों का भेदक माना गया है, तो भी देवों और पितरों की शक्तियों में समानता पायी जाती है। देवों के समान ही पितरों ने आकाश को नक्षत्रों से अलङ्कृत किया[1]। उषा को उत्पन्न किया[2]। वे यजमान को सौमनस तथा आनन्द[3], सम्पत्ति तथा शूरपुत्र[4] प्रदान करने का सामर्थ्य रखते हैं[5]।

अन्त्येष्टि-क्रिया पर विचार करते समय हमने देखा है कि मृत्यु का भय मनुष्यों पर सदा छाया रहता है और मृतक व्यक्ति से भी इसी कारण अनिष्ट की आशङ्का बनी रहती है कि वह मृत्यु से ग्रस्त है। तो भी अपने पूर्वजों के प्रति समादर तथा स्नेह के कारण प्राचीन आर्यों ने उन्हें प्रसन्न करने तथा उनसे विविध प्रकार के वरदान तथा नाना प्रकार की सहायता प्राप्त करने की इच्छा से उनके लिए भोज्य तथा पेय प्रदान करने की परिपाटी चलायी।

जैसा कि आर्यों के यज्ञ-यागों में देवताओं को प्रसन्न करने तथा परस्पर आदान-प्रदान की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है; ठीक उसी प्रकार की आदान-प्रदान की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर पूर्वजों की पूजा-पद्धति का भी प्रवर्तन हुआ प्रतीत होता है। स्वभावतः यदि मनुष्य अपने पूर्वजों का ध्यान रखता है तथा उन्हें भोग्य पदार्थ प्रदान करता है, तो आशा की जाती है कि वे भी अपने वंशजों की सहायता तथा सुख-समृद्धि का ध्यान रखेंगे। और जैसा हमने देखा है उनमें भी देवताओं की सी शक्तियां मानी जाती हैं, अतः उनसे उनके सामर्थ्य के अनुसार वर मांगना सर्वथा स्वाभाविक है। कैलैण्ड का इस विषय में यह विचार स्वीकार्य नहीं हो

---

१. ऋग्० १०, ६८, ११।

२. ऋग्० ७, ७६, ३।

३. ऋग्० १०, १४, ६; १५, ४।

४. ऋग्० १०, १५, ७; ११; अथर्व० १८, ३, १४।

५. सु. अथर्व० १४, २, ७३; See, Jevons, F. B., *Introduction to the History of Religion*, p. 198.

सकता कि मृतकों को भोजन तक देने में भी भय की भावना रहती है[1]। वंशजों का अपने पूर्वजों के प्रति किसी अपराध या अवहेलना से उत्पन्न उनके क्रोध से भयभीत होना तो स्वाभाविक ही है। वैसे पितर लोग अपने वंशजों को युद्धों में विजय प्रदान करते हैं। और उनका योद्धाओं के रूप में आवाहन भी किया जाता है। किन्तु उनकी विशेष कृपा सन्तानोत्पत्ति के लिए अभीष्ट होती है। अपनी वंशवृद्धि के लिए उनसे इस बात की अपेक्षा की जानी चाहिये, जिससे उन के परिवार की अखण्ड परम्परा चलती रहे और उन्हें अभीष्ट भोग्य पदार्थों की प्राप्ति होती रहे। मृतकों को बलि देते समय पिता, पितामह तथा प्रपितामह से पुत्र प्रदान करने की प्रार्थना की जाती है[2]। पितरों के निमित्त एक पिण्ड कर्ता की पत्नी को इस प्रार्थना के साथ देना होता है कि वे उसे पुत्र प्रदान करें[3], तथा पितरों को चढ़ाये जल को पुत्र की कामना करने वाला अपने मुख पर छिड़क लेता है[4]। इसी अभीष्ट की पूर्ति के लिए विवाह-संस्कार में भी पितरों का आवाहन करके विवाह से पूर्व ही उन्हें वधू को सन्तान प्रदानार्थ भोज्य प्रदान किया जाता है और बारात की चढ़त के समय उन की उपस्थिति तथा आशीष कल्पित कर ली जाती है, और यह आशीष सन्तानोत्पत्ति तथा रक्षा के लिए ही मानी जाती है[5]।

प्राय: पितर समष्टिरूप में ही बुलाये जाते हैं, किन्तु कभी-कभी किसी एक पूर्वज का आह्वान भी किया जाता है, यथा कण्व अथवा कक्षीवान् प्रभृति का। एक वर्गविशेष के रूप में वसिष्ठों का आह्वान किया गया है[6]। पितरों का आह्वान वंशजों के शत्रुओं के ध्वंसार्थ भी किया जाता है किन्तु उन के प्रति कृत अपराध के बदले वंशजों को दण्ड भी भोगना पड़ता है[7], किन्तु यह दण्डदान आदि कर्म पितरों की दिव्य शक्तियों से ही सम्पन्न होते हैं, पितरलोग साक्षात् पृथ्वी पर उतर कर नहीं आते। किन्तु पश्चात्कालिक बौद्ध साहित्य में प्रेतों को पृथ्वी पर सशरीर विचरते दिखाया गया है[8]।

---

१. तोपद्तेन्गेब्राडखे (*Tödtengebrauche*), पृ० १७१-७२।

२. कौ० सू० ८८, २८।

३. कौ० सू० ८९, ६।

४. आश्व० गृ० सू० ४, ७, १३।

५. कौ० सू० ८४, १२; अथर्व० १४, २, ७३—ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्। ते अस्यै वध्वै सम्पत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु (तु. ऋग्० १०, ४०, १०)।

६. ऋग्० १०, १५, ८; अथर्व १८, ३, १५।

७. द्र. ऋग्० १०, १५, ६—मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम। तै० ब्रा० १, ३, १०, ७।

८. महावग्ग १, ४, २; उदान० १, १० इत्यादि।

यद्यपि प्राचीन वैदिक साहित्य में पिण्डपितृयज्ञ तथा चातुर्मास्य या साकमेध के अंगभूत महापितृयज्ञ का वर्णन किया गया है, तो भी 'श्राद्ध' शब्द का प्रयोग कठोप० (१, ३, १७) में ही सर्व प्रथम किया गया प्रतीत होता है। वहां कहा गया है—जो कोई भी इस अत्यन्त विशिष्ट सिद्धान्त को ब्राह्मणों की सभा में या श्राद्ध के समय उद्घोषित करता है, वह अमरत्व को प्राप्त करता है। स्पष्ट है कि "श्राद्ध का समय" अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समय माना जाने लगा था।

सूत्रकाल में 'श्राद्ध' का महत्त्व और भी बढ़ गया था। आप० ध० सू० (२, ७, १६, १-३) के अनुसार मनु ने इस कृत्य का आरम्भ किया था, जिस में पितर लोग ही देवता होते हैं और ब्राह्मण ही आहवनीय अग्नि के स्थानापन्न होते हैं।

पाणिनि के समय यह संस्था बद्धमूल हो चुकी थी, क्योंकि श्राद्ध शब्द की व्युत्पत्ति अष्टध्यायी (पा० ५,१,१०९) में श्रद्धा शब्द से की गयी है, तथा श्राद्धभोजी ब्राह्मण को 'श्राद्धिन्' तथा 'श्राद्धिक' की संज्ञा दी गयी है। डा० काणे का विचार है कि श्राद्ध द्वारा पूर्वज-पूजा एक प्राचीन प्रथा है और पूर्वजन्म तथा कर्मविपाक के सिद्धान्त अपेक्षाकृत उत्तरकालिक हैं, और हिन्दुओं ने पूर्वजन्म आदि के सिद्धान्तों को अपनी प्राचीन मान्यताओं के ढांचे में समन्वित करने का प्रयास किया है[1]। सूत्रों में 'श्राद्ध' शब्द सर्वप्रथम आश्व० गृ० सूत्र में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है[2]।

विष्णु-धर्म-सूत्र (२०, ३४-३६) के अनुसार "मृतक की आत्मा श्राद्ध में 'स्वधा' शब्द के साथ प्रदत्त भोजन का पितृलोक में रसास्वादन करती है, चाहे मृतकात्मा देव के रूप में (स्वर्ग में) हो या नरक में पड़ा हो, या पशुयोनि में हो या मनुष्य रूप में विचरता हो, प्रत्येक अवस्था में उसे श्राद्ध में प्रदत्त भोजन पहुंच जाता है"। किन्तु सभी पूर्वजों को श्राद्ध-प्रसंग में पितरों में सम्मिलित नहीं किया जाता, अपितु केवल तीन पीढ़ियों—पिता, पितामह, तथा प्रपितामह—तक ही पितर माने जाते हैं, शेष नहीं (तै० ब्रा० १, ६, ९, ७ **तस्मादातृतीयात्पुरुषान्नामानि गृह्णन्ति। एतावन्तो हीज्यन्ते**)।

श० ब्रा० (२, ४, २, १९) में पिता, पितामह तथा प्रपितामह को पुरोडाश देते समय के सूक्तों का उल्लेख किया गया है। वहां तीन पूर्वपुरुषों को ही 'स्वधाप्रेमी' कहा गया है (१२, ८, १, ७)[3]।

---

१. ध० शा० इ० पृ० ११९९।

२. द्र. तै० सं० १, ८, ५, १।

३. दक्षिणारञ्जन, ऐंसेस्टर वर्शिप०, पृ० ६३; किन्तु इस से भी पूर्व बौ० श्रौ० ९, २०, १९; २८, ८, १० में भी प्रयुक्त हुआ है (शर्मा)। See also, Sejn, P. V. *Material...... Russian Population*, P. 594।

तीन पितरों को पिण्डदान का यह सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि ब्राह्मणों तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों की मान्यतानुसार इन तीनों पूर्वजों की आत्माएं तीन पीढ़ियों तक वायुमण्डल में विचरती रहती हैं तथा अपने वंशजों द्वारा प्रदत्त पिण्डों को वायव्य शरीर द्वारा ग्रहण करने में सक्षम होती हैं। किन्तु पूर्वजन्म के सिद्धान्त के अनुसार आत्मा एक शरीर को त्याग कर शरीरान्तर में प्रवेश कर जाती है[1]। इन दोनों परस्परविरोधी मान्यताओं की उलझन को सुलझाने का प्रयास सूत्रों तथा पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में कहीं नहीं किया गया। किन्तु अवरकालिक पुराणों[2], स्मृतियों[3] तथा निबन्धों[4] ने इस समस्या के समाधान का यथामति प्रयास किया है, जिन का सार यह है—

(१) श्राद्ध के देवता वसु, रुद्र तथा आदित्य ही क्रमशः पिता, पितामह तथा प्रपितामह का प्रतिनिधित्व करते हैं, तथा श्राद्ध से सन्तुष्ट हो कर मनुष्यों के पितरों को सन्तुष्टि प्रदान करते हैं[5]।

(२) पितरलोग स्वयं श्राद्ध में दिये गये पिण्डों से सन्तुष्ट होते हैं[6]। ये पिण्ड पितरों की योनियों के अनुसार उन के भोज्य पदार्थों में परिणत होकर उन्हें उसी योनि में तृप्त करते हैं[7]। किन्तु ऐसी युक्तियां तर्क की कसौटी पर कसने पर थोथी सिद्ध होती हैं और पूर्वजन्म तथा कर्मविपाक के सिद्धान्तों से मेल नहीं खातीं।

इस प्रकार की युक्तियों में एक कठिनाई यह भी है कि पितरलोगों के देहावसान विभिन्न स्थानों पर हो सकते हैं और श्राद्ध उन स्थानों से बहुत दूर एक ही स्थान पर किया जाता है। ऐसा मानना क्लिष्ट कल्पना है कि यदि अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप कोई पितर पशुयोनि में परिवर्तित हो जाता है, तो उस स्थान पर उगी उस की भक्ष्य घास वही है जो सैकड़ों योजन दूर श्राद्ध में दिये गये द्रव्यों के कारण उत्पन्न हुई है। फिर पशुयोनि में विद्यमान पितर अपनी सन्तति के योगक्षेम में कैसे सहायक हो सकते हैं? यदि यह कार्य वसु, रुद्र तथा आदित्य करते हैं, तो स्पष्ट है कि पितर अपने वंशजों के क्षेमयोगार्थ कुछ भी करने में समर्थ नहीं

---

१. बृ० आर० उप० ४, ४, ४; भगवद्गीता २, २२।

२. मत्स्य० पु० १९, २।

३. याज्ञ० १, २६९=मार्कण्डेय० पु० २९, ३८।

४. श्राद्धकल्पतरु, पृ० ५; श्राद्धकल्पलता, पृ० ५।

५. याज्ञ० १, २६८=अग्निपु० १६३, ४०-४१।

६. मत्स्य० पु० १९, ११-१२; अग्नि० पु० १६३, ४१-४२।

७. मत्स्य० पु० १९, १२।

हैं। इन आपत्तियों का सन्तोषजनक उत्तर दे सकने में असमर्थ विश्वरूप (याज्ञ० १, २६५) को अन्त में यही कहना पड़ा कि जब शास्त्र कहता है कि पितरों को तृप्ति होती है और कर्ता को मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है, तो किसी प्रकार का विरोध खड़ा करना अनुचित है। इस के आगे तो तर्क करना व्यर्थ है!

यदि इस असंगति में संगति बैठाने का प्रयास न किया जाये, तो भी अपने आप में श्राद्ध एक सुन्दर परिपाटी है। इस से व्यक्ति अपने पूर्वजों का स्मरण करके उनके सत्कर्मों से प्रेरणा तथा दुष्कृत्यों से शिक्षा प्राप्त कर सकता है। तथा उन के गुणों को अपने भीतर धारण कर सकता है, एवं दुर्गुणों का परिहार करने में समर्थ हो सकता है।

तै० सं०[1] तथा तै० ब्रा०[2] से प्रकट होता है कि श्राद्ध तीन पूर्वजों का ही किया जाता है। समस्त भारोपीय जातियों, श्वेतरूसियों में निकटस्थ तीन ही पूर्वजों को 'पितरों' की पदवी पर आसीन किया जाता था[3]। विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार जो कोई मृतक की सम्पत्ति लेता है उसे उस का श्रद्ध करना ही चाहिये। कुछ के अनुसार जो कोई भी श्राद्ध करने का अधिकारी होता है, वह मृतक की सम्पत्ति का भी अधिकारी होता है। किन्तु क्योंकि अनुपनीत व्यक्ति शूद्र के समान माना जाता था, अतः उसे वेदमन्त्रों के उच्चारण का अधिकार नहीं होता था[4]। किन्तु अपवादस्वरूप अन्त्येष्टिकर्म से सम्बद्ध मन्त्रों का उच्चारण उस के लिए भी विहित था (मनु० २, २७२ पर मेधा०)। अतः पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र तीनों व्यक्ति श्राद्ध के अधिकारी हैं। किन्तु पश्चात्कालिक स्मृतियों ने किसी को भी स्नेहवश किसी का भी श्राद्ध, विशेषतः गया-श्राद्ध, करने का अधिकार प्रदान किया है। किन्तु धर्म तथा गृह्यसूत्रों में यह ऊहापोह तथा युक्ति-प्रतियुक्ति नहीं की गयी है।

यद्यपि आश्व० गृ० सू० (४, ७) में मुख्यतः पार्वण, काम्य, आभ्युदयिक तथा एकोद्दिष्ट, ये चार श्राद्ध ही माने गये हैं, किन्तु बृहस्पति (रुद्रधर-कृत श्राद्धविवेक में उद्धृत) ने मनु द्वारा घोषित श्राद्धों की पांच श्रेणियों—**नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि तथा पार्वण**—का उल्लेख किया है तथा नैमित्तिक के सोलह प्रकार के प्रेतश्राद्धों का विवरण दिया है। मिताक्षरा (याज्ञ० १, २१७) ने पांच श्राद्धों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं—**अहरहः श्राद्ध, पार्वण०, वृद्धि०, एकोद्दिष्ट०**, एवं **सपिण्डीकरण**।

---

१. १, ८, ५, १।

२. १, ६, ९, ७।

३. See Sejn, P. V., *Materials...Russian Population*, p. 594।

४. आप० ध० सू० २, ६, १५, २९ ; गौ० ध० सू० २, ४-५ ; वा० ध० सू० २, ६ ; वि० ध० सू० २८-४०।

१. **नित्य श्राद्ध**—किसी निश्चित अवसर पर अनिवार्य रूप से करणीय श्राद्ध नित्य कहलाता है—यथा आह्निक, अमावस्या के दिन या अष्टका के दिन या पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत पितृयज्ञ। नित्य कर्मों के समान ही इन श्राद्धों का विशेषफल प्राप्त नहीं होता, केवल मानसिक पवित्रता प्राप्त होती है।

२. **नैमित्तिक श्राद्ध** उसे कहते हैं जो किसी विशेष किन्तु अनिश्चित अवसर पर किया जाता है, यथा—पुत्रोत्पत्ति पर या विवाह के समय।

३. **काम्य श्राद्ध** किसी विशेष कामना की पूर्ति के लिए किया जाता है यथा स्वर्ग, सन्तति, ऐश्वर्य प्रभृति की प्राप्ति के लिए कृत्तिका या रोहिणी नक्षत्र में किया गया श्राद्ध।

४. **आभ्युदयिक, वृद्धि या नान्दीमुख** श्राद्ध मांगलिक या कल्याणकारी अवसरों पर किये जाते हैं, यथा—विवाहोत्सव, गृहप्रवेश, नामकरण, चौलकर्म प्रभृति जैसे शुभ अवसरों पर या किसी 'पूर्त' कर्म के आरम्भ में, यथा—लोक—कल्याणार्थ कूप, जलाशय, वाटिका आदि के निर्माण के अवसर पर[1]।

५. **सपिण्डीकरण श्राद्ध** उसे कहते हैं जिस में प्रेत को अपने पूर्वज पितरों की श्रेणी में सम्मिलित करके उसे भी पितृसंज्ञा प्रदान की जाती है।

श्राद्ध के काल के विषय में धर्म तथा गृह्यसूत्रों में कृष्णपक्ष की चतुर्थी के अतिरिक्त किसी दिन (पा० गृ० श्राद्ध १; वा० ध० सू० ११, १६) अथवा अमावास्या (गो० गृ० ४, ४, २) के दिन का विधान किया गया है। किन्तु आहिताग्नि को प्रतिमास श्राद्ध करना चाहिये। वैसे गौ० ध० सू० (१५, ५) में गया आदि पुण्यस्थलों पर किसी भी दिन श्राद्ध करने की छूट दी गयी है। वि० ध० सू० (३८, ३६-५०) में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से अमावास्या तक किये गये श्राद्धों के फलों का व्योरेवार वर्णन किया गया है। अपेक्षाकृत अर्वाचीन इस धर्मसूत्र में यज्ञकाल के विषय में अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार किया गया है और यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी हैं। यहां फलित ज्योतिष का अधिकाधिक प्रभाव देखा जाता है।

इन श्राद्धों के लिए **काल** भी निश्चित कर दिये गये हैं। यथा—अमावास्या, तीन अष्टकाएं, तीन अन्वष्टकाएं, भाद्रपद के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी, शरद् तथा वसन्त, श्राद्ध के **नित्यकाल** कहलाते हैं (वि० ध० सू० ७६, १-२)। जो इन कालों में श्राद्ध नहीं करता वह नरक का भागी होता है। सङ्क्रान्ति के दिन, दोनों विषुवीय दिन, व्यतिपात, कर्ता की जन्मतिथि, पुत्रोत्पत्ति आदि उत्सवों को श्राद्ध

---

१. आश्व० गृ० सू० २, ५,१० ; मैक्समूलर, इण्डिया०, पृ० २३५, पं० ब्रा० १२,११,२५ ; तै० सं० ७, ४, १, १ ; श० ब्रा० १४, १, ४, १० ; ऋग्० १०, १, ५१ ; श्रोल्डनवर्ग, रिलि० देस वे०, पृ० ५६६ ; *ZDMG* ४४८ आदि।

का नैमित्तिक काल कहा जाता है। आप० ध० सू० (२, ७, १६, ४-७) में श्राद्ध के लिए सामान्यतः कालों की व्यवस्था दी गयी है, यथा—प्रत्येक मास का अन्तिम पक्ष या कृष्ण पक्षीय चतुर्थी के अतिरिक्त कोई भी दिन तथा अपराह्ण का समय अधिक उपयुक्त माना गया है। आप० ध० सू० (२, ७, १६, ८-२२) तथा वि० ध० सू० (७८, ३६-५०) में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से अमावास्या तक किये गये श्राद्धों के विशेष-विशेष फलों का विवरण दिया गया है। किन्तु गौ० ध० सू० (१५, ५) के अनुसार विशेष रूप से समुचित सामग्री, योग्य ब्राह्मण, अथवा पवित्रस्थान (गया आदि) की प्राप्ति हो जाने पर श्राद्ध किसी भी दिन और किसी भी समय किया जा सकता है। तो भी कृष्णपक्ष तथा अपराह्णकाल को अधिक श्रेयस्कर माना जाता है। रात्रि, संध्या, सूर्योदय के समयों में श्राद्ध निषिद्ध है (आप० ध० सू० ७, १७, २३-२५ ; वि० ध० सू० ७७, ८-९)। यदि अपराह्ण में आरम्भ किये गये श्राद्ध को किसी कारण विलम्ब हो जाने पर सूर्यास्त हो जाये, तो कर्ता को शेष कर्म अगले दिन करना चाहिये, एवं दर्भों पर पिण्ड रखने तक उपवास करना चाहिये (आप० ध० सू० वही)। वि० ध० के अनुसार सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण के समय किये गये श्राद्ध से पितर चन्द्रतारकों के अस्तित्व तक तृप्त रहते हैं, तथा कर्ता की सभी कामनाओं की पूर्ति होती है। यद्यपि ग्रहण-काल में भोजन निषिद्ध है, तो भी उस का दोष ब्राह्मणों को लगता है, कर्ता को नहीं (याज्ञ०मिता० १, २१७)।

ऊपर श्राद्ध के पांच भेदों का उल्लेख किया गया है, किन्तु अन्य लोगों ने अन्य प्रकार से भी इन का विभाजन किया है। श्राद्धविवेक के अनुसार **नैमित्तिक** के अन्तर्गत सोलह श्राद्ध होते हैं। इन के अतिरिक्त स्मृतियों में **पार्वणश्राद्ध, गोष्ठीश्राद्ध, शुद्धिश्राद्ध, दैविकश्राद्ध, यात्राश्राद्ध, पुष्टिश्राद्ध,** तथा **कर्मांग** सहित बारह **श्राद्धों** को गिनाया गया है। जिन में मुख्य **पार्वण, एकोद्दिष्ट, शुद्धि** तथा **सपिण्डन** ही हैं। बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप शिवभट्ट के पुत्र गोविन्द तथा रघुनाथ ने 'षण्णवति श्राद्ध' नामक ग्रन्थ में ९६ श्राद्धों की परिगणना कर डाली है।

अब हम मुख्य-मुख्य श्राद्धों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

पञ्चविंश अध्याय

श्राद्ध के विविध प्रकार

महापितृयज्ञ

महापितृयज्ञ साकमेध नामक तृतीय चातुर्मास्य के द्वितीय दिन अनुष्ठित किया जाता है तथा **पिण्डपितृयज्ञ** के समान ही है। इस का विस्तृत वर्णन श० ब्रा० (२, ६, १) में पाया जाता है। तै० सं० (१, ८, ५) तथा तै० ब्रा० (१, ६, ८) में इस में प्रयोज्य मन्त्रों का समावेश किया गया है, जिससे इस कृत्य की प्राचीनता सिद्ध होती है। **सोमवान्**, **बर्हिषद्** तथा **अग्निष्वात्त** पितरों का आवाहन किया जाता है। क्रमशः षट्कपाल पुरोडाश, भुना अन्न तथा बछड़े रहित गौ (अभिवान्या) के दूध में पका अन्न प्रदान किया जाता है। यह अनुष्ठान **दक्षिणाग्नि** के दक्षिण में निर्मित एक शाला में किया जाता है, जिस में अग्नि स्थापित की जाती है। यागान्त में **स्विष्टकृत्** के स्थान पर **अग्निकव्यवाहन** को हविष्य प्रदान किया जाता है। पितरों के अवनेजनार्थ जल डाल कर वेदि के दक्षिण-पूर्व तथा दक्षिण-पश्चिम कोनों पर पितरों के लिए पिण्ड स्थापित किये जाते हैं, किन्तु पिण्ड प्राप्त करने वालों के नाम दूर के पितरों के लिये जाते हैं, यथा षष्ठ, पञ्चम एवं चतुर्थ। पिण्ड प्रदान करने के बाद वेदि के उत्तर में हाथ धो कर पिण्डदाता पितरों से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता है[1]। तदनन्तर सभी **उपवीती** होकर शाला से बाहर जा कर **आहवनीय** तथा **गार्हपत्य** अग्नियों की पूजा करते हैं। पुनः **प्राचीनावीती** होकर शाला में प्रवेश करते हैं। पिण्डदाता घोषित करता है—'पितर प्रसन्न हो गये' (**अमीमदन्त पितरः**··· वा० सं० २, ३१)। अन्त में वह छह बार पितरों को नमस्कार करता है।

वस्तुतः यह कर्म **पिण्डपितृयज्ञ** से भिन्न नहीं है। अन्तर केवल इतना है कि यहां इसे पूर्ण यज्ञ का रूप देकर अधिक जटिल बना दिया गया है। **पिण्डपितृयज्ञ** सरल है।

पिण्डपितृयज्ञ का विस्तृत वर्णन तै० ब्रा० (१, ३, १०) में भी हुआ है। वहां **दर्शेष्टि** से एक दिन पूर्व यह यज्ञ करने का विधान है। दक्षिणाभिमुख कर्ता कहता है—

---

१. **अत्र पितरो मादयध्वम्** (वा० सं० २, ३१)।

सोमाय पितृपीताय स्वधा नमः तथा आहुति देता है। द्वितीय आहुति **अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः** से दी जाती है। तृतीय आहुति **यमाय अंगिरस्वते स्वधा नमः** से प्रदान की जाती है। पृथ्वी पर बिछाये हुए दर्भों पर कर्ता तीन पिण्ड रख कर अपना मुख दक्षिण में ऊपर की ओर तब तक किये रहता है, जब तक पिण्डों से भाप निकलती रहती है। वस्त्र का एक-एक खण्ड फाड़ कर पृथक्-पृथक् पिण्डों पर रख कर पितरों से विदा होने की प्रार्थना करता है। यदि कर्ता ५० वर्ष से अधिक अवस्था का हो, तो अपनी छाती के बाल काट कर पिण्डों पर रखता है, (तै० ब्रा० १, ३, १०, ७; हिर० गृ० सू० २, १०-१३) तथा दुग्ध, शक्ति, जीवन, स्वधा, उत्साह तथा घोर के लिये नमस्कार करता है। वास्तव में यह 'मनुष्य यज्ञ' है। छाती के बाल पितरों के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दिये जाते हैं[1]। श० ब्रा० (२,४, २) में **पिण्डपितृयज्ञ** का अधिक पूर्ण वर्णन किया गया है, जहां **पार्वणश्राद्ध** के बहुत से तत्त्वों पर स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। वहां वर्णित क्रम इस प्रकार है—

यजमान यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे पर रख कर अपराह्ण में **गार्हपत्य** अग्नि के पृष्ठभाग में दक्षिणाभिमुख बैठकर गाड़ी से सामान ग्रहण करता है। चावलों को केवल एक ही बार स्वच्छ करके **दक्षिणाग्नि** पर स्थापित करता है तथा उसी अग्नि में देवों को घृत की दो आहुतियां प्रदान करता है। **दक्षिणाग्नि** के दक्षिण में एक रेखा खींच कर या अन्य प्रथा के अनुसार गढ़ा खोद कर उस पर उल्मुक रखकर तीनों पितरों को **अवनेजन** (जल से मार्जन) कराता है, एवं मूल-सहित दर्भों को काटकर रेखा पर स्थापित करके उन पर तीनों पिण्डों को स्थापित करके क्षण भर के लिए पिण्डों की ओर से मुख फेर कर पुनः यथापूर्व अवस्थित होकर पितरों को सन्तुष्ट मानकर **प्रत्यवनेजन** कराता है। वह अपनी कटि में बन्धे वस्त्र को खींच कर[2] छह बार पितरों का अभिवादन करता है तथा उनसे गृह प्रदान करने की प्रार्थना करता है। अन्त में पिण्डों को सूंघ कर, दर्भों तथा उल्मुक का अग्नि में प्रक्षेप कर देता है। का० श्रौ० सू० (४, १) में भी श० ब्रा० का अनुसरण किया गया है। किन्तु कुछ अधिक बातें जोड़ दी गयी हैं, यथा—हाथ जोड़ना, छह मन्त्रों (वा० सं० २, ३२—'**नमो वः पितरो रसाय**……' तथा वा० सं० २, ३३—'**एतद्वः**') के साथ पिण्डों पर तीन सूतों या परिधान का ऊनी भाग या यजमान की छाती के बाल रखना (यदि वह ५० वर्ष के अधिक अवस्था का है)

---

१. तु. **पितृणो ह्येतर्हि नेदीयः** (तै० ब्रा० १, ३, १०, ७; तथा इस पर सायण द्र. कीथ वै० ध० द० पृ० ५३४।

२. पितरों को पिण्डदान पितृतीर्थ (अंगुष्ठ तथा तर्जनी के मध्य भाग) से किया जाता है। कृत्य के आरम्भ में यजमान अपने उत्तरीय की दशा या बिना बुना किनारा कमर में लपेटे हुए वस्त्र (नीवी) से जोड़ देता है। इस समय उसे ही वह आगे खींच लेता है।

तथा वा० सं० (२, ३४) से पिण्डों के मूल में उनके समीप भूमि पर जल छिड़कना (का० श्रौ० सू० ४, १, १९)।

पार्वणश्राद्ध

आश्व० गृ० सू० (४, ७-८) में वर्णित **पार्वणश्राद्ध** की विधि का संक्षेप यहां प्रस्तुत किया जाता है—

श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण विद्वान्, सच्चरित्र, साधु-स्वभाव तथा गुण-सम्पन्न होने चाहियें। इन गुणों की लम्बी तालिका दी गयी है[1]। दुश्चरित, कुरूप, रोग-ग्रस्त, विकलांग ब्राह्मण श्राद्ध में भोजन के लिए अपात्र माने गए हैं[2]। वि० ध० सू० (८२, ३-२९) में श्राद्ध के लिए अयोग्य ब्राह्मणों की लम्बी सूचियां प्रस्तुत की गयी हैं। मनु० (३, २५०-२६६) में ऐसी सूची सर्वाधिक लम्बी है।

वा० ध० सू० (११, ७) में यतियों, साधु-चरित ब्राह्मणों तथा गृहस्थों को भी श्राद्ध में भाग लेने के योग्य माना गया है, किन्तु उन्हें अत्यन्त वृद्ध नहीं होना चाहिये।

आमन्त्रित ब्राह्मणों की संख्या के विषय में भी वैमत्य पाये जाते हैं। आश्व० गृ० सू० (४, ७, २-३) के अनुसार **पार्वण, आभ्युदयिक, एकोद्दिष्ट** तथा **काम्य** श्राद्ध में जितने अधिक ब्राह्मण हों, उतना ही अच्छा है। शां० गृ० सू० (४, १, २) तथा कौ० गृ० सू० (३, १४, १-२) के अनुसार ब्राह्मणों की संख्या विषम तथा कम से कम तीन होनी चाहिये। गौ० ध० सू० (१५, २, ७-९) की सम्मति में कम से कम पांच ब्राह्मणों को आमन्त्रित करना चाहिये, जिनमें दो देवों के लिए तथा तीन पितरों के लिए होवें। यदि ब्राह्मणों की संख्या सात हो, तो चार देवों के लिए तथा तीन पितरों के लिए होने चाहियें। वा० ध० सू० (११, २७= मनु० ३, १२५=बौ० ध० सू० २, ८, २९) तथा वि० ध० सू० (३, ५, ८) के अनुसार देवकर्मार्थ दो तथा पितृकर्मार्थ तीन या दोनों के लिए एक ही ब्राह्मण पर्याप्त है। अधिक विस्तार नहीं करना चाहिये।

आमन्त्रित ब्राह्मणों के दर्भासनों पर उत्तराभिमुख बैठने पर उन के हाथों में जल छोड़ा जाता है। दर्भ को गांठ देकर दोहरा कर देने के उपरान्त पुनः उस पर जल ढारा जाता है, जो नीचे मिट्टी, स्वर्ण, रजत अथवा पत्थर के पात्रों में गिरता है। उनमें मन्त्रपाठ-पूर्वक (ऋग्० १०, ९, ४) तिलों का प्रक्षेप किया

---

१. आश्व० गृ० सू० ४, ७, २; गो० गृ० सू० १५, ९-१०; शां० गृ० सू० ४, १, २; आप० गृ० सू० ८, २१, २; आप० ध० सू० २, ७, १४, ४।

२. आप० ध० सू० २, ७, १७, २१; वा० ध० सू० ११, १९ हि० गृ० सू० २, १०, २; बौ० ध० सू० २, २, ७; गौ० ध० सू० १५, १६, १९।

जाता है। **प्राचीनावीती** होकर पितृतीर्थ से पितरों को अर्घ्य देकर शेष जल को अर्घ्य-जल के पात्रों में रख दिया जाता है[1], जो कल्प की समाप्ति तक रखा रहता है। उसमें पितर अन्तर्हित रहते हैं। तथा ब्राह्मणों को चन्दन लेप, धूप, दीप तथा माल्य प्रदान करने के उपरान्त पिण्ड पितृयज्ञार्थ रखे स्थालीपाक से भोजन लेकर उस पर घृत ढार कर अग्नि में आहुति देने[2] के उपरान्त ब्राह्मणों को भोजन परोसा जाता है। उनके तृप्त हो जाने पर विभिन्न प्रकार के भोजनों में से कुछ-कुछ भाग पिण्ड बनाने के लिए लेकर शेष भोजन ब्राह्मणों को देने का प्रस्ताव किया जाता है। उनके द्वारा अस्वीकृत कर देने पर अपने कुटुम्बियों में बांटने की अनुमति प्राप्त करके पितरों के लिए पिण्ड रखे जाते हैं। एक मतानुसार ब्राह्मणों के भोजनोपरान्त आचमन के अनन्तर ही पिण्ड रखने चाहियें। तदुपरान्त यज्ञोपवीती होकर ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर **ओम् स्वधा** कह कर विदा करना चाहिये।

कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध श्राद्ध-सूत्र में **पार्वण श्राद्ध** का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

पार्वण श्राद्ध से पूर्व विश्वेदेवों के कृत्य विहित हैं। इस में पिण्डपितृयज्ञ की विधि का अनुसरण किया जाता है।

जब दैव तथा पित्र्य दोनों प्रकार के ब्राह्मणों को आदर-सत्कार-पूर्वक दर्भासनों पर बैठा दिया जाता है, तो श्राद्धकर्ता दैव-ब्राह्मणों को अनुमति प्राप्त करके विश्वेदेवों का आवाहन **विश्वे देवास आगत** (वा० सं० ७, ३४) इस मन्त्र से करता है। इसके उपरान्त दैव-ब्राह्मणों के समक्ष यवों को बिखेरता है तथा **विश्वेदेवाः शृणुतेमम्** (वा० सं० ३३, ५३) का उच्चारण करता है। तदनन्तर वह पित्र्य ब्राह्मणों की अनुमति से **उशन्तस्त्वाम्** (वा० सं० १९, ७०) से पितरों का आवाहन करता है, तथा पित्र्य-ब्राह्मणों के समक्ष तिल बिखेरता है एवम् **आयन्तु पितरः** (वा० सं० १९, ५८) का पाठ करता है। तदनन्तर वह यज्ञिय (पलाश, उदुम्बर आदि) वृक्ष से बने पात्रों में जल भरता है, जिनमें **शन्नो देवीः** (वा० सं० ३६, १२) से पवित्र डुबोया जाता है (दैवकृत्यार्थ पात्र में यव डाले जाते हैं)।

---

१. किन्तु शौनक के अनुसार पूरे कृत्य में प्रथम पात्र को स्पर्श नहीं किया जाता, क्योंकि उस में पितर विराजते हैं (आश्व० गृ० सू० ४, ७; शां० गृ० सू० ४, १; हि० गृ०सू० २, १०; भार० गृ० सू० २, ११-१४)।

२. यह आहुति ब्राह्मणों के हाथों में भी दी जा सकती है।

वह प्रत्येक पात्र में **'तिलोऽसि'** (आश्व० गृ० सू० ७, ७-८) के साथ तिल डालता है। तथा प्रत्येक ब्राह्मण के हाथ में (दैव-ब्राह्मणों के हाथ में प्रथम) पवित्र वाले पात्र से जल ढारता है, तथा नीचे सोने, चांदी, ताम्र, खड्ग, मणिमय पात्र या पत्तों के पात्र रखे जाते हैं। तब पितरों को बारी-बारी जल देता है। पिता वाले प्रथम पात्र में अन्य पितरों के पात्रों के जल को डालकर उसे उलटा कर देता है तथा पित्र्य-ब्राह्मणों को गन्ध, चन्दन, लेप, पुष्प, वस्त्र आदि देता है।

श्राद्ध के लिए पहले से बनाये गये भोजन को एक पात्र में रख कर, उसमें घृत मिला कर, अनुमति प्राप्त करके **पिण्डपितृयज्ञ** के समान ही गृह्याग्नि में आहुतियां प्रदान करता है। इसे **अग्नौकरण** की संज्ञा दी गयी है। अग्नौकरण से शेष भोजन को आमन्त्रित ब्राह्मणों के पात्रों में परोस कर प्रत्येक पात्र को ऊपर तथा नीचे समन्त्रक स्पर्श करता है। कुछ भोजन अलग रख लेता है, जिस से आगे चल कर पिण्ड बनाये जायेंगे। भोजन परोसने के उपरान्त वह ब्राह्मणों के अंगूठे को भोजन में लगाता है, एवं मन्त्र पढ़ता है (ऋग्० १, २२, ७)। तदनन्तर वह यवों को दैव-ब्राह्मणों के समक्ष मौन रूप से तथा तिलों को पित्र्य-ब्राह्मणों के समक्ष समन्त्र (वा० सं० २, २९) बिखेरता है।

तब भोजन परोसता है। ब्राह्मणों के भोजन में व्यस्त हो जाने पर वह **गायत्री, रक्षोघ्न** (ऋग्० ४, ४, १-१५), **पुरुषसूक्त** (१०, ९०, १-१६), **अप्रतिरथ सूक्त** (ऋग्० १०, १०३, १-१३) प्रभृति मन्त्रों का जाप करता है। ब्राह्मणों को सन्तुष्ट जान कर कर्ता उन्हें अपोऽशनार्थ जल देता है तथा उनके समक्ष कुछ भोजन बिखेर देता है। तदनन्तर वह गायत्री-मन्त्र, तीन **मधुमती** ऋचाओं (ऋग्० १, ९०, ६-८) तथा 'मधु' का तीन बार उच्चारण करता है। तथा उन से पूछता है 'क्या आप लोग तृप्त हो गये हैं'? उनके द्वारा 'हम तृप्त हो गये हैं' कहे जाने पर उनसे शेष अन्न के विषय में अनुमति प्राप्त करके, उसे एक पात्र में एकत्र करके ब्राह्मण भोजन के स्थल के पास तीन पितृ-पक्ष के तथा तीन मातृ-पक्ष के पूर्वजों के लिए छह पिण्ड बनाता है। उन पर जल छिड़कता है। कुछ लोगों की सम्मति में पिण्डों को ब्राह्मणों द्वारा आचमन कर चुकने पर ही देना चाहिये। आचमन के उपरान्त वह ब्राह्मणों को जल, पुष्प, अक्षत तथा **अक्षय्योदक** प्रदान करता है। पितरों से कल्याणकारी होने की प्रार्थना करता है, तथा ब्राह्मणों से आशीर्वाद ग्रहण करता है। तदनन्तर पवित्रों के साथ **स्वधावाचनीय** कुशों को पिण्डों के पास भूमि पर या पिण्डों पर ही रखता है। मूर्धन्य ब्राह्मण से अनुमति पाकर वह सभी पितरों के **स्वधा** की प्रार्थना करता है। ब्राह्मणों द्वारा **अस्तु स्वधा** कहने पर वह **स्वधावाचनीय** कुशों पर जल छिड़कता है। इस अवसर पर वह उलटाये हुए पात्र को सीधा करता एवं ब्राह्मणों को अपनी योग्यतानुसार दक्षिणा प्रदान करता है। दैव-ब्राह्मण कहते हैं, 'सभी देव प्रसन्न हों।' तब वह सभी ब्राह्मणों को **वाजे वाजे** (वा० सं० २, १८) से विदा करता तथा कुछ दूर तक उनका अनुसरण करके लौट आता है।

ऊपर आह्निक **वैश्वदेवकर्म** की चर्चा की गयी है। इस कृत्य के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों में वैमत्य पाया जाता है कि क्या इसका अनुष्ठान श्राद्ध-कर्म से पूर्व करना चाहिये या उसके पश्चात्। कुछ लोगों के अनुसार देवों की अपेक्षा पितरों का महत्त्व अधिक है। स्वयं मनु ने कहा है—

देव-कार्याद् द्विजातीनां पितृ-कार्यं विशिष्यते।[1]

तथा यह प्रतिपादित किया है कि ब्राह्मणों के प्रस्थान के उपरान्त ही **गृह-बलि** करनी चाहिये, यहाँ मेधातिथि ने 'बलि' शब्द को केवल उपलक्षण-मात्र माना है। मत्स्य० (१७, ६१), वराह० (१४, ४३), स्कन्द० (७, १, २६६, १०१-१०२) तथा देवल प्रभृति का भी यही मत है, किन्तु हेमाद्रि के मतानुसार आहिताग्नि के विषय में **वैश्वदेव** को श्राद्ध से पूर्व करना चाहिये। केवल ११वें दिन का श्राद्ध इस विषय में अपवाद है।

अन्य लोगों के लिए इस विषय में तीन विकल्प रखे गए हैं—**अग्नौकरण** के पश्चात्, **विकिर** (बिना संस्कारों के मृत व्यक्तियों के लिए दर्भों पर भोजन बिखेरने) के पश्चात् अथवा **श्राद्ध-समाप्ति** के पश्चात्, ब्राह्मणों के प्रस्थान के उपरान्त[2]। यदि **वैश्वदेव** श्राद्ध के पूर्व या मध्य में किया जावे, तो वैश्वदेव तथा श्राद्ध के लिए भोजन पृथक्-पृथक् बनाना चाहिये। किन्तु यदि इसे श्राद्ध (साग्निक या अनग्निक सम्बन्धी) से बाद किया जाता है, तो उसका सम्पादन श्राद्ध कर्म से अवशिष्ट भोजन से होना चाहिये। पैठीनसि का भी यही मत है कि वैश्वदेव को श्राद्ध के उपरान्त ही करना चाहिये[3]। किन्तु हमने देखा है कि कात्यायन ने इस कर्म को श्राद्ध से पूर्व करने का ही विधान किया है।

इस कर्म की विशेषता यह है कि इसमें विश्वेदेवों का आवाहन किया जाता है। दैव-ब्राह्मणों को पृथक् आमन्त्रित किया जाता है। इसमें सीधे दर्भों का प्रयोग तथा दैव ब्राह्मणों की अनुमति से ही विश्वेदेवों का आवाहन, तिलों के स्थान पर यवों का ब्राह्मणों के समक्ष विकिरण, यज्ञोपवीती होकर सभी कर्मों का अनुष्ठान, उत्तराभिमुख होकर कृत्य-सम्पादन, दक्षिण जानु का भूमि पर टेकना, तथा सभी कृत्यों का दक्षिण प्रचार इसकी विशेषताएं हैं।

बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी तथा वैखानस, गोभिल, खादिर प्रभृति गृह्यसूत्रों में नानाविध मतमतान्तरों तथा भेदों-प्रभेदों के रहते भी श्राद्ध का मूल ढांचा इसी प्रकार का है। हि० गृ० सू० (२, १२, २-११) के अनुसार ब्राह्मणों के

---

१. मनु० ३, २०३।

२. पृ० १०६४।

३. स्मृ० च० श्राद्ध० पृ० ४१०।

विदा हो जाने पर यजमान दक्षिण-पूर्व दिशा में जाकर दर्भों पर जल छिड़क कर पितरों को समन्वक तीन पिण्ड प्रदान करता है। चतुर्थ का भी तूष्णीं वैकल्पिक विधान है। कर्ता अन्न के पात्रों को धोकर, तीन चुल्लू जल पिण्डों के चारों ओर अप्रदक्षिण क्रम से छिड़क कर, दोनों हाथों को एक दूसरे के ऊपर व्यत्यस्त रखकर, पितरों की अर्चना करके, किसी नदी पर जा कर, तीन चुल्लू जल पितरों को अर्पित करता है। शां० गृ०सू० (४,१, ९-१२) में ब्राह्मण-भोजन से पूर्व तथा पश्चात् दोनों समय पिण्ड-दान का विधान है।

एकोद्दिष्ट

एकोद्दिष्ट उसे कहते हैं, जिसमें एक ही व्यक्ति को उद्देश्य करके श्राद्ध किया जाता है। यह **पार्वण-श्राद्ध** का ही संशोधित रूप है। इस में **एक ही अर्घ्य,** एक ही पवित्र, एक ही पिण्ड का विधान किया गया है। **आह्वान, अग्नौकरण** तथा **वैश्वदेविक ब्राह्मणों** का विधान नहीं है। ब्राह्मण-भोजन के उपरान्त **स्वदितम्** रूपी प्रश्न तथा इसके उत्तर में **सुस्वदितम्** उत्तर कहने का निर्देश है। विदा के समय ब्राह्मणों को **अभिरम्यताम्** कहा जाता है। जिसके उत्तर में वे कहते हैं—**अभिरताः स्मः**[1]। बौ० ध० सू० (३, १२, ६) के अनुसार इसमें **देवकर्म (विश्वेदेवों से सम्बद्ध),** धूप, दीप, स्वधा, नमस्कार, अपूप प्रभृति कुछ भी नहीं होता। शां० गृ० सू० (४, २, ७) के अनुसार द्विज की मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त, जब तक सपिण्डीकरण नहीं हो जाता, प्रत्येक मास में प्रेतात्मा के लिए यह श्राद्ध किया जाना चाहिये। **इसमें ये च त्वामनु** (श० ब्रा० २, ४, २, १९) मन्त्र नहीं पढ़ा जाता (किन्तु तु. आश्व० श्रौ० सू० २, ६, ५), तथा सपिण्डीकरण से पूर्व 'पितृ' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता, इस के स्थान पर 'प्रेत' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस का उद्देश्य ही प्रेत को पितरों की कोटि में सम्मिलित करना है। वि० ध० सू० (२१, १) के अनुसार प्रथम **एकोद्दिष्ट श्राद्ध** अशौच की अवधि समाप्त होने पर करना चाहिये। किन्तु अशौच की अवधि के विषय में भी मतभेद पाया जाता है। अपरार्क ने व्याघ्र के एक श्लोक से दर्शाया है कि **एकोद्दिष्ट** मृत्यु के पश्चात् ११वें या चौथे दिन या प्रत्येक मास के अन्त में वर्ष भर और प्रत्येक वर्ष मृत्यु के दिन किया जा सकता है।

पुराणों तथा स्मृतियों (अपरार्क, पृ० ५२५; निर्णयसिन्धु, ३, पृ० २९५) में **एकोद्दिष्ट** को **नव, नवमिश्र** तथा **पुराण** इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। **नव-श्राद्धों** के विषय में भी कई मत हैं। आश्व० गृ० परि० (३, ६) में पांच श्राद्ध-कर्मों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें **नव श्राद्ध या विषम श्राद्ध** की संज्ञा दी गयी है, जो क्रमशः विषम दिनों में अर्थात् प्रथम,

---

१. श्राद्धसूत्र, कण्डिका ४; कौ० गृ० सू० ४, २;

तृतीय, पञ्चम, सप्तम तथा नवम या एकादशवें दिन भी (गरुड़ पु०, प्रेतखण्ड, ३४, ३६) किये जाते हैं। इनमें बिना पका भोजन दिया जाता है। आपस्तम्ब के मतानुसार (धर्मसिन्धु, पृ० ४६४; निर्णयसिन्धु पृ० ५८८; श्राद्धतत्त्व, पृ० ६१९) पांच अथवा छह दिनों में श्राद्ध का विकल्प भी होता है।

बौ० पि० सू० (२, १०, ६) ने पांच श्राद्ध ही माने हैं। शुद्धिप्रकाश (पृ० २१४) ने कात्यायन तथा वृद्ध वसिष्ठ के नाम से उद्धरण देकर कहा है कि मृत व्यक्ति तब तक प्रेतावस्था में रहता है, जब तक **नव श्राद्ध** न किये जायें। इन के विषम दिनो में दो पिण्ड दिये जाते हैं—एक प्रतिदिन का और दूसरा नवश्राद्ध का। ऐसा प्रतीत होता है कि **नव-श्राद्धों** का सम्पादन—जो अशौच के दिनों में किया जाता है—मृत्यु के स्थल, दाह के स्थल अथवा जल-तर्पण एवं पिण्ड-दान के स्थल पर किया जाता है, घर पर नहीं[1], जबकि **एकोद्दिष्ट** अशौच की समाप्ति के उपरान्त १२वें दिन या मास के अन्त में या तत्पश्चात् भी घर में ही किये जाते हैं।

नव-श्राद्धों में धूप, दीप, 'स्वधा नमः' प्रभृति मन्त्रों, 'अनु'-शब्द, ब्राह्मण-भोजन के समय जप तथा मन्त्रों का उच्चारण नहीं होता। **पुराण** वे श्राद्ध होते हैं जो मृत्यु के एक वर्ष के पश्चात् किये जाते हैं।

एकोद्दिष्ट श्राद्ध को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है—
नव, नवमिश्र, तथा **पुराण**।

नव-श्राद्ध उन्हें कहते हैं, जो व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् एकादश दिनों के भीतर किये जाते हैं। **नवमिश्र** उन्हें कहा जाता है जो ग्यारहवें दिन के पश्चात् एक वर्ष तक प्रति मास किये जाते हैं। वार्षिक श्राद्ध को **पुराण** की संज्ञा दी गयी है।

नव श्राद्धों की संख्या के विषय में मतभेद पाया जाता है। आश्वालयन के अनुसार इन की संख्या छह है। वसिष्ठ के मतानुसार यदि किसी कारणवश नवें दिन श्राद्ध नहीं किया जा सकता, तो पांच श्राद्ध ही पर्याप्त हैं। शिवस्वामी के अनुसार यह संख्या-भेद शाखा-भेद पर आधृत है। पुराणों में यह वर्ण-भेद पर आश्रित माना गया है। भविष्यत्पुराण के अनुसार वैश्यों के लिए नौ नव-श्राद्ध होते हैं, क्षत्रियों के लिए सात। अन्य दो वर्णों—ब्राह्मणों तथा शूद्रों के लिए छह-छह। नागर खण्ड के अनुसार प्रत्येक वर्ण के लिए नौ नव-श्राद्ध आवश्यक हैं।

---

१. काणे, ध० शा० इ० भाग ३, पृ० १२८०; द्र. स्मृ० च०, अशौच, पृ० १७६।

कात्यायन-स्मृति के अनुसार चार **नव-श्राद्ध** ही पर्याप्त हैं, जिनका अनुष्ठान चौथे, पांचवें, नवें तथा ११वें दिनों में किया जाता है। व्यास के अनुसार ये चार श्राद्ध प्रथम, सप्तम, नवम तथा एकादश दिनों में विहित हैं।

ब्रह्मपुराण के अनुसार एक वर्ष में १६ श्राद्ध करने चाहियें। चार श्राद्ध तो चतुर्थ, पञ्चम, नवम तथा एकादश दिनों में तथा प्रत्येक मास एक-एक श्राद्ध करके १६ की संख्या पूर्ण की जाती है। जातूकर्ण्य के मत में १२ मासिक श्राद्ध, दो षाण्मासिक श्राद्ध, आद्य श्राद्ध तथा सपिण्डीकरण मिलकर १६ श्राद्ध विहित हैं।

हारीत की सम्मति में यदि किसी अनिवार्य कारणवश प्रतिमास श्राद्ध नहीं हो सके, तो १ दिन में ही सोलह श्राद्ध किये जा सकते हैं[1]।

कूर्मपुराण के अनुसार तो ब्राह्मण-भोजन, क्षौर-कर्म तथा अस्थि-चयन के अतिरिक्त नव-श्राद्ध में कोई कृत्य नहीं है।

ग्यारहवें दिन के श्राद्ध को अधिकांश आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण घोषित किया है। अतः क्षत्रियों तथा अन्य वर्णों के लिए यह कृत्य उनकी शुद्धि के अगले दिन ही कर्तव्य है।

अशौच के दिनों में इस कृत्य के अनुष्ठान के विषय में मतभेद पाये जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह हो सकता है कि आरम्भ में अशौच का विचार इतना विकसित नहीं हो पाया था। इसी कारण पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित चतुर्थ दिन के श्राद्ध को अवर आचार्यों ने निषिद्ध घोषित कर दिया।

इसके अतिरिक्त प्राचीनकाल में आतिवाहिक शरीर का विचार भी उदित नहीं हुआ था। यह एक पौराणिक उद्भावना है। अतः प्राचीन काल में मृतक को प्रेत ही माना जाता था। इसी कारण प्रेत-श्राद्ध की व्यवस्था मृत्यु के अनन्तर दस दिनों के भीतर भी की गयी थी।

आतिवाहिक शरीर के विचार के विकसित हो जाने पर प्रेत-श्राद्ध लुप्त हो गया। किन्तु शुद्धि के अगले ही दिन के श्राद्ध को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा। इसी कारण शास्त्रकार सोलह श्राद्धों की संख्या की पूर्ति के लिए **नव-श्राद्धों** की परिगणना ही नहीं करते। उनके अनुसार **नवश्राद्ध एकोद्दिष्ट** श्राद्धों से भिन्न श्रेणी के श्राद्ध हैं। अन्य लोग इन श्राद्धों के अनुष्ठान के विधान-वचनों की प्रामाणिकता को ही सन्देहास्पद समझते हैं। वे **नवश्राद्ध** या पूर्वक्रिया को **पूरकपिण्ड** कह कर उन्हें श्राद्ध की श्रेणी से निरस्त कर देते हैं।

---

१. **दक्षिणारञ्जन**, एन्सेस्टर वर्शिप पृ० ६५।

माधव के मत में विष्णुपुराण के अनुसार सपिण्ड, समानोदक, दामाद तथा सगे सम्बन्धी कोई भी **नव-श्राद्ध** तथा **नव-मिश्र** श्राद्ध करने के अधिकारी हैं। किन्तु उत्तरक्रियाएं करने का अधिकार केवल पुत्रों अथवा इस कोटि के अन्य व्यक्तियों को ही प्राप्त है।

ग्यारहवें दिन तथा उसके उपरान्त अनुष्ठित श्राद्धों का लाभ मृतक की प्रसन्नता है। वर्ष भर के श्राद्धों के अनन्तर **सपिण्डीकरण** के पश्चात् वह पितृ-पदवी को प्राप्त करता है।

शूलपाणि के अनुसार सोलह श्राद्धों के फलस्वरूप मृतक प्रेत-भाव से छुटकारा पा लेता है। भविष्यत्पुराण के अनुसार जिसके पुत्र **नव-श्राद्धों** तथा **नव-मिश्र** श्राद्धों का अनुष्ठान नहीं करते, वह मृतक अधोगति को प्राप्त होता है।

नव-मिश्र श्राद्धों के अनुष्ठान से मृतक प्रेतभाव से मुक्ति प्राप्त करता है। प्राचीन आचार्यों की सम्मति में **नव-श्राद्ध** ऐसे अनिवार्य कृत्य हैं, जिन्हें सूतक के अशौच से अशुद्ध व्यक्ति भी त्याग नहीं सकता। ऐसा छागलेय का मत है।

गृह्य परिशिष्ट में जल, धूप, सुगन्धि, पुष्पमाला तथा पिण्डोदक प्रदान करने की चर्चा नहीं की गयी। इसमें कर्ता को उच्छिष्ट भोजन नहीं खाना चाहिये। उसे श्राद्ध में भोजनार्थ समागत ब्राह्मणों को ही खाना चाहिये, किन्तु वार्षिक या **पुराण** श्राद्ध में उच्छिष्ट का भक्षण सगे-सम्बन्धी कर सकते हैं।

हारीत के मतानुसार **एकोद्दिष्ट** का अनुष्ठान कर्ता के द्वारा स्वयं पकाए गए भोजन से सम्पन्न किया जाना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समय के साथ-साथ श्राद्ध का अनुष्ठान भी जटिल से जटिलतर होता गया।

मनु ने **एकोद्दिष्ट** का समय मध्याह्न निश्चित किया है।

शंख ने **सपिण्डीकरण** से पूर्व अनुष्ठेय **एकोद्दिष्ट** में १८ निषेधों की व्यवस्था दी है[1]।

सपिण्डीकरण या सपिण्डन—

इस कर्म द्वारा पिण्ड प्राप्त करने वाले पितरों के समाज में मृतात्मा को भी सम्मिलित किया जाता है और वह भी 'पितर' कहलाने के योग्य हो जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके काल के विषय में अनेक मतभेद पाये जाते हैं। कौ० गृ० सू० (४, २) के मत में मृत्यु के उपरान्त एक वर्ष के अन्त में या तीन पक्षों के अन्त में या पुत्रजन्म अथवा विवाह जैसे शुभ अवसर पर **सपिण्डीकरण** हो जाना

---

१. **दक्षिणारञ्जन**, वही, पृ० ६६-६८।

चाहिये। भार० गृ० सू० (३, १७) के अनुसार मृत्यु के पश्चात् एक वर्ष के अन्त में या ११वें या छठे या पाञ्चवें मास में या १२वें दिन यह कर्म सम्पन्न किया जाता है। बौ० पि० सू० (२, १२, १) में इस विषय में पांच काल निर्धारित किये गए हैं—एक वर्ष, ११वां, छठा, या पांचवां मास या १२वां दिन। वि० ध० सू० (२१, २०) ने शूद्रों के लिए मृत्यु के पश्चात् १२वें दिन अमन्त्रक **सपिण्डीकरण** की व्यवस्था दी है। गोभिल के मत में **सपिण्डीकरण** के पश्चात् प्रतिमास श्राद्ध नहीं करना चाहिये, किन्तु गौतम (या 'शौनक'—अपरार्क, पृ० ५४३) के मतानुसार इसका सम्पादन **एकोद्दिष्ट** श्राद्धों की पद्धति के अनुरूप ही होता है। इसके विषय में स्मृतियों तथा पुराणों में अन्य मत भी व्यक्त किये गये हैं। अन्य सूत्रों में प्रतिपादित **सपिण्डीकरण** की पद्धति का संक्षेप इस प्रकार है[1]—

कृत्य से एक दिन पूर्व छः ब्राह्मणों (दो दैव, एक प्रेतार्थ, तीन पितरों के लिए) को निमन्त्रण, **अग्नौकरण**, ब्राह्मण-भोजन तथा इसके साथ ही साथ मन्त्र-पाठ (बौ० पि० सू० ३, १२, १२), वैश्वदेव ब्राह्मणों का सम्मान, धूप, दीप, **स्वधानमः** आदि के पश्चात् चन्दनलेप, जल एवं तिलों से युक्त चार अर्घ्यं-पात्र—एक प्रेतार्थ तथा तीन पितरों के लिए—तय्यार किये जाते हैं। ब्राह्मणों से अनुमति प्राप्त करके प्रेत तथा पितरों के पात्रों में कुश-प्रक्षेप, प्रेतपात्र में कुछ जल शेष छोड़कर शेष पितरों के पात्रों में समन्त्रक (वा० सं० १९, ४५-४६) डालना, प्रेत-पात्र से प्रेत को तथा पितृ-पात्रों से पितरों को अर्घ्यदान, चार पिण्डों का निर्माण, प्रेत-पिण्ड के तीन भाग करके एक-एक भाग का एक-एक पितृ-पिण्ड में समन्त्रक सम्मिश्रण (वा० सं० वही) मुख्य कर्म हैं। **सपिण्डीकरण** में **पार्वण** तथा **एकोद्दिष्ट** का सम्मिश्रण है। इसके उपरान्त प्रेत पितरों की श्रेणी में सम्मिलित हो जाता है तथा उसकी भूख-प्यास की यातनाएं समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि अब वह वसु, रुद्र तथा आदित्य नामक देवताओं के सम्पर्क में आ जाता है।

कुछ ग्रन्थों में प्रेत-पात्र से पितृ-पात्रों में जल-सम्मिश्रण के मन्त्रों के विषय में भेद पाया जाता है[2]। स्मृतियों तथा पुराणों में कुछ और भी विस्तार किया गया है[3]। मनु० (५, ८९-९०) के अनुसार कुछ प्रेतों का जल-तर्पण तथा **सपिण्डीकरण** निषिद्ध है, यथा—नास्तिक, सन्न्यासी, आत्मघाती, वर्णसङ्कर, व्यभिचारिणी, भ्रूण तथा पति की हत्यारिणी तथा सुरापी नारी[4]।

---

१. शां० गृ०सू० (५,९); कौ० गृ० सू० (४,२); बौ० पि० सू० (३,१२,१२); का० श्रा० सू० (कण्डिका ५) तथा वि० ध० सू० २१, १२-२३।

२. द्र. वि० ध० सू० २१, १४; आश्व० गृ० परि० ३, ११।

३. द्र. या० स्मृ० १, २५४, तथा इस पर मिताक्षरा; मार्क० पु० २८, १७-१८; गो० स्मृ० ३, १०२; मनु० ९,१८३ = वा० ध० सू० १७,११, नि० सि० ३, पृ० ३८८।

४. द्र. या० स्मृ० ३, ६ तथा मिताक्षरा।

आभ्युदयिक श्राद्ध—आश्वलायन प्रभृति सूत्रों में[1] इस श्राद्ध का संक्षेप से वर्णन किया गया है। यह श्राद्ध प्रायः पुत्र-जन्म, चौल-कर्म, उपनयन एवं विवाह जैसे शुभ अवसरों पर किया जाता है, या फिर **पूर्तकर्म** (कूप, तडाग, वाटिका आदि का जनकल्याणार्थ निर्माण) के समय पर। इन माङ्गलिक अवसरों पर किये जाने वाले इस कृत्य में युग्म-संख्यक ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया जाता है। एवं तिलों के स्थान पर यवों का प्रयोग किया जाता है। सभी कर्मों को बाएं से दाहिने सम्पन्न करना चाहिये। अपरार्क (पृ० ५१४) के अनुसार यह **पार्वण श्राद्ध** की ही विकृति है। अतः इस में विशिष्ट विषयों के अतिरिक्त **पार्वण** के ही नियमों का पालन किया जाता है। आश्व० गृ० परि० (२, १९) में भी इसका संक्षिप्त किन्तु उपयोगी विवरण दिया गया है।

पुत्रोत्पत्ति के समय तो यह कृत्य तत्क्षण किया जाता है। तदतिरिक्त अवसर में प्रातःकाल किये जाने वाले इस श्राद्ध के विश्वेदेव सत्य और वसु होते हैं। इसमें प्रयोज्य दर्भ सीधे होते हैं, दुहरे नहीं किये जाते, न ही जड़-युक्त होते हैं। कर्ता यज्ञोपवीती रह कर कर्म करता है। **स्वधा** शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। कृत्य के समय कर्ता पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठता है। यवों के लिए **यवोऽसि**[2] मन्त्र पढ़ता है; **नान्दी-मुख** पितरों का आह्वान करके अर्घ्यदान, चन्दन-लेप, धूप, दीप का दो बार दान, होम ब्राह्मण के हाथ पर सम्पाद्य, ब्राह्मण-भोजन के समय रक्षोघ्न मन्त्रों, ऐन्द्र मन्त्रों तथा शान्ति-मन्त्रों का पाठ, पितरों के लिए **उपास्मै गायता नरः** (ऋग्० ९,११,१-५) मन्त्रों का पाठ[3], ब्राह्मण-भोजन के उपरान्त उनकी तृप्ति के विषय में प्रश्न **सम्पन्नम्** ? पूछने पर उनका उत्तर **सुसम्पन्नम्** होता है। **नान्दीमुख** पितरों से आशीर्वाद पाने की अनुमति प्राप्त करके तथा ब्राह्मणों के आचमन कर चुकने पर कर्ता द्वारा भोजन-स्थल पर गोबर-लेपन, दर्भों के अग्रभाग को पूर्वाभिमुख करके उन्हें बिछाना, तथा उन पर प्रत्येक पितर के लिए दो पिण्ड स्थापित करना, जो ब्राह्मण-भोजन से अवशिष्ट भोजन में दही, बेर तथा **पृषदाज्य** (घृत-मिश्रित दधि) मिला कर बनाये जाते हैं, एवं मातृपक्ष तथा पितृपक्ष के छहों पितरों के लिए होते हैं।

आश्व० गृ० सू० (२, १९) के अनुसार इसमें पिण्डार्पण नहीं होता (किन्तु द्र० याज्ञ० स्मृ० १, २५०, तथा मिताक्षरा)। श्राद्धतत्त्व प्रभृति के अनुसार सामवेदियों के लिए इसमें मातृश्राद्ध का विधान नहीं है। सम्भव है कि **अन्वष्टक्य**

---

१. आश्व० गृ० सू० २,५,१३-१५, शां० गृ० सू० ४,४; गो०गृ० सू० ४,३, ३५-३७, कौ० गृ० सू० ४,४; बौ० गृ० सू० ३,१२, २-५ तथा का० श्रा० सू० कण्डिका ६।

२. वा० सं० ५, २६; ६, १; तै० सं० १, ३, १, १; मै०सं० १, २, ११।

३. **मधुमती-मन्त्रों** ऋग्० १, ९०, ६-८=वा० सं० १३, २७-२९ का नहीं।

श्राद्ध से प्रभावित होकर मातृपक्ष का श्राद्ध भी किया जाने लगा हो, जैसा कि आश्व० गृ० सू० २, ५, १, ३-५ से प्रकट होता है—**अपरेद्युरन्वष्टक्यं''' पिण्डपितृयज्ञे कल्पेन हुत्वा मधुमन्थवर्जं पितृभ्यो दद्यात्। स्त्रीभ्यश्च सुरा चाचाममित्यधिकम्।**

नान्दीमुख को ही **वृद्धि-श्राद्ध** भी कहते हैं। मार्क० पु० (२८, ६) के अनुसार कुछ लोगों का मत है कि इस श्राद्ध में **वैश्वदेव ब्राह्मण** नहीं होते।

वार्षिक (प्रतिसांवत्सरिक) श्राद्ध

यह श्राद्ध व्यक्ति की मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् उसी तिथि पर किया जाता है। यद्यपि गोभिलश्राद्धकल्प में इस का विधान किया गया है, तो भी विद्वानों ने इस विधान की सत्यता पर सन्देह व्यक्त किया है, क्योंकि गोभिलश्राद्ध के पाश्चात्य संस्करण में यह विधान उपलभ्य नहीं; न ही प्राचीन व्याख्याकारों ने इस की चर्चा की है। छन्दोगों के अन्य किसी भी सूत्रग्रन्थ ने इस का उल्लेख नहीं किया। पारस्कर ने भी इस की चर्चा नहीं की, किन्तु कात्यायन के श्राद्धसूत्र (कण्डिका ५) में इस का विधान किया गया है—**अत ऊर्ध्वम् प्रेतायान्नं दद्यात् यस्मिन्नहनि प्रेतः स्यात्।**

अतः स्पष्ट है कि कात्यायन ने ही सर्वप्रथम इस सम्बन्ध में सूचना दी है। लौगाक्षि ने इस श्राद्ध को अनिवार्य घोषित किया है, चाहे इसे पुरोहित को ही क्यों न करना पड़े। इस के विषय में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठ खड़ा हुआ है कि इसे **पार्वणविधि** से सम्पन्न किया जाये या **एकोद्दिष्ट विधि** से। एक मत के अनुसार आहिताग्नि पुत्रों (औरस, क्षेत्रज या पुत्रिका) को तो इसे **पार्वणविधि** से करना चाहिये, किन्तु अनाहिताग्नियों को **एकोद्दिष्ट-विधि** अपनानी चाहिये। अन्य मत के अनुसार अनाहिताग्नि औरस, क्षेत्रज तथा पुत्रिका श्रेणी की सन्तति को यह श्राद्ध **पार्वण-विधि** से उस पिता के लिए करना चाहिये, जिस की मृत्यु अमावास्या अथवा आश्विन मास के अन्धेरे पक्ष में हुई हो।

वार्षिक पार्वण श्राद्ध तथा अन्य **पार्वण श्राद्ध** में परस्पर भेद पाया जाता है। यहां कर्ता केवल पिता, पितामह तथा प्रपितामह की ही अर्चना करता है। सामान्य **पार्वण** में मातृपक्ष के तीन पूर्वजों को भी पिण्डदान किया जाता है। दूसरे, सामान्य **पार्वणश्राद्ध** में पितरों की पत्नियों को पिण्डदान की व्यवस्था है, जबकि **वार्षिक पार्वण** में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।

माता और पिता की मरण-तिथि एक होने पर दोनों के श्राद्ध पृथक्-पृथक् करने चाहियें तथा जिस की मृत्यु पहले हुई हो उस का श्राद्ध पहले करना चाहिये। किन्तु मृत्यु का पौर्वापर्य अज्ञात होने की स्थिति में पिता का श्राद्ध पहले होता है। यदि दोनों एक ही चिता पर जलाये गये हों, तो नामग्रहण-पूर्वक दोनों के लिए

एक ही पिण्ड दिया जाता है। पुत्रहीन व्यक्ति का **पार्वणश्राद्ध** नहीं किया जाता, **एकोद्दिष्ट** किया जाता है। यति का **एकोद्दिष्ट** नहीं किया जाता, पार्वण ही किया जाता है।

वार्षिक श्राद्ध पार्वण का अंग है, अतः **पार्वण** के लिए व्यवस्थित समय ही वार्षिक के लिए भी उपयुक्त माना गया है। जिस की मरणतिथि अज्ञात हो, उस का वार्षिक श्राद्ध ज्ञात मास की अमावास्या को किया जा सकता है। अथवा मारीचि के अनुसार कृष्णपक्ष की एकादशी इस के लिए उपयुक्त समय है। मृत्यु का मास अज्ञात होने पर मार्गशीर्ष, भाद्र तथा माघ मास की ज्ञात तिथि को श्राद्ध कर लेना चाहिये। इस विषय में अनेक प्रकार के ऊहापोह करके अनेक प्रकार की व्यवस्थाएं शास्त्रकारों ने दी हैं। और धीरे-धीरे श्राद्ध की जटिलताओं में वृद्धि होती गयी है।

पिण्डान्वाहार्य

गो० गृ० सू० (४, ४, १३) ने **अन्वाहार्य** या **पिण्डान्वाहार्य** (आप० गृ० सू० २०, ८, १-९) नामक श्राद्ध का उल्लेख किया है। इसे मनु (३, १२२-१२३) ने **'पिण्डान्वाहार्यक'** की संज्ञा दी है। इस का अनुष्ठान मास के द्वितीयार्ध में **पिण्डपितृयज्ञ** के उपरान्त उसी दिन विहित है[1]। इस का अनुष्ठान आहिताग्नि के लिए किया जाता है तथा प्रतिमास करने का विधान है। कर्ता ब्राह्मणों के लिए पकाये गये भोजन की आहुतियां देकर आज्याहुतियां अग्नि में प्रदान करता है। ब्राह्मणों के भोजन करके विदा हो जाने के उपरान्त कर्ता उन की प्रदक्षिणा करके दक्षिणाग्र दर्भों की दो पूलियां भूमि पर बिछा कर, जल छिड़क कर, उन पर पिण्ड स्थापित करता है, पूर्वजों की अर्चना करके पिण्डों के चारों ओर पात्र से तीन बार दाहिने से बायें जल ढारता है। औंधे किये हुए पात्रों पर जल छिड़कता है, उन्हें दो-दो करके स्थापित करता है। सभी पक्वान्नों से थोड़ा-थोड़ा भाग काट कर कम से कम एक ग्रास अवश्य खाता है। मनु ने इस में मांस का विधान किया है, यद्यपि **पिण्डपितृयज्ञ** में मांस का विधान नहीं किया गया। अमावास्या के दिन **पिण्डपितृयज्ञ** के पश्चात् **अन्वाहार्य** का ही अनुष्ठान किया जाता है, जो **पार्वण श्राद्ध** के समान ही है। यद्यपि गोभिल ने **पिण्डपितृयज्ञ** को भी श्राद्ध की संज्ञा दी है, किन्तु इसे श्राद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस श्रौतकर्म में ब्राह्मण-भोजन का कहीं विधान नहीं है, जबकि गृह्यसूत्रों ने **पिण्डपितृयज्ञ** में भी ब्राह्मण-भोजन को कर्माङ्ग मान कर इसे

---

१. शां० गृ० सू० (४, १,१३) में **पिण्डपितृयज्ञ** के अतिरिक्त **मासिक-श्राद्ध** की चर्चा भी की गयी है।

श्राद्ध की कोटि में सम्मिलित कर लिया है जबकि इस में पिण्डदान ही प्रधान कर्म है, ब्राह्मणभोजन नहीं[1]।

महालय श्राद्ध—यह आषाढ़मास की पूर्णिमा से पांचवें पक्ष में भाद्रपद (आश्विन) के कृष्णपक्ष में विहित है। इस की यह संज्ञा इसी लिए पड़ी कि इस मास का कृष्णपक्ष पितरों के 'मह' (उत्सव) का 'आलय' (निवास) है। यह श्राद्ध **पार्वण** की पद्धति से होता है। यदि किसी प्रकार इस विधि से सम्पन्न न किया जा सके, तो सङ्कल्पविधि से भी किया जा सकता है, जिस में आवाहन, अर्घ्य, होम, तथा पिण्डदान के अतिरिक्त शेष विधि **पार्वण** की ही होती है। ब्राह्मणभोजन अनिवार्य होता है। इसके विश्वेदेव 'धुरि' तथा 'लोचन' होते हैं तथा यह सभी सम्बन्धियों, इष्टमित्रों एवं गुरु अथवा शिष्य के लिए किया जा सकता है। संन्यासी का महालय श्राद्ध इस पक्ष की द्वादशी को उस के पुत्र द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

'**मातामहश्राद्ध**' या '**दौहित्रप्रतिपदाश्राद्ध**' उसे कहते हैं, जिसे माता-पिता के जीवित रहते तथा मामा के होते हुए भी दौहित्र अपने नाना के लिए आश्विन मास की शुक्लप्रतिपदा को करता है। यह **पिण्डदान** के बिना भी सम्पन्न किया जा सकता है।

अविधवानवमीश्राद्ध माता या कुल की अन्य सधवा स्त्रियों के लिए आश्विन के कृष्णपक्ष की नवमी को किया जाता है। उस नारी के पति के न रहने पर इसे समाप्त कर दिया जाता है। इस में ब्राह्मण के अतिरिक्त एक सधवा नारी को भी भोजन खिलाने के अतिरिक्त मेखला, माला, तथा कङ्गन दान में दिये जाते हैं।

अष्टका श्राद्ध

प्राचीन काल में मृत पूर्वजों के लिए करणीय तीन प्रमुख कृत्यों में **अष्टका** (श्राद्ध) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था। गौ० ध० सू० (८, १९) में **अष्टका** को सात पाकयज्ञों एवं चालीस संस्कारों में गिना गया है। **अष्टका** शब्द की व्युत्पत्ति के मूल में पूर्णिमा के पश्चात् किसी मास की अष्टमी तिथि पर करणीय कृत्य प्रतीत होता है[2]। श० ब्रा० (६, २, २, २३) में कहा भी गया है कि 'प्रजापति के लिए पूर्णिमा के पश्चात् आने वाली अष्टमी पवित्र है और प्रजापति के लिए यह कृत्य (अग्नि चयन) भी पवित्र है।' जैमिनि० (१,३,२) के भाष्य में शबर ने अथर्व० (३, १०, २) तथा आप० मन्त्र० (२०, २७) में पठित मन्त्र को **अष्टका** का द्योतक माना है।

---

१. दक्षिणारञ्जन शास्त्री, 'ओरिजिन एण्ड डिवेलपमैण्ट ऑफ द रिचवल्स ऑफ एन्सेस्टर वर्शिप इन् एन्शैण्ट इण्डिया। बुकलैण्ड प्राइवेट लिमिटिड, कलकत्ता, १९६३; पृ० १०५।

२. श० ब्रा० ६, ४, २, ४०।

तै० सं० (७, ४, ८, १) में कहा गया है, 'जो लोग संवत्सर सत्र के लिए दीक्षा लेते हैं, उन्हें **एकाष्टका** के दिन दीक्षा लेनी चाहिये, क्योंकि **एकाष्टका** वर्ष की पत्नी है।' जैमिनि० (६, ५, ३२-३७) में **एकाष्टका** को माघ की पूर्णिमा के पश्चात् आने वाली अष्टमी कहा भी है। गौ० ध० सू० (८, १९) पर हरदत्त के भाष्य में यही बात व्यक्त की गयी है, किन्तु शर्त यह लगा दी गयी है कि उस तिथि में चन्द्रमा को ज्येष्ठा नक्षत्र में होना चाहिये।

प्रतीत होता है कि आरम्भ में **अष्टका** नव वर्ष की रात्रि के उत्सव के रूप में मनायी जाती थी, इसका पितरों से कोई सम्बन्ध नहीं था[1]। आश्व० गृ० सू० (२, ४, १) के अनुसार **अष्टका** से हेमन्त तथा शिशिर की दो ऋतुओं के चार मासों के कृष्ण पक्षों की अष्टमियों के चार कृत्यों का बोध होता है, जबकि अधिकांश गृ० सू०,[2] कहते हैं कि **अष्टका कृत्य** केवल तीन ही होते हैं—आग्रहायणी (मार्गशीर्ष की पूर्णिमा के बाद की अष्टमी), पौष तथा माघ की कृष्णपक्षीय अष्टमियों में। गो० गृ० सू० (३, १०, ४) के साक्ष्य के अनुसार कौत्स के मत में चार अष्टकाएं होती हैं एवं सभी में मांस दिया जाता है, जबकि अन्य तीन ही मानते हैं।

बौ० गृ० सू० (२,११,१) के अनुसार पौष (तैष), माघ तथा फाल्गुन में तीन **अष्टका**-होम किये जाते हैं। आश्व० गृ० सू० (२, ४, २) के अनुसार केवल एक ही अष्टमी के दिन भी **अष्टका**-कृत्य सम्पन्न किया जा सकता है।

बौ० गृ० सू० (२, ११, १-४) के मत में **अष्टका** कृत्य माघ मास के कृष्ण-पक्ष की तीन तिथियों (सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी) को या केवल एक ही दिन माघ कृष्णा अष्टमी को ही सम्पन्न किया जा सकता है। हि० गृ० सू० (२, १४, २) ने केवल **एकाष्टका** का ही उल्लेख किया है। भार० गृ० सू० (२, १५) ने भी एक माघ की **अष्टका** का ही विधान किया है, किन्तु शर्त यह है कि उस दिन चन्द्रमा ज्येष्ठा नक्षत्र में होना चाहिए। वै० स्मा० सू० (४, ८) की व्यवस्थानुसार अष्टकाएं माघ या भाद्रपद (आश्विन) के कृष्ण पक्ष की ७, ८, ९ तिथियों में होनी चाहियें।

अष्टका सम्बन्धी आहुतियों के विषय में भी बहुत मतभेद पाया जाता है[3]। जै० गृ० सू० (२, ३) तथा शां० गृ० सू० (३, १२, २) के अनुसार तीन विभिन्न **अष्टाकाओं** में सिद्धशाक, मांस तथा अपूपों (पुओं) की आहुतियों का विधान है,

---

१. ओल्डनबर्ग, इण्डिस्टु० १५, पृ० १४५ से; जॉली, ध० शा० देज़ विष्णु, पृ० ४२; विण्टरनित्स W. Z. K. M., भाग ४, पृ० २०५; वे० इण्ड०, भाग २, पृ० १५७-५८।

२. मा० गृ० सू० २, ८, शां० गृ० सू० ३, २, १; खा० गृ० सू० ३, २, २७; काठ० गृ० सू० ६१, १; कौ० गृ० सू० ३, १५, १ एवं पा० गृ० सू० ३, ३।

३. द्र. गो० गृ० सू० ३, १०, ३-५; काठ० गृ० सू० ६१,३।

किन्तु पा० गृ० सू० (३, ३) तथा खा० गृ० सू० (३, ३, २९-३०) में प्रथम अष्टका (अपूपाष्टका गो० गृ० सू० ३, १०, ५) में अपूपों की, द्वितीय में मांस की तथा तृतीय में शाक की आहुतियां देनी चाहियें।

कुछ सूत्रों[1] के अनुसार गौ या उसके स्थान पर वैकल्पिक पशु-पक्षियों की लम्बी तालिका में से एक की बलि या दूध में पका चावल या फल या मूल से **अष्टका**-कृत्य सम्पन्न किया जा सकता है, या गौ को केवल घास खिला कर या वन में झाड़ियां जला कर[2] या वेदज्ञ ब्राह्मण को केवल जल रखने का घड़ा देकर या वन में दोनों बाहु उठा कर 'यह हमारी **मांसाष्टका है**' कह कर या श्राद्ध सम्बन्धी मन्त्रों का उच्चारण करके **मांसाष्टका** सम्पन्न की जाती है। मा० गृ० सू० (२, ९) में गौ को चतुष्पथ पर काट कर उसके मांस को सभी आने-जाने वालों में बांटने की विधि है। **अष्टका** के देवता के विषय में भी मतैक्य नहीं है।

आश्व० गृ० सू० (२, ४, १२) ने इस विषय में आठ विकल्प प्रस्तुत किये हैं—विश्वेदेव, अग्नि, सूर्य, प्रजापति, रात्रि, नक्षत्र, ऋतुएं, पितर तथा पशु।

विश्वेदेवों को विकल्प से देवता मानने के अनेक मतों का उल्लेख किया गया है। पा० गृ० सू० (३, ३, १-२) में इन्द्र को भी गिनाया गया है। काठ० गृ० सू० (६१, १) में इन्हें पितरों से सम्बद्ध किया गया है।

अष्टका के तीन प्रमुख अंग हैं—होम, ब्राह्मण-भोजन तथा अन्वष्टक्य या अन्वष्टका। यदि अष्टका-कृत्य तीन मासों में सम्पन्न किया जाये, तो ये तीनों अंग प्रत्येक अष्टका में किये जाते हैं। यदि एक ही माघ मास की पूर्णिमा के पश्चात् सम्पाद्य हो, तो उस मास के कृष्ण-पक्ष की सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी को ये तीनों अंग सम्पन्न किये जाते हैं। यदि सम्पूर्ण कृत्य एक ही दिन में सम्पन्न किया जाये, तो ये तीनों कर्म उसी दिन करने चाहियें।

यद्यपि अष्टकाओं की अनुष्ठान-विधि आश्व० गृ० सू०, कौ० गृ० सू०, हि० गृ० सू० तथा बौ० गृ० सू० में विस्तार-पूर्वक दी गयी है, तो भी आप० गृ० सू० (८, २१-२२) में संक्षेप से इस का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

मुख्य कृत्य से एक दिन पूर्व सायंकाल में ही कर्ता चार प्याले चावल लेकर उसकी रोटी या अष्टाकपाल पुरोडाश पकाता है। **दशपूर्णमास** यज्ञों के समान **आज्यभाग**

---

१. खा० गृ० सू० ३, ४, १; गो० गृ० सू० ३, १०, १४—४, १, १०; आश्व० गृ० सू० २, ४, ७-१०; कौ० गृ० सू० १३८, ६ तथा बौ० गृ० सू० २,११, ५१-६१।

२. ओल्डनबर्ग (रिलि० देस वे०, पृ० ४४६) ने इस कृत्य को सूर्य को शीतसम्पात के समय शक्ति प्रदान करने का प्रयास बताया है, जिस में अष्टकाएं सरकने को होती थीं, किन्तु अष्टकाकर्म में इस बात का कोई संकेत नहीं है।

पर्यन्त सभी कृत्य करके वह दोनों हाथों से उस पकी रोटी या पुरोडाश की समन्त्रक (आप० मन्त्र० २, २०, २०) आहुतियां देता है। शेष भाग के आठ भाग करके ब्राह्मणों को देता है। दूसरे दिन वह दर्भ से स्पर्श करके गौ को बलि के लिए तय्यार करता है। मौनरूप से आज्य की पांच आहुतियां देकर, पशु की वपा को पका कर तथा नीचे फैला कर, उस पर आज्य ढार कर, पलाश की पत्ती से समन्त्रक[1] आहुति देता है। तदुपरान्त भात के साथ मांस की आहुति सात मन्त्रों[2] से देता है। तदनन्तर दूध में पकाए हुए आटे की आहुति देनी होती है[3] और साथ ही आज्य की[4]। एवं स्विष्टकृत् से लेकर पिण्डदान पर्यन्त कृत्य मासिक श्राद्ध के समान किया जाता है[5]। कुछ आचार्यों के मत में पिण्ड-दान का कार्य अष्टका से एक दिन पश्चात् करना चाहिये। कर्ता अपूपों के समान ही दोनों से दही की आहुति देता है, दूसरे दिन आवश्यकतानुसार गोमांस को छोड़ कर अन्वष्टका कर्म सम्पन्न करता है।

अन्वष्टका (अन्वष्टक्य)

यद्यपि आप० गृ० सू० (२, ५, ३) तथा शां० गृ० सू० (३, १३, ७) में **अन्वष्टका** की विधि **पिण्डपितृयज्ञ** के समान मानी गयी है, तथा खा० गृ० सू० (३, ५) एवं गो० गृ० सू० (४, २-३) में इस का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है, तो भी आश्व० गृ० सू० एवं वि० ध० सू० (७४) ने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। आश्व० गृ० सू० (२, ५, २-१५) में इस कृत्य का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया गया है—

यह कृत्य कृष्णपक्ष की नवमी या दशमी को किया जाता है (खा० गृ० सू० ३, ५, १)। विशेषता यह है कि इस में स्त्री-पितरों का भी आवाहन किया जाता है तथा सुरा, माँड, अञ्जन, लेप एवं मालाएं भी प्रदान की जाती हैं। यद्यपि आश्व० गृ० सू० (२, ५) के कथनानुसार इस में **पिण्डपितृयज्ञ** के समान ही कर्मानुष्ठान किया जाता है, तो भी बौ० गृ० सू० (३, १२, १), गो० गृ० सू० (४, ४) एवं खा० गृ० सू० (३, ५, ३५) के अनुसार **पिण्डपितृयज्ञ** तथा अन्य श्राद्धों का आधार

---

१. आप० मन्त्र० २, २०, २८।

२. आप० मन्त्र० २, २०, २९-३५।

३. वही, २, २१, १।

४. वही, २, २१, २-९।

५. आप० ध० सू० ८, २१, १-९।

अन्वष्टक्य-कर्म ही है[1]। भट्टनारायण के अनुसार अन्वष्टक्य में विहित मांस का प्रयोग पिण्डपितृयज्ञ में नहीं किया जाता (गो० गृ० सू० ४, ४, १), ब्राह्मणभोजन की भी अपेक्षा नहीं। केवल पिण्डदान की अपेक्षा होती है। इस विषय में ध्यान देने की बात यह है कि अमावास्या के दिन पिण्डपितृयज्ञ को केवल आहिताग्नि ही किया करते थे, अन्य लोगों के श्राद्ध सम्भवतः इसी के अनुकरण पर अमावास्या के दिन करने का निर्देश दिया गया होगा। पिण्डपितृयज्ञ के क्षीण हो जाने पर इस अमावास्या-श्राद्ध ने ही मासिश्राद्ध का रूप धारण कर लिया प्रतीत होता है। जिस में पिण्डपितृयज्ञ के अधिकांश तत्त्व सम्मिलित कर लिये गये तथा कुछ अन्य सन्दर्भ, यथा—अर्घ्यदान, गन्ध, लेप, दीप, धूप आदि जोड़ दिये गये (द्र. काणे, वही, भाग ३, पृ० १२१०)।

आश्व० गृ०सू०(२, ५, १-१५) में अन्वष्टका (या अन्वष्टक्य) का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

अष्टका के दिन काटे गये पशु के मांस का एक भाग दक्षिण की ओर ढालू भूमि पर रख कर, उसे घेर कर, घिरी शाला के उत्तर में द्वार बना कर, अग्नि के चारों ओर तीन बार कुश रख कर, अपने वामांग को अग्नि की ओर करके, कर्ता को भात, तिलमिश्रित भात, दुग्धमिश्रित भात, दही के साथ मीठा भोजन, तथा मधु के साथ मांस रख देना चाहिये तथा पिण्डपितृयज्ञ के समान कर्म करना चाहिये (आश्व० श्रौ० सू० २, ६)। तदुपरान्त मीठे भोजन के अतिरिक्त सभी हवियों के कुछ भाग को मधु के साथ अग्नि में डाल कर, कुछ भाग पितरों को तथा सुरा एवं माँड मिला कर उन की पत्नियों को देना चाहिये।

कुछ आचार्य हवियों को दो से छह गड्ढों में रखने का विधान करते हैं। पूर्व वाले गड्ढों में पितरों को हवि प्रदान की जाती है तथा पश्चिम वाले गड्ढों में उन की पत्नियों को[2]। इस प्रकार प्रौष्ठपद (भाद्रपद) की पूर्णिमा के पश्चात् कृष्णपक्ष में मघा-नक्षत्र में इस का अनुष्ठान करना चाहिये तथा प्रतिमास करते रहना चाहिये। यहां ब्राह्मणों तथा तिथियों की विषम संख्या पर विशेष बल दिया गया है। यह कृत्य बाएं से दाहिने किया जाता है तथा तिलों के स्थान पर जौ का प्रयोग विहित है। अन्वष्टकाओं में अष्टका के दिन संज्ञपित पशु की वाम पसली तथा जंघा के मांस से निष्पन्न भोजन पितरों को समर्पित करने का विधान है (पा० गृ० सू० ३, ३, १०)।

---

१. द्र. काठ० गृ० सू० ६६, १; ६७, १; ६८, १; ६९, १।

२. आश्व० श्रौ० सू० २, ६, ७; आश्व० गृ० सू० २,५; २-८।

माघ्य-(माघ्या-) वर्ष नामक एक अन्य कृत्य का भी विधान किया गया है[१], जो भाद्रपद कृष्णा सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी को अथवा अष्टकाओं से समानता रखने वाले इस कृत्य को भाद्रपद की कृष्णा त्रयोदशी के दिन सम्पन्न किया जा सकता है। इसे पितरों के लिए अत्यन्त प्रशस्य माना गया है[२]। पा० गृ० सू० (३, ३) में इसे चौथी **अष्टका** कहा गया है तथा इस में केवल शाक अर्पण करने का विधान किया गया है। जबकि हि० गृ० सू० (२, १३, ३-४) में मांस अनिवार्य माना गया है, किन्तु मांसाभाव में शाक अर्पित किया जा सकता है[३]। यह कृत्य **महालय श्राद्ध** का पूर्ववर्ती कृत्य प्रतीत होता है[४]।

जीवच्छ्राद्ध या जीवश्राद्ध का विधान भी किया गया है। इस के विषय में बौ० गृ० शेषसूत्र (३, १९-२२) तथा पश्चात्कालिक पुराणों तथा निबन्धकारों ने विवरण प्रस्तुत किये हैं। बौधायन का सर्व-प्राचीन विवरण संक्षेप में इस प्रकार है—

कृष्णपक्ष की त्रयोदशी को कर्ता उपवास करके उसी दिन अन्त्येष्टिकर्म में प्रयुक्त होने वाली सामग्री को एकत्र करता है। दूसरे दिन जल में खड़ा हो कर स्नान करने के पश्चात् ब्राह्मणों को वस्त्र, मुद्रिका तथा दक्षिणा प्रदान करके दक्षिणाभिमुख हो कर घृतमिश्रित खीर खाता है। होम की पद्धति से अग्नि प्रज्वलित करके, उस के चहुँदिक् दर्भ बिछा कर, उस पर खाना पका कर, चार आहुतियां अग्नि में डालता है। तदुपरान्त पुरुषसूक्त से १८ आज्याहुतियां देकर, गायत्री मन्त्र से २८, १०८ या १००८ आज्याहुतियां देकर, किसी चौराहे पर जा कर, सुई, अङ्कुश, फटा वस्त्र तथा पाशवाली डोरी किसी बौने ब्राह्मण को देता है। जल से पूर्ण घड़ों को चावलों पर रख कर, उन के चारों ओर सूत्र बांधने के बाद सूत्र के धागों से मानव आकृति बना कर यम देवता की प्रसन्नता की कामना करता है। तदुपरान्त उदुम्बर की कुर्सी को पञ्चगव्य से धोते हुए कृष्ण मृगचर्म पर पलाश की टहनियों से एक मानव आकृति बनाता है तथा घड़े पर बनी मानव आकृति में प्राण-प्रतिष्ठा करता है तथा टहनियों से बने मानव शरीर पर सो जाता है। फिर उठ कर घड़ों के जल से स्नान करता है तथा पुरुषसूक्त का पाठ करके पुनः पञ्चगव्य से स्नान करके स्वच्छ जल से स्वयं को धोता है। सायंकाल में तिलघृत-मिश्रित भोजन करता है। यम के दूतों की प्रसन्नता के हेतु ब्रह्मभोज कराता है।

---

१. आश्व० गृ० सू० २, ५, ९।

२. वि० ध० सू० ७८, ५२-५३; मनु० ३, २७३; वा० ध० सू० ११, ४०; या० स्मृ० १, २६।

३. द्र० भविष्य पुराण ब्रह्मपर्व, १८३, ४।

४. काणे, वही, पृ० १२११।

चौथे दिन उस आकृति को मन्त्रों से जलाता है तथा अपने लिए पिण्डप्रदान करता है। दस दिनों तक अशौच रखता है। ग्यारहवें दिन एकोद्दिष्टश्राद्ध करता है। इसी प्रकार प्रतिमास एक वर्ष तक अपना श्राद्ध किया जाता है तथा इसे बारह वर्षों तक प्रत्येक वर्ष के अन्त में करना चाहिये। यदि वह स्वयं करने में असमर्थ हो, तो उस का पुत्र कर सकता है।

आजकल भी कुछ लोग इसे इस भय से सम्पन्न करते हैं कि सम्भवतः उन के वंशज उन का श्राद्ध न करें और उन्हे परलोक में भूखा-प्यासा रहना पड़े।

परवर्ती श्राद्ध-विषयक साहित्य में इस का और भी विशद वर्णन किया गया है, जो श्राद्ध की मौलिक भावना का अतिरेक-मात्र है।

श्राद्ध के प्रसंग में एक और महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय यह रहा है कि तीन पूर्व-पुरुषों में से किसी एक या अधिक के जीवित रहने पर उन का श्राद्ध करना चाहिये या नहीं। आश्व० श्रौ० सू० (२, ६, १६-२३) में गाणगारि, तैल्वलि तथा गौतम के विभिन्न मतों की चर्चा की गयी है तथा उन का खण्डन किया गया है। गाणगारि के मतानुसार तीन मृत व्यक्तियों का श्राद्ध तो करना ही चाहिये, जीवित व्यक्तियों को वैसे ही सम्मानित कर देना चाहिये। तैल्वलि के अनुसार जीवित व्यक्तियों का भी श्राद्ध करना चाहिये। गौतम के मतानुसार यदि कोई एक व्यक्ति जीवित हो, तो उस के पूर्व के तीन व्यक्तियों का श्राद्ध करना चाहिये। किन्तु आश्वलायन का निर्णय यह है कि जब प्रपितामह से पूर्व के पितरों को पिण्ड देने का अधिकार ही नहीं, और जीवितों के लिए पिण्ड दिये ही नहीं जा सकते, तो उन का श्राद्ध कैसे किया जा सकता है। जीवितों के लिए अग्नि में होम किया जा सकता है। यही बात का० श्रौ० सू० (४, १, २३-२७) में भी कही गयी है।

मनु० ने व्यवस्था दी है कि यदि पिता जीवित हो, तो उसे अपने तीन पूर्वजों को पिण्डदान करना चाहिये, यदि पिता का स्वर्गवास हो गया हो और पितामह जीवित हो, तो केवल पिता तथा प्रपितामह का ही श्राद्ध करना उचित है। जीवित पितामह को अतिथिवत् भोजनार्थ आमन्त्रित करना चाहिये। या जीवित पितामह की अनुमति से पिता, प्रपितामह तथा वृद्धप्रपितामह को पिण्ड दिये जा सकते हैं[1]।

और भी अनेक छोटे मोटे विषयों की चर्चा सूत्रकारों ने की है, यथा—कुशों का स्वरूप, प्रयोजन, तथा प्रयोग। तिलों का प्रयोग, भोजन तथा भक्ष्याभक्ष्य पदार्थ, पिण्डों के आकार प्रकार, पात्र प्रभृति।

---

१. मनु० ३, २२०-२२२; द्र. वि० ध० सू० ७५वां अध्याय।

ब्राह्मण-भोजन

श्राद्ध के तीन मुख्य अंग हैं—**अग्नौकरण, पिण्डदान** तथा **ब्राह्मणभोजन।** श्राद्ध का फल प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होता है, चाहे वह पुत्र हो या न हो, नियमों का पूर्णरूपेण पालन किया जाये अथवा नहीं, श्राद्धीय पदार्थों का उपयोग किया जाये या नहीं, किन्तु अयाज्य ब्राह्मण को भोजन कराने पर न केवल कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता, अपितु कर्ता को पाप का भागी बनना पड़ता है।

कर्ता को स्वयं योग्य ब्राह्मणों को निमन्त्रण देना चाहिये, या किसी स्वजातीय विश्वसनीय व्यक्ति के द्वारा दिलवाना चाहिये। श्राद्ध में तीन ब्राह्मण, तीन देवता, तीन पवित्र, तीन पात्र, तीन पिण्ड, तीन अञ्जन तथा तीन ही अभ्यञ्जन शुभ माने जाते हैं। **'सावित्री'** का भी तीन ही बार उच्चारण किया जाता है। ब्राह्मणों को तीन बार निमन्त्रण देना चाहिये—श्राद्ध से एक रात्रि पूर्व, श्राद्ध के दिन, तथा आसनों पर बैठाने के समय। **दैव** तथा **आभ्युदयिक** श्राद्धों में ब्राह्मणों की संख्या युग्म होनी चाहिये। पित्र्य में यथाशक्ति अयुग्यम-संख्यक ब्राह्मणों को निमन्त्रण देना चाहिये[1]।

अमावास्या के दिन **वैश्वदेविक श्राद्ध** में एक से दस तक ब्राह्मण बुलाये जा सकते हैं। अन्य **वैश्वदेविक श्राद्धों** में यह संख्या दुगुनी हो जाती है। यजमान के अतिविपन्न होने पर एक ही ब्राह्मण दोनों प्रकार के कृत्य करा सकता है। किन्तु **वैश्वदेविक** ब्राह्मण के आसन पर कुशनिर्मित ब्राह्मण को स्थापित करना चाहिये।

यदि आमन्त्रित ब्राह्मणों की संख्या पांच हो, तो उन में से दो **वैश्वदेविक** कर्म के लिए होते हैं, तीन **पित्र्यकर्म** के लिए। यदि यह संख्या सात हो, तो चार **वैश्वदेविकार्थ** होते हैं और तीन **पित्र्यार्थ**। आश्वलायन के मत में प्रत्येक पितर के लिए तीन ब्राह्मणों को बुलाना चाहिये। पश्चात्कालिक उशनस् के अनुसार प्रत्येक पितर के लिए एक-एक तथा प्रत्येक देवता के लिए एक-एक ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिये। इस प्रकार अमावास्या के श्राद्ध में दो **वैश्वदेविक** होते हैं। चार ब्राह्मणों का विधान किया गया है—दो पितृसमूहों के लिये दो, तथा दो **वैश्वदैविकों** के लिये दो। अन्य अनेक मत-मतान्तर भी विद्यमान हैं।

श्राद्ध में आने से पूर्व ब्राह्मणों को क्षौर-कर्म तथा दन्तधावन तथा स्नान अवश्य करना चाहिये। उन के आने पर यजमान उन का स्वागत करता है, अर्घ्य तथा पाद्य जल प्रदान करता है, आसनों पर बैठाकर, माल्य, वस्त्र, उष्णीष, तथा अन्य वस्तुएं प्रदान करता है। तदनन्तर गौ के गोबर तथा मूत्र से मण्डल बना कर उन की पूजा करके अर्घ्य, तथा पाद्य प्रदान करके, आसनों पर बैठाता है। इस में

---

१. **दैवे युग्मान्, अयुग्मान् यथाशक्ति पित्र्ये** (कात्यायनीय श्राद्धसूत्र, कण्डिका १)।

वैश्वदेविक ब्राह्मणों को प्राथमिकता दी जाती है। वैश्वदेविक ब्राह्मण पूर्वाभिमुख बैठते हैं, तो पित्र्य ब्राह्मण उदङ्मुख अथवा इस के विपरीत अथवा दोनों पूर्वाभिमुख बैठते हैं। हाथ में कुशा का पवित्र ग्रहण करते हैं। यजमान अथवा पत्नी भोजन परोसती है। उस समय वे पितरों के प्रतिनिधि के रूप में अतिमानुष माने जाते हैं। ब्राह्मणभोजन को कई आचार्य श्राद्ध का अनिवार्य अंग नहीं मानते। यह व्यवस्था वैदिक काल के बाद की है।

ब्राह्मण-भोजन के अनन्तर पिण्डदान के पश्चात् पात्र में लगे हुए पिण्डशेष को कुश के पवित्र से पोंछ कर उस 'लेप' को चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ तथा अन्य पूर्वजों को प्रदान किया जाता है, जिन्हें पिण्डदान नहीं किया जाता। इन पितरों को **'लेपभाज: पितर:'**, कहते हैं। अन्त में ब्राह्मणों को विदा किया जाता है, दक्षिणा दी जाती है।

गो० गृ० सू० (४, ४,१) में तो **ब्राह्मण-भोजन** को भी अनावश्यक मान कर केवल **पिण्डदान** का ही विधान किया गया है (इस विषय में भट्टनारायण का का भाष्य द्रष्टव्य है)। पश्चात्कालिक स्मृतियों तथा पुराणों में श्राद्ध में अनेक प्रकार के परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे हैं और श्राद्ध के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, किन्तु जटिल प्रक्रिया बन जाने के कारण इस विषय में विशाल साहित्य की सृष्टि हुई है।

इन मत-मतान्तरों के कारण आरम्भ में लोग अपनी-अपनी शाखा का अनुसरण करते थे, जिससे कर्म-क्रम तथा काल-क्रम में कोई भेद या विरोध नहीं होता था। किन्तु बाद में जैमिनि के **शाखान्तराधिकरणन्याय** या **सर्वशाखा-प्रत्ययन्याय** (२, ४, ८-३३) का अनुसरण करने वाले लोगों ने अन्य कर्मों के समान श्राद्ध में भी शाखान्तरीय गृह्यसूत्रों तथा स्मृतियों के वचनों का अनुपालन आरम्भ कर दिया और इस प्रकार कर्म में विस्तार तथा जटिलता में वृद्धि होती गयी। उनके अनुसार शास्त्रों में उक्त किसी भी कर्म के प्रयोजन एवं फल जब एक हैं, विधि भी एक सी है और नाम भी एक है, तो फिर परस्पर कृत्य-भेदों का महत्त्व नहीं रह जाता। अधिक भेद हो जाने पर अपनी शाखा का अवलम्बन किया जाना चाहिये। अन्य शाखीय ऐसा कर्म जो अपनी शाखा में न पाया जाता हो, विकल्प-रूपेण ग्रहण किया जा सकता है।

पश्चात्कालिक विस्तार के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं, यथा—ब्राह्मणों के स्वागतार्थ घर की उत्तरी तथा दक्षिणी दिशाओं में जाति-भेद के अनुसार विभिन्न आकार के दो मण्डलों का निर्माण, विश्वेदेवों तथा पितरों के प्रतिरूप ब्राह्मणों का भिन्न-भिन्न प्रकार से सत्कार, विश्वेदेवों के दस नामों (क्रतु, दक्ष, सत्य, वसु, धुरि, लोचन, काल, काम, पुरूरवस् तथा आर्द्रव) वाले श्लोकों का विभिन्न प्रकार

के पांच श्राद्धों में दो-दो का उच्चारण[1], पितरों के प्रतिरूप तथा विश्वेदेवों के प्रतिरूप ब्राह्मणों को बिठाने के विभिन्न प्रकार, उन्हें आसन तथा अर्घ्य प्रदान करने के विषय में विभिन्न प्रक्रियाएं, आचमन के छह बार करने का विधान, पितरों के आह्वानार्थ प्रयुक्त मन्त्रों एवं उनके पाठ-कालों में वैमत्य, अग्नौकरण की अग्नियों तथा उनमें प्रयुक्त मन्त्रों की संख्या; होम के देवों तथा उनके नामों के क्रम तथा प्रयोज्य शब्दों, भोजन परोसने, ब्राह्मण-भोजन, भोजन बनाने वालों के विभिन्न प्रकार, पिण्ड-समय, अमावास्या के दिन क्रियमाण श्राद्ध में पिण्ड देने योग्य पूर्वपुरुषों, पिण्डों के आकारों, पिण्डों की प्रतिपत्ति तथा आचमनोपरान्त ब्राह्मणों को अक्षय्योदक प्रदान प्रभृति अनेकों विषयों में इतना अधिक ऊहापोह हुआ है और इतने अधिक मतभेद हैं, कि श्राद्ध अध्ययन का एक सर्वथा स्वतन्त्र विषय बन गया है।

श्राद्ध के प्रमुख विषयों के सम्बन्ध में ही तीन मत प्रतिपादित किये गये हैं, एक मतानुसार ब्राह्मण-भोजन ही प्रधान कर्म है, क्योंकि कई श्राद्धों में पिण्डदान होता ही नहीं, यथा—**आम-श्राद्ध** तथा युगादि में क्रियमाण श्राद्ध[2]।

कर्काचार्य प्रभृति[3] के अनुसार पिण्डदान ही मुख्य कर्म है। ब्राह्मण-भोजन अंग है, क्योंकि पुत्रोत्पत्ति पर तथा सत्-शूद्र द्वारा क्रियमाण श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन का निषेध किया गया है, तथा गया-श्राद्ध में पिण्डदान ही मुख्य कर्म है। गो० गृ० सू० (४, ४, १) में पार्वण श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन आवश्यक माना गया है।

तृतीय मत उन लोगों का है, जो यह मानते हैं कि ब्राह्मण-भोजन तथा पिण्डदान दोनों ही समान रूप से प्रमुख कर्म हैं[4]। आजकल प्रायः इसी विधि का अनुसरण किया जाता है।

'धर्मप्रदीप' में कहा गया है कि यजुर्वेद की वाजसनेयिशाखा में पिण्डदान ही प्रमुख कर्म है। ऋग्वेदियों में ब्राह्मण-भोजन तथा सामवेदियों में दोनों ही

---

१. प्रजापति-स्मृति, श्लोक १७९-१८० ; अपरार्क पृ० ४७८ ; कल्पतरु, श्राद्ध०, पृ० १४२; स्मृ० च०, श्राद्ध० ४४२-४३ ; अधिक विस्तारार्थ, द्र. काणे, ध० शा० इ०, पृ० १२५६-५७, टि० ८६।

२. गोविन्दराज, मनु० ३, १२९; कुल्लूक, वही, स्मृ० च०, श्राद्ध, पृ० ३६९; हेमाद्रि, श्राद्ध, पृ० ३३४-३३६।

३. कात्यायन, श्राद्धसूत्र, कण्डिका १, पृ० ४०४, वें० प्रेस, सं० १९८६ तथा वि० ध० सू० ७८, ५२-५३ ; ८५, ६५-६६ ; वाराह गृ० सू० ३, ५० ; वि० पु० ३, ४, २२-२३ ; ब्रह्मा० पु० २२०, ३१-३२।

४. द्र. गोभिल स्मृति ३, १६०-१६३ ; तथा हेमाद्रि, श्राद्ध, पृ० १५७-१६०।

प्रमुख माने जाते हैं[1]। जब कि हरदत्त, हेमाद्रि, कर्पादिस्वामी प्रभृति भोजन, पिण्ड-दान तथा अग्नौकरण तीनों को प्रमुख मानते प्रतीत होते हैं[2]।

श्राद्ध में प्रयोज्य पदार्थ

आप० ध० सू० (२, ७, १६, २२-२४) में कहा गया है—'श्राद्ध के द्रव्य ये हैं—तिल, माष, चावल, यव, जल, मूल, फल; किन्तु घृत-मिश्रित भोजन पितरों को अत्यन्त प्रिय हैं।

गौतम ध० सू० (२७, ११) के अनुसार श्राद्ध में भोज्य पदार्थ ये हैं—पका हुआ चावल (भात), भिक्षा से प्राप्त भोजन, पीसा हुआ यव (सत्तू), भूसी-रहित अन्न, यवागू या यावक, शाक, दूध, दही, घृत, मूल, फल एवं जल।

विष्णु ध० सू० (७९, १८) ने निम्नलिखित पदार्थों को श्राद्ध में वर्जित माना है—राजमाष, मसूर, बासी भोजन एवं समुद्री नमक।

पुराणों[3] के अनुसार मसूर, सन, राजमाष, कुसुम्भिक, कोद्रव, उड़द, चना, कपित्थ, मधूक एवं अलसी वर्जित हैं।

श्राद्ध में तिलों का बहुत महत्त्व है। जै०गृ०सू० (२,१) तो उस समय सम्पूर्ण घर में तिल बिखेरने का विधान करता है। बौधायन धर्मसूत्र (२, ८, ८) ब्राह्मणों को आते ही तिल जल प्रदान करने को कहता तथा बौ० गृ० सू० (२, ११, ६४) दान अथवा भोजन के समय तिल प्रदान करना पवित्र समझता है। पुराणों में कई मन्त्रों के साथ तिलों के विकीर्ण करने का विधान है, जिससे असुरों को भगाने (नारद पुराण पूर्वार्द्ध २८, ३६; विष्णु पुराण ३, १६, १४) तथा अपवित्र स्थान को पवित्र करने का कार्य सम्पन्न होता है।

श्राद्ध में अर्घ्य, जल आदि के लिए यज्ञिय वृक्षों से निर्मित चमसों या चांदी सोने, ताम्र, खड्ग, रत्नों या पत्तों के दोनों का प्रयोग करना चाहिये[4], किन्तु देव-कार्यों के लिए चांदी का पात्र शुभ नहीं माना जाता[5]।

श्राद्ध में मांस का विधान

विष्णुधर्मसूत्र (८०, १), का० श्राद्ध-सूत्र (कण्डिका ७-८), मनु० (३, २६७-२७२), याज्ञ० स्मृ० (१, २५८-२६०) तथा कई पुराणों में श्राद्ध में विविध

---

१. द्र. काणे, वही, पृ० १२६८।
२. द्र. संस्कारमाला, पृ. १००३।
३. पद्म० पु० सृष्टिखण्ड—९,६२-६३; मत्स्य० पु० १५,३६-३८।
४. का० श्राद्ध सूत्र २, विष्णु ध० सू० ७९, १४-१५; २४।
५. वायु० ७४, १, २; मत्स्य० पु० १७, १९-२२; पद्म० पु० सृष्टि० ९, १४६-१५०।

प्रकार के पशुओं के मांस-प्रयोग से उत्पन्न पितरों की सन्तुष्टि के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है। गो-दुग्ध तथा पायस के भोजन से पितर एक वर्ष तक सन्तुष्ट रहते हैं, जबकि पाठीन (मछली), लोहित हरिण, भेड़, पक्षी, बकरे, चितकबरे हरिण, कृष्ण हरिण, रुरु हरिण, जंगली सुअर एवं खरगोश के मांस से क्रमशः २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० एवं ११ मास तक तृप्त रहते हैं। खड्ग, महाशल्क मछली, लाल बकरे, वार्ध्रीणस के मांस से अनन्त काल तक तृप्त रहने की बात कही गयी है (याज्ञ० स्मृ० १,२६०)। किन्तु कात्यायन के मत में वार्ध्रीणस के मांस से केवल बारह वर्षों तक पितरों की तृप्ति होती है। मनु ने भैंस एवं कछुए के मांस से क्रमशः १० तथा ११ मास की तृप्ति का सङ्केत किया है। किन्तु विष्णु पुराण (३, १६, ११) में भैंस, हरिणी, चमरी, भेड़, ऊँटनी तथा एक खुर वाले पशुओं के दूध से बने पदार्थ वर्जित हैं, जब कि सुमन्तु एवं देवल ने भैंस के घृत को वर्जित नहीं ठहराया। पतित तथा उत्कोचहारी, पुत्री-विक्रेता तथा अन्याय-पूर्वक धन कमाने वाले व्यक्ति का भोजन वर्जित है[1]।

एक विचित्र प्रकार की व्यवस्था उशनस् ने दी है कि जो ब्राह्मण श्राद्ध-भोजन के समय उड़द का भोजन नहीं करता, वह इक्कीस जन्मों तक पशु-योनि में जाता है[2]।

आप० ध० सू० (२, ८, १९, १३-१५) ने व्यवस्था दी है कि मासिक श्राद्ध में मांस-मिश्रित भोजन अवश्य होना चाहिये। यह घृत-मिश्रित हो तो सर्वोत्तम है। गोमांस खिलाने से पितर एक वर्ष तक तृप्त रहते हैं। गेंडे के चर्म पर बैठा कर गेंडे का मांस ब्राह्मणों को खिलाने से पितर अनन्त काल तक सन्तुष्ट रहते हैं।

वा० ध० सू० (११, ३४) के अनुसार देव-कार्य अथवा पितृ-कार्य में आमन्त्रित संन्यासी यदि मांस नहीं खाता, तो वह उस पशु के बालों की संख्या-तुल्य वर्षों तक नरक में रहता है। इसी आशय की बात विष्णु धर्मोत्तर (१, १४०, ४९-५०) ने कही है, जिसे मनु० (१, ३५) का समर्थन प्राप्त होता है। वैसे सामान्यतः संन्यासियों के लिए मांस आवश्यक नहीं था।

कालान्तर में मांस के विरुद्ध एक आन्दोलन चला तथा १२वीं १३वीं शताब्दियों तक आते-आते श्राद्ध तथा मधुपर्क में मांस के प्रयोग को सर्वथा त्याज्य माना जाने लगा एवं इसे कलि-वर्ज्य घोषित कर दिया गया। मिताक्षरा एवं अपरार्क (पृ० ५५५) ने ब्राह्मणों द्वारा श्राद्ध में निरामिष भोजन परोसने एवं क्षत्रियों तथा वैश्यों द्वारा सामिष भोजन खिलाने तथा शूद्र द्वारा मधु अर्पण करने की व्यवस्था दी है (द्र. कल्पतरु)। धीरे-धीरे यह व्यवस्था सभी वर्णों पर लागू हो गयी और श्राद्ध में मांस का प्रयोग समाप्त हो गया।

---

१. मार्क० पु० २९, १४-१५।

२. औशनस स्मृति ५, पृ० ५३१।

कल्पसूत्र

धर्मसूत्र

षड्विंश अध्याय

धर्मसूत्रों का उद्गम और विकास

वैदिक कल्प के अन्तर्गत धर्मसूत्रों का महत्त्व केवल इसीलिए नहीं कि यह वेद के अंग हैं, अपितु इसलिए भी कि इनके द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों तथा नियमों का पश्चात्-कालिक धर्मशास्त्रों तथा स्मृति-ग्रन्थों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है और एक विशिष्ट वेदांग के रूप में इनसे स्मृतिकारों ने सदा प्रेरणा प्राप्त की है।

धर्म शब्द का अर्थ समयानुसार सदा परिवर्तनशील रहा है। ऋग्० (१, १८७, १) में इसका अर्थ धारक, संस्तम्भक अथवा पोषक है। अन्यत्र (ऋग्० १, २२, १८; ५, २६, ६; ८, ४३, २४) यह धार्मिक कृत्य, आदेश अथवा विधान का वाचक है। वहां **प्रथमानि धर्माणि** (१, १६४, ४३; १०, ९०, १६), **सनता धर्माणि** (३, ३, १) जैसे प्रयोग मिलते हैं। वाजसनेयि-संहिता (२, ३; ५, २७) में इस का प्रयोग 'आचरण के नियम' के अर्थ में हुआ है। अथर्ववेद (११, ९, १७) में इस का अर्थ "यज्ञयाग आदि कर्मजन्य पुण्य" है। छां० उप० (२, २३) में कहा गया है कि धर्म के तीन स्कन्ध हैं (१) यज्ञ, अध्ययन और दान, (२) तप, (३) आचार्य कुल का वासी ब्रह्मचारी यहां धर्म का अर्थ 'आश्रम सम्बन्धी नियम-विशेष' है, किन्तु इसका सर्व-प्रधान अर्थ अन्त में हुआ "मनुष्य के कर्त्तव्य और अधिकार, आर्य-जाति के सदस्य के रूप में तथा वर्ण-विशेष तथा आश्रम-विशेष से सम्बन्धित व्यक्ति के रूप में उसके आचार और व्यवहार"[1]।

यद्यपि धर्म शब्द और भी अनेक अर्थों का द्योतक है[2], तो भी मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में[3] 'धर्म' शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है और धर्मसूत्र के प्रतिपाद्य विषयों पर दृष्टिपात करने से यह व्यापक अर्थ स्पष्ट ही साकार हो उठता है। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक[4] में लिखा है कि सभी धर्मसूत्र वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों का उपदेश करते हैं।

---

१. काणे, हि० ध० शा० भाग १, पृ० २।

२. वही, पृ० ३।

३. मनु० २, २५; १, २; याज्ञ० स्मृ० १, १।

४. पृ० २३७, वाराणसी सं०।

ध्यान देने की बात यह है कि यद्यपि श्रौत और गृह्य सूत्र भी धर्म के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश डालते हैं, तो भी उन्हें धर्मसूत्र की संज्ञा नहीं दी गयी, क्योंकि श्रौतसूत्र केवल श्रौत-यज्ञों का प्रतिपादन करते हैं और गृह्यसूत्र केवल 'गृह्य' विषयों और संस्कारों से सम्बद्ध हैं। धर्मसूत्रों के विषयों की परिधि में 'व्यवहार' तथा 'राजधर्म' का समावेश किया गया है। यद्यपि धर्मसूत्रों के विषयों के अन्तर्गत कुछेक गृह्य-कृत्यों की भी चर्चा की गयी है, तो भी यह इनके मुख्य प्रतिपाद्य नहीं हैं। इनकी ओर संकेत तो केवल आर्यों में प्रचलित नाना रीति-रिवाजों तथा जीवन के नियमों की ओर ध्यान आकृष्ट करने मात्र के लिए किया गया है, जिनकी चर्चा के बिना आर्य-जीवन का सम्पूर्ण दिग्दर्शन नहीं हो सकता था। वास्तव में तो धर्मसूत्रों में भी धर्म के सभी पक्षों पर प्रकाश नहीं डाला गया, अपितु केवल **सामयाचारिक धर्म** की ही व्याख्या की गयी है[1]। क्योंकि 'समयाचार' अथवा 'परम्परा पर आधृत' धर्म का ही नामान्तर 'स्मृति' है। इसी कारण इसे **स्मार्त धर्म** भी कह सकते हैं।

शिष्टजनानुमोदित आचरण भी धर्मसूत्रों का मुख्य स्रोत माना गया है। धर्म के स्रोतों की चर्चा करते हुए गौ० ध० सू० (१, १-२) में स्पष्ट कहा गया है—**वेदो धर्म-मूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले।** अर्थात् वेद, वेदज्ञों का आचरण तथा उनकी परम्परा धर्म के मूल हैं[2]।

मनु के वचन के अनुसार तो साधु-पुरुषों का आचरण और अपने मन की सन्तुष्टि भी धर्म के मूल हैं[3]। इस सन्दर्भ में शिष्ट या साधु-पुरुष की व्याख्या वा० ध० सू० (१,६) में की गयी है—**शिष्टः पुनरकामात्मा।** अर्थात् स्वार्थ-हीन निःस्पृह व्यक्ति ही शिष्ट है। स्मृति आदि का प्रामाण्य इनकी वेदमूलकता के कारण ही है[4]। जहां कहीं स्मृति आदि प्रमाणों तथा श्रुति में विरोध पाया जाये वहां श्रुति ही प्रमाण होती है। किन्तु क्योंकि वेद में धर्म-सूत्रों में प्रतिपादित सभी विषयों के पोषक वचनों की उपलब्धि नहीं होती, अतः उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए हरदत्त आदि व्याख्याकारों ने व्यवस्था दी है कि ऐसे सभी वचन उन वैदिक शाखाओं पर आधृत है, जो लुप्त हो चुकी हैं। मनु आदि आचार्यों के सम्मुख वे सभी शाखाएं विद्यमान थीं। यद्यपि वर्तमान वैदिक शाखाओं में धर्म के विषय

---

१. आप० ध० सू० १, १।

२. तु. **धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च** (आप० ध० सू० १, १, २-२); **श्रुति-स्मृति-विहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्** (वा० ध० सू० १, ४-५)।

३. मनु० (२, ६); याज्ञ० स्मृ० (१, ७)।

४. कुल्लूक भट्ट, (मनु० २, ६)।

में क्रमिक विधियां नहीं पायी जातीं, तो भी उनमें स्थान-स्थान पर धर्मसूत्रों के अनेक विषयों का मूल उपलभ्य है। यथा विवाह, विवाह के प्रकार, पुत्रों के प्रकार सम्पत्ति का विभाजन, दाय, श्राद्ध, स्त्रीधन प्रभृति अनेक विषयों से सम्बद्ध प्राचीन परम्परा अब भी वैदिक संहिताओं में सुरक्षित है[1]। अतः सिद्ध है कि धर्मसूत्रों में वर्णित अनेक सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों की परम्परा वैदिक काल तक पहुँचती है, किन्तु सभी विधि-विधानों को वेद में खोजने का अर्थ वैदिक समाज के विकास में दीर्घकालिक गतिरोध को स्वीकार करना होगा, जो आर्यों की प्रकृति और उनके इतिहास पर दृष्टिपात करने पर मान्य नहीं हो सकता। अतः स्वाभाविक समाधान यही है कि सूत्रकाल तक आते-आते आर्य-जाति के रीति-रिवाजों, सामाजिक संस्थानों, राजनैतिक परिस्थितियों और धार्मिक विचारधारा में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। अतः एतद्विषयक परम्परा-गत नियमों को क्रमबद्ध रूप प्रदान करने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था।

प्रतिदिन जटिल होते हुए समाज की जटिल समस्याओं के समाधान का कार्य-भार अनेक वैदिक शाखाओं के सूत्र-चरणों ने सम्भाल लिया और गहन विचार-विनिमय और तर्क-वितर्क के उपरान्त इन सूत्र-ग्रन्थों का सम्पादन किया। इस दीर्घकालिक बौद्धिक संघर्ष का प्रमाण हमें इन सूत्रों में उल्लिखित और उद्धृत पूर्वगामी आचार्यों के मत-मतान्तरों से मिलता है। विकास का यह क्रम यहीं समाप्त नहीं हो जाता। जब नवीन समस्याओं से दो-चार होना पड़ा, तो आर्यों ने इन सूत्रों में भी समयानुकूल परिवर्तन और परिवर्धन किया, जिसके फलस्वरूप पश्चात्कालिक स्मृतियों का प्रादुर्भाव हुआ। समय के साथ-साथ उभरने वाली अन्य नवीन समस्याओं के उदय होने पर स्मृतियों पर भाष्य और टीकाएं लिखी गयीं, जिनमें प्राचीन वचनों की नवीन व्याख्याएं की गयीं और उनकी परस्पर संगति लगाने का भरपूर प्रयास किया गया और इस प्रकार पूर्वगामी आधार को त्यागे बिना ही नवीन सिद्धान्तों और नियमों के समयानुकूल प्रवर्तन और प्रतिपादन का मार्ग निकाल लिया गया।

इस विकास-क्रम पर दृष्टिपात करने के पश्चात् यह प्रश्न स्वाभाविक है कि धर्मसूत्रों का निर्माण कब आरम्भ हुआ। संस्कृत साहित्य के अन्य विषयों के समान ही इस विषय में भी किसी निश्चित काल या तिथि का प्रतिपादन असम्भव है। यास्क-विरचित निरुक्त (३, ४-५) से पता चलता है कि इससे बहुत पहले ही दायसम्बन्धी अनेक समस्याओं पर गरमागरम शास्त्रार्थ हो चुके थे और यास्क ने जिस प्रकार भ्रातृ-हीन कन्या के दायसम्बन्धी अधिकारों पर विचार किया है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि उससे पहले इन विषयों को लिपिबद्ध कर लिया

---

१. काणे, हि० शा०शा० भाग १, पृ० ४-७।

गया था[1]। इस सम्बन्ध में यास्क ने स्वायम्भुव मनु के नाम से एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जिससे प्रकट होता है कि यास्क से पूर्व ही धर्म-सम्बन्धी विषयों पर विचार करने वाली रचनाएं श्लोकबद्ध थीं या उन रचनाओं में श्लोक समाविष्ट थे। इस बात की पुष्टि बौ० ध०सू० में उद्धृत श्लोकों से भी होती है। स्टेंज़लर का अनुकरण करते हुए मैक्समूलर ने बलपूर्वक यह मत व्यक्त किया था कि सभी वास्तविक पद्यात्मक धर्मशास्त्रों की रचना, बिना किसी अपवाद के, प्राचीन सूत्र-रचनाओं के अनुकरण पर की गयी[2]। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सूत्रों से पूर्व इस विषय पर पद्यात्मक ग्रन्थों की रचना की ही नहीं गयी थी। यह दूसरी बात है कि आज उन प्राचीन पद्यात्मक रचनाओं के ध्वंसावशेष-मात्र उपलब्ध होते हैं। यही उद्धरण मैक्समूलर के इस विचार को धूलिसात् करने के लिए पर्याप्त है।

बूह्लर के अनुसार इस प्रकार के श्लोक स्मृति-सहाय-भूत लोक-प्रचलित पद्यों के अंश थे[3], जिसे काणे ने अस्वीकार कर दिया है[4]। किन्तु हम समझते हैं कि बूह्लर के मत में आंशिक सत्य स्वीकार कर लेना चाहिये, क्योंकि मनु के नाम से प्रसिद्ध सैकड़ों श्लोक ऐसे हैं, जो वर्तमान स्मृति-ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। अतः यद्यपि वर्तमान पद्यात्मक धर्मशास्त्र सूत्रों से अर्वाचीन हैं, तो भी एतद्विषयक प्राचीन पद्यात्मक रचनाओं की सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता।

यदि यास्क के पूर्व धर्म-विषयक रचनाएं किसी न किसी रूप में विद्यमान थीं, तो वे निश्चय ही अत्यन्त प्राचीन काल में रची गयी होंगी।

वर्तमान कल्पसूत्रों के विषय में यह सिद्धान्त स्थिर समझना चाहिये कि एक कल्प के श्रौत, गृह्य तथा धर्म सूत्रों के कर्ता एक ही व्यक्ति थे[5]। गृह्यसूत्रों के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि आप० गृ० सू० का रचनाकाल ७०० ई० पू० के आसपास मानना चाहिये[6] और बौधायन और आपस्तम्ब के बीच शताब्दियों का अन्तर है[7]। इस प्रकार तैत्तिरीय-संहिता से सम्बद्ध सर्व-प्राचीन सूत्रकार बौधायन कम से कम ८०० ई० पू० में माने जाते हैं, तो इससे भी प्राचीन गौतम धर्मसूत्र का

---

१. अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति, ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके (३, ५)।

२. हि० एं० सं० लिट्० पृ० ७०।

३. एस० बी० ई० २५, भूमिका, पृ० ९०।

४. हि० धा० शा० भाग १, पृ० ८।

५. वैमत्यार्थ, द्र. सुरेशचन्द्र बैनर्जी, धर्मसूत्रज, ए स्टडी इन देयर ओरिजिन ऐण्ड डिवेलपमैण्ट, पृ० १०, किन्तु द्र. वही, पृ० १२।

६. द्र. आप० गृ० सू० प्रकरण।

७. बूह्लर, एस० बी० ई०, भाग २, भूमिका, पृ० २४।

रचनाकाल ९०० ई० पू० के समीप जा पहुंचता है। बौधायन ने अपनी रचना में औपजङ्घनि, कात्य, काश्यप गौतम, मौद्गल्य और हारीत का नाम-निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। अतः सिद्ध है कि धर्मशास्त्र-विषयक ग्रन्थों की रचना यास्क (८०० ई० पू०) से बहुत पहले आरम्भ हो चुकी थी।

जब गौतम का काल इतना प्राचीन है, तो गौतम के द्वारा उल्लिखित मनु (२, ७), 'एके' (२, १५, ४१, ५८, ३, १, ४, १५, ७, २३) तथा आचार्यः (३, ३५, ४, १) प्रभृति शब्दों से निर्दिष्ट उन धर्मशास्त्राचार्यों का काल तो १००० ई० पू० से पूर्व ही हो सकता है, जिनकी रचनाएं देखने का सौभाग्य हमें आज प्राप्त नहीं है।

धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में सम्बन्ध

गृह्यसूत्रों की भांति धर्मसूत्रों को भी स्मार्त रचना माना जाता है। कल्पसूत्रों के अन्तर्गत भी धर्मसूत्रों का स्थान प्रायः गृह्यसूत्रों के पश्चात् ही रखा गया है और धर्मसूत्र प्रायः अपने कल्प के गृह्यसूत्रों का अनुसरण भी करते हैं। इस समय चार ही ऐसे गृह्यसूत्र हैं, जिनके धर्मसूत्र उनके नियमों का अनुसरण करते हैं। वे हैं—बौ० गृ० सू०, आप० गृ० सू०, हि० गृ० सू० और वै० गृ० सू०। अन्य गृह्यसूत्रों का अनुसरण करने वाले धर्मसूत्र इस समय उपलभ्य नहीं हैं। यह तो सिद्ध है कि एक ही कल्प के गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों का कर्ता एक ही व्यक्ति था। किन्तु इस विषय में मतभेद पाया जाता है कि एक ही शाखा के सभी गृह्यसूत्रों के अनुरूप धर्मसूत्रों की भी रचना की गयी थी या केवल कुछेक शाखाओं के कल्पों में ही यह विशेषता रखी गयी थी।[1]

गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों के विषयों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि धर्मसूत्रों का क्षेत्र गृह्यसूत्रों के क्षेत्र से कहीं अधिक विस्तृत है। धर्मसूत्रों में लोगों के सामाजिक जीवन के सञ्चालनार्थ नियम दिये गये हैं, जो समाज में व्यक्ति के कर्तव्यों और अधिकारों को नियन्त्रित करते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक आचार, व्यवहार आदि का भी ब्योरेवार वर्णन किया गया है; फिर विभिन्न परिस्थितियों में से गुज़रते हुए व्यक्ति के कर्तव्यों और अधिकारों का भी उल्लेख किया गया है। किन्तु गृह्यसूत्रों में व्यक्ति के गृह्य-जीवन सम्बन्धी कृत्यों तथा रीति-रिवाज़ों के निर्वाह करने के नियम समझाये गये हैं, जो उसके धार्मिक जीवन को भी संयत और अनुशासित बनाते हैं। गृह्यसूत्रों का विषयक्षेत्र अपनी-अपनी शाखाओं के अन्तर्गत प्रचलित नियमों और रीति-रिवाज़ों तक सीमित है, जब कि धर्मसूत्रों का विषय-क्षेत्र सम्पूर्ण समाज में व्याप्त विविध वर्णों और आश्रमों के जीवन तथा उसकी समस्याओं तक फैला हुआ है।

---

१. रामगोपाल, इण्डि० कल्पसू० पृ० ७।

इतना अन्तर होते हुए भी कुछ विषय ऐसे हैं, जिनका गृह्यसूत्रों में संक्षेप से वर्णन किया गया है, किन्तु धर्म-सूत्रों में उन पर विस्तार से विचार किया गया है। यथा ब्रह्मचारी और स्नातक के कर्त्तव्यों और अधिकारों पर धर्मसूत्रों ने विशेष विचार किया है।

प्रा० बूह्लर ने सिद्ध किया है कि आपस्तम्बकल्प के अन्तर्गत यद्यपि गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों का रचयिता एक ही व्यक्ति है, जिन्हों ने एक विशेष क्रम के अनुसार गृह्यसूत्रों को एक पूर्व निर्धारित सीमा के अन्तर्गत नियन्त्रित रखा और धर्मसूत्रों के विषयों का सविस्तार वर्णन किया है। यदि एक ही विषय का उभयत्र प्रतिपादन करना आवश्यक हुआ तो एक क्रमबद्ध योजना के अनुसार उभयत्र योग्य अनुपात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है[1]। कई ऐसे विषयों का गृह्य-सूत्रों में जानबूझ कर वर्णन नहीं किया गया, जिन पर आगे चलकर धर्मसूत्र में विशेष विचार की आवश्यकता थी[2]। आप० गृ० सू० और आप० ध० सू० के बहुत से सूत्र एक ही हैं[3]। कभी-कभी गृ० सू०, ध० सू० की ओर निर्देश भी कर बैठते हैं[4]। स्मृतिचन्द्रिका के कर्ता ने इन दोनों सूत्रों का कर्ता एक ही माना है[5]।

बौ० गृ० सू० और धर्मसूत्रों का भी कर्ता एक बौधायन ही था[6]। बौ० ध० सू० ने बौ० गृ० सू० की चर्चा की है और इसे अपना पूर्वगामी समझा है[7]। हि० गृ० सू० का कर्ता हि० ध० सू० से भिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि जहां हि० गृ० सू०, आप० गृ० सू० से बहुत भिन्न है और भार० गृ० सू० पर आश्रित प्रतीत होता है[8], वहां हि० ध० सू० के शतशः सूत्र शब्दशः आप० ध० सू० की नकल हैं।

वै० गृ० सू० और बौ० ध० सू० एक ही कर्ता की दो कृतियां हैं, क्योंकि वै० गृ० सू० में कहा गया है कि वानप्रस्थ के श्रमणक अग्नि के कुण्ड तथा आधान के विषय में धर्मसूत्र में चर्चा करेंगे—**वानप्रस्थस्य श्रमणकाग्नेः कुण्डमाधान-विशेषञ्च धर्मे वक्ष्यामः** (वै० गृ० सू० १८)।

---

१. एस० बी० ई०, २, पृ० १३।

२. काणे, हि० ध० शा० १, पृ० ३३-३४।

३. **यथा पालाशो दण्डो ब्राह्मणस्य ...... इत्यवर्णसंयोगेनैक उपदिशन्ति**। आप० गृ० सू० ४, १७, १५; १६=आप० ध० सू० १, १, २, ३८।

४. **मासिकश्राद्धस्यापरपक्षे यथोपदेशं कालः**। आप० गृ० सू० ८,२१,१; = आप० ध० सू० २, ७, १६, ४-२२।

५. पृ० ४५८।

६. एस० बी० ई० १४, पृ० ३१; हि० ध० सू० पृ० २०।

७. बौ० ध० सू० २, ८, २०=बौ० गृ० सू० २, ११, ४२।

८. काणे, वही पृ० ४६।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां सम्पूर्ण कल्प उपलभ्य है, वहाँ प्रायः गृह्यसूत्रों के पश्चात् ही धर्मसूत्रों का प्रणयन किया गया है।

धर्मसूत्रों तथा धर्मशास्त्रों का सम्बन्ध

यद्यपि धर्मसूत्रों तथा पश्चात्कालिक धर्मशास्त्रों के प्रतिपाद्य एक से हैं, तो भी इनमें कुछ महत्वपूर्ण अन्तर है।

१. धर्मसूत्रों के निर्माताओं ने कभी भी ऋषि या लोकोतर व्यक्ति होने का दावा नहीं किया। वे अपने आपको साधारण मनुष्य मानते हैं, किन्तु धर्मशास्त्रों या स्मृतियों के कर्ताओं ने अपनी कृतियों का उद्भव ईश्वर, ब्रह्मा आदि किसी न किसी लोकोत्तर व्यक्ति से जोड़ दिया है।

२. बहुत से धर्मसूत्र या तो किसी सूत्रचरण से सम्बद्ध कल्प का भाग हैं, या गृह्यसूत्रो से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। धर्मशास्त्र किसी सूत्रचरण से सम्बद्ध नहीं हैं।

३. धर्मसूत्रों में अपनी शाखा के वेद अथवा अपने चरण के प्रति विशेष आदर की भावना या झुकाव पाया जाता है। धर्मशास्त्रों में ऐसी कोई भावना लक्षित नहीं होती। वे सार्वजनीन धर्म के प्रतिपादक हैं।

४. धर्मसूत्र या तो गद्य में रचे गये हैं या गद्य और पद्य दोनो में। धर्मशास्त्र पद्यमय रचनाएं हैं।

५. धर्मसूत्रों की भाषा धर्मशास्त्रों की भाषा से प्राचीन है और इनमें तथाकथित आर्ष प्रयोगों की प्रचुरता पायी जाती है। धर्मशास्त्रों की भाषा श्रेण्य संस्कृत है और उसमें अपाणिनीय आर्ष प्रयोग स्वल्प हैं।

६. धर्मसूत्रों में विषय-विवेचन का कोई सुनिश्चित क्रम नहीं पाया जाता, इनमें व्यवस्था का अभाव है, धर्मशास्त्रों में सभी विषयों का आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त इन तीन भागों में विभाजन करके क्रमबद्ध और व्यवस्थित विवेचन किया गया है।

धर्मशास्त्रों या स्मृतियों और धर्मसूत्रों के सम्बन्धों के विषय में दो विभिन्न मत व्यक्त किये गये हैं। प्रथम मत मैक्समूलर ने प्रतिपादित किया था कि धर्मशास्त्र धर्मसूत्रों का रूपान्तरमात्र हैं, इनका स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ भी नहीं। उनके अनुसार मनुस्मृति मैत्रायणीय शाखा के किसी प्राचीन मानव धर्मसूत्र का नवीन संस्करण है[1]। बूह्लर ने इस मत का समर्थन किया कि मनुस्मृति की स्वतन्त्र सत्ता

---

१. हि० ऐं० सं० लिट्०, इलाहाबाद सं० पृ० ३२; ६८-७०; एस० बी० ई० २, पृ० ९-११।

कुछ नहीं है, अपितु यह मानव धर्मसूत्र का रूपान्तर है,[1] और क्योंकि मा० ध० सू० का उल्लेख संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता, अतः उन्होंने इसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए अनेकों तर्कों की कल्पना की[2]। किन्तु वे अपनी इस कल्पना को सिद्ध करने के लिए कोई अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इस विषय में दूसरा पक्ष यह है कि यद्यपि धर्मशास्त्रों या स्मृतियों ने धर्मसूत्रों का आश्रय लिया है, तथापि ये सर्वथा नवीन और स्वतन्त्र कृतियां हैं, जिनका धर्मशास्त्र के विकास में अपना विशिष्ट स्थान है और इस क्षेत्र में इनका योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यही मत समीचीन है।

मानव धर्मसूत्र की समस्या

हमने ऊपर चर्चा की है कि स्टेंज़लर[3] के अनुकरण पर मैक्समूलर ने सर्वप्रथम यह विचार प्रचारित किया था कि बिना किसी अपवाद के सभी प्रामाणिक वर्तमान धर्मशास्त्र कुलधर्मों के सम्बन्ध में विरचित तथा वैदिक चरणों द्वारा प्रचारित प्राचीन सूत्र-ग्रन्थों पर आधृत हैं[4]। इसी कल्पना के आधार पर उन्होंने मनुस्मृति के आधार-भूत मानव धर्मसूत्र की भी कल्पना की। डा० बूह्लर ने उनकी इस कल्पना को मूर्त रूप देने का प्रयास किया, किन्तु समस्त संस्कृत साहित्य में मानवधर्मसूत्र का कहीं उल्लेख नहीं किया गया। उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अनेक तर्क प्रस्तुत किये, यथा—

१. मनुस्मृति (८, १४०) में वसिष्ठ के मत का उल्लेख किया गया है, जो वा० ध० सू० (२, ५०) में उपलभ्य है, अतः उन्होंने यह स्थापना की कि मनुस्मृति वा० ध० सू० से अर्वाचीन है।

२. वा० ध० सू० (४, ५-८) के चार सूत्रों में मानव को उद्धृत किया गया है। इनमें से सूत्र ६-७ मनुस्मृति (५, ४१, ४८) से मेल खाते हैं, अष्टम सूत्र गद्यात्मक उद्धरण है और क्योंकि मनुस्मृति पूर्णतः पद्यात्मक रचना है और इन सूत्रों तथा मनु के मतों में आंशिक साम्य पाया जाता है, अतः निश्चित है कि वा० ध० सू० ने मानवधर्मसूत्र को ही उद्धृत किया है।

३. वा० ध० सू० में मनु के नाम से अन्य भी ऐसे उद्धरण पाये जाते हैं, जो या तो वर्तमान मनुस्मृति का विरोध करते हैं या उनके समानान्तर मत का मनु० में सर्वथा अभाव है। वा० ध० सू० (१९,३७) में अनुष्टुप् छन्द में एक मानव-श्लोक उद्धृत है, जिसके समानान्तर विचार तक भी वर्तमान मनु० में नहीं पाया जाता। अतः यह श्लोक मानव धर्मसूत्र से ही लिया गया है।

---

१. एस० बी० ई० २४, भूमिका, पृ० १८-६५।
२. एस० बी० ई० १४, भूमिका, पृ० १८-१९।
३. या० स्मृ० भूमिका ;
४. हि० ऐ० सं० लिट्० पृ० १३४-३५।

४. कामन्दकीय नीतिसार (२, ३) में कहा गया है कि मनु के अनुसार विद्याएं तीन है—त्रयी, वार्ता और दण्डनीति। आन्वीक्षिकी त्रयी का ही एक अंग है। मनु० (७, ४३) ने चार विद्याओं का प्रतिपादन किया है, अतः कामन्दकीय नीतिसार के कर्त्ता के सामने मनु की कोई और रचना थी। कामन्दकीय नीतिसार (११, ६७) में कहा गया है कि मनु के अनुसार राजा के मन्त्रिमण्डल में १२ मंत्री होने चाहियें, किन्तु वर्तमान मनुस्मृति (१, ५४) में सात या आठ मन्त्रियों का निर्धारण किया गया है, अतः कामन्दकीय० में 'मानव' शब्द से मानव धर्मसूत्र ही अभीष्ट है[1]।

५. क्योंकि आपस्तम्ब, बोधायन और हिरण्यकेशी के सूत्र-चरणों में चार कल्पों की रचना की गयी है, अतः मानवों जैसे प्रसिद्ध वैदिक चरण में भी धर्मसूत्र अवश्य होना चाहिये।

मानव धर्मसूत्र को पद्यबद्ध स्मृति में परिवर्तित करने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए डा० बूह्लर लिखते हैं कि क्योंकि धर्मसूत्रों में प्रतिपादित विषय अधूरे और क्रमहीन थे, अतः जब इन जटिल और प्रतिदिन वर्धमान विषयों को क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित रूप देने की आवश्यकता का अनुभव हुआ, तो किसी शाखा विशेष से असम्बद्ध विधि-विधायकों ने मानव धर्मसूत्र को मनुस्मृति के रूप में क्रमबद्ध करने का विचार किया, क्योंकि मनु ही एक ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति थे, जिनके आदेशों का पालन सभी आर्यजन करने को तैयार हो सकते थे।

अब तनिक इन स्थापनाओं पर विचार कर लिया जाये।

१. वासिष्ठ धर्मसूत्र (२, ५०), जिसे बूह्लर ने मनुस्मृति से परवर्ती होने के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है, स्वयं एक उद्धरण है और गौ० ध० सू० (१२, २६) से मिलता है। अतः सिद्ध है कि यह पद्य वा० ध० सू० के अतिरिक्त किसी अन्य रचना से लिया गया है और इसी कारण इस विषय में प्रमाण नहीं हो सकता। दूसरे, वर्तमान वा० ध० सू० के पाठ अत्यन्त भ्रष्ट हैं, अतः उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

२. वा० ध० सू० (४, ५-८) के चार सूत्र, जिन्हें बूह्लर ने अपने विचार की आधारशिला माना है,[2] एक उद्धरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि पांचवें और छठे सूत्र के अन्त में भी 'इति' लगा हुआ है और आठवां सूत्र किसी ब्राह्मण का उद्धरण है। वास्तव में पांचवें सूत्र में मनुस्मृति (५, ४१; ४८) के विचार का संक्षेप किया गया है और वहां मानव शब्द से उसी प्रकार मनुस्मृति का ग्रहण करना चाहिये, जैसे कि तन्त्रवार्तिक और विश्वरूप ने किया है। वा० ध० सू० के

१. एस० बी० ई० २५, भूमिका, पृ० ३८।

२. एस० बी० ई० २५ भूमिका, पृ० ३८।

टीकाकार कृष्ण पण्डित धर्माधिकारी का यही मत है । अतः इस तर्क से मा० ध० सू० की सत्ता सिद्ध नहीं होती ।

३. वा० ध० सू० ने मनुस्मृति के पद्यों से मिलते-जुलते अनेक पद्य उद्‌धृत किये हैं। अतः यदि कुछेक पद्य स्मृति में नहीं भी मिलते हैं, तो इससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वा०ध०सू० के सम्मुख मा० ध० सू० विद्यमान था। न ही बूह्लर का यह मत समीचीन है कि वा० ध० सू० ११, २३; १२,१६ और २३,४३ में या तो मनुस्मृति का विरोध किया गया है या मनुस्मृति में इनके विचारों के समानान्तर विचारों का अभाव है[1], क्योंकि वा० ध० सू० ११, २३ =मनु० ३, २४५-४६ ; वा० ध० सू० २३,४३=मनु० ११,२११ (प्रतिध्वनि)[2] । वा० ध० सू० १२, १६ में मनु का विरोध नहीं किया गया। वा० ध० सू० (१९, ३७) में उद्‌धृत अनुष्टुभ् श्लोक का मनु० में अभाव कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि वा० ध० सू० (४, ३७) में गौतम का वचन उद्‌धृत है, जो वर्तमान गौ० ध० सू० में नहीं पाया जाता। इसी प्रकार निबन्धों में वसिष्ठ के नाम से उद्‌धृत अनेक वचन वा० ध० सू० में नहीं पाये जाते[3] और फिर यह भी सम्भव है कि यह श्लोक मनु के नाम से प्रसिद्ध लोक-प्रचलित श्लोकों में से लिया गया हो या मनुस्मृति के किसी पूर्बगामी संस्करण से लिया गया हो।

मनुस्मृति के ऐसे पूर्वगामी संस्करण की सत्ता अब विद्वानों में प्रमाणित हो चुकी है।

४. कामन्दकीय नीतिसार कौटिल्य अर्थशास्त्र पर आधृत है। अतः उसमें मानवों की ओर किये गये संकेत अर्थशास्त्र से ग्रहण किये गये हैं। अर्थशास्त्र में सङ्कलित 'मानव' से क्या अभिप्राय हैं, यह अभी तक विवादास्पद विषय है[4]। दूसरे कुमारिल और विश्वरूप प्रभृति लेखकों ने मनुस्मृति के लिए 'मानव' शब्द का प्रयोग किया है[5]। शङ्कराचार्य द्वारा भी बृ० आर० उप० (८, ४, १७) पर अपने भाष्य में "मानव" शब्द से मा० ध० सू० के ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है।

---

१. वही पृ० ३४।

२. काणे, वही, पृ० ८३।

३. काणे वही, पृ० ५७; टि० १०८।

४. कौटल्य के संकेत से वटकृष्णघोष का यह परिणाम निकालना ठीक नहीं कि यहां सम्भवतः 'मानव अर्थशास्त्र' उद्धत किया गया हो (I. H. Q. III) क्योंकि इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं है।

५. तन्त्र० वा० पृ० ८०; ११५, ६४२; याज्ञ० स्मृ० ३, २४५; २५६ पर विश्वरूप।

कामन्दकीय० (२, ३) में उल्लिखित विद्याओं के विषय में भी 'मानवों' और मनुस्मृति के मतों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि 'मानव' भी 'आन्वीक्षिकी' को चतुर्थ विद्या ही मानते थे। अन्तर केवल इतना है कि वे इसे त्रयी का अंग समझते थे, मनुस्मृति ने केवल इतना बताया है कि इन विद्याओं को किस-किस से सीखा जाये।

जहां तक मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों की संख्या का सम्बन्ध है, मनुस्मृति (७, ६०) में सात या आठ से अधिक मन्त्रियों की अनुमति भी दी गयी है।

५. समानता के आधार पर इस प्रकार के विषय में कोई भी निर्णय करना उचित नहीं; क्योंकि इस प्रकार की कोई वैदिक विधि तो थी नहीं कि प्रत्येक सूत्रकार को अवश्य ही सभी प्रकार के सूत्रों की रचना करनी ही चाहिये और प्रत्येक चरण का एक धर्मसूत्र होना ही चाहिये। अतः प्रत्येक सूत्रकार के लिए अपने पृथक् धर्मसूत्र की रचना करना आवश्यक नहीं था। यह तो सूत्रकार की रचना और योग्यता पर निर्भर करता था।

इस विषय में डा० काणे की यह स्थापना अप्रमाणित है कि क्योंकि आपस्तम्ब, बौधायन और हिरण्यकेशीय सूत्र-चरण दक्षिण में प्रादुर्भूत और विकसित हुए, अतः उनके लिए आवश्यक था कि आचार्यों में आर्य-संस्कृति की सुदृढ़ स्थापना के लिए धर्म के विषय में विशद और स्पष्ट नियम बनाते, जिसके लिए इन तीनों सूत्रकारों को धर्मसूत्रों की रचना करनी पड़ी। तत्पश्चात् इनके अनुकरण पर आर्यावर्त के सूत्रचरणों ने भी स्वतन्त्र रूप से विरचित धर्मसूत्रों को अपना लिया और इस प्रकार गौतम धर्मसूत्र और वासिष्ठ धर्मसूत्र क्रमशः सामवेद और ऋग्वेद से सम्बद्ध हो गये, यद्यपि उनके साथ इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं था[1]। किन्तु इस समस्त परिकल्पना का आधार यह कल्पना है कि आपस्तम्ब प्रभृति सूत्रचरण दक्षिणापथ में उदित हुए, जो अभी तक अप्रमाणित है। आधुनिकतम अनुसंधान की स्थापना तो इससे सर्वथा विपरीत दिशा की ओर इंगित करती है[2]।

यह विचार भी असंगत है कि गौ० ध० सू० और वा० ध० सू० का क्रमशः सामवेद और ऋग्वेद से कोई सीधा सम्बन्ध ही नहीं था। कुमारिल ने असन्दिग्ध शब्दों में गौ० ध० सू० का सामवेद से और वा० ध० सू० से ऋग्वेद का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट बताया है[3]। स्वयं डा० काणे ने अन्यत्र गौ० ध० सू०

---

१. काणे, वही, पृ० ८४-८५।

२. रामगोपाल, इण्डि०, कल्पसू०, पृ० ९३-१०२।

३. तन्त्र०, वा० पृ० १७९, वाराणसी सं०।

का सामवेद के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार भी किया है[1]। यद्यपि वा० ध० सू० ऋग्वैदिक कल्प का अंग नहीं रहा, तो भी ग्रान्तरिक साक्ष्य के ग्राधार पर दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रमाणित होता है[2]।

६. सम्पूर्ण सूत्र साहित्य में कहीं भी मानव धर्मसूत्र की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। बौ० ध० सू० में तीन बार मनु का उल्लेख हुआ है, जिनमें से दो बार तो चतुर्थ प्रश्न में हुआ है, जिसे प्रक्षिप्त माना जाता है। एक बार तै० सं० के उद्धरण में।

आप० ध० सू० (२, ७, १६, १) में भी कहा है कि मनु ने श्राद्ध का प्रवर्तन किया था ग्रौर २, ६, १४, ११ में तै० सं० का उपर्युक्त उद्धरण दिया है। ग्राप० ध० सू० अन्य ग्राचार्यों का उल्लेख करता है, किन्तु मानव धर्मसूत्र के विषय में सर्वथा मौन है, जबकि उसने मानव श्रौतसूत्र से बहुत कुछ ग्रहण किया है। ग्रत: प्रतीत होता है कि ग्राप०ध०सू० को मानव धर्मसूत्र का पता नहीं था। इसके ग्रतिरिक्त मानव श्रौतसूत्र ग्रौर मानव गृह्यसूत्र में तथा वा० ध० सू० में उल्लिखित मनु के सिद्धान्तों ग्रौर मनुस्मृति में परस्पर विशेष सान्निध्य नहीं पाया जाता। उल्टे मानव गृह्यसूत्र ग्रौर मनुस्मृति में परस्पर गहरा मतभेद ही लक्षित होता है। अत: मानव धर्मसूत्र की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

किन्तु इस विषय में गौ० ध० सू० (१९, ७) में मनु का स्पष्ट नाम-निर्देश इस बात का सूचक है कि गौतम मनु से परिचित था ग्रौर यदि गौ० ध० सू० का व्याख्याकार मस्करी ग्रपनी व्याख्या की पुष्टि के लिए ३१५ उद्धरण मनुस्मृति के प्रस्तुत करता है ग्रौर ग्राधुनिक शोधकों ने इन सूत्रों तथा मनुस्मृति के पद्यों में ५०० से ग्रधिक समानताएँ ग्रौर भी खोज निकाली हैं,[3] तो भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वर्तमान मनुस्मृति गौ० ध० सू० का मुख्य स्रोत है,[4] क्योंकि मनु (३,१६) ने भी **उतथ्य-तनय** (='गौतम'-कुल्लूक) के विचार को नामनिर्देशपूर्वक उद्धृत किया है ग्रौर मनुस्मृति के वर्तमान संस्करण का काल २०० ई० पू० से प्राचीन कोई विद्वान् नहीं मानता ग्रौर गौ० ध० सू० का काल ६०० ई०पू० तक तो डा० काणे भी मानते हैं। हम तो इसे ग्रौर भी प्राचीन समझते हैं। अतः सम्भावना इस बात की है कि या तो मा० ध० सू० कोई ग्रतिप्राचीन रचना रही होगी, जिसका ग्रब लोप हो गया है, या मनुस्मृति का कोई ग्रतिप्राचीन संस्करण रहा होगा, जिसे प्राचीन सूत्रकार उद्धृत करते रहे हैं। किन्तु इन दो सम्भावनाग्रों में से हमें तो प्रथम सम्भावना ही अधिक रुचिकर प्रतीत होती है। तो भी यह समस्या अभी तक सुलझी नही कही जा सकती, क्योंकि यह भी संभव है कि वर्तमान मनुस्मृति ने बहुत सी सामग्री प्राचीन सूत्रग्रन्थों से ही ग्रहण की हो।

१. वही० पृ० १३।
२. रामगोपाल, वही, पृ० ५९-६०।
३. वेदमित्र, इण्डि० ध० सू०, भूमिका पृ० २९।
४. वही०।

सप्तविंश अध्याय

प्राचीन धर्मसूत्र

गौतम धर्मसूत्र

गौतम धर्मसूत्र प्राचीनतम धर्मसूत्र माना जाता है। गौतम किसी गोतम नामक ऋषि का वंशज प्रतीत होता है। 'गोतम' शब्द का प्रयोग तो ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर हुआ है, किन्तु इन सभी स्थलों पर इसे किसी व्यक्ति का नाम नहीं माना जा सकता। एक सूक्त (१, ७९) का ऋषि गोतम कहा गया है। ऋग्० (१, ७८, ५) में गोतम "राहुगण" का नाम आया है। जिसे श० ब्रा० (१, ४, १, १० ; ११, ४, ३, २०) में माठव विदेह का पुरोहित बताया गया है। वहीं पर इसे जनक विदेह तथा याज्ञवल्क्य का समकालिक माना गया है। अथर्व० (४, २९, ६; १८, ३, १६) में भी इसका नाम लिया गया है। वामदेव और नोधस् गोतम के पुत्र कहे गये हैं (ऋग्० १, ६०-६५; ४, १-१७ प्रभृति)। वंशावलियों में अनेक गौतमों का उल्लेख होने के कारण धर्मसूत्रकार गौतम का ठीक-ठीक पता लगाना असम्भव है। मनु ने इसे उतथ्य का पुत्र माना है (मनु० ३, १६)। और फिर गौतम के नाम से अनेक रचनाएं प्रसिद्ध हैं। किन्तु एक बात सिद्ध है कि धर्मसूत्रकार गौतम सामवेद से सम्बद्ध था। इस तथ्य का सर्वप्राचीन उल्लेख कुमारिल-कृत तन्त्रवार्तिक में किया गया है (बनारस सं० पृ० १७९)। और इस बात की पुष्टि आन्तरिक साक्ष्य से भी होती है। इसका छब्बीसवां अध्याय सामविधान ब्राह्मण के समान है। शौच-सम्बन्धी मन्त्र भी अधिकतर सामवेद से ही लिये गये हैं (गौ० अ० सू० १९, १३)। दो स्थानों पर साम व्याहृतियों का विधान किया गया है (गो० ध० सू० १, ५७; २५, १२)। चरण-व्यूह (३, ८) से भी प्रतीत होता है कि किसी समय सामवेदीय गौतम चरण विद्यमान था। टीकाकार के अनुसार गौतम चरण को राणायनीय शाखा का उपभेद माना गया है। लाट्यायन श्रौतसूत्र (१, ३, ३; तथा १, ४, १७) एवं द्राह्यायण श्रौतसूत्र (१, ४, १७ तथा ९, ३, १५) में गौतम को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। गौ० गृ० सू० (३, १०, ६) में भी गौतम का प्रमाण के रूप में निर्देश किया गया है।

अतः सिद्ध होता है कि गौ० ध० सू० का सामवेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है और इस बात की सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि गौतम ने अपने चरण के लिये श्रौत और गृह्य सूत्रों की भी रचना की होगी, यद्यपि इस समय

ये उपलभ्य नहीं हैं। डा० काणे ने (हि० ध० शा० भाग १, पृ० १३) गौ० ध० सू० का सम्बन्ध गौतम-कल्प से माना है, किन्तु अन्यत्र (पृ० ८५) इसकी स्वतन्त्र रचना होने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, तो भी अधिक सम्भावना गौतम कल्प की सत्ता की है[1]।

इस ध० सू० के कुल २८ अध्याय हैं, जिनमें १००० सूत्र हैं। यद्यपि इसे हस्तलेखों में 'गौतम धर्मशास्त्र' कहा गया है, तो भी यह पूर्णरूपेण सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसमें कहीं-कहीं ऐसे सूत्र अवश्य उपलभ्य हैं, जो अनुष्टुप् छन्द के अंश प्रतीत होते हैं। यथा—

आक्रोशानृतहिंसासु त्रिरात्रं परमं तपः (२३, २७)। वैसे इसकी भाषा पाणिनीय व्याकरण के अधिक अनुरूप है।

डा० जॉली का विचार था कि क्योंकि इसमें 'यवन' शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः यह एक परवर्ती रचना है[2]। किन्तु डा० काणे (पृ० १९) तथा बूह्लर (एस० बी० ई० भाग २, भूमिका, पृष्ठ सं० ६१) ने इस विचार का विरोध किया है। बौ० गृ० सू० (२, २, ६९-७०) में गौतम का विचार नाम-निर्देशपूर्वक प्रस्तुत किया गया है, कि ब्राह्मण को क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति किसी भी अवस्था में नहीं अपनानी चाहिये। किन्तु वर्तमान गौ० ध० सू० (७, ४-७) में आपत्काल में ब्राह्मण को क्षात्रधर्म स्वीकार करने की छूट दी गयी है। अतः प्रतीत होता है कि यह सूत्र प्रक्षिप्त है[3]। किन्तु हमारी सम्मति में यवन-शब्द के प्रयोग के आधार पर अब किसी भी सूत्र को प्रक्षिप्त मानना उचित नहीं कहा जा सकता। इस शब्द के आधार पर काल-निर्धारण का प्रयास ही व्यर्थ है।

वा० ध० सू० (४, ३६) में गौतम के नाम से यह विचार व्यक्त किया गया है कि यदि कोई आहिताग्नि यात्रा में मर जाय, तो उसके सपिण्ड घास-फूस के पुतले का पुनर्दाह करें और और दस दिन तक अशौच रखें। ऐसा कोई सूत्र वर्तमान गौ० ध० सू० में उपलभ्य नहीं है। बूह्लर के विचार में यह सूत्र गौ० गृ० सू० में होगा[4]।

वैसे इस धर्मसूत्र में समय-समय पर अनेक परिवर्तन-परिवर्धन किये गये हैं जिनके कारण इसमें अनेकों पाठभेद ही नहीं घुस आये, अपितु कई एक पाण्डुलिपियों में २९वें अध्याय के अनन्तर कर्म-विपाक पर एक पूरा प्रकरण ही जोड़

---

१. द्र. सुरेशचन्द्र बैनर्जी, धर्मसूत्रस्०, पृ० २०।

२. रेख्त उन्द् त्सित्ते पृ० ५; इ० कल्प० सू० पृ० ५३-५४ पर उद्धृत।

३. बूह्लर, वही पृ० ५६।

४. वही, भूमिका पृ० ५४।

दिया गया है। इस पर हरदत्त की व्याख्या नहीं है। अतः यह प्रकरण मौलिक न होकर प्रक्षिप्त है और यह प्रक्षेप भी हरदत्त के बाद किया गया प्रतीत होता है। हरदत्त का समय १४५०-१५०० ई० माना जाता है[1]। जाति-पांति विषयक अनेक सूत्र प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं[2]। अनुमान किया गया है कि इस प्रकार के प्रक्षेप व पाठभेद कुमारिल के काल से पूर्व ही हो चुके थे, क्योंकि तन्त्रवार्तिक (पृ० ७९) में इस प्रकार के पाठभेदों की चर्चा की गयी है[3]। इसी प्रकार मिताक्षरा, स्मृति-चन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में उद्धृत इस रचना के अनेक सूत्र वर्तमान संस्करणों में उपलभ्य नहीं हैं[4]। अतः वर्तमान अवस्था में यह ग्रन्थ अत्यन्त भ्रष्ट रूप में हम तक पहुंचा है।

दूसरी ओर इस ध० सू० का प्रायश्चित-प्रकरण (१९वां अध्याय) कुछ परिवर्तन के साथ बौ० ध० सू० (३, १०) ने ग्रहण कर लिया है[5]। अनेकों सूत्र इन दोनों रचनाओं में परस्पर मिलते हैं। यथा—गौ० ध० सू० ३, २५-३४ बौ० ध० सू० २, ६, १७; गौ० ध० सू० ३, ३; एवं ३५=बौ० ध० सू० (४, ३४) भी गौ० ध० सू० (४, ४१) के विचार को उद्धृत करता है। वा० ध० सू० का २२वां अध्याय गौ० ध० सू० के १९वें अध्याय की नकल है। इसके अतिरिक्त वा० ध० सू० में अनेकों सूत्र समान हैं। यथा—गौ० ध० सू० ३, ३१-३३=वा० ध० सू० ९, १-३; गौ० ध० सू० ३, २६८=वा० ध० सू० ९, १०; गौ० ध० सू० १, ४४=वा० ध० सू० ३, ३७) इत्यादि।

याज्ञ० (१, ५) में गौतम धर्म-शास्त्र का उल्लेख किया गया है। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में गौ० ध० को एक दर्जन से भी अधिक वार उद्धृत किया है[6]। और ये सभी सूत्र वर्तमान संस्करण में उपलभ्य हैं। सामविधान ब्राह्मण और गौ० ध० सू० में पर्याप्त व्यवधान प्रतीत होता है। अपरार्क ने भविष्य-पुराण से एक पद्य उद्धृत किया है, जो गौ० ध० सू० के सुरापान निषेध वाले सूत्र से मिलता है (अपरार्क, पृ० १०७६)। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र-भाष्य (३,१,८

---

१. द्र. ऐंजलर गौ० ध०, भूमिका, पृ० ३; बूह्लर, आप० ध० सू० आंग्लानु० भूमिका, पृ० ८।

२. एस. बी. ई., भाग २, पृ० ५६-६१।

३. गौ० ध० सू० १, ४५ पर कुमारिल।

४. काणे, वही, पृ० १६।

५. काणे, वही, पृ० १७।

६. जे. बी. बी. आर. ए. एस., नव्य सं० (१९२५), भाग १, पृ० ६६-६७।

तथा १, ३, ३८) में गौ० ध० सू० ११, २९ तथा १२, ४ को उद्धृत किया है। याज्ञ० स्मृ० के टीकाकार विश्वरूप ने गौतम के बहुत से सूत्रों की ओर संकेत किया है। मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि ने भी गौतम को अनेक बार उद्धृत किया है[1]।

दूसरी ओर गौतम ने भी अपने से पूर्ववर्त्ती साहित्य की ओर पर्याप्त सङ्केत किये हैं। संहिताओं तथा ब्राह्मणों के अतिरिक्त उपनिषद् (१९, १३), वेदांग (८, ५ तथा ११, १९), इतिहास (८, ६), पुराण (८, ६ तथा ११, १९), धर्मशास्त्र (११, १९) की चर्चा की गयी है। इसने छब्बीसवां अध्याय सामविधान ब्राह्मण से उधार लिया है तथा आन्वीक्षिकी की ओर संकेत किया है (१, १३)। धर्म-शास्त्रियों में से केवल मनु का तो नाम-निर्देश किया है (१९, ७)।

मनु और गौ० ध० सू० में ५०० से भी अधिक स्थानों पर साम्य पाया जाता है (वेदमित्र, इण्डि० धर्म० सू० XXVI)। गौ० ध० सू० के भाष्यकार मस्करी ने अपने भाष्य की पुष्टि में मनु से ३१५ उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। अन्य रचनाओं से अतिस्वल्प संख्या में उद्धरण दिये हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि भाष्यकार गौ० ध० सू० को मनु के विचारों के निकटतम समझता था। ऐसा प्रतीत होता है कि मनु ही गौतम का मूलस्रोत था (द्र. वेदमित्र, गौ० ध० सू०, संस्करण १९६९, भूमिका पृ० XXIV)।

अन्य पूर्वगामी आचार्यों की ओर **एके, एकेषाम्** प्रभृति शब्दों से संकेत किया है। इन्होंने निरुक्त (२,३) के 'दण्ड' शब्द की निरुक्ति नाम-निर्देश के बिना उद्धृत की है (११,१८) (**दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान् दमयेत्**)। यह भी सम्भव है कि वह औपमन्यव की परम्परा से ही ऐसा लिख रहे हों, क्योंकि यास्क ने भी इस विषय में उसी का उल्लेख किया है। बौ० ध० सू० (१, १, १७-२४) ने दक्षिण और उत्तर के रीति-रिवाजों के विषय में देशाचार को अधिक महत्त्व दिया है, किन्तु गौतम ने इन रीति-रिवाजों को शिष्टों के व्यवहार के विरुद्ध होने के कारण मान्यता देने से मना कर दिया है। यही बात गौतम (२१, २०) में सङ्केतित भी है।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि बौ० ध० सू० तथा वा० ध० सू० दोनों ही गौ० ध० सू० से अर्वाचीन हैं। किन्तु सामविधान ब्राह्मण और निरुक्त दोनों ही गौ० ध० सू० से प्राचीन हैं। गौ० ध० सू० धर्मशास्त्रकार मनु से परिचित था। किन्तु मनुस्मृति से उसका परिचय नहीं था। हमारा विचार है कि आधुनिक मनुस्मृति तथा वर्तमान गौ० ध० सू० में सैंकड़ों समानान्तर विचार इस बात के द्योतक हैं कि यदि मानव धर्मसूत्र की सत्ता स्वीकार नहीं की जाती तो कोई न

---

१. मनु० २,६ तथा ८,१२५ आदि के भाष्य में।

कोई मनु-कृत रचना ऐसी अवश्य थी, जो अत्यन्त प्राचीन थी और, जो वर्तमान पद्यात्मक मनुस्मृति के अतिरिक्त गौ० ध० सू० की आधारशिला बनी।

डा० जॉली ने गौ० ध० सू० को आप० ध० सू० से शताब्दियों पूर्व रखने का प्रस्ताव किया है और सम्भवतः बौधायन से भी पहले[1]।

प्रो० बूह्लर ने भी गौ० ध० सू० को शेष चारों धर्मसूत्रों से प्राचीन माना है (गौ० ध० सू० आंग्लानुवाद, एस० बी०ई०, भाग २, भूमिका, पृ० ४९)। आप० ध० सू० और आप० गृ० सू० में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं हैं, अपितु दोनों एक ही व्यक्ति की रचनायें हैं (बूह्लर, वही, भूमिका, पृ० १२-१३)। आप० गृ० सू० का काल ६५० ई० पू० से अर्वाचीन नहीं है (द्र. आप० गृ० प्रकरण)। अतः आप० ध० सू० से और बौ० ध० सू० से भी प्राचीन तथा यास्क से अर्वाचीन या निकटस्थ होने के कारण गौ० ध० सू० का रचना-काल ८०० ई० पू० के आसपास होना चाहिये।

गौतम धर्मसूत्र के विषय

गौतम धर्मसूत्र के २८ अध्याय हैं, जिनका विषय-वार व्यौरा इस प्रकार है—

अध्याय

१—धर्म के स्रोत, उपनयन, शौच, आचमन आदि।

२—ब्रह्मचारी के व्रत, शिष्यानुशासन, अध्ययन-काल।

३—चार आश्रम, ब्रह्मचारी, भिक्षु और वैखानस के कर्त्तव्य।

४—गृहस्थ के व्रत, विवाह, अष्टविध-विवाह-विचार तथा काल।

५—गर्भाधान के नियम, पञ्च महाव्रत, मधुपर्क, वर्णानुसार अतिथि-सत्कार।

६—माता-पिता का सत्कार, गुरुजनों तथा सम्बन्धियों का सत्कार।

७—ब्राह्मण की वृत्ति, आपत्कालीन वृत्ति, अविक्रेय वस्तुएं।

८—चालीस संस्कार, अष्टविध आध्यात्मिक गुण।

९—स्नातक और गृहस्थ के व्रत।

१०—चारों वर्णों के विशिष्ट धर्म, राज-कर्त्तव्य, कर, स्वत्व के स्रोत, अवयस्क की सम्पत्ति की रक्षा।

११—राजधर्म, राज-पुरोहित के गुण आदि।

---

१. *Hindu Law and Custom*, P. 9.

१२—अपवाद, गाली, आक्रमण, क्षति, व्यभिचार, बलात्कार, चोरी, ऋण, अनुचित अधिकार आदि विषयक दण्ड-विधान; ब्राह्मण की अदण्डनीयता, ऋण-निर्यातन, न्यास।

१३—साक्षी तथा साक्षि-विषयक नियम, क्षम्य असत्य।

१४—अशौच।

१५—श्राद्ध के पांच प्रकार, श्राद्ध के अयोग्य ब्राह्मण।

१६—उपाकर्म, अनध्याय।

१७—भक्ष्याभक्ष्य-विचार।

१८—स्त्री-धर्म, नियोग तथा उसके नियम, नियोगज पुत्र।

१९—प्रायश्चित्त, पापापहारक, शुचिकर मन्त्र, जप, तप, होम, व्रत, दान से सम्बद्ध विचार।

२०—प्रायश्चित्त न करने वाले पापी का उत्सर्ग।

२१—पातक-विवेचन, विविध प्रकार के पातक।

२२—ब्रह्म-हत्या, व्यभिचार, क्षत्रियादि-हत्या, गो-हत्या आदि के प्रायश्चित्त।

२३—सुरापान, अगम्या-गमन, अप्राकृतिक व्यभिचार, ब्रह्मचारी के व्रत-भंग के प्रायश्चित्त, (तप्त कृच्छ्र-व्रत)।

२४—महापातकों तथा उपपातकों के गूढ़ प्रायश्चित्त।

२५—प्रवञ्चना, अपवाद, असदाचार, अभक्ष्य-भक्षण, शूद्राभिगमन, अभिचार-कर्म के लिये गूढ प्रायश्चित्त।

२६—कृच्छ्र तथा अतिकृच्छ्र तथा कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत।

२७—चान्द्रायण व्रत।

२८—पिता की सम्पत्ति का विभाजन, स्त्री-धन, द्वादशविध पुत्र, अनुलोम-पुत्र तथा दाय-भाग।

इस विषय-सूची पर विचार करने से पता चलता है कि रहस्य-पापों और उनके गूढ़ प्रायश्चित्तों पर एक पूरा अध्याय (२४) लिखा गया है। दूसरी बात जो अन्य धर्मसूत्रों में पायी जाती है और यहां देखने को नहीं मिलती, वह है— दिव्यों की व्यवस्था। जबकि सामवेदीय पञ्च० ब्रा० (१४, ६६) और छां० उप० (६, १६) में दिव्य का उल्लेख किया गया है। गौ० ध० सू० में समान-प्रवर-विवाह का निषेध किया गया है (४, २)। अग्रज से पूर्व अनुज का विवाह दूषित माना गया है (१५, १५-१८)। अवकीर्णी (ब्रह्मचर्य-भंग करने वाला ब्रह्मचारी) तथा पतित-सावित्रीक उपपातकों के दोषी घोषित किये गये हैं (२१, ११)।

जैसा कि धर्मसूत्रों के प्रतिपाद्य विषयों के विवेचन से प्रकट होता है कि गौतम ने जाति-पांति तथा वर्ण-व्यवस्था की जटिलताओं तथा कठोरताओं का परिचय नहीं दिया और शूद्रों के प्रति प्रायः उदारता ही प्रमाणित की है। ब्राह्मणों का महत्त्व पर्याप्त मात्रा में बढ़ चुका था तो भी उत्तरवर्त्ती सूत्रों की अपेक्षा इसे कुछ कम ही व्यक्त किया गया है।

भाषा :—गौ० ध० सू० पूर्णरूपेण गद्यात्मक रचना है। इसमें कोई पद्य न तो उद्धृत है, न ही कर्ता द्वारा रचित उपलब्ध होता है। किन्तु कुछ सूत्र ऐसे हैं जो अनुष्टुप् के अंश प्रतीत होते हैं। इसकी भाषा अन्य धर्मसूत्रों की अपेक्षा पाणिनि के व्याकरण के अधिक अनुरूप है।

व्याख्याएं :—(१) हरदत्त-कृत 'मिताक्षरा' एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण व्याख्या है। इसका रचना-काल ११००-१३०० ई० के मध्य में है (काणे, हि० ध० शा० भाग १, पृ० ३४७)।

(२) भर्तृयज्ञ—एक प्राचीन व्याख्याकार हैं, जिनका उल्लेख बहुत लोगों ने किया है। यद्यपि इनकी व्याख्या उपलभ्य नहीं है। इनके नाम से इसके अतिरिक्त मानवधर्मसूत्र-भाष्य, वा० ध० भाष्य तथा का० श्रौ० सू० भाष्य प्रसिद्ध हैं। एक भाष्य याज्ञ० स्मृ० पर भी प्रसिद्ध है, किन्तु इस समय का० श्रौ० सू० भाष्य का प्रथम अध्याय बड़ौदा पुस्तकालय में सुरक्षित है। एक कात्यायन गृ० सू० भाष्य भी ए० एस० बी० कलकत्ता तथा बड़ौदा में उपलभ्य है (वेदमित्र, इण्डि० ध० सू० पृ० ३५)। भर्तृयज्ञ का काल ८०० ई० से पूर्व माना गया है (काणे, ध० शा० इ० पृ० ६६; हि० ध० शा०, भाग १, पृ० २५१)।

(३) असहाय—विश्वरूप ने सूचित किया है कि असहाय ने गौ०ध०सू० पर एक भाष्य लिखा था। नारद-स्मृति पर इनके भाष्य का एक अंश डा० जॉली के संस्करण में प्रकाशित हुआ। विवाद-रत्नाकर ने इन द्वारा रचित एक व्याख्या मनुस्मृति पर भी प्रमाणित की है। विश्वरूप तथा मेधातिथि द्वारा उल्लिखित होने के कारण इनका काल ७५० ई० से उत्तरवर्त्ती नहीं हो सकता।

(४) मस्करी—कृत्यकल्पतरु के मोक्षकाण्ड में मस्करी को गौ० ध०सू० का व्याख्याता कहा गया है। वेङ्कटनाथ की शतदूषणी में (पृ० ६४) भी यही कहा गया है। इसमें इसे 'सर्वस्मृति-निबन्धन' कहा गया है।

संस्करण :—(१) डा० ए० एफ० स्टेंजलर ने "संस्कृत टैक्स्ट सोसायटी" के लिए लन्दन से १८७६ में प्रकाशित किया था।

(२) इसी संस्करण का आंग्लानुवाद डा० बूह्लर ने १८७९ में एस० बी० ई०, भाग २ में आक्सफोर्ड से प्रकाशित कराया था।

(३) जीवानन्द विद्यासागर ने १८७६ में तथा (४) एम० एन० दत्त ने १९०८ में कलकत्ता से प्रकाशित कराया। दोनों में ही १९वें अध्याय के अंत में 'कर्म-विपाक' प्रकरण जोड़ दिया गया है।

(४) स्मृति-संदर्भ नामक स्मृति-संग्रह में भी गौ० ध० कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है (भाग ४, पृ० १८७९-१९१८)।

(५) पूना की आनन्दाश्रम-ग्रन्थमाला में १९१० में प्रकाशित हुआ, जो अत्यन्त दोषपूर्ण था। इसे पुनः १९३१ में हरदत्त की मिताक्षरा टीका सहित प्रकाशित किया गया। इस में कुल ९९१ सूत्र हैं। इसी संस्करण का तेलगू अक्षरों में भी सम्पादन किया गया है।

(६) मस्करी की व्याख्या सहित एल० श्री निवासाचार्य ने गवर्नमेण्ट ओरियेण्टल लायब्रेरी मैसूर से एक संस्करण १९१७ में प्रकाशित किया। इसमें १०१६ सूत्र हैं। यह संस्करण भी दोषपूर्ण है।

(७) वेदमित्र ने एक नवीन संस्करण प्रकाशित किया है। नैशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली, १९६९।

बौधायन धर्मसूत्र

कृष्णयजुर्वेद के बौधायन धर्मसूत्र का पूर्णरूपेण सम्पादन अभी तक नहीं हो सका है। डा० बर्नेल के अनुसार बौधायन कल्प का विभाजन इस प्रकार किया गया है :—

श्रौतसूत्र=१-१९ प्रश्न ; कर्मान्तसूत्र=२० अध्याय; द्वैधसूत्र=४ प्रश्न।
गृह्यसूत्र=४ प्रश्न ; धर्मसूत्र=४ प्रश्न ; शुल्वसूत्र=३ अध्याय।

डा० कैलैण्ड ने बौधायन कल्प का विभाजन इस प्रकार किया है :—

श्रौतसूत्र=१-२१ प्रश्न; शुल्व=२२-२५ प्रश्न; कर्मान्त=२६-२८ प्रश्न।
प्रायश्चित्त=२९-३१ प्रश्न; द्वैध=३२वां प्रश्न; गृह्य=३३-३५ प्रश्न।
गृह्य प्रायश्चित्त=३६वां प्रश्न; गृह्य परिभाषा=३७वां प्रश्न।
गृह्य परिशिष्ट=३८-४१ प्रश्न; पितृमेध=४२-४४ प्रश्न।
प्रवर=४५वां प्रश्न; धर्म=४६-४९ प्रश्न।

इसी प्रकार आर० शामशास्त्री ने इसे अपने ढंग पर विभाजित किया है। जैसे कि हम आप० ध० सू० के प्रकरण में देख चुके हैं, बौधायन कल्प भी एक ही व्यक्ति की कृति है। इसमें बौ० गृ० सू० का अनेक स्थलों पर उल्लेख

हुआ है। यथा—शेषमुक्तमष्टकाहोमे (बौ० ध० सू० २, ८, २०) का संकेत बौ० गृ० सू० (२, ११, ४२) की ओर है। इसी प्रकार बौ० ध० सू० १, २, १६= बौ० गृ० सू० २, ५, ६६।

बौ० गृ० सू० ने स्वयं बौधायन के मत को उद्धृत किया है।

स्वयं बौ० ध० सू० (१, ४, ५; २४; ३, ५, ८; ३, ६, २०) ने आचार्य बौधायन का नाम-निर्देश-पूर्वक उल्लेख किया है। बौ० गृ० सू० (३, ९, ६) में पदकार आत्रेय, वृत्तिकार कौण्डिन्य, प्रवचनकार कण्व, बौधायन तथा सूत्रकार आपस्तम्ब के नाम स्मरण किये गये हैं। बौ० ध० सू० (२, ५, २७ ऋषि-तर्पण) में कण्व बौधायन, सूत्रकार, आपस्तम्ब तथा सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी के नाम पढ़े गये हैं। अतः स्पष्ट है कि बौ० ध० सू० की रचना के समय कण्व बौधायन एक प्राचीन ऋषि माने जाने लगे थे। अतः वह वर्तमान धर्मसूत्र के कर्ता नहीं हो सकते। यह सम्भव है कि बौ० ध० सू० के कर्ता बौधायन, कण्व बौधायन के वंशज थे। भाष्यकार गोविन्दस्वामी ने भी बौधायन को काण्वायन की संज्ञा दी है। धर्मसूत्र में ही बौधायन को प्रमाण माना गया है। इस गोरखधन्धे को गोविन्दस्वामी भी नहीं सुलझा सके।

बौ० ध० सू० के प्रतिपाद्य विषयों का विवरण इस प्रकार है—

प्रश्न (१)—अध्याय (१)—धर्म के स्रोत; उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न रीति-रिवाज; शिष्टों तथा वर्ण-सङ्करों से युक्त प्रदेश; वर्ण-सङ्करों वाले प्रदेशों की यात्रा करने पर प्रायश्चित्त।

अध्याय (२)—उपनयन; ब्रह्मचारी के व्रत; ब्रह्मचर्य की प्रशंसा; वर्ण के अनुरूप दण्ड; मेखला, यज्ञोपवीत आदि का विधान।

(३) स्नातक के व्रत।

(४) स्नातक के लिए मृण्मय घट ले जाने के विषय में नियम।

(५) शौच, सपिण्ड तथा सकुल्य की व्याख्या, दाय-भाग, भक्ष्याभक्ष्य-विचार।

(६) यज्ञ की दृष्टि से शौच।

(७) यज्ञ सम्बन्धी उपकरणों, यजमान, यजमान-पत्नी, ऋत्विजों, आज्य, पुरोडाश, पशु, सोम, अग्नि आदि का महत्त्व।

(८) चातुर्वर्ण्य-विचार, (९) वर्ण-सङ्कर, (१०) राजा के कर्त्तव्य, पञ्च-महापाप और उनके दण्ड, साक्षी। अष्टविवाह तथा अनध्याय।

प्रश्न (२)—अध्याय (१)—ब्रह्महत्या आदि महापातकों के प्रायश्चित्त, ब्रह्मचर्य-भङ्ग, सगोत्र-विवाह आदि के प्रायश्चित्त, पराक, कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र व्रत।

(२) सम्पत्ति-विभाजन, अनौरस-पुत्र; व्यभिचार का प्रायश्चित्त; नियोग;

आपत्कालीन वृत्तियां, गृहस्थ के नित्य कृत्य। (३) गृहस्थ के दैनिक कृत्य, वैश्वदेव बलि, भोजन, दान प्रभृति। (४) सन्ध्या, (५) स्नान, आचमन, तर्पण। (६) पञ्चमहायज्ञ, चारों वर्णों के कर्त्तव्य। (७) भोजन के नियम, (८) श्राद्ध। (९) पुत्र-प्रशंसा। (१०) सन्न्यास के नियम।

प्रश्न (३)—अध्याय (१)—शालीन तथा यायावर नामक गृहस्थों की जीविका-वृत्तियां। (२) षण्निवर्तनी वृत्ति (३) वानप्रस्थ (४) गृहस्थों तथा ब्रह्मचारियों के व्रतों के भंग करने पर प्रायश्चित्त। (५) अघमर्षण-विधि। (६) प्रस्तुत यावक-कर्म। (७) कूष्माण्ड-होम। (८) चान्द्रायण। (९) वेदमन्त्रोच्चारण के नियम। (१०) शौच-विषयक विचार।

प्रश्न (४)—(१) अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त। (२) प्राणायाम और अघमर्षण। (३) गूढ़ प्रायश्चित्त। (४) प्रायश्चित्त-विषयक वैदिक मन्त्र। (५) जप, होम, इष्टि, यन्त्र द्वारा सिद्धि; कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र (सान्तपन, पराक तथा चान्द्रायण व्रत)। (६) जप, इष्टियां। (७) मन्त्रों की प्रशंसा, होम विषयक वैदिक मन्त्र। (८) लोभ के कारण सिद्धि चाहने वालों की निन्दा आदि।

डा० काणे के अनुसार सम्भवत: चतुर्थ प्रश्न क्षेपक है[1]। इसके आठ अध्यायों में से अधिकांश पद्यों में हैं। शैली भी भिन्न है। इस धर्मसूत्र में अनेक विषयों की पुनरुक्ति हुई है। तृतीय प्रश्न का दसवां अध्याय गौतम धर्मसूत्र से लिया गया है। इसी प्रश्न का षष्ठ अध्याय विष्णुधर्मसूत्र के अड़तालीसवें अध्याय से बहुत मिलता है। बौ० ध० सू० की रचना-शैली शिथिल तथा आवश्यकता से अधिक विस्तृत है। स्वयं गोविन्दस्वामी ने यह बात लिखी है—**अयं ह्याचार्यो नातीव ग्रन्थ-लाघवाभिप्रायो भवति**। इसकी भाषा प्राचीन है।

वर्तमान बौ० ध० सू० वर्तमान गौ० ध० सू० से परवर्ती है, क्योंकि इसमें गौ० ध० सू० को दो बार उद्धृत किया गया है। इनमें से एक उद्धरण तो वर्तमान गौ० ध० सू० में मिलता भी है। बौ० ध० सू० उपनिषदों से बहुत पश्चात्कालिक है। यद्यपि कुमारिल के अनुसार आप० ध० सू० (२, ६, २५, १) का प्रत्याख्यान बौ० ध० सू० (१, १, १९-२४) में किया गया है और इस कारण आप० ध० सू० से पूर्ववर्ती ठहरता है, तो भी कुमारिल की अपने से सहस्रवर्ष पूर्वरचित ग्रन्थ के विषय में इस प्रकार की सम्मति सर्वथा प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती[2]। तो भी ऐसी परम्परा भी रही होगी।

---

१. काणे, ध० शा० इ० पृ० १५।

२. काणे, ध० शा० इ० पृ० १६।

यद्यपि वौ० ध० सू० में बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी तीनों आचार्यों का नाम-निर्देश किया गया है, तो भी हि० श्रौ० सू० के भाष्यकार महादेव ने बौधायन को आपस्तम्ब से प्राचीन माना है, जो परम्परा-सम्मत है। दोनों धर्मसूत्रों में अनेकों सूत्र एक से होते हुये भी विचारों की तुलना करने पर आपस्तम्ब से बौधायन प्राचीन ठहरता है। गौ० ध० सू०, बौ० ध० सू० और वा० ध० सू० तीनों में ही अनेक अनौरस पुत्रों का उल्लेख किया गया है। किन्तु आप० ध० सू० इस विषय में मौन है। गौ० ध० सू० और बौ० ध० सू० (२, २, १७; ६२) नियोग का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु आप० ध० सू० (२, ६, १३, १-९) इस की निन्दा करता है। गौतम और बौधायन (१, ११, १) अष्टविध विवाह का उल्लेख करते हैं, किन्तु आप० ध० सू० ने प्राजापत्य और पैशाच को छोड़ कर छह प्रकार के विवाहों का प्रतिपादन किया है (आप० ध० सू० २, ५, ११, १७-२०; २, ५, १२, १-२)। बौ० ध० सू० विभाजन के समय ज्येष्ट पुत्र को सम्पत्ति का अपेक्षा-कृत अधिक भाग देने का विधान करता है, जबकि आपस्तम्ब (२, ६, १४, १०-१४) इस का निषेध करता है[1]। किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि अत्यन्त प्राचीनकाल से ही विधि-विधायकों में इन विषयों पर मतभेद चला आ रहा था और स्वयं बौधायन ने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्य औपजङ्घनि का उल्लेख किया है जो अनौरस पुत्रों को मान्यता प्रदान करने का विरोधी था[2]। आप० ध० सू० (२, ६, १३, ६) ने भी इस विचार का उल्लेख किया है। नियोग को भी एक स्थल पर मनु० (९, ५६-६३) में मान्यता दी गयी है, तो इसके ठीक बाद मनु० (९, ६४-६८) में ही इसका निषेध किया गया है। याज्ञ० (२, १३१) जैसे परवर्ती लेखक ने भी नियोग को मान्यता प्रदान की है। याज्ञ० (२, ११८) में भी ज्येष्ठ पुत्र को अधिक भाग देने का प्रतिपादन किया गया है। अतः केवल इस आधार पर रचना-काल का निर्णय करना समीचीन नहीं कहा जा सकता। न ही रचना-शैली ही इस विषय में निर्णायक हो सकती है[3]। न ही सूत्रों की समानता इनके पौर्वापर्य पर प्रकाश डाल सकती है, क्योंकि न केवल आप० ध० सू० और बौ० ध० सू० में ही ऐसे समान सूत्र उपलब्ध होते हैं अपितु वा० ध० सू० और बौ० ध० सू० में भी ऐसी अनेक समानताएं मिलती हैं। इनमें परस्पर नकल करने की संभावना कम है। संभव है कि इनसे भी प्राचीन धर्मसूत्र (या °सूत्रों) से ये समान सूत्र पारम्पर्य के आधार पर चले आ रहे हों। आप० ध० सू० (१, १९, ७) में काण्व के नाम से प्रतिपादित विचार बौ० ध० सू० (१, ३, १९) का विचार ही प्रतीत होता है। आप० ध० सू० (१, २, ५-१२) में ब्रह्मचारी के लिये गुरु के

---

१. द्र. गृह्यसूत्र-प्रकरण।

२. बौ० ध० सू० २, २, ३४-३६।

३. काणे, हि० ध० शा० भाग १, पृ० ३०।

उच्छिष्ट खाने का विरोध बौ० ध० सू० (२, १, २५) में प्रतिपादित विचार के सम्बन्ध में किया गया है। किन्तु ये तर्क भी किसी निर्णायक निष्कर्ष पर पहुंचाने में सक्षम नहीं कहे जा सकते।

तो भी डा० बूह्लर के इस निर्णय का आज भी सम्मान होता है कि बौ० ध० सू० का रचना-काल आप० ध० सू० के रचनाकाल से प्राचीन है, और कि इन दोनों के मध्य में शताब्दियों का व्यवधान होना चाहिये[1]। और यह निष्कर्ष परम्परा के अनुकूल भी है।

गौ० ध० सू० तथा बौ० ध० सू० में भी काल-गत अन्तर बहुत बड़ा है। बौ० ध० सू० (१, २, ७) ने गौतम के इस विचार का उल्लेख किया है कि शास्त्र की अवहेलना करके लोकाचार तथा शिष्ट-प्रयोग को प्रमाण मानना सर्वथा अनुचित है। गौतम के इस विचार को भी बौ० ध० सू० (२, ४, १७) ने उद्धृत किया है कि विपत्ति-काल में भी ब्राह्मण क्षत्रिय-वृत्ति को नहीं अपना सकता। बौ० ध० सू० के अनेक सूत्रों की समानता गौतम के सूत्रों से है।

किन्तु इन प्रमाणों का भी मूल्य इसलिये अधिक नहीं रह जाता कि वर्तमान गौ० ध० सू० में लोकाचार तथा शिष्ट-प्रयोग का सर्वथा निराकरण नहीं किया गया। वह केवल वेद-विरुद्ध लोकव्यवहार को मान्यता देने से इनकार करता है[2]। ना ही ब्राह्मण के लिए क्षात्रवृत्ति का निषेध ही इस प्रकार की वृत्ति का पोषक है। गौ० ध० सू० के इस विचार को देख कर गोविन्दस्वामी ने कहा है कि यहां बौधायन किसी अन्य गौतम की ओर संकेत कर रहा है। सूत्रों की अति समानता से इस विषय में उत्तमर्ण तथा अधमर्ण का निर्णय नहीं किया जा सकता। तो भी बौ० ध० सू० को गौतम का ऋणी माना जाता है।

वर्तमान बौ० ध० सू० अपने मूल रूप में हम तक नहीं पहुंचा, इसमें अनेकों परिवर्तन-परिवर्धन कर दिये गये हैं। चौथे प्रश्न के प्रक्षिप्त होने की बात हम कह ही चुके हैं। इसके प्रथम पांच अध्यायों का विषय प्रायश्चित्त है, जिसका प्रतिपादन पहले ही[3] किया जा चुका है। पहले प्रश्नों के कुछ एक सूत्र भी शब्दशः दोहराये गये हैं[4]। तृतीय प्रश्न भी सन्देहास्पद है। इसका दशम अध्याय गौ० ध०सू० के नवें अध्याय से प्रायः मिलता है। तृतीय प्रश्न का षष्ठ अध्याय वि० ध० सू० (४८) के समान है। सम्भवतः वि० ध० सू० ने ही बौधायन से उधार लिया है[5]।

---

१. एस० बी० ई० भाग २, भूमिका पृ० २२।
२. गौ० ध० सू० ११, २२।
३. बौ० ध० सू० २, १, ३, ४-१०।
४. वही, २, १, ३३-३४=४, २, १०, ११।
५. काणे, हि० ध० शा० भाग १, पृ० २३।

प्रथम दो प्रश्नों में भी बहुत सी पुनरुक्तियां उपलब्ध होती हैं[1]। अतः इनकी प्रामाणिकता के विषय में भी संदेह है।

इस सूत्र की व्यवस्था भी दूषित है। कई विषय अनेक बार और बिना किसी क्रम-व्यवस्था के दोहराये गये हैं। दाय-भाग के नियमों का प्रतिपादन प्रायश्चित्त के प्रकरण के मध्य में किया गया है। अनध्यायों की चर्चा अष्टविध विवाह तथा कन्या-विक्रय के प्रकरण के अनन्तर की गयी है। स्नातक के व्रतों का उल्लेख दो बार किया गया है[2]। **अथाप्युदाहरन्ति** इन वचनों के साथ बौधायन ने कम से कम ९० पद्य उद्धृत किये हैं। इनमें से ८० प्रथम दो प्रश्नों में ही उद्धृत हैं। इस प्रकार की अन्य भी अनेक त्रुटियां पायी जाती हैं।

इसकी भाषा भी प्राचीन है और अनेक अपाणिनीय प्रयोग किये गये हैं। यथा—गृह्य (२, ५, १); पूज्य (२, ९, ५), अभिगच्छान: (२, ९, ९) आनयिता (३, ३, ६)।

इसकी एक विशेषता यह भी है कि यह विवादास्पद विषयों पर पहले विरोधी विचारों को प्रस्तुत करने के उपरान्त ही अपना मत व्यक्त करता है[3]। बौ० ध० सू० (२, ६, ३०) में एक गद्य-वचन उद्धृत किया गया है, जिसमें कहा गया है कि आश्रमों का विभाग प्रह्लाद-सूनु असुर कपिल ने किया था।

व्याख्याएं :—(१) गोविन्दस्वामी द्वारा कृत 'विवरण' नामक एक ही व्याख्या प्रकाश में आयी है। जो मैसूर-संस्करण में १९०७ में छपी है।

(२) बनारस से भी इसी को १९३४ में प्रकाशित किया गया है (ए० सी० शास्त्री सम्पादित)।

संस्करण :—(१) ई० हुल्श (E. Hultsch) ने लाइप्जिग से १८८४ में प्रकाशित किया।

(२) आनन्दाश्रम से 'स्मृतीनां समुच्चय:' के अन्तर्गत १९२९ में प्रकाशित।

(३) मैसूर, गवर्नमेण्ट ओरियेण्टल लाइब्रेरी से १९०७ में प्रकाशित।

(४) एस० बी० ई० भाग १४ में बूह्लर का आंग्लानुवाद, १८८२ में ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित : द्वि० सं० १९६५ में दिल्ली से प्रकाशित।

---

१. यथा २, ६, ११ = २, ६, ३१; २, ७, २२ तथा २,१०, ५३ में एक ही पद्य उद्धृत किया गया है।

२. गौ० ध० सू० १, ३; २, ३, १०।

३. गौ० ध० सू० १, ५, १०५-१०९; २, १,४९-५१।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र

आपस्तम्बीय कल्प के ३० प्रश्नों में से २८वां तथा २९वां प्रश्न धर्मसूत्र कहलाते हैं। ओल्डनबर्ग के अनुसार आप० श्रौत तथा आप० ध० सूत्रों के रचयिता दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं[1]। किन्तु बूह्लर का मत है कि धर्मसूत्र भी उसी व्यक्ति की कृति है, जिसने कल्प के अन्य भागों की रचना की है[2]। इसमें कोई संदेह नहीं कि समूचे आप० कल्प का कर्त्ता एक ही व्यक्ति है (द्र० आप० गृ० प्रकरण)। आप० गृ० तथा आप० ध० में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगोचर होते हैं। आप०गृ० में अनेक विषयों को केवल इसी लिये संक्षेप से प्रतिपादित किया गया है कि धर्मसूत्र में इनका विस्तार से वर्णन किया जा सके। उपनयन संस्कार का वर्णन गृह्यसूत्र में अत्यन्त संक्षिप्त है, किन्तु धर्मसूत्र में इसका विशद विवरण प्राप्त होता है। किन्तु विवाह-वर्णन आप० गृ० में ही बड़े विस्तार से कर दिया गया है और ध० सू० केवल विवाह के प्रकारों तथा असवर्ण-विवाह सम्बन्धी दो सूत्रों तक ही सीमित है। इस विषय में डा० काणे का यह कथन समीचीन नहीं कि कन्या के चुनाव के विषय में आप० गृ० में केवल एक ही सूत्र (१, ३, १९) दिया गया है और कि आप० ध० सू० (२, ५, ११, १५-१६) से ही पता चलता है कि कन्या न तो सगोत्र होनी चाहिये और न सपिण्ड[3]। कन्या के चुनाव के विषय में आप० गृ० में दस सूत्रों का विधान किया गया है (आप० गृ० सू० १, ३, १०-१८; २०) जबकि आप० ध० सू० में इस विषय पर केवल दो ही सूत्र हैं।

आप० ध० सू० के दोनों प्रश्नों में ग्यारह-ग्यारह पटल हैं और दोनों में क्रमशः ३२ तथा २९ खण्डिकायें हैं। यद्यपि यह ध० सू० गद्यात्मक है, तो भी स्थान-स्थान पर पद्य भी समाविष्ट हैं। इनमें से कुछेक तो अन्य ग्रन्थों के उद्धरण हैं, जिन्हें **उदाहरन्ति** अथवा **अथाप्युदाहरन्ति** शब्दों से प्रस्तुत किया गया है[4]। २, ६, १३, ६ पर तीन पद्य हैं जो बौ० ध० सू० २, २, ३४-३६ में भी प्रायः समान हैं। अन्यत्र भी फुटकर पद्य हैं जो उद्धरण प्रतीत होते हैं। किन्तु उनसे पूर्व **उदाहरन्ति** पद का प्रयोग नहीं किया गया। यथा—१, ४, १४, २५; १, ६, १९, १४ (प्रथम पाद मनु० ४, २, २ में है), १, ७, १७, ११ (बौ० ध० सू० २, १, ४२ में भी है)। कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जो गद्य में हैं, किन्तु किसी पद्य का अंश

---

१. एस० बी० ई० ३०, भूमिका, पृ० ३२।

२. एस० बी० ई० भाग २, भूमिका पृ० १३-१५।

३. हि० ध० शा० पृ० ३३।

४. द्र. १, ६, १९, १३; १५; मनु० ५, ३, ७; २, ४, ९, १३; = बौ० ध० २, ७, २२-२३ पर उद्धृत।

प्रतीत होते हैं। यथा—१, २, ५, ११। कई पद्य दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन करते हैं, और मुख्य रूप से उपनिषदों से ग्रहण किये गये हैं[1]। व्याख्याकार हरदत्त सूचित करते हैं कि उनके समय में उदीच्य और दाक्षिणात्य दो प्रकार के पाठभेद हो गये थे[2]।

आप० ध० सू० में दस पूर्वाचार्यों के मतों का नामनिर्देश-पूर्वक उल्लेख किया गया है, यथा—कण्व, कुरिणक, कौत्स, पुष्करसादि, हारीत, वार्ष्यायण और श्वेतकेतु। कई स्थलों पर आपस्तम्ब बौधायन के मतों का विरोध करता प्रतीत होता है।

आप० ध० सू०[3] ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का अधिकांश प्रदान करने का विरोध करता है और इस विषय में तैं० सं०[4] को विधि न मान कर अर्थवाद-मात्र घोषित करता है, जबकि बौ० ध० सू०[5] इस प्रकार के बटवारे का समर्थन करता प्रतीत होता है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी द्वारा गुरु के उच्छिष्ट के खाने के विषय से भी यह बौ० ध० सू० का विरोध करता प्रतीत होता है[6]।

यद्यपि आपस्तम्ब गौतम का नाम नहीं लेता, तो भी अनुमान किया जा सकता है कि गौ० ध० भी उसके सम्मुख विद्यमान था, क्योंकि गौ० ध० सू० तथा आप० ध० सू० में अनेक महत्वपूर्ण समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं। यथा—

गौ०ध०सू० १, १९=आप०ध०सू० १, १, १, ४१;
गौ०ध०सू० १, ३=आप०ध०सू० २, ६, १३, ७;
गौ०ध०सू० ९, ५२=आप०ध०सू० १, ११, ३१, १३;
गौ०ध०सू० २३, ९=आप०ध०सू० १, ९, २५, २ : इत्यादि।

इसके अतिरिक्त आप० ध० सू० पूर्वाचार्यों के अनेक मतों को 'एके' कह कर उद्धृत करता है। और इनमें से अनेक मत या तो गौ० ध० के अपने हैं, या उसके द्वारा उद्धृत हैं। ब्रह्मचारी के दण्ड के विषय में आप० ध० सू० (१, १, २, ३८) में गौ० ध० सू० (१, २३) की ओर सङ्केत किया गया है। इसमें भविष्यत्-पुराण के मत का भी उल्लेख है[7]।

---

१. यथा १, ८, २२, ४-८; १, ९, २३, १-३।
२. आप० ध० सू० २, ७, १७, २५।
३. आप० ध० सू० २, ६,१४,६-१३।
४. तैं० सं० २, ५, ७, ७।
५. बौ० ध० सू० २, २, २-७।
६. बौ० ध० सू० २,१, २५-२६।
७. आप० ध० सू० २, ९, २४, ६।

आप० ध० सू० ही एक ऐसा सूत्र है, जिसमें मीमांसा के अनेक सिद्धान्तों तथा पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा—**श्रुतिर्हि बलीयस्यानुमानिकादाचारात्**[१]=**विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्**[२]। **अङ्गानां तु प्रधानैरव्यपदेश इति न्यायवित्समयः**[३]। **अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदः**[४]=**अर्थवादो वा विधिशेषत्वात् तस्मान्नित्यानुवादः**[५]। इन समानताओं से पता चलता है कि आपस्तम्ब के समय में मीमांसा-शास्त्र का पर्याप्त विकास हो चुका था और मीमांसा (न्याय) के सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ विद्यमान थे। आप० ध० सू० के मीमांसा-विषयक सूत्रों की भाषा भी वर्तमान मीमांसा-सूत्रों की भाषा से इतनी अधिक मिलती है कि वर्तमान सूत्रों या इनके पूर्वरूप से इसके परिचित होने का सन्देह होने लगता है[६]। जैमिनि-सूत्रों के शाबर-भाष्य[७] में आप० ध० सू० (२, ५, ११-१२) को उद्धृत किया गया है। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक[८] में आप० ध० सू०[९] के मत का उल्लेख किया है। शङ्कर ने तो आप० ध० सू० के अध्यात्म-विषयक दो पटलों पर भाष्य भी लिखा है[१०]। आप० ध० सू०[११] ने श्वेतकेतु को अवर माना है। किन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि यह कौन सा था।

इस ध० सू० में पैशाच तथा प्राजापत्य विवाहों को वैध नहीं माना गया[१२]। इसमें नियोग-प्रथा की भी निन्दा की गयी है[१३]। गौ० ध० सू०[१४] में गौ और बैल के मांस के भक्षण का निषेध किया गया है, किन्तु आप० ध० सू०[१५] इसका अनुमोदन

---

१. आप० ध० सू० १, १, ४, ८।
२. पूर्व-मीमांसा १, ३, ३।
३. आप० ध० सू० २, ४, ८, १३=पूर्व० मी० १, ३, ११-१४।
४. आप० ध० सू० २, ६, १४, २३।
५. पू० मी० ६, ७, ३।
६. काणे, वही, पृ० ४२।
७. जैमिनिसूत्र ६, ८, १८।
८. पृ० १३८।
९. आप० ध० २, ६, २५, १।
१०. काणे, वही, पृ० ४३।
११. आप० ध० सू० १, १, ४, ५-६।
१२. आप० ध० सू० २, ५, ११, १७-२०; २, ५, १२, १-२।
१३. आप० ध० सू० २, ६, १३, १-९।
१४. गौ० ध० सू० १७, ३०।
१५. आप० ध० सू० १, ५, ७, ३०-३१।

करता प्रतीत होता है और अपने पक्ष में वाजसनेयक को उद्धृत करता है। गौ० ध० सू०[1] में ब्राह्मण को दलाल के द्वारा सूदखोरी की छूट दी गयी है, किन्तु आप० ध० सू० में सूद लेने के प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[2]। **कुसीदक** के यहाँ भोजन तक करने का निषेध है[3]। बौ० ध० सू० इस व्याजखोरी के अपराध को ब्रह्महत्या से भी निकृष्ट समझता है और कुसीदक ब्राह्मण को शूद्र मानता है[4]। इससे पता चलता है कि समय के साथ इस विषय में जाति-पांति के समान ही कठोरता बढ़ती गयी।

आप० ध० सू० में पाप दो प्रकार के माने गये हैं, एक **पतनीय**[5] और दूसरे **अशुचिकर**[6]। कुछ लोग **अशुचिकर** अपराधों को भी **पतनीय** मानते हैं (१, २१, १८)। अनध्याय के प्रकरण में सामवेद की ध्वनि कानों में पड़ने पर भी प्रायश्चित का विधान किया गया है[7]। विमानचन्द्र भट्टाचार्य ने इसे सामवेद के प्रति विद्वेष की भावना के रूप में ग्रहण किया है[8]। किन्तु यह विचार भ्रामक है। वस्तुतः यह विधान सामवेद की ध्वनि के आभिचारिक प्रभाव से बचने के लिये किया गया है।

झूठी सौगन्ध खाने के लिये आप० ध० सू० में[9] कठोर दण्ड का विधान किया गया है[10]।

---

१. गौ० ध० सू० १०, ६।

२. आप० ध० सू० १, ९, २७, १०।

३. आप० ध० सू० १, ६, १८, २२।

४. बौ० ध० सू० १, ५, ७९-८१।

५. आप० ध० सू० १, २१, ७।

६. आप० ध० सू० १, २१, १२।

७. आप० ध० सू० १, १९, २९।

८. An Aspect of Sāma Vidhāna Brāhmaṇa, in Our Heritage, Vol. VI, P. 77.

९. आप० ध० सू० २, २९।

१०. द्र. मनु० ८, ७५ प्रभृति; याज्ञ० २,६९ प्रभृति; स्मृतिचन्द्रिका, भाग ३, पृ० १७३; गौ० ध० सू० अध्याय १३।

साक्षी के कथन की सत्यता के सन्देहास्पद होने पर दिव्य परीक्षा का विधान किया गया है[1]। सगोत्र विवाह[2] तथा अग्रज से पूर्व अनुज का विवाह[3] आदि अनेक दूषणों की चर्चा की गयी है।

व्रात्य संस्कारों का भी विधान किया गया है (१, १-८) किन्तु **व्रात्य** शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया गया। **पतित-सावित्रीक** को पापी समझते हुए भी उसके विरुद्ध उग्र भावना व्यक्त नहीं की गयी, और उसे समाज में पुनः प्रविष्ट करने के विषय में भी उदारता तथा सहानुभूति का परिचय दिया गया है तथा चार पीढ़ियों तक भी उपनयन न करने वालों को भी वैदिक गृह्यमन्त्रों के अध्ययन से वञ्चित नहीं किया गया। जहां कहीं भी **व्रात्य** शब्द का प्रयोग किया गया है, वहां अथर्व० के व्रात्यकाण्ड (१५वां) के अर्थों में ही किया गया है और स्पष्ट ही **व्रात्य** का विचार वहीं से ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। यहां तक कि आप० ध० सू० (२, ७, १३) तथा अथर्व० (१५, १०, १-२) में, आप० ध० सू० २, ७, १४ तथा अथर्व० १५, ११, १-२; में एवं आप० ध० सू० (२, ७, १५) तथा अथर्व० १५, २२, १-३, में परस्पर बहुत साम्य पाया जाता है। घर में **व्रात्य** के अतिथि रूप में आने पर उसकी अनुमति के बिना अग्निपूजा का निषेध है। यदि इस निर्देश की अवहेलना की जाती है तो इसके दुष्परिणामों को भोगना पड़ता है, जो ब्राह्मण में कहे गये हैं[4]। व्याख्याकार के अनुसार यहां 'ब्राह्मण' का अभिप्राय आथर्वणिक ब्राह्मण से है **(तस्य दोषमाथर्वणिकानां ब्राह्मणमाह)**। किन्तु गो० ब्रा० में, जो अथर्व० का एकमात्र ब्राह्मण है, इस विषय की चर्चा नहीं की गयी। अतः यहां व्रात्यकाण्ड (१५, १२, ८-११) में चर्चित दोषों को ही ब्राह्मणोक्त दोष कहा गया है। **व्रात्य** की सेवा तथा आतिथ्य से पुण्य की प्राप्ति होती है[5]।

आपस्तम्ब के निवास-स्थान के विषय में बूह्लर तथा अन्य विद्वानों के द्वारा काफी ऊहापोह के बाद निश्चय किया गया है कि वह दाक्षिणात्य थे[6]। किन्तु डा० रामगोपाल ने उन्हें **उदीच्य** सिद्ध करने का प्रयास किया है[7]। आप० ध० सू० के काल के विषय में आप० गृ० सू० के प्रकरण में पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इन्हें ७०० ई० पू० के आस-पास रखा गया है।

---

१. आप० ध० सू० २, २९, ६।
२. वही, २, ११, १५।
३. वही, २, १२, २२।
४. वही, २, ७, १५।
५. वही, २, ७, १०; अथर्व० १५, १३, १-३।
६. एस० बी० ई० भाग २, भूमिका, पृ० ३३-३६।
७. इण्डि० कल्पसू० पृ० ९४-९८।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के प्रतिपाद्य विषय

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, आप० ध० सू० के दो प्रश्न हैं। इनमें प्रतिपादित विषयों का ब्यौरेवार वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

प्रश्न १—धर्म के स्रोत; चातुर्वर्ण्य; वर्णानुसार उपनयन; ब्रह्मचारी की आचरण-संहिता; ४८, ३६, २५, १२ वर्षों का ब्रह्मचर्य; दण्ड, मेखला आदि; भिक्षा के नियम; समिधानयन; ब्रह्मचारी के व्रत; स्नातक; अनध्याय; पञ्चमहायज्ञ; वर्णानुसार कुशलक्षेम पूछने के नियम; यज्ञोपवीत के धारण के अवसर; आचमन; भक्ष्याभक्ष्य-विचार; आपत्काल के अतिरिक्त काल में ब्राह्मण के लिये वणिक्-व्यापार का निषेध; पतनीय पाप; आत्मा तथा ब्रह्मविषयक अध्यात्म-चर्चा; क्रोध, लोभ, छल, कपट आदि। नाटकीय कर्म, परम पद की प्राप्ति में सहायक सत्य, शम, दम आदि; क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री की हत्या की निष्कृति; ब्राह्मण, आत्रेयी, ब्राह्मण स्त्री, गुरु तथा क्षत्रिय की हत्या के प्रायश्चित्त; गुरुतल्प-गमन, सुरापान तथा स्वर्ण-स्तेय के प्रायश्चित्त; अनेकविध पशु-पक्षियों की हत्या तथा अभर्त्सनीय की भर्त्सना; शूद्रा-गमन; अभक्ष्य-भक्षण के प्रायश्चित्त; द्वादशरात्रक कृच्छ्र के नियम; पति, गुरु तथा माता के प्रति व्यवहार; परस्त्री-गमन के प्रायश्चित्त; आत्मरक्षा के प्रति ब्राह्मण के लिये शस्त्र-ग्रहण वर्जित; अभिशस्त का प्रायश्चित्त; विविध स्नातकों के व्रत।

प्रश्न २—पाणिग्रहण के साथ गृहस्थ-धर्म का आरम्भ, गृहस्थ के लिये भोजन, उपवास, स्त्री-गमन आदि के नियम, भिन्न-भिन्न वर्णों के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, सिद्ध अन्न की वलि, अतिथि-सत्कार, ब्राह्मण गुरु के अभाव में ब्राह्मण का क्षत्रिय या वैश्य गुरु से शिक्षा-ग्रहण, मधुपर्क के नियम, वैश्वदेव-बलि, भृत्यों के प्रति उदार व्यवहार, ब्राह्मण आदि के विशिष्ट कर्म, युद्ध के नियम, राज-पुरोहित के गुण, अपराध के अनुरूप दण्ड-विधान, ब्राह्मण की हत्या, शारीरिक क्षति अथवा दासता का निषेध। मार्ग में चलने के नियम, धर्म और अधर्म से उत्थान और पतन। धर्मकार्यों में सक्षम सन्तानवती प्रथम पत्नी के रहते द्वितीय विवाह का निषेध, विवाह, कन्या के गुण; ब्राह्म, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर तथा राक्षस षड्विध विवाह; सवर्णपत्नी के पुत्र ही पिता के वर्णानुरूप कर्म तथा पैतृक सम्पत्ति के अधिकारी। पुत्र के पिता का निर्णय (उत्पादक या पति); सन्तान के व्यापार का निषेध। पिता के जीवनकाल में ही सम्पत्ति का सम विभाजन; पागलों, नपुंसकों तथा पापियों को सम्पत्ति का अधिकार नहीं। पुत्राभाव में सम्पत्ति के अधिकारी। ज्येष्ठ पुत्र को

अधिक सम्पत्ति-दान वेद-विरुद्ध। पति-पत्नी के बीच सम्पत्ति-विभाजन का निषेध। सम्बन्धियों तथा सगोत्रों की मृत्यु पर अशौच विचार। श्राद्ध में भक्ष्याभक्ष्य का विचार। श्राद्ध-भोजी ब्राह्मणों के लक्षण। चार आश्रम। सन्न्यासी के नियम। वानप्रस्थ। राजा के विशेष कर्त्तव्य। राजधानी, राजप्रासाद। सभा की स्थिति। चोरों का प्रवासन। ब्राह्मणों को धन तथा भूमि का दान। प्रजा की रक्षा। श्रोत्रिय स्त्रियां, सन्न्यासी तथा विद्यार्थी कर-मुक्त। परस्त्री-गमन का दण्ड (स्त्री के वर्ण के अनुरूप)। मनुष्य-हत्या तथा अभिकुत्सन का दण्ड। विविध आचार-नियमों के भंग के दण्ड। अपराधी, उसके सहायक तथा अनुमोदक सभी दण्डनीय। विवादों का निर्णय। सन्दिग्ध विवादों में अनुमान या दिव्य परीक्षा का प्रमाण। मिथ्या साक्ष्य का दण्ड। स्त्रियों तथा शूद्रों तक से सीखने योग्य धर्म।

इस विषय-विवरण की यदि गौतम ध० सू० से तुलना की जाये, तो कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं। यद्यपि हम ऊपर कह चुके हैं कि गौतम धर्मसूत्र सर्वप्राचीन है, तो भी कई विषयों में आप० ध० सू० अधिक प्राचीन समाज का चित्रण करता प्रतीत होता है।

आप० ध० सू० के सूत्र शिथिल तथा अस्पष्ट हैं, जबकि गौ० ध० के सूत्र सुस्पष्ट तथा सघन हैं। आप० ध० सू० की शैली ब्राह्मणों की शैली के समीपतर प्रतीत होती है, गौतम की शैली अधिक सूत्रात्मक है।

आप० ध० सू० में सामाजिक अवस्था अधिक सरल तथा पश्चात्कालिक जटिलताओं से शून्य है। गौतम मिश्रित या सङ्कर जातियों का विस्तार-पूर्वक वर्णन करता है[1], जबकि आपस्तम्ब इस विषय पर चुप है। आपस्तम्ब ने संस्कारों का विवरण गृह्यसूत्र में ही समाप्त कर दिया है, जबकि गौतम ने ४० संस्कारों की सूची प्रस्तुत की है[2]। आपस्तम्ब ने गोमांस-भक्षण के रिवाज को मान्यता प्रदान की है[3], जबकि गौतम ने इसका निषेध किया है[4]। श्राद्ध में भी गोमांस का विधान आपस्तम्ब ने किया है[5], जबकि गौतम ने इसकी चर्चा नहीं की (१५)। गौतम ने सूद, निक्षेपों तथा न्यासों पर विविध ब्याजों की चर्चा की है, जो उत्तरवर्त्ती धर्मशास्त्रों से

१. गौ० ध० सू० १५, १६।

२. वही, ८, १४-२१।

३. आप० ध० सू० १, १७, ३०।

४. गौ० ध० सू० १७, ३०।

५. आप० ध० सू० २, १६, २५, २६।

मेल खाते हैं तथा ब्राह्मण की कुसीद-वृत्ति पर कोई आपत्ति नहीं की है[1], जबकि आपस्तम्ब[2] कुसीदी ब्राह्मण को दण्डनीय समझता है तथा उसके हाथ का भोजन निषिद्ध मानता है[3]। आपस्तम्ब ने अपराधों के लिए अर्थ-दण्ड की चर्चा नहीं की। उसने नरक तथा नारकीय यातनाओं पर अधिक बल दिया है, जबकि गौतम नाना प्रकार के अर्थ-दण्डों की व्यवस्था करता है[4]। गौतम ने पति की दीर्घकालीन अनुपस्थिति के विषय में पत्नी द्वारा प्रतीक्षा की अवधि के सम्बन्ध में नियम निर्धारित किये हैं[5], जबकि आपस्तम्ब इस विषय पर मौन हैं। आपस्तम्ब ने धर्म-सूत्रों से अधिक शिष्ट-व्यवहार तथा लोक-रीति को वरीयता प्रदान की है जो इसकी प्राचीनता की ओर संकेत करती है[6]। तो भी अभी तक अधिकतर विद्वान् डा० बूह्लर तथा काणे का अनुसरण करते हुये गौतम को ही प्राचीनतम धर्म-सूत्र मानते हैं।

व्याख्या :—हरदत्तमिश्र विरचित 'उज्ज्वला' अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण तथा विशद व्याख्या है, जो कई बार छप चुकी है। इनका काल ११०० ई० के निकट है।

संस्करण :—(१) बूह्लर द्वारा, हरदत्त-कृत उज्ज्वला-सहित, बम्बई, १९३२।
(२) ए० सी० शास्त्री तथा ए० आर० शास्त्री, उज्ज्वला-सहित, बनारस, १९३२।
(३) मगनलाल शास्त्री, पूना, १९३२।
(४) महादेव शास्त्री, उज्ज्वला-सहित, मैसूर।
(५) आंग्लानुवाद, बूह्लर-कृत, एस० बी० ई०, भाग २।

---

१. गौ० ध० सू० १०, ६।
२. आप० ध० सू० १, २७, १०।
३. आप० ध० सू० १, १८, २२।
४. गौ० ध० सू० १२, ८।
५. वही, १८, १५।
६. इन सभी तर्कों के विस्तृत विवरणार्थ द्र. सुरेशचन्द्र बैनर्जी विरचित 'धर्मसूत्रज' पृ० ४४-४६ तथा डा० बटकृष्ण घोष, आई० एच० क्यू०, भाग ३, १९२७, पृ० ६१० से।

अष्टाविंश अध्याय

अनतिप्राचीन धर्मसूत्र

वासिष्ठ धर्मसूत्र

वासिष्ठ धर्मसूत्र अनेक संस्करणों में प्रकाशित हुआ है। किन्तु इन संस्करणों में परस्पर तथा उपलब्ध पाण्डुलिपियों और प्रकाशित ग्रन्थों में बहुत अधिक भिन्नताएं परिलक्षित होती हैं। जीवानन्द के संस्करण में २० अध्याय और २१वें का कुछ अंश छपा है। आनन्दाश्रम तथा डा० फ्यूहरर के संस्करणों में तीस-तीस अध्याय हैं। डा० जॉली के अनुसार कई पाण्डुलिपियों में केवल छह या दस अध्याय ही उपलब्ध होते हैं।

इतना होते हुए भी स्मार्त-धर्म-विषयक प्राचीन ग्रन्थों में वा० ध० सू० के नाम से उद्धृत अनेकों पद्य इन सभी संस्करणों में उपलब्ध हो जाते हैं, तो भी इसके अधिकांश की प्रामाणिकता अभी तक संदेहास्पद ही है। क्योंकि धर्मशास्त्र-विषयक प्राचीन ग्रन्थों में वसिष्ठ के नाम से उद्धृत अनेक पद्य अभी तक किसी भी उपलब्ध पाण्डुलिपि में नहीं मिलते। इस धर्मसूत्र का महत्त्व इसी से सिद्ध होता है कि मनु और याज्ञवल्क्य सरीखे शास्त्रकार भी इसे प्रमाण मानते हैं।

कुमारिल के अनुसार वा० ध० सू० मुख्यतया ऋग्वेदियों का साम्प्रदायिक ग्रन्थ है किन्तु अन्य धर्मसूत्रों के साथ यह सभी चरणों के लिए प्रमाण है[1]। वसिष्ठ द्वारा रचित श्रौत और गृह्यसूत्र इस समय उपलभ्य नहीं हैं। कभी रचे भी गये थे या नहीं, इसका भी ठीक पता नहीं है। काणे ने इस विषय में कल्पना की है कि वा० ध० सू० एक स्वतन्त्र रचना थी। किन्तु बाद में ऋग्वेदियों ने इसे अपनाकर अपना कल्प पूरा कर लिया[2]। इस कल्पना को पुष्ट करने के लिये काणे ने यह प्रमाण प्रस्तुत किया है कि वा० ध० सू० में सभी वेदों से उद्धरण दिये गये हैं और ऋग्वेद के साथ इसका विशेष सम्बन्ध जोड़ने वाला कोई प्रमाण दिखाई नहीं देता[3]। किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि कुछ एक अन्य धर्मसूत्र भी सभी वेदों से उद्धरण देते हैं और ऋग्वेद या ऐ० ब्रा० के उद्धरणों का भी इस विषय में कोई विशेष महत्व

---

१. तन्त्रवार्तिक पृ० १७९।

२. हि० ध० शा० भाग १, पृ० ५०-५१।

३. वही, पृ० ५०।

नहीं रह जाता। मानव धर्मसूत्र की चर्चा में हम देख चुके हैं कि काणे की इस कल्पना में कोई सार नहीं। यद्यपि वा०ध०सू० ऋग्वेदिक कल्प का अविच्छेद्य अङ्ग कभी नहीं रहा तो भी आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर इसका ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्रमाणित होता है। इसके **उपनयन, अनध्याय, स्नातक के व्रत, पञ्चमहायज्ञ** प्रकरण शां० गृ० सू० के इन प्रकरणों से बहुत साम्य रखते हैं, और वा० ध० सू० के अनेक सूत्रों तथा शां० गृ० सू०, आश्व० गृ० सू० और कौ० गृ० सू० में अत्यन्त अधिक समानता पायी जाती है। यथा—

वा०ध०सू० ११, ३ =शां०गृ०सू० २, १४,३;
,, ११, ४९= ,, २, १, १;
,, ११, ५२= ,, २, १, १८;
,, ११, ५३= ,, २, १, १९;
,, ११, ५४= ,, २, १, २०;
,, ११, ५९= ,, २, १, १६; आश्व०गृ० १, १९, ११;
,, १३, ५ = ,, ४, ६, ७; ८;
,, १३, १९= ,, ४, ७, ४९;
,, १३, १८= ,, ४, ७, ३४;
,, १३, २२= ,, ४, ७, ७;

वा०ध०सू० ४, १५ =आश्व०गृ०सू० ४, ४, १५;
,, ११, ५५-५७ = ,, १, १९, १३;
,, ११, ७५ = ,, १, १९, ७;
,, १२, २५-२६ = ,, ३, ९, ७;

वा०ध०सू० ११, ६५-६६=कौषी०गृ०सू० २, १, ९-१०;
,, १३, ३ = ,, ३, ७, ८;
,, १३, १० = ,, ३, ९, १५;
,, १३, १६ = ,, ३, ९, ५०;
,, १३, २१ = ,, ३, ९, २६;

इस विषय में यह भी स्मरणीय है कि ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों के अतिरिक्त केवल पा० गृ० सू० ही ऐसा है, जिसके साथ वा० ध० सू० के कुछ सूत्रों की समानता दृष्टिगोचर होती है, और वह भी इसलिये कि पा० गृ० सू० ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों का पर्याप्त मात्रा में ऋणी है। अतः अधिक सम्भावना इस बात की है कि वा० ध० सू० का सम्बन्ध मुख्य रूप से ऋग्वेदीय कल्प के साथ था। इन समानताओं को आकस्मिक कह कर भी टाला नहीं जा सकता।

जहां तक सभी वेदों से उद्धरणों का सम्बन्ध है, हमें जानना चाहिये कि सामान्यतः धर्मसूत्र किसी एक वेद-विशेष अथवा ब्राह्मण-विशेष से ही उद्धरण नहीं

देते, और न ही सामान्य सिद्धान्तों के विषय में किसी विशेष संहिता या ब्राह्मण पर निर्भर ही रहते हैं, क्योंकि इसके विषय मुख्यत: लोक से सम्बद्ध हैं, जिनके लिए भिन्न-भिन्न परम्पराओं का परिपालन समाज में विश्रृंखलता का कारण हो जाता है। अत: उनके सामान्य नियम एक से प्रतिपादित किये गये हैं। देश, काल तथा परिस्थिति विशेष के कारण इतने विशाल देश तथा समाज में विभिन्नताओं का होना स्वाभाविक है। किन्तु गृह्यकर्म व्यक्तिगत कर्त्तव्य होने के कारण इनमें सुदृढ़ परम्परा अथवा बद्धमूल कुलाचार के अनुसार कर्म-विधान सर्वथा समीचीन था। इन सभी बातों पर विचार करने से कुमारिल का यह मत सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है कि वा० ध० सू० का ऋग्वेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जैसा कि ऊपर कह चुके हैं वा० ध० सू० की प्रामाणिकता संदिग्ध है। इसके नाम से अन्य ग्रन्थों में दिये गये उद्धरण प्रायेण १-२३ अध्यायों में उपलब्ध हो जाते हैं। २४वें अध्याय में केवल ७ सूत्र हैं। २५-२८ अध्याय पूर्णरूपेण पद्यात्मक हैं। अन्य अध्यायों में भी यत्र तत्र पद्यों का समावेश किया गया है। २९-३० अध्यायों में पद्यों के अतिरिक्त सूत्र भी हैं, किन्तु उनके प्रतिपाद्य विषय पहले तेईस अध्यायों में प्रतिपादित विषयों के अतिरिक्त नवीन कुछ भी प्रतिपादित नहीं करते। अत: अनुमान किया जाता है कि २४ से ३० अध्याय प्रक्षिप्त हैं[1]। डा० काणे ने तो २४वें अध्याय को अन्तिम अध्याय माना है[2]। अन्य भी बहुत से पद्य प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं, किन्तु ये प्रक्षेप बहुत पुराने हैं, क्योंकि मिताक्षरा, विश्वरूप, शंकर आदि विद्वानों द्वारा दिये गये उद्धरण वर्तमान संस्करणों में उपलब्ध होते हैं। विश्वरूप ने २८वें अध्याय का भी एक उद्धरण दिया है। अत: विश्वरूप के समय (नवीं शती) में इस सूत्र का वर्तमान पाठ प्रचलित हो चुका था[3]। इसका बाईसवां अध्याय गौ० ध० सू० के २९वें अध्याय के समान है और बौ० ध० सू० के ३, १० के समान है। यह अध्याय गौतम से ग्रहण किया गया प्रतीत होता है[4]। इस धर्मसूत्र की प्रतिपादन-शैली सामञ्जस्य-पूर्ण या तर्क-संगत नहीं कही जा सकती। एक ही विषय को अनेक स्थलों पर दोहराया है। दाय-भाग, विवाह, वर्ण-व्यवस्था, ब्रह्मचारी के व्रत, स्त्रीधर्म इत्यादि पुनरुक्त हैं।

इस धर्मसूत्र में कुछ एक ऐतिहासिक महत्त्व के सङ्केत मिलते हैं। इतिहास, पुराण, व्याकरण, नक्षत्र-विद्या, शकुन-विद्या के अध्ययन का विधान किया गया

---

१. रामगोपाल, इण्डि० कल्प० सू० पृ० ५९।

२. हि० ध० शा० भाग १, पृ० ५४।

३. काणे, वही, पृ० ५३।

४. वही, पृ० ५७।

है, किन्तु म्लेच्छ-भाषा के पढ़ने का निषेध किया गया है[1]। हारीत और गौतम को उद्धृत किया गया है[2]। यम[3], प्रजापति[4], मनु[5] को नामनिर्देश-पूर्वक उद्धृत किया गया है। मनु (८, १४) में वसिष्ठ के मत का उल्लेख है, जो वा० ध० सू० (२, ५०) की ओर सङ्केत करता प्रतीत होता है। वा० ध० सू० में मनु के वचनों की चर्चा हम कर चुके हैं। अतः या तो मनु तथा वा० ध० सू० दोनों में प्रक्षेप किये गये हैं, या वर्तमान वा० ध० सू० किसी ऐसे व्यक्ति की कृति है जिसे वशिष्ठ के विचार परम्परा से प्राप्त हुए थे और उनका वर्तमान संग्रह मनुस्मृति के पश्चात् किया गया[6]। याज्ञ० (१, ४) में वशिष्ठ को धर्म के विषय में आचार्य माना गया है। कुमारिल ने भी मनु, गौतम और वशिष्ठ को सर्वप्रधान धर्मशास्त्री माना है[7]।

वा० ध० सू० के कुछ एक विचार अत्यन्त प्राचीन हैं, यथा—१२ अनौरस पुत्रों के विषय में चर्चा, दत्तक पुत्र की हीन स्थिति (अध्याय १७), नियोग का समर्थन[8], शैशव काल में हुई विधवा के विवाह का समर्थन[9] और षड्विध विवाह का विधान[10]।

कई विषयों में गौतम और बौधायन से भी प्राचीन आचार्यों के साथ इसका मतभेद भी है। यथा—ब्राह्मण का शूद्रा स्त्री से विवाह का निषेध[11]। अतः गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब से वसिष्ठ अर्वाचीन हैं। किन्तु ईस्वी सन् के आरम्भ से बहुत प्राचीन हैं। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया' के विद्वान् लेखक ने कल्पना की है कि वा० ध० सू० में रोमन लोगों का सङ्केत पाया जाता है[12]। किन्तु यह सर्वथा असंगत है। वहां तो वैश्य से ब्राह्मणी में उत्पन्न सङ्कर सन्तान के पारिभाषिक

---

१. वा० ध० सू० ६, ४१।
२. वा० ध० सू० ४, ३५, ३७।
३. वा० ध० सू० १९, ४८।
४. वा० ध० सू० १४, ३०-३२।
५. मनु० ३, २; १३, ९६; २०, १८ इत्यादि।
६. काणे, वही, पृ० ५८।
७. जै० सू० १, ३, २४ पर तन्त्रवार्तिक।
८. वा० ध० सू० १७, ५६।
९. वा० ध० सू० १७, ७४।
१०. वा० ध० सू० १७, २८-२९।
११. वा० ध० सू० १, २५-२६।
१२. Cambridge History of India, Pt. I, p. 249.

नाम **रामक** का उल्लेख है। गौतम ने इसकी संज्ञा **कृत** रखी है[1] और बौ० ध० सू० (१, ९, ७) ने **वैदेहक**। कल्पना के घोड़े पर सवार होकर **रामक** के स्थान पर **रोमक** पढ़ लेना और फिर पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार इसके सहारे जोड़-तोड़ बैठाना सर्वथा अनुचित है।

विश्वरूप ने एक वृद्ध का मत भी उद्धृत किया है (याज्ञ० १, १९)। मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर ने भी (याज्ञ० २, ९१) **वृद्धवशिष्ठ** के जयपत्र के लक्षण को उद्धृत किया है। स्मृतिचन्द्रिका में **वृद्धवशिष्ठ** के लगभग २० पद्य उद्धृत किये गये हैं। मिताक्षरा ने एक **बृहद्वशिष्ठ** का भी उल्लेख किया है। स्मृतिचन्द्रिका (भाग ३, पृ० ३००) ने एक **ज्योतिर्वशिष्ठ** के भी पद्य उद्धृत किये हैं। इन सबके विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है।

प्रतिपाद्य विषय

प्रतिपाद्य विषयों का व्यौरा इस प्रकार है—

अध्याय (१) धर्म का लक्षण; पापी का लक्षण; केवल तीन वर्णों की स्त्री से ब्राह्मण के विवाह का विधान; षड्विध-विवाह; राजा पर लोगों के आचरण के नियमन का भार। उपज का षष्ठांश कर के रूप में।

(२) चातुर्वर्ण्य; आपत्काल में ही ब्राह्मण को क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति की अनुमति; ब्राह्मण के लिए निषिद्ध विक्रेय पदार्थ; कुसीद की निन्दा; सूद की दर।

(३) अनधीत ब्राह्मण की निन्दा; निधि खोजने के उपाय; आततायी के लक्षण; आततायी की हत्या का विधान; पंक्ति-पावनी परिषद्; आचमन तथा शौचादि के नियम।

(४) जात्या चातुर्वर्ण्य और संस्कारों का महत्त्व; अतिथि-सत्कार; मधुपर्क; मृत्यु और जन्म विषयक अशौच।

(५) स्त्री की पराधीनता; रजस्वला के लिए नियम।

(६) आचार की प्रशंसा; शौच आदि का विधान; ब्राह्मण और शूद्र की विशेषताएं। शूद्रों के अन्न का ग्रहण निषिद्ध; शिष्टाचार।

(७) चार आश्रम; ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य।

(८) गृहस्थ के कर्तव्य; अतिथि-सत्कार।

(९) वानप्रस्थ के कर्तव्य।

---

१. गौ० ध० सू० ४, १५।

(१०) सन्न्यासी के कर्तव्य ।

(११) सत्कार-योग्य व्यक्ति; भोजन परोसने का क्रम; श्राद्ध के नियम; अग्निहोम; उपनयन; मेखला, दण्ड प्रभृति ।

(१२) स्नातक के कर्तव्य ।

(१३) उपाकर्म, अनध्याय; अभिवादन-प्रकार; मार्ग पर चलने के नियम ।

(१४) भक्ष्याभक्ष्य-विचार ।

(१५) गोद लेने का विचार ।

(१६) न्याय-व्यवस्था । स्वामित्व के प्रमाण; साक्षी; झूठा साक्ष्य ।

(१७) औरस पुत्र; क्षेत्रज पुत्र के विषय में मतभेद; बारह प्रकार के पुत्र; सम्पत्ति-विभाजन; नियोग के नियम; अन्तिम पाप-हर राजा ।

(१८) प्रतिलोम जातियां; शूद्र और वेदाध्ययन ।

(१९) राजा का कर्तव्य; रक्षा और दण्ड; पुरोहित का महत्त्व ।

(२०) विविध प्रायश्चित्त ।

(२१) ब्राह्मणस्त्री-गमन तथा गोहत्या का प्रायश्चित्त ।

(२२) अभक्ष्य-भक्षण का प्रायश्चित्त ।

(२३) ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य-भङ्ग का प्रायश्चित्त; सुरापान का प्रायश्चित्त ।

(२४) कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र व्रत ।

(२५) गूढ़ प्रायश्चित्त; छोटे अपराधों के प्रायश्चित्त ।

(२६-२७) प्राणायाम के लाभ; गायत्री-जप ।

(२८) नारी-प्रशंसा; अघमर्षण आदि मन्त्रों की प्रशंसा ।

(२९) दान, ब्रह्मचर्य, तप आदि का लाभ ।

(३०) धर्म, सत्य और ब्राह्मण की प्रशंसा ।

व्याख्याएं :—(१) डा० काणे के अनुसार बौ० ध० सू० (२, ३, ५१) पर गोविन्द स्वामी का भाष्य है, जिसमें वा० ध० सू० के व्याख्याकार यज्ञस्वामी का उल्लेख किया गया है । अतः यज्ञस्वामी गोविन्द स्वामी से पूर्ववर्ती हैं ।

(२) वा० ध० सू० के वनारस-संस्करण में कृष्ण पण्डित धर्माधिकारी की **विद्वन्मोदिनी** व्याख्या प्रकाशित हुई है (द्र. फूहरर-संस्करण की भूमिका पृ० ६) ।

संस्करण :—(१) डा० फूहरर द्वारा, बम्बई से प्रकाशित ३० अध्यायों का संस्करण, १८८३ ।

(२) हिन्दी अनुवाद सहित, लाहौर, १९०४।

(३) एम० एन० दत्त ने भी १९०८ में कलकत्ता से उपर्युक्त अंश ही छापे हैं।

(४) जीवानन्द-सम्पादित 'स्मृतिसंग्रह' (धर्मशास्त्र-संग्रह) में इसके २० अध्याय तथा २१वें का कुछ अंश छपा है।

(५) आनन्दाश्रम, पूना, द्वारा प्रकाशित **स्मृतीनां समुच्चयः** में १९०५ में ३० अध्याय प्रकाशित हुए हैं (वसिष्ठस्मृति)।

(६) पञ्चानन तर्करत्न—**ऊनविंशतिसंहिता में वशिष्ठसंहिता** प्रकाशित हुई है।

हारीत धर्मसूत्र

हारीत धर्मसूत्र को बौ० ध० सू०[1], आप० ध० सू०[2] तथा वा० ध० सू०[3] उद्धृत करते हैं। इनमें से आप० ध० सू० ने हारीत के सर्वाधिक उद्धरण दिये हैं। अतः सम्भव है कि ये दोनों एक ही वेद से सम्बन्धित हों[4]। तन्त्रवार्तिक[5] में गौतम, वशिष्ठ, शंख और लिखित के साथ हारीत का भी उल्लेख किया गया है। 'बाल-क्रीड़ा' के कर्ता विश्वरूप से लेकर पश्चाद्वर्ती धर्मशास्त्रियों ने तो हारीत से बहुत अधिक उद्धरण दिये हैं।

यद्यपि हारीत धर्मसूत्र के हस्तलेखों का प्रायः अभाव है, तो भी एक-आध कोष जो प्राप्त हुआ है, वह अत्यन्त दूषित तथा भ्रष्ट है। इसके तीस अध्याय हैं। किन्तु प्राचीन लेखकों द्वारा दिये गये उद्धरण इसमें नहीं पाये जाते। इसमें **भगवान् मैत्रायणी** के नाम से मैत्रायणीय संहिता[6] को उद्धृत किया गया है। डा० कैलैण्ड के अनुसार मैत्रायणी के नाम से उद्धृत अन्य वचनों तथा 'मैत्रायणीय परिशिष्ट' और 'मानव श्राद्धकल्प' के वचनों में बहुत साम्य पाया जाता है।

निबन्धों में सुरक्षित हारीत वचनों से पता चलता है कि हारीत ने अन्य धर्मसूत्रों में वर्णित सभी विषयों पर लिखा था। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट

---

१. बौ० ध० सू० २, १, ५०।
२. आप० ध० सू० २, १०, २९ १२, १६; २८, १, ५, १६ प्रभृति।
३. वा० ध० सू० २,६।
४. काणे, हि० ध० शा०, भाग १, पृ० ७१।
५. पू० मी० १, ३, ११, पृ० १७९।
६. मैत्रा० सं० १, ७, ५।

के अनुसार हा० ध० सू० का आरम्भ इस प्रकार होता था—**अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः । श्रुति-प्रमाणको धर्मः । श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च** (मनु० २, १)।

हारीत के उद्धरणों से एक बात और स्पष्ट होती है कि इसके सूत्र अन्य धर्मसूत्रों से बहुत कुछ मिलते हैं[1]। हारीत में पद्यात्मक वचन भी पाये जाते हैं। रघुनन्दन के 'व्यवहारतत्त्व' में दो ऐसे पद्य उद्धृत किये गये हैं, जो हारीत, बौ० ध० सू० (१, १०, ३०) और मनु० (८, १८-१९) में पाये जाते है। हारीत अनेक स्थलों पर अन्य आचार्यों के विचारों का भी आश्रय लेते हैं। कई बार वह उनका खण्डन भी करते हैं। डा० कैलैण्ड ने हा० ध० सू० का सम्बन्ध मैत्रायणी संहिता के साथ स्थापित करने का प्रयास किया है, तो भी क्योंकि हारीत ने सभी वेदों से बहुत कुछ उद्धृत किया है, अतः प्रतीत होता है कि उनका धर्मसूत्र किसी विशेष शाखा या वेद से विशेष सम्बन्ध नहीं रखता। इस बात की पुष्टि कुमारिल से भी होती है, जो हारीत को किसी विशेष वेद से सम्बद्ध नहीं मानते।

हारीत के कुछ विचार ध्यान देने योग्य हैं— इन्होंने अष्टविध विवाह को तो माना है, किन्तु आर्ष और प्राजापत्य का उल्लेख नहीं किया। तथा क्षात्र और मानुष दो नवीन नाम दिये हैं[2]।

वा० ध० सू० में भी यही नाम आये हैं।

हारीत ने 'ब्रह्मवादिनी' और 'सद्योवधू' दो प्रकार की स्त्रियों का उल्लेख किया है। प्रथम प्रकार की स्त्रियों को उपनयन, अग्नीन्धन और वेदाध्ययन का अधिकार दिया गया है[3]। इन्होंने कुशीलव या अभिनेता ब्राह्मण को श्राद्ध तथा देवकर्म में भाग लेने से वर्जित कर दिया है[4]। डा० काणे के अनुसार निबन्धों में हारीत के नाम से उद्धृत सभी पद्य हारीत के न होकर अधिकांश अर्वाचीन रचनाओं के हैं और हारीत पर आरोपित किये गये हैं[5]। हारीत के वचनों के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें परस्पर पर्याप्त भेद पाया जाता है। जीवानन्द के संग्रह में 'लघु हारीत स्मृति' और 'वृद्ध हारीत स्मृति' दो संग्रह छपे हैं। प्रथम में ७ अध्याय और २५० पद्य हैं। द्वितीय पर वैष्णव सम्प्रदाय की स्पष्ट छाप है। इसके आठ अध्यायों में २६०० पद्य हैं। आनन्दाश्रम से प्रकाशित

---

१. काणे, वही, पृ० ७२।
२. वीरमित्रोदय, संस्कार० पृ२ ८४।
३. स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृ० ८४।
४. अपरार्क, याज्ञ० १, २२२-२२४ पर उद्धृत।
५. काणे, वही, पृ० ७४।

संग्रह में वृद्ध हारीत के ११ अध्याय हैं। इसमें जीवानन्द के संग्रह के प्रथम दो अध्यायों को पांच अध्यायों में विभाजित कर दिया गया है। इसकी 'लघु हारीत स्मृति' में ११७ पद्य हैं और जीवानन्दीय संग्रह से भिन्न हैं। इस विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि अपरार्क ने वृद्धहारीत तथा हारीत दोनों के उद्धरण गद्य में दिये हैं। पद्यात्मक वृद्धहारीत अपेक्षा-कृत अर्वाचीन रचना है[1]। लघु हारीत के नाम से उद्धृत कुछ पद्य वर्तमान 'लघु-हारीत' में मिल भी जाते हैं। अतः हारीत के नाम से पृथक्-पृथक् समयों में एकत्र किये गये प्रतीत होते हैं। क्योंकि विश्वरूप[2] और 'सरस्वती विलास'[3] ने हारीत के पद्य उद्धृत किये गये हैं; अतः अनुमान किया जा सकता है कि षष्ठी शती से बहुत पहले ही पद्यात्मक हारीत स्मृति विद्यमान थी[4]।

हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र

तैत्तिरीय शाखा के खाण्डिकेय विभाग के चरण से सम्बद्ध हिरण्यकेशि-कल्प के २६वें तथा २७वें प्रश्न को सम्मिलित रूप में हिरण्यकेशि-धर्मसूत्र कहा जाता है। किन्तु यह कोई स्वतन्त्र रचना न होकर आपस्तम्ब धर्मसूत्र की हूबहू प्रतिलिपि है। इसमें आप० ध० सू० के सर्वप्राचीन उद्धरण दिये गये हैं। और इसकी सहायता से आप० ध० सू० के अनेक पाठों का वास्तविक मूल रूप स्थिर किया जा सकता है। चरणव्यूह की टीका में उद्धृत महार्णव के अनुसार हिरण्यकेशीय सम्प्रदाय के अनुयायी कोंकण में परशुराम-क्षेत्र के समीप बसे हुए थे।

नन्दपण्डित रचित 'दत्तक-मीमांसा' में सत्याषाढ़ सूत्रों पर शबरस्वामी के भाष्य से उद्धरण दिये गये हैं। यदि यह शबरस्वामी पूर्वमीमांसा के भाष्यकार हैं तो हिरण्यकेशि कल्प की रचना पञ्चम शताब्दी ई० से पूर्व सम्पन्न हो चुकी थी।

यद्यपि हिर० ध० सू०, आप० ध० सू० की नकल है, तो भी अनेक स्थलों पर हिर० ध० सू० का पाठ नवीनतर लौकिक संस्कृत में गुम्फित है, जो प्राचीन सूत्रों को उस समय के शिष्ट-प्रयोग के अनुसार ढालने का प्रयास प्रतीत होता है, यथा— **प्रक्षालयति**[5] के स्थान पर **प्रक्षालयेत्**, **कर्त्रपत्यम्**[6] के स्थान पर **कर्त्तृपत्यम्** **शक्ति-विषयेण**[7] के स्थान पर **यथाशक्ति** इत्यादि प्रयोग।

---

१. वही,
२. याज्ञ० ३, २४६।
३. द्वितीय विलास, पृ० ६१।
४. काणे, वही, पृ० ७५।
५. आप० ध० सू० १, १, ३, ३६।
६. आप० ध० सू० २१, २, ५, ३।
७. आप० ध० सू० २; ५, १२, १।

इसके अतिरिक्त सूत्रव्यवस्था-क्रम में भी अन्तर पाया जाता है। हि०ध०सू० में आप० ध० सू० के अनेक सूत्रों को विभाजित करके पढ़ा गया है। हि०ध०सू० पर महादेव-कृत वृत्ति का नाम भी आप० ध० सू० पर हरदत्त की वृत्ति के समान ही 'उज्ज्वला' रखा गया है। दोनों वृत्तियां भी प्रायः शब्दशः समान हैं। बूह्लर के मत में महादेव ने हरदत्त की नकल की है, किन्तु इस विषय में कोई निर्णय करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि अनेक स्थलों पर महादेव की वृत्ति हरदत्त की वृत्ति से बड़ी है। अन्यत्र हरदत्त को वृत्ति अधिक विशद है। कई विषयों में दोनों में कुछ-कुछ मतभेद भी हैं। इस विषय में एक रोचक बात यह है कि महादेव अनेक स्थलों पर आप० ध० सू० द्वारा स्वीकृत पाठों पर ही टीका करते हैं, हि० ध० सू० सम्प्रदाय के पाठों पर[1] नहीं।

व्याख्या :—हिरण्यकेशि धर्मसूत्र पर महादेव दीक्षित कृत उज्ज्वला सर्व प्रकार से आप० ध० सू० पर हरदत्त की व्याख्या उज्ज्वला से मिलती है। किस ने किस से उधार लिया है, यह स्पष्ट नहीं है। प्रतीत होता है इस विषय में हरदत्त ही अधमर्ण है, क्योंकि महादेव ने हरदत्त की अपेक्षा और भी बहुत कुछ लिखा है।

संस्करण :—यद्यपि बूह्लर ने आप० ध०सू० (१८९३) के अपने संस्करण में हि० ध० सू० के हस्तलेखों से अनेक पाठ उद्धृत किये हैं तथा डा० काणे ने भी डेक्कन कॉलेज, पूना के एक हस्तलेख की प्रतिलिपि का विवरण अपने हि० ध० शा०, भाग १, पृ० ९१ पर दिया है, किन्तु अभी तक हि० ध० सू० का कोई संस्करण प्रकाशित हुआ प्रतीत नहीं होता है।

शंखलिखित का धर्मसूत्र

तन्त्रवार्तिक में कुमारिल के साक्ष्य से विदित होता है कि इस धर्मसूत्र का अध्ययन शुक्ल यजुर्वेद के वाजसनेयिशाखा के अनुयायी किया करते थे। याज्ञ० स्मृ० में शंखलिखित को धर्मशास्त्रकारों में गिनाया गया है। पाराशर स्मृति (१, २४) के अनुसार चारों युगों में प्रमाण माने जाने वाले धर्मसूत्रों में शंखलिखित भी एक है। विश्वरूप और उसके पश्चाद्वर्ती निबन्धकारों एवं भाष्यकारों ने शंखलिखित से प्रचुर मात्रा में उद्धरण दिये हैं जो अधिकांश गद्य में हैं। अतः प्रतीत होता है कि यह धर्मसूत्र पर्याप्त प्राचीन है।

जीवानन्द के स्मृतिसंग्रह में इसके १८ अध्याय, शंख-स्मृति के ३३० तथा लिखित-स्मृति के ९३ श्लोक पाये जाते हैं। आनन्दाश्रम के संग्रह में भी यही बात

---

१. काणे, वही, पृ० ५०-५१।

है, मिताक्षरा ने इसके ५० श्लोक उद्धृत किये हैं। किन्तु इस सूत्र की स्वतन्त्र प्रति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी।

शैली और विषयसूची की दृष्टि से यह सूत्र अन्य धर्मसूत्रों के समान ही है। अनेक स्थलों पर तो यह धर्मसूत्र गौतम और बौधायन के अत्यन्त समान है। कुछ बातों में गौतम या आपस्तम्ब से शंख० ध० अधिक प्रगतिशील है। कहीं-कहीं विस्तार में यह आप० ध० सू० तथा बौ० ध० सू० से बहुत आगे बढ़ जाता है।

भाषा व्याकरण-सम्मत है। शैली कौटल्य के समान है।

पुराणों में वर्णित भौगोलिक तथा सृष्टि सम्बन्धी विषयों को इसमें मान्यता प्रदान की गयी है। इसने प्रजापति, अंगिरस, उशना, प्राचेतस, वृद्ध गौतम के मतों की चर्चा की है। पद्यों में यम, कात्ययान और स्वयं शंख के नाम आये हैं।

अतः प्रतीत होता है कि इसकी रचना गौतम और आपस्तम्ब के पश्चात् तथा याज्ञवल्क्य से पूर्व हुई है। अतः इसका काल ३०० ई० पू० तथा १०० ई० के मध्य में पड़ता है।

वैखानस धर्मप्रश्न

वैखानस धर्मसूत्र (प्रश्न) कृष्ण यजुर्वेद के छह सूत्रों में से एक है। वैखानस श्रौतसूत्र की चर्चा सत्याषाढ़ श्रौतसूत्र के व्याख्याता महादेव ने की है और इसे बहुत बार उद्धृत किया है। किन्तु चरणव्यूह में वाधूल और वैखानस के नाम नहीं दिये गये हैं। गौतम ध० सू० (३, २), बौ० ध० सू० (२, ६, १६-१७) तथा वा० ध० सू० (९, १०) में वैखानस शब्द का प्रयोग किया गया है और इसका अर्थ प्रायः वानप्रस्थ किया गया है या फिर वह जो वैखानस शास्त्र के नियमों के अनुसार चलता है (मनु० ६, २१)।

वैखानस धर्मसूत्र (प्रश्न) के तीन प्रश्न हैं, जिनमें से प्रत्येक का कई खण्डों में विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ५१ खण्ड हैं। जिनमें ३६५ सूत्र हैं। चौथे प्रवरखण्ड में ६८ सूत्र हैं, अतः कुल ४५३ सूत्र हैं। इसके प्रतिपाद्य विषयों का व्यौरा इस प्रकार है :—

प्रश्न १ :—चार वर्ण, चार आश्रम, उनके अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का निरूपण, इसमें ब्राह्मण के चार आश्रम कहे गये हैं, क्षत्रिय के तीन (सन्न्यास नहीं) वैश्य के दो—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ (वै० ध० सू०)।

ब्रह्मचारी चार प्रकार के हैं—**गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य** और **नैष्ठिक**। प्राजापत्य को स्नान करके नित्य कर्म करते हुये 'नारायण-परायण' होकर तीन वेद-

वेदांगार्थों पर विचार करते रह कर गृहस्थ में प्रवेश करना चाहिये। इस प्रकार के ब्रह्मचारी का उल्लेख अन्यत्र नहीं किया गया। गृहस्थ भी चार प्रकार के कहे गये हैं—१. **वार्ता-वृत्ति** (कृषि आदि से जीविका)।

२. **शालीनवृत्ति**—जो पाकयज्ञ, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य तथा यागों को यथाविधि करता है।

३. **यायावर**—जो हविर्याग तथा सोमयाग करता हुआ यज्ञ कराता है, तथा अध्ययन, अध्यापन, दान-प्रतिग्रह प्रभृति कर्म करता हुआ जीवन यापन करता है।

४ **घोराचारिक**—यह यज्ञ करता है, अध्ययन करता है और दान देता है। उञ्छ-वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करता है।

नारायण-परायण रह कर सायं-प्रातः अग्निहोत्र करता है, एवं **असिधारा व्रत** का आचरण करता है, जिसमें 'मार्गशीर्ष मास' में जल में खड़े होकर तथा ज्येष्ठ मास में पञ्चाग्नि-ताप द्वारा तपश्चर्या करनी पड़ती है (भाष्य १,५)। कैलैण्ड के मत में 'असिधारा व्रत' का मौलिक अर्थ यह नहीं है।

वानप्रस्थों के भी दो प्रकार बताये गये हैं—सपत्नीक और अपत्नीक। सपत्नीक चार प्रकार के हैं—**औदुम्बर, वैरञ्चि, वालखिल्य** तथा **फेनप**। अपत्नीक वानप्रस्थों के अनेक प्रकार हैं—यथा **कालाशिक, उद्दण्डसंवृत्त, उदग्रफली, उञ्छवृत्ति, संदर्शनवृत्ति** प्रभृति (१, ८)।

मोक्षार्थी भिक्षुक चार प्रकार के हैं—**कुटीचक, बहूदक, हंस** तथा **परमहंस**। सकाम और निष्काम दो प्रकार के कर्म; प्रवृत्ति-मार्ग तथा निवृत्ति-मार्ग, योगियों के तीन प्रकार—**सारंग, एकार्ष्य** तथा **विसरग**। इनके अनेक सम्प्रदाय (१,१०-११) गिनाये गये हैं।

प्रश्न २ :—वानप्रस्थ के **श्रमणक** नाम क्रिया संस्कारों के लिये श्रमणक अग्नि का विवरण (२, १-४); सन्न्यासी के कर्तव्य तथा सन्न्यास-ग्रहण की विधि (२, ६-८); सन्न्यासी के सामान्य आचार (स्नान, आचमन, भोजन, सन्ध्या, अभिवादन आदि के नियम)।

प्रश्न ३ :—गृहस्थ के नियम (३, १-३), मार्ग-नियम, निषिद्ध वस्तुएं और कर्म, स्वर्ण आदि धातुओं की शुद्धि, अन्य वस्तुओं की शुद्धि (३, ४), वानप्रस्थ के सामान्य धर्म (३, ५)। सन्न्यासी के सामान्य धर्म (३, ६-७)। सन्न्यासी की अन्त्येष्टि (३, ८)। सन्न्यासी की मृत्यु पर नारायण बलि कर्म (३, ९-१०)[1]। सन्न्यासियों का तर्पण– जल तथा विष्णु के बारह

---

१. यह बौ० गृ० परि० में ही प्रतिपादित किया गया है ; बौ० गृ० परि० ३, २०-२१, मैसूर संस्करण।

नामों से विहित, अनुलोम तथा प्रतिलोम जातियां ; व्रात्य, इनका मूल नाम तथा आजीविका (३, ११-१५)।

यद्यपि वैखानस की चर्चा अति प्राचीन ग्रन्थों में की गयी है तो भी वर्तमान 'धर्मप्रश्न' पश्चात्कालिक रचना है। यह सम्भवतः प्राचीन रचना का प्रति-संस्करण है। इस में अर्वाचीन स्मृतियों से भी अधिक मिश्रित जातियों के नाम पाये जाते हैं। वर्तमान रूप में यह अवश्य किसी वैष्णव द्वारा रचित अथवा प्रति-संस्कृत कृति है। इसमें योग के आठ अंगों (१, १०, ९) तथा आयुर्वेद के आठ अंगों तथा भूत-प्रेतों से सम्बद्ध रचनाओं (भूततन्त्र ३, १२, ७) की चर्चा की गयी है। क्षत्रियों के लिए सन्न्यास का निषेध किया गया है (१,१,११)। विखनस् आचार्य को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया है (२, ५, ९ तथा ३, १५, १४), जो इसका वास्तविक कर्ता प्रतीत होता है[1]। कैलैण्ड के अनुसार वैखानस गृह्य ने मनुस्मृति से सामग्री ग्रहण की है और कि वै० गृ० सू० द्रविड़ शब्दावलि तथा मुहावरों से भरा पड़ा है[2]।

वैखानस सम्प्रदाय की रचनाओं के विषय में ब्लॉख़ तथा कैलैण्ड का विचार असमीचीन है कि इनके गृह्य तथा धर्मसूत्र के निर्माता श्रौत सूत्रकार से भिन्न थे तथा श्रौतसूत्र की रचना पश्चात्काचिक है। क्योंकि वै० ध० सू० (१, ३) में कुण्डों के निर्माण के प्रसंग में **यथोक्तम्** कह कर वै० श्रौ० सू० में वर्णित पद्धति की ओर स्पष्ट सङ्केत किया गया है, यद्यपि भाष्यकार ने इन शब्दों की व्याख्या करते हुए **वक्ष्यमाण-श्रौत-प्रकारेण** कह कर इनके पौर्वापर्य का पांसा पलट दिया है, तो भी यहां भाष्यकार के भी भूतकाल को भविष्यत् में वदलने का प्रयास विचारणीय है। अतः लेखक के मन में स्पष्ट ही श्रौतसूत्र की ओर सङ्केत करने का विचार था।

वै० गृ० सू० में **पिण्डपितृयज्ञ** (३, ६)[3] के उल्लेख से भी कैलैण्ड ने वै० गृ० सू० को वै० श्रौ० सू० से पूर्वकालिक सिद्ध करने का प्रयास किया है। किन्तु यहां **यज्ञ-प्रायश्चित्ते वक्ष्यामः** में **वक्ष्यामः** से यदि लेखक का सङ्केत श्रौतसूत्र से है, तो हमें कल्पना करनी पड़ेगी कि वै० श्रौ० सू० का यह भाग वै० गृ० सूत्रकार द्वारा परिवर्धित है, क्योंकि वै० गृ० सू० (१, ८) में[4] वै० श्रौ० सू० (९, ७-११) की ओर स्पष्ट ही सङ्केत किया गया है। **पिण्डपितृयज्ञ** का वर्णन वै० गृ० सू०

---

१. द्र. वैङ्कटेश, वै० श्रौ० भूमिका।

२. द्र. कीथ, बी० एस० ओ० एस०, १९२७, पृ० ६२३।

३. **'यज्ञ-प्रायश्चित्ते वक्ष्यामः'**।

४. **'पात्रस्रुवादयो यज्ञे प्रोक्ताः**। तथा द्र. "वानप्रस्थस्य श्रमणकाग्नेः कुण्डमाधानञ्च धर्मे वक्ष्यामः" (वै० गृ० सू० १,८)।

में इस लिये किया किया है क्योंकि वै० श्रौ० सू० में इसका वर्णन नहीं किया गया[1]। वै० ध० सू० (२, ५) में 'पूर्ववत्' से भी श्रौतसूत्र का ग्रहण न करके गृह्यसूत्र का ग्रहण करके कैलैण्ड ने वै० ध० सू० को वै० श्रौ० सू० से पूर्वकालिक सिद्ध करने का प्रयास किया है, जो ठीक नहीं है[2]। कीथ के मतानुसार यह सङ्केत गृह्यसूत्र (४, २) में वर्णित **आग्रयणेष्टि** की ओर प्रतीत होता है यद्यपि श्रौतसूत्र के सङ्केत को भी सर्वथा नकारा नहीं जा सकता[3]।

कैलैण्ड के अनुसार सम्भवत: वै० श्रौ० सू० ने दो मन्त्र वै० गृ० सू० से उधार लिये हैं, यद्यपि वे वै० श्रौ० सू० में भी पाये जाते हैं। उसके अनुसार वै० श्रौ० सू० की रचना वै० गृ० सू० से अर्वाचीन या उसके समकालीन है। किन्तु इस धारणा को सिद्ध नहीं किया जा सकता[4]।

वै० गृ० सू० (२, ६ तथा ३, ५) में **अथाह** तथा **संशास्ति** शब्दों से संहिता में विद्यमान मन्त्रों की ओर सङ्केत किया गया है, जो किसी गृह्यसूत्र से गृहीत प्रतीत होते हैं। किन्तु वै० गृ० सू० (३, २३) में संहिता में पाया जाने वाला मन्त्र **गोदानमुनत्तु** विहित है, जो प्रकरणानुसार नहीं है। कैलैण्ड ने इसे किसी प्राचीन सूत्र के समझने की भूल पर आधृत माना है, जब कि कीथ का मत है कि यह असमीचीनता संहिता द्वारा ही किसी प्राचीन सूत्र को न समझने के कारण हो सकती है[5]।

किन्तु हम कीथ की इस कल्पना-प्रसूत स्थापना से कदापि सहमत नहीं हो सकते। हमारी समस्त परम्परा में संहिता को सूत्रों से अर्वाचीन सिद्ध नहीं किया जा सकता। वर्तमान अवस्था में भी यह स्थापना सर्वथा अप्रमाणित है।

यद्यपि शौनकीय चरणव्यूह में वैखानस शाखा का उल्लेख नहीं किया गया तो भी आग्निवैश्य सूत्र में वैखानस सूत्र को नौ अपरसूत्रों में प्रथम स्थान पर गिनाया गया है, जिनमें शौनकीय, भारद्वाज, जैमिनीय, वाधूल तथा माध्यन्दिन सदृश प्रसिद्ध सूत्र सम्मिलित हैं, अत: इसे अत्यन्त अर्वाचीन रचना नहीं माना जा सकता। यह सम्भव है कि अपने वर्तमान रूप में इसका रचनाकाल अपेक्षाकृत अर्वाचीन और आपस्तम्ब प्रभृति से पश्चात्कालिक हो सकता है।

---

१. कीथ, BSOS V. P. 424.
२. कीथ, वही,
३. वही,
४. वही, पृ० ९२५।
५. वही, पृ० ९२५।

डा० ब्लॉख़ के मतानुसार इसकी भाषा, शैली, भारतीय नक्षत्र ग्रहों तथा सप्ताह के दिनों के नाम—जो यूनानियों से ग्रहण किये गये हैं—एवं 'नारायण-पारायण' प्रयोगों के कारण इसे तृतीय शती ईसवी से पूर्व नहीं रखा जा सकता, जो चिन्त्य है।

इसकी भाषा शुद्ध लौकिक संस्कृत है, रचना-शैली अन्य सूत्र-ग्रन्थों से सर्वथा भिन्न है, संक्षिप्त सूत्र तो क्वचित् ही दृष्टिगोचर होते हैं। अधिकांश सूत्र वर्णनात्मक शैली में रचे गये हैं। इसमें पद्यों का सर्वथा अभाव है। व्याकरण की त्रुटियां अत्यन्त विरल हैं[1]। यहां जितने प्रकार के गृहस्थों तथा वानप्रस्थों का विवरण दिया गया है वह अन्यत्र नहीं पाया जाता, जो विकसित समाज की ओर सङ्केत करता है। कुमारिल द्वारा इस रचना का अनुल्लेख भी इस विषय में सन्देहोत्पादक है। तो भी इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि यह कुमारिल से उत्तरवर्ती है या इसकी रचना के समय में संस्कृत भाषा मर चुकी थी[2]।

इस सम्बन्ध में यह सूचना उपयोगी होगी कि तै० आर० (१, २३) में वैखानसों का उल्लेख स्पष्ट किया गया है, और आरण्यक काल में ही नारायण की पूजा प्रचलित हो चुकी थी। हूण-शक प्रभृति काल से पूर्व ही दक्षिण भारत में नारायण-पूजा के प्रचलन के प्रमाण वहां के शिलालेखों से प्राप्त होते हैं[3]। महाभारत तथा रामायण में भी वैखानसों के स्पष्ट उल्लेख किये गये हैं[4]। अतः अपने मूल रूप में यह सूत्र पर्याप्त प्राचीन है।

कैलैण्ड ने मनुस्मृति तथा वै० ध० सू० के समानान्तर वचनों का संग्रह किया है और यह परिणाम निकाला है कि यह रचना मनु० से उत्तरकालिक है। किन्तु अभी तक यह प्रमाणित करना दुष्कर कार्य है कि इनमें से कौन उत्तमर्ण है और कौन अधमर्ण[5]।

व्याख्या :—इस पर अद्य यावत् कोई भाष्य उपलब्ध नहीं है। वै० स्मार्त सूत्र पर एक भाष्य है जो नौ प्रश्नों तक ही उपलब्ध है।

संस्करण :—(१) टी० गणपति शास्त्री सम्पादित, त्रिवेन्द्रम, सन् १९१३।
(२) डब्ल्यू० कैलैण्ड, बि० इण्डि०, कलकत्ता, १९२७, दो भाग सानुवाद।

---

१. कैलैण्ड, वै० स्मार्त सूत्र, भाग २, भूमिका, आंग्लानुवाद, पृ० १३-१५।
२. कैलैण्ड, वै० ध० सू० आंग्लानु०, भूमिका, पृ० १५।
३. द्र० नानाघाट शिलालेख, तथा दलुर शिलालेख के रंगाचारी द्वारा उद्धृत, वै० ध० सू० भूमिका, पृ० ४।
४. महाभारत, शां० २५० अध्याय, १७; रामा० किष्किन्धा० ४०-५७।
५. सुरेशचन्द्र बैनर्जी, द्र. धर्मसूत्रज, पृ० ३५।

(३) के० रंगाचारी, मद्रास, १९३०, प्रवर-सहित।

(४) विल्हेल्म एग्गर्स (W. Eggers) "दज़ धर्मसूत्र देर वैखानसस्" जर्मन-अनुवाद तथा टिप्पण, गॉटिन्जन, १९२७।

विष्णुधर्मसूत्र

विष्णुधर्मसूत्र को विष्णुस्मृति तथा वैष्णवधर्मशास्त्र के नामों से भी अभिहित किया जाता है। यही एक ऐसा धर्मसूत्र है जो अपना मूल विष्णु भगवान् से मानता है। इस में एक सौ अध्याय हैं, जिनमें से कुछ एक तो नाममात्र के हैं, क्योंकि इनमें केवल एक-एक पद्य और एक-एक सूत्र है, यथा ३४, ३९, ४०, ४२ और ७६। इस सूत्र के प्रथम और अन्तिम अध्याय पूर्णतया पद्यात्मक हैं। अन्य अनेकों अध्यायों में सूत्रों से पद्यों की संख्या अधिक है। इस विषय में यह वा० ध० सू० से मिलता है। इसकी रचना-शैली सरल और विस्तार-परक है। अनेक पद्य इन्द्रवज्रा छन्दों में निबद्ध हैं। अनेक त्रिष्टुप् छन्द में भी हैं। इसके प्रतिपाद्य विषयों का वर्णन इस प्रकार है—

(१) पृथ्वी का विष्णु के पास वर्णाश्रम धर्म के उपदेशार्थ जाना ; (२) चार वर्णों और आश्रमों का वर्णन ; (३) राजधर्म ; (४) कार्षापण आदि माया ; (५) विविध अपराधों के लिये दण्ड ; (६) अधमर्ण तथा उत्तमर्ण, व्याजदर, वन्धक (७) त्रिविध व्यवहार-पत्र ; (८) साक्षी ; (९-१४) दिव्य परीक्षाएं, तुला, अग्नि, जल, विष और कोष ; (१५) द्वादशविध पुत्र ; (१६) असवर्ण विवाह, जन्म, सन्तान की स्थिति, वर्णसङ्कर ; (१७) सम्पत्ति-विभाजन, संयुक्त-परिवार, पुत्रहीन की सम्पत्ति, स्त्रीधन ; (१८) भिन्न-भिन्न वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न सन्तानों में सम्पत्ति विभाजन के नियम ; (१९) शव को श्मशान में ले जाना, मृत्यु विषयक अशौच ; (२०) चतुर्युगी, मन्वन्तर, कल्प, महाकल्प, प्रेत के लिये अधिक शोक वर्जित ; (२१) अन्त्येष्टि कर्म, मासि-श्राद्ध, सपिण्डीकरण ; (२२) सपिण्ड का मरणशौच, विलाप के नियम, जन्माशौच विविध वस्तुओं और व्यक्तियों के स्पर्श करने पर अशौच ; (२३) शरीर-शुद्धि, विविध पदार्थों की शुद्धि ; (२४) विवाह, विवाह के प्रकार, अन्तर्जातीय विवाह ; (२५) नारीधर्म ; (२६) विभिन्न वर्णों की स्त्रियों में उच्चावचत्व ; (२७) संस्कार, गर्भाधानादि ; (२८) ब्रह्मचारी के व्रत ; (२९) आचार्य-प्रशंसा ; (३०) वेदारम्भ का समय, अनध्याय; (३१) पिता, माता, आचार्य का समादर ; (३२) अन्य सत्कार्य व्यक्ति ; (३३) पाप के तीन स्रोत—काम, क्रोध और लोभ; (३४) अतिपातकों के प्रकार ; (३५) पांच महापातक ; (३६) अनुपातक ; (३७) उपपातक ; (३८-४२) छोटे-मोटे अन्य पाप ; (४३) इक्कीस नरक, विविध पापों के लिए नरक-भोग की अवधियां ; (४४) पापों से प्राप्य नाना नीच योनियां ; (४५) पापों से प्राप्य नाना रोग, भोग ; (४६-४८) नाना कृच्छ्र-सान्तपन, चान्द्रायण, प्रसृति-यावक ;

(४९) वासुदेव के भक्त के आचरण ; (५०) ब्रह्महत्या तथा अन्य हत्याओं के प्रायश्चित ; (५१-५३) सुरापान, अभक्ष्य-भक्षण, सुवर्णस्तेय, अगम्यागमन, तथा व्यभिचार के प्रायश्चित्त ; (५४) विविध प्रकार के अन्य कर्मों के प्रायश्चित्त ; (५५) निगूढ़ प्रायश्चित्त; (५६) अघमर्षण आदि पाप प्रहारक मंत्र ; (५७) व्रात्य, अपश्चात्तापी पापी, दान न देने वाले—इनकी संगति वर्जित; (५८) सात्त्विक, राजस और तामस धन; (५९) गृहस्थ के कर्तव्य—पाकयज्ञ, पञ्चमहायज्ञ, अतिथिसत्कार ; (६०) गृहस्थ की दिनचर्या और आभिजात्य ; (६१-६२) दन्तधावन, आचमन ; (६३) गृहस्थ की आजीविका, यात्रा-विषयक शकुन, मार्ग-नियम ; (६४) स्नान, देवों तथा पितरों का तर्पण ; (६५-६७) वासुदेव की पूजाविधि ; (६८) भोजन का समय और प्रकार; (६९-७०) पत्नी-गमन तथा शयन के नियम; (७१) स्नातक के व्रत और नियम ; (७२) आत्म-संयम के लाभ ; (७३-८६) श्राद्ध, अष्टका, विविध दिनों, नक्षत्रों तथा तिथियों पर करणीय श्राद्धों का विवेचन। श्राद्ध में भोज्याभोज्य ब्राह्मण, पंक्ति-पावन ब्राह्मण, श्राद्ध के अयोग्य स्थल, तीर्थ या देश, वृषोत्सर्ग ; (८७-८८) मृगचर्म-दान तथा गोदान ; (८९) कार्तिक-स्नान ; (९०) विविध दानों की प्रशंसा ; (९१-९३) कूप तड़ाग आदि पूर्त्त से लाभ ; (९४-९५) वानप्रस्थ ; (९६-९७) सन्न्यास, शरीर-विज्ञान, विविध प्रकार की एकाग्रता ; (९८-९९) पृथ्वी और लक्ष्मी द्वारा वासुदेव-प्रशंसा ; (१००) इस धर्मसूत्र के अध्ययन के लाभ।

इस विषयसूची पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसके काल तक पौराणिक विचार-पद्धति का पर्याप्त विकास हो चुका था और वैदिक विचार धारा काफी पीछे छूट गयी थी। कुछ अध्यायों में अवश्य प्राचीन सामग्री सन्निविष्ट है जो गौतम तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्रों के समकक्ष है, यथा—राजधर्म और दण्ड (३ तथा ५), द्वादश पुत्रों के विषय में विचार और वर्णसङ्कर (१५-१६) तथा अन्त्येष्टि कर्म (२१-२२)। किन्तु अन्य विषय ऐसे भी हैं जो अर्वाचीनता का सङ्केत करते हैं, किन्तु इनके आधार पर रचनाकाल का निर्णय नहीं किया जा सकता।[1]

इस धर्मसूत्र में १६० से अधिक पद्य मनु के पद्यों के प्रतिरूप हैं। शतशः ऐसे सूत्र हैं, जो मनु के पद्यों का गद्यात्मक रूपान्तर हैं।[2] ऐसे पद्य मनु० के द्वितीय से लेकर अन्तिम अध्याय तक सभी में प्राप्य हैं। अतः यह एक अनुसन्धेय विषय है कि इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है। डा० जॉली का मत है कि वि० ध० सू० के सूत्र और पद्य मनुस्मृति के समानान्तर पद्यों से प्राचीन है। उनके मुख्य तर्क ये हैं कि

---

१. द्र० इण्डि० कल्पसू०, पृ० ६५-६६।

२. काणे, वही, पृ० ६३।

मनु० के विपरीत वि०ध०सू० ने दक्षिणापथ के निवासियों—द्रविड़ों और आन्ध्रों—का उल्लेख नहीं किया। न ही इसका सांख्य और योग के अतिरिक्त अन्य किसी दर्शन से परिचय है। न ही इसमें स्त्रियों के सन्न्यास-ग्रहण का विरोध किया गया है और न ही इसने नियोग की निन्दा की है।[1] किन्तु इस प्रकार के नकारात्मक तर्कों से कुछ भी प्रमाणित नहीं हो सकता। यदि दक्षिण के आन्ध्रों और द्रविड़ों का उल्लेख अर्वाचीनता का परिचायक हो, तो ऐ० ब्रा० को भी अर्वाचीन रचना मानना पड़ेगा, क्योंकि इसमें इन का उल्लेख किया गया है। इस के अतिरिक्त अष्टम अध्याय में वि० ध० सू० ने दाक्षिणात्यों का उल्लेख किया भी है। जहां तक **नियोग** का सम्बन्ध है, याज्ञ० स्मृति भी, जो निश्चय ही मनु से अर्वाचीन है, नियोग का विरोध नहीं करती। इसके विपरीत इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वि० ध० सू० ने मनु० से सामग्री ग्रहण की है और इससे अर्वाचीन है। वि० ध० सू० में मनु० के अनेक पद्यों को सूत्र रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। मनु० (५, ४१) के "**अब्रवीन्मनुः**" के स्थान पर '**कथञ्चन**' शब्द का प्रयोग और (५, १३१) के '**मनुरब्रवीत्**' के स्थान पर '**परिकीर्तितम्**' का प्रयोग इस प्रवृत्ति के निदर्शन हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों का मुख्य कारण वि० ध० सू० का यह दावा है कि यह स्वयं विष्णु की कृति है। अतः मनु जैसे मानव का नामोल्लेख असंगत होगा।

डा० जॉली ने इस प्रकार के अर्वाचीनता के द्योतक सभी पद्यों को एक ऐसे अज्ञात-नामा वैष्णव के मत्थे मढ़ने का प्रयास किया है, जिसने सम्भवतः इस ग्रन्थ का पुनः सम्पादन किया है। किन्तु यह सर्वथा काल्पनिक धारणा है, जिसका कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार वि० ध० सू० में बहुत से पद्य हैं, जो याज्ञ० स्मृ० के पद्यों के समान हैं और इससे अनेक विषयों में सहमति रखते हैं। इस विषय में भी डा० जॉली ने याज्ञ० स्मृ० की अर्वाचीनता सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस विषय में उनका मुख्य तर्क यह है कि, जैसा कि मैक्समूलर ने दर्शाया है, याज्ञ० स्मृ० का शरीर-विज्ञान विषयक समस्त प्रकरण (३, ८४-१०४) ही वि० ध० सू० (९६, ९३-९६) से ग्रहण किया गया है। दूसरे यह कि यूनानी ज्योतिष और नक्षत्र विद्या के विषय के सङ्केत (याज्ञ० १, ८०-२९५), गणेश-पूजा, ग्रह-पूजा (याज्ञ० १, २७०-३०७) और याज्ञ० स्मृति में प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्त (१, ३४९-३५०) वि० ध० सू० में नहीं पाये जाते। इसके अतिरिक्त याज्ञ० स्मृ० (१, ५७) शूद्रा से विवाह का निषेध करती हैं। और वि० ध० सू० (२४, १-४) इस का प्रतिपादन करता है और याज्ञ० स्मृ० (२, २४०-४१) का सिक्के के लिये **नाणक** शब्द का प्रयोग वि० ध० सू० में नहीं पाया जाता[1]।

किन्तु इस विषय में ध्यान रखना चाहिये कि क्योंकि याज्ञ० स्मृ० और वि० ध० सू० दोनों में ही शरीर-विज्ञान सम्बन्धी सामग्री चरकसंहिता में

---

१. एस० बी० ई०, भाग, ७, भूमिका, पृ० २०।

उपलभ्य सामग्री के समान है, अतः यह सर्वथा संभव है कि दोनों ने इस विषय में चरक का ही अनुकरण किया हो । विनायक-पूजा तो मानव गृ० सू० में भी पायी जाती है। जो बहुत प्राचीन रचना है। अतः इसे अर्वाचीनता का लक्षण नहीं कह सकते। इसके विपरीत वि० ध० सू० (अध्याय ९०) में वासुदेव की पूजा का विधान किया गया है और सप्ताह के दिनों के नामों का भी उल्लेख किया गया है। जिनका प्रवर्तन भारत में यूनानी ज्योतिष के आगमन के पश्चात् काल में ही हुआ माना जाता है।

याज्ञ० स्मृ० के दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में इतना ही कहना है कि याज्ञ० में पाये जाने वाले प्रत्येक विषय को वि० ध० सू० में खोजना सर्वथा अनुचित है। शूद्रा से विवाह की अनुमति वि० ध० सू० में बौ० ध० सू० (१, ८, १६, २-५) के अनुकरण पर दी गयी है। अतः इस विषय में किसी ऐतिहासिक परिणाम पर नहीं पहुंचा जा सकता। **नाणक** शब्द का प्रयोग भारत में कब से आरम्भ हुआ, इसके विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकना। अतः वि० ध० सू० में इसके अभाव से कोई परिणाम निकालना असम्भव है।

याज्ञ० स्मृ० और वि० ध० सू० की रचना-शैली की तुलना करने पर पता चलता है कि याज्ञ० स्मृ० सुश्लिष्ट एवं संक्षिप्त शैली में उपनिबद्ध है, जब कि वि० ध० सू० की कोई निजी स्वतन्त्र रचना-शैली नहीं है। कहीं-कहीं तो इसमें याज्ञ० स्मृ० के समान संक्षिप्त शैली का प्रयोग किया गया है, और कहीं-कहीं शिथिल-सूत्र-निबन्धन-शैली का। वि० ध० सू० (१७, ४-२१) के कुछ वचन शब्दशः याज्ञ० स्मृ० (१, १३५-३८ ; १४३-४५) के पद्यों से ग्रहण कर लिये गये हैं और शेष का रूपान्तर कर लिया गया है। अतः यह मानना अधिक संगत प्रतीत होता है कि वि० ध० सू० ने ही याज्ञ० स्मृ० की नकल की है[1]।

वि० ध० सू० में १६ पद्य भगवद्गीता के भी कुछ परिवर्तित रूप में उद्धृत किये गये हैं। क्योंकि वि० ध० सू० का उपदेश पृथ्वी को दिया गया है, अतः भगवद्गीता (१३, १) का **कौन्तेय** पद **वसुधे** में बदल दिया गया है। और भगवद्गीता (१३, २) का 'भारत' पद वि० ध० सू० ९६, ९७ में 'भामिनि' हो गया है।

महाभारत के अनेकों श्लोक वि० ध० सू० में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। इसके एक दर्जन से अधिक सूत्र पा० गृ० सू० के सूत्रों के समान हैं। शां० गृ० सू० के भी कुछ सूत्र वि० ध० सू० के सूत्रों से मिलते हैं। वि० ध० सू० के चालीस के लगभग सूत्र काठ० गृ० सू० के सूत्रों से बहुत साम्य रखते हैं। इनमें से १९ तो **वैश्वदेव बलि** से सम्बद्ध हैं, १५ **श्राद्ध** विषयक हैं, और छह वृषोत्सर्ग विषयक।

---

१. रामगोपाल, इण्डि०, कल्पसू०, पृ० ६३।

इन समानताओं के कारण जॉली ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि काठ० गृ० सू० और वि० ध० सू० का घनिष्ठ सम्बन्ध था और कि दोनों ने ही कठ-सम्प्रदाय के एक ही मूल स्रोत से सामग्री ग्रहण की है और इस आधार पर उन्होंने बूह्लर के इस मत को भी पुष्ट करने का प्रयास किया है कि विष्णुस्मृति वस्तुतः काठक सम्प्रदाय का प्राचीन धर्मसूत्र है[1]।

डा० काणे ने भी इस विचार का समर्थन करते हुए लिखा है कि क्योंकि वि०ध० सू० ने काठक मन्त्रों का विनियोग किया है और काठ० गृ० सू० का आश्रय लिया है अतः सम्भव है कि यह भी काठक सम्प्रदाय का ही ग्रन्थ हो और इसका उदय काठकों के मूल स्थान पंजाब और काश्मीर में हुआ हो।

किन्तु यह विचार समीचीन प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यद्यपि वि० ध० सू० के श्राद्ध और **वैश्वदेव** विषयक अनेक सूत्र काठ० गृ० सू० से मिलते हैं, किन्तु वि० ध० सू० में इनका वर्णन काठ० गृ० सू० के वर्णन से बहुत अधिक विस्तृत है। वृषोत्सर्ग सम्बन्धी सूत्र तो पा० गृ० सू०, शां० गृ० सू० और कौषी० गृ० सू० में भी समान रूप से पाये जाते हैं। अतः वि० ध० सू, के अनेक सूत्र ऐसे हैं, जो अन्य गृह्यसूत्रों में पाये जाते हैं और काठ० गृ० सू० में नहीं पाये जाते।

काठक मन्त्रों के विनियोग के विषय में ज्ञातव्य यह है कि इसमें सर्वाधिक मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं। यदि इसने काठक गृह्यसूत्र से कुछ ग्रहण किया है, तो अन्य गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों से भी लिया है।

इसके अतिरिक्त वि० ध० सू० और काठ०गृ०सू० में मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। वि०ध०सू० में क्षत्रिय के उपनयन का समय गर्भ से एकादश वर्ष में विहित है[3], जबकि काठ० गृ० सू० में इसका विधान जन्म या गर्भ का स्पष्टीकरण किये बिना ही नवें वर्ष में किया गया है[4]। वि० ध० सू० (२४, १८) में अष्टविध विवाह का उल्लेख किया गया है, जबकि काठ० गृ० सू० (२, ३, ४) में केवल ब्राह्म और आसुर इन दो विवाहों का ही विधान है। वि० ध० सू०[5] में **सान्तपन** और **महासान्तपन** के लक्षण काठ० गृ० सू०[6] से भिन्न हैं। ये लक्षण याज्ञ० स्मृ०[7] से

---

१. एस० बी० ई०, भाग ७, भूमिका, पृ० ११ से।
२. हि० ध० शा०, पृ० ६८।
३. वि० ध० सू० २७, १६।
४. काठ० गृ० सू० ४, १, २।
५. वि० ध० सू० ४६, १९-२०।
६. काठ० गृ० सू० १, ७, ३-४।
७. याज्ञ० स्मृ० ३, ३, ५-१६।

मिलते हैं। अतः काठ० गृ० सू० के साथ इसके विशेष सम्बन्ध की कल्पना निराधार है। वैसे 'वैजयन्ती' टीका के अनुसार भी वि० ध० सू० का कठ-नामक यजुर्वेदीय शाखा से घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि विष्णु उस शाखा के सूत्रकार हैं[1]। चरणव्यूह के अनुसार कठ एवं चारायणीय यजुर्वेद की चरक-शाखा के १२ उपविभागों में दो विभाग हैं।

इतना होते हुए भी यह कह सकना कठिन है कि वि० ध० सू० की रचना कब हुई, क्योंकि स्वयं मनु० तथा याज्ञ० स्मृ० के रचना-काल अनिर्णीत हैं।

उपर्युक्त पारस्परिक निर्देशों के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि संभवतः वि० ध० सू० का कोई प्राचीन संस्करण रहा होगा, जिसे याज्ञ० स्मृ० ने उद्धृत किया है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वर्तमान रूप में वि० ध० सू० सूत्रकाल की अर्वाचीन कृति है।

व्याख्या :— (१) नन्दपण्डित कृत 'वैजयन्ती' ही एकमात्र व्याख्या इस समय उपलभ्य है।

(२) किन्तु काणे के अनुसार प्रतापरुद्रदेव-रचित 'सरस्वतीविलास' में भारुचि कृत व्याख्या सहित वि०ध०सू० के अनेक सूत्र उद्धृत किये गये हैं।

संस्करण :—(१) जीवानन्द सम्पा० धर्मशास्त्रसंग्रह के अन्तर्गत।

(२) जॉली सम्पा०, वैजयन्ती सहित, तथा आंग्लानुवाद, १८८१, कलकत्ता।

(३) पञ्चानन तर्करत्न-सम्पादित ऊनविंशति-संहिता में 'विष्णु-संहिता'।

(४) जॉली—एस० बी० ई०, ७।

धर्म-सम्बन्धी अन्य सूत्रकार

१. अत्रि—इसका उल्लेख मनुस्मृति में किया गया है। उपलभ्य हस्तलेखों में नौ अध्यायों में दान, तप, जप, गुप्त प्रायश्चित्तों प्रभृति विषयों का प्रायः पद्यों में प्रतिपादन किया गया है। जीवानन्द के संग्रह में एक 'अत्रिसंहिता' का प्रकाशन हुआ है, जिसमें ४०० श्लोक है। एक 'लघु अत्रि' तथा एक 'वृद्धात्रेय स्मृति' भी प्रसिद्ध है, जो इसी संग्रह में प्रकाशित है, किन्तु इन सब का धर्मसूत्रों से क्या सम्बन्ध है, यह जानना कठिन है।

---

१. द्र. श्राद्धकल्प० पितृभक्ति तरंगिणी में वाचस्पति।

२. **उशना**—उशना के नाम से राजनीति विषयक रचना प्रसिद्ध है, किन्तु औशनस धर्मशास्त्र की पाण्डुलिपियां उपलभ्य हैं, जो अपूर्ण हैं। इनमें चौदह विद्याओं की चर्चा की गयी है। इसका जाति-सम्बन्धी वर्णन बौ० ध० सू० से बहुत मिलता है। मनु और उशना के बहुत से अंश एक ही हैं। औशनस सूत्र के बहुत से गद्यांश मनु के श्लोकों में समाविष्ट हैं। इस धर्मसूत्र में वशिष्ठ, हारीत, शौनक एवं गौतम के मत भी उद्धृत हैं। एक और औशनस धर्मशास्त्र भी जीवानन्द के 'धर्मशास्त्र संग्रह' तथा आनन्दाश्रम के 'स्मृतीनां समुच्चयः' में छपा है। एक 'औशनस स्मृति' भी प्रसिद्ध है जिसमें पुराण, मीमांसा, वेदान्त, पांचरात्र कापालिक एवं पाशुपत सम्प्रदायों की चर्चा है।

मनु के टीकाकार कुल्लूक (१०, ४९) तथा मिताक्षरा (याज्ञ० ३, २६०) एवम् अपरार्क ने उशना के पद्य-गद्यांश उद्धृत किये हैं।

३. **कण्व**—कण्व और काण्व दो धर्मशास्त्रकार प्रसिद्ध हैं। आप० ध० सू० (१, ६, १९, ३) में कण्व का मत उद्धृत है कि निमन्त्रण मिलने पर भोजन किसी के भी घर खाया जा सकता है, जबकि कुणिक, काण्व, कुत्स और पुष्करसादि के मतानुसार भोजन केवल पवित्र, धर्मपरायण व्यक्ति के घर ही खाना चाहिये[1]। स्मृतिचन्द्रिका में कण्व को आह्निक कृत्यों तथा श्राद्ध के विषय में उद्धृत किया गया है। इनमें से एक उद्धरण गद्य में है[2]। हरदत्त ने गौ० ध० सू० के भाष्य में कण्व के पद्यों को अनेक बार उद्धृत किया है[3]। मिताक्षरा (याज्ञ० ३, ५८) ने काण्व को उद्धृत किया है।

४. **कश्यप**—बौ० ध० सू० (१, ११, २०) में कश्यप के मत को उद्धृत किया गया गया है, किन्तु इसी श्लोक को स्मृतिचन्द्रिका में कात्यायन के नाम से उद्धृत किया है[4]। महाभारत के वन-पर्व में काश्यप की चर्चा की गयी है[5]। संभवतः कश्यप और काश्यप एक ही व्यक्ति हैं। विश्वरूप में काश्यप का गद्यांश उद्धृत है[6]। मिताक्षरा ने भी गद्यांश को उद्धृत किया है[7], किन्तु स्मृति-चन्द्रिका के उद्धरण पद्य में हैं। हरदत्त ने गद्य का सूत्र उद्धृत किया है (२२, ८)। अपरार्क ने कश्यप और काश्यप दोनों के सूत्र उद्धृत किये हैं[8]।

---

१. १, ६, १९, ७; द्र० आप० ध० सू० १, १०, २८, १।
२. भाग १, पृ० ९७।
३. गौ० ध० सू० २१, ३; २३, ३; २३, ११।
४. भाग १, पृ० ८७।
५. १९, ३५-४०।
६. याज्ञ० ३, २६२ पर।
७. याज्ञ० ३, २३ पर।
८. याज्ञ० १, ६४; २२२-२२५; ३, २५, २८८ प्रभृति।

काश्यप-स्मृति गद्य में उपलभ्य है। काश्यप धर्मसूत्र को ति० रा० चिन्तामणि ने मद्रास से प्रकाशित किया है[1]।

५. **गार्ग्य**—विश्वरूप ने (याज्ञ० १, ४-५) वृद्धयाज्ञवल्क्य के उद्धरण में गार्ग्य को भी धर्मशास्त्री माना है तथा अनेक सूत्रों को उद्धृत किया है। मिताक्षरा (३, ३२६), अपरार्क तथा स्मृतिचन्द्रिका ने आह्निक, श्राद्ध तथा प्रायश्चित्त के विषय में गार्ग्य के कई श्लोक उद्धृत किये हैं।

६. **च्यवन**—मिताक्षरा[2], अपरार्क[3] ने च्यवन के सूत्रों को उद्धृत किया है। अपरार्क ने[4] गोहत्या के विषय में प्रायश्चित्त के सम्बन्ध में च्यवन का गद्य वचन तथा[5] आत्महत्या करने वाले के शव को स्पर्श करने पर तथा चाण्डाल द्वारा स्पर्श किये जाने पर गृह, बरतन तथा भोजन सामग्री को शुद्ध करने के उपायों के विषय में च्यवन को उद्धृत किया है।

७. **जातूकर्ण्य**—विश्वरूप[6] ने वृद्धयाज्ञवल्क्य का वचन उद्धृत किया है, जिस में 'जातूकर्ण्य' को धर्म-प्रवक्ता कहा गया है। विश्वरूप ने जातूकर्ण्य के गद्य-वचनों को अनेक वार उद्धृत किया है[7]। इससे सिद्ध होता है कि जातूकर्ण्य ने आचार तथा श्राद्ध विषयक सूत्रों का निर्माण अवश्य किया था। मिताक्षरा, अपरार्क तथा हरदत्त ने जातूकर्ण्य के श्लोकों को उद्धृत किया है, जिससे सिद्ध होता है कि इस समय तक सूत्र-ग्रन्थ लुप्त हो चुका था[8]। श्लोकात्मक रचना ३००-४०० ई० की हो सकती है।

८. **देवल**—मिताक्षरा[9] ने देवल के सूत्रों को उद्धृत किया है। अपरार्क[10] ने देवल के अनेक गद्य-वचनों को उद्धृत किया है। स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० ५२) ने भी ब्रह्मचारी के कर्तव्यों पर देवल का एक दीर्घ गद्य वचन उद्धृत किया है। देवल के श्लोक भी इन्हीं व्याख्याकारों ने उद्धृत किये हैं जो आचार, व्यवहार, श्राद्ध,

---

१. जे० ओ० आर० १९३९।
२. याज्ञ० ३, ३०।
३. याज्ञ० १, २०७।
४. याज्ञ० ३, २६४-६५।
५. याज्ञ० ३, २९२।
६. याज्ञ० १, ४-५।
७. याज्ञ० स्मृ० १, १; २; २९; ३७; ७९; २१५।
१. कांणे, वही, पृ० १२०।
८. याज्ञ० १, १२०; तथा १, १२८।
९. याज्ञ० ३, ५८; १०९; २२७।

प्रायश्चित्त प्रभृति अनेक विषयों से सम्बद्ध हैं। यह एक स्वतन्त्र रचना प्रतीत होती है।[1]

आनन्दाश्रम के 'स्मृतिसमुच्चय' में एक देवल-स्मृति भी छपी है। जिस में ९० श्लोक हैं। यह रचना अर्वाचीन प्रतीत होती है। इस रचना के कुछ पद्य तो अन्य लोगों के नाम से उद्धृत किये मिलते हैं[2]। वैसे देवल का नाम महाभारत में आया है (सभापर्व, ७२, ५)।

९. पैठीनसि—यह प्राचीन सूत्रकार हैं। विश्वरूप[3] ने गोहत्या के प्रायश्चित्त के विषय में इनका सूत्र उद्धृत किया है। कैलैण्ड[4] तथा जॉली[5] पैठीनसि का सम्बन्ध अथर्ववेद से जोड़ते हैं। मिताक्षरा[6] ने इसके सूत्र उद्धृत किये हैं। स्मृतिचन्द्रिका[7], अपरार्क[8], हरदत्त तथा अन्य व्याख्याकारों ने इनके अनेकों सूत्रों को विविध विषयों पर उद्धृत किया है। अपरार्क (पृ० ९२१) ने पैठीनसि के एक श्लोक को भी उद्धृत किया है।

१०. बृहस्पति—महाभारत (शां० ८०-८५) में कहा गया है कि बृहस्पति ने धर्म, अर्थ और काम पर रचित ब्रह्मा के ग्रन्थ को ३००० अध्यायों में संक्षिप्त किया था। एक बृहस्पति-नीति का भी उल्लेख किया गया है। अश्वघोष ने बृहस्पति के राजशास्त्र का उल्लेख किया है। महाभारत के अनुसार बृहस्पति के मत में राजा की अर्थ-सिद्धियां चार प्रकार से हो सकती हैं (शां० १७०, १२); और राजा को मुख्यतः दो ही विद्याओं की अपेक्षा है—वार्ता और दण्डनीति। और उनके १६ मंत्री होने चाहिये। बृहस्पति के अनुसार राजनीति की आधारशिला अविश्वास है[9]।

विश्वरूप तथा हरदत्त के उद्धरणों से पता चलता है कि बृहस्पति ने धर्म और व्यवहार पर सूत्रों की रचना की थी। विश्वरूप[11] और हरदत्त[11] दोनों बृहस्पति

---

१. वही, पृ० १२१।
२. वही।
३. याज्ञ० ३, २६२।
४. Ahuen cult, p. 99 ; 109.
५. रेख्त०, पृ० १२।
६. याज्ञ० १, ५३; ३, १७।
७. भाग २, पृ० २५२; २६३।
८. पृ० ११२; २३९; ७४४; ७५४।
९. पञ्चतन्त्र २, ४१।
१०. याज्ञ० २, ३८।
११. गौ० ध० सू० २२, १८।

के व्यवहार और प्रायश्चित्त विषयक श्लोकों को भी उद्धृत किया है (याज्ञ० ३, २६२)। याज्ञ० (१,४-५) ने बृहस्पति को धर्म-वक्ता माना है। मिताक्षरा तथा अन्य व्याख्याकारों ने बृहस्पति के शतशः श्लोकों को उद्धृत किया है जो व्यवहार, आचार और प्रायश्चित्त सभी विषयों का प्रतिपादन करते हैं। डा० काणे के मत में यह श्लोकात्मक रचना स्वतन्त्र कृति है, जिस का रचनाकाल ३००-५०० ई० हो सकता है।

व्यवहार के विषय में फूह्लर ने बृहस्पति के ८४ श्लोक और जॉली ने ७११ श्लोक एकत्र किये थे[1]। इन श्लोकों में बृहस्पति मनु० का अनुसरण करता प्रतीत होता है और कई अंशों तक मनु० के वार्तिककार के रूप में प्रकट होता है।[2]

बृहस्पति प्रथम शास्त्रकार है जिसने अर्थमूलक तथा हिंसामूलक व्यवहार में स्पष्ट भेद किया है और मनु के बाद हुआ है। जॉली ने इसका काल षष्ठी-सप्तमी शती में माना है[3] किन्तु काणे ने इसे २००-४०० ई० के मध्य में माना है[4], क्योंकि विश्वरूप ने गद्यवचनों तथा पद्यवचनों के कर्ता में कोई भेद किये बिना दोनों को ही अत्यन्त प्राचीन एक ही व्यक्ति की कृतियां माना है।

११. भारद्वाज—भारद्वाज के श्रौत और गृह्यसूत्र तो प्रकाशित हो चुके हैं। धर्मसूत्र के अनेकानेक उद्धरण विश्वरूप[5] ने दिये हैं। स्मृतिचन्द्रिका तथा हरदत्त तथा अन्य लेखकों ने भारद्वाज के पद्यों को उद्धृत किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भारद्वाज एक प्राचीन अर्थशास्त्री के रूप में प्रकट होते हैं, वहां इन्हें सात वार उद्धृत किया गया है। यशस्तिलक चम्पू ने भारद्वाज के दो श्लोकों को उद्धृत किया है जिससे पता चलता है कि दशमी शती में भारद्वाज का राजनीति विषयक ग्रन्थ विद्यमान था।

१२. सुमन्तु—विश्वरूप[6], गौ० ध० सू०[7], हरदत्त तथा अपरार्क के भाष्यों से ज्ञात होता है कि आचार और प्रायश्चित्त पर सुमन्तु ने अवश्य ही सूत्र-रचना की थी। विश्वरूप ने इसके पद्यांशों को भी उद्धृत किया है। अशौच के विषय में सुमन्तु के सूत्रों को 'हारलता' (पृ० ६८) ने भी उद्धृत किया है, किन्तु याज्ञ० और

१. एस० बी० ई० ३३।
२. काणे, पृ० २०७।
३. एस० बी० ई०, भाग ३३।
४. हि० ध० शा० १, पृ० २१०।
५. याज्ञ० १, १५; १, ३२; १, ८५; १, २३६।
६. याज्ञ० स्मृ० ३, २३७; २५०; २५२-५४; २६१।
७. गौ० ध० सू० २२, १३; १८।

पराशर ने सुमन्तु की चर्चा नहीं की, किन्तु भागवत पुराण[1] में सुमन्तु को जैमिनि का शिष्य तथा अथर्ववेद का प्रवक्ता कहा गया है और अत्यन्त प्राचीन माना गया है।

धर्म के विषय में अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य कृतियों में सुमन्तु के पद्यों को भी उद्धृत किया गया है। यह पद्यात्मक रचना संभवतः सूत्र-रचना से भिन्न है[2]। 'सरस्वतीविलास' में सुमन्तु के व्यवहार-विषयक अनेक पद्य उद्धृत किये गये हैं।

सुमन्तु धर्मसूत्र वि० रा० चिन्तामणि द्वारा मद्रास (जे० ओ० आर० १९३४) से प्रकाशित किया गया है इसका परिशिष्ट भी वहीं से प्रकाशित हुआ है।

---

१. भाग पु० १२, ६, ७५; ७, १।

२. काणे, पृ० १३१।

एकोनत्रिंश अध्याय

धर्मसूत्रों के प्रतिपाद्य विषय

वर्ण-व्यवस्था

हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था, खान-पान, रहन-सहन, क्रिया-कलाप, पारस्परिक व्यवहार, यहां तक कि कानून का भी आधार वर्ण-व्यवस्था या जाति-पांति पर अवस्थित है। धर्मसूत्रों में वर्ण-व्यवस्था के आधार पर ही विविध विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस वर्ण-व्यवस्था या जाति-प्रथा को आजकल बहुत गर्हित मान कर इसकी भरपूर भर्त्सना की जाती है, तो भी इसे कुत्साओं का पुलिन्दा अथवा सर्वविध सामाजिक दुर्व्यवहारों एवं कुरीतियों का भण्डार मान कर इसे निन्दनीय घोषित कर देना अनुचित होगा।

यद्यपि आज की सामाजिक पर्यावरण, आर्थिक परिस्थितियों, राजनीतिक परिवर्तनों तथा धार्मिक भावनाओं के परिवर्तनशील परिप्रेक्ष्य में इस संस्था के अस्तित्व का वर्तमान रूप में कोई औचित्य दृष्टिगोचर नहीं होता, तो भी भारतीय इतिहास के उतार-चढ़ावों के सूक्ष्म अन्वीक्षक अपने समय में इसके लाभकारी गुणों से भी अपरिचित नहीं हैं।

यद्यपि वर्ण शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में कई स्थानों पर हुआ है[1] तथा गौर एवं कृष्ण वर्ण वाली दो जातियों का स्पष्ट उल्लेख भी किया गया है[2], एवं कृष्ण लोगों को 'दास वर्ण' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। तथा आर्यों और दासों या दस्यु लोगों की पारस्परिक शत्रुता का भी स्पष्ट उल्लेख आता है[3] और प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में आर्य तथा दास या दस्यु दो परस्पर विरोधी जन-समुदाय भारत में संघर्षरत थे, किन्तु इस 'वर्ण' शब्द का 'जाति'-वाचक अर्थ उस समय में उभर कर सामने नहीं आया था। न ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र शब्दों का प्रयोग पुरुष-सूक्त[4] के अतिरिक्त ऋग्वेद में कहीं हुआ है। दस्यु लोग 'अव्रत' (देवताओं के नियमों को न मानने

---

१. ऋग्० १, ७३, ७; २, ३, ५; ९, ९७, १५; ९, १०४, ४; १०, १२४, ७।
२. ऋग्० २, १२, ४।
३. ऋग्० १, ५१, ८; १, १०३, ३; १, ११७, २१ आदि।
४. ऋग्० १०, ९०।

वाले) **मृध्रवाचः** (अस्पष्ट तथा कर्कशभाषा-भाषी) तथा **अनासः** (चपटी नाक वाले) भी कहे गये हैं। यज्ञ याग न करने के कारण आर्य लोग उन्हें **अक्रतु** भी कहते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय शब्दों का स्पष्ट जातिवाचक अर्थों में प्रयोग हुआ है। ब्राह्मण सोमपायी थे तो क्षत्रिय को न्यग्रोध वृक्ष के तन्तुओं तथा उदुम्बर, अश्वत्थ तथा प्लक्ष के फलों का रस पीना पड़ता था। तै० ब्रा०[1] में कहा गया है कि ब्राह्मण दैवो वर्ण है तो शूद्र असुर्य वर्ण। तै० ब्रा०[2] में ही 'ब्रह्म' तथा 'क्षत्र' शब्द क्रमशः ब्राह्मण तथा क्षत्रियवाची माने गये है। अथर्ववेद[3] में ही ब्राह्मण, राजन्य तथा वैश्य शब्द वर्ग-विशेष के द्योतक हो गये हैं।

यद्यपि 'वैश्य' शब्द ऋग्वेद के केवल पुरुष-सूक्त में ही प्रयुक्त हुआ है, तो भी 'विशः' शब्द का जन-समूह के अर्थ में कई बार प्रयोग किया गया है। किन्तु अथर्ववेद तथा तै० सं० में वैश्य शब्द का जाति-वाचक अर्थ में अनेक बार प्रयोग हुआ है।

जिन 'दास' तथा 'दस्यु' लोगों की ऋग्वेद में आर्य-विरोधी वर्ग के रूप में चर्चा की गयी है, वही कालान्तर में 'शूद्र' कहलाने लगे और विजेता आर्यों की सेवा करने लगे। यद्यपि इस प्रकार वे आर्यों के द्वारा अपना लिये गये थे तो भी उनको समाज में निकृष्टतम स्थान प्रदान किया गया। तै० सं० में स्पष्ट कहा गया है कि जैसे पशुओं में अश्व होता है, वैसे ही मनुष्यों में शूद्र। इसीलिये शूद्र को यज्ञ का अधिकार नहीं है[4]। न ही उन्हें गायत्री का प्रवचन किया जाता है[5]। इस प्रकार जाति-प्रथा का व्यावहारिक पक्ष ब्राह्मणों में स्पष्ट हो जाता है।

जाति-प्रथा या वर्ण-व्यवस्था का उदय का मूलतः यद्यपि संहिता-ब्राह्मण-काल में हो चुका था तो भी बहुत काल बाद तक भी यह प्रथा समाज में विविध पेशों पर ही आधृत थी, और एक ही कुल में अनेक पेशों के अपनाने वाले लोगों की चर्चा स्वयं ऋग्वेद में की गयी है[6]।

---

१. तै० ब्रा० १, २, ६।

२. वही ३, ९, १४।

३. अथर्व० ५, १७, ९।

४. तै० सं० ७,१,१,६। **'शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनां तस्मात्तौ भूतसंक्रामिणौ...तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'**।

५. ऐ० ब्रा० ५, १२।

६. ऋग्० ९, ११२, २।

'मैं स्तोता हूं, मेरे पिता वैद्य (भिषक्) हैं, मेरी माता चक्की पीसती है, निरुक्त-काल तक भी यह प्रथा जन्मना नहीं मानी जाती थी, अपितु कर्म पर आधृत थी। राजा ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि ने राज्य त्याग कर पौरोहित्य को अपना कर अपने भ्राता शन्तनु का यज्ञ कराया था[1]।

ऐ०ब्रा०[2] में ही विश्वामित्र ने अपने पचास पुत्रों को अपनी आज्ञा की अवहेलना करने के अपराध के फलस्वरूप अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब जैसी दस्यु जातियों में धकेल दिया था। यद्यपि उत्तरवर्ती काल में जन्मना जाति की भावना बद्धमूल हो चुकी थी तो भी मनु[3] ने एक परम्परा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार पौण्ड्रक, चौड्र, द्रविड़, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद तथा खश जो मूलतः क्षत्रिय थे, कालान्तर में वैदिक संस्कारों का अभाव तथा ब्राह्मणों से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हो गये।

इसी परम्परा के आधार पर महाभारत के साक्ष्य के अनुसार कुछ क्षत्रिय ब्राह्मण बनते प्रमाणित होते हैं। यथा, राजा वीतहव्य,[4] आर्ष्टिषेण, सिन्धुद्वीप, देवापि तथा विश्वामित्र[5]।

ब्राह्मण-काल में वर्ण-व्यवस्था इतनी सुदृढ़ हो चुकी थी कि देवता भी इस व्यवस्था के अन्तर्गत नियमों में प्रतिबद्ध हो गये थे। अग्नि तथा बृहस्पति देवताओं में ब्राह्मण अतः पुरोहित थे, इन्द्र, वरुण, यम क्षत्रिय होने के कारण अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र के राजा माने जाते थे, वसु, रुद्र, विश्वेदेव तथा मरुत् विश् (वैश्य) थे, तथा पूषा शूद्र था।

आजकल वर्ण तथा जाति शब्द प्रायेण पर्यायवाची बन गये हैं, तो भी इन में स्पष्ट अन्तर करना चाहिये। 'वर्ण' के अन्तर्गत यद्यपि रंग की भावना विद्यमान है, तो भी आवश्यक नहीं कि प्रत्येक द्विज गौर-वर्ण का हो या प्रत्येक शूद्र कृष्ण-वर्ण का।

---

१. निरुक्त २, १०।

२. ऐ० ब्रा० ३३, ६।

३. मनु० १०, ४३-४५।

४. महाभारत, अनुशासन० ३०, ५७-५८।

५. वही, शल्य० ३९, ३६-३७। देवापि का उल्लेख निरुक्त में भी किया गया है (२, १०)। पुराणों में मान्धाता, संकृति, कपि, वध्र्यश्व, पुरुकुत्स तथा अजमीढ के भी ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का उल्लेख आया है। ऐतिहासिक काल में दक्षिण का कादम्बकुल, जो ब्राह्मण था, कालान्तर में क्षत्रिय हो गया।

सम्पूर्ण हिन्दू समाज में वर्ण चार ही हैं, किन्तु जातियां असंख्य हैं। वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, स्वभाव तथा व्यवसाय पर आधृत है, जिनसे प्राचीन काल से किसी को सम्बद्ध कर दिया गया है। इसके अन्तर्गत नैतिक चरित्र, बौद्धिक योग्यता, शारीरिक शक्ति तथा व्यावसायिक दक्षता की भावना निहित है। इसलिये इनमें से किसी एक का मुख्य रूप से उपार्जन एवं तदनुरूप प्रवृत्तियों का सर्जन व्यक्ति के वर्ण-निर्धारण में नियामक तत्त्व हो सकते हैं। विश्वामित्र ने क्षत्रियत्व का परित्याग करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त करने के हेतु वर्षों तक ब्राह्मणोचित तपश्चर्या तथा बौद्धिक योग्यता, अनुकूल मानसिक प्रवृत्तियों की अपने भीतर सृष्टि की थी। इसके विपरीत जाति शब्द के अन्तर्गत ही जन्म तथा आनुवंशिकता का भाव निहित है, जो कर्त्तव्यों के आचरण की अवहेलना करके भी केवल पैतृक एवं आनुवंशिक अधिकारों की स्वतः प्राप्ति का परिचायक है। कालान्तर में वर्ण तथा जाति शब्दों का पर्यायवाची अर्थों में प्रयोग होने लगा। परिमाणस्वरूप जाति के साथ जन्मना सम्बद्ध विशेषाधिकारों के कारण उच्च वर्ग के लिये जाति-प्रथा का प्राधान्य अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ और वर्ण-व्यवस्था की मूल भावना गौण होती गयी।

कुछ ऐसे व्यवसायों तथा शिल्पों से सम्बद्ध समुदाय भी थे जो कालान्तर में जाति-सूचक हो गये। यथा वप्ता[1] (नाई), तक्षा[2] (बढ़ई), त्वष्टा,[3] भिषक्[4] (वैद्य), कर्मार (लोहार)[5] एवं चर्मम्न[6] (चमार)।

तै० सं०[7] में क्षत्ता, संग्रहीता, तक्षा, कुलाल (कुम्हार), कर्मार, निषाद, इषुकृत्, धन्वकृत्, मृगयु (शिकारी) तथा श्वनि (कुत्तों से शिकार करने वाला) के नाम आये हैं। तै० ब्रा०[8] में आयोगू, मागध (भाण), सूत, शैलूष (अभिनेता), रेभ, भौमल, रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, मणिकार, रज्जुसर्ग (रस्सी बाँटने वाला), सुराकार, अयस्ताप, विदलकार के नामों का उल्लेख हुआ है।

---

१. ऋग्० १०, १४२, ४।
२. ऋग्० १, ६१, ४; ७, ३२, २०; ९, ११२, १।
३. ऋग्० ८, १०२, ८।
४. ऋग्० ९, ११२, १।
५. ऋग्० १०, ७२, २।
६. ऋग्० ८, ५, ३८।
७. तै० सं० ४, ५, ४, २।
८. तै० ब्रा० ३, ४, १।

यद्यपि ये सब व्यवसाय तथा शिल्प के सूचक हैं तो भी ब्राह्मण-काल में ही ये जाति-सूचक हो गये थे। तथा इन में से बहुतों का मूल अनुलोम या प्रतिलोम विवाहों से सम्बद्ध कर दिया गया।

जब कोई उच्च जाति का व्यक्ति अपने से निम्न जाति की नारी से विवाह करता है तो उसे अनुलोम विवाह कहते हैं, और उससे उत्पन्न सन्तति को अनुलोम सन्तान। किन्तु जब कोई निम्न जाति का पुरुष उच्च जाति की स्त्री से विवाह करता है तो वह प्रतिलोम विवाह कहलाता है और उससे उत्पन्न सन्तान प्रतिलोम सन्तान।

धर्मसूत्रों में इस प्रकार के जाति-बाह्य विवाहों की वैधता के विषय में मतैक्य नहीं पाया जाता। गौतम,[1] तथा वसिष्ठ[2] ने स्वजातीय विवाह को ही उचित माना है, किन्तु अनुलोम विवाह को निषिद्ध नहीं कहा। किन्तु आप० ध० सू०[3] ने अनुलोम विवाह का निषेध किया है।

प्रतिलोम विवाह को तो सभी ने गर्हित माना है। अनुलोम जातियाँ द्विजों के समान समस्त कर्म-कलाप तथा संस्कारों के अनुष्ठान का अधिकार रखती थीं, किन्तु प्रतिलोम जातियां शूद्रवत् होने के कारण किसी भी संस्कार या धार्मिक कृत्य का अधिकार नहीं रखती थीं।

वि० ध० सू०[4] ने इन्हें 'आर्य विगर्हित' माना है तथा गौ० ध० सू०[5] ने इन्हें धर्म-विहीन घोषित किया है।

इनके अतिरिक्त कुछ सन्तानें 'चोरिका-विवाह' से भी उत्पन्न होती थीं। उनके विषय में भी धर्मसूत्रों में चर्चा की गयी है। यथा ब्राह्मण स्त्री तथा क्षत्रिय पुरुष से उत्पन्न सन्तान को 'सूत' कहा जाता है, किन्तु इन दोनों के प्रच्छन्न सम्मिलन से उत्पन्न सन्तान 'रथकार' कहलाती थी। यद्यपि धर्मशास्त्रों में इस विषय में मतैक्य नहीं है तो भी अधिकांश आचार्यों ने ब्राह्मण पुरुष तथा शूद्र नारी से उत्पन्न अनुलोम सन्तान को 'निषाद' की संज्ञा दी है।

यद्यपि 'रथकार' तथा 'निषाद' दोनों ही जातियां तीन द्विज जातियों से भिन्न मानी गयी हैं तो भी इन्हें किसी समय यज्ञ-याग का अधिकार प्राप्त था जो

---

१. गौ० ध० सू० ४, १।
२. वा० ध० सू० १, २४।
३. आप० ध० सू० २, ६, १३, १; ३-४।
४. वि० ध० सू० १६, ३।
५. गौ० ध० सू० ४, २०।

कालान्तर में छीन लिया गया। रथकार और निषाद दोनों अग्निहोत्र तथा **दर्शपूर्णमास** याग कर सकते थे,[1] तथा **विश्वजित्** यज्ञ करने वाला व्यक्ति निषादों की वस्ती में रह कर उनके निम्नतम भोजन को ग्रहण कर सकता था[2]। निषाद को रुद्र के लिये इष्टि करने का अधिकार था किन्तु ऐ० ब्रा०[3] में निषादों को दुष्कर्मी कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि इन वर्ण-संकर जातियों के सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारों के विषय में ब्राह्मण ग्रन्थों में ही मतभेद उत्पन्न हो गये थे और धीरे-धीरे इन्हें इस प्रकार के सभी अधिकारों से वञ्चित कर दिया गया था। अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न जातियों, तथा प्रधान चार वर्णों के पारस्परिक सम्मिलन से अनेकानेक उपजातियों की सृष्टि की चर्चा विष्णु-धर्मसूत्र में की गयी है[4]। पश्चाद्वर्ती स्मृतियों में तो इस विषय का विस्तार से वर्णन किया गया है।

यद्यपि धर्मसूत्रों में वर्ण-संकर जातियों को मान्यता प्रदान करके उनकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण कर दिया गया है तो भी समाज में वर्ण-संकरता को रोकने तथा वर्णाश्रम-धर्म के नियमों के पालन करने तथा उन्हें भंग करने वाले अपराधियों को दण्ड देने का दायित्व राजा को सौंप दिया गया है[5]।

इसके साथ ही साथ धर्मसूत्रकारों ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि प्रमाद-वश अथवा किसी दुर्निवार-कारण-वश एक बार अपनी सामाजिक स्थिति को खो देने पर अपने स्खलन पर पश्चात्ताप करने वाले व्यक्ति को अपनी परिस्थिति को सुधारने तथा हीन दशा से उबरने के प्रयास का अवसर दिया जाना सर्वथा उचित तथा न्याय-संगत है। अतः गौ० ध० सू०[6] ने जात्युत्कर्ष तथा जात्यपकर्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार जब अनुलोम लोग इस प्रकार विवाह करते हैं कि प्रत्येक पीढ़ी में वर अपने से उच्चतर जाति की स्त्री से विवाह करता रहे तो सातवीं पीढ़ी में उसका जात्युत्कर्ष हो जाता है और यदि प्रत्येक पीढ़ी में वर अपने से निम्न जाति की स्त्री से विवाह करता रहे तो उसका पांचवीं पीढ़ी में जात्यपकर्ष हो जाता है[7]।

---

१. सत्या० श्रौ० सू० ३, १।
२. शां० ब्रा० २५, १५।
३. ऐ० ब्रा० ३७, ७।
४. वि० ध० सू० १६, ७।
५. गौ० ध० सू० ११, ९, १९; वा० ध० सू० १९, ७-८; वि० ध० सू० ३, ३।
६. गौ० ध० सू० ४, १८-१९।
७. मनु० (१०, ६४) के मत में उत्कर्ष और अपकर्ष दोनों ही सात-सात पीढ़ियों में होते हैं। याज्ञवल्क्य (१, ९६) ने विवाह के अतिरिक्त व्यवसाय को भी जात्यपकर्ष तथा उत्कर्ष का कारण माना है।

वा०धर्म०सू०[1], वि० ध० सू०,[2] तथा गौ० ध० सू०[3] के अनुसार आपत्काल में एक वर्ण अपने से निकट के निम्न वर्ण के व्यवसाय को अपना सकता है, किन्तु अपने से उच्च वर्ण की वृत्ति नहीं अपना सकता। इसमें भी शर्त यह है कि आपत्ति दूर हो जाने पर उसे अपनी मूल वृत्ति पर लौट आना चाहिये।

बौ० ध० सू०[4] के अनुसार एक निषाद किसी निषादो से विवाह करता है और यह क्रम चलता रहता है तो पांचवी पीढ़ी शूद्र की गर्हित स्थिति से छुटकारा पा लेती है और उस सन्तान का उपनयन संस्कार हो सकता है और वह वैदिक यज्ञ के अधिकार को पुनः प्राप्त कर लेती है।

यह सब विधि-विधान होते हुए भी इनकी व्यावहारिकता सन्देहास्पद ही है। क्योंकि पांच या सात पीढ़ियों तक का वंश-क्रम स्मरण रखना हंसी-ठट्ठा नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि ऐसे विधान केवल आदर्श रूप में ही पड़े रहे होंगे[5]। अनेकानेक ऐसी उपजातियों का उल्लेख धर्मसूत्रों में आया है जो इसके अन्तर्जातीय विवाह के परिणाम-स्वरूप आविर्भूत हुई कही जाती हैं। किन्तु इनके मूल के विषय में स्वयं सूत्रकारों में मतैक्य नहीं पाया जाता, यथा—

आयोगव—गौ० ध० सू०[6] तथा वि० ध० सू०[7] के अनुसार यह शूद्र पुरुष तथा वैश्य नारी की प्रतिलोम सन्तान है। किन्तु बौ० ध० सू०[8] तथा वै० ध० सू०[9] के मत में यह वैश्य पुरुष तथा क्षत्रिय नारी की प्रतिलोम सन्तान है। इनकी वृत्ति के विषय में भी मतैक्य नहीं है। मनु[10] के अनुसार यह लकड़ी काटता है, उशना[11] के अनुसार यह जुलाहा या ताम्र-कांस्यकार या धान का उत्पादक या कपड़े का

१. वा० ध० सू० २, १३-२३।
२. वि० ध० सू० २, १५।
३. गौ० ध० सू० १०, १-७।
४. बौ० ध० सू० १८, १३-१४।
५. काणे, ध० शा० इ० १, पृ० १२३।
६. गौ० ध० सू० ४, १५।
७. वि० धि० सू० १६, ४।
८. बौ० ध० सू० १, ९, ७।
९. वै० ध० सू० १०, १४।
१०. मनु० १०, ४८।
११. काणे वही, पृ० १२७।

व्यापारी है। वि० ध० सू०[1] के अनुसार यह अभिनय-वृत्ति करता है। सह्याद्रिखण्ड[2] के अनुसार यह ईंट-पत्थर का काम करता है।

उग्र—इसकी चर्चा छां० उप०,[3] बृ० आर० उप०[4] में हुई हैं। बौ० ध० सू०[5] के अनुसार यह क्षत्रिय पुरुष तथा शूद्र नारी की अनुलोम सन्तान है। किन्तु उशना[6] इसे ब्राह्मण पुरुष तथा शूद्र नारी की सन्तान मानता है, जबकि गौ० ध० सू०[7] की व्याख्या में हरदत्त ने इसे वैश्य से शूद्र नारी में उत्पन्न माना है। इसकी वृत्ति के विषय में मनु[8] का मत है कि यह बिलों में रहने वाले जीवों को मार कर खाता है, उशना[9] इसे जल्लाद मानता है। सह्याद्रिखण्ड[10] में इसे 'राजपूत' माना है।

कुशीलव—बौ० ध० सू०[11] के अनुसार यह अम्बष्ठ (ब्राह्मण तथा वैश्य नारी की सन्तान) तथा वैदेहक (वैश्य-ब्राह्मण नारी की सन्तान) नारी को सन्तान है। कौटल्य[12] ने इसके सर्वथा विपरीत इसे वैदेहक पुरुष तथा अम्बष्ठ नारी की सन्तान माना है। इसने अम्बष्ठ पुरुष तथा वैदेहक नारी की सन्तान को **वैण** कहा है।

अम्बष्ठ—बौधायन के उपर्युक्त मत के विरुद्ध गौ० ध० सू०[13] की व्याख्या में हरदत्त ने इसे क्षत्रिय तथा वैश्य-नारी की सन्तान कहा है। मनु[14] ने इसका व्यवसाय दवा-दारू बताया है, जबकि उशना[15] ने इसे कर्षक या आग्नेयनर्तक, या ध्वजविश्रावक या शल्यजीवी कहा है।

---

१. वि० ध० सू० १६, ८।
२. सह्याद्रिखण्ड २६, ६८-६९।
३. छां० उप० ५, २४, ४।
४. बृ० आर० उप० ३, ८, २।
५. बौ० ध० सू० १, ९, ५।
६. उशना ४१।
७. गौ० ध० सू० ४, १४।
८. मनु० १०, ४९।
९. उशना ४१।
१०. वही।
११. काणे, वही, पृ० १२९।
१२. कौ० ३, ७।
१३. गौ० ध० ४, १४।
१४. मनु० १०, ४७।
१५. उशना ३१-३२ ; हरदत्त ने आप० ध० सू० (१, ६, १९, १४) की व्याख्या में **अम्बष्ठ** और **शल्यकृत्** को समानार्थक माना है।

वैदेहक—बौ० ध० सू०[1] तथा वि० ध० सू०[2] के अनुसार यह वैश्य पुरुष तथा ब्राह्मण-नारी की प्रतिलोम सन्तान है। किन्तु गौ० ध० सू०[3] के अनुसार यह शूद्र-पुरुष एवं क्षत्रिय-नारी की सन्तान है, जबकि वै० ध० सू०[4] एवं कुछ आचार्यों के मत में[5] यह शूद्र-पुरुष तथा वैश्य-नारी की सन्तान है। मनु[6] के अनुसार इस का व्यवसाय अन्तःपुर की स्त्रियों की रक्षा करना है, जब कि वै० ध० सू०[7] के अनुसार यह भेड़, बकरी, गाय चराने वाला तथा दूध, दही, मक्खन बेच कर पेट पालने वाला होता है।

अब हम कुछ ऐसे व्यवसायकों की चर्चा करते हैं जिन्हें सूत्रकारों ने अनुलोम या प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान माना है।

आश्विक— (घोड़ों का व्यापारी) इसे क्षत्रिय-पुरुष तथा वैश्य-नारी के गुप्त प्रेम का प्रतिफल माना गया है।[8]

उद्बन्धक—(कपड़ा धोने वाला) इसे सूनिक (कसाई) तथा क्षत्रिय-नारी की सन्तान कहा गया है,[9] जबकि मतान्तर[10] के अनुसार यह एक खनक (आयोगव-पुरुष तथा क्षत्रिय-नारी जन्य) तथा क्षत्रिय-नारी की सन्तान है।

कटकार (चटाई-निर्माता)—इसे वैश्य-पुरुष तथा शूद्र-नारी के चोरिक विवाह से उत्पन्न माना गया है[11]।

कुम्भकार—यह ब्राह्मण तथा वैश्य-नारी के गुप्त प्रेम का प्रतिफल है[12]।

---

१. गौ० ध० सू० १, ९, ८।
२. वि० ध० १६, ६।
३. गौ० ध० सू० ४, १५।
४. वै० ध० सू० १६, ६।
५. गौ० ध० सू० ४, १७ तथा उशन २०।
६. मनु० १०, ४७।
७. वै० ध० सू० १०; १४।
८. वै० ध० सू० १०, १२।
९. उशना १५।
१०. वै० ध० सू० १०, १५।
११. वै० ध० सू० १०, १३।
१२. वै० ध० सू० १०; १२।

चर्मकार—(चमार) इसे शूद्र तथा क्षत्रिय की कन्या एवं वैदेहक तथा ब्राह्मण-कन्या की सन्तान माना गया है[1]। यह अन्त्यज है। सूतसंहिता में इसे आयोगव पुरुष तथा ब्राह्मण-स्त्री की सन्तान कहा गया है।

तक्षा या तक्षक—उशना[2] ने इसे ब्राह्मण एवं सूचक (वैश्य-पुरुष एवं शूद्र-नारी जन्य) की सन्तान माना है।

धीवर—इसे वैश्य-पुरुष तथा क्षत्रिय-कन्या से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान माना गया है[3]। यह मछली पकड़ने या घरों में पानी भरने का काम करता है।

भिषक्—इसे ब्राह्मण-पुरुष एवं क्षत्रिय-कन्या से उत्पन्न माना गया है[4]। यह आयुर्वेद अथवा ज्योतिष के द्वारा जीविका चलाता है।

रजक (धोबी)—इसे पुल्कस (निषाद तथा शूद्र-नारी की सन्तान) अथवा वैदेहक-पुरुष एवं ब्राह्मण-कन्या की प्रतिलोम सन्तान माना गया है[5]। अथवा इसे पुल्कस-पुरुष तथा वैश्य-कन्या की सन्तान कहा गया है[6]।

सूचिक, सौचिक या सूचि (दर्जी)—यह वैदेहक-पुरुष तथा क्षत्रिय-कन्या की प्रतिलोम सन्तान है[7]।

सूनिक, सौनिक (कसाई)—यह आयोगव-पुरुष तथा क्षत्रिय-कन्या की सन्तान मानी गयी है[8]।

इस प्रकार इन उपजातियों की एक लम्बी तालिका है जिस में प्रायः प्रत्येक के साथ किसी न किसी प्रकार की सङ्करता जुड़ी हुई है। किन्तु इस दीर्घाकार तालिका को देखते हुए यह विश्वास कर पाना दुष्कर है कि इन सभी उपजातियों का मूल अन्तर्जातीय विवाह या गुप्त प्रेम में खोजा जा सकता है। ये कोई छोटी मोटी टुकड़ियां तो हैं नहीं जिनकी उत्पत्ति का इतना सरल तथा सीधा कारण बता कर समस्या का समाधान किया जा सके। इतने बड़े-बड़े

---

१. उशना ४; वै० ध० सू० १०, १५।
२. वही, ४३।
३. गौ० ध० सू० ४, १७।
४. उशना २६।
५. वै० ध० सू० १०, १५।
६. उशना १८।
७. वै० ध० सू० १०, १५।
८. उशना १४।

बहुसंख्य जनसमूहों की उत्पत्ति को दो व्यक्तियों के विवाह का प्रतिफल मान लेना मानव-मस्तिष्क की विचार-शक्ति को धोखा देना है। या फिर यह मान्यता स्वीकार करनी होगी कि उस पुरातन काल में इस प्रकार के अन्तर्जातीय विवाहों तथा चोरिका-विवाहों की खुली छुट्टी रही होगी, और समाज में इतनी चुस्त तथा कठोर व्यवस्था रही होगी कि प्रत्येक समान-विवाह-जन्य सन्तति को उसके निर्धारित पेशे को स्वीकार करने के लिये वाध्य किया जा सकता था। केवल ब्राह्मण तथा शूद्र के सम्बन्ध से उत्पन्न निषाद जाति के विषय में ही विचार किया जाय, जो प्राचीन भारत की न केवल एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जाति थी अपितु उन के राज्यों तक की चर्चा रामायण (२, ५०, ३३ प्रभृति) तथा महाभारत (भीष्म०, ९, ५१) में की गयी है जो क्रमशः शृंगवेरपुर तथा सरस्वती के निचले कांठे एवं पश्चिमी विन्ध्याचल में अवस्थित थे। इसी प्रकार बृहत्संहिता[1] में वराहमिहिर ने मध्यदेश के दक्षिण-पूर्वीय भाग में स्थापित एक निषाद-राज्य का उल्लेख किया है। जैसाकि ऊपर कह चुके हैं निषाद-स्थपति के लिये एक श्रौतयज्ञ (इष्टि) का विधान किया गया है[2] तथा का० श्रौ० सू०[3] में **निषाद-स्थपति** का उल्लेख किया गया है। अतः अनुमान किया जा सकता है कि निषाद एक अनार्य जाति थी। इसी प्रकार धीवर, वैण, पुल्कस (पौल्कस) प्रभृति भी अनार्य जातियां थीं जिन्हें आर्यों ने शूद्र जाति के अन्तर्गत मान लिया था। प्रा० त्सिम्मर (Zimmer) के मतानुसार तो शूद्र-शब्द स्वयं सम्भवतः एक महत्त्वपूर्ण अनार्य जाति का वाचक है[4]। जब शूद्रों की स्थिति और अधिक हीन हो गयी तो निषाद का भी वैदिक यज्ञ-याग का अधिकार छीन लिया गया। वास्तव में जातियों तथा उपजातियों के नामों की व्याख्या करना अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि कहीं तो वे व्यवसाय की सूचक हैं तो कहीं देश-प्रदेश की। यह सम्भव है कि विभिन्न जातियों के लिये व्यवसाय निर्धारित कर दिये गये हों और इस प्रकार पूर्व-प्रतिष्ठापित व्यवसाय-परक जातियों में सामाजिक नियम-भञ्जकों को उनकी अपनी-अपनी पञ्चायतों द्वारा उस निर्धारित वर्ग में सम्मिलित होने पर बाध्य किया जाता रहा हो, तथा कालान्तर में उन पूर्व-प्रतिष्ठापित व्यवसाय-परक जातियों का मूल भी नवीन नियमों के आधार पर कल्पित कर लिया गया हो। इस विषय में निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

---

१. बृहत्-संहिता, १४, १०।

२. मा० श्रौ० सू० ५, १, ९, २९।

३. का० श्रौ० सू० १, १, १२।

४. Altindisches heber, p. 216; Weber, Ind. Stud., XVIII. 85, 255; Ludwig, Der Rigveda, III, 212; Vedic Index II, 391 ff.

वर्णों के कर्त्तव्य, अयोग्यताएं तथा अधिकार

धर्मसूत्रों में वर्णों के कर्त्तव्यों तथा अधिकारों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अब हम इनके विषय में विचार करेंगे। ब्राह्मणों के मुख्य कर्त्तव्य हैं वेद का अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना। इनमें से वेदाध्ययन, यज्ञ करना, तथा दान देना सभी द्विजों के साधारण कर्त्तव्य माने गये हैं[1]। क्षत्रियों (राजाओं) के लिये सब की रक्षा करना, वैश्यों के लिये कृषि-कर्म, पशु-पालन तथा व्यापार एवं सूद-खोरी विशेष कर्त्तव्य गिनाए गये हैं।

वेदाध्ययन—वेदाध्ययन तथा ब्राह्मण-वर्ण का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है कि निरुक्तकार यास्क ने विद्या-सूक्त नामक चार मन्त्र उद्धृत किये हैं[2], जिनमें कहा गया है कि विद्या ब्राह्मण के पास आयी तथा उससे अपनी रक्षा की प्रार्थना की। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है 'ब्राह्मण को बिना कारण के षडङ्गों सहित वेद का अध्ययन करना चाहिये[3]।

वेदाध्ययन का ब्राह्मण के साथ अटूट सम्बन्ध रहा है, इसी कारण कुछ आचार्यों का यहां तक आग्रह है कि जिस ब्राह्मण के घर में वेदाध्ययन एवं वेदी का त्याग हो गया हो वह तीन पीढ़ियों तक दुर्ब्राह्मण हो जाता है[4]।

वेदाध्यापन—यद्यपि ब्रह्म-विद्या के प्रतिपादक कुछ एक क्षत्रिय राजा भी हो गये हैं[5] तो भी मुख्य रूप से वेदाध्यापन का कार्य ब्राह्मणों का ही था। आप० ध० सू०[6] में कहा गया है कि गुरु केवल ब्राह्मण ही हो सकता है। ब्राह्मण-शिष्य क्षत्रिय या वैश्य गुरु का अनुगमन तो कर सकता है किन्तु पांव दबाने जैसी शारीरिक सेवा नहीं कर सकता। क्षत्रिय या वैश्य ऋत्विक् नहीं हो सकता[7]।

---

१. गौ० ध० सू० १०, १-३ ; ७; ५०; आप० ध० सू० २, ५; १०, ५-८; बौ० ध० सू० १, १०, २-५; वा० ध० सू० २, १३-१९; वि० ध० सू० २१, १०-१५।

२. निरुक्त २, ४; ये मन्त्र वा० ध० सू० (२, ८-११) तथा वि० ध० सू० (२९, ९-१० तथा ३०, ४७) में भी उद्धृत हैं। **विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि**············।

३. **ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।**

४. बौधायन गृह्यपरिभाषा, १, १०, ५-६; तै० सं० २, १, १०, १ भी द्र०।

५. श० ब्रा० ८, १, ४, १०।

६. आप० ध० सू० २, २, ४, २५-२८; गौ० ध० सू० ७, १-३।

७. **ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात्।** जैमिनि ६, ६, १८।
ब्राह्मणा ऋत्विजो भक्षप्रतिषेधादितरयोः। का० श्रौ० सू० १, २, २८।

किन्तु यह स्थिति प्राचीन वैदिक-कालीन नहीं हो सकती, क्योंकि देवापि (क्षत्रिय) शन्तनु का पुरोहित था[1]। निश्चय ही सूत्र-काल तक आते-आते वर्ण-व्यवस्था सुदृढ़-मूल हो चुकी थी और ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ गया था।

दान लेना (प्रतिग्रह)—ब्राह्मण को अपनी आजीविका के लिये किसी योग्य निर्दोष एवं निष्कलंक व्यक्ति से प्रतिग्रह स्वीकार करने का विधान था। यम के अनुसार तीन वर्णों के योग्य व्यक्तियों से दान लेना पुरोहिती तथा विद्या-दान के बदले धन-ग्रहण करने से कहीं अच्छा है[2]। किन्तु शूद्र से दान लेने को मनु अच्छा नहीं मानते। गौ० ध० सू० (९,६३), वि०ध०सू० (६३,१) वा० ध० सू० (१२,२) ने ब्राह्मण को अपने योग-क्षेम तथा क्षुधा-तृप्ति के लिये राजाश्रय लेने की अनुमति दी है। किन्तु अधार्मिक राजा या दानी से दान के स्वीकार की मनाही की है। किन्तु शूद्र से दान लेकर यज्ञ या अग्निहोत्र नहीं करना चाहिये[3]। जहां तक सम्भव हो, दान-ग्रहण से बचना ही चाहिये।

जहाँ अयोग्य और दूषित व्यक्ति से प्रतिग्रह का निषेध किया गया है, वहाँ अयोग्य, वेदाध्ययन न करने वाले को दान देना भी वर्जित है[4]। स्मृतियों में तो कुपात्र को दान देने वाला नरक का भागी होता है—यह स्पष्ट लिखा है। अपनी आवश्यकता से अधिक तथा बहुत से व्यक्तियों से दान लेना भी वर्जित है[5]। यदि ब्राह्मण अध्यापन, पौरोहित्य तथा प्रतिग्रह से अपनी जीविका न चला सके तो वह क्षात्र-वृत्ति या वैश्य-वृत्ति अपना सकता है[6]। किन्तु आपत्काल समाप्त होने पर उसे प्रायश्चित्त करके अपनी विशिष्ट वृत्ति में लौट आना चाहिये और अन्य-जातीय वृत्ति से प्राप्त धन को भी त्याग देना चाहिये[7]। गौतम के अनुसार आपत्काल में ब्राह्मण अपने कर्म के अतिरिक्त शूद्र-वृत्ति अपना सकता है, किन्तु शूद्र के साथ, तथा शूद्र जैसा भोजन नहीं कर सकता[8]। यद्यपि प्राचीन काल में ब्राह्मणों के युद्ध में भाग लेने तथा योद्धा की वृत्ति अपनाने के प्रमाण मिलते हैं, तो भी धर्म-सूत्रों में उसके द्वारा शस्त्र-ग्रहण करना निषिद्ध कर्म माना गया है। आपत्काल

---

१. ऋ० १०, ९८, ७; निरुक्त २. १०।

२. प्रतिग्रहाध्यापन-याजनानां प्रतिग्रहं श्रेष्ठतमं वदन्ति।

३. वा० ध० सू० १४, १३, वि० ध० सू० ५७, ३ आदि।

४. श० ब्रा० ४, ३, ४, १५; आप० ध० सू० २, ६, १५, ९-१०; वा० ध० सू० ३, ८।

५. वा० ध० सू० १४, २-११।

६. बौ० ध० सू० २, २, ७७-७८; ८०; वा० ध० सू० २, २२; वि० ध० सू० ५४, २८।

७. वि० ध० सू० ५४, ३७-३८।

८. गौ० ध० सू० ७, २२-२४।

तो अपवाद है[1]। इसी प्रकार कृषि-कर्म, व्यापार तथा व्याज पर धन देने के विषय में भी ब्राह्मण पर नियन्त्रण लगाये गये हैं। व्याज पर धन देना तो ब्रह्म-हत्या के सदृश माना गया है[2] तथा इसके लिये प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गयी है[3]।

इस प्रकार के नियन्त्रणों का उद्देश्य ब्राह्मण-जीवन को सरल, सादा एवं निस्स्वार्थ रखना था।

कृषि-कर्म करना भी पड़े तो उसे प्रातःकालीन भोजन से पूर्व ही कर लेना चाहिये ताकि उससे वेदाध्ययन में विघ्न न पड़े[4]। इसी प्रकार व्यापार करना भी पड़े तो बहुत सी वस्तुओं के विक्रय का निषेध कर दिया गया है[5]। यथा द्रव-पदार्थ, पका भोजन, तिल, दूध तथा इसके विकार, पटसन, रेशमी वस्त्र, कन्द, मूल, फल, मधु, मांस, विषैली ओषधियां, पशु प्रभृति। थोड़े-बहुत भेद से सभी धर्मसूत्रकारों ने इस निषेध का समर्थन किया है तथा वर्जित वस्तुएं बेचने पर प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है[6]।

कुछ कर्मों के करने और न करने से ब्राह्मण शूद्रवत् माने जाते हैं। यथा, जो ब्राह्मण सायं-प्रातः सन्ध्या नहीं करता उसे राजा द्वारा शूद्रोचित कार्य दिया जाना चाहिये[7]। जो वेदाध्ययन नहीं करते, तथा अग्निहोत्र नहीं करते, वे शूद्र माने गये हैं[8]।

वैदिक संहिता-काल से ही ब्राह्मणों का स्थान समाज में अत्यन्त ऊँचा माना जाने लगा था। तै० सं०[9] में ही ब्राह्मणों को 'प्रत्यक्ष देव' कहा गया है। अग्नि के अभाव में ब्राह्मण के दक्षिण हस्त में हवन करने का आदेश दिया गया है, क्योंकि ब्राह्मण अग्नि, वैश्वानर होता है[10]। यह विश्व ब्राह्मणों द्वारा ही धारण किया गया है, ब्राह्मणों की कृपा से ही देवता स्वर्ग में अवस्थित हैं। ब्राह्मणों

---

१. आप० ध० सू० १, १०, २, १-७; गौ० ध० सू० ७, ६; बौ० ध० सू० २, २, ८०; वा० ध० सू० ३, २४।
२. गौ० ध० सू० १०, ५-६; वा० ध० सू० २, ४०।
३. आप० ध० सू० १, ९, २७, १०।
४. बौ० ध० सू० १, ५, १०१; २, २, ८२-८३; वा० ध० सू० २, ३२-३४।
५. गौ० ध० सू० ७, ८-१५; वा० ध० सू० २, २४-२९।
६. वि० सू० ३७, १४।
७. बौ० ध० सू० २, ४, २०।
८. वा० ध० सू० ३, १-२।
९. तै० सं० १, ७, ३, १; एतें वै देवाः प्रत्यक्षं ये ब्राह्मणाः।
१०. तै० ब्रा० ३, ७, ३, १; वा० ध० सू० ३०, २-५।

के वचन झूठे नहीं होते[1]। स्मृतियों में यह महिमा-गान का स्वर और भी प्रखर हो उठा। महाभारत में तो तब अतिशयोक्ति की सीमा लांघ दी गयी, जब कहा गया कि 'ब्राह्मणों को प्रणाम करने के कारण ही सूर्य स्वर्ग में विराजमान है'[2]। किन्तु इस विचार-धारा का मूल हमें ऋग्वेद में ही दृष्टिगोचर होने लगता है—"अपने घर में वही राजा सुख-शान्ति से रहता है, उसी के लिये पवित्र भोजन सदा उमड़ कर आता रहता है (या उसी के लिये पृथ्वी सदा कामनाओं से भरपूर रहती है), उसी को लोग स्वयमेव नमस्कार करते हैं, जिस राजा के आगे-आगे ब्राह्मण चलता है[3]।" तथा—"देवता उसी राजा की रक्षा करते हैं जो सहायता मांगने वाले ब्राह्मण को धन आदि प्रदान करता है"[4]।

वस्तुतः अपनी जीवन-चर्या तथा समाज का बौद्धिक नेतृत्व करने के कारण ही ब्राह्मणों को इतना सम्मान प्राप्त हुआ। कुछ पाश्चात्य वेदज्ञों के प्रचार के कारण कुछ-एक आधुनिक भारतीय भी इस प्रकार के सम्मान के प्रसंग में ब्राह्मणों को कोसते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार का सम्मान उन्हें समाज तथा राज-शक्ति ने शताब्दियों तक उनके त्याग, तपस्या तथा आध्यात्मिक एवं बौद्धिक श्रेष्ठता के कारण ही प्रदान किया, अन्यथा उनके पास इसे पाने के लिये कौन सा बल था, कौन सी सैनिक शक्ति थी ? यह दूसरी बात है कि कालान्तर में यह सम्मान जन्म पर आधृत हो गया, किन्तु धर्मसूत्रों में तो अयोग्य तथा दुश्चरित्र एवं अकर्तव्य-परायण ब्राह्मण के प्रति शूद्रोचित व्यवहार की व्यवस्था दी गयी है ! तो फिर इसके लिए ब्राह्मणों को दोषी ठहराना कहां तक उचित है ? वास्तव में जाति-प्रथा के जन्म-मूलक हो जाने से शेष दो द्विजों को भी अपनी स्वार्थ-साधना तथा समाज के एक बहुत बड़े वर्ग पर शासन-लालसा की पूर्ति का सु-अवसर प्राप्त होने के कारण सभी ने इस सर्वथा अनार्य तथा अनैतिक प्रथा का स्वागत किया। किन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यह दोष-पूर्ण व्यवस्था भी गुणों से सर्वथा अछूती नहीं थी। यथा—

इस नवीन उभरती हुई वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणों के कुछ विशेष **अधिकार** उभर कर सामने आते हैं। यथा—

---

१. वि० ध० सू० १९, २०-२२; (तु. तै० आर० २, १५; श० ब्रा० १२, ४, ४, ६; पञ्च० ब्रा० ६, १, ६)।

२. वन० ३०३, १६; (तु. श० ब्रा० २, ३, १, ५)।

३. ऋग्० ४, ५०, ८।

४. ऋग्० ४, ५०, ९।

१. ब्राह्मण सबका गुरु तथा श्रद्धास्पद था, तथा जन्म से ही श्रेष्ठ था[1]।

२. अन्य वर्णों के कर्त्तव्यों का निर्धारण, उनके आचरण का पर्यवेक्षण तथा जीविका-साधनों का निरूपण,[2] उसका अधिकार था।

३. ये राजा द्वारा दण्डय नहीं माने जाते थे[3]। वे अवध्य, अवन्ध्य, अदण्डय, अवहिष्कार्य, अपरिवाद्य तथा अपरिहार्य थे[4]।

४. वेदज्ञ ब्राह्मण कर-मुक्त थे[5]।

५. गुप्त धन को पा लेने पर ब्राह्मण अपने पास रख सकता था जबकि अन्य वर्णों को उसे राजा को सौंपना होता था।

६. उत्तराधिकारी के बिना मर जाने वाले ब्राह्मण का धन श्रोत्रियों या ब्राह्मणों में बांट दिया जाता था[6]।

७. मार्गावरोध के समय ब्राह्मण को राजा से भी प्रमुखता प्राप्त थी[7]।

८. ब्रह्म-हत्या को महापातक समझा जाता था। यहां तक कि इन्द्र देवता को भी विश्वरूप की हत्या करने पर 'ब्रह्महा' की गर्हित उपाधि दी गयी[8]।

९. कुछ अपराधों में ब्राह्मण को अन्य लोगों से कम दण्ड दिये जाने की व्यवस्था[9] है। किन्तु चोरी जैसे अनैतिक अपराधों के लिये ब्राह्मण को अन्य लोगों से अधिक दण्ड देने का विधान है[10]।

१०. सौत्रामणी जैसे कुछ यज्ञ केवल ब्राह्मण ही कर सकते थे।

---

१. आप० ध० सू० १, १, १, ५; वा० ध० सू० ४, १-२।

२. वा० ध० सू० १, ३९-४१; (तु. तै० ब्रा० २, २, १; काठ० सं० ९, १६; ऐ० ब्रा० ३७, ५)।

३. गौ० ध० सू० ११, १; (तु. श० ब्रा० ५, ४, २, ३ तथा ४, ३, १६)।

४. गौ० ध० सू० ८, १२-१३; वि० ध० सू० ५, ४-७।

५. आप० ध० सू० २, १०, २६, १०; वा० ध० सू० १९, २३।

६. गौ० ध० सू० २८, ३९-४०; वा० ध० सू० १७, ८४-८७; बौ० ध० सू० १, ५, ११८-१२२।

७. गौ० ध० सू० ६, २१-२२; आप० ध० सू० २, ५, ११, ५-९।

८. तै० सं० २, ५, १, १; ५, ३, १२, १-२; श० ब्रा० १३, ३, १, १; छां० उप० ५, १०, ९; गौ० ध० सू० २१, १; वा० ध० सू० १, २०।

९. गौ० ध० सू० २१, ६-१०।

१०. गौ० ध० सू० २१, १२-१४।

क्षत्रिय—आर्य वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत दूसरा महत्त्वपूर्ण वर्ग या समुदाय था 'क्षत्रिय', जिसे ऋग्वेद में 'राजन्य' कह कर स्मरण किया गया है। राजन् शब्द का एक अर्थ 'बड़ा', या 'प्रमुख' है[१]। इसी से विकसित होकर इसका अर्थ 'राजा' हो गया। 'राजन्य' का अर्थ ही राजा की सन्तान है क्योंकि क्षत्रिय ही राजा होता था। जब किसी क्षत्रिय (राजन्य) का राज्याभिषेक हो जाता था तो समझा जाता था कि एक क्षत्रिय, सब प्राणियों का अधिपति, प्रजा-जनों (विशाम्) का भोगने वाला, शत्रुजनों का हनन करने वाला, ब्राह्मणों का रक्षक, धर्म का रक्षक उत्पन्न हो गया है[२]।

बाहु-बल होते हुए भी क्षत्रियों में ज्ञान-शक्ति के अभाव के कारण क्षत्रिय को राज्य करने के लिये ब्राह्मण का सहयोग लेना ही चाहिये[३], क्योंकि जहां ब्रह्म तथा क्षत्र शक्तियां साथ-साथ सम्यग् रूपेण चलती हैं, वही लोक पवित्र जानना चाहिये[४]। यह तो सम्भव है कि ब्राह्मण राजा के बिना हो, किन्तु यह सर्वथा अनुचित है कि राजा ब्राह्मण के बिना हो, क्योंकि वह जो भी कर्म करेगा वह असमृद्ध होगा[५]। राजा पुरोहित के बिना नहीं रह सकता। यहां तक कि देवताओं को भी पुरोहित की आवश्यकता होती है[६]। जो राजा ब्राह्मणों के लिये शक्तिशाली नहीं है अर्थात् विनम्र है, वह अपने शत्रुओं से अधिक शक्तिशाली होता है[७]। क्षत्रिय की मुख्य-वृत्ति शासन करना तथा युद्ध करना होता है। किन्तु यदि इस वृत्ति से वह जीविका न चला सके तो वह वैश्य-वृत्ति को अपना सकता है[८]। किन्तु सामान्य नियम के अनुसार वह अपने से उच्च वर्ण (ब्राह्मण) की वृत्ति को नहीं अपना सकता। आपत्काल दूर हो जाने पर प्रायश्चित्त तथा उस समय के उपार्जित धन का परित्याग उपर्युक्त प्रकार से यहां भी कर्तव्य है। उच्च वर्ण की वृत्ति अपनाने पर राजा उसकी सम्पत्ति को ज़ब्त कर सकता था।

वैश्य—'वैश्य' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के केवल पुरुष-सूक्त में हुआ है किन्तु 'विश्' शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है। **विश्** का अर्थ 'जन' या 'समूह' है। ऋग्वेद में ही **मानुषीर्विशः, मानुषीषु विक्षु** तथा **मानुषीणां विशाम्** सदृश

---

१. ऋग्० १०, ४२, १०; १०, ९७, ६।
२. ऐ० ब्रा० ३९, ३।
३. श० ब्रा० ४, १, ४, ६।
४. वा० सं० २०, २५।
५. श० ब्रा० ४, १, ४, ६।
६. तै० सं० २, ५, १, १।
७. श० ब्रा० ५, ४, ४, १५।
८. गौ० ध० सू० ६, २६; बौ० ध० सू० २, २, ७७-७८; ८०; वा० ध० सू० २, २२; वि० ध० सू० ५४, २८।

प्रयोग हुए है। कहीं-कहीं 'विश्' तथा 'जन' शब्दों में विरोध भी देखा जाता है, यथा—**स इज्जनेन, स विशा, स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभिः**[1]। किन्तु क्योंकि **विश्** को **पाञ्चजन्य** भी कहा गया है अतः 'विश्' तथा 'जन' में कोई मौलिक भेद नहीं है।

वैश्य की वृत्ति पशु-पालन, कृषि-कर्म, व्यापार तथा सूद पर धन देना था। पशुओं की कामना करने वाला वैश्य वास्तव में यज्ञ करता है[2]। कहा गया है कि देवता असुरों से पराजित होकर उनके विश् बन गये[3]। मनुष्यों में वैश्यों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि मनुष्यों में वैश्य तथा पशुओं में गाय अन्य लोगों के भोग की वस्तुएं हैं। वे अन्नागार (अन्न-धान) से उत्पन्न किये गये। अतः वे संख्या में अधिक हैं[4]। अन्य दो द्विज वर्णों के समान ही वैश्य के लिये भी वेदाध्ययन, यज्ञ तथा दान करना आवश्यक कर्म हैं।

शूद्र की स्थिति—जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार व्यक्तियों तथा जन-समूहों का शारीरिक रंग-भेद है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक कृष्ण-वर्ण व्यक्ति शूद्र माना जाता था या सभी द्विज गौर-वर्ण ही थे। तो भी सूत्रों में शूद्र को कृष्ण-वर्ण का माना गया है[5]। शूद्र **एक-जातयः** कहे जाते थे और उन्हें **उपनयन** का अधिकार नहीं था।

वास्तव में ऋग्वेद में उल्लिखित 'दास' अथवा 'दस्यु' लोग आर्यों के विरोधी थे। आर्यों ने उन्हें युद्ध में पराजित करके अपनी सेवा करने को बाध्य करके उन्हें समाज में निम्न स्तर की जाति का स्थान प्रदान किया। ये शूद्र कहलाने लगे। इन्हें वेदाध्ययन तथा यज्ञ-याग के अधिकार से वञ्चित कर दिया गया। इसीलिये उन्हें 'अव्रत' और **अक्रतु** कहा जाने लगा। चाहे उसके पास बहुत से पशु क्यों न हों, शूद्र यज्ञ करने के योग्य नहीं है, वह वेद-हीन है[6]। दीक्षित को शूद्र से बात करने का भी निषेध किया गया है। वह असत्य है, श्रम है[7]। यह दूसरों का

---

१. ऋग्० २, २६, ३।
२. तै० सं० २, ५, १०, २।
३. तै० सं० २, ३, ७, १।
४. तै० सं० ७, १, १, ५।
५. बौ० ध० सू० २, १, २; ३; २, १, ५९; आप० ध० सू० १, ९, २७, ११; वा० ध० सू० १, ८, १८; द्र. निरु० १२, १३; शूद्र के समीप भी वेदाध्ययन वर्जित है। गौ० ध० सू० १६, १९।
६. पञ्च० ब्रा० ६, १, ११।
७. श० ब्रा० १३, ६, २, १०।

आज्ञाकारी है, उसे इच्छानुसार उठाया जा सकता है, इच्छानुसार मारा जा सकता है[१]। शूद्रों को अग्निहोत्र एवं वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का अधिकार नहीं है[२]। किन्तु आचार्य बादरि के मत में शूद्र भी वैदिक यज्ञों का अधिकारी है[३]। एक मतानुसार शूद्र को भी **पाकयज्ञ** के अनुष्ठान का अधिकार था, जिसे वह स्वयं कर सकता था[४]। उन्हें श्राद्ध करने का भी अधिकार था[५]। भार० श्रौ० सू०[६] के अनुसार कुछ आचार्यों की सम्मति में शूद्र को भी अग्न्याधेय का अधिकार था, किन्तु अन्य मतानुसार ऐसा अधिकार उसे नहीं था। इससे यह प्रतीत होता है कि कुछ आचार्य शूद्रों को अग्न्याधेय का अधिकार दिलाना चाहते थे। कम से कम 'रथकार' जाति को तो ये अधिकार प्राप्त थे ही, जो बाद में छीन लिये गये[७]।

जैसा कि ऊपर कह चुके है, धर्मसूत्रों के काल तक आते-आते शूद्रों को वर्णसंकर घोषित कर दिया गया। इन वर्णसंकर उपजातियों में प्रमुख ये हैं—आयोगव, उग्र, करण, कुक्कुट, क्षत्तृ, चाण्डाल, दौष्यन्त, धीवर, निषाद, पारशव, पुल्कस (पौल्कस), माहिष्य, मागध, मूर्धावसिक्त, यवन, वैदेहक, वैण, वृषल तथा श्वपाक[८]।

किन्तु इन सभी को वर्णसंकर नहीं माना जा सकता। इनका मूल तो विभिन्न प्रकार के शिल्पों में खोजना चाहिये, जिन्हें शूद्र-श्रेणी में धकेल दिया गया। हम ऊपर देख चुके हैं कि आरम्भिक वैदिक काल में शूद्रों की स्थिति इतनी बुरी नहीं थी जितनी कालान्तर में हो गयी। शूद्रों को घरेलू नौकर तथा रसोईया रखने का रिवाज धर्मसूत्रों से ही व्यक्त होता है[९]। शूद्र सेवकों को अन्य गृहवासियों के समान माना जाता था, यहां तक कि मृतक की चिता पर लेटी हुई पत्नी को शूद्र सेवक भी चिता से उठा सकता था[१०]। अन्य अतिथियों के समान शूद्र अतिथि से उसके स्वास्थ्य (आरोग्य) के विषय में पूछ कर उसकी आवभगत

---

१. ऐ० ब्रा० ३५, ३।
२. पूर्वमीमांसा ६, १, २५-३८।
३. वही, ६, १, २७।
४. गौ० ध० सू० १०, ६४।
५. गौ० ध० सू० १०, ५३।
६. भार० श्रौ० सू० ५, २, ८।
७. का० श्रौ० सू० १, १, ५-६ तथा इन पर कर्कभाष्य (तु. श० ब्रा० १, १, ४, १२-१३)।
८. गौ० ध० सू० ४, १६-२१; बौ० ध० सू० १, ९, १७; २-१४।
९. आप० ध० सू० २, २, ३, ४।
१०. आश्व० गृ० सू० ४, २, १८-१९।

करने का रिवाज था[1]। उसे अस्पृश्य नहीं माना जाता था। छां० उप०[2] के काल में चाण्डाल को कुत्ते तथा सुअर के समान माना जाने लगा था। शूद्र की भर्त्सना करने पर किसी प्रकार का दण्ड ब्राह्मण को नहीं दिया जा सकता था[3]। शूद्र को अपने स्वामी द्वारा त्यागे गये पुराने वस्त्र, छाता, चप्पल, चटाई आदि का प्रयोग करना पड़ता था[4]। उत्तरवर्ती स्मृतियों में तो जप, होम, तपस्या करने, सन्न्यासी हो जाने तथा वेद-मन्त्र का उच्चारण करने पर उसे नैतिक पाप का भागी बन कर प्राण-दण्ड भोगना पड़ता था[5]। बुढ़ापे में उसका पालन-पोषण स्वामी ही करता था। शिष्टाचार के नाते अस्सी वर्ष या इससे अधिक आयु वाले शूद्र को भी उससे कम आयु वाले व्यक्ति द्वारा प्रणाम करने की व्यवस्था दी गयी है[6]।

कानून की दृष्टि से शूद्र को भी अन्य वर्णों के समान ही सम्पत्ति रखने का अधिकार था। यह सम्पत्ति रिक्थ, क्रय, संविभाग, परिग्रह तथा अधिगम द्वारा ग्रहण की जा सकती थी।

बौ० ध०[7] सू० का यह आदेश कि द्विजों के लिये शूद्र की सेवा करना 'पतनीय' कर्म है, इस बात का प्रमाण है कि उस समय ऐसे धनवान् शूद्र भी होते होंगे जो द्विजों को अपनी सेवा में रख सकते थे।

अस्पृश्यता—सूत्रकाल में शूद्रों के कई वर्ग प्रतीत होते हैं। एक, घरों में काम करने वाले, रसोई तक बनाने वाले। दूसरे, अस्पृश्य, यथा—पौल्कस, चाण्डाल प्रभृति। किन्तु ऋग्वेद-काल में शूद्रों को अस्पृश्य मानने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उल्टे रथकार, निषाद प्रभृति को तो यज्ञ में भाग लेने का पूर्ण अधिकार था। ओदन-सव तथा सूत-सव सदृश यज्ञों में शूद्रों का विशेष योगदान रहता था। महाव्रत में तो आर्य तथा शूद्र में झूठ-मूठ का युद्ध कराया जाता है।

अस्पृश्यता के विचार को बल देने वाली प्रथम भावना आर्यों तथा दासों में शत्रुता की भावना थी जो समय के साथ बद्धमूल होती गयी। तो भी वैदिक काल में अस्पृश्यता की भावना जागृत होती नहीं देखी जाती। वर्ण-व्यवस्था के बद्धमूल होने तथा जन्म-जात शूद्रत्व आदि की भावना के उदय होने के साथ-साथ अस्पृश्यता का भी जन्म से घनिष्ठ सम्बन्ध जुड़ गया। किन्तु इसके अतिरिक्त इस

१. गौ० ध० सू० ५, ४२; आप० ध० सू० १, ४, १४, २६-२९।
२. छां० उप० ५, १०, ७।
३. गौ० ध० सू० २१, ६-१०।
४. गौ० ध० सू० १०, ६०-६१।
५. अत्रि १९, ३६-३७।
६. गौ० ध० सू० ६, १०।
७. बौ० ध० सू० २, १, २, २।

अस्पृश्यता के अन्य स्रोत भी हैं, यथा—महापातक, धर्मभेद, विशेष परिस्थितियां तथा कुछ विशेष देशों में निवास।

इन सभी की अस्पृश्यता एक सी नहीं है। कुछ अवस्थाओं में तो यह घृणा पर आश्रित है, यथा बौद्धों, कापिलों (सांख्यों), लोकायतों की अस्पृश्यता। कुछ अवस्थाओं में यह केवल स्वच्छता तथा पवित्रता की भावना के कारण उत्पन्न हुई है, यथा रजस्वला या प्रसूतिका की अस्पृश्यता। कहीं-कहीं गन्दे तथा अस्वच्छ व्यवसायों के वंशानुक्रमिक हो जाने के कारण ये लोग जन्म से ही अस्पृश्य हो गये। अन्यथा हिन्दुओं में तो अपने यज्ञोपवीत-संस्कार रहित पुत्र को भी भोजन के समय स्पर्श नहीं किया जाता। इसके पीछे घृणा नहीं प्रत्युत मन और शरीर को पवित्र रखने की यह उग्र धार्मिक भावना है कि मोक्ष के लिए उभयविध पवित्रता अनिवार्य है।

प्राचीन धर्मसूत्रों में केवल चाण्डाल को ही अस्पृश्य माना गया है, क्योंकि वह ब्राह्मणी से शूद्र की सन्तान होने के कारण अत्यन्त गर्हित प्रतिलोम जाति मानी जाती है[1]। इसीलिये उसे स्पर्श करने पर स-वस्त्र स्नान करने का विधान है, एवं उससे बात करने तथा उसे देख लेने पर सूर्य, चन्द्र या तारों को देख लेने का निर्देश दिया गया है[2]। किन्तु उत्तरवर्ती स्मृतिकारों ने कुछ अन्य जातियों को भी अस्पृश्यता की लपेट में ले लिया। धीरे-धीरे शूद्र-मात्र के स्पर्श से द्विजों को दूषित माना जाने लगा।

वि० ध० सू०[3] ने चाण्डालों के अतिरिक्त म्लेच्छों तथा पारसीकों को भी अस्पृश्यों की श्रेणी में रख लिया है।

विभेद तथा पवित्रता की अतिरञ्जित भावना के प्रभाव के अन्तर्गत अन्त्यजों तथा कुछ अन्य हीन जातियों को भी अस्पृश्यता के घेरे में धकेल दिया गया। वि० ध० सू०[4] के अनुसार मक्खियों, हौज की बूंदों, मनुष्य की छाया, गाय, अश्व, सूर्य-किरण, धूलि, वायु एवं अग्नि को सदा पवित्र समझना चाहिये। तो भी पश्चात्कालिक स्मृतिकारों ने चाण्डाल की छाया को भी अस्पृश्य मान लिया और उसके स्पर्श करने पर ब्राह्मण को स्नान करने का निर्देश कर दिया[5]। इस 'अस्पृश्य

---

१. गौ० ध० सू० ४, १५; २३।
२. आप० ध० सू० २, १, २, ८-९।
३. वि० ध० सू० १०, ४।
४. वही, २३, ५२।
५. अत्रि २८८-८९ : **यस्तु छायां श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति।**
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृतं प्राश्य विशुध्यति॥

भावना' में क्रमशः वृद्धि होती गयी। व्याघ्रपाद[1] को उद्धृत करते हुए मिताक्षरा ने लिखा है कि चाण्डाल तथा पतित के गाय की पूंछ के बराबर की दूरी पर आ जाने पर स-वस्त्र स्नान करना चाहिये। यद्यपि याज्ञ० स्मृ०[2] ने स्पष्ट लिखा है कि यदि जनमार्ग या कच्चे मकान पर चाण्डाल, कुत्ते तथा कौए आ जायें तो उसकी मिट्टी एवं जलवायु के स्पर्श से ही पवित्र हो जाते हैं। तो भी स्मृतियों तथा धर्मसूत्रों के नाम पर दक्षिण भारत, विशेषतः मलाबार, में सवर्णों तथा अस्पृश्यों के लिये जन-मार्ग भी पृथक्-पृथक् चलते रहे हैं। धर्म के नाम पर क्या कुछ नहीं हुआ।

स्मृतिकारों ने विशेष-विशेष परिस्थितियों में अस्पृश्यता के सामान्य नियमों के अपवाद भी प्रस्तुत किये हैं, यथा मन्दिर, देवयात्रा, विवाह, यज्ञ एवं सभी उत्सवों में अस्पृश्यता के नियम लागू नहीं होते[3]। अन्य भी ऐसे अनेक स्थल गिनाए गये हैं जहां स्पर्शास्पर्श पर ध्यान नहीं देना चाहिये[4]।

वि० ध० सू० के अनुसार सवर्णों का स्पर्श करने पर अस्पृश्य को पीटने का दण्ड देना चाहिये[5]। किन्तु याज्ञ० स्मृ० ने इस अपराध के लिये केवल १०० पण जुर्माना करने की व्यवस्था दी है[6]। अस्पृश्यों के बरतनों में या उन के कुँओं का जल पीने या उन का भोजन करने पर, उन के साथ निवास करने पर या अस्पृश्य नारी के साथ सम्भोग करने पर शुद्धि तथा प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

अस्पृश्य लोगों पर पूजा करने का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। वे केवल **उपनयन** आदि वैदिक संस्कार नहीं कर सकते थे। वे भगवान् की भक्ति करने के लिए सर्वदा स्वतन्त्र रहे हैं। किन्तु तपश्चर्या के विषय में उन पर प्रतिबन्ध रहे हैं। श्रीराम द्वारा शम्बूक-वध की कथा इस प्रसंग में निदर्शन है।

समाज में शूद्र की स्थिति इतनी हीन हो चुकी थी कि उसे कानून में भी कुछ अपराधों के लिये अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक कड़ा दण्ड देने की व्यवस्था थी। यदि कोई शूद्र उच्च वर्ण की स्त्री से व्यभिचार करता था तो उस का लिंग काट कर उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जाती थी[7] और यदि शूद्र किसी धरोहर

---

१. याज्ञ० स्मृ० ३, ३० पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत।
२. याज्ञ० स्मृ० १, १९४; १९७।
३. अत्रि पु० २४९; द्र० शातातप, स्मृतिचन्द्रिका भाग १, पृ० ११९ पर उद्धृत।
४. स्मृत्यर्थसार, पृ० ७९।
५. वि० ध० सू० ५, १०४।
६. याज्ञ० स्मृ० २, २३४।
७. गौ० ध० सू० १, २।

के रूप में उसके पास रखी स्त्री से व्यभिचार कर बैठता था तो उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता था[१]। इस के विरुद्ध किसी ब्राह्मण द्वारा किसी नारी से सम्भोग का दण्ड केवल ५०० कार्षापण था[२]। शूद्र के घर मृत्यु या जन्म होने पर एक मास की अशुद्धि लगती थी, जबकि ब्राह्मणों के लिये केवल १० दिन का अशौच था। ब्राह्मण केवल उसी शूद्र के यहां भोजन कर सकता था, जो उस का पशुपाल, हलवाहा, या वंशानुक्रम से मित्र हो[३]।

किन्तु आप० ध० सू०[४] ने शूद्रों को उच्च वर्णों का भोजन बनाने की आज्ञा दी है। यद्यपि शूद्र का भोजन ब्राह्मण के लिये वर्जित है[५]। इस प्रसंग में पके हुए भोजन के विषय में नियम और कड़े होते चले गये, केवल कुछ एक चुनी हुई वस्तुओं को शूद्र से ग्रहण करने की छूट दी गयी थी। वह भी अत्यन्त मजबूरी की स्थिति में ही सम्भव था[६]। शूद्र को चारों आश्रमों में से केवल गृहस्थाश्रम के ग्रहण करने की छूट थी, क्योंकि उस पर वेदाध्ययन का प्रतिबन्ध था। शूद्र को इतना नगण्य माना जाता था कि आप० ध० सू०[७] ने शूद्र की हत्या का पातक कौआ, गिरगिट, मोर, मेंढक, नेवला, कुत्ता आदि की हत्या के पातक के समान माना है। इस सब के रहते भी इतिहास में अनेक शूद्र राजा हुए हैं। कौटल्य[८] ने शूद्र-सेना का भी उल्लेख किया है।

---

१. वा० ध० सू० २१, १; मनु० ८, ३६६।
२. मनु० ८, ३८५।
३. गौ० ध० सू० १६, ६; वि० ध० सू० ५७, १६।
४. आप० ध० सू० १, ५, १६, २२।
५. बौ० ध० सू० २, २, १।
६. पराशर० ११, १३ तथा पराशर माधवीय।
७. आप० ध० सू० १, ९, २५, १४; १, ९, २६, १; द्र० मनु० ११, १३१।
८. कौटल्य० ९, २।

त्रिंश अध्याय

आश्रम-व्यवस्था

मानव जीवन को चार भागों में विभक्त करके प्रत्येक भाग के कर्त्तव्यों का निर्धारण एवं राजा तथा समाज द्वारा इस विभाजन का सख्ती से पालन हिन्दू धर्मावलम्बियों की विशेषता है। ऐसे प्रत्येक विभाग को **आश्रम** की संज्ञा दी गयी है। **आश्रम** शब्द संहिताओं या ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रयुक्त नहीं हुआ। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उस काल में ऐसी कोई सामाजिक व्यवस्था थी ही नहीं। 'ब्रह्मचारी' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में हुआ है तथा ब्रह्मचर्य की चर्चा तै० सं० तथा श० ब्रा० एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में की गयी है। यही बात गृहस्थ के विषय में भी लागू होती है (ऋग्० २, १, २ ; १०, ८५, २६)। किन्तु 'वानप्रस्थ' के विषय में ऐसा कोई सुस्पष्ट सङ्केत नहीं मिलता। कुछ लोग पञ्च० ब्रा० (१४, ४, ७) में प्रयुक्त 'वैखानस' शब्द से वानप्रस्थ का आशय ग्रहण करते हैं। उस अवस्था में तृतीय आश्रम का भी सङ्केत मिल जाता है। 'सन्न्यासी' के लिये सूत्रों में 'यति' शब्द का प्रयोग हुआ है (वा० ध० ११, ३४), जो ऋग्वेद में कई बार प्रयुक्त हुआ है। किन्तु वहां इनका अर्थ सन्देहास्पद है[1]। सम्भव है यह किसी जातिविशेष का वाचक हो जो अनार्य या आर्य-विरोधी थी[2]।

ऋग्वेद (१०, १२६, २) में 'मनि' का वर्णन हुआ है जो मैले कुचैले वस्त्र पहनता था। इन्द्र को 'मुनियों' का सखा कहा गया है (ऋग्० ८, १७, १४) तथा मुनि को देवों का मित्र (१०, १३६, ४)। तो भी यहां 'यति' या 'मुनि' शब्द किसी आश्रम-विशेष के द्योतक नहीं कहे जा सकते। सम्भवतः ऐ० ब्रा० (३३, १) के एक श्लोक में चारों आश्रमों का सङ्केत खोजा जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि **मल** से क्या लाभ ? मृगचर्म तथा दाढ़ी एवं तप से क्या लाभ ? हे ब्राह्मणो ! पुत्र की इच्छा करो, यही प्रशंसनीय लोक है। इसमें मृगचर्म से ब्रह्मचर्य का, दाढ़ी तथा तप से वानप्रस्थ का तथा **मल** से 'सन्न्यास' का ग्रहण किया जा सकता है, यद्यपि सायण ने **मल** से 'गार्हस्थ्य' का ग्रहण किया है[3]। गृहस्थ की प्रशंसा तो की

---

१. ऋग्० ८, ३, ९ ; तै० सं० ६, २, ७, ५ ; काठ० सं० ८, ५ ; ऐब्रा० ३५, २ ; कौषी उप० ३, १।

२. काणे, ध० शा० इ०, भाग १, पृ० २६५।

३. द्र. कीथ, आंग्लानुवाद, पृ० ३००, टि० ५; कीथ ने यहां आश्रमों का संकेत नहीं माना। किन्तु काणे ने इसकी सम्भावना मानी है (वही)।

ही गयी है। छां० उप० (२, २३, १) में धर्म की तीन शाखाओं का उल्लेख किया गया है[1]। सम्भवतः उस समय तक वानप्रस्थ तथा सन्न्यास में कोई अन्तर नहीं किया गया था[2]।

बृ० आर० उप० (४, ५, २) में याज्ञवल्क्य सन्न्यास (**प्रव्रज्या**) ग्रहण करने की बात कहते हैं। मुण्ड० उप० (१, २, ११) में ब्रह्मज्ञानियों के लिये भिक्षाटन की व्यवस्था का सङ्केत किया गया है। उसी में (३, २, ६) 'सन्न्यास' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। जाबा० उप० (४) में जनक याज्ञवल्क्य से सन्न्यास की व्याख्या करने को कहते हैं। वहीं चारों आश्रमों की विशेषताओं का भी स्पष्ट वर्णन किया गया है। सप्तमशती ई० पू० में पाणिनि (४, ३, ११०-१११) ने पाराशर्य तथा कर्मन्दक के भिक्षु-सूत्रों का स्पष्ट उल्लेख किया है तथा 'मस्करी' का **परिव्राजक** के अर्थ में प्रयोग किया है (पा० ६, १, १५४)।

अत्यन्त प्राचीन सूत्रों में चारों आश्रमों की चर्चा की गयी है, यद्यपि नामों तथा वर्णन-क्रम में भेद पाया जाता है। आप० ध० सू० (२, ९, २१, १) में गार्हस्थ्य, गुरुगेह में वास, मुनि-रूप में विचरण तथा वानप्रस्थ्य की चर्चा की गयी है। वा० ध० सू० (७, १-२) में **ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ** तथा **परिव्राजक** इन चारों की चर्चा की गयी है। गौ० ध० सू० (३, २) में **ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु** तथा **वैखानस** का नामनिर्देश-पूर्वक उल्लेख किया गया है।

बौ० ध० सू० (२, ६, १७) ने इस विषय में एक रोचक सूचना यह दी है कि प्रह्लाद के पुत्र असुर कपिल ने देवताओं से शत्रुता के कारण ही उन्हें इन चार भागों में विभाजित कर दिया था। इन से सम्भवतः यह ध्वनि निकल सकती है कि अन्य कई संस्थाओं के समान आश्रम-व्यवस्था का उद्गम भी सम्भवतः असुर संस्कृति से हुआ हो।

धर्मसूत्रों में विषयों का प्रतिपादन वर्णों तथा आश्रमों के कर्तव्यों के रूप में किया गया है। इस प्रतिपादन-क्रम में भी सूत्रों में परस्पर भेद पाया जाता है। कोई ब्रह्मचारी के कर्तव्यों से आरम्भ करते हैं तो अन्य गृहस्थ के कर्तव्यों को प्राथमिकता प्रदान करते हैं। इस विषय में हम प्रथम क्रम का अनुसरण करेंगे।

---

१. **त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी...**

२. काणे, वही।

ब्रह्मचर्याश्रम

विषयों की दृष्टि से यद्यपि गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, तो भी गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित अनेक विषयों का विवेचन धर्मसूत्रों में अधिक विस्तार और तनिक भिन्न दृष्टिकोण से किया गया है। यथा—उपनयन, विवाह, श्राद्ध, पञ्चमहायज्ञ, ब्रह्मचारि-व्रत, स्नातक-व्रत अनध्याय ; मधुपर्क प्रभृति।

तो भी धर्मसूत्रों ने स्वतन्त्र रूप से जीवन के विस्तृत क्षेत्र से सम्बद्ध अनेक विषयों का विस्तृत प्रतिपादन किया है। धर्मसूत्र शब्द में धर्म शब्द का अर्थ स्वयं सूत्रकारों के मतानुसार वर्णों और आश्रमों के पालनीय कर्तव्य ही प्रतीत होता है[1]। मेधातिथि ने मनु० (२, २५) पर भाष्य करते हुए लिखा है कि इस प्रसंग में धर्म पांच प्रकार के हैं—(१) वर्णधर्म (२) आश्रम-धर्म (३) वर्णाश्रम-धर्म (४) नैमित्तिक-धर्म (प्रायश्चित्त आदि) और (५) गुण-धर्म (यथा अभिषिक्त राजा के धर्म)। गौ० ध० सू० (१९, १) पर भाष्य में हरदत्त मिश्र ने भी इन पञ्चविध धर्मों का उल्लेख किया है, किन्तु याज्ञ० स्मृ० (१, १) की व्याख्या में विज्ञानेश्वर ने साधारण धर्म नामक एक छठा धर्म भी स्वीकार किया है।

एक और दृष्टिकोण से विचार करने पर हम धर्मसूत्रों के विषयों का विभाजन चार विभागों में कर सकते हैं—

१. आचार, २. प्रायश्चित्त, ३. व्यवहार, ४. राज-धर्म। धर्म-शास्त्रों के विषयों का विभाजन इसी प्रकार किया भी गया है।

१. **आचार** विभाग के अन्तर्गत ये विषय प्रतिपादित हैं—

(क) **संस्कार** ; (ख) **श्राद्ध** ; (ग) **अशौच** ; (घ) **सामान्य नियम, विशेषतः द्रव्यशुद्धि**।

(क) **संस्कार**—गौ० ध० सू० में ४० संस्कार गिनाये गये हैं जो इस प्रकार हैं—(१) **गर्भाधान** (२) **पुंसवन** (३) **सीमन्तोन्नयन** (४) **जातकर्म** (५) **नामकरण** (६) **अन्नप्राशन** (७) **चौल** (८) **उपनयन** (९-१२) **चार वेद-व्रत** (१३) **स्नान** (१४) **सहधर्मचारिणी-संयोग** (१५-१९) **पञ्चमहायज्ञ** (२०-२६) **सात पाक-यज्ञ** (२७-३३) **सात हविर्यज्ञ** (३४-४०) **सात सोम-यज्ञ**।

गौतम द्वारा निर्धारित संस्कारों को सभी सूत्रकारों ने मान्यता प्रदान की हो या इन सभी का प्रतिपादन किया हो, यह बात नहीं है। वै० स्मा० सू० ने १८ शरीर-संस्कार गिनाए हैं, जिनमें **उत्थान, प्रसवागमन** एवं **पिण्डवर्धन** भी

---

१. विष्णु० ध० सू० १, ४८; याज्ञ० स्मृ० १, १।

सम्मिलित हैं, जिन्हें संस्कारों की कोटि में किसी ने नहीं गिनाया, और २२ यज्ञों का वर्णन किया है, जिनमें पांच **आह्निकयज्ञ** (एक कर्म) सात **पाक-यज्ञ**, सात **हविर्यज्ञ** तथा सात **सोम-यज्ञ** सम्मिलित हैं। अन्यथा गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में इन संस्कारों की इतनी लम्बी तालिका नहीं मिलती। निबन्धकारों ने अधिकतर १६ संस्कार ही गिनाए हैं—**गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, विष्णुबलि, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल या चूडाकरण, उपनयन, वेदव्रत, समावर्तन** तथा **विवाह**।

गृह्यसूत्रों में प्रायः **अन्त्येष्टि** को संस्कारों में सम्मिलित नहीं किया गया, किन्तु वि० ध० सू०, याज्ञ स्मृ०, मनु० तथा जातूकर्ण्य (स्मृति-चन्द्रिका में उद्धृत) ने **१६ संस्कारों में श्मशान** या अन्त्येष्टि को सम्मिलित किया है।

सभी **संस्कारों** का न तो सभी सूत्रों या गृह्यसूत्रों में वर्णन ही किया गया है, न ही इनके स्वरूप के विषय में मतैक्य ही पाया जाता है, यथा—

गर्भरक्षण की चर्चा शां० गृ० सू०[1] में की गई है। इससे मिलते जुलते **अनवलोभन** की चर्चा केवल आश्व० गृ० सू०[2] या बैज० गृ० सू०[3] में ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार **उत्थान** का वर्णन केवल वै० स्मा० सू०[4] एवं शां० गृ० सू०[5] में एवं **विष्णुबलि** की चर्चा बौ० गृ० सू०[6] तथा वै० स्मा० सू०[7] में ही मिलती है। द्विजातियों में पुरुष-वर्ग द्वारा संस्कारों के कृत्य वैदिक मन्त्रों के साथ और नारी-वर्ग के द्वारा वैदिक मन्त्रों के बिना किए जाते हैं[8]। किन्तु विवाह में नारियों के कृत्य भी समन्त्रक ही होते हैं[9]।

द्विजातियों के लिये **गर्भाधान से** लेकर **उपनयन** तक के **संस्कार** अनिवार्य माने गये हैं, **समावर्तन** (स्नान) तथा **विवाह** अनिवार्य नहीं हैं।

---

१. शां० गृ० सू० १, २१।
२. बैज० गृ० सू० १, १३, १।
३. काणे, ध० शा० इ०, भाग १, पृ० १८८।
४. वै० स्मा० सू० ३, १८।
५. शां० गृ० सू० १, २५।
६. बौ० गृ० सू० १, १०, १३-१७।
७. वै० स्मा० सू० ३, १३।
८. आश्व० गृ० सू० १, १५, १२; १, १६, ६; १, १७, १८।
९. मनु० २, ६७।

यद्यपि उत्तरवर्ती स्मृतिकारों ने शूद्रों के लिये **विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल** तथा **कर्णवेध**, संस्कारों का वेदमन्त्र-रहित विधान किया है, तो भी बैज० गृ० सू० में **गर्भाधान** से लेकर **चौल** तक के आठ संस्कारों को ही शूद्रों के लिये मान्यता प्रदान की है, जब कि निर्णयसिन्धु में उद्धृत हरिहर-भाष्य के अनुसार शूद्र लोग केवल छह संस्कार करने के योग्य हैं, यथा—**विवाह, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन**, तथा **चौल**। किन्तु इस विषय में पर्याप्त मतभेद है।

संस्कारों का विस्तृत विवरण तो गृह्यसूत्रों में दे दिया गया है। धर्मसूत्रों में तो मुख्यत: **उपनयन** तथा **विवाह** इन दो की ही चर्चा की गयी है। अत: यद्यपि इन का भी वर्णन गृह्यसूत्र-प्रकरण में कर दिया गया है, तो भी क्योंकि इनका सम्बन्ध दो मुख्य आश्रमों से है और धर्मसूत्रों का मुख्य उद्देश्य ही वर्ण तथा आश्रम के धर्मों का प्रतिपादन है अत: ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ आश्रमों से अनिवार्य सम्बन्ध रखने के कारण इन दोनों संस्कारों के सम्बन्ध में धर्मसूत्रों के दृष्टिकोण का प्रस्तुतीकरण अपरिहार्य है। अतः थोड़ी बहुत पुनरावृत्ति होते हुए भी इन संस्कारों के सम्बन्ध में धर्मसूत्रों के प्रतिपाद्य पर विहंगम दृष्टि डाल रहे हैं।

ब्रह्मचर्य-आश्रम

उपनयन

उपनयन का अर्थ है 'पास ले जाना'। शिष्यों को गुरु के पास शिक्षार्थ ले जाने की ही पारिभाषिक संज्ञा 'उपनयन' पड़ गयी। इसका संकेत हमें हिर०गृ०सू० में प्राप्त होता है। वहां शिष्य गुरु से निवेदन करता है "मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हो गया हूँ, मुझे पास ले लीजिये"[1]। अत: इसका अर्थ है वह **संस्कार** या कृत्य जिसके द्वारा ब्रह्मचारी को आचार्य के पास ले जाया जाता है[2]। ऋग्वेद से पता चलता है कि यह संस्कार उस समय भी प्रचलित था[3]। आश्व० गृ० सू० (१, २०, ८); पार० गृ० सू० (२, २) ने इस **संस्कार** के प्रसंग में इसी मन्त्र को उद्धृत भी किया है। तै० सं० (३, १०, ५) में **ब्रह्मचारी** तथा **ब्रह्मचर्य** पदों का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद का एक पूरा सूक्त **ब्रह्मचारी** तथा **ब्रह्मचर्य** की अतिशयोक्ति-पूर्ण प्रशंसा करता है[4]।

---

१. हिर० गृ० सू० १, ५, २; **ब्रह्मचर्यमागामुप मा नयस्व**.........।

२. आप० ध० सू० १, १, १, १९।

३. ऋग्० ३, ८, ४।

४. अथर्व० ११, ७, १-२६।

श० ब्रा० में न केवल 'उपनयति' शब्द का इसी प्रसंग में प्रयोग ही किया गया है, अपितु गुरु शिष्य को उपदेश देकर[१] सावित्री-मन्त्र का प्रवचन भी करता है[२]। ब्रह्मचारी हो जाने पर मधु-भक्षण का निषेध हो जाता है[३]। वस्तुतः यहां धर्मसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में वर्णित उपनयन संस्कार के आधार-भूत अंगों का वर्णन किया गया है। अन्तेवासी शब्द का प्रयोग भी यहां किया गया है[४]। गो० ब्रा०[५] तथा बौ० ध० सू०[६] में ब्रह्मचर्य-जीवन का चित्रण मिलता है। गो० ब्रा० में तो ४८ वर्ष तक **नैष्ठिक ब्रह्मचर्य** का पालन करके सभी वेदों के पूर्ण पाण्डित्य को प्राप्त करने की बात कही गयी है। तथा ब्रह्मचारी के सरल एवं सादा जीवन पर प्रकाश डाला गया है[७]।

उपनिषदों के काल तक आते-आते तो उपनयन की पूर्ण प्रतिष्ठा सर्वत्र हो चुकी थी। सत्यकाम जाबाल का **उपनयन** गौतम हारिद्रुमत ने किया था[८]। तथा प्राचीनशाल औपमन्यव एवं चार ब्राह्मणों के अश्वपति कैकय के पास पहुँचने पर उसने उनको **उपनयन** किये बिना ही ब्रह्म-विषयक उपदेश देना आरम्भ कर दिया था[९]।

प्राचीनकाल में सम्भवतः पिता ही पुत्र को **ब्रह्मचर्य** में दीक्षित करता था[१०]। तो भी साधारणतः छात्र गुरुकुल में योग्य गुरु के पास निवास करने जाया करते थे। स्वयं एक श्रेष्ठ दार्शनिक तथा योग्य विद्वान् होते हुए भी उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को विद्याध्ययनार्थ गुरु के पास भेजा था[११]। यद्यपि छां० उपनिषद् में गोत्रनाम (४, ४, ४), भिक्षावृत्ति (४, ३, ५), अग्नि-रक्षा (४, १०, १-२) तथा पशुपालन (४, ४, ५) जैसे ब्रह्मचारी के कर्तव्यों का उल्लेख है, तो भी **उपनयन** की आयु के विषय में चर्चा नहीं की गयी। फिर भी अनुमान

---

१. श० ब्रा० ११, ५, ४, ६ : अपोऽशान, कर्म कुरु, समिधमाधेहि, मा सुषुप्थाः।

२. अथास्मै सावित्रीमन्वाह।

३. श० ब्रा० ११, ५, ४, १८।

४. वही ५, १, ५, १७; तै० उप० १, ११।

५. गो० ब्रा० २, ३।

६. बौ० ध० सू० १, २, ५३।

७. गो० ब्रा० २, ७।

८. छां० उप० ४, ४, ५।

९. ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान् हानुपनीयैवैतदुवाच (छां० उप० ५, २, ७)।

१०. बृ० उप० ६, २, १ : अनुशिष्टो न्वसि पित्रेत्योमिति होवाच।

११. छां० उप० ६, १, १-२।

लगाया जा सकता है कि श्वेतकेतु को प्रायः १२ वर्ष की आयु में गुरुकुल भेजा गया होगा तथा उसने १२ वर्ष तक वहां निवास किया होगा[1]। किन्तु जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य की चर्चा भी की गयी है[2]।

उपनयन की आयु—यद्यपि आश्व०गृ०सू०[3] के अनुसार ब्राह्मण का उपनयन गर्भाधान या जन्म से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ११वें में तथा वैश्य का १२वें वर्ष में होना चाहिए तथा क्रमशः १६वें, २२वें एवं २४वें वर्ष तक उपनयन किया जा सकता है, तो भी इस विषय में सभी सूत्रों में मतैक्य नहीं है[4]। कामना-भेद से भी अवस्था-भेद देखा जाता है। यथा आध्यात्मिक उत्कर्ष, दीर्घ आयु तथा धन की कामना वाले ब्राह्मण पिता के लिये पुत्र का उपनयन गर्भाधान से क्रमशः ५वें, ८वें तथा ९वें वर्ष में करना श्रेष्ठ है[5]। अन्यत्र[6] आध्यात्मिक श्रेष्ठता, दीर्घ आयु, दीप्ति, पर्याप्त भोजन, शारीरिक बल, तथा पशुधन की प्राप्ति के लिए क्रमशः ७वां, ८वां, ९वां, १०वां तथा १२वां वर्ष उत्कृष्ट माना गया है।

उपनयन के लिए वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु क्रमशः ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिये शुभ माने गए हैं[7]।

वस्त्र—उन दिनों ब्रह्मचारी दो वस्त्र धारण करता था—एक उत्तरीय, दूसरा अधोवासस्। आप० ध० सू०[8] के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्य ब्रह्मचारी के लिए क्रमशः पटुआ के सूत का, सन के सूत का तथा मृगचर्म का वस्त्र होना चाहिए। कुछ आचार्यों के मतानुसार अधोवासः ब्राह्मण के लिए रक्तवर्ण (काषाय), क्षत्रिय के लिए मञ्जीठ-वर्ण, तथा वैश्य के लिए हल्दी के रंग का रुई के सूत का होना चाहिए। अथवा सभी वर्णों के लिए भेड़ के चर्म का उत्तरीय या कम्बल विहित है।[9] इस प्रकार वस्त्र के विषय में बहुत मतभेद हैं। वा० ध० सू० के अनुसार

---

१. छां० उप० २, २३, १; ४, १०, १; ६, १, २।
२. वही, २, २३, १।
३. आश्व० गृ० सू० १, १९, १-६।
४. शां० गृ० सू० २, १; आप० गृ० सू० १०, २; बौ० गृ० सू० २, ५, २; आप० ध० सू० १, १, १, १९; मानव गृ० सू० १, २२, १; काठ० गृ० सू० ४१, २-३; गौ० ध० सू० १, ६-८।
५. बैं० गृ० सू० २, ३।
६. आप० ध० सू० १, १, १, २१; बौ० गृ० सू० २, ५।
७. आप० ध० सू० १, १, १, १९।
८. आप० ध० सू० १, १, २, ३९।
९. वही, १, १, ३, ७-८।

वैश्य के लिए बकरे के चर्म के अतिरिक्त गो-चर्म तथा क्षत्रिय के लिए व्याघ्र-चर्म का विधान है तथा पा० गृ० सू०[1] में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के क्रमशः पटसन, रेशम तथा भेड़ के चर्म के वस्त्र (वासांसि) तथा हरिण, रुरु (मृग), तथा बकरे या गौ का चर्म उत्तरीय के लिए विहित है अथवा सभी वर्णों के लिए गोचर्म ही उत्तरीय के लिये प्रयुक्त हो सकता था।

दण्ड—वर्ण-क्रम के अनुसार ब्राह्मण के लिए विल्व या पलाश का, क्षत्रिय के लिए न्यग्रोध या पीपल का, वैश्य के लिये बेर या उदुम्बर का दण्ड निर्धारित था[2]। एक और मत के अनुसार ब्राह्मण के लिए बिल्व के दण्ड का निषेध किया गया है। इस विषय में और भी मतभेद पाये जाते हैं[3]। वि० ध० सू० में क्षत्रिय के लिए खदिर के दण्ड का विधान है। गृह्यसूत्रों में तो इस प्रसंग में परस्पर विरोधी मत व्यक्त किये गए हैं। सम्भवतः इसी कारण मानव गृ० सू० ने यह कह कर सारी समस्या ही सुलझा दी है कि किसी भी वर्ण का ब्रह्मचारी इच्छानुसार कोई भी दण्ड धारण कर सकता है[4]। दण्ड की लम्बाई भी वर्णानुसार भिन्न-भिन्न निश्चित की गयी है तथा क्रमशः सिर, मस्तक तथा नाक तक दण्ड की लम्बाई निर्धारित की है[5]।

मेखला—तीनों वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिए क्रमशः मूञ्ज, ज्या तथा ऊन की मेखला का विधान है, किन्तु साथ ही विकल्प-रूपेण क्षत्रिय के लिए लोहे की तार से मिश्रित मुञ्ज (अयोमिश्रिता) तथा वैश्य के लिए सूत का धागा या जुए की रस्सी या तमाल की छाल का धागा हो सकता है।[6]

यज्ञोपवीत—यद्यपि तै० सं०[7] तथा तै० ब्रा०[8] में **उपवीत**, **निवीत** तथा **प्राचीनावीत** शब्दों का प्रयोग कृत्यों के प्रसंग में हुआ है, तथा गो० गृ० सू०[9] में विविध प्रकार से यज्ञोपवीत धारण करने के ढंग समझा गए हैं, तथा बौ० गृ० सू०[10] में यज्ञोपवीत धारण करने के नियमों तथा अवसरों का उल्लेख किया गया

---

१. पा० गृ० सू० २, ५, १६-२०।
२. आप० ध० सू० १, १, २, ३८।
३. गौ० ध० सू० १, २१; बौ० ध० सू० २, ५, १७; काठ० गृ० सू० ४१, २२।
४. मानव० गृ० सू० १, २२, ११।
५. वा० ध० सू० ११, ५५-५७।
६. आप० ध० सू० १, १, २, ३५-३७।
७. तै० सं० २, ५, २, १।
८. तै० ब्रा० १, ६, ८।
९. गो० गृ० सू० १, २, २-४; तथा खा० गृ० सू० १, १, ८-९ प्रभृति।
१०. बौ० गृ० सू० २, २, ३।

है, तथापि यज्ञोपवीत कोई सूत्र न होकर मृग-चर्म या वस्त्र ही होता था, यह बात तै० आर०[1] से स्पष्ट हो जाती है। आप० ध० सू०[2] में स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ को उत्तरीय धारण करना चाहिये, किन्तु वस्त्र के अभाव में सूत्र का भी प्रयोग किया जा सकता है। इसी सूत्र में यह भी कहा गया है कि श्राद्ध का भोजन बाएँ कन्धे पर उत्तरीय डालकर उसे दाहिनी ओर लटका कर करना चाहिए। इसी सूत्र ने अन्यत्र[3] व्यवस्था दी है कि गुरुजनों, श्राद्धास्पदों तथा अतिथियों की प्रतीक्षा करते समय अथवा होम, जप, भोजन, आचमन एवं वैदिक अध्ययन करते समय यज्ञोपवीती होना चाहिये। इस की व्याख्या हरदत्त ने यों की है—'यज्ञोपवीत का अर्थ है एक विशिष्ट ढंग से उत्तरीय धारण करना, यदि किसी के पास उत्तरीय न हो तो उसे आप० ध० सू० (२, २, ४, २३) में वर्णित ढंग काम में लाना चाहिए। अन्य समयों में यज्ञोपवीत की आवश्यकता नहीं है[4]। बहुत से गृह्यसूत्रों में यज्ञोपवीत का वर्णन नहीं मिलता और न उसे धारण करते समय किसी मन्त्र की आवश्यकता ही समझी गयी। अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीनकाल में सूत्र-धारण करने की परिपाटी नहीं थी। उस समय व्यक्ति या कृत्य के प्रति आदर दिखाने के लिए उत्तरीय ही धारण किया जाता था।

उत्तरवर्ती काल में जब सूत्र का प्रचलन हो गया तो उसके निर्माण के नियम भी बन गये और उस के ९ तन्तुओं के साथ ९ देवताओं का सम्बन्ध भी जोड़ दिया गया। वर्णक्रमानुसार यज्ञोपवीत रुई, शण तथा ऊन का[5] अथवा रुई या कुश[6] का बनने लगा। उत्तर-काल में सभी वर्णों के लिये रुई, अलसी, गौ की पूंछ के बाल, पटसन की छाल, या कुश का विधान कर दिया गया[7]। तथा इसे सदा धारण करने का नियम बना दिया गया[8]। प्राचीन काल में ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधू (सीधे विवाह कर लेने वाली) स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता

---

१. तै० आ० २, १।
२. आप० ध० सू० २, २, ४, २२-२३।
३. वही १, ५, १५, १।
४. वासो विन्यास-विशेषो यज्ञोपवीतम् ··· ··· ··· कालान्तरे नावश्यम्भावः (द्र. गो० गृ० सू० १, २, १)।
५. वि० ध० सू० २७, १९।
६. बौ० ध० सू० १, ५; ५।
७. पराशर-माधवीय १, २; वृद्ध-हारीत ७, ४७-४८।
८. बौ० ध० सू० २, २, १।

था[1]। वे घर में पढ़ती थीं और घर में ही भिक्षाटन कर सकती थीं। किन्तु मनु के समय तक स्त्रियों के **उपनयन** का प्रचलन वन्द हो गया था।

धर्मसूत्रों[2] के अनुसार अन्धे, वहरे, गूंगे, नपुँसक, पतित, लंगड़े-लूले लोगों को सम्पत्ति का अधिकार नहीं था। किन्तु विवाह का अधिकार था। अतः या तो इन्हें **उपनयन** का अधिकार था या ये विना उपनयन के विवाह कर सकते होंगे। बौ० गृ० परि० (२, ९) में इन के **उपनयन** की विशेष विधि के अनुसार ये बहुत से कृत्य मौनरूप से मन्त्रोच्चारण के बिना कर सकते हैं। आप० ध० सू० (२, ६, १३, १) ने स्पष्ट शब्दों में कुण्ड (पति के रहते अन्य पुरुष से उत्पन्न सन्तान) तथा गोलक (पति की मृत्यु के उपरान्त अन्य पुरुष से उत्पन्न सन्तान) के लिये यही विधान किया है।

वर्ण-संकरों में **अनुलोमों** के सभी कृत्य माता की जाति के अनुसार किये जाते थे। किन्तु **प्रतिलोमों** (शूद्रों) का **उपनयन** निषिद्ध है। बौ० गृ० परि० (२, ८) ने तो क्षत्रियों, वैश्यों और ६ **अनुलोमों** से उत्पन्न सन्तानों (**रथकारों** तथा **अम्बष्ठों** आदि) के लिये अलग **उपनयन**-नियम दिये हैं।

उपनयन-संस्कार का महत्त्व इतना बढ़ गया था कि बौ० गृ० परि० (२, १०) ने अश्वत्थ वृक्ष तक के **उपनयन** की व्यवस्था कर डाली, जिसमें अश्वत्थ के पश्चिम में होम किया जाता है और **पुंसवन** के आगे के संस्कारों की अनुकृति की जाती है। वृक्ष और कर्ता के बीच एक वस्त्र-खण्ड रख कर आठ मंगल श्लोक पढ़ने के उपरान्त वस्त्र हटा लिया जाता है, तथा ध्रुव-सूक्त (ऋग्० १०, ७२, १-९) का पाठ करके वस्त्र, यज्ञोपवीत, मेखला, दण्ड एवं मृगचर्म अश्वत्थ को समन्त्र समर्पित किये जाते हैं तथा गायत्री-मन्त्र से वृक्ष को स्पर्श किया जाता है।

सावित्री-उपदेश—श० ब्रा०[3] से पता चलता है कि **उपनयन** के एक वर्ष, छह मास, २४, १२, या ३ दिन या ब्राह्मण हो तो तुरन्त ही गुरु गायत्री का उपदेश ब्रह्मचारी को देते हैं। अधिकतर सूत्रों के अनुसार आचार्य अग्नि के उत्तर में पूर्वाभिमुख बैठता है और ब्रह्मचारी पश्चिमाभिमुख बैठ कर सावित्री-मन्त्र के उपदेश की प्रार्थना करता है। आचार्य एक पाद, फिर दो पाद, फिर पूरा मन्त्र

---

१. **पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जी-बन्धनमिष्यते।**
अध्यापनं च वेदानां सावित्री-वचनं तथा॥

यम, संस्कारप्रकाश पृ० ४०२-४०३ पर उद्धृत, स्मृतिचन्द्रिका १, २४ में यही श्लोक मनु के नाम से उद्धृत है।

२. आप० ध० सू० २, ६, १४, १; गौतम ध० सू० २८, ४१; वि० ध० सू० १५, ३२।

३. श० ब्रा० ११, ५, ४, १-१७।

सिखाता है। ब्रह्मचारी पलाश या किसी अन्य यज्ञिय वृक्ष की चार समिधाएं घी में भिगो कर अग्नि में डालता है और अग्नि, वायु, आदित्य एवं व्रत के स्वामी के लिये मन्त्रोच्चारण करता है[1]। इस कृत्य के विषय में सूत्रों तथा टीकाकारों में बहुत मतभेद हैं। क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिये भिन्न-भिन्न सावित्री मन्त्रों के उपदेश का विधान किया गया है। क्षत्रियों के लिये त्रिष्टुप् तथा वैश्यों के लिये जगती छन्द के मन्त्रों की परिपाटी रही है[2]। धर्मसूत्रों में गायत्री की बहुत महिमा गायी गयी है[3]। इसके जप से शुचिता प्राप्त होती है[4]।

ब्रह्मचारी के लिए कुछ नियमों का विधान किया गया है, यथा—अग्निपरिचर्या, भिक्षाटन, सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन, गुरु-शुश्रूषा, एवं भक्ष्याभक्ष्य नियमों का पालन। अभिवादन के नियम तथा अनेक प्रकार के ब्रह्मचारि-व्रतों का पालन आदि अनेक नियम हैं।

अग्नि-परिचर्या के लिये उपनयन के समय प्रज्वलित अग्नि को समिधाओं के सहारे तीन दिनों तक प्रज्वलित रख कर साधारण अग्नि में समिधा डाली जाती थी। तदनन्तर प्रतिदिन सायं-प्रातः अग्नि में समिधा डालना ब्रह्मचारी का कर्तव्य होता था[5]।

भिक्षाटन—ब्रह्मचारी के आवश्यक दैनिक कर्तव्यों में गुरु तथा अपने लिये भिक्षा मांगना था। भिक्षा उस व्यक्ति से मांगनी चाहिये जो इन्कार न करे। भिक्षा मांगने के भी वर्णानुसार नियम बनाये गये हैं। ब्राह्मण ब्रह्मचारी को कहना चाहिये '**भवति भिक्षां देहि**', किन्तु क्षत्रिय तथा वैश्य ब्रह्मचारी को क्रम से '**भिक्षां भवति देहि**' तथा '**देहि भिक्षां भवति**' कहना चाहिये[6]।

---

१. बौ० गृ० सू० २, ५, ३४-३७।

२. काठ० गृ० सू० ४, २० के टीकाकारों के अनुसार काठ० सं० ४, १० तथा १६, १८ का उपदेश क्रमशः क्षत्रिय और वैश्य को करना चाहिये। शां० गृ० सू० २, ५, ४-६; के अनुसार ऋग्० १, ३५, २ तथा १, ३५, ९ या ४, ४०, ५ का विधान है। वाराह गृ० सू० ५ के अनुसार ये मन्त्र **देवो याति सविता** और **युञ्जते मनः** (ऋग्० ५, ८१, १) है। अन्य अन्तर भी पाये जाते हैं।

३. आप० ध० सू० १, १, १, १०; वि० ध० सू० ५५, ११-१७।

४. बौ० ध० सू० २, ४, ७-९; वा० ध० सू० २६, १५।

५. आप० ध० सू० १, १, ४, १७।

६. बौ० ध० सू० १, २, १७।

अपपात्रों (चाण्डाल आदि) एवं अभिशस्तों (अपराधियों) के अतिरिक्त भिक्षा किसी से भी मांगी जा सकती है[१]। किन्तु शूद्रों से आपत्काल में भी भिक्षा मांगना वर्जित है।

यदि कोई ब्रह्मचारी रोग आदि कारण के विना अग्नि-परिचर्या तथा भिक्षाटन लगातार सात दिन तक नहीं करता था, तो उसे वही प्रायश्चित्त करना होता था जो सम्भोग करने वाले **अवकीर्णी** ब्रह्मचारी के लिए विहित है[२]। और निर्ऋति देवता के लिये चतुष्पथ पर गधे की बलि देनी पड़ती थी[३]।

सन्ध्या-वन्दन—ब्रह्मचारी को सामान्यत: प्रतिदिन सायं-प्रात: दो बार सन्ध्या करनी चाहिये[४]। सूर्योदय से पूर्व तथा सूर्यास्त के उपरान्त की जाने वाली इन सन्ध्याओं को क्रमश: गायत्री तथा सावित्री की संज्ञा दी गयी है। इनके लिये गांव से बाहर एकान्त स्थान उत्तम माना गया है[५]। इसमें गायत्री का जप तथा अन्य वैदिक मन्त्र ही प्रमुख हैं। मार्जन आदि गौण हैं, किन्तु उत्तरकाल में जप को गौण तथा आसन आदि को प्रधान मान लिया गया।

आचमन, प्राणायाम, मार्जन (अपने ऊपर तीन बार जल छिड़कना), **अघमर्षण, अर्घ्य, गायत्री-जप** तथा **उपस्थान** (प्रात: सूर्य की उपासना और सायं सामान्यत: वरुण की उपासना) सन्ध्या के प्रधान अंग हैं[६]। सन्ध्योपसना न करने वाला व्यक्ति ब्राह्मण नहीं माना जाता था। राजा का कर्त्तव्य था कि वह ऐसे ब्राह्मण से शूद्र का काम ले[७]।

वेदाध्ययन शिक्षा का अंग था। इसी कारण आचार्य को वेद-निष्ठ, धर्मज्ञ, कुलीन, शुचि, तथा श्रोत्रिय होना चाहिये। श्रोत्रिय वह है जिसने वेद की एक शाखा पढ़ रखी हो[८]। क्षत्रिय और वैश्य भी आचार्य बन सकते थे, किन्तु शिष्य ऐसे गुरु के चरण पखारने तथा देह मलने का कार्य नहीं कर सकता था[९]।

---

१. आप० ध० सू० १, १, ३, २५; बौ० ध० सू० १, ५, ५६; गौ० ध० सू० २, ४१।
२. बौ० ध० सू० १, २, ५४; वि० ध० सू० २८, ५२।
३. का० श्रौ० सू० १, १, १३; याज्ञ० स्मृ० ३, २८०-२८१।
४. आप० ध० सू० १, ११, ३०, ८; गौ० ध० सू० २, १७।
५. आप० ध० सू० १, ११, ३०, ८; गौ० ध० सू० २, १६।
६. आप० ध० सू० १, ५, १५, ५; बौ० ध० सू० ४, १, ३०; वा० ध० सू० २५, १३ प्रभृति।
७. बौ० ध० सू० २, ४, २०।
८. आप० ध० सू० २, ३, ६; बौ० ध० सू० १, ७, ३।
९. आप० ध० सू० २, २, ४, २५-२६; बौ० ध० सू० १, २, ४०-४२; गौ० ध० सू० ७, १-३।

आपत्काल के अतिरिक्त क्षत्रिय और वैश्य शिक्षा को अपनी जीविका का साधन नहीं बना सकते थे।

शिष्यों को चाहिये कि वह गुरु को भगवान् के समान समझ कर उसकी सेवा-शुश्रूषा तथा आज्ञा का पालन करे[1]। उसे सत्य-भाषण, स्नान आदि नित्यकर्म नियमपूर्वक करने चाहिएं। मधु, मांस, इत्र, पुष्पसेवन, दिवाशयन, अञ्जन, तेल-मर्दन, जूता पहनना, छाता लगाना, प्रणय-व्यवहार, क्रोध, लोभ, व्यर्थ विवाद, वड़ी सावधानी तथा सौन्दर्य-भावना से दन्त-मञ्जन, नृत्य, संगीत, स्त्री-प्रसंग, द्यूत-क्रीड़ा प्रभृति विषयों तथा सर्व प्रकार की वासनाओं से दूर रहना चाहिये[2]। शिष्टाचार के अन्य नियमों का व्योरेवार वर्णन किया गया है। गुरु के समीप पैर फैलाकर बैठना, जोर से खांसना तथा हंसना, जम्भाई लेना, अंगुली चटकाना प्रभृति अशिष्ट व्यवहारों से वचने को कहा गया है[3]। विद्यार्थी को या तो सिर मुँडा कर रहना चाहिये या जटा बांध कर। गुरु जी या गुरु-पत्नी या अन्य माता-पिता प्रभृति का नाम नहीं लेना चाहिये[4], हाथों से पैर पकड़ना (**उपसंग्रहण**), **अभिवादन** तथा प्रणाम के नियमों का पालन करना चाहिये[5]।

पतित-सावित्रीक (सावित्री-पतित)

जैसाकि ऊपर बता चुके हैं, तीनों द्विजातीय वर्णों के लिये उपनयन संस्कार की अवधि निश्चित कर दी गयी थी जो ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के क्रम से १६वें, २२वें तथा २४वें वर्ष की आयु तक थी। तदुपरान्त अनुपनीत व्यक्ति को सावित्री के उपदेश के अयोग्य माना जाता था और वह **पतित-सावित्रीक** या **सावित्रीपतित** कहलाता था[6]। ऐसा व्यक्ति, पापी, पतित, समाज-वहिष्कृत, वेदाध्ययन तथा यज्ञ-याग के अयोग्य माना जाता था। उससे विवाह आदि सम्बन्ध भी वर्जित था।

इस प्रकार के अपराध से मुक्त होने के लिये प्रायश्चित्तों का विधान किया गया है। आप० ध० सू०[7] के अनुसार अवधि बीत जाने पर उपनयन करके

---

१. आप० ध० सू० १, २, ६, १३; १, १, २, १९।
२. गौ० ध० सू० २, १३, १४; १८; १९, २२; २३; २५; आप० ध० सू० १, १, २, २१-३०; १, १, ३, ११-१४।
३. आप० ध० सू० १, २, ५, २६; १, २, ६, १-१२।
४. गौ० ध० सू० २, २४; २८-२९।
५. आप० ध० सू० १, २, ५, १९-२२; बौ० ध० सू० १, २, २४; २८।
६. आश्व० गृ० सू० १, १९, ५-७; बौ० गृ० सू० ३, १३, ५-६; वा० ध० सू० ११, ७१-७५; आप० ध० सू० १, १, १, २२।
७. आप० ध० सू० १, १, १, २४-२७।

वह वर्ष भर तक प्रतिदिन तीन बार स्नान करके वेदाध्ययन कर सकता है। वा० ध० सू०[1] तथा वै० स्मा० सू०[2] **पतित-सावित्रीक** के लिये **उद्दालक व्रत** का विधान करते हैं जिसमें दो मास तक जौ की लप्सी पर, एक मास तक दूध पर, एक पक्ष आमिक्षा (छैना या पनीर) पर, आठ दिन घृत पर, छह दिन तक बिना मांगे मिली भिक्षा पर, तीन दिन पानी पर तथा एक दिन अन्नजल के बिना रहना पड़ता है या फिर उसे **व्रात्यस्तोम** नामक यज्ञ करना चाहिये[3]। जबकि वि० ध० सू०[4] के अनुसार ऐसे व्यक्ति को **प्राजापत्य प्रायश्चित्त**[5] करना चाहिये। यह १२ दिनों तक किया जाता है, जिनमें तीन दिनों तक केवल प्रातःकाल भोजन किया जाता है, तीन दिनों तक केवल सन्ध्याकाल, तीन दिनों तक बिना मांगे प्राप्त भिक्षा पर निर्भर रहना होता है तथा अन्तिम तीन दिन सर्वथा उपवास किया जाता है[5]। यदि कोई व्यक्ति तीन पीढ़ियों तक अनुपनीत रहें तो उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगता है। उनका पूर्ण सामाजिक बहिष्कार करने की व्यवस्था दी गयी है[6]। इसका प्रायश्चित्त अतिविस्तृत है।

पुनः उपनयन

कुछ विशेष अवस्थाओं में **पुनः उपनयन** की व्यवस्था भी की गयी है, यथा—अपना वेद समाप्त करके दूसरे वेद के अध्ययन की इच्छा हो, तो उसके लिये पुनरुपनयन करना पड़ता है। आश्व० गृ० सू०[7] के अनुसार इसमें **चौल-कर्म** तथा **मेधाजनन संस्कार** नहीं भी किये जा सकते। इसके लिये समय की कोई निश्चित अवधि नहीं है। गायत्री[8] के स्थान पर **तत्सवितुर्वृणीमहे०**[9] का विनियोग किया जाता है। इस विषय में कुछ मतान्तर भी हैं। उपरि-कथित अवसर के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी पुनरुपनयन किया जा सकता है, यथा पहले उपनयन की तिथि दोषपूर्ण थी, या उस दिन अनध्याय था या कुछ बातें भूल से छूट गयी हों। पुनरुपनयन का तृतीय अवसर है किसी भयानक पाप को दूर करने की इच्छा या प्रायश्चित्त के लिये भी उपनयन की इच्छा। सुरापान, मानवमूत्र

१. वा० ध० सू० ११, ७६-७९।
२. वै० स्मार्त० २, ३।
३. पञ्च० ब्रा० १७,१-४; का० श्रौ० सू० २२,४,१-२८; आप०श्रौ० सू० २२,५,४-१४।
४. वि० ध० सू० ५४, २६।
५. मनु० ११, २११; याज्ञ० स्मृ० ३, ३१९ तथा उस पर मिताक्षरा।
६. आप० ध० सू० १, १, १, २८; १, १, २, १-४।
७. आश्व० गृ० सू० १, २२, २२-२६।
८. ऋग्० ३, ६२, १०।
९. ऋग्० ५, ८२, १।

मल, वीर्य, जंगली पशुओं के अभक्ष्य मांस का सेवन जैसे पाप करने पर पुनरुपनयन का विधान किया गया है[1]। कहीं-कहीं विदेश-यात्रा के अवसर पर भी **पुनरुपनयन** की व्यवस्था दी गयी है[2]। प्रौढ़ अवस्था में भेड़, गदहो, ऊंटनी या नारी का दूध पी लेने पर भी इसे करना पड़ता था और कभी-कभी इसके साथ **प्राजापत्य प्रायश्चित्त** भी करना होता था।

अनध्याय

आजकल के समान ही उस समय भी अध्ययन-काल में मध्ये-मध्ये **अनध्याय** या अवकाश के अवसर आते रहते थे। श० ब्रा०[3] में **अनध्याय** के अनेक अवसरों का उल्लेख किया गया है। **अनध्याय** का अर्थ अध्ययन का पूर्ण-विराम नहीं होता था, केवल नवीन पाठ को छुट्टी रहती थी। पूर्वाधीत पाठ की आवृत्ति पर कोई प्रतिवन्ध नहीं होता था।

मेघ के गरजने, विजली के चमकने, वज्रपात, अंधड़-तूफ़ान, भूचाल प्रभृति वाधाओं के अवसर वेदाध्ययन के वन्द करने के सूचक होते थे[4]।

अनध्याय की चर्चा गृह्य तथा धर्मसूत्रों तथा उत्तरकालिक स्मृतियों में विस्तार से की गयी है[5]। यहां हम धर्मसूत्रों के सङ्केतों की चर्चा करेंगे। अनध्याय के अवसरों पर अध्ययन करने से अनेक प्रकार के अनिष्ट हो सकते हैं, यथा अष्टमी में अध्ययन करने से गुरु, चतुर्दशी में शिष्य, तथा १५वीं तिथि में विद्या का नाश होता है। तिथियों में प्रतिपदा, अष्टमी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमा तथा अमावास्या में तो नित्य अनध्याय रहता था। मेघ की गरज, वर्षा, विजली की चमक जैसे अवसरों पर तीन दिन का अनध्याय रहता था[6]। वेदों के **उत्सर्जन**, **उपाकरण**, गुरुजनों की मृत्यु, अष्टका, भाई-भतीजे की मृत्यु पर भी तीन दिन का अनध्याय रहता था। माता-पिता की मृत्यु पर १२ दिनों के अनध्याय का भी विधान है[7]। उपाकर्म के उपरान्त तो एक मास तक रात्रि के प्रथम प्रहर में वेदाध्ययन का निषेध किया गया है[8]।

---

१. गौ० ध० सू० २३,२-५; बौ० ध०सू० २,१,२५; २९; वि० ध० सू० २२, ८६ आदि।
२. बौ० गृ० परिभा० १, १२, ५-६; वैखा० स्मृति ६, ९-१०।
३. श० ब्रा० ११, ५, ६, ९।
४. आप० ध० सू० १, ४, १२, ३।
५. आप० ध० सू० १, ३, ९, ४ से १, ३, ११ तक; शां० गृ० सू० ४, ७; मनु० ४, १०२-१२८; याज्ञ० स्मृ० १, १४४-१५१।
६. आप० ध० सू० १, ३, ११, २३।
७. आप० ध० सू० १, ३, १०, ४।
८. आप० ध० सू० १, ३, ९, १।

आप० श्रौ० सू०[1] के अनुसार अनध्याय के नियम केवल वैदिक मन्त्रों से ही सम्बन्ध रखते हैं। इन का व्याकरण, निरुक्त से कोई सम्बन्ध नहीं है[2]। अनध्याय वाचिक (मन्त्रोच्चारण) तथा मानस (विचारना) दो प्रकार का होता है। विशिष्ट अवसरों पर इन दोनों में अन्तर किया गया है[3]।

ब्रह्मचर्य की कालावधि के विषय में आचार्यों में मतभेद पाया जाता है। यह अवधि प्रायः १२ वर्ष होती थी किन्तु ४४ वर्ष तक की भी चर्चा की गयी है (गोपथ ब्रा० २, ५)। जिनके लिए १२ वर्ष तक अध्ययन सम्भव नहीं था उन्हें कम से कम तीन वर्ष वेद के अध्ययन में लगाने होते थे (आप० ध० सू० १, १, २, १६ पर हरदत्त)।

अध्ययन के विषयों की एक लम्बी तालिका छान्दोग्य उपनिषद (७, १, २) में ही दी गयी है जिनमें वेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, राशि, दैव (लक्षणविद्या), निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या (नृत्यगान प्रभृति) गिनायी गयी हैं। पाणिनि को ही प्राचीन कल्पसूत्रों, भिक्षुसूत्रों, नटसूत्रों तथा अन्य लौकिक विषयों की जानकारी थी। धर्मसूत्रों में ही अनेक पूर्वाचार्यों के श्लोक धर्म के विषय पर उद्धृत किये गये हैं जिससे उस समय की विशाल साहित्यिक गतिविधियों पर प्रकाश पड़ता है। विद्या निःशुल्क थी। गौतम (२, ५४-५५) के अनुसार विद्या-समाप्ति पर शिष्य को गुरु से धन लेने की प्रार्थना करनी चाहिए और गुरु से आज्ञा मिल जाने पर सामर्थ्यानुसार गुरु-दक्षिणा देनी चाहिए। आपस्तम्ब (१, २, ७, १९-२३) ने भी ऐसा ही लिखा है। जीविकार्थ वेद-वेदांग पढ़ाने वाला गुरु **उपाध्याय** कहलाता था। धन के लिए पढ़ाने एवं वेतन-भोगी गुरु से पढ़ने को उपपातकों में गिना गया है। **भृतकाध्यापक** तथा उसके शिष्य श्राद्ध में निमन्त्रण के योग्य नहीं माने जाते थे (विष्णु-धर्मसूत्र ३७, २०)। मेधातिथि (मनु० २, ११२) तथा मिताक्षरा (याज्ञ स्मृ० २, २३५) ने निर्दिष्ट धन लेने वाले गुरु की भर्त्सना की है। वही **भृतकाध्यापक** कहलाता है। विद्वानों तथा विद्यार्थियों की जीविका का प्रबन्ध करना राजा का कर्तव्य था।[4] राजा को तीन वेदों, आन्वीक्षिकी, (तर्कशास्त्र) दण्ड-

---

१. आप० श्रौ० सू० २४, १, ३७; आप० ध० सू० १, ४, १२, ९; जैमिनि १२, ३, १८-१९।

२. मनु० २, १०५।

३. बौ० ध० सू० १, ११, ४०-४१; आप० ध० सू० १, ३, ११, २०; गौ० ध० सू० १६, ४६।

४. गौ० ध० सू० १०, ९-१२; वि० ध० सू० ३, ७९-८०।

नीति तथा वार्ता (अर्थशास्त्र) का पण्डित होना चाहिए[1]। किन्तु यह आदर्शमात्र है, व्यवहार में राजा लोग अधिक अध्ययनशील होते थे।

नारी-शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध था। आश्व० गृ० सू० (३,४) में गार्गी वाचक्नवी, वडवा प्रातिथेयी और सुलभा मैत्रेयी नामक तीन नारी शिक्षिकाओं के तर्पण का आदेश दिया है। पाणिनि (४, १, ५९; ४, ३, २१) ने आचार्या और उपाध्याया शब्दों की व्युत्पत्ति की व्यवस्था की है। महाभाष्य (पा० ४, १, १४; वा० ३) में आपिशला काशकृत्स्ना, वैयाकरण नारियों का उल्लेख किया है। किन्तु धर्मसूत्रों में नारी-शिक्षा की चर्चा नहीं की गयी। तो भी गृह्यसूत्रों में वधुओं के मन्त्रोच्चारण के नियम से पता चलता है कि वे शिक्षित होती थीं (द्र. गो० गृ० सू० २,१,१९-२०; काठ० गृ० सू० २५, २३) कालान्तर में मनु प्रभृति स्मृतिकारों तथा धर्मसूत्रकारों ने नारी को वेदाध्ययन के विषय में शूद्र के समकक्ष रख दिया। वह हर अवस्था में पराश्रित मानी जाने लगी थी[2]। वैसे प्राचीनकाल में नारी की स्थिति पुरुष से हीन तथा उसका व्यक्तित्व दोषपूर्ण माना जाता था, तो भी शिक्षित तथा ब्रह्मवादिनी नारियों का उल्लेख आता है।

अपनी शाखा के वेद का अध्ययन समाप्त कर चुकने पर अन्य वेद का अध्ययन आरम्भ करने के लिए या किसी पातक के प्रायश्चित के लिए पुनरुपनयन की भी व्यवस्था की गयी है[3]। ब्रह्मचारी के चार वेदव्रतों, पतित-सावित्रीक, अनध्याय, गोदान, तथा समावर्तन के विषय में गृह्यसूत्रों में उक्त इन नियमों के अतिरिक्त धर्मसूत्रों में कुछ विशेष नहीं कहा गया।

विद्यार्थी को **शारीरिक दण्ड** देने के विषय में गौतम (२, ४८-५०) का मत है कि सामान्यतः शिष्यों को मारना-पीटना नहीं चाहिये। यदि अत्यन्त आवश्यक हो तो पतली रस्सी या बांस की पतली फट्टी से हल्की मार दे सकते हैं। किन्तु यदि अध्यापक थप्पड़, मुक्के या डण्डे आदि से सख्त दण्ड देवे तो उसे राजा द्वारा दण्डित किया जा सकता है। आप० ध० सू० (१, २, ८, २९-३०) के अनुसार अपराध की गुरुता के अनुरूप ये दण्ड दिये जा सकते हैं—धमकाना, भोजन न देना, शीतल जल में स्नान कराना, सामने न आने देना। किन्तु महाभाष्य (भाग १, पृ० ४१) में उपाध्याय द्वारा शिष्य को चपेट मारने का उल्लेख किया गया है। गौतम का समर्थन करते हुए वि० ध० (७१, ८१-८२) में पीठ पर मारने की व्यवस्था दी है।

शास्त्रों में शूद्रों की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है।

---

१. गौ० ध० सू० ११, ३; मनु ७, ४३।
२. गौ० ध० सू० १८, १; वा० ध० सू० ६, १; बौ० ध० सू० २, २, ४५।
३. गौ० ध० सू० २३, २-५; वा० ध० सू० २३, ३०; बौ० ध० सू० २, १, १५; २९; विष्णु० ध० सू० २, ८६।

एकत्रिंश अध्याय

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर ब्रह्मचारी को विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का आदेश दिया जाता है—'आचार्य के लिये अभीष्ट धन ला कर सन्तान-परम्परा का उच्छेद मत करना'[1]। क्योंकि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम पर आश्रित रह कर ही अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने में समर्थ होते हैं। अतः यह आश्रम सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। दूसरे, विवाह ही पति-पत्नी को धार्मिक कृत्यों के सम्पादन के योग्य बनाता है। पत्नी के बिना पति अधूरा माना जाता है[2]। तीसरे, विवाह के बिना पुत्र नहीं हो सकता और पुत्र ही माता-पिता को नरक में गिरने से बचाता है। चौथे, सर्वविधि सांसारिक सुखों की प्राप्ति इसी आश्रम में होती है[3]। अतः गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ आश्रम माना जाता है।

गृहस्थाश्रम में प्रवेशार्थ विवाह अनिवार्य है। अतः गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में विवाह के विविध पक्षों पर विस्तृत विचार किया गया है। विवाह के आठ प्रकारों तथा उनके सामाजिक तथा धार्मिक तारतम्य पर गृह्यसूत्रों के प्रकरण में विचार किया जा चुका है। अष्टविध विवाहों तथा तत्सम्बन्धी अन्य समस्याओं पर धर्मसूत्रों में भी विचार किया गया है। किन्तु क्योंकि इनका संक्षिप्त विवरण गृह्य-प्रकरण में प्रस्तुत कर दिया गया है, अतः यहां उनकी चर्चा अनावश्यक है। तो भी कुछेक विशेष तथ्यों का संकेत कर देना उपयुक्त प्रतीत होता है।

अष्टविध विवाहों की तालिका में सभी धर्मसूत्रों ने न तो एक क्रम को अपनाया है, न ही उनकी श्रेष्ठता के तारतम्य को सभी ने स्वीकार किया है[4]।

---

१. आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः (तै० उप० १, ११, १)।

२. अर्धो वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते, नैव तावत्प्रजायते। असर्वो हि तावद् भवति (श० ब्रा० ५, २, १, १०; ८, ७, २, ३; तै० सं० ६, १, ८, ५; ऐ० ब्रा० १, २, ५)।

३. बौ० ध० सू० २, २, १; वा० ध० सू० ८, १४-१६; वि० ध० सू० ५९, २७; मनु० ६, ८९-९०; ८, २८; याज्ञ० स्मृ० १, ७८।

४. बौ० ध० सू० १, ११; वि० ध० सू० २८, १८-१९।

आप० ध० सू०[1] ने तो छह विवाहों को ही मान्यता प्रदान की है। उसने प्राजापत्य और पैशाच को स्वीकार नहीं किया। अन्यत्र[2] इनमें से कुछेक का नामकरण ही भिन्न कर दिया गया है तथा ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व, क्षात्र एवं मानुष नामक छह विवाह गिनाये गये हैं, जहां क्षात्र को राक्षस का द्योतक माना गया है तथा मानुष को आसुर का।

वर्णक्रमानुसार इन विवाहों की उपयुक्तता के विषय में विभिन्न मत व्यक्त किये गये हैं। एक मतानुसार प्रथम चार विवाह ब्राह्मणों के लिये उत्तम हैं[3]। द्वितीय के अनुसार प्रथम छह विवाह ब्राह्मणों के लिये, अन्तिम चार क्षत्रियों के लिए, गान्धर्व आसुर और पैशाच वैश्यों और शूद्रों के लिये उपयुक्त हैं[4]। एक अन्य मतानुसार गान्धर्व और राक्षस तथा दोनों का मिश्रण भी क्षत्रिय के लिये धर्म्य है[5]। इसमें कन्या तथा वर परस्पर प्रेमपाश में बंध जाते हैं। किन्तु माता-पिता नहीं मानते। अन्त में वर द्वारा कन्या का अपहरण कर लिया जाता है। आसुर और पैशाच को वैश्यों और शूद्रों के लिए इस कारण उपयुक्त माना गया है क्योंकि ये दोनों वर्ण अपनी स्त्रियों पर नियन्त्रण नहीं रख सकते[6]।

धर्मसूत्रों के अनुसार यदि अपहृत कन्या का विवाह हो भी जाये किन्तु वेदमन्त्रों का उच्चारण न हुआ हो, तो उस कन्या का विवाह किसी अन्य से भी हो सकता है[7]। किन्तु मनु इस प्रकार बलात् किये गये कार्यों को मान्यता प्रदान नहीं करते[8]।

कन्याओं के विवाह की आयु के विषय में भी धर्मसूत्रों में मतभेद पाया जाता है। जहां बौधायन तथा वा० ध० सू० ने 'नग्निका' के विवाह का निर्देश किया[9] तथा व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'जो अभी नग्न घूमती हो' किया,

---

१. आप० ध० सू० २, ५, ११, १६-२०; २, ५, १२, १-२।
२. वा० ध० सू० १, २८-२९।
३. बौ० ध० सू० १, ११, १०।
४. मनु० ३, २३-२४ तथा २५ पर कुल्लूकभट्ट कृत भाष्य।
५. बौ० ध० सू० १, ११, १२।
६. बौ० ध० सू० १, ११, १४-१६।
७. वा० ध० सू० १७, ७३।
८. मनु० ८, १६८।
९. बौ० ध० सू० ४, १, ११; गौ० ध० सू० १८, २३। **प्राग् वाससः प्रतिपत्तेः** (वा० ध० सू० १७, ७०)।

वहां अन्य व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'सम्भोग के योग्य' किया है[1]। इस सम्बन्ध में डा० काणे ने कल्पना की है कि क्योंकि उपनयन के लिये ब्राह्मण की आयु आठ वर्ष की निर्धारित की गयी थी और क्योंकि कन्या के लिए विवाह ही उपनयन के समान था, अतः उसके लिए भी आठ वर्ष की अवस्था ही निर्धारित कर दी गयी[2]। यह ध्यान रहे कि सूत्रों के नियम मुख्यरूप से ब्राह्मणों पर ही लागू होते थे।

गृह्यसूत्रों के समान ही धर्मसूत्रों में भी सवर्ण कन्या से ही विवाह प्रशस्य माना गया है[3]। सवर्ण पत्नी की सन्तान को सर्वश्रेष्ठ माना जाता था[4]।

यद्यपि प्रतिलोम विवाहों की सर्वत्र निन्दा की गयी है, तो भी असवर्ण विवाहों से गौ० ध० सू०[5] का परिचय अवश्य था। बौ० ध० सू०[6] ने 'अनुकल्प' विवाहों की चर्चा करते हुए अपने से नीचे के सभी वर्णों की कन्याओं से विवाह की अनुमति दी है। किन्तु वसिष्ठ[7] ने शूद्रा से द्विजों के विवाह की भर्त्सना की है; और विष्णु[8] ने ऐसे विवाहों को अधर्म्य घोषित करके भी कामुकता की तुष्टि के लिए लोक-प्रचलित होने के कारण इस का अनुमोदन कर दिया है। ऐसे विवाह दशमी शती तक होते रहे। तत्पश्चात् समाप्त हो गये। समानोदर सम्बन्धियों के सम्भोग को महापातकों में गिनाया गया है[9]। इसी कारण बौधायन तथा आपस्तम्ब ने दक्षिणापथ में प्रचलित ममेरी तथा फुफेरी कन्याओं से विवाह करने वाले के लिए चान्द्रायण व्रत का प्रायश्चित्त करने का निर्देश किया है[10]। किन्तु उत्तरवर्ती निबन्धकारों ने ऐसे विवाहों को वैध घोषित कर दिया[11]। भ्रातृहीन कन्या का विवाह भी नहीं हो सकता था। इसका संकेत ऋग्वेद (१, १२४, ७), अथर्व० (१, १७, १), निरु० (३, ४) तथा वा० ध० सू० (१७, १६) में पाया जाता है। क्योंकि उसका पुत्र नाना की सन्तान माना जाता था तथा उसी को पिण्ड-दान करता था।

---

१. हि० गृ० सू० १, १९ पर मातृदत्त। तु. मा० गृ० सू० १, ७, ८ पर अष्टावक्र।
२. ध० शा० इ० पृ० २७५।
३. आप० ध० सू० २, ६, १. ३।
४. द्र. श० ब्रा० १३, २, ९, ८।
५. गौ० ध० सू० ४, १।
६. बौ० ध० सू० १, ८, २; वि० ध० सू० २४, १-४
७. वा० ध० सू० १, २५।
८. वि० ध० सू० २५, ५-६।
९. आप० ध० सू० १, ७, २१, ८।
१०. बौ० ध० सू० १, १९-२६; आप० ध० सू० २, ५, ११, ६ तथा उस पर हरदत्त की व्याख्या।
११. स्मृ० च० भाग १, पृ० ७०-७४; परा० मा० १, २, पृ० ६३-६८।

यद्यपि ऋग्०[1], मै० सं०[2], ऐ० ब्रा०[3], तै० सं०[4], तै० ब्रा[5] तथा निरुक्त[6] में कन्या-विक्रय के सङ्केत पाये जाते हैं, तो भी बौधायन ने क्रीता पत्नी को यज्ञ, श्राद्ध आदि में पति के साथ भाग लेने पर रोक लगा दी है[7]। प्राचीन वैदिक काल से ही बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित थी। सूत्रकारों ने एकपत्नी-व्रत को आदर्श मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से बहुपत्नी-प्रथा का अनुमोदन कर दिया[8]।

इसके प्रतिपक्ष में बहु-भर्तृकता के भी सङ्केत मिलते हैं। यद्यपि महाभारत में द्रौपदी के पांच पति कहे गये हैं, और इस प्रथा के औचित्य को सिद्ध करने के लिए युधिष्ठिर ने जटिला गौतमी का सप्तर्षियों से, वार्क्षी का दस प्राचेतसों से विवाह के उदाहरण प्रस्तुत किये थे, तो भी धर्मशास्त्रों से बहुत प्राचीन काल में तै० सं०[9] तथा ऐ० ब्रा०[10] से स्पष्ट प्रकट होता है कि ऐसी प्रथा आर्य जाति में प्रचलित नहीं थी। यद्यपि आप० ध० सू०[11] ने कहा है कि स्त्री कुल को दी जाती है, व्यक्ति को नहीं, तो भी बृहस्पति ने इस प्रथा को घृणास्पद घोषित किया है[12]। किन्तु भारत के कुछ पर्वतीय प्रदेशों, आदि-वासियों तथा गिरि-जनजातियों में यह प्रथा अभी तक भी प्रचलित है।

यद्यपि धर्मसूत्रों के अनुसार विवाह का विच्छेद नहीं हो सकता, तो भी चरित्रहीनता की कुछेक परिस्थितियों में स्त्री का न केवल परित्याग ही किया जा सकता था, अपितु उसे सभी धार्मिक कृत्यों के अधिकार से वञ्चित करके[13] कुत्तों से नोचवाने की भी व्यवस्था थी[14]।

---

१. ऋग्० १, १०९, २; ३, ३१, १।
२. मै० सं० १, १०, १।
३. ऐ० ब्रा० ३, ३।
४. तै० सं० ५, २, १३।
५. तै० ब्रा० १, ७, १०।
६. निरु० ६, ९; ३, ४।
७. बौ० ध० सू० १, ११, २०-२२।
८. आप० ध० सू० २, ५, १२-१३।
९. तै० सं० ६, ६, ४, ३; ६, ५, १, ४।
१०. ऐ० ब्रा० १२, ११।
११. आप० ध० सू० २, १०, २७, २-४।
१२. स्मृ० च०, भाग १, पृ० १० पर उद्धृत।
१३. वा० ध० सू० २१, १०।
१४. गौ० ध० सू० २३, १४।

यद्यपि प्राचीन वैदिक काल में विधवा के पुनर्विवाह के सङ्केत मिलते हैं, तो भी सूत्रकाल तक आते-आते विधवा का जीवन अत्यन्त कष्टमय बना दिया गया था। पहले तो पुत्रहीन विधवा को अपने देवर अथवा किसी सपिण्ड व्यक्ति से पुत्रोत्पादन का अधिकार प्राप्त था[1]। किन्तु उत्तरवर्ती स्मृतियों ने उसे बिना पुत्र के ही स्वर्गारोहण की आशंसा दिला कर उस से पुत्रोत्पत्ति का अधिकार भी छीन लिया[2]।

इतना ही नहीं, उसे अमंगलों में सर्व-निकृष्ट अमंगल घोषित करके विधवा के दर्शन तक का निषेध कर दिया[3]। वेदमन्त्रों[4] का सर्वथा भ्रामक अर्थ लगाकर विधवा के लिए आमरण मुण्डन करवा कर जीवन व्यतीत करने का विधान कर दिया।

नियोग—पुत्रहीन स्त्री पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से पति से भिन्न देवर या किसी अन्य सपिण्ड व्यक्ति से सामयिक सम्पर्क कर सकती थी, इसे प्राचीन ग्रन्थों में नियोग की संज्ञा दी गयी है। इसकी चर्चा यद्यपि गृह्यसूत्रों में नहीं की गयी, धर्मसूत्रों में इसका विवरण विस्तार से दिया गया है[5], तो भी विवाह के प्रसंग में इसका विवरण 'गृह्यसूत्र-प्रकरण' में कर दिया गया है। नियोग क्रिया के सम्पादनार्थ विशेष नियमों का विधान किया गया है, जिनके उल्लंघन करने पर धर्मसूत्रों में राजदण्ड की व्यवस्था की गयी है[6]।

यद्यपि गौतम तथा वसिष्ठ सदृश सूत्रकारों ने **नियोग** को वैध ठहराया है, तो भी गौतम के ही आस-पास के समय में होने वाले कतिपय धर्मसूत्रकारों ने इस प्रथा को गर्हित तथा निन्दनीय मान कर इसकी भर्त्सना की है[7]।

नियोग-जन्य पुत्र की सामाजिक स्थिति के विषय में भी धर्मसूत्रों में पर्याप्त मतभेद पाये जाते हैं, जिनकी ओर वा० ध० सू०[8] में स्पष्ट संकेत किया है। प्रथम

---

१. बौ० ध० सू० २, २, ६६-६८; वा० ध० सू० १७, ५५-५६।

२. मनु० ५, १५७-१६०; कात्यायन, वी० मि०, पृ० ६२६-२७ पर उद्धृत।

३. स्कन्दपुराण, काशी० ४, ७१-१०६; मदन पारिजात, पृ० २०२-२०३।

४. ऋग्० १०, ४०, २; आप० मन्त्रपाठ १, ४, ९; अथर्व० १४, २, ६०; निरुक्त० ३, १५; वृद्धहारीत, ९, २०६।

५. गौ० ध० सू० १८, ४-१४; वा० ध० सू० १७, ५६-६५; बौ० ध० सू० २, २, १७।

६. वा० ध० सू० १७, ६३।

७. आप० ध० सू० २, १०, २७, ४-७; बौ० ध० सू० २, २, ३८।

८. वा० ध० सू० १७, ६३-६४।

मतानुसार इसे जनक का पुत्र माना जाता था। निरुक्त[1] ने इसी मत का समर्थन किया है तथा गौतम[2] एवं मनु[3] तथा आप० ध० सू०[4] ने इसी को मान्यता प्रदान की है। द्वितीय मतानुसार विधवा के गुरुजनों तथा नियुक्त पुरुष की पूर्ण-सहमति के अनुसार पुत्र पति का ही माना जा सकता है[5]। तृतीय मतानुसार वह, जनक तथा पति, दोनों का पुत्र होता है[6]। नियोग की प्रथा का संकेत ऋग् (१०, ४०, २) में भी पाया जाता है। किन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यहां विवाह की ओर संकेत है या नियोग की ओर। विश्वरूप (याज्ञ० स्मृ० १, ६९) के अनुसार यहां नियोग की ओर ही संकेत है। मेधातिथि (मनु० ९, ६६) का भी यही मत है। निरुक्त (३, १५) यहां देवर से पुनर्विवाह की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। किन्तु इस प्रकार की पुत्रोत्पत्ति की प्रगाढ़ चिन्ता तथा प्रयत्न के पीछे सम्भवतः उस समय की युद्ध-प्रधान परिस्थितियां रही होंगी, जिनके लिये पुरुषों की परमावश्यकता का अनुभव किया जाना सर्वथा स्वाभाविक था। धर्मसूत्रों के तथा समस्त भारतीय परम्परा के अनुसार पितृ-ऋण चुकाने तथा स्वर्गलोक में अजस्र निवास की लालसा ही इस भावना की पृष्ठभूमि में विद्यमान रही है[7]। अतः जॉली[8] का यह कथन सर्वथा निराधार है कि गौण पुत्रों की चाह के पीछे आर्थिक कारण निहित हैं। ऐसी स्थिति में तो एक व्यक्ति बहुत से गौण पुत्र प्राप्त कर सकता था, किन्तु धर्मशास्त्रों में इस प्रकार की पुत्रैषणा पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। औरस पुत्र के रहते हुये कोई व्यक्ति क्षेत्रज या दत्तक पुत्र प्राप्त नहीं कर सकता था। विण्टर्नित्स[9] की यह धारणा भी निर्मूल है कि नियोग की पृष्ठभूमि में दरिद्रता तथा स्त्रियों का अभाव एवं संयुक्त परिवार था, क्योंकि भारत में स्त्रियों के अभाव का एक भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिल सकता।

---

१. निरुक्त ३, १-३; द्र० ऋग्० ७, ४, ७-८।
२. गौ० ध० सू० १८, ९।
३. मनु० ९, १८१।
४. आप० ध० सू० २, ६, १३, ५; इसने इस विषय में एक ब्राह्मण-ग्रन्थ को आधार माना है।
५. गौ० ध० सू० १८, १०-११।
६. गौ० ध० सू० १८, १३; नारद स्त्री-पुंस० ५८; याज्ञ० स्मृ० २, १२७।
७. वा० ध० सू० १७, १-६।
८. Recht Und Sitte, Eng. Tr. p. 156-157.
९. जे० आर० ए० एस० १८९७, पृ० ७५८।

विधवा से उसके देवर या अन्य किसी के साथ विवाह के द्वारा सन्तानोत्पत्ति की लालसा प्राचीनकाल में बहुत प्रचलित थी[1]। मैक्लैनमैन के मतानुसार नियोग की पृष्ठभूमि में बहु-भर्तृकता का प्रचलन है। किन्तु वैस्टरमार्क ने इस विचार का निराकरण कर दिया है। सूत्रकाल में बहु-भर्तृकता का या तो सर्वथा अभाव था या फिर इसका विरोध कर दिया गया था।

प्राचीन भारोपीय लोगों में नियोग का प्रचलन सिद्ध होता है[2]।

पुनर्विवाह

नियोग के समान ही स्त्री के पुनर्विवाह की चर्चा धर्मसूत्रों में ही की गयी है। द्वितीय विवाह करने वाली स्त्री के लिए **पुनर्भू** की संज्ञा का प्रयोग किया गया है। इसकी चर्चा हम गृह्य-प्रकरण में कर चुके हैं। इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न पुत्र को **पौनर्भव** कहा जाता है[3]।

आप० ध०सू०[4] ने पुनर्विवाह की भर्त्सना की है। किन्तु वा०ध०सू०[5] तथा बौ० ध० सू०[6] के 'पौनर्भव संस्कार' की चर्चा से प्रतीत होता है कि विशेष परिस्थितियों में पुनर्विवाह हो सकता था। इनके अनुसार केवल 'मन्त्रसंस्कार' होने पर 'अक्षत-योनि', 'बाला' का पुनर्विवाह हो सकता था।

पश्चात्कालिक नारद[7] तथा मनु[8] स्मृतियों ने उन स्त्रियों के पुनर्विवाह की आज्ञा दी है, जिनके पति पांच वर्ष तक अपना ठौर ठिकाना बताये बिना विदेश में रहने लग गये हों। कौटल्य[9] ने तो केवल एक वर्ष तक प्रतीक्षा करने का निर्देश

---

१. Wester marck, *History of Human Marriage*, 1921, Vol. III, p. 207-220.

२. तु. Xenophon, Rep. lec. I. 9; Plutarch, Lives, Pt. I, ch. III ; Sec. 3 and sec. 5 : Caesar, Commentories, book IV, ch. XIV; Deut. XXV. 5; St. Mathew, XXII. 24 ; Manu, IX. 57-68 ; See Hestings, ERE, article on *Niyoga*.

३. बौ० ध० सू० २, ३, २७; ३२।

४. आप० ध० सू० २, ६, १३, ३-४।

५. वा० ध० सू० १७, ७४।

६. बौ० ध० सू० ४, १, १८।

७. नारद (स्त्री-पुंस) ९८-१०१।

८. मनु० ९, ७६।

९. अर्थशास्त्र ३, ४।

दिया है। पुनर्विवाह की चर्चा तो अथर्व०[1] में भी की गयी है। तै० सं० (३, २, ४, ४) में विधवा के पुत्र के लिए 'दैधिषव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। धर्मसूत्रों तक आते-आते पुनर्विवाह वर्जित सा हो गया, तो भी किसी न किसी जाति तथा प्रदेश में इसके प्रचलन के उदाहरण मिलते ही हैं। धर्मसूत्रों ने विवाह के विच्छेद की अनुमति नहीं दी तो भी कौटल्य[2] परस्पर विद्वेष की अवस्था में इसकी अनुमति देता है।

विवाहोपरान्त पति-पत्नी धार्मिक कृत्य एक साथ करते हैं तथा तज्जन्य पुण्य-फल में भी समान भाग प्राप्त करते हैं। धन-सम्पत्ति में दोनों का समान भाग रहता है तथा पति की अनुपस्थिति में पत्नी भेंट, दान आदि दे सकती है[3] तथा अग्निहोत्र कर्म सम्पन्न करने का अधिकार भी रखती है[4]। किन्तु पति की अनुपस्थिति में पति की आज्ञा के बिना स्वतन्त्र रूप से कोई धार्मिक कृत्य नहीं कर सकती थी[5]। बहुपत्नीक पति के धार्मिक कृत्यों में सर्वप्रथम विवाहिता तथा अनेक वर्णों की पत्नियों में से पति की सवर्णा पत्नी को ही सम्मिलित होने का अधिकार था[6]। आज्ञाकारिणी, परिश्रमिणी, पुत्रवती तथा मधुरभाषिणी पत्नी के परित्याग का अधिकार पति को नहीं था। यदि पति सदाचारिणी पत्नी का त्याग करता था तो उसे चोर के समान दण्ड मिलता था[7]। याज्ञ० स्मृ० (१, ७६) के अनुसार तो इस प्रकार परित्यक्ता पत्नी को सम्पत्ति का १/३ भाग देना और सम्पत्ति के अभाव में उसके आजीवन भरण-पोषण करने का प्रबन्ध करना चाहिये।

स्त्रियों की स्थिति उत्तरोत्तर गिरती गयी और उन्हें कई अवस्थाओं में शूद्रों के समकक्ष खड़ा कर दिया गया। यहां तक कि स्त्रियों और शूद्रों की हत्या पर समान दण्ड की व्यवस्था कर दी गयी[8]। तो भी स्त्रियों को मारने के विरुद्ध सदा से प्रबल भावना रही है[9]।

---

१. अथर्व० २, १७, ८९।

२. अर्थशास्त्र ३, ३।

३. आप० ध० सू० २, ६, ३, १६-१८।

४. आश्व० गृ० सू० १, ८, ५।

५. बौ० ध० सू० २, २, ३८; वि० ध० सू० २५, १५;=मनु० ५, १५५।

६. वि० ध० सू० २६, १-४।

७. वि० ध० सू० ५, १६३।

८. बौ० ध० सू० २, १, ११-१२।

९. श० ब्रा० ११, ४, ३, २।

नीच जाति के साथ व्यभिचार करने पर स्त्री को केवल राजा ही प्राणदण्ड दे सकता है और उसे भी हलका सा प्रायश्चित्त करना पड़ता है[1]। मार्ग में उन्हें अग्रगमन का अधिकार था।

पतित व्यक्ति का पुत्र तो पतित माना जाता था। किन्तु कन्या पतित नहीं मानी जाती थी[2]। एक ही प्रकार के अपराध के लिए नारी को पुरुष की अपेक्षा आधा प्रायश्चित्त करना पड़ता था[3]। स्त्रियों को समाज में पति की अवस्था के अनुरूप सम्मान दिया जाता था[4]। वेदज्ञ ब्राह्मणों के समान ही सभी स्त्रियां भी कर-मुक्त होती थीं। प्रतिलोम जातियों की स्त्रियां इस विषय में अपवाद थीं[5]। तीन मास की गर्भवती, वन में रहने वाले साधु, संन्यासी, ब्राह्मण तथा ब्रह्मचारी घाटकर से मुक्त होते थे[6]। बच्चों, पुत्रियों, एवं बहिनों, जिनका विवाह हो गया हो किन्तु अभी माता पिता एवं भाइयों के पास रहती हों, गर्भवती स्त्रियों, अविवाहित पुत्रियों, अतिथियों तथा नौकरों को घर के स्वामी तथा स्वामिनी से पहले खिलाना चाहिये[7]। स्त्री-धन के उत्तराधिकार के प्रसंग में पुत्रों की अपेक्षा पुत्रियों को प्रमुखता प्राप्त थी। प्रतिकूल अधिकार प्राप्ति में स्त्री का स्त्रीधन विवाद का विषय नहीं होता था[8]। आचार-व्यवहार के विषय में स्त्रियों की सम्मति भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी[9]। विवाह में धर्मसूत्रों के निर्देशों के अतिरिक्त शिष्टाचार की जानकारी स्त्रियों से लेने का निर्देश दिया गया है[10]।

विवाहोपरान्त **गर्भाधान, पुँसवन, सीमन्तोन्नयन, सोष्यन्ती-होम, जातकर्म, उत्थान, नामकरण, निष्क्रमण** या **आदित्य-दर्शन, कर्णवेध, अन्नप्राशन, चौलकर्म** प्रभृति संस्कारों का विधान धर्मसूत्रों में भी किया गया है। किन्तु इनकी कर्मकाण्डीय प्रक्रिया गृह्यसूत्रों के ही समान होने के कारण उनकी चर्चा गृह्य-प्रकरण में की गयी है।

---

१. गौ० ध० सू० २३, १४।
२. वा० ध० सू० १३, ५१-५३; आप० ध० सू० २, ६, १३, ४।
३. वि० ध० सू० ५४, ३३।
४. आप० ध० सू० १, ४, १४, १८।
५. आप० ध० सू० २, १०, २६, १०-११।
६. वि० ध० सू० ५, २३; मनु० ८, ४०७।
७. गौ० ध० सू० ५, २३, याज्ञ० स्मृ० १, १०५; द्र. मनु० ४, ११४; वि० ध० सू० ६७, ३९।
८. याज्ञ० स्मृ० २, २५।
९. आप० ध० सू० २, २, २९, १५।
१०. आश्व० गृ० सू० १, १४, ८; मनु० २, २२३; वै० स्मार्त० सू० ३, २१।

आह्निक कृत्य

यद्यपि गृह्यसूत्रों में मनुष्य के आह्निक कृत्यों की चर्चा की गयी है, तो भी धर्मसूत्रों और पश्चात्कालिक धर्मशास्त्रों में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। आह्निक के प्रमुख विषय हैं—शय्या-त्याग, शौच, दन्त-धावन, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, पञ्च महायज्ञ, अग्नि-पूजा, भोजन, धन-प्राप्ति, अध्ययन-अध्यापन, सायं-सन्ध्या, दान, शयन, यज्ञ, जप, होम आदि।

ब्राह्म मुहूर्त में उठना, मलमूत्र-त्याग, आचमन, दन्तधावन, स्नान, तर्पण, वस्त्रधारण, होम, जप, पञ्चमहायज्ञ, भोजन, शयन, आदि के विषय में नियमों के विस्तृत वर्णन दिये गए हैं, जिनसे हमारे पूर्वजों के आचार-विचार तथा दिन-चर्या पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। गृहस्थ के लिए जीवन-यापन के नियम विस्तार-पूर्वक बनाये गये हैं। गृहस्थ दो प्रकार के माने गये हैं—(१) **शालीन** जो घर में रहता है तथा धन-धान्य, पशु आदि का संग्रह करके सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। (२) **यायावर** जो खेत से घर में ले जाते समय खेत में गिरे-पड़े अन्न को चुनकर उसी से उदरपूर्ति करता है, उसकी जीविका का कोई साधन नहीं होता, न ही सम्पत्ति होती है। इसे ही श्रेष्ठ माना गया है[1]।

प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्म मुहूर्त में उठना चाहिए तथा भगवान् का स्मरण करना चाहिए। तदनन्तर मल-मूत्र त्याग का कृत्य है। अथर्ववेद (१३, १, ५६) में कहा गया है—'यदि तुम गौ को पैर से मारते हो, सूर्य की ओर मूत्र-त्याग करते हो, तो मैं तुम्हारी जड़ काट देता हूँ'। खड़े होकर मूत्र त्यागना भी निन्दनीय माना जाता था। अथर्व० (७, १०२) में कहा गया है—'मैं खड़ा होकर मूत्र नहीं करूँगा, देवता मेरा अमंगल न करे'। इसी प्रकार धर्मसूत्रों में भी नियम बनाये गए हैं कि मार्ग, राख, गोबर, वृक्ष की छाया, नदी या जल, घास, गोशाला, चीटियों के बिलों, अन्न फटकारने के स्थानों में मूत्र-त्याग नहीं करना चाहिए और इसके अनन्तर जल तथा मिट्टी से शुद्धि के नियम दिये गये हैं, तथा बाह्य एवम् आभ्यन्तर दोनों प्रकार के शौच पर बल दिया गया है[2]।

---

१. बौ० ध० सू० ३, १, १, ३-५; बौ० गृ० सू० ३, ५, ४; वै० स्मार्त ने चार भाग किये हैं—वार्तावृत्ति, शालीन, यायावर तथा घोराचारिक (८, ५)।

२. बौ० ध० सू० ३, १, २६; गौ० ध० सू० (८, २४) की व्याख्या में हरदत्त ने चार प्रकार के शौच का उल्लेख किया है—(१) द्रव्य (२) मानस (३) वाच्य (४) शारीर। वि० ध० सू० २२, ८१ ने १२ प्रकार के मलों की शुद्धि को शौच माना है।

आचमन के बाद **दन्त-धावन** करना चाहिए। किन्तु ब्रह्मचारी को बहुत देर तक इस कार्य में संलग्न नहीं रहना चाहिए[१]। रजस्वला स्त्रियों के लिए दन्त-धावन का निषेध तो तै० सं० (२, ५, १, ७) में ही किया गया है। वि० ध० सू० (६१, १-५; १४-१७) में दातुन की लम्बाई, वृक्ष प्रभृति के विषय में भी निर्देश दिये गये हैं।

दन्त-धावन के उपरान्त **स्नान** करना चाहिए (बौ० ध० सू० २; ४, ४)। यह **नित्य स्नान** कहलाता है। इसके बिना जप, होम तथा अन्य कृत्य निष्फल होते हैं तथा बाद में ब्राह्मण गृहस्थों के लिए, प्रातः तथा मध्याह्न दो बार[२], यतियों और वानप्रस्थों को तीन बार[३] स्नान करने के निर्देश दिये गये हैं। स्नान नदी, वापी, गहरे कुण्ड या पर्वत-प्रपात में करना चाहिए। किसी अन्य व्यक्ति के कूप या कुण्ड में स्नान तभी करना चाहिए, जब कूप में से तीन या पांच घड़े जल के और कुण्ड में से तीन या पांच मुट्ठी मिट्टी निकाल ली गई हो। अन्यथा कूप या कुण्ड का स्वामी स्नान करने के पुण्य का भागी हो जायेगा[४] या स्नान करने वाला उसके पाप का भागी हो जायेगा[५]।

स्नान करने की विभिन्न विधियों का वर्णन किया गया है। स्नान से पूर्व भुरभुरी मिट्टी से शरीर की गन्दगी स्वच्छ करके जल में उतरने का नियम है[६]। पुत्रोत्पत्ति पर, यज्ञ के अन्त में, सम्बन्धी की मृत्यु आदि विशिष्ट अवसरों पर किये गए स्नान को **नैमित्तिक** स्नान कहते हैं। कुछेक पशुओं, नास्तिकों, घृणित कार्य करने वाले द्विजातियों तथा शूद्रों को स्पर्श कर लेने पर भी ये विहित हैं (आप० ध० सू० १, ५, १५, १६)। किसी तीर्थ को जाते समय या पुण्य नक्षत्र में चन्द्रोदय या माघ एवं वैशाख में आनन्द के लिए किये गये स्नान को **काम्य** कहा गया है।

स्मृतियों[७] तथा पुराणों में **क्रियाङ्ग** तथा **मलापकर्षक** या **अभ्यङ्ग** एवं **कापिल** स्नानों की भी चर्चा की गयी है। रोगी के शरीर को गीले वस्त्र से पोंछना ही

---

१. गौ० ध० सू० २, १९; वा० ध० सू० ७, १५।

२. याज्ञ० १, ९५; १००।

३. मनु० ६, २८; याज्ञ० ३, ४८।

४. बौ० ध० सू० २, ३, ७।

५. मनु० ४, २०१-२०२।

६. वि० ध० सू० ६४, १८-२२।

७. स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृ० १२२-१२३।

काषिल स्नान है। देवताओं, ऋषियों और मुनियों को जल देना या 'तर्पण' स्नान ही अङ्ग-स्नान है[1]।

उन दिनों वस्त्र ऊन या सन के बनते थे, या मृग-चर्म का प्रयोग किया जाता था। कौशेय वस्त्र पवित्र अवसरों पर धारण किये जाते थे जो प्राय: ऊपर और नीचे धारण के लिए दो ही होते थे। स्नातक और गृहस्थ को श्वेत वस्त्र धारण करने चाहिए[2]। किन्तु अभिचार-कृत्यों में पुरोहितों को लाल रंग के वस्त्र पहनने का निर्देश है[3]। काषाय वस्त्र धारण करके जप, होम, दान, श्राद्ध, यज्ञ नहीं करना चाहिये। क्षत्रियों के लिए लाल, वैश्य के लिए पीले, तथा शूद्र के लिए काले वस्त्रों की छूट है। वैसे अपनी अवस्था, व्यवसाय, धन, विद्या, कुल एवं देश के अनुसार वस्त्र धारण करना चाहिये[4]। बाद में स्मृतिकारों ने ब्राह्मण के अधोवस्त्र के लिए त्रिकच्छ का नियम बना दिया और पीछे की लांग के बिना धोती पहनने वाले ब्राह्मण को शूद्र तक कह डाला[5]।

सन्ध्या-वन्दन के उपरान्त होम किया जाता था जो सूर्योदय से पूर्व भी किया जाता है और पश्चात् भी। होम के लिए अग्नि श्रौत भी हो सकती है और स्मार्त भी। आहिताग्नि ब्राह्मण सायं-प्रात: नित्य श्रौताग्नि में अग्निहोत्र करता था। अनाहिताग्नि गृह्य या स्मार्त अग्नि में होम करता था। गृह्य या स्मार्त अग्नि के बुझ जाने पर लौकिक या पचन अग्नि में भी होम हो सकता था। आहुतियां पके हुए भोजन, यव, चावल, दूध, दही, यवागू की होती हैं और अग्नि और प्रजापति को प्रदान की जाती हैं। किन्तु मांस की नहीं हो सकतीं (आश्व०गृ० सू० १,९,६)। गृहस्वामी के बाहर जाने पर भी उसकी पत्नी, पुत्र, अविवाहिता पुत्री या शिष्य को गृहाग्नि में होम करना चाहिये[6]। किन्तु आप० ध० सू० (६, १५, १५-१६) तथा मनु (९, ३६-३७) ने पत्नी, अविवाहिता या विवाहिता पुत्री, कम पढ़ा या मूर्ख व्यक्ति, रोगी या जिसका उपनयन न हुआ हो इनमें से किसी को भी आहुति देने का अधिकार प्रदान नहीं किया। इस अवस्था में ब्राह्मण

---

१. वि० ध० सू० ६४, २३-२४। वि० ध० सू० ६४, ९-१३ के अनुसार स्नान के उपरान्त सिर के पानी को हटाने के लिये सिर को झटकना या हाथ से पोंछना निषिद्ध है, अपने ही तौलिये से सिर को ढक कर धुले हुये सूखे दो वस्त्र धारण करने चाहिये।

२. आप० ध० सू० १, ११, ३०, १०-१३; बौ० ध० सू० २, ८, २४।

३. बौ० ध० सू० १, ६, ५-६; १०-११।

४. वि० ध० सू० ७१, ५-६।

५. स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृ० ११३-११४; स्मृति-मुक्ताफल आह्निक पृ० ३५१-३५३।

६. आश्व० गृ० सू० १, ९, १।

किसी पुरोहित को नियुक्त करके अपनी पत्नी की अध्यक्षता में गृह्याग्नि को छोड़कर बाहर जा सकता था। किन्तु पति-पत्नी की अनुपस्थिति में पुरोहित को होम का अधिकार नहीं है। पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी पति को अग्नि-त्याग नहीं करना चाहिये। अग्नियों तथा वेदाध्ययन का त्याग करने वाला ब्राह्मण उपपातकी (वि०ध०सू० ३७,१८;५४,१४) तथा शूद्र के समान होता है (वा०ध०सू० ३, १ तै० सं० १, ५, ९, २; काठ० ध० सू० ९, २)।

जप—तर्पण के पूर्व या होम के पश्चात् या वैश्वदेव के अन्त में जप का विधान किया गया है। वा० ध० सू०[1] ने विशेषतः ऋग्वेद की ऋचाओं के पाठ का निर्देश किया है। कुछ विशिष्ट पाठ ये कहे गये हैं—अघमर्षण[2], पावमानी[3], शतरुद्रिय[4], त्रिसुपर्ण[5] इत्यादि। ब्राह्मण और कुछ भी न करे तो जप अवश्य करे[6]। इस में गायत्री तथा पुरुष-सूक्त सर्वोत्तम मान गये हैं[7]। जप तीन प्रकार का होता है—वाचिक, उपांशु तथा मानस। उपांशु में सुनाई न देने योग्य उच्चारण होता है और मानस में उच्चारण नहीं किया जाता। ये तीनों उत्तरोत्तर उत्तम माने जाते हैं[8]। जप से पाप कट जाता है[9]।

पञ्चमहायज्ञ

यद्यपि पञ्चमहायज्ञों का विवरण गृह्यसूत्रों में दे दिया गया है, तो भी धर्मसूत्रकारों ने इन पर विस्तार से विचार किया है। विष्णु[10] के अनुसार प्रत्येक गृहस्थ अग्निकुण्ड, चक्की, झाड़ू, शूर्प, तथा अन्य अनेक उपायों से प्रतिदिन प्राणियों की हिंसा करता रहता है। इन्हीं पापों के परिमार्जनार्थ ऋषियों ने पञ्चमहायज्ञों का विधान किया है। ये हैं—

(१) ब्रह्मयज्ञ—वेद का अध्ययन-अध्यापन

(२) पितृयज्ञ—पितरों का तर्पण।

---

१. वा० ध० सू० २८, १०-१५।
२. ऋग्० १०, १९०, १-३।
३. ऋग्० ९वां मण्डल।
४. तै० सं० ४, ५, १-११।
५. तै० आर० १०, ४८-५०।
६. वि० ध० सू० ५५, २१।
७. वि० ध० सू० ६४, ३६-३९।
८. वा० ध० सू० २६, ९; मनु० २, ८५।
९. गौ० ध० सू० १९, ११।
१०. वि० ध० सू० ५९, १९-२०।

(३) देवयज्ञ—अग्नि में विविध देवताओं को आहुतियां देना।

(४) भूतयज्ञ—प्राणियों को अन्न प्रदान करना।

(५) मनुष्य-यज्ञ या नृयज्ञ—अतिथि-सत्कार।

इन यज्ञों के विषय में 'गृह्यसत्र' प्रकरण में संक्षेप से चर्चा कर दी गयी है।

ब्रह्मयज्ञ का सर्व-प्राचीन उल्लेख श० ब्रा०[1] में किया गया है। देवयज्ञ के प्रसंग में देवताओं की सूची गौतम ने प्रस्तुत की है जो गृह्यसूत्रों में भिन्न-भिन्न रूप से गिनाये गये हैं[2]। कुछ लोगों ने वैश्वदेव-बलि को ही देवयज्ञ माना है। अन्य लोगों ने इन दोनों में भेद किया है[3]। निबन्धकारों ने देवयज्ञ के स्थान पर देवपूजा का सन्निवेश कर दिया है जो वैदिक-यज्ञ से सर्वथा भिन्न है।

यद्यपि मूर्तिपूजा तथा देवायतनों के सङ्केत तै० ब्रा०[4] के काल से प्राप्त होते हैं तथा गृह्यसूत्रों[5] एवं धर्मसूत्रों[6] में स्पष्ट हो जाते हैं, तो भी इस पूजा-पद्धति का इतना प्रचलन नहीं हो पाया था कि धर्मसूत्रों में ही देवयज्ञ के स्थान पर देवपूजा को स्थापित किया जा सके। वैसे पा० ५, ३, ९९ में भी देवमूर्ति का उल्लेख किया गया है, तो भी ये दोनों कर्म सर्वथा भिन्न हैं।

मनुष्य-यज्ञ— अतिथि-सत्कार को वैदिक धर्म में इतना महत्त्व प्रदान किया गया है कि उपनिषत्कार ने स्नातक को 'अतिथि-देवो भव' का उपदेश दिया है[7]। तथा अतिथि को वैश्वानर (अग्नि) माना गया है[8]। किन्तु अतिथि-सत्कार में भी वरीयता वर्णक्रमानुसार निश्चित की गयी है[9]।

---

१. श० ब्रा० ११, ५, ६, ३-८।

२. आश्व० गृ० सू० १, २, २; मा० गृ० सू० २, १२, २; वि० ध० सू० ६७, १, ३ में सर्वथा नवीन पौराणिक देवता परिगणित हैं।

३. आप० ध० सू० १, ४, १३, १ पर हरदत्त।

४. तै० ब्रा० २, ६, १७।

५. आश्व० गृ० सू० २, १५, ३; बौ० गृ० सू० २, २, १३; लौगा० गृ० सू० १८, ३।

६. वि० ध० सू० २३, ३४; ६३, २७; वा० ध० सू० ११, ३१। 'देवायतन' का उल्लेख वि० ध० सू० ६०, १५; ६९, ७; ७०, १३; ९१, १० तथा वा० ध० सू० ११, ३१ में किया गया है।

७. तै० उप० १, ११, २; ३, १०, १।

८. कठ उप० १, ७, ९।

९. आप० ध० सू० २, ३, ६; २, ४, ९, ६; गौ० ध० सू० ५, ३९-४२; वा० ध० सू० १, ६।

तो भी आप० ध० सू० (२, ४, ९, ६) ने इस प्रसंग में व्यवस्था दी है कि **वैश्वदेव** के उपरान्त जो भी आये, उसे भोजन कराना ही चाहिये, चाहे वह चाण्डाल ही क्यों न हो। किन्तु यदि ब्राह्मण के घर शूद्र अतिथि आ जाये तो उससे कुछ काम करा के भोजन देना चाहिये (आप० ध० सू० २, २, ४, १६-२१)। यदि उस के पास देने को कुछ न हो तो उसे राजकुल से सामग्री मंगवा कर अतिथि को भोजन देना ही चाहिये। गृह-स्वामिनी को अतिथियों को खिलाने के लिए नौकरों के भोजन से कटौती नहीं करनी चाहिये (आप० ध० सू० २, ४, ९, १० ; बौ० ध० सू० २, ३, १९ ; वि० ध० सू० ६७, ३८-४३)।

भोजन—धर्मशास्त्रकारों ने विवाह के उपरान्त यदि किसी विषय को सर्वाधिक प्रमुखता प्रदान की है तो वह है **भोजन**। इसका कारण यह है कि बहुत प्राचीन काल से ही हमारे विचारकों ने आहार-शुद्धि को बहुत महत्त्व प्रदान किया है[1]। तै० ब्रा० (१,४,९) तथा श० ब्रा० (२,४,२६) में दिन में दो बार भोजन करने का निर्देश किया गया है और यह भी कहा गया है कि दस दिन तक नव-प्रसूता गौ का दूध नहीं पीना चाहिए जिस नियम का पालन हिन्दू आज तक करते हैं[2]।

इसी प्रकार भोजन-सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्धों की ओर भी कौषी० ब्रा० (१२, ३) तथा ऐ० आर० (५, ३, ३) में सङ्केत किया गया है। अत: धर्मसूत्रों में भक्ष्याभक्ष्य तथा भोजन के विषय में अन्य नियमों का निर्माण बड़ी सावधानी एवं विस्तार से करके प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए नवीन समयोचित नियमों का भी प्रतिपादन किया है। इस विषय का महत्त्व इसी से प्रकट होता है कि मनु ने ब्राह्मण की अकाल मृत्यु का एक कारण भोजन-सम्बन्धी दोष भी बताया है[3]।

भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर मुख करके खाने से भिन्न-भिन्न फल प्राप्त होते हैं[4]। एकान्त में भोजन को विशेष महत्त्व दिया गया है। और पंक्ति में खाने का निषेध किया गया है[5]। भोजन करते समय मौन रहने का नियम बनाया गया है[6]। इसी प्रकार के अन्य अनेक नियमों का प्रतिपादन किया गया है, जिन सब की चर्चा यहां अपेक्षित नहीं है।

---

१. छां० उप० ७२६, २३,—**आहार-शुद्धौ सत्त्व-शुद्धिः**।
२. तै० ब्रा० २, १, १; ३, १, ३।
३. मनु० ५, ४।
४. आप० ध० सू० १, ११, ३१, १; वा० ध० सू० १२, १८; वि० ध० सू० ६८, ४०।
५. स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृ० २२८ पर उद्धृत देवल, उशनस् तथा बृहस्पति।
६. बौ० ध० सू० २, ७, २; लघुहारीत ४०, किन्तु द्र. स्मृ० मुक्ता०, आह्निक, पृ० ४२३।

एक रोचक नियम पत्नी के साथ बैठ कर न खाने का भी है[1], जिस का मध्यकालीन स्मृतिकारों ने संशोधन करके यज्ञ तथा विवाह में पत्नी के साथ भोजन करना वैध मान लिया है[2]।

एक ही पंक्ति में भोजन करने वालों में से एक या दो का ही खा कर आचमन कर लेना या उठ कर चले जाना अशिष्ट व्यवहार माना गया है। इस प्रसंग में भी ऊंच-नीच के विचार से पंक्ति-पावन तथा पंक्ति-दूषक ब्राह्मणों की सूचियां धर्मसूत्रों में दी गयी हैं[3]।

चन्द्र-सूर्य-ग्रहण से बारह या नौ घण्टे पूर्व ही भोजन का परित्याग कर देना चाहिये। ग्रहण के उपरान्त स्नान करके भोजन करने का विधान है[4]।

गौ, ब्राह्मण या राजा पर विपत्ति आने पर भोजन वर्जित है[5]। विहित एवं निषिद्ध भोजन के विषय में धर्मसूत्रों में विस्तार से विचार किया गया है[6]।

जहां ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में देवताओं के लिये घोड़ों, बैलों, सांडों, वांझ गायों तथा भेड़ों का मांस पकाने और बलि देने के सङ्केत मिलते हैं[7], वहां अन्यत्र गाय को 'अघ्न्या' कहा गया है[8] तथा उसे रुद्रों की माता, वसुओं की पुत्री, आदित्यों की भगिनी तथा अमृत का केन्द्र कहा गया है[9]। अथर्ववेद (१२, ४) में भी गौ की पवित्रता को मान्यता दी गयी है, किन्तु यज्ञ के प्रतिपादक श० ब्रा० (३, १, २, २१), तै० ब्रा० (३, ९, ८) एवं ऐ ब्रा० (६, ८) में अन्य पशुओं के साथ बैल की बलि का भी विधान है। इस से यज्ञ-याग में मांस के प्रयोग का पता चलता है। इसी कारण बाद में जब मांस-भक्षण एवं पशु-हिंसा के विरोध में लहर चली, तब भी **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** का सिद्धान्त स्थिर रहा। आगे चल कर गौ की पवित्रता पर इतना अधिक बल दिया जाने लगा कि अनेक दूषणों के निवारणार्थ उसके दूध, दही, घृत, मूत्र तथा गोबर का पञ्च-गव्य बनने

---

१. वा० ध० सू० १२, ३१; वि० ध० सू० ६८, ४६।

२. स्मृति-चन्द्रिका १, पृ० २२७; स्मृत्यर्थ०, पृ० ६९; मिताक्षरा (याज्ञ० स्मृ० १,१३१)।

३. गौ० ध० सू० १५, २८-२९; बौ० ध० सू० २, ८, २; आप० ध० सू० २, ७, १७, २१-२२।

४. वि० ध० सू० ६८, १-२।

५. वही, ६८, ४-५।

६. आप० ध० सू० १, ५, १६, १७-६, १९; वा० ध० सू० १४ गौ० ध० सू० १७।

७. ऋग्० १०, ८६, १४; १०, ९१, १४; १०, ७९, ६।

८. ऋग्० १, १६४, २७; ४०; ५, ८३, ८; ८, ६९; २१; आदि।

९. ऋग्० ८, १०१, १५-१६।

लगा (बौ० गृ० सू० २, २० ; देवल ६२-६५ ; पराशर ११, २८-३४) तथा इसकी रक्षा में प्राण देने वाले शूद्रों के लिये भी स्वर्ग के द्वार खुल गये (वि० ध० सू० १६, १८)। तो भी विशेष अवसरों पर अन्य पशुओं के अतिरिक्त बन्ध्या गौ की भी बलि दी जाती थी, यथा, श्राद्ध में[1], सम्मान्य अतिथि को मधुपर्क प्रस्तुत करते समय[2], अष्टका श्राद्ध में[3], तथा शूलगव नामक याग में[4]। पञ्च-नख पशुओं में से साही, खरगोश, गोधा, गैंडा और कछुआ इन पांच के अतिरिक्त अन्य को अभक्ष्य घोषित कर दिया गया[5]। अन्य भी अनेक पशुओं तथा पक्षियों तथा मछलियों का मांस निषिद्ध घोषित कर दिया गया[6] तथा उपाकर्म से लेकर उत्सर्जन पर्यन्त के काल में वेदाध्यापक के लिये मांस-भक्षण का निषेध कर दिया गया[7]।

इस से प्रतीत होता है कि अन्य समय में ब्राह्मण आचार्य लोग मांस-भक्षण कर सकते थे। इतना ही नहीं, अतिथि को मांस खिलाने से द्वादशाह यज्ञ के फल की प्राप्ति का आश्वासन भी दिया गया है[8]।

वा० ध० सू० (११, ३४) के अनुसार तो श्राद्ध या देवपूजा में दिये गये मांस को यदि प्रार्थना करने पर भी यति नहीं खाता, तो वह भी असंख्य वर्षों तक नरक भोगता है। किन्तु सामान्य अवस्थाओं में धीरे-धीरे मांस-भक्षण कम होता गया।

यद्यपि दूध अति उत्तम भोजन है; तो भी आचार्यों ने इस के विषय में विधि-निषेधों की व्यवस्थाएं दी हैं। सन्धिनी गौ (जिसका बछड़ा मर गया हो, या जो एक बार दूध देती हो, या जो 'गरम' हो), भेड़, ऊँटनी तथा एक खुर वाले पशुओं का दूध वर्जित है[9]। ब्याने के दस दिन बाद तक गौ का दूध वर्जित है।

---

१. आप० ध० सू० २, ७, १६, २५।
२. आश्व० गृ० सू० १, २४, २२-२६; वा० ध० सू० ४, ८।
३. हिर० गृ० सू० २, १५, १; बौ० गृ० सू० २, २, ५।
४. आश्व० गृ० सू० ४, ९, १०।
५. गौ० ध० सू० १७, २७, ३१; आप० ध० सू० १, ५, १७, ३५; वा० ध० सू० १४, ३९-४०; वि० ध० सू० ५१, ६।
६. आप० ध० सू० २, २, ५, १५; १, ५, १७, ३२-३४; वा० ध० सू० १४, ४८; वि० ध० सू० ५१, २९-३१ मछलियों के विषय में विभिन्न मतों के लिये द्र. आप० ध० सू० १, ५, १७, ३६-३७; वा० ध० सू० १४, ४१-४२; गौ० ध० सू० १४, ३६।
७. वही।
८. आप० ध० सू० २, ३, ७, ४।
९. गौ० ध० सू० १७, २२-२६; आप० ध० सू० १, ५, १७, २२-२३; वा० ध० सू० १४, ३४-३५; बौ० ध० सू० १, ५, १५६-१५८।

लहसुन, प्याज, गाजर, कुक्कुरमुत्ता प्रभृति शाक भी वर्जित हैं[1]। श्राद्ध में माष जैसे काले तथा मसूर जैसे लाल अन्नों का प्रयोग निषिद्ध है[2]।

केवल अपने लिए पकाया गया अन्न भी खाना निषिद्ध है। उसमें देवता या अतिथि का भाग होना अनिवार्य है। गौतम तथा आपस्तम्ब के समय में तो ब्राह्मण लोग क्षत्रियों तथा वैश्यों एवं शूद्रों तक के यहां भोजन खा सकते थे। किन्तु बाद में नियम बना दिया गया कि केवल उसी शूद्र के यहां खा सकते हैं, जो उन की कृषि में सांझीदार हो, या कुटुम्ब का मित्र हो, अथवा चरवाहा, नाई या दास हो[3]।

तत्पश्चात् ये नियम और भी कठोर बना दिये गये। ब्राह्मण क्षत्रियों के यहां केवल पर्व के अवसर पर, वैश्यों के यहां केवल यज्ञार्थ दीक्षित होने पर भोजन खा सकता है। किन्तु शूद्रों के यहां किसी भी अवस्था में नहीं खा सकता[4]। इस विषय में और भी अनेक प्रकार के नियम बनते रहे, जिन के कारण भोजन की समस्या जटिल से जटिलतर होती गयी।

वर्जित पक्वान्न में दूध, दही, मक्खन, घृत से मिश्रित पदार्थों के अतिरिक्त बासी पदार्थ सम्मिलित हैं[5]। इन्हें 'काल-दुष्ट' कहा गया है। लहसुन, प्याज, प्रभृति पदार्थ 'जाति-दुष्ट' कहे जाते हैं[6]। सूतक-पातक वाले घर का अन्न 'निमित्त-दुष्ट' होता है। कुत्ते, चाण्डाल आदि से देखा गया अन्न 'क्रिया-दुष्ट' कहलाता है। अयोग्य व्यक्तियों द्वारा लाया गया अन्न 'परिग्रह-दुष्ट' संज्ञा से अभिहित किया गया है[7]।

मद्यपान—यद्यपि ऋग्वेद में सोम और सुरा दोनों का उल्लेख आता है तो भी सोम का पान केवल देवता या याज्ञिक ही कर सकते थे। किन्तु सुरा का प्रयोग

---

१. आप० ध० सू० १, ५, १७, २५-२७; गौ० ध० सू० १७, ३२-३३।
२. आप० ध० सू० २, ८, २।
३. गौ० ध० सू० १७, ६; वि० ध० सू० ५७, १६।
४. अंगिरा स्मृति, ७७-७८; आपस्तम्ब स्मृति (पद्य) ८, ११-१३ तथा यम (गृहस्थ-रत्नाकर, पृ० ३३४ पर उद्धृत)।
५. आप० ध० सू० १, ५, १७, १७-१९; वा० ध० सू० १४, २८-२९; ३७-३८।
६. आप० ध० सू० १, ५, १६, १८-२०; २४-२९।
७. आप० ध० सू० १, ६, १८, १६-३३; गौ० ध० सू० १५, १९; वा० ध० सू० १४, २-११।

अन्य कोई भी कर सकता था। सुरा के कुप्रभावों से भी वैदिक ऋषि भली-भाँति परिचित थे। वसिष्ठ ने वरुण से कहा है कि मनुष्य अपनी वृत्ति से पाप नहीं करता अपितु भाग्य, सुरा, क्रोध, जुआ तथा असावधानी के कारण वह ऐसा करता है (ऋग्० ७, ८६, ६)। अथर्व० ४, ३४, ६ में कहा गया है कि यज्ञ करने वालों को स्वर्ग में घृत और मधु की झीलें एवं जल के समान बहती हुई सुरा प्राप्त होती है। वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में सुरा की चर्चा बहुत की गयी है[1] और सुरा बनाने की विधि भी बतायी गयी है[2], तथा इसकी निन्दा की गयी है (श० ब्रा० ५, ५, ४, २८)। एक रोचक प्रसंग में क्षत्रिय के लिये सुरा और ब्राह्मण के लिये सोम-पान की चर्चा की गयी है। सुरा अपराध कराती है[3]। ब्राह्मण सुरा से इतनी घृणा करने लगे थे कि **सौत्रामणी** याग में सुरा का तलछट पीने वाला ब्राह्मण मिलना कठिन हो गया था (तै० ब्रा० १, ८, ६)।

कुछ गृह्यसूत्रों में विधान किया गया है कि **अन्वष्टका** के दिन पितरों को पिण्ड-दान के समय पितरों की पत्नियों को सुरा दी जाये, या पिण्डों पर चमस से छिड़की जाए[4]। अतः प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में कुछ नारियां अवश्य सुरा-पान करती थीं, किन्तु ब्राह्मणों के लिये सुरा-पान सर्वथा वर्जित माना गया है[5]। सुरा-पान को महापातक घोषित किया गया है[6]। किन्तु क्षत्रियों के लिये सुरा वर्जित नहीं थी, तो भी सभी वर्णों के ब्रह्मचारियों के लिये यह वर्जित थी[7]। सुरा-पान के विरुद्ध इस अभियान के फलस्वरूप मैगस्थनीज और स्ट्रैबो के काल (चतुर्थीशती ई० पू०) में यज्ञों के सिवा भारतीय कभी सुरापान नहीं करते थे। अज्ञान-वश सुरापान कर लेने पर प्रायश्चित करना पड़ता था[8]।

धर्म-शास्त्रों में दान के विषय में बहुत कुछ लिखा है। मनु ने तो इसे गृहस्थों का धर्म ही बताया है (३, ७८)। दान की महिमा ऋग्वेद के काल से गायी जाती रही है (ऋग्० १, १२५; ५, ६१; ६,

---

१. वा० सं० १९, ७; तै० सं० २, ५, १; श० ब्रा० १, ६, ३; ५, ५, ४।
२. श० ब्रा० १२, ७, ३, ५; का० श्रौ० सू० १९, १, २०-२७।
३. काठ० सं० १२, १२।
४. आश्व० गृ० सू० २, २, ५; पा० गृ० सू० ३, ३; काठ० गृ० सू० ६५, ७-८।
५. गौतम २, २५; आप० ध० सू० १, ५, १७, २१।
६. आप० ध० सू० १, ७, २१, ८; वा० ध० सू० १, २०; वि० ध० सू० १५, १।
७. आप० ध० सू० १, १, २, २३।
८. वा० ध० सू० २०, १९।

४७, २२-२५; ८, ५, ३७-३९; ८, ६, ४६-४८; ८, ४६, २१-२४; ८, ६८, १४-१९) और गोदान को सर्वश्रेष्ठ दान माना जाता रहा है। ऋग्० १०, १०७, २; ७ ; तै० ब्रा० २, २, ५ में भी सोना, वस्त्र, गाय, अश्व, मनुष्य, पर्यङ्क आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं के दान का निर्देश किया गया है। किन्तु तै० सं० (२, २, ६, ३) के अनुसार मनुष्य, अश्व तथा अन्य दो दन्त-पंक्तियों वाले जीवों के दान करने वाले को वैश्वानर को बारह कपालों का स्थालीपाक प्रदान करना चाहिये। किन्तु दान सदा सुपात्र को देना चाहिये। प्राचीन काल से ब्राह्मण को दान का पात्र माना गया है। किन्तु माता-पिता, गुरु, मित्र, चरित्रवान व्यक्ति, उपकारी, दरिद्र, असहाय, तथा विशिष्ट गुणशाली व्यक्ति को भी सुयोग्य पात्र घोषित किया गया है। धूर्तों, बन्दीजनों, मल्लों, कुवैद्यों, जुआरियों, वञ्चकों, चारणों, एवं चोरों को दिया गया दान निष्फल माना गया है (दक्ष० ३, १७-१८; वि० ध० सू० ९३, ७-१३)। अन्य कुपात्रों में, पहले से शुल्क निश्चित करके वेद पढ़ाने वाले तथा व्यसनी ब्राह्मण को भी श्राद्ध में न बुलाने और दान न देने का निर्देश किया गया है (बृहद्यम ३, ३४-३८)। धर्मसूत्र में गौ, भूमि और सरस्वती का दान सर्वोत्तम माना गया है (वा० ध० सू० २९, १९)। अभय-दान भी श्रेष्ठ दान है। किन्तु ये वस्तुएं दान में नहीं दी जा सकतीं— (i) जो अपनी न हो (ii) माता-पिता, पुत्र प्रभृति (iii) उधार ली हुई सामग्री (iv) न्यास (v) सांझी सम्पत्ति (vi) निक्षेप (vii) सन्तान के रहते पूरी सम्पत्ति (viii) पहले दान किया हुआ पदार्थ (ix) राजा द्वारा सम्पूर्ण राज्य (x) याज्ञिक का शूद्र सेवक।

किसी व्यक्ति को अपने आश्रितों, नौकरों एवं दासों की चिन्ता किये विना अतिथियों तथा अन्य लोगों को भोजन नहीं बांट देना चाहिये[1]। दान देते समय जल गिराने की परम्परा बहुत पुरानी है[2]। राजा को प्रतिदिन वेदज्ञ ब्राह्मणों को दुधारु गाय, सोना, भूमि, घर, विवाह के लिये सामग्री का दान करना चाहिये।

दान देने के विषय में मध्यकालीन ग्रन्थों में बड़े विस्तृत तथा सूक्ष्म विवेचन किये गये हैं और अनेकानेक विशिष्ट ग्रन्थों की रचना भी हुई है। इसका मुख्य कारण यह धारणा रही है कि कलियुग में दान ही धार्मिक जीवन का प्रधान रूप है[3]। इन रचनाओं में दान के अनेक प्रकार, देय-अदेय पदार्थों की सूचियां, दान के काल, स्थान, पात्र, दान देने की विविध विधियां बड़े विस्तार से वर्णित हैं।

---

१. आप० ध० सू० २, ४, ९, १०-१२; बौ० ध० सू० २, ३, १९।

२. आप० ध० सू० २, ४, ९, ९।

३. मनु० १, ८६।

जन-कल्याणार्थ मन्दिरों, तालावों वाटिकाओं आदि का निर्माण एवं स्थापना 'प्रतिष्ठा' तथा उनका समर्पण **उत्सर्ग** कहे जाते हैं। **इष्टापूर्त** को प्राचीन काल से ही पुण्य माना जाता रहा है। ऋग्वेद (१०, १४, ८) में भी इस शब्द का प्रयोग यज्ञ-कर्मों तथा दान-कर्मों से उत्पन्न पुण्य के अर्थ में ही हुआ है। इसी प्रकार अथर्ववेद (२, १२, ४ ; ३, १९, १) ; तै० सं० (५, ७, ७, १-३) ; तै० ब्रा० (२, ५, ५७); वा० सं० (१५, ५४); कठोप० (१,१,८); माण्डू० उप० (१,२,१०), में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। अतः **प्रतिष्ठा** और **उत्सर्ग पूर्त** के अन्तर्गत आते हैं। वि० ध० सू० (९१, १-२) के अनुसार जो व्यक्ति जन-हितार्थ कूप खुदवाता है उस के आधे पाप उसके पानी निकलने के साथ ही धुल जाते हैं। और तालाब खुदवाने से वह निष्पाप हो जाता है। शां० गृ० सू० (५, २) में कूप या तालाब खुदवाने तथा उसकी प्रतिष्ठा की विधि लिखी है। अन्यत्र भी वैदिक विधियां विहित हैं[1]। किन्तु पश्चात्कालिक निबन्धों के विधान अधिकतर पुराणों, तन्त्रों तथा अन्य ग्रन्थों पर आधृत हैं।

दान और **उत्सर्ग** में यह अन्तर है कि दान में तो स्वामी को अपना स्वामित्व त्याग करके किसी अन्य को देना होता है। किन्तु उत्सर्ग में वस्तु जनता की हो जाती है, फिर भी स्वामी का सम्बन्ध उस से बना रहता है और वह अन्य लोगों के समान ही उसका प्रयोग कर सकता है।

इस प्रकार के पूर्त्त-कर्मों के अन्तर्गत मन्दिरों की प्रतिष्ठा भी आती है। किन्तु किसी गृह्यसूत्र अथवा धर्मसूत्र में मन्दिरों में देव-प्रतिष्ठापन की विधि का वर्णन नहीं दिया गया। निबन्धों में दिये गये विवरण पुराणों पर आधृत हैं।

निद्रा—धर्म-सूत्रों में शयन-सम्बन्धी नियमों का भी विधान किया गया है। यथा उत्तर तथा पश्चिम दिशा की ओर एवं शरीर के अन्य अंङ्गों से नीचा सिर करके, खुले स्थान में, पलाश की खाट, हाथी द्वारा तोड़ी गयी या बिजली द्वारा जलायी गयी लकड़ी के बने पलंग, या टूटी खाट पर सोना निषिद्ध है। श्मशान, उजड़े घर, मन्दिर में, दुष्टों के मध्य, अनाज के ऊपर, गौशाला में, गुरुजनों की खाट पर, भोजनोपरान्त बिना मुँह धोये, गन्दे स्थान पर, दिन के समय, तथा सायंकाल में भी सोना वर्जित है।

रजस्वला के धर्म—तै० सं० (२, ५, १) में रजस्वला के धर्म पर विस्तार से लिखा गया है, और उत्तरवर्ती धर्मशास्त्रकारों (बौ०ध०सू० १,५,२९; वि० ध० २२, ७३-७४) ने प्रायः उन्हीं नियमों का अनुसरण तथा उपबृंहण किया है। उन के अनुसार रजस्वला नारी तीन दिन तक अस्पृश्य रहती है। चतुर्थ दिन स्नान

१. आश्व० गृ० परि० ४, ९; पार० गृ० परि०।

करके शुद्ध होती है। इस से पूर्व उससे बात करना, पास बैठना, मैथुन तथा उसके हाथ का खाना निषिद्ध होता है। रजस्वला के लिये तीन दिनों तक स्नान, तेल-मर्दन, अञ्जन, दन्तधावन, नख-निकर्तन, सूत्र कातना, मृत्पात्र में जल-ग्रहण सभी काम वर्जित हैं। उसे खाट पर सोना भी नहीं चाहिये। तै० ब्रा० (३, ७, १) के अनुसार यदि यज्ञ करने से पूर्व यजमान की पत्नी ऋतुमती हो जाए तो आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है। यदि उसे अन्यत्र दूर भेज दिया जाए तो यज्ञ सफल होता है।

उत्तरकालिक धर्म-शास्त्रों, स्मृतियों एवं पुराणों ने इन नियमों में जो वृद्धि की है उन में रजस्वला की अशुद्धता तथा उपवास पर अधिक बल दिया गया है।

द्वात्रिंश अध्याय

वानप्रस्थ आश्रम

जब गृहस्थ अपने शरीर पर झुर्रियां देखें, जब बाल श्वेत हो जाएं, जब पौत्र का भी मुख देख ले, तब उसे गृहस्थ-जीवन को त्याग कर वन की राह लेनी चाहिये। भारतीय समाज-शास्त्र की संसार को इस प्रकार की त्याग की भावना की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे व्यक्ति की भोग-विलास की लालसा का अन्त होता है। तपश्चर्या की प्रवृत्ति का उदय होता है। आध्यात्मिक निरीक्षण-परीक्षण की भावना जागृत होती है। लोभ, मोह, अहंकार जैसे मानसिक विकारों से मुक्ति पाकर स्वस्थ-चित्त होकर, एकाग्रतापूर्वक परमात्मा में लीन होने की क्षमता उभरने लगती है और अन्त में वह सांसारिक भावनाओं पर विजय पाकर सर्वस्व-त्याग करने के दुष्कर कार्य को सिद्ध करने के लिये तत्पर हो जाता है। संन्यास की ओर अग्रसर होने लगता है। आश्रम-व्यवस्था में यह तृतीय आश्रम है।

वानप्रस्थ के लिये प्राचीनकाल से ही 'वैखानस' शब्द का प्रयोग आया है। ऋग्० ९, ६६ के ऋषि वैखानस कहे जाते हैं। ऋग्० १०, ९९ के ऋषि वम्र वैखानस हैं। तै०आर० (१, २३) में वैखानस शब्द की व्युत्पत्ति करने का प्रयास किया गया है।

गौ० ध० सू०[१] ने 'वैखानस' शब्द वानप्रस्थ के लिये प्रयोग किया ही है। बौ०ध०सू०[२] ने उसी को वानप्रस्थ माना भी है जो वैखानस-शास्त्र के नियमों का पालन करता है। इससे 'वैखानस-शास्त्र' की सत्ता का आभास मिलता है।

यदि मनुष्य को शतायु अर्थात् सौ वर्ष तक जीवित रहने वाला प्राणी मान लिया जाए तो लगभग ५० वर्ष की आयु में वानप्रस्थ आश्रम का आरम्भ होना चाहिये। तो भी शास्त्रकारों में इस विषय में थोड़ा-बहुत मतभेद पाया जाता है।

---

१. गौ० ध० सू० ३, २।

२. बौ० ध० सू० ३, ६, १९।

वानप्रस्थ के अधिकारी शूद्रों के अतिरिक्त तीनों वर्णों के सभी व्यक्ति हैं[1]। किन्तु वै० स्मृति०[2] तथा वामन पु०[3] के अनुसार ब्राह्मण चारों आश्रमों, क्षत्रिय तीन (सन्यास के अतिरिक्त), वैश्य दो (ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ) एवं शूद्र केवल एक (गृहस्थ) आश्रम का अधिकारी होता है।

वानप्रस्थ के नियम—अनेकों धर्मसूत्रों ने वानप्रस्थ के पालनार्थ नियमों का निर्धारण किया हैं[4]। उनमें कुछ प्रमुख नियम ये हैं—

१. अपनी पत्नी के साथ या उसे पुत्रों के पास छोड़ कर वन में निवास करना।

२. वह अपने साथ तीनों वैदिक अग्नियां तथा यज्ञिय पात्र ले जाता है। उसे प्रत्येक अमावास्या तथा पूर्णिमा के दिन श्रौत यज्ञ करने चाहिये। यथा—आग्रयण इष्टि, चातुर्मास्य, तुरायण तथा दाक्षायण सदृश यज्ञ[5]। यज्ञ के लिये भोजन वन्य नीवार होता है। कुछ लोगों के मतानुसार वानप्रस्थ को श्रौत अग्नियां त्याग कर श्रामणक (वैखानस) के नियमानुसार नवीन अग्नि में आहुति देनी चाहिये[6]।

३. उसे कन्दमूल, जल में उगने वाली वनस्पतियों, नीवार या श्यामाक खाना चाहिये और मधु, मांस, कुक्कुरमुत्ता, भूस्तृण प्रभृति एवं श्लेष्मातक वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिये। कुछ न मिलने पर वन्य पशुओं द्वारा मारे गये पशुओं का मांस खा सकता है[7], या ग्राम में जाकर भिक्षा मांग कर आठ ग्रास खाने की छूट दी गयी है। आप० ध० सू० (२, ४, ९, १३) एवं बौ० ध० सू० (२, १०, १८) ने १६ ग्रास खाने का निर्देश किया है।

४. उसे प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करने चाहिये, दो या तीन वार स्नान[8]।

५. उसे मृग-चर्म या वृक्ष की छाल शरीर पर धारण करनी चाहिये।

---

१. महाभारत, आश्वमेधिक ३५, ४३।
२. वै० स्मार्त० सू० ८, १।
३. वामन पुराण १, ४, ११७-११८।
४. गौ० ध० सू० ३, २५-३४; आप० ध० सू० २,९, २१, १८ तथा २, ९, २३, २; बौ० ध० सू० ३, ३; वा० ध० सू० ९; वि० ध० सू० ९५; वै० स्मार्त० १०, ५।
५. मनु० ६, ९-१०।
६. गौ० ध० सू० ३, ३६; आप० ध० सू० २, ९, २१, २०; वा० ध० सू० ९, १०।
७. गौ० ध० सू० ३, २६-२८।
८. वा० ध० सू० ९, ९; मनु० ६, ६; २२।

६. उसे वेदाध्ययन-परायण, संयमी, सर्व-हितैषी, तथा दयावान होना चाहिये[1]।

७. उसे दिन-रात में एक वार अथवा दो-तीन दिन के अन्तर से भोजन करना चाहिये[2]। क्रमशः उसे जल या वायु पर ही निर्भर रहना चाहिये[3]। उसे भोजन-सामग्री केवल एक दिन या एक मास या एक वर्ष तक के लिये एकत्र करनी चाहिये। तथा प्रतिवर्ष एकत्रित सामग्री को आश्विन मास में बांट देना चाहिये[4]।

८. उसे ग्रीष्म में पञ्चाग्नि के मध्य खड़े होकर, वर्षा में बाहर खड़े हो कर, जाड़े में गीले वस्त्र पहन कर जल में खड़े होकर कठिन तपस्या करनी चाहिये[5]।

९. उसे किसी पेड़ के नीचे निवास करते हुए रात्रि में खाली भूमि पर शयन करना चाहिये[6]। मनु और याज्ञवल्क्य ने तनिक और आगे बढ़ कर उसे बैठ कर, चल-फिर कर या योगासन लगा कर समय बिताने का आदेश दिया है[7]।

१०. उसे शरीर की पवित्रता, मानसिक शुचिता, ज्ञान-वर्धन तथा अन्त में मोक्षार्थ उपनिषदों का अध्ययन करना चाहिये[8]।

११. असाध्य रोग से ग्रस्त हो जाने पर उसे उत्तर-पूर्वाभिमुख होकर महा-प्रस्थान करना चाहिये।

बौ०ध०सू० (३, ३) में वानप्रस्थों के अनेक प्रकार बताये गये हैं। इसके अनुसार वानप्रस्थ दो प्रकार के कहे गये हैं— (१) पचमानक (२) अप-चमानक।

पचमानक—अग्नि पर भोजन पका कर खाते हैं। अपचमानक अनग्निपक्व भोजन पर निर्वाह करते हैं।

---

१. आप० ध० सू० २, ९, २२, ९; वा० ध० सू० ९, ५-६।
२. वि० ध० सू० ९५, ५-६।
३. आप० ध० सू० २, ९, २३ २; वि० ध० सू० ९५, ७-१२।
४. आप० ध० सू० २, ९, २२, २-४।
५. वि० ध० सू० ९५, २-४।
६. वा० ध० सू० ९, ११; आप० ध० सू० २, ९, २१, २०।
७. मनु० ६, २२; याज्ञ० स्मृ० ३, ५१।
८. मनु० ६, २९-३०।

पचमानक पुनः पांच प्रकार के होते हैं :—

१. **सर्वारण्यक**—जो पुनः दो प्रकार के कहे गये हैं (क) **इन्द्रावसिक्त**—जो वल्लियों, लताओं, वृक्षों के फल-फूल-पत्तियों को खा कर सायं-प्रातः अग्निहोत्र करके यति, अतिथि प्रभृति को खिला कर, शेष स्वयं खाता है। (ख) **रेतोऽवसिक्त**—वे जो व्याघ्र, वृक, श्येन प्रभृति द्वारा मारे गये पशु-पक्षियों का मांस पका कर उक्त प्रकार से अग्नि-होत्र पूर्वक खाते हैं।

२. **वैतुषिक**—वे जो तुष-रहित तण्डुल आदि पका कर खाते हैं।

३. **कन्दमूल-भक्ष**—वे जो कन्द-मूल पका कर खाते हैं।

४. **फलभक्ष**—वे जो फलों को पका कर खाते हैं।

५. **शाकभक्ष**—वे जो शाक खाकर जीवन व्यतीत करते हैं।

अपचमानक—ये भी पांच प्रकार के कहे गये हैं :—

१. **उन्मज्जक**—वे जो भोजन रखने के लिये लोहे या पत्थर के पात्रों का प्रयोग नहीं करते, अपितु काष्ठ के पात्रों का प्रयोग करते हैं।

२. **प्रवृताशी**—वे जो हाथ में लेकर भोजन करते हैं।

३. **मुखेनादायी**—वे जो पशुओं के समान केवल मुख से खाते हैं।

४. **तोयाहार**—वे जो केवल जल पीकर रह जाते हैं।

५. **वायुभक्ष**—वे जो केवल वायु-भक्षण करते हैं, अर्थात् पूर्णउपवास करते हैं।

यद्यपि धर्मसूत्रों तथा पश्चात्कालिक धर्मशास्त्रों में आत्म-हत्या को महापाप माना गया है, और आत्म-हत्या करने वाले के श्राद्ध का भी निषेध किया गया है (वा० ध० स० १३, १४-१६; १८), तो भी वानप्रस्थ के महाप्रस्थान के लिये अग्नि-प्रवेश, उपवास या पर्वत-शिखर से पतन प्रभृति जो उपाय बताये गये हैं वे आत्म-हत्या ही तो हैं। इस प्रकार की धार्मिक आत्महत्याओं का प्रमाण मैगस्थनीज़ ने चतुर्थशती ई०पू० में प्रस्तुत किया है तथा ये उन्नीसवीं शती ई० के पूर्वार्ध तक भारत के अनेक भागों, विशेषतः तीर्थस्थानों पर प्रचलित थीं।

सन्न्यास आश्रम

छान्दोग्योपनिषद् (२, २३, १) में **ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ** इन तीन आश्रमों का तो उल्लेख हुआ है, सन्न्यास का उल्लेख नहीं किया गया। न

ही बृहदारण्यकोपनिषद् में सन्न्यास-आश्रम का कोई संकेत है। जावालोपनिषद् (४) में **सन्न्यास** को चतुर्थ आश्रम के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है, जिसे प्रथम आश्रमों में से किसी के उपरान्त ग्रहण किया जा सकता है। तो भी बृ० उप० (२, ४, १) में याज्ञवल्क्य के **सन्न्यास**-ग्रहण करने के उल्लेख से इस प्रकार की प्रथा की प्राचीनता प्रमाणित होती है। आत्मविद् को सांसारिक मोह, सम्पत्तियों तथा सगे-सम्बन्धियों को त्याग कर भिक्षा-वृत्ति अपनानी पड़ती थी[1]। परिव्राजक **विवर्ण-वासस्** होते थे तथा सिर मुण्डाये रखते थे (जावाल० ५)। यद्यपि सन्न्यास-उपनिषदों में **सन्न्यास** का विशद वर्णन किया गया है परन्तु इन उपनिषदों का काल तथा ऐतिहासिकता सन्देहास्पद है।

धर्मसूत्रों के काल तक इस आश्रम का महत्त्व बढ़ गया था। अतः इसके विषय में इन सूत्रों में पर्याप्त निर्देश प्राप्त होते हैं, यथा—गौ०ध०सू०,[2] बौ०ध०सू०,[3] वा० ध०सू०,[4] वि० ध० सू०[5] के अनुसार सन्न्यास-ग्रहण करने के लिये **प्राजापत्य इष्टि** करनी होती थी। और अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति पुरोहितों, दरिद्रों तथा अनाथों में बांट देनी होती थी[6]। केवल गृह्याग्नि-धारियों को आग्नेय इष्टि करनी पड़ती थी[7]। उसे घर-द्वार त्याग कर ग्राम के बाहर निवास करना और रात्रि को पेड़ों के नीचे स्थण्डिल पर सोना चाहिये, रोग से ग्रस्त हो जाने पर चिन्ता नहीं करनी चाहिए। और सदा स्थान-परिवर्तन करते रहना चाहिए। केवल वर्षा की ऋतु में एक स्थान पर दो मास तक रह सकता है (वा० ध० सू० १०, १२-१५)। उसे एकान्त-वास करना चाहिये क्योंकि ध्यान, शौच, भिक्षा तथा एकान्त-वास उसके धर्म हैं। उसे अग्नि जलाने की आवश्यकता नहीं है। उसे केवल एक बार भिक्षा से प्राप्त अन्न खाना चाहिये (आप० ध० सू० २, ९, २१) जो केवल सात घरों से मांगनी चाहिए[8] जो किसी भी वर्ण के हो सकते हैं[9], किन्तु वा०ध०सू० (१०,२४) के अनुसार उसे केवल ब्राह्मण से ही भिक्षा लेनी चाहिये। उसे भिक्षाटन सायं-समय भोजन बन चुकने पर, अग्नि शान्त हो जाने के पश्चात् करना चाहिये (वा० ध० सू० १०, ८)। पश्चात्कालिक स्मृतियों (उशना—स्मृति मुक्ताफल पृ० २००,

---

१. बृ० उप० ३, ५, १०; ४, ४, २२।
२. गौ० ध० सू० ३, १०, २४; आप० ध० सू० २, ९, २१, ७-२०।
३. बौ० ध० सू० २, ६, २१-२७ एवं २, १०।
४. वा० ध० सू० १०।
५. वि० ध० सू० ९६, १।
६. वि० ध० सू० ९६, १।
७. जावालोपनिषद् (४) ने प्राजापत्येष्टि का खण्डन किया है।
८. वा० ध० सू० १०, ७।
९. वा० ध० सू० २, १०, ६९।

यतिधर्मसंग्रह ७४-७५) में भोजन के पांच प्रकार वर्णित हैं— (१) माधुकर ३,५,७ घरों में प्राप्त; (२) प्राक्-प्रणीत (पूर्व-प्रथित); (३) अयाचित; (४) तात्कालिक; (५) उपपन्न (भक्तों या शिष्यों द्वारा मठ में लाया गया भोजन)। अन्तिम प्रकार से प्रकट है कि मठों का निर्माण हो चुका था तथा प्राचीन आदर्श नहीं रहा था।

मांस मधु का सेवन वर्जित है (वा० ध० सू० १०, २४)। उसे केवल उतना ही खाना चाहिए जितने से वह जीवित रह सके[1]। उसके पास केवल जीर्ण-शीर्ण वस्त्र एवं भिक्षा-पात्र होना चाहिये (गौ० ध० सू० ३, १०; वा० ध० सू० १०, ६)। किन्तु देवल के मत में उसे जल-पात्र, पवित्र, पादुका आसन, कन्था रखने का अधिकार है। महाभाष्य (पा० १, १, १) के अनुसार त्रिविष्टब्ध (त्रिदण्ड) ही सन्यासी का चिह्न था। बौ० ध० सू० (२, १०, ५३) के अनुसार वह एकदण्डी भी हो सकता है। उसे न मृत्यु का स्वागत करना चाहिये न जीने पर हर्ष। वैदिक मंत्रों के जप के अतिरिक्त उसे मौन व्रत रखना चाहिये[2]। उसे मान-अपमान से निरीह, सत्यवादी, पवित्र विचारों वाला, संयमी, क्रोधहीन, विनीत तथा स्थिर-चित्त होना चाहिये[3]। वह भूमि को देख कर चले, पानी छान कर पिये, सत्य बोले (वि० ध० सू० ९६, १४-१७)। अपने वचन तथा कर्म से किसी को हानि न पहुँचाए (बौ० ध० सू० २, १०, ५३)। बाद के धर्मशास्त्रों में सन्न्यासियों के अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार तो केवल ब्राह्मणों को ही सन्न्यास-ग्रहण करने का अधिकार था[4]। किन्तु बाद में अन्य वर्णों को भी सन्न्यास आश्रम में प्रवेश करने की छूट मिल गयी। तो भी इस विषय में गहरा मतभेद रहा है।

प्राचीन काल में कभी-कभी नारियां भी सन्न्यास धारण करती देखी गयी हैं। किन्तु बाद में उनके लिये सन्न्यास का निषेध कर दिया गया[5]।

सन्न्यास-विधि

बौ० ध० सू०[6], बौ० गृ० शेष[7] तथा वै० ध० सू०[8] ने सन्न्यास-ग्रहण की विधि का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। उसे दाढ़ी, मूँछ तथा सिर का मुण्डन

---

१. वा० ध० सू० १०, २१-२२।
२. गौ० ध० सू० ३, १६; बौ० ध० सू० २, १०, ७९; आप० ध० सू० २, ९, २१, १०।
३. वा० ध० सू० १०, ३०; बौ० ध० सू० २, १०, ५५-८६।
४. बृ० उप० ४, ४, २२; मुण्डक० उप० १, २. १२।
५. स्मृति-चन्द्रिका, व्यवहार, पृ० २५४; अभि० १३६-१३७; एक बार सन्न्यासी होकर पुनः गृहस्थ आश्रम में प्रवेश नहीं किया जा सकता।
६. बौ० ध० सू० २, १०, ११-३०।
७. बौ० गृ० शेष ४, १६।
८. वै० ध० सू० ९, ६-८।

करा के तीन दण्ड, पवित्र (जल छानने का वस्त्र), शिक्य, कमण्डलु तथा भिक्षापात्र लेकर ग्राम की बाह्य सीमा या अग्न्यागार में जाकर घृत, दुग्ध तथा दही खाने के उपरान्त उपवास करना चाहिये। तदनन्तर **ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम्; ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि; ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात्**; तथा ओं भूर्भुवः स्वः सा····· यात् मन्त्रों से **सावित्री-प्रवेश** नामक कर्म करना चाहिये। अग्निहोत्री हो तो सूर्यास्त से पूर्व गार्हपत्याग्नि में समिधा डाल कर, अन्वाहार्य-पचन (दक्षिणाग्नि) को लाकर, गार्हपत्य से प्रज्वलित समिधा-युक्त आहवनीयाग्नि में गार्हपत्य पर गरम किये हुए आज्य की चार आहुतियों को एक साथ **ओं स्वाहा** मन्त्र से प्रदान करता है। इसे **ब्रह्मान्वाधान** की संज्ञा दी जाती है। सायं अग्निहोत्र के उपरान्त गार्हपत्य के उत्तर में दर्भास्तरण करके उस पर युगल यज्ञ-पात्रों को उल्टा कर रख देता है। आहवनीय के दक्षिण में ब्रह्मा के स्थान पर दर्भ बिछा कर उसे अजिन से ढक देता है, तथा रात भर जागता रहता है। ब्राह्म-मुहूर्त में उठ कर अग्निहोत्र करके, वेदि की पृष्ठ्या को ढक कर द्वादशकपाल आग्निवैश्वानर आहुति प्रदान करता है।

तदनन्तर मृत्पात्रों अथवा प्रस्तर-पात्रों के अतिरिक्त सभी यज्ञ-पात्रों को आहवनीय में डाल देता है तथा अरणियों को गार्हपत्य में डाल कर **या त अग्ने यज्ञिया तनूः** (तै० सं० ३, ४, १०, ५) से तीनों अग्नियों के धुएं को बारी-बारी तीन-तीन बार श्वास के साथ खींच कर अपने भीतर तीनों अग्नियों की स्थापना करता है। तदनन्तर सन्न्यास-ग्रहण की प्रतिज्ञा करके दण्ड, शिक्य, पवित्र तथा कमण्डलु तथा भिक्षा-पात्र ग्रहण करता है। तदनन्तर स्नान, आचमन तथा मार्जन करके जल में अवस्थित होकर ही अघमर्षण मन्त्रों (ऋग्० १०, १९०, १-३) का मानसिक जप करते हुए १६ प्राणायाम करता है। बाहर आकर शुद्ध नवीन वस्त्र धारण करके, आचमन करके, पवित्र के द्वारा देव तथा पितृ तर्पण करता है। अन्त में आत्म-तर्पण करता है। गायत्री मन्त्र का सहस्र या यथेष्ट अधिक जप करता है। तदनन्तर उपर्युक्त व्रतों को ग्रहण करता है। प्रथम बार भिक्षाटन के पश्चात् उस भिक्षा को सूर्य तथा ब्रह्म को अर्पित करता है। उस के प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान क्रमशः गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन, आहवनीय, सभ्य तथा आवसथ्य अग्नियों के स्थानापन्न हो गये हैं। वह आत्मा में आहुतियां प्रदान करता है तथा आनन्द को प्राप्त करता है। भिक्षा में से सभी प्राणियों को भाग प्रदान करके शेष में जल मिला कर औषध के समान थोड़ी सी स्वयं ग्रहण करता है। आचमन करने के उपरान्त "ज्योतिष्मती" ऋचा (ऋग्० १, ५०, १०) से सूर्य को समर्पित करता है तथा भविष्य में भी केवल जीवन की रक्षार्थ आवश्यक अन्न ही खाता है।

सन्न्यासोपनिषदों में सन्न्यास-ग्रहण की विधि भिन्न प्रकार से दी गयी है और मध्यकालीन धर्मशास्त्र ग्रन्थों में इस के अन्य रूपों का प्रतिपादन भी किया गया है।

इनमें स्मृत्यर्थसार (पृ० ९६-९७), यतिधर्म (पृ० १०-२२) निर्णयसिंधु (भाग ३, उतरार्द्ध, पृ० ६२८-६३२) प्रमुख हैं।

जाबालोपनिषद् (५) में तो रुग्ण तथा मरणासन्न व्यक्ति के लिये भी सन्न्यास का विधान किया गया है। इसमें विशेष कर्मकाण्ड का प्रतिपादन नहीं किया गया। केवल सङ्कल्प, प्रैष तथा अहिंसा की प्रतिज्ञा पर्याप्त है[1]।

यद्यपि प्राचीन कृतियों में सन्न्यासियों के लिये एकान्तवास, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सदा घूमते रहना, प्रभृति अनिवार्य कर्तव्य ही नहीं थे अपितु सन्न्यास धर्म के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपरिहार्य गुण माने जाते थे। तो भी पश्चात्-कालिक सम्प्रदायों के आचार्यों के पास सामान्य जनता द्वारा श्रद्धा-पूर्वक प्रदान की गयी अपार सम्पत्ति तथा अपरिमेय धन-ऐश्वर्य एकत्र हो जाने के कारण सन्न्यासियों के लिये न केवल विशाल, वैभवशाली मठों-महलों का निर्माण होने लगा तथा उनके अनिवार्य अंगभूत सर्वविध सुख-समृद्धि के साधनों का सम्भार ही एकत्र होने लगा, अपितु इस प्रकार की सम्पदा को प्राप्त करने के हेतु सन्न्यासियों में जूत-पैजार एवं न्यायालयों में मुकद्दमेबाजी भी होने लगी। आज तो ऐसा गण्य-मान्य सन्न्यासी क्वचित् ही दृष्टिगोचर होगा जो सांसारिक सुख-समृद्धि के दुष्परिणामों से अछूता हो। सन्न्यास का उद्देश्य ही लुप्त हो गया है। त्याग तथा संयम की भावना का अभाव हो गया है।

---

१. द्र० धर्मसिन्धु, उत्तरार्द्ध (प्रैष में केवल व्याहृति-पूर्वक दिन में तीन बार **सन्न्यस्तोऽहम्** इतना ही कहना होता है)।

त्रयस्त्रिंश अध्याय

राज-धर्म

अति प्राचीन-काल से धर्मशास्त्र के अन्तर्गत राजधर्म का वर्णन किया जाता रहा है तथा राजधर्म को सभी धर्मों का सार कहा गया है, क्योंकि समाज के सभी प्रकार के धर्मों की देखरेख तथा सञ्चालन की व्यवस्था का अन्तिम दायित्व राजा पर होता है। अतः राजा के कर्तव्यों की विस्तृत चर्चा धर्मसूत्रों में की गयी है[1] और पश्चात्कालिक धर्मशास्त्रों में इस विषय का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। प्राचीन-काल में राजनीति को दण्डनीति की संज्ञा दी गयी थी। कौटिल्य (१, ४) ने इस शब्द की व्याख्या करते हुये लिखा है—दण्ड वह साधन है जिसके द्वारा आन्वीक्षिकी त्रयी एवं वार्ता का स्थायित्व तथा संरक्षण हो सकता है। इसी द्वारा 'योगक्षेम', की सम्यक् व्यवस्था होती है।

दण्डनीति को ही 'अर्थशास्त्र' भी कहा गया है। राजा का कर्तव्य है कि वह धर्म तथा अर्थ में पारंगत ब्राह्मण को पुरोहित पद पर आसीन करे[2]। वह शास्त्र जो पृथ्वी की प्राप्ति तथा सरंक्षण का साधन है अर्थशास्त्र कहाता है, क्योंकि अर्थ ही समस्त मानव-जाति का जीवन या वृत्ति है[3]। इतना होते हुये भी धर्मशास्त्र राजशास्त्र के प्रमुख विषयों तथा उपादानों की सामान्य विवेचना ही प्रस्तुत करता है तथा धर्म एवं अर्थ में मतभेदों की स्थिति में धर्मशास्त्रियों ने धर्म को ही वरीयता प्रदान की है[4]।

यद्यपि राजा में दैवी अंशों की कल्पना की गयी है और उसकी सर्वोच्च सत्ता को सर्वमान्य घोषित किया है, तो भी राजा का शासन ब्राह्मणों पर नहीं चल

---

१. गौ० ध० सू० १०, ७-८; आप० ध० सू० २, ५, १०, १३-१६; वा० ध० सू० १९, १-२; वि० ध० सू० ३, २-३।

२. आप० ध० सू० २, ५, १०, १६।

३. कौटिल्य १५, १।

४. आप० ध० सू० १९, २४, २३; याज्ञ० स्मृ० २, २१।

सकता था। ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी लोग नीचे आसन पर बैठकर राजा का सम्मान करते थे। ब्राह्मणों को भी राजा का सम्मान करना होता था[1]।

सर्व-सम्मान्य होते हुये भी राजा प्रजा का सेवक माना जाता था[2], और वह प्रजा से निर्वाचित भी किया जाता था[3]। इसकी स्थिरता के लिये देवताओं से प्रार्थना की जाती थी[4]। राजा का मुख्य कर्त्तव्य प्रजा को चोर-डाकुओं तथा शत्रुओं से संरक्षण प्रदान करना है और इसी कार्य के लिये प्रजा पर कर लगाने का अधिकार उसे प्रदात किया गया था। किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया था कि कराधान तथा संरक्षण दोनों साथ-साथ चलने आवश्यक हैं[5]। यद्यपि राजा मुख्यतया राजन्य कुल का होता था। किन्तु राजसूय यज्ञ करने वाला किसी भी वर्ण का व्यक्ति राजा बन सकता था। विजय और निर्वाचन के कतिपय उदाहरणों के अतिरिक्त राजत्व प्रायः आनुवंशिक था और ज्येष्ठ पुत्र को ही सिंहासन प्राप्त करने का अधिकार था। उसे आन्वीक्षिकी[6], वार्ता, दण्डनीति[7] की शिक्षा प्राप्त करनी होती थी। विद्यार्थियों, विद्वानों, ब्राह्मणों तथा याज्ञिकों के भरण-पोषण का दायित्व राजा का था[8]। असहायों, वृद्धों, अपंगों, विधवाओं, अनाथों, तथा गर्भवती स्त्रियों की सहायता करना राजा का कर्तव्य था (वा० ध० सू० १९, ३५-३६)। यदि क्षत्रिय और वैश्य प्रजाजन शास्त्र-विहित उपायों से अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ होते थे, तो वे राजा से भरण-पोषण की व्यवस्था की मांग कर सकते थे (राजनीति-प्रकाश पृ० १३०-१३१ पर उद्धृत शंखलिखित)। युद्ध में विजयी राजा को विजित देश की परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों को नष्ट नहीं करना चाहिये (वि० ध० सू० ३, ४२; ४७-४९)। राजा को इन पाँच से सदा सावधान रहने की आवश्यकता है— कर्मचारी, चौर, शत्रु, राज-वल्लभ तथा लोभ (कामन्दक० ५, ८२-८३)।

पुरोहित—अपने कार्य को सुचारु-रूपेण धर्मानुकूल चलाने के लिये **पुरोहित** की नियुक्ति आवश्यक थी (गौ०ध०सू ११, १२-१४; आप०ध०सू० २, ५,१०,१६)।

---

१. गौ० ध० सू० ११, ७-८।

२. गौ० ध० सू० १, १०, १।

३. अथर्व० ३, ४, २; ३, ५, ६।

४. अथर्व० ६, ८७, १-२।

५. बौ० ध० सू० १, १०, १; वा० ध० सू० १, ४४-४६; गौ० ध० सू० ११, ११; वि० ध० सू० ३, २८।

६. गौ० ध० सू० ११, ३।

७. कौटिल्य० १, २; याज्ञ० १, ३११; मनु० ७, ४३।

८. गौ० ध० सू० १०, १९-२२; वि० ध० सू० ३, ७९-८०।

पुरोहित का कार्य श्रौत, स्मार्त कृत्य करना और अपराधियों के लिये उचित प्रायश्चित की व्यवस्था करना था (आप० ध० सू० २, ५, १०, ४१-१६)। यदि अपराधी न्याय में त्रुटि के कारण छूट जाता था, तो राजा तथा पुरोहित दोनों को तीन दिन का उपवास करना होता था। पुरोहित का पद ऋग्वेद के काल से ही अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता था और पुरोहित अनेक प्रकार से राजा की सहायता करता था, और सभी विषयों में उसका मार्गदर्शन करता था, यहां तक कि युद्ध में भी साथ-साथ चलता था और उसे विजय दिलाने के लिये अनेक प्रकार के क्रिया-कलापों तथा मन्त्र-तन्त्रों का प्रयोग करता था। किन्तु धीरे-धीरे एक और व्यक्ति 'सांवत्सर, (ज्योतिषी) पुरोहित पर छा गया। सभी शुभारम्भों के लिये शुभ मुहूर्त्त जानने के हेतु 'सांवत्सर' की सहायता आवश्यक हो गयी। यहां तक कि यज्ञ-याग तथा कर्म-काण्ड की क्रियाओं के भी मुहूर्त्त सांवत्सर से पूछना अनिवार्य हो गया। अतः राजा सभी कार्य सांवत्सर के निर्देशानुसार करने लगा। धर्मसूत्रकार को कहना पड़ा—"राजा च सर्वकार्येषु सांवत्सराधीनः" (विष्णु ध०सू० ३,७५)।

कराधान—जैसे ऊपर कह आये हैं, प्रजा की रक्षा के बदले में राजा को कर लगाने का अधिकार प्राप्त था। बौधायन के अनुसार कर राजा का वेतन था (१,१०,१)। कराधान के नियम अतिप्राचीन काल में बना लिये गये थे। सामान्यतः उपज का १/६ कर के रूप में संग्रह किया जाता था (गौ०ध०सू० १०,१४; वि०ध० सू० ३,२२-२३)। कौटिल्य (५,२) तथा मनु (१०,११८) ने आपत्कालीन कर लगाते समय राजा को प्रजा से प्रणय करने का आदेश दिया है। अनुर्वरा भूमि पर कर नहीं लगाया जाता था। रसोइयों, बढ़ईयों, कुम्हारों आदि को मास में एक दिन की कमाई कर के रूप में राजकोष में जमा करानी होती थी (वि०ध०सू० ३,३२; गौ० ध० सू० १०, ३, १-३४)। चरवाहों के पशुओं तथा महाजनों को आय का १/५० कर देना होता था (वि०ध०सू० ३,२४; गौ०ध०सू० १०,२५)। किन्तु पेड़ों, मांस, मधु, घृत, चन्दन, ओषधियों, पत्तियों, रसों, पुष्पों, जड़ों, फलों, शाकों, खालों, तथा मिट्टी के पात्रों पर छठा भाग कर निर्धारित था (गौ०ध०सू० १०,२७)। वि०ध०सू० (३, २५) ने इनमें मृग-चर्म को भी जोड़ दिया। देश में क्रीत-विक्रीत वस्तुओं पर १/२० शुल्क (गौ०ध०सू० १०,२६; वि०ध०सू० ३,२९), देश में बने सामान पर १/१० तथा विदेश में निर्मित पर १/२० कर लगता था (वि०ध०सू० ३,२९-३०)। विद्वानों, ब्राह्मणों, सभी नारियों, अवयस्क बालकों, रोगियों, अपंगों, गुरुकुल के छात्रों, धर्मज्ञ साधुओं, शूद्रों, ७० वर्षीय तथा इससे अधिक अवस्था के वृद्धों पर कर नहीं लगता था (गौ० ध० सू० १०, ९-१२ ; आप० ध० सू० २, १०, ६, १०-१६)। किन्तु रामायण (३, ६, १४) में मुनियों पर कर की बात आश्चर्यजनक है। मुनियों के धर्म का चतुर्थ भाग राजा को प्राप्त होता था तो प्रजा के पाप का भी षष्ठांश राजा भोगता है (वि०ध०सू० ३,२९)। किन्तु याज्ञ० (१, ३३७) के अनुसार प्रजा के पापों का आधा भाग राजा को भोगना पड़ता था।

धर्मसूत्रकारों ने युद्ध के लिये भी नियमों का निर्माण किया था। इनके अनुसार वे शत्रु अनाक्रमणीय हैं जिन्होंने अश्व, सारथि, आयुध खो दिये हों, हाथ जोड़ दिये हों, जिनके केश विखर गये हों, पीठ दिखा दी हो, भूमि पर बैठ गये हों, पेड़ पर जान बचाने के लिये चढ़ गये हों, अथवा दूत बनकर आये हों। गौ और ब्राह्मण को भी नहीं मारना चाहिये (गौ० ध० सू० १०,१७-१८)। युद्ध में विषाक्त बाणों का प्रयोग नहीं करना चाहिये (बौ० ध० सू० १, १०, १० ; आप० ध० सू० २, ५, १०, १२)।

व्यवहार (लेन देन सम्बन्धी मुकदमे)—

व्यवहार-शब्द कई अर्थों में प्रयोग किया गया है, यथा—लेन-देन (आप० ध० सू० २, ७, १६, १७) ; झगड़ा, मुकद्दमा (वा० ध० सू० १६, १ ; वि० ध० सू० ३, ७२) ; लेन देन सम्बन्धी न्याय्य सामर्थ्य (गौ०ध०सू० १०, ४८ ; वा० ध० सू० १६, ८) ; किसी विषय को तय करने का साधन (गौ० ध० सू० १०, १९)। व्यवहार के अन्तर्गत अनेक विषयों को गिनाया जा सकता है (आप० ध० सू० १, ९, २४-२५; वा० ध० सू० १७, ४०; २६, १३, ५)। प्रत्येक मुकद्दमे के निर्णयार्थ न्यायाधीश का होना अनिवार्य था, जो विद्या, कुलीनता, वृद्धावस्था, चातुर्य, धर्म के प्रति सावधानी जैसे सद्गुणों से विभूषित होता था। इसे प्राड्-विवाक (आप० ध० सू० २, ११, १९, ५) तथा प्रश्न-विवाक (वा० ध० सू० ३०, १०) भी कहते थे। इस न्यायाधीश की सहायतार्थ ७, ५ या ३ धर्मवित् ब्राह्मणों की सभा होती थी, जो वेद में निष्णात, धर्मशास्त्रज्ञ, अर्थशास्त्र-पारङ्गत, सत्यवादी, पक्षपात-रहित, स्थिर-चित्त, कार्य-दक्ष, कर्तव्य-परायण जैसे गुणों से समन्वित होते थे (वि० ध० सू० ३, ७४)। उचित न्याय न करने वाले अथवा उत्कोचहारी सभ्यों के लिये देश-निष्कासन के दण्ड की व्यवस्था थी (वि० ध० सू० ५, १८)।

अन्याय-पूर्ण निर्णय करने पर पाप का तीन चौथाई साथियों, सभ्यों तथा राजा को प्राप्त होता है (बौ० ध० सू० १, १०, १३०-३१)। सम्भवतः उन दिनों वकील भी होते थे[1]। वादी-प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष को लेख-बद्ध करके प्रस्तुत करते थे। वही लेख प्रमाण-सिद्ध माना जाता था जो देशाचार के अविरुद्ध नियमानुकूल, सन्देह-हीन तथा अर्थ-युक्त शब्दों से समन्वित होता था (वि० ध० सू० ७, ११)। उत्तरवर्ती धर्मशास्त्रों में उसे पञ्चारूढ़ होना अनिवार्य माने जाने लगा। तदनुसार उस पर ऋणी, ऋण-दाता, दो साक्षियों एवं लिपिक के हस्ताक्षर अनिवार्य कर दिये गये (स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० ५९)।

---

१. काणे० ध० शा० इ० पृ० ७२५।

साक्षी—साक्षी के लिये आवश्यक था कि वह आसव या मद्य का पान न करता हो। अपराधी न हो। स्त्री, नाबालिग़, रोगी, अपंग नहीं होना चाहिए। उससे बलपूर्वक कुछ न लिखवाया गया हो (वि०ध०सू० ७,६-१०)[1]। उसने विवाद के विषय में स्वयं देखा, सुना या जाना हुआ हो (वि०ध०सू० ८, १३)। यदि साक्षी मर जाये या विदेश चला जाय तो जिसने उससे उस विषय में सुना या जाना हुआ हो वह साक्ष्य दे सकता था (वि० ध० सू० ८,१२)।

किसी विवाद में कम से कम तीन साक्षी होने चाहिएं (गौतम ध० सू० १३, २)। एक साक्षी पर भी भरोसा किया जा सकता है, यदि वह नियत रूप से धार्मिक कृत्य करता हो तथा दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो (वि० ध० ८, ९)। साक्षी को कुलीन, देशवासी, सन्तान-युक्त गृहस्थ, धनी, चरित्रवान्, विश्वासपात्र, धर्मज्ञ, अलोभी होना चाहिए (गौ० ध० सू० १३, २ ; वि० ध० सू० ८, ८)। खेतिहरों, व्यापारियों, चरवाहों, महाजनों तथा शिल्पियों के वर्गों के मध्य विवादों में उसी वृत्ति के साक्षी तथा मध्यस्थ हो सकते हैं (गौ० ध० सू० ९, २१)।

साक्षी को साक्ष्य देने से पूर्व सत्य बोलने की शपथ लेनी होती थी[2]। ब्राह्मण को सत्य तथा धर्म की, क्षत्रिय को सवारी तथा आयुध की, वैश्य को अन्न तथा पशुओं की, तथा शूद्र को भयंकर पाप लगने की शपथ लेनी होती थी। एक विवाद में बहुत से साक्षियों के कथनों में अधिक अन्तर होने पर बहु-मत का साक्ष्य मान्य होता था। साक्षियों के मन्तव्यों के दो समान गुटों में विभक्त होने पर अधिक चरित्रवान् तथा तटस्थ साक्षियों को अधिक विश्वसनीय माना जाता था (वि० ध० सू० ८, ३९)। कूट साक्ष्य के सिद्ध होने पर मुक़द्दमे की पुनः सुनवायी होती थी। यदि इसका पता निर्णय हो जाने के बाद लगे तो सारे विवाद की पुनः जांच होती थी। एक अत्यन्त आश्चर्यजनक बात कही गयी है कि यदि किसी के सत्य बोलने से किसी को मृत्यु-दण्ड हो सकने की सम्भावना है तो साक्षी असत्य बोल सकता था (गौ० ध० सू० १३, २४-२५ ; वा० ध० सू० १६, ३६ ; मनु० ८, १०४; वि० ध० ८, ५)। कुल्लूक के अनुसार यह विधान 'प्रमादस्खलित-धर्म' के विषय में है, न कि सेंध लगाने वाले चोर के विषय में।

जहां मानुष प्रमाण से किसी निश्चय पर पहुंचना सम्भव न हो वहां दिव्यों का आश्रय लिया जाता था। दिव्यों का उल्लेख पञ्च० ब्रा० (१४, ६, ६) तथा छां० उप० (६, १६, १) में हुआ है। जहां अभियुक्त को गरम कुल्हाड़ी

---

१. और भी, वही ८, १-४।

२. गौ० ध० सू० १३, १३-२३; वि० ध० सू० ८, २४-३७; बौ० ध० सू० १०, १९, ९-१२।

थामने को कहा गया है। वि० ध० (९, १४) में पांच प्रकार के दिव्यों की चर्चा की गयी है, यथा तुला, अग्नि, जल, विष तथा कोश (पवित्र जल)। तप्त-माष और तण्डुल भी दिव्य में प्रयुक्त होते थे।

दण्ड—न्यायाधीश पात्र तथा गम्भीरता के अनुरूप दण्ड देता था, जिसके विषय में वह विद्वान् शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों से विचार-विमर्श कर लेता था (गौ० ध० ११, ४८)। कुछ शास्त्रकार मृत्युदण्ड के पक्षपाती हैं। उनके अनुसार जब पापी को पाप का बदला उसके कर्म के अनुसार मिलना सुनिश्चित है तो फिर हम उसे अत्यन्त कठोर दण्ड क्यों देवें (वि० ध० ५, ४४-४५), प्रायश्चित्त ही पर्याप्त है।

दण्ड के विषय में भी वर्ण-व्यवस्था का ध्यान रखा गया है। इस विषय में उच्च वर्ण के अपराधियों की ओर अधिक कठोरता करने का विधान किया गया है। शूद्र की अपेक्षा ब्राह्मण को आठ गुणा, क्षत्रिय को चार गुणा, तथा वैश्य को दुगुना दण्ड देने की व्यवस्था की गयी है (गौ० ध० १२, १५-१६)। नीचे वर्ण के व्यक्ति द्वारा उच्च वर्ण के व्यक्ति का अपमान करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था है। किन्तु विपरीत अवस्था में अपेक्षा-कृत मृदु दण्ड दिया जाता था (गौ० ध० १२, १; ८-१२)। सामान्यतः ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड तथा मृत्यु-दण्ड का निषेध किया गया है (गौ० ध० सू० १२, ४३; वि० ध० सू० ४, १-८)। महापातकों में ब्राह्मण के अतिरिक्त अपराधी को मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था थी (वि० ध० सू० ५, १)।

किन्तु कुछ धर्मशास्त्रियों ने भ्रूण-हत्या, स्वर्ण की चोरी, ब्राह्मण-स्त्री की तीक्ष्ण शस्त्र से हत्या सरीखे अपराधों के लिये ब्राह्मणों के लिये भी मृत्यु-दण्ड का विधान किया है (कात्यायन ८०६; कौटिल्य ४, ११)[1]। विविध अपराधों के लिये विविध प्रकार के दण्डों की व्यवस्था थी, तो भी मृत्यु-दण्ड का भरसक परित्याग ही किया जाता था। कुत्तों से कटवाना, अंग-छेदन, मस्तक पर दाग देना, कोड़े लगाना, जीभ काट लेना प्रभृति अनेक प्रकार के दण्ड दिये जाते थे।

दण्ड-व्यवस्था—विविध अपराधों के लिये विविध प्रकार के दण्ड दिये जाते थे, यह हम देख ही चुके हैं। तो भी दण्ड के और पक्षों पर विचार करना उपयोगी होगा। ब्राह्मण को मारने की धमकी देने पर सौ गाएं या निष्क, पीटने पर सहस्र निष्क या गाएं दण्ड के रूप में देनी पड़ती थीं। यदि पीटने वाला शूद्र हो तो उसका हाथ काट देने का दण्ड था (गौ० ध० सू० १२, १)। यदि अकेले व्यक्ति को कई व्यक्ति मिलकर पीटें तो दुगने दण्ड की व्यवस्था थी (वि० ध० सू०

---

१. अन्य शास्त्रकारों ने मृत्यु-दण्ड पाने वाले ब्राह्मण के लिये देश-निष्कासन की व्यवस्था दी है (बौ० ध० सू० १२, ४४; वि० ध० सू० ५, ३; बौ० ध० सू० १, १० १९)।

५, ७३)। घायल व्यक्ति के स्वस्थ होने तक उसकी औषध तथा भोजन की व्यवस्था राजा को करनी होती थी (वि० ध० सू० ५,७५-७६)। चोरी आदि का दण्ड उच्च जाति वालों के लिये अधिक था (गौ० ध० सू० १२, १२-१४)। जो चोरों की सहायता करते थे या चोरी का सामान ग्रहण या क्रय करते थे या छिपाते थे, वे भी चोरों के समान ही दण्ड के भागी होते थे (गौ० ध० सू० १२, ३६-४८)। जेब-कतरों तथा चोरों के प्रथम अपराध पर अंगूठा काट देते थे, द्वितीय पर हाथ, तृतीय पर मृत्यु-दण्ड दिया जाता था (वि० ध० सू० ६, १३६)। चोर को चोरी के सामान की पूर्ति करनी पड़ती थी (वि० ध० सू० ५, ८९)। उत्तरवर्ती नारद-स्मृति (१५, २२-२४) के अनुसार उसे चोरी गये सामान का पांच गुना देना चाहिए, किन्तु मनु० (८, ३२६-३२९) के अनुसार यह हानि-पूर्ति दुगुनी होनी चाहिये। गौतम (१२, २५) ने तीन उच्च जातियों द्वारा घास, ईंधन, गौ के लिये पत्ते, देव-पूजा के लिये पुष्प आदि लेना तथा अरक्षित फल तोड़ना अपराध नहीं माना। किन्तु कौत्स, हारीत, काण्व, पौष्करसादि ने इन को भी चोरी के अन्तर्गत ही माना है (आप० ध० सू० १०, २८, ११५)। बल से या छल से परस्त्री से सम्भोग करने पर अङ्ग-छेदन या मृत्यु का दण्ड दिया जाता था। सम्पत्ति भी छीनी जा सकती थी। नीच जाति के व्यक्ति को उच्च जाति की स्त्री से बलात्कार करने पर मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था थी (कात्यायन ८३०)। माथे पर स्त्री के गुप्तांग का दाग देने तथा वसति से निष्कासन का दण्ड भी दिया जाता था (याज्ञ० २, २८६)। निकट सम्बन्धियों, शरणागता नारी, रानी, परिव्राजिका, साध्वी या उच्च जाति की स्त्री से बलात्कार करने पर शिश्न-कर्तन से कम दण्ड नहीं दिया जाता था (नारद० १५, ७३-७५)।

ऋण—ऋण के लेन-देन की व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन-कालीन साहित्य से प्रमाणित होती है। देव-ऋण, पितृ-ऋण की चर्चा तै० सं० (६, ३, १०, ५) श० ब्रा० (१, ७, २, ११) अथर्व० (६, ११७, ३) में की गयी है। लोक में भी ऋण तथा उस पर सूद तथा सूदखोर, **कुसीद, कुसीदक** का उल्लेख तै० सं० (३, ३, ८, १-२) श० ब्रा० (१३, ४, ३, ११) में हुआ है। सूद के लिये वृद्धि (पा० ४, ४, ३० ; ५, १, ४७), **ऋणदाता** (पा० १, ४, ३५ **उत्तमर्ण**), **ऋणी** (**अधमर्ण-आधमर्ण्य** पा० २, ३, ७०) जैसे सम्बद्ध शब्दों के प्रयोग ७००-६५० ई० पू० पाणिनि ने ही किये हैं। **वार्धुषिक** (=सूदखोर) का प्रयोग सूत्रों में बहुत पाया जाता है (आप० ध० सू० १, ६, १२, २२ ; १, ९, २७, १०)। बौ० ध० सू० (१, ५, ९३-९४) में इस शब्द का प्रयोग सस्ते अन्न के बदले महंगा बहुमूल्य अन्न खरीदने वाले व्यक्ति के लिये हुआ है। सूदखोरी को ब्रह्महत्या से भी महत्तर पाप घोषित किया गया है (वा०ध० सू० २, ४१; बौ० ध० सू० १, ५, ९३)।

किन्तु **मूल-धन** का १/८० प्रतिमास का व्याज 'धर्म्य' घोषित किया गया है (गौ० ध० सू० १२, २६ ; वा० ध० सू० २, ५०)। जो छह वर्ष तथा आठ मास

में मूल धन को दुगुना कर देता है। बाद में पराशर-माधवीय (भाग-३, पृ० २२१) के अनुसार यह ब्याज-दर तभी उचित है यदि कुछ बन्धक रखा हो, १/६० तब उचित है जब **प्रतिभूति** के रूप में कुछ रखा गया हो। ब्याज दर २% तब होनी चाहिये जब केवल व्यक्ति-गत **प्रतिभूति** हो।

ब्याज के विषय में भी वर्णानुसार व्यवस्था दी गयी है कि क्षत्रिय से ३%, वैश्य से ४% और शूद्र से ५% ब्याज लेना चाहिये (वि० ध० सू० ६, २)। ऋणदाता ऋण का दुगुना एकबारगी प्राप्त नहीं कर सकता था (गौ० ध० सू० १२, २८ ; वि० ध० सू० ६, ११)। किन्तु किसी नियम के अभाव में दुगुना प्राप्त कर सकता था (वि० ध० सू० ६, १७)। इस व्यवस्था से ऋणदाता की लोभी प्रवृत्ति पर कुछ अंकुश लगाने का प्रयास किया गया। इस विषय में वा० ध० सू० (२, ४९) की विचित्र सूचना यह है कि राजा के मरने पर ब्याज रुक जाता है और नवीन राजा के अभिषिक्त होते ही पुनः बढ़ना आरम्भ हो जाता है। उत्तरवर्ती धर्मशास्त्रियों ने इस विषय में कई प्रकार के ऊहापोह किये हैं। वि० ध० (६, १७) के अनुसार अधिक से अधिक ऋण दुगुना हो सकता है किन्तु कात्यायन (५७०-५७२) के मत में बहुमूल्य वस्तुओं, रत्नों, रेशम, फलों आदि के ऋण पर दुगुना, तैलों पर आठ गुना, साधारण धातुओं पर पांच गुना लाभ लिया जा सकता है।

आधि—ऋण देने में ऋण-दाता के धन आदि की सुरक्षा के विश्वसनीय हेतु के रूप में चल सम्पत्ति के विषय में न्यास और अचल सम्पत्ति के विषय में बन्धक को **आधि** कहा गया है। इस का नाम **आधि** इस लिये पड़ा कि इससे ऋणदाता को उस पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। आप०ध०सू० (१,६,१८,२०) और गौ०ध०सू० (१२, २९) ने इस शब्द का प्रयोग किया है जबकि मनु० (८,१६५) ने **आधमन** शब्द का प्रयोग किया है। यह **आधि** दो प्रकार का होता है (i) **गोप्य** जो किसी जमानत लेने वाले के पास रखा रहता है तथा (ii) **भोग्य** जिसे ऋणदाता समझौते के अनुसार भोग सकता है (गौ०ध०सू० १२,३२)। **आधि** के रूप में रखी वस्तु को समझौते के प्रतिकूल उपभोग में लाने पर ब्याज बन्द हो जाता है और नष्ट होने पर ऋणदाता को उसी रूप में लौटाना पड़ता है या ब्याज बन्द हो जाता है या ऋण ही समाप्त हो जाता है (गौ० ध० सू० १२, ३९ ; वि० ध० सू० ६, ६)।

ऋणी का कर्तव्य है कि वह ऋण अवश्य लौटाये। अन्यथा उसके पुत्र-पौत्रों को लौटाना चाहिये, नहीं तो पाप का भय सदा लगा रहता है, यहां तक कि ऋणदाता के मर जाने पर या विदेश चले जाने पर भी ऋणी को ऋण उसके कुटुम्ब वालों को देना होता है अथवा किसी योग्य ब्राह्मण को। और यदि ये दोनों प्रकार सम्भव न हों तो मन्त्रपूर्वक जल में प्रवाहित कर देना चाहिये

(याज्ञ० २,६२) या श्मशान अथवा चौराहे पर रख देना चाहिये (कौशिक ४६,३६-४७)। चाहे कोई ले जाये। ऋण के चुकाने का दायित्व पुत्रों-पौत्रों तक होता है (वि०ध०सू० ६,२७)। प्रपौत्रों तक नहीं पहुंचता (वि० ध० सू० ६,२८)। ऐसा क्यों होता है, यह सर्वत्र स्पष्ट नहीं किया गया। वैसे सामान्यतः जो **रिक्थ** प्राप्त करता है वही **पिण्ड-दान** करता है। और वही ऋण चुकाता है (वि० ध० सू० ६, २९)। किन्तु गर्हित कर्मों के हेतु लिये हुए ऋण के चुकाने का दायित्व पुत्र पर भी नहीं होता। राजा की ओर से दिये गये अर्थ-दण्ड को तथा चुंगी को चुकाने के लिये परिगृहीत ऋण के चुकाने का दायित्व भी पूर्ण रूप से ऋणी पर ही होता है।

दाय-भाग—धन के अर्थ में **दाय** शब्द का प्रयोग तै० सं० (३, १, ९, ४; २, ५, २, ७) में किया गया है। **दिव्य** का प्रयोग ऋग्० (३, ३१, २) तथा **दायाद** का अथर्व० (५, १६, ६) एवं ऐ० ब्रा० (३३, ५) में हुआ है। स्मृति-संग्रह के अनुसार **दाय** वह धन है जो पुत्र को माता-पिता से प्राप्त होता है। **दाय-भाग** का अर्थ है—सम्बन्धियों के धन का सम्बन्धियों में विभाजन। इस में 'स्वत्व' और 'स्वामित्व' की भावना महत्त्वपूर्ण है। 'स्वत्व' के शास्त्रीय अर्थ को स्वीकार करने वाले सर्व-प्राचीन धर्मसूत्रकार गौतम (१०, ३९-४२) ने इस के पांच उद्गम गिनाए हैं—**रिक्थ, क्रय, संविभाग, परिग्रह** (जो बलात् भी संभव है) तथा **अधिगम** या अनायास प्राप्त। यदि स्वत्व का आधार 'लोकसिद्ध' मानें—जैसे कि मिताक्षरा तथा इसके अनुयायी मानते हैं—तो प्रत्येक उचित या अनुचित साधन से संगृहीत धन-सम्पत्ति को व्यक्ति की वैध सम्पत्ति मानना पड़ेगा और उस सम्पत्ति के अधिकारी उसके पुत्रादि अपराधी नहीं कहे जा सकेंगे, जब कि स्वत्व को शास्त्रोद्गत मानने पर शास्त्र द्वारा निन्दित साधनों से संगृहीत धन व्यक्ति की सम्पत्ति कहला ही नहीं सकता और न ही उसके पुत्रादि इसका वैध विभाजन ही कर सकते हैं। प्रथम पक्ष के पोषक स्वामित्व को जन्म-सिद्ध मानते हैं और इसकी सिद्धि में पितामह की सम्पत्ति में पिता और पुत्र के समान अधिकार को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हैं (वि० ध० सू० १७,२ : 'तुल्यं स्वाम्यम्')। द्वितीय पक्ष के पोषक जन्म को स्वामित्व का कारण नहीं मानते, अतः पुत्र या पुत्रों का स्वामित्व पूर्व स्वामित्व के हटने पर ही संभव होता है। प्रथम पक्ष को **जन्म-स्वत्ववादी** कहते हैं और द्वितीय को **उपरम-स्वत्ववादी**।

निरुक्त (३, ४) की **दाय-विषयक** चर्चा से प्रतीत होता है कि पुत्रियों को पिता की सम्पत्ति पर अधिकार नहीं था, किन्तु ऋग्वेद (१, ७०, ५) से प्रतीत होता है कि कभी पुत्री को भी पिता की सम्पत्ति पर अधिकार था। दूसरी ओर नाभानेदिष्ठ की कथा (ऐ० ब्रा० २२, ९) से प्रकट होता है कि पिता के रहते भी पुत्र अपनी इच्छानुसार सम्पत्ति को विभाजित कर लेते थे और किसी भाई को सम्पत्ति से वञ्चित भी कर सकते थे। तै० सं० (३, १, ९, ४-६) में तो स्वयं मनु ने ही नाभानेदिष्ठ को सम्पत्ति से वञ्चित कर दिया था। सम्पत्ति प्रायः

सभी पुत्रों में समान रूप में विभक्त की जाती थी। किन्तु आपस्तम्ब (१२,६,१४,६) के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र को कुछ अधिक भाग प्राप्त होना चाहिये तथा शेष का समान विभाजन करना चाहिये[1]। मनु (९,१; २) तथा याज्ञवल्क्य (२,१; ४) ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। इस पर जॉली (टैगोर-व्याख्यान) का यह कथन भ्रामक है कि आप० ध० सू० ने पिता के द्वारा विभाजन के अतिरिक्त कोई अन्य विभाजन प्रकार नहीं बताया[2]। अन्य प्रकार के विभाजन भी होते थे। आपस्तम्ब से प्राचीन गौतम ने कहा है कि जो ब्राह्मण पिता की इच्छा के विरुद्ध उस से पृथक् हो गये हों उन्हें श्राद्ध में निमन्त्रित नहीं करना चाहिये (१५, १५ तथा १९)। इससे प्रतीत होता है कि पिता की इच्छा के विरुद्ध भी पिता की सम्पत्ति का विभाजन हो जाता था, यद्यपि समाज में उसे गर्हित माना जाता था। सम्पत्ति का कुछ भाग विभाजनीय नहीं होता था। यथा—कूप, यज्ञार्थ निर्धारित सम्पत्ति, उत्सवार्थ बनाया गया भोजन, तथा रखैल स्त्रियां (गौ० ध० सू० २८, ४४-४६)। बाद में इस विषय की विस्तार-पूर्वक चर्चा की गयी।

कुछ विशेष परिस्थितियों में अनौरस पुत्र का भी पिता की सम्पत्ति में अधिकार माना गया है। गौतम (२८, ३७) के अनुसार शिष्य के समान आज्ञाकारी अनौरस पुत्र को जीवन-यापनार्थ धन प्राप्त करने का अधिकार है चाहे उसका ब्राह्मण पिता पुत्रहीन ही क्यों न हो! पिता की मृत्यु के उपरान्त पुत्रों के दाय-विभाजन के समय एक समान भाग विधवा माता को भी मिलता है। किन्तु संयुक्त परिवार में वह विभाजन की मांग नहीं कर सकती। स्त्रियां शक्तिहीन होती हैं और उन्हें भाग नहीं मिलता (तै० सं० ६,५,८,२)। स्त्री को कोई स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिये (बौ० ध० सू० २,२,३)[3]। पागल, पतित, जड़, क्लीव, अन्धा, रोगी, संन्यासी विभाजन तथा रिक्थ के अधिकार से वञ्चित हैं (गौ०ध०सू० २८, ४१; आप० ध० सू० २, ६, १४, १ वा० ध० सू० १७, ५२-५३; विष्णु ध० सू० १५, ३२-३९; बौ० ध० सू० २, २, ४३-४६)। क्योंकि ये धार्मिक कार्यों के अयोग्य घोषित किये गये हैं और सम्पत्ति तथा धर्म-कार्यों का सम्बन्ध अटूट है।

पुत्र—यद्यपि उत्तरकालीन स्मृतिकारों ने पुत्र को पितृ-श्राद्ध के साथ जोड़कर इसके महत्त्व में अत्यन्त वृद्धि कर दी है, तो भी प्राचीन ग्रन्थों में पुत्र का पितृ-श्राद्ध

---

१. काणे, ध० शा० इ०, पृ० ८४९।

२. अथवा सम्पत्ति का दशांश ज्येष्ठ को अधिक अथवा १/२० भाग, एक बैल, एक गौ, घोड़े वाला रथ अधिक दिया जाये (गौ० ध० सू० २८, ५)।

३. **न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।**

४. काणे, वही, पृ० ८६४।

से सम्बद्ध पिण्ड-दान से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया, न ही इसकी महत्ता की विशेष चर्चा की है। किन्तु सूत्रों तथा मनु आदि ने इसकी विशेष चर्चा की है। इस सम्बन्ध में परलोक से अधिक लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर पुत्र का महत्त्व आंका गया है (बृ० आर० उप० १, ५, १६)।

धर्मसूत्रों में **औरस** के अतिरिक्त ११-१२ गौण पुत्र गिनाये गये हैं, यथा—**पुत्रिका-पुत्र, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न, अपविद्ध, कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त** तथा **शौद्र**।

मनु० (९, १५८) ने केवल १२ पुत्रों को मन्यता प्रदान की है। उन्होंने पुत्रिका-पुत्र को इनमें नहीं गिनाया, तथापि अन्यत्र पुत्रिका को पुत्र के समान माना है (मनु० ९, १२७; १३४)।

१. **पुत्रिका-पुत्र**—पुत्र-हीन पिता पुत्री को विवाह के समय यह कहकर विवाह करता है कि इसका पुत्र मेरा पुत्र होगा।[1]

२. **क्षेत्रज**—किसी अन्य की पत्नी या विधवा से नियोग-नियमानुसार उत्पन्न पुत्र।

३. **दत्तक**—विपत्ति-काल में या स्नेह-वश जल के साथ दिया हुआ पुत्र।

४. **कृत्रिम**—जिसे कोई व्यक्ति अपना पुत्र बना लेता है।

५. **गूढोत्पन्न**—जो किसी के घर में जन्म लेता है किन्तु उसके पिता का पता नहीं होता।

६. **अपविद्ध**—अपने माता पिता द्वारा त्यागा गया किन्तु अन्य के द्वारा पुत्रवत् पालित।

७. **कानीन**—कन्या से उत्पन्न।

८. **सहोढ**—विवाह के समय गर्भवती का पुत्र।

९. **क्रीत**—खरीदा हुआ।

१०. **पौनर्भव**—पति द्वारा परित्यक्ता या विधवा के दूसरे विवाह से उत्पन्न।

११. **स्वयंदत्त**—माता-पिता द्वारा परित्यक्त बालक जो किसी की शरण में स्वयं आकर उसका पुत्र बन जाता है।

१२. **शौद्र**—ब्राह्मण की शूद्रा पत्नी से उत्पन्न। कई लोगों ने इसे मान्यता नहीं दी।

---

१. निरुक्त ३, ५ से प्रकट होता है कि प्राचीन काल में भ्रातृहीन कन्या का विवाह इसी कारण नहीं होता था कि उसका पुत्र नाना का पुत्र कहलाता था।

गौतम के अनुसार इनमें से पहले छह पुत्र ही दाय के अधिकारी (रिक्थ-भागी) हो सकते हैं, अन्तिम छह नहीं हो सकते। किन्तु पिता के वंशज (गोत्रभागी) माने जाते हैं। प्रथम छह के अभाव में अन्तिम छह को सम्पत्ति का १/४ भाग पाने का अधिकार है।

इन बारह गौण पुत्रों को आप० ध० सू० ने मान्यता नहीं दी, किन्तु उसे क्षेत्रज का ज्ञान अवश्य था (२, ६, १३, १-५)। इसमें नियोग की निन्दा की है (२, ४०, २७, २-६)। अन्य सूत्रकारों ने भी भिन्न अनुक्रमों और नामों से इनकी चर्चा की है। इनके विषय में जॉली का यह विचार ग़लत है कि इनके पीछे अधिक से अधिक शक्तिशाली कार्यकर्ताओं की प्राप्ति की प्रबल इच्छा निहित प्रतीत होती है, ताकि अधिक से अधिक अर्थ-सञ्चय कर सकें (टैगोर व्याख्यान)। सभी गौण पुत्रों को स्मृतिकारों ने उत्तम सन्तान नहीं माना, न हो इन्हें आध्यात्मिक कल्याण का माध्यम ही स्वीकार किया है और न ही एक व्यक्ति इन सभी प्रकार के पुत्रों को पुत्र के समान यहां रख ही छोड़ता था। स्मृतिकारों ने स्पष्ट कहा है कि जिसके औरस पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र हों, वह पुत्रिका-पुत्र, क्षेत्रज-पुत्र या दत्तक-पुत्र नहीं रख सकता था। इतनी लम्बी तालिका तो परिस्थितियों में कुछ-कुछ अन्तर होने के कारण इन्हें भिन्न-भिन्न संज्ञाएं प्रदान करने से हो गयी है। अन्यथा, जैसे देवल ने कहा भी है, ये सभी पुत्र तीन-चार कोटियों में रखे जा सकते हैं[1]। इसके अतिरिक्त समाज में जब इस प्रकार के बच्चे उत्पन्न होते हैं या इनकी आवश्यकता का अनुभव होता है, तो समाज को इनकी व्यवस्था करनी ही चाहिये। विवाह से बाहर उत्पन्न अवैधानिक बच्चों को मरने के लिये नालों में नहीं फेंका जा सकता।

इनका सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकार औरस पुत्र के समान नहीं है। दत्तक के बाद यदि औरस पुत्र उत्पन्न हो जाय, तो दत्तक को सम्पत्ति का $\frac{1}{4}$ प्राप्त होता है। विधवा पुत्र को गोद ले सकती थी या नहीं, इस विषय में मतभेद है। मिथिला के धर्मशास्त्रियों ने विधवा को यह अधिकार नहीं दिया। किन्तु बंगाल, मद्रास, वाराणसी के आचार्यों के अनुसार पति के द्वारा दी गयी आज्ञा के अनुरूप विधवा को पुत्र-प्रतिग्रह करने का अधिकार है।

कन्या सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकती, किन्तु आप० ध० सू० (२, ६, १, ४३) ने वैकल्पिक रूप में इस अधिकार को स्वीकार किया है। किन्तु पुत्रिका की नियुक्ति की प्रथा समाप्त होने के उपरान्त विधवा के समान ही पुत्रहीन की कन्या को उत्तराधिकारी समझा जाने लगा[2]।

---

१. काणे, वही, पृ० ८८३-८४।

२. काणे, वही, पृ० ९१२।

पुत्राभाव में सन्निकट के सपिण्ड को उत्तराधिकार प्राप्त होता है (आप० ध० सू० २, ६, १४, २)।

बन्धुओं के अभाव में क्रमशः गुरु, शिष्य, सब्रह्मचारी या श्रोत्रिय उत्तराधिकारी हो सकते हैं (गौ० ध० सू० २८, ३९)। श्रोत्रिय के अभाव में ग्राम का ब्राह्मण तथा सभी के अभाव में शुद्ध आत्म-निग्रही त्रिवेद-विज्ञ ब्राह्मण को उत्तराधिकार प्राप्त होता है, क्योंकि ब्राह्मण का धन राजा को नहीं पहुंचता (बौ० ध० सू० १, ५, १२०-१२२; मनु० ९, १८८-१८९)। अन्य जातियों का धन राजा को लेने का अधिकार है (९, १८९)। विवाह के समय या वैसे ही स्त्री को जो उपहार पितृकुल के बन्धुओं से प्राप्त होते हैं, वे सभी स्त्रीधन के अन्तर्गत आते हैं। इसके कई प्रकार गिनाये गये हैं। इस धन पर स्त्री का स्वामित्व होता है। पति या पुत्र या पिता या भाईयों को स्त्रीधन के व्यय का अधिकार नहीं है (कात्यायन० ९०५-९०, ७; ९११)। परिस्थिति-वश स्त्री-धन का प्रयोग करना ही पड़े तो उसे ब्याज सहित लौटाना होता है। स्त्रीधन का उत्तराधिकार कन्या को प्राप्त होता है। वह अपनी माता के आभूषण पाती है (बौ० ध० सू० २, २२, ४९; वा० ध० सू० १७, ४६)।

चतुस्त्रिंश अध्याय

शुद्धि या शौच

विविध वस्तुओं की शुद्धि तथा जन्म-मरण आदि से होने वाला अशौच या अशुद्धि धर्मसूत्रों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। शुद्धि की परिभाषा यों की गई है—**वेदबोधितकर्मार्हता शुद्धिः**। अर्थात् वेदविहित कृत्यों के सम्पादन की योग्यता ही शुद्धि है। तथा कृत्यों के सम्पादन की अनर्हता, अभोज्यान्नता, अस्पृश्यता तथा दानादि देने की अनधिकारिता ही अशौच है (हरदत्त गौ० ध० सू० १४,१)। अशौच दो प्रकार का है—जन्म से उत्पन्न (जननाशौच या सूतक) तथा मरण से उत्पन्न (शावाशौच, मरणाशौच)। अशौच के विविध प्रकारों, पक्षों, अवधियों तथा दूरीकरण के उपायों के विषय में धर्मसूत्रकारों तथा विभिन्न स्मृतियों में इतने अधिक भेद-प्रभेद पाये जाते हैं कि मिताक्षरा ने भी इन में संगति बिठाने में अपनी असमर्थता व्यक्त की है (याज्ञ० ३, २२)। अशौच की अवधि न केवल कर्म पर अपितु वर्ण पर भी आश्रित थी और इस विषय में भी शास्त्रकारों में बहुत मतभेद लक्षित होते हैं। मरणाशौच में गौतम (१५, १, ४) ने चारों वर्णों के लिये क्रम से १०, ११, १२ (या १५) तथा एक एक मास की अशौच-अवधि निश्चित की है, तो वा० ध० सू० (४, २७-३०) ने क्रम से १०, १५, २० एवं ३० दिन के अशौच का विधान किया है। इसी प्रकार हर विषय में मतभेद पाये जाते हैं। मरणाशौच की अवधि, मरने वाले की आयु, लिंग, उसके साथ सम्बन्ध, सपिण्डता, समानोदकता, आश्रम तथा वर्णभेद के अनुसार भिन्न हो जाती है। यथा वि० ध० सू० २२, ३२-३४ के अनुसार विवाहिता स्त्री के मरने पर माता-पिता को अशौच नहीं लगता, किन्तु जब वह पितृगृह में बच्चा जनती है या मर जाती है तो क्रम से एक दिन या तीन दिन का अशौच लगता है। माता-पिता या विमाता के मरने पर यदि दस दिन बीतने से पूर्व सूचना मिले तो विवाहिता स्त्री को तीन दिनों या दस दिनों के शेष दिनों का अशौच मनाना होता है (याज्ञ० ३, २१)। दस दिनों के बाद वर्ष के भीतर समाचार मिलने पर उसे पक्षिणी (दो दिन तथा मध्य में एक रात या दो रात और मध्य में एक दिन) अशौच होता है। दामाद के घर श्वसुर या सास के मरने पर दामाद को तीन दिनों का तथा अन्यत्र मरने पर पक्षिणी का अशौच होता है। साले के मरने पर एक दिन का अशौच होता है, आचार्य के मरने पर शिष्य को तीन दिनों का अशौच होता है, किन्तु यदि अन्यत्र मृत्यु हुई हो तो एक दिन का (गौ० ध० सू० १४, २६)। शव के ग्राम से

बाहर जाने तक सारा ग्राम अशौच मनाता है और वेद का अध्ययन नहीं होता (आप० ध० सू० १, ३, ९, १४)। राजा की मृत्यु पर जिस दिन या रात्रि में मृत्यु हो उससे दूसरे दिन या रात्रि तक देश में अशौच होता है (वि० ध० सू० २२, २५)। इन विषयों में कुछ अपवाद भी हैं, यथा यदि यज्ञ, विवाह, देवोत्सव, देव-प्रतिष्ठा या मन्दिर-निर्माण आरम्भ हो चुका हो, तो बीच में अशौच हो जाने पर ये कार्य रुकते नहीं, न ही इन पर प्रभाव पड़ता है। एक अशौच के बीच में द्वितीय अशौच के हो जाने पर प्रथम अशौच की समाप्ति पर ही द्वितीय अशौच की भी समाप्ति हो जाती है (गौ० ध० सू० १४, ५)। किन्तु यदि प्रथम अशौच की अन्तिम रात्रि में द्वितीय अशौच आ पड़े तो प्रथम की समाप्ति के दो दिन बाद शुद्धि होती है (गौ० ध० सू० १४, ६-७; बौ० ध० सू० १, ५, १२३; वि० ध० सू० २२, ३५-३८)। इसे अशौच-सन्निपात कहते हैं। कई अवस्थाओं में **सद्यःशौच** (स्नान करने तक या दिन की समाप्ति तक अशुद्धि) की भी व्यवस्था है, यथा यज्ञ के लिये वरण किये गये ऋत्विजों को मधुपर्क दे चुकने पर चान्द्रायण आदि व्रत करने वाले, दान में सतत निरत के लिये, युद्ध या देश में विप्लव के समय, आपत्काल में दुर्भिक्ष के समय सद्यःशौच की व्यवस्था है। राजाओं तथा ब्राह्मणों के लिये भी सद्यःशौच की व्यवस्था है (गौ० ध० सू० १४, ४३-४४) ताकि उनके कार्यों में बाधा न पड़े। दाँत निकलने तथा चूड़ाकरण से पूर्व शिशुओं, देशान्तर-गत लोगों, सन्न्यासियों तथा असपिण्डों की मृत्यु पर भी सद्यःशौच विहित है (गौ० ध० सू० १२,४४)। आत्म-हत्या या अपने प्राण महायात्रा, उपवास, अस्त्रों, अग्नि, विष, जल से या फांसी पर लटक कर देने वाले या प्रपात से गिर कर प्राण देने वाले व्यक्ति की मृत्यु पर भी सद्यःशौच का विधान है (गौ० ध० सू० १४, ११)। राजाज्ञा से मारे गये, रणभूमि में प्राण-विसर्जन करने वाले की मृत्यु पर भी सद्यःशौच प्राप्त होता है (गौ० ध० सू० १४, ८-१०)। इसी प्रकार के अन्य बहुत से नियम बनाये गये हैं।

पवित्रेष्टि कृत्य करने वाला तुरन्त शुद्ध हो जाता है। प्रत्येक ऋतु में **वैश्वानरी, व्रातपति** तथा **पवित्रेष्टि** करने वाले के कुल की दस पीढ़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं (आप० श्रौ० सू० ११, १२)।

द्रव्य-शुद्धि

शुद्धि तथा अशौच प्रकरण का महत्त्वपूर्ण अङ्ग द्रव्य-शुद्धि है। इस विषय में कुछ सामान्य नियम इस प्रकार वर्णित हैं। अन्न-प्राशन से पूर्व छोटे बच्चे रजस्वला के स्पर्श से अशुद्ध नहीं होते (आप० ध० सू० २, ६, १५, १७-२०)। निम्नलिखित पदार्थ सदा शुद्ध रहते है—

जो वस्तु अशुद्ध होती देखी न गयी हो। जो पानी से शुद्ध कर दी जाती है। जिसे ब्राह्मण शुद्ध कह दें। शिल्पी का हाथ, बाजार में खुले रूप में विकने वाले पदार्थ (यथा यव, गेहूँ), भिक्षा; सम्भोग के समय स्त्री का मुख, कुत्तों, चाण्डालों

एवं मांसभक्षी पशुओं से छीना गया पशु-मांस, गाय, अश्व, मक्खियाँ (बौ० ध० सू० १, ५, ५६-५७; ६४-६५; वि० ध० सू० २३, ४७-५२)। गाय का पृष्ठ-भाग शुद्ध होता है। हाथी का स्कन्ध-भाग, स्त्रियों तथा अश्वों के सभी अंग शुद्ध होते हैं। (बृहस्पति—अपरार्क पृ० २७६)। ब्राह्मण के पांव, बिल्ली तथा बकरियों का मुख भी शुद्ध होता है।

जब बहुत से वस्त्र तथा अनाज का ढेर अपवित्र हो गया हो, तो ये जल छिड़क कर शुद्ध हो सकते हैं (वि० ध० सू० २३, १३)। धातु की वस्तुओं, मिट्टी के पात्रों, लकड़ी की वस्तुओं, तथा सूत्रों से बने वस्त्रों की शुद्धि क्रमशः रगड़ने, अग्नि में पकाने, छीलने एवं जल से धोने से होती है। पत्थरों, मणियों, शंखों एवं मोतियों को धातुओं को शुद्ध करने वाले पदार्थों से ही शुद्ध किया जाता है (गौ० ध० सू० १, २८-३३; वा० ध० सू० ३, ४९-५३)। द्रव्य-शुद्धि में काल, स्थान, शरीर, द्रव्य, प्रयोजन, कारण, उपपत्ति तथा अवस्था का ध्यान रखा जाता है (मिताक्षरा, याज्ञ० १,१९०)। भूमि की शुद्धि संमार्जन, प्रोक्षण, उपलेपन, अवस्तरण (मिट्टी ऊपर डालना), उल्लेखन से होती है (बौ० ध० सू० १, ५, ६६; वा० ध० सू० ३, ५७)। जल सर्व-शोधक पदार्थ माना गया है (ऋग् ७, ४९, २-३; अथर्व० १, ३३, १; वा० सं० ४, २)। सामान्य प्रयोग में आने वाले बरतनों की शुद्धि के विषय में विस्तृत नियमों के होते हुये भी मतैक्य नहीं है (बौ० ध० सू० १,५,३४-५०; १, ६, ३३-४२; वि० ध० सू० २३, २-५)। धातु की वस्तु तपाने से और यज्ञ-पात्र विशिष्ट वैदिक मन्त्रों से शुद्ध हो जाते हैं (बौ० ध० सू० १, ५, ५१-५२)। अशुद्ध अन्न तथा भोजन की शुद्धि के लिये भी विशेष नियम बनाये गये हैं, जिनमें सुविधा, जानकारी तथा हानि का भी ध्यान रखा गया है। जब चावल की ढेरी अशद्ध हो जाये तो अशुद्ध भाग को त्याग देना चाहिये, शेष को धोकर चूर्ण में परिवर्तित कर देना चाहिये (वि० ध० सू० २३, २५)। सिद्ध अन्न के अशुद्ध हो जाने पर केवल अशुद्ध को त्याग कर शेष पर स्वर्ण-मिश्रित जल छिड़क कर शुद्ध करना चाहिये। बकरी को दिखाना चाहिये और अग्नि के पास रखना चाहिये (वि० ध० सू० २३, ११; बौ० ध० सू० १, ६, ४४-४८)। यदि धान अधिक हो तो केवल जल छिड़कना पर्याप्त है। भोजन में नख या केश हों तो उसे त्याग देना चाहिये (आप० ध० सू० १, ५, १६, २४-२९)। रेशमी, ऊनी वस्त्र क्षार-युक्त जल से, नेपाली कम्बल रीठे से, छाल से बने वस्त्र बेल के फल से, क्षौम या शण से बने वस्त्र श्वेत सरसों के लेप से शुद्ध करने चाहिये (वि० ध० सू० २३, १९-२२)।

इस प्रकार विविध प्रकार की वस्तुओं की शुद्धि के लिये नाना उपाय बताये गये हैं।

पाप और प्रायश्चित्त

ऋग्वेद के काल से ही हम आर्यों को पाप या पातक से भयभीत और देवताओं से पाप से रक्षा करने की प्रार्थना करते हुये पाते हैं। एक ऋषि तो बड़ी दीनता भरे स्वर में वरुण देव से आत्म-निवेदन करते हुये कहते हैं कि पाप किसी व्यक्ति की शक्ति के कारण नहीं होता, यह भाग्य, सुरा, क्रोध, जुआ तथा चित्त की असावधानी से हो जाता है। यहाँ स्वप्न भी दुष्कृत्य का प्रेरक बन जाता है (ऋग्० ७,८६,६)। कौ० ब्रा० उप० (३,९) में कहा गया है कि "वह (ईश्वर) ही उससे साधु कर्म कराता है, जिसे वह इन (सत्) लोकों की ओर उठाना चाहता है और उससे दुष्कर्म कराता है जिसे नीचे खींचना चाहता है।"

इन दोनों वचनों से पाप-कर्म के प्रति मानव की विवशता सी झलकती है और भाग्यवादी भावना व्यक्त होती है। गीता में भी कहा है कि "प्रकृति ही मनुष्य से सभी कर्म कराती है।" किन्तु प्रकृति भी तो मनुष्य के अपने ही कर्मों से बनती है। निरुक्त (६, २७) में सात पापों का विवरण दिया है, जो मनुष्य को गिराने का कारण बनते हैं, वे हैं—स्तेय, तल्पारोहण, ब्रह्म-हत्या, भ्रूण-हत्या, सुरापान, एक ही पाप की पुनरावृत्ति, तथा असत्य-वचन।

पाप की भावना क्या थी, यह तै० ब्रा० (३, २, ८, ११) में गिनाए गये पापियों से पता चलता है—(**सूर्याभ्युदित**) जो सूर्य उदय होने तक सोता है, जो सूर्यास्त होते ही सो जाता है (**सूर्याभिनिर्मुक्त**), बड़ी बहिन के अविवाहित रहते छोटी बहिन का विवाह करने वाला, वह बड़ा अविवाहित भाई जिसके छोटे भाई का विवाह हो गया है, अग्निहोत्र का त्यागी, तथा ब्रह्म-हत्यारा। इस तालिका में आप० ध० सू० (२, ५, १२, २२) ने इन्हें और जोड़ दिया है—विधिषुपति (उस स्त्री का पति जिसकी छोटी बहिन का विवाह पहले हो चुका है), पर्याहित (वह बड़ा भाई जिसका छोटा भाई उससे पहले अग्निहोत्र आरम्भ कर लेता है), परिविविदान (वह छोटा भाई जो वड़े भाई से पूर्व ही पैतृक सम्पत्ति का दायांश ले लेता है), परिवित्त (वह बड़ा भाई जिसका छोटा भाई दायांश ले लेता है)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामान्य सोने-जागने के नियमों की अवहेलना, सामाजिक रीति-रिवाज़ों का उल्लंघन, सभी 'पाप' की कोटि में घसीट लिये गये हैं। पाप भी दो प्रकार के माने गये हैं—पतनीय और अशुचिकर। पतनीय पाप के अपराधी को तो जाति-च्युत कर दिया जाता है। अशुचिकर पापों से केवल अशुद्धता प्राप्त होती है।

आप०ध०सू० (१,७,२१,७-११) के अनुसार पतनीय पाप ये हैं—स्वर्ण-स्तेय, अभिशस्त (लाञ्छित) करने वाले पाप, उपेक्षा या प्रमाद के कारण वैदिक विद्या का पूर्ण ह्रास, भ्रूण-हत्या, एक ही प्रकार के गर्भ से उत्पन्न सम्बन्धियों से

व्यभिचार-संसर्ग, सुरापान, वर्जित लोगों से सम्भोग सम्बन्ध, गुरु या आचार्य की सखी से सम्भोग प्रभृति अनैतिक कृत्य।

अशुचिकर पाप—अशुचिकर पाप ये हैं—आर्य नारी का शूद्र से सम्भोग, कुत्ते, ग्राम-कुक्कुट प्रभृति वर्जित पशुओं का मांस-भक्षण, शूद्र का उच्छिष्ट भोजन खाना, अपपात्र स्त्रियों से आर्य पुरुषों का सम्भोग (आप० ध० सू० १, ७, १२, १२-१८)। अभिशस्तों की कोटि में ये आते हैं—वेदज्ञ या सोमयाग के लिये दीक्षित ब्राह्मण या क्षत्रिय का हत्यारा, सामान्य ब्राह्मण का हत्यारा, ब्राह्मण के भ्रूण का हत्यारा, तथा **आत्रेयी** (रजस्वला) का हत्यारा (आप० ध० सू० १, ९, २४, ६-९)।

वा० ध० सू० (१, १९-२३) ने पापियों को तीन कोटियों में विभक्त किया है—**एनस्वी, महापातकी** तथा **उपपातकी। एनस्वी** साधारण पातकी है। वेद-त्यागी को भी इसमें **एनस्वी** ही माना गया है। **एनस्वी के** लिये प्रायश्चित्तों की भी व्यवस्था की गयी है (वा० ध० सू० २०, ४-१२)। पतनीय पापों को ही **महापातक** की संज्ञा दी गयी है। **उपपातकों** के अन्तर्गत अग्निहोत्र-परित्याग, गुरु को कुपित करना, नास्तिकता, सोम-क्रय। बौ० ध० सू० (२, १) ने **पतनीय उपपातक** तथा **अशुचिकर**—ये तीन पाप माने हैं। **पतनीय** के अन्तर्गत समुद्र-संयान, ब्राह्मण की सम्पत्ति या न्यास का हरण, भूम्यनृत, सर्व-पण्यव्यवहार, शूद्र-सेवा, शूद्राभिजनन। **उपपातक** ये हैं—अगम्या-गमन, गुरु या आचार्य की सखी या अपपात्र से सम्भोग, भेषज-करण, ग्राम-याजन, रंगोपजीवन, गो-महिषी-रक्षण तथा कन्या-दूषण।

अशुचिकर पाप ये हैं—द्यूत, अभिचार, अनाहिताग्नि द्वारा उञ्छ-वृत्ति, वेदाध्याय के उपरान्त भैक्ष्यचर्या, गुरुकुल से वेदाध्ययन के उपरान्त घर आकर पुनः अध्ययनार्थ चार मास से अधिक गुरुकुल-वास, जिसने अध्ययन समाप्त कर लिया हो उसका अध्यापन तथा नक्षत्र-निर्देश द्वारा जीवन-वृत्ति।

गौ० ध० सू० (२१, १-३) ने आप० ध० सू० (१, ७, २१, ९-११) तथा वा० ध० सू० (१, २३) द्वारा वर्णित पापों को सम्मिलित कर दिया है और कुछ अन्य को जोड़ दिया है। वि० ध० सू० (३३, ३-५) ने नौ प्रकार के पाप गिनाये हैं।

अतः स्पष्ट है कि इन धर्मसूत्रों में पापों के वर्गीकरण के विषय में पर्याप्त भेद पाये जाते हैं, और इनके वर्गीकरण में भी कोई व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती है, न ही कोई वैज्ञानिक या समाजशास्त्रीय आधार है।

बौ०ध०सू० की सूचियां तो केवल ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से सम्बन्धित हैं, क्योंकि गो-महिषी-रक्षण वैश्य की तो विशिष्ट वृत्ति ही है, उसे वैश्य के लिये वर्जित मानना सर्वथा असंगत है।

पश्चात्कालिक स्मृतिकारों ने पापों का अधिक विस्तार से वर्णन किया है। तो भी मनु०, याज्ञ०, तथा विष्णु० के वर्णनों में भी पर्याप्त भेद पाया जाता है। इन विविध प्रकार के अपराधों तथा पापों के लिये जहां दण्ड-व्यवस्था है। वहां प्रायश्चित्त प्रभृति अन्य उपाय भी सुझाये गये हैं। यथा—

१. **आत्मापराध-स्वीकृति**—आप०ध०सू० (१,९,२४,२५; १,१०,२८,२९)—में अभिशस्तता से गृहीत व्यक्ति को प्रायश्चित्त करते समय, अपनी जीविका के लिये भिक्षा मांगते समय अपने दुष्कृत्यों की घोषणा करनी चाहिये।

२. **पश्चात्ताप**—पाप का त्याग करने का सङ्कल्प तथा पुनः न करने की प्रतिज्ञा (मनु० ११, २२९-३०)।

३. **प्राणायाम**—(बौ० ध० सू० ५, १, ३-११; वि० ध० सू० ५५, २; वा०ध०सू० २६, १-५)।

४. **तप**- (गौ० ध० सू० १९, १५-१७)।

५. **होम**—बौ०ध०सू० (३, ७, १) के अनुसार **कूष्माण्ड**-होम से ब्रह्म-हत्या से कम पाप निवृत्त हो जाते हैं। (**कूष्माण्ड-मन्त्र**=वा०सं० २०, १४-१६ [द्र. वा० ध० सू० २६, २६])।

६. **जप**—गौ० ध० सू० १९, १२; =बौ० ध० सू० ३, १०, १०= वा० ध० २२,९ में मधु-सूक्त, अघमर्षण-सूक्त (ऋग्० १०,१९०,१-३) **अथर्वशिरस्, रुद्रपाठ, पुरुषसूक्त, राजत** एवं **रोहिण साम, बृहत्** तथा **रथन्तर, महानाम्नी ऋचा** प्रभृति का जप विहित है, जिसका **उद्देश्य** परमात्मा की उपस्थिति तथा तत्सम्बन्धी विचार में आत्मा का नियमन है।

७. **दान**—गौ० ध० सू० (१९, १६) तथा वि० ध० सू० (९२, ४) के अनुसार सोना, गौ, वस्त्र घोड़ा, तिल, घृत एवं अन्न के दान से पापों का नाश होता है।

८. **उपवास या अन्न-जल का पूर्ण परित्याग**—वेद-व्यवस्थित कृत्यों यथा दर्शपूर्णमास या सन्ध्यावन्दन के परित्याग से उत्पन्न पाप को नष्ट करता है (वि० ध० सू० ५४, २९=मनु० ११, २०३)। बराबर जल पीने से, पान खाने, दिन में सोने तथा सम्भोग से उपवास का फल नष्ट हो जाता है।

९. तीर्थ-यात्रा तथा अश्वमेध से पातकी भी पवित्र हो जाते हैं (वि०ध० सू० ३५, ६)।

छागलेय के अनुसार अनजाने में किये गये पापों को ही प्रायश्चित्त नष्ट कर सकता है (मदन-पारिजात, पृ० ७०५; पार० मा० २, भाग १, पृ० २०१)।

जानबूझ कर किये गये पापों से मुक्ति पाने के लिये कोई प्रायश्चित नहीं है। प्रायश्चित्त का दूसरा उद्देश्य समाज-संसर्ग का स्थापन भी है। यदि प्रायश्चित्त पापों को नरक से न भी बचा सके तो दूसरा उद्देश्य तो पूरा हो ही जाता है (याज्ञ० ३, २२६)। ब्रह्महत्या जैसे महापातकों से छुटकारा पाने के लिये मृत्यु-पर्यन्त प्रायश्चित्त करते रहने से पाप दूर हो सकते हैं (आप० ध० सू० १, ९, २४, २४-३२)। बाल-हत्या, शरणागत-हत्या, स्त्री-हत्या के अपराधियों के प्रायश्चित्त कर लेने पर भी उनसे सामाजिक संसर्ग का निषेध किया गया है (वि० ध० सू० ५४, ३२)। कुछ ऐसे कर्म भी थे, जिनके लिये सम्भवतः प्राचीन-काल में राजदण्ड की व्यवस्था नहीं थी, यथा—अधीत वेद का विस्मरण, सूर्योदय या सूर्यास्त के बाद सोना, अग्नि-होत्र प्रारम्भ करके छोड़ देना। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि ये कार्य प्रायश्चित्तों के अन्तर्गत आते ही थे। किन्तु पञ्च० ब्रा० (१४, ६, ६) से विदित होता है कि चोरी के अपराध में दिव्य-ग्रहण कराया जाता था और साथ ही साथ मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था भी थी। विद्वत्-परिषद् प्रायश्चित्तों के नियम निर्धारित करती थी और राजा दण्ड देता था। गौ० ध० सू० (८,१) ने श० ब्रा० के शब्दों में कहा है कि राजा एवं बहुश्रुत ब्राह्मण संसार की नैतिक व्यवस्था को धारण करने वाले हैं (श० ब्रा० ५, ४, ४, ५)। आप० ध० सू० (२, ५, १०, १२-१६) से प्रकट होता है कि राजा प्रायश्चित्तों के सम्पादन में सहायता करता था और अवहेलना करने वालों को दण्डित करता था (द्र. मनु० ९, २२६ ; परा० मा० ८, २८)।

गौ० ध० सू० (२३, १०, ११) तथा वा० ध० सू० (२०, २३) ने व्यवस्था दी है कि माता, बहिन तथा पुत्र-वधू से व्यभिचार के अपराधी के कोश तथा लिङ्ग काट कर उसे दक्षिण या दक्षिण-पश्चिम दिशा में तब तक चलते रहने का प्रायश्चित्त करना चाहिये, जब तक उसका शरीर गिर न जाये। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं, जिनमें राजदण्ड और प्रायश्चित्त दोनों साथ-साथ चलते थे।

कुछ अवस्थाओं में केवल राजदण्ड ही पर्याप्त माना जाता था और प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं होती थी (वा० ध० सू० १९, ४५=मनु० ८, ३१८)। प्रायश्चित्त-सम्बन्धी साहित्य इतना विशाल है कि गौ० ध० सू० के २८ अध्यायों में से दस प्रायश्चित्त-विषयक ही हैं। वा०ध०सू० के ३० अध्यायों में से ९ इसी विषय के हैं (२०-२८)। इसी प्रकार अन्य धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों की भी ऐसी ही स्थिति है। इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रचे गये हैं। इस विषय में स्मरणीय है कि ८० वर्ष के वृद्धों, १६ वर्ष से नीचे के बच्चों, स्त्रियों और रोगियों को व्यवस्थित प्रायश्चित्त का आधा करना होता था (वि० ध० सू० ५४, ३३)। जाति की दृष्टि से ब्राह्मण को कठोर और शूद्र को अपेक्षाकृत मृदु प्रायश्चित्त की व्यवस्था है।

प्रायश्चित्तों के नाम—१. **अघमर्षण** जप (ऋग्० १०,१९०,१-३) सभी पापों के लिये।

२. **अतिकृच्छ्र**—तीन दिनों तक केवल प्रातःकाल एक कौर भोजन, तीन दिनों तक सायंकाल एक कौर भोजन, तीन दिनों तक बिना माँगे एक कौर भोजन और तीन दिनों तक पूर्ण उपवास (मनु० ११, २१३)। याज्ञ० (३, ३१९) ने एक कौर के स्थान पर एक मुट्ठी भोजन की व्यवस्था की है। इसे ब्राह्मण को लाठी से मारने के अपराध में किया जाता है (वि० ध० सू० ५४,३०; मनु० ११,२०८)। गौ० ध० सू० (२६, २२) ने महापातकों के अतिरिक्त सभी पापों के लिये इसका विधान किया है।

३. **अतिसान्तपन**—१८ या १५ दिनों तक पञ्च-गव्य तथा कुशोदक का क्रम से तीन-तीन दिन तक एक-एक का ग्रहण किया जाता है। अन्तिम तीन दिनों तक उपवास रखा जाता है (वि०ध०सू० ४६,२२; याज्ञ० ३, ३१५)।

४. **कृच्छ्र**—जिसे पश्चात्कालिक लेखकों ने **प्राजापत्य** कहा है। यह सामान्यतः प्रायश्चित्त-वाचक भी है। यह बारह दिनों का व्रत है, जिसके भोजन के नियम अतिकृच्छ्र में कह चुके हैं। बौ० ध० सू० (२, १, ९१) ने इसे ही **पराक** संज्ञा दी है। आप० ध० सू० (१, ९, २७, ७) भी द्रष्टव्य है।

५. **कृच्छ्र-संवत्सर**—एक वर्ष का कृच्छ्र (आप० ध० सू० १,९,२७-२८)।

६. **कृच्छ्रातिकृच्छ्र**—इस से व्यक्ति के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। गौ० ध०सू० (२६, २०) तथा वा० ध० सू० (२४, ३) ने इसे वह कृच्छ्र कहा है जिस में, जिन दिनों भोजन की अनुमति है, केवल जल ग्रहण किया जाता है। इसकी अवधि २१ या २४ दिन की कही गयी है।

७. **चान्द्रायण**—जिस में चन्द्र के घटने तथा बढ़ने के अनुसार ही भोजन किया जाता है। इस व्रत के दो प्रकार प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध हैं— **यव-मध्य** और **पिपीलिका-मध्य**। **यव-मध्य** (बौ० ध० सू० ४,५,१८; वा० ध० सू० २७, २१) में मास के शुक्लपक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास भोजन किया जाता है, द्वितीय दिन दो ग्रास………पूर्णिमा को १५ ग्रास और इस के उपरान्त कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन १४ ग्रास, द्वितीय दिन १३ ग्रास……………कृष्ण चतुर्दशी को एक ग्रास खाया जाता है और अमावस्या के दिन पूर्ण उपवास किया जाता है। **पिपीलिका-मध्य** में कृष्ण पक्ष की प्रथम तिथि को व्रत आरम्भ किया जाता है तो केवल १४ ग्रास भोजन खाया जाता है और प्रतिदिन एक ग्रास की कमी की जाती है। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को एक ग्रास खाया जाता है और पूर्णिमा को १५ ग्रास (वा० ध० सू० २३, ४५)। यह व्रत प्रायश्चित्त के रूप में न करके केवल धर्म-सञ्चयार्थ भी किया जाता है। इस प्रकार एक वर्ष भर व्रत करने के बाद व्यक्ति मृत्यु के

उपरान्त चन्द्रलोक को जाता है (गौ०ध०सू० २७,१८)। यह सभी पापों के नाश के लिये सामान्यतः विहित है (गौ०ध०सू० १९,२०; वा० ध० सू० २२, २० ; बौ० ध० सू० ४, ५, १६)।

८. **तप्त-कृच्छ्र**—वा०ध०सू० (२१,२१), वि०ध०सू० (४६,११) तथा बौ०ध०सू० (४,५,१०) के अनुसार यह बारह दिन का होता है। तीन दिन गरम जल, तीन दिन गरम दूध, तीन दिन गरम घी, अन्तिम तीन दिन पूर्ण उपवास विहित है और गरम वायु का पान किया जाता है। याज्ञ० (३, ३१७) ने इसे केवल चार दिनों का माना है। प्रायश्चित्त-प्रकाश में २१ दिनों का विधान है।

९. **तुला-पुरुष-कृच्छ्र**— वि० ध० सू० (४६, २२) के अनुसार इसकी अवधि भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा सात, पन्द्रह तथा इक्कीस दिनों की रखी गयी है और इस में खली, माँड, तक्र, जल और सत्तु अलग-अलग दिनों में खाये जाते हैं और एक दिन खाने के बाद उपवास किया जाता है।

१०. **तोय-कृच्छ्र**—वि० ध० सू० (४६, १४) के अनुसार एक मास तक केवल सत्तू तथा जल मिला कर खाना चाहिये। इसे वरुण-कृच्छ्र भी कहते हैं।

११. **पराक**—बौ० ध० सू० (४,५,१६), विष्णु० ध० सू० (४६, १८) के अनुसार इस में बारह दिनों तक पूर्ण उपवास करना होता है, जिससे समस्त पाप कट जाते हैं।

१२. **पर्ण-कृच्छ्र**—वि० ध० सू० (४६, २३) ने सात दिन तक कुश, पलाश, उदुम्बर, पद्म, शंखपुष्पी, वट तथा शण (सुवर्चल) के पत्तों को उबाल कर पीने का विधान किया है। इस के और भी प्रकार हैं।

१३. **प्रसृति-यावक**— बौ० ध० सू० (३, ६) तथा वि० ध० सू० (४८ अध्याय) में इसका वर्णन किया गया है। अर्धाञ्जलि या पसर-भर जौ नक्षत्रोदय काल में उबाल कर लप्सी बना कर थोड़ा सा खाना चाहिये। अनेक पापों को दूर करता है, छह दिनों तक कर्त्तव्य है। जो व्यक्ति इसमें गाय के गोबर से प्राप्त जौ का प्रयोग इक्कीस दिन तक करता है, उसे गणों, गणपति, सरस्वती तथा विद्याधिपति के दर्शन होते हैं।

१४. **महासान्तपन**—बौ० ध० सू० (४, ५, १७) के अनुसार २१ दिनों के व्रत में तीन-तीन दिनों तक पञ्चगव्य और कुशोदक का सेवन करके अन्तिम दिन उपवास करना होता है।

१५. **मूल-कृच्छ्र**—वि० ध० सू० (४६, १५) के अनुसार इसमें केवल मृणाल खाना चाहिये।

१६. **यति-चान्द्रायण**—एक मास तक केवल एक वार हविष्य अन्न के आठ ग्रास खाने और आत्म-नियन्त्रण का विधान है (बौ० ध० सू० ४, ५, २०; वि० ध० सू० ४७, ७)।

१७. **शिशु-कृच्छ्र**—इसमें १ दिन केवल रात में, एक दिन केवल दिन में और एक दिन बिना मांगे केवल एक वार भोजन करना चाहिये।

१८. **शीत-कृच्छ्र**—१० दिनों के व्रत में तीन-तीन दिन शीत जल, शीतल दूध और शीतल घृत पिया जाता है। एक दिन पूर्ण उपवास किया जाता है (वि० ध० सू० ४६, १२)। मिताक्षरा (याज्ञ० ३, ३, १७) ने इसे बारह दिनों का व्रत माना है।

१९. **श्री-कृच्छ्र**—एक मास तक बिल्व-फल या कमल के बीज खाये जाते हैं (वि० ध० सू० ४६, १६)।

अन्य प्रायश्चित्त भी विहित हैं, किन्तु वे धर्मसूत्रों के बाद की उपज हैं। प्रायश्चित्त न करने पर नरक की नानाविध यातनाएं सहन करनी पड़ती हैं।

उद्धरण-सूची

आ

कल्प सू०-७९

द

ह

विशिष्ट-पद-सूची

अ

आ

ऊ

ऋ

ए

ख

ग

छ

ज

त

पुस्तक-सूची

(क) मौलिक ग्रन्थ

अग्निपुराण
अत्रि संहिता
अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण
(एम० ब्लूमफील्ड)
अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
आग्निवेश्य गृह्यसूत्र
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आपस्तम्ब मन्त्रपाठ
आपस्तम्ब शुल्बसूत्र
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आर्षेय कल्पसूत्र
आश्वलायन गृह्यपरिशिष्ट
आश्वलायन गृह्यसूत्र
आश्वलायन मन्त्रसंहिता
उपनिदानसूत्र
ऋग्वेद प्रातिशाख्य
ऋग्वेद संहिता
ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी
एकाग्निकाण्ड
ऐतरेय ब्राह्मण
ऐतरेयारण्यक
कठोपनिषद्
कपिष्ठल कठ संहिता
कवि कल्पद्रुम (बोपदेव)
काठक गृह्यसूत्र
काठक श्रौतसूत्र
काठकसंहिता
काण्व संहिता
कात्यायन शुल्बसूत्र
कात्यायन श्राद्धकल्प
कात्यायन श्रौतसूत्र
काशिका (पाणिनीय व्याख्या)
कुल्लूक भट्ट (मनु० व्याख्या)
कृत्यकल्पतरु
कौथुम गृह्यसूत्र
कौशिक सूत्र
कौषीतकि आरण्यक
कौषीतकि गृह्यसूत्र
कौषीतकि ब्राह्मण
कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
क्षीरतरंगिणी
क्षुद्र कल्पसूत्र
खादिर गृह्यसूत्र
गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग
(कृष्ण लाल)
गोपथ ब्राह्मण
गोभिलगृह्यसंग्रहपरिशिष्ट
गोभिल गृह्यसूत्र
गोभिल मन्त्रब्राह्मण
गोभिल स्मृति
गौतम गृह्यसूत्र
गौतम धर्मसूत्र
चतुरध्यायिका
छान्दोग्योपनिषद्
जाबालोपनिषद्
जैमिनीय गृह्यसूत्र

जैमिनीय ब्राह्मण
जैमिनीय मीमांसासूत्र
जैमिनीय श्रौतसूत्र
जैमिनीय संहिता
जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण
तन्त्रवार्तिक
ताण्ड्य महाब्राह्मण
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीयसंहिता
तैत्तिरीयारण्यक
तैत्तिरीयोपनिषद्
त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़
द्राह्यायण गृह्यसूत्र
द्राह्यायण श्रौतसूत्र
धर्मशास्त्र का इतिहास
(काणे, हिन्दी समिति, इलाहाबाद)
धर्मसिन्धु
धातुपाठ
निघण्टु
निदानसूत्र
निरुक्त
निर्णय सिन्धु
पराशरमाधवीय
पञ्चविंश ब्राह्मण
पद्म पुराण
परिभाषा वृत्ति
पाणिनीय अष्टाध्यायी (पाणिनि)
पाणिनीय धातुपाठ
पाणिनीय सूत्रवार्तिक
पारस्करगृह्यपरिशिष्ट
पारस्कर गृह्यसूत्र
पारस्कर स्मृति
पुराण
प्रजापति स्मृति
फिट्सूत्र (शान्तनवाचार्य)

बाल क्रीडा (विश्वरूप)
(या० स्मृ० व्या०)
बालम्भट्टी
बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहद्देवता
बैजवाप गृह्यसूत्र
बौधायन गृह्यपरिभाषासूत्र
बौधायन गृह्यपरिशेषसूत्र
बौधायन गृह्यशेष
बौधायन गृह्यसूत्र
बौधायन धर्मसूत्र
बौधायन पितृमेध सूत्र
बौधायन शुल्वसूत्र
ब्रह्मपुराण
भगवद्गीता
भविष्य पुराण
भारद्वाज गृह्यसूत्र
भारद्वाज पितृमेधसूत्र
भारद्वाज श्रौतसूत्र
भारतीय ज्योतिष (बालकृष्ण दीक्षित,
झाड़खण्डीकृत अनुवाद)
मत्स्य पुराण
मनुस्मृति
मन्त्र ब्राह्मण
मशकसूत्र (आर्षेय०)
महानिर्वाणतन्त्र
महाभारत
महाभाष्य (वैयाकरण)
महावग्ग
माण्डूक्योपनिषद्
मानव शुल्बसूत्र
मानव श्रौतसूत्र
मार्कण्डेय पुराण
मिताक्षरा (याज्ञ० स्मृ० व्याख्या)
मुण्डकोपनिषद्

मैत्रायणीय प्रातिशाख्य
मैत्रायणीय संहिता
याज्ञवल्क्य स्मृति
लाट्यायन श्रौतसूत्र
लौगाक्षि गृह्यसूत्र
वाजसनेयि प्रातिशाख्य
वाजसनेयि संहिता
वाधूल श्रौतसूत्र
वाराह गृह्यसूत्र
वाराह श्रौतसूत्र
वासिष्ठ धर्मसूत्र
विष्णु धर्मसूत्र
वीरमित्रोदय (संस्कार प्रकाश)
वैखानस धर्मसूत्र
वैखानस श्रौतसूत्र
वैतानसूत्र
वैदिक धर्म एवं दर्शन
वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्दत्त)
शतपथ ब्राह्मण (काण्व)
शतपथ ब्राह्मण (माध्यन्दिन)
शांखायन गृह्यसूत्र
शांखायन पितृमेधसूत्र
शांखायन श्रौतसूत्र
शाबरभाष्य (मीमांसा) (शबरस्वामीकृत)
श्वेताश्वतर ब्राह्मण
श्वेताश्वतरोपनिषद्
संस्कृत शास्त्रों का इतिहास (बलदेव उपाध्याय)
सत्याषाढ गृह्यसूत्र
सत्याषाढ धर्मसूत्र
सत्याषाढ श्रौतसूत्र
सर्वानुक्रमणी
सामवेद संहिता
स्मृतिचन्द्रिका
स्मृतिमुक्ताफल
स्मृत्यर्थसार
हारीत धर्मसूत्र
हिन्दू परिवार मीमांसा (हरिदत्त विद्यालङ्कार)
हिन्दू विवाह (हरिदत्त विद्यालङ्कार)
हिन्दू संस्कार (राजवलि पाण्डेय)
हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र
हिरण्यकेशि धर्मसूत्र
हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र

(ख) सहायक ग्रन्थ

Agravala, V. S. — India as known to Pāṇini
Altekar, A. S. — Women in Ancient India
Ayachit, S. M. — A critical study of Gaṇa pāṭha
Bannerji, S. C. — Dharma sūtras : A study in their Origin and Development
Bhattachārya, N. N. — Ancient Indian Rituals
Bloomfield, M. — Ṛgveda Repetitions
" — Hymns of the Atharvaveda
" — Atharvaveda and Gopatha Brāhmaṇs
" — Religion of the Veda
" — Vedic Concordance

Brough, J. — Early Brāhmanical System of Gotra and Pravara
Buitanen, Van, J. A. B. — Rāmānuja's Vedārtha Saṁgraha (ed.)
Caland, W. — Der Attindischen Todten und-Bestattungs-gebrauche
" — Der Gautama Śrāddhakalpa, ein Beitrage Zum Geschichte der Sāmaveda Schulen
" — Das Vaitānasūtra des Atharvaveda
" — Das Śrautasūtra des Āpastamba
" — Śāṅkhāyana Śrautasūtra (Eng. Tr.)
" — Über des ritualle Sūtra des Baudhāyana
" — Vaikhānasa Śrautasūtra (ed.)
" — Vaikhānasa Smārtasūtra
Cowell, E. B. — Divyāvadāna (ed.)
Das, A. C. — Ṛgvedic Culture
" — Ṛgvedic India
Datta, B. B. — Science of Śulba
Griswold — Religion of the Ṛgveda
Garge, D. V. — Citations from the Śabarabhāṣya
Ghurye, S. — Two Brāhmanical Institutions—Gotra and Pravara
Gonde, J. — Change and Continuity in Indian Religion
Hartland, E. — Article in ERE (vol. IV)
Hastings, J. — Encyclopaedia of Religion and Ethics (ERE)
Hillebrandt — Rituelliteratur
" — Vedische Mythologie
Henry, V. — La Magic dans la Antique
Howit A. W. — Ancient Tribes of South-East Australia.
Jevons, F. B. — Introduction to the History of Religion
Jolly, J. — Recht und Sitte
" — Hindu Law and Custom (Tr. of the above)
" — Dharma Sūtra des Viṣṇu
" — Dharma Sūtra of Viṣṇu (Tr.)
Jung, C. G. — Psychology and Alchemy
Karston, R. — Origin of Worship
Keith, A. B. — India Office Catalogue
" — The Veda of the Black Yajurveda School
" — The Brāhmaṇas of the Ṛgveda
" — Religion and Philosophy of the Veda and the Upaniṣad

Krishnamacharya, M.	History of Classical Sanskrit Literature
Kane, P. V.	History of Dharmaśāstra
,,	History of Sanskrit Poetics
Levi, S.	La doctrine der sacrifice
Lŏbbecke, R.	Über des Vehrbhaltnis Von Brāhmaṇas und Śrauta Sūtras
Law, B. C.	The Buddhist Conception of Spirits
Mac Bain	Celtic Mythology and Religion
Max Müller, F.	India, What Can It Teach Us
,,	Sacred Books of the East (ed.)
,,	History of Ancient Sanskrit Literature
Oldenberg, H.	Ṛgveda Noten
,,	Religion des Veda
Potdar, K. R.	Sacrifice in the Ṛgveda
Puckle	Funeral Customs
Parpola, Asko.	The Śrautasūtras of Lāṭyāyana and Drāhyāyaṇa, A Study
Raghavan, V.	The Present Position of the Vedic Recitation and Vedic Śākhās
Rām Gopal	India of the Vedic Kalpasūtras
Renon, L.	Ecoles
Sarup, L.	Indices and Appendices to the Nirukta
Schrader, O.	Aryan Religion (ERE)
Shastri, D. R.	Origin and Development of the Rituals of Ancestor Worship in Ancient India
Spencer B, & Gillen, P.	Northern Tribes of Central Australia
Sternbach, L.	Juridical Studies in Ancient Indian Law
Thurston, E.	Omens and Superstitions in South India
Tilak, B. G.	Orion
Tsuji, N.	On the Relation between the Brāhmaṇas and the Śrautasūtras (Toyo Banko Publication)
Vaidya, C. V.	History of Sanskrit Literature Vol. III
Vulliamy, C. E.	Immortal Man
Weber, A.	Zwei Vedische Texte über Omina und Portenda
,,	History of Indian Literature
,,	Nakṣatra
Westermarck	History of Human Marriage
Wundṭ	Volker Psychology Vol. II
Winternitz, M.	History of Indian Literature vol. I (Eng. Tr.)

(ग) पत्रिकाएं

Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute.
Abhendlungen für die Kunde des Morgenlandes.
American Journal of Philosophy.
American Journal of Philology.
Bulletin of the Deecane College Research Institute.
Bulletin of the School of Oriental and African Studies.
Gottingen Gelehrte Anzeigen.
Indian Historical Quarterly.
Indian Antiquary.
Indische Studien.
Journal of American Oriental Society.
Journal of American Philosophical Society.
Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society.
Journal of Bihar and Orissa Research Institute.
Journal of Department of Letters (Cal. Univ.).
Journal of Ganganath Jha Research Institute.
Journal of Indian School of Oriental Art.
Journal of Oriental Research (Madras).
Journal of University of Bombay.
Journal of Vedic Studies (Lahore).
Journal of Royal Asiatic Society of Bengal.
Journal of Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland.
Quarterly Journal of Mythic Society.
Our Heritage.
Sitzungsberichte des Berliner Akademie des Wissenschaft.
Vedische Studien.
Viena Oriental Journal.
Vishveshvarānand Indological Journal.
Wiener Zeitschrift für die Kunde des Morgenlandes.
Zeitschrift des Dentschen Morgenlandischen Gesellschaft.
Zeitschrift für Indologie und Iranistick.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१४	जीवन प्रक्रिया	जीवन-प्रक्रिया
५	१६	प्रदत्त	प्रदान
६	२४	अपनी	अपने
७	१४	पँश्चली	पुंश्चली
८	१३	बकरा	बकरे
	१६	वेदि इष्टकाओं	वेदि की इष्टकाओं
	३२	पशु	पशुबलि
१३	८	प्रशस्तृ	प्रशास्तृ
१९	५	अग्निहोम	अग्निहोत्र
	९	आश्व० श्रौ०	आश्व० श्रौ० सू०
२०	५	ऐतिहासक	ऐतिहासिक
	१९	सूत्र १	सूत्र २
२५	१३	सूक्तवाक्	सूक्तवाक
		शंयुवाक्	शंयुवाक
	१९	मानने चाहिये	मानना चाहिये
२८	३५	शां० श्रौ०	शां० श्रौ० सू०
२९	३४	पृ० ८	पृ० ८१
३०	२६	सवन्ध	सम्बन्ध
३२	१०	प्रायचित्त	प्रायश्चित्त
	१४	पूर्वभाग में	पूर्वभाग
३६	४	गए गये	गये
	१५	दुन्दुमि	दुन्दुभि
३८	२४	हि० के० श्रौ०	हि० श्रौ०
३९	९	विषय	इस विषय
४०	१२	चयन (१९) के	चयन (१९) तक के
४२	५	पुण्डरीक	पौण्डरीक
४६	१८	प्रतिशाख्य	प्रातिशाख्य
४७	१२	(नं)	(नं०)
४८	१५	गृह्य भी	गृह्यसूत्र भी
४९	६	दित्येकम ।	दित्येकम् ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४	२	प्रवग्य	प्रवर्ग्य
५५	२७	व्रात नहीं	ज्ञात नहीं।
६०	१३	फान्	फॉन्
६१	३३	लिट्	लिट्०
७५	३१	जे० वे० स्ट०	जे० वी० एस०
७६	६	एशियाटिव	एशियाटिक
८०	२६	उत्सर्गाणामयन	उत्सर्गिणामयन
८७	६	आदधात् (१३;४)	(१३,४)
९५	१४	तार्ष्य	तार्ष्ये
	१५	स्रुवाधार होम	स्रुवाघार होम
१०४	१३	उदभिद्	उद्भिद्
१०८	१९	४८ स्तोम	४८ स्तोम)
११६	१८	अह्य:	अह्नः
११८	१४	धानञ्जय	धानञ्जय्य
११५	२३	eimer	einer
१२६	१	कश्चमातीत्व	कश्चनातीव
१२७	८	भवगात्	भचव्रात
१३१	१९	व्रातीनोव्रातेन	व्रातीनो व्रातेन
१३२	१९	संसृपाहवि	संसृपां हविः
१३३	५	कुण्डपायिमाम	कुण्डपायिनाम
१३४	२७	ज० वे० स्ट०	जे० वी० एस०
१३६	२९	knaver	Knauer
१४३	३४	H.g.L.	H. I. L.
१४५	२१	सर्वस्वार्	सर्वस्वार
१५२	९	वास्तोष्पतत्य	वास्तोष्पत्य
	३०	Vaitane	Vaitana
१५३	१६	बतान सूत्र	वैतानसूत्र
१५५	२०	तं मनसा	तां मनसा
१५८	२४	(वही)	(ब० बी० दत्त, वही)
१६५	६,८	नाकसदस्	नाकसद्
१६७	७	अनुपलभ्य है। …है।	उपलभ्य हिरण्यकेशीय शुल्ब सूत्र आप०शु०सू० से भिन्न नहीं है।
१७५	१८	चतरस्रागार	चतुरस्राकार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७६	३	है।	'add इसका प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से हो चुका है।'
१७८	३१	कराया है।	कराया है। श्री एन०के० माजुमदार ने मानवशुल्बसूत्र का एक संस्करण कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'जर्नल ऑफ़ डिपार्टमेण्ट ऑफ लैटर्स' खण्ड ८, पृ० ३२७, में प्रकाशित किया है।
१८१	८	निरुढ	निरूढ
१८५	१	११५० ई०	१३५० ई०
१९०	१८	कौषीकि	कौषीतकि
१९६	टि० ४	सा०	मा०
२००	१९	अस्थिनिवाय	अस्थिनिवाप
२०३	टि० ५	कार्षुओं	कर्पुओं
२१७	१४	अर्न्वागत्य—	अन्वगित्य—
२२२	९	तीन का	तीन को
२२५	११	विद्	विद
	३२	सगोत्राभायाम्	सगोत्रायाम्
२२९	२०	वे	से
२३०	२७	में	से
२३१	२१	एकेभयो	एवोभयो:
२३८	२०	अनुष्टभ्	अनुष्टुभ्
२३९	२५	प्रण	प्र ण
२४०	१७	ऋग्वेद काचिक	ऋग्वेदकालिक
	३५	रिचवल्लिट्	रिच्वल्लिट्०
२६७	१९	हारिद्र वेया:	हारिद्रवेया:
२९८	३	शिर:रिग्रहण	शिर:परिग्रहण
	१४	और्वाव	औरवीय
३००	१४	आधार	आघार
३०४	१९	१९३५	१९३५। कृष्ण यजर्वेद की वाधूलशाखा का "वाधूल गृह्यसूत्र" प्रसिद्ध है। किन्तु अद्ययावत् इसका कोई संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ।
३१०	२	गया है	है।
३१२	१०	निष्क्रमण नामधेय	निष्क्रमण, नामधेय,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२०	१४	...के द्राह्यायण	...के समान द्राह्यायण
३३१	२३	अन्तलोमि	अन्तर्लोम
३४४	३०	पुर्स:	पुंस:
३६०	२१	जया	जय
३७४	१६	क्षिप्रप्रवस	क्षिप्रप्रसवन
,,	१७	क्षिप्रप्रवसन	क्षिप्रप्रसवन
३८२	३१	गृह्यतमं	गुह्यतमं
३८७	३२	खा० न० गृ०	खा० गृ०
३९३	१५	काण्यवाट्	कव्यवाट्
४०३	१७	जवीन	नवीन
	१९	आग्रयण	आग्रयण में,
४१३	३१	Schrader's	O, Schrader's
४१६	२६	बोहूत॰	बोहत॰
४३५	२५	तोपद्	तोयद
४४१	१२	अग्निकव्यवाहन	अग्निकव्यवाहन
४४२	३१	पितृणो	पितृणां
४६९	१६	ब्रह्मचारी यहां	ब्रह्मचारी। यहां
४७२	३०	औरिजिन	ओरिजिन
४८१	२१	गो० ध० सू०	गौ० ध० सू०
४८३	२६	ऐंजलर	स्टेंजलर
४८६	१०	६५० ई० पू०	७०० ई० पू०
४८८	८	(४)	(५)
	१०	(५)	(६)
	१५	(६)	(७)
	१८	(७)	(८)
	२८	२६ वां	३६ वां
४९०	२९	पूर्ववर्ती	परवर्ती
४९१	१३	ज्येष्ट	ज्येष्ठ
५००	७	श्रोत्रिय स्त्रियां	श्रोत्रिय, स्त्रियां
५०५	८, ९, १०	वशिष्ठ	वसिष्ठ
५०७	४	अग्निहोम	अग्निहोत्र
५१०	२६	कर्तृपत्यम्	कर्तपत्यम्
५११	२१	कोई संस्करण	कोई स्वतन्त्र संस्करण
५१२	१०	अंगिरस	अंगिरस्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		उशना	उशनस्
५१३	१९	कुरीचक	कुटीचक
५१८	५	पापप्रहारक	पापापहारक
	८	दत्तधावन	दन्तधावन
५२१	२, ५, १२	उशना	उशनस्
५२५	२७	Ahuencult	Ahnencult
५३१	२२	भाण	भाण्ड
५३४	१९	उशना	उशनस्
५३५	५, ९, १७	उशना	उशनस्
५३७	५, २४, २७, २९, ३१	उशना	उशनस्
५३८	३१	Leber	Leben
५३९	३२	२८।	८।
५४१	३२	एतैं	एते
५४६	२३	शूद्र अतिथि	शूद्र द्वारा अतिथि
५५१	१७	मनि	मुनि
५५६	१३	कैकय	कैकेय
	३०	४, ४, ५	४, ४, ३
	३१	५, २, ७	५, ११, ७
५५८	२३	समझा	समझाये
५७४	२४	Hesting	Hasting
५८१	२	गृह्यसत्र	गृह्यसूत्र
५९५	३०	अभि	अत्रि
६१०	१३	९०, ७	९०७
६१९	१३	बसभर	पसरभर
६२४	१५	ज्योतिष्टोमाधानुष्ठान-पद्यति	ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठानपद्धति